॥ श्रीः ॥

चौखम्भा प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

४

भोजदेवकृतम्

सरस्वतीकण्ठाभरणम्

(काव्यशास्त्रम्)

रत्नेश्वरमिश्रकृतया 'रत्नदर्पण'व्याख्यया संवलितम्

द्वितीयपरिच्छेदान्तं प्रथमभागात्मकम्

भूमिकाहिन्दीभाषानुवाद-'स्वरूपानन्दभाष्य'-

परिशिष्टादिसहितम्

व्याख्याकारः

डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र

एम० ए० पी-एच्० डी० साहित्याचार्य

प्राध्यापक, संस्कृतविभाग, काशीविद्यापीठ, वाराणसी

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक एवं विक्रेता

वाराणसी दिल्ली

चौखम्भा-प्राच्यविद्या-ग्रन्थमाला
संख्या ४

भोजदेवकृतम्

सरस्वतीकण्ठाभरणम्

(काव्यशास्त्रम्)

रत्नेश्वरमिश्रकृतया 'रत्नदर्पण'व्याख्यया संवलितम्
द्वितीयपरिच्छेदान्तं प्रथमभागात्मकम्
भूमिकाहिन्दीभाषानुवाद-'स्वरूपानन्दभाष्य'-
परिशिष्टादिसहितम्

व्याख्याकारः
डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र
एम० ए०, पीएच्० डी०, साहित्याचार्य
प्राध्यापक, संस्कृतविभाग, काशीविद्यापीठ, वाराणसी

चौखम्भा ओरियन्टालिया
पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२
वाराणसी (भारत)
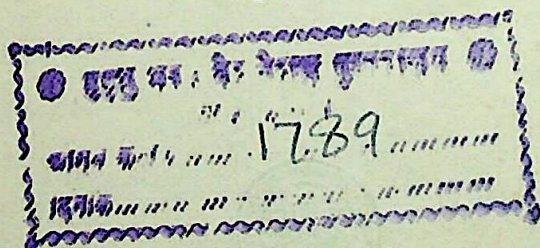
CHAUKHAMBHA PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA
NO. 4

SARASWATĪKAṆṬHĀBHARAṆAM

A WORK ON RHETORICS

By

MAHĀRĀJĀDHIRĀJA BHOJA

WITH

Ratneshwara's 'Ratnadarpaṇam' Sanskrit Commentary

&

Hindi Introduction, Translation, 'Swarūpānanda Bhāṣya'
Commentary and Appendices

By

Dr. KAMESHWARNATH MISHRA
M. A., Ph. D., Sahityacharya
Deptt. of Sanskrit, Kashi Vidyapith, Varanasi

Part I (Chapters I & II)
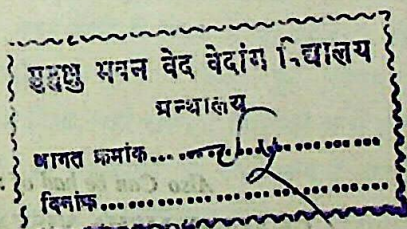
CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32
VARANASI (INDIA)

Publishers :

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental and Antiquarian Books
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32
Gokul Bhawan K. 37/109, Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 (India)
Telephone : 63022 Telegram : Gokulotsav

First Edition 1976
Price Rs. 35-00

Also Can be had of :—
CHAUKHAMBHA VISVABHARATI
Chowk (Opposite Chitra Cinema)
VARANASI
Phone : 65444

निवेदन

भोजदेव का व्यक्तित्व चामत्कारिक था। ऐसे ही महापुरुषों में सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र पद अन्वर्थ है। उनकी जीवनी विभिन्न दन्तकथाओं का रूप ले चुकी है। उन्होंने एक ओर समराङ्गणसूत्रधार बन 'रणरङ्गमल्लता' प्राप्त की, तो दूसरी ओर अन्तःपुर के विविध विलासों और चतुःषष्टिकलाओं में 'नागर-सर्वस्वता' भी। कौटलीय अर्थशास्त्र और वात्स्यायन के कामशास्त्र के साथ अग्निपुराण-सदृश ग्रन्थों का स्पष्ट प्रभाव उनके जीवन तथा ग्रन्थों पर पड़ा। शासनतन्त्र की विविध व्यस्तताओं तथा प्रजाधर्म की सुरक्षाओं के साथ स्वयं 'राजमार्तण्ड', 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृङ्गारप्रकाश' बने। उन्होंने अन्तर्मुखी हो विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय के ग्रन्थों का उद्धार किया और उत्तुङ्गशिव नामक गुरु से सिद्धान्तशैवदर्शन की साधना की दीक्षा ली। उनके अनेक ग्रन्थों में इस दर्शन का साक्षात् प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अन्यत्र अवसर मिलने पर इस विषय में कुछ कहा जा सकेगा, यहाँ नहीं।

अलङ्कारशास्त्र के क्षेत्र में भी उनकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है। भामह, दण्डी, अग्निपुराण, वामन, रुद्रट आदि से लक्षण अथवा उदाहरण जो कुछ भी सङ्गत लगा, भोज ने निःसंकोच ले लिया, किन्तु पूर्ण विचार करके ही किसी भी क्षेत्र में उसे सन्निविष्ट किया, यही कारण है कि किसी अन्य अलङ्कार, गुण या दोष के अन्य-प्रदत्त लक्षणों या उदाहरणों को अपने ग्रन्थ में उन्होंने किसी अन्य क्षेत्र का भी निरूपित किया है। अप्रयुक्त-प्रयुक्तता का जो उदाहरण उन्होंने दिया है, उसका प्रयोग इतना विरल रहा कि कोशों में भी ढूढने पर शब्द न मिला, ग्राम्या का उदाहरण ऐसे प्राकृत शब्दों में दिया कि नागर विद्वानों को अर्थ करना कठिन हो गया और गाथा की संस्कृत-छाया आज तक न दी जा सकी। गुणग्राही

राजा ने देश-देश के कोने-कोने से, व्यक्ति-व्यक्ति से संग्राह्य विषय का सञ्चय किया। 'दोषगुण' की उद्भावना उनकी अपनी है, इसी प्रकार शृङ्गार के एकमात्र रसत्व की भी। उभयालङ्कार का विवेचन संभवतः भारतीय अलङ्कारशास्त्र में इतना और कहीं नहीं हुआ। चित्रालङ्कार का वर्गीकरण तथा निरूपण भी अनुपम रहा। वह प्राचीन भारतीय परम्पराओं के पालक, संरक्षक एवं उन्नायक थे। उनकी इस असामान्य प्रतिभा का आकलन न कर पाने के कारण आधुनिक समीक्षक उनके विषय में कपोल कल्पनायें करते रहे।

भोजदेव का 'सरस्वतीकण्ठाभरण' अलङ्कार-शास्त्र का एक ग्रन्थ है। इसके पाँच परिच्छेदों में विवेच्य विषय प्रस्तुत हैं। भारतीय विद्याओं के अद्भुत पण्डित डा० वी० राघवन् ने 'शृङ्गारप्रकाश' पर लिखते समय अंग्रेजी में उन पर पर्याप्त कह दिया है। भोज की अलङ्कारशास्त्रीय मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन वहाँ विद्यमान है।

यहाँ भूमिका में भोज के व्यक्तित्व, कृतित्व आदि तथा चित्रालङ्कार के विषय में अपेक्षित निरूपण किया गया है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के अनुवाद तथा व्याख्या के माध्यम से सामान्य संस्कृत के ज्ञाताओं तथा हिन्दी के जिज्ञासुओं की विनम्र सेवा का सङ्कल्प पूर्ण हो रहा है। कारिकाओं पर वृत्तियाँ लिख कर भोज ने ग्रन्थ को सरल तथा सुबोध बनाने का प्रयास किया था, तथापि आज भोजकालीन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परिवेश न होने के कारण तत्कालीन प्रयोगों को समझ पाना भी कठिन हो रहा है। आधुनिक हिन्दी में नये उपमान ढूँढने की प्रक्रिया बहुत आगे बढ़ चुकी है, संस्कृत में उसकी आवश्यकता प्रतीत हो रही है। स्थान-स्थान पर गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया गया है, विशेषतः 'चित्र' प्रकरण में जहाँ 'उद्धार-श्लोक' भी अतिदुर्बोध हैं। स्पष्टता के लिए यथा-सम्भव रेखाचित्र दिये गये हैं। ग्रन्थ पर हिन्दी में लिखने का यह प्रथम प्रयास है, अतः यथामति उद्योग करने पर भी अज्ञान अथवा प्रमाद से त्रुटियाँ सम्भव हैं। विद्वज्जन गुणों का ही ग्रहण कर कृपया सन्तुष्ट हों। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' दिया महादानी एवं उदार सहृदय भोज ने, मिश्ररत्नेश्वर ने दिया 'रत्नदर्पण', रसज्ञ अवलोकन से 'स्वरूपानन्द' प्राप्त करें कामेश्वर से और तृप्त हों।

ग्रन्थ के दुर्बोध स्थलों को समझने में काशीपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती महाराज—अब ब्रह्मलीन—से अनुपद सहायता मिली थी। उस पुण्यात्मा का मैं हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ। ग्रन्थ को वर्तमान रूप में प्रकाशित करने के लिये 'चौखम्भा ओरियन्टालिया' के स्वत्वाधिकारी गुप्तबन्धुओं को भी धन्यवाद देता हूँ। विश्वास है मेरे इस विनम्र प्रयास से आलङ्कारिक प्रसन्न होंगे।

फाल्गुनी
१५ मार्च '७६ ई०

व्याख्याकार

विषय-सूची

भूमिका

भोज—व्यक्तित्व तथा कृतित्व—

भोज अद्भुत व्यक्तित्व के राजर्षि थे। भारतीय इतिहास में ऐसे शासक बहुत कम हैं जिनसे भोज की तुलना की जा सके। डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल के शब्दों में "महाराज भोजदेव की जीवनगाथा भारतीय इतिहास में इने गिने राजर्षियों की गाथा में एक है। प्राप्त एवं अर्धप्राप्त भारतीय ऐतिहासिक सामग्री में राजर्षि 'प्रियदर्शि' अशोक, महाप्रतापी महाराज विक्रमादित्य के बाद भारतीय जनसमाज में अतिप्रसिद्ध राजा भोज ही हुआ हैं। महाराज विक्रमादित्य का यदि न्याय प्रसिद्ध है तो महाराजा अशोक का धर्म प्रचार और महाराज भोजदेव की साहित्यिक गरिमा।''' इस प्रकार भारतीय संस्कृति के व्यापक विजृम्भण में भोजदेव सांस्कृतिक विकास की पराकाष्ठा के प्रतीक हैं। उनके राज्य काल में संस्कृत-साहित्य के चरमोत्कर्ष से इस तथ्य की पुष्टि होती है"।[1] यह उक्ति काफी अंशों में सत्य है।

भोज का अन्य नाम—

राजा भोज का दूसरा नाक 'त्रिभुवन नारायण' भी मिलता है। इसी नाम का एक और पर्याय 'त्रिलोकनारायण' भी इन्हीं के लिये प्रयुक्त है।[2] इन पर्यायवाचक संज्ञा शब्दों का प्रयोग छन्द की सङ्गति के लिये हुआ होगा। प्रतीत ऐसा होता है कि यह नाम कविकल्पित ही है, वास्तविक नहीं, क्योंकि नाम होने पर भोज के भी शिलालेखों अथवा ग्रन्थों में इसे उल्लिखित होना चाहिये, किन्तु वहाँ कहीं भी भोज के अतिरिक्त दूसरा नाम नहीं मिलता। दूसरी बात यह है कि 'गणरत्न-महोदधि' के अतिरिक्त अन्यत्र किसी कवि या लेखक ने अपनी रचना में इस नाम का प्रयोग नहीं किया है, वर्तमान काल तक प्राप्त ऐतिहासिक सामग्रियों से यही पुष्ट होता है। तीसरी बात यह है कि उक्त ग्रन्थ में भी जिस रूप में 'त्रिभुवन नारायण' अथवा 'त्रिलोक नारायण' शब्द है[3] वहाँ उसका अर्थ 'तीन लोकों का स्वामी' ही अधिक युक्त लगता है, न कि एक व्यक्ति विशेष। चौथी बात यह है कि जिस श्लोक में उक्त शब्द का प्रयोग है उसी क्रम में थोड़ा आगे 'भोज'[4] शब्द स्वतः प्रयुक्त होता है और एक-दो स्थानों के अलावा उस ग्रन्थ में भी इसका प्रयोग नहीं है। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि चर्चित राजर्षि का वास्तविक अभिधान 'भोज' ही था।

भोज के विरुद—

भोज ने उज्जयिनी से हटाकर अपनी राजधानी धारा नगरी को बनाया था, अतः उनको 'धारेश्वर' कहा जाता है, इसी प्रकार 'मालव' देश के शासक होने से वह 'मालवाधिपति' आदि भी कहे गये हैं। इनके वि० सं० १०७६ तथा वि० सं० १०७८ के प्राप्त दोनों शिलालेखों के प्रारम्भ

---

१. भारतीयवास्तुशास्त्र-वास्तुविद्या एवं पुरनिवेश, लखनऊ, १९५५ ई०, पृ० १

२. विश्वेश्वरनाथ रेउः राजा भोज, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, १९३२ ई० पृ० ८२ फु. नो.

३. प्राणायनि प्राणसमस्त्रिलोक्यास्त्रिलोकनारायणभूमिपालः। गणरत्नमहोदधि ॥ ३.५ ॥

४. औदुम्बरायण्ययमेति भोजः ॥ वही ३.८ ॥

में इनके नाम के पूर्व 'परमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-देव'-उपाधियाँ उल्लिखित हैं जिनका प्रयोग इनके पिता सिन्धुराज तथा पितामह सीयकदेव के भी साथ होता था। वस्तुतः यह विरुद इनको कुल-परम्परा से प्राप्त था। सामान्यतः भी प्रकर्षसूचक ये पद किसी भी राजा के साथ प्रयुक्त हो सकते हैं।

'आजड' नाम के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' काव्यशास्त्रग्रन्थ के टीकाकार के अनुसार भोज के चौरासी विरुद थे जिनके नाम से ही उन्होंने पृथक्-पृथक् ग्रन्थों की रचना की थी।[१] उदाहरणार्थ शृङ्गारप्रकाश, राजमृगाङ्क, सरस्वतीकण्ठाभरण, युक्तिकल्पतरु आदि उनके विभिन्न विरुद ही थे जिन पर उनके ग्रन्थों का नामकरण हुआ। यह बात सम्पूर्णांश में युक्त नहीं प्रतीत होती क्योंकि 'चम्पूरामायण' 'नाममालिका' 'शब्दानुशासन' 'शिवतत्त्वरत्नकलिका' सदृश ग्रन्थों के नाम इनके विरुद नहीं हो सकते, तथापि स्वल्पांश में उक्त कथन चरितार्थ अवश्य होता है। वह पूर्णतः निराधार भी नहीं है क्योंकि 'समराङ्गणसूत्रधार' भोज का विरुद भी है और उनके वास्तुविद्या आदि से सम्बद्ध एक ग्रन्थ का नाम भी। पातञ्जलयोग सूत्र पर अपनी 'राजमार्तण्डवृत्ति' के प्रारम्भिक श्लोकों में उन्होंने अपने को 'रणरङ्गमल्ल'[२] कहा है जो 'समराङ्गणसूत्रधार' का पर्याय हो सकता है। नामों का पर्याय संस्कृत-भाषा के ग्रन्थों में कम नहीं प्रयुक्त हुआ है।

'रामायणचम्पू' अथवा 'चम्पूरामायण' के भोजरचित प्रत्येक काण्ड के अन्त में पुष्पिका में इनको 'विदर्भराज'[३] भी कहा गया है, किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव में यह कथन चिन्त्य है। संभव है ,किसी समय यह स्थिति रही भी हो जिसके प्रमाण अन्यत्र नहीं मिलते। इनका नाम वस्तुतः भोज ही था। 'महाराज', 'परमेश्वर', 'देव' आदि की भाँति सम्मानार्थ इनके नाम के आगे 'राज' या 'देव' शब्द भी प्रयुक्त हुये हैं जैसे 'भोजराज', 'भोजदेव' आदि। विद्याधर ने अपने अलङ्कारग्रन्थ 'एकावली' में इनको मात्र 'राजा' कहकर उद्धृत किया है।[४] इसकी पुष्टि प्रो० डे ने अन्य प्रमाणों से भी की है।[५]

---

१. इह हि शिष्टशिरोमणि-निखिलनिरवद्यनिर्माणापूर्वप्रजापति-प्रचण्डभुजदण्डपराक्रमार्जित-चतुरशीतिविरुद-प्रकाशित-स्वकृतग्रन्थसमाजः श्रीभोजराजः शास्त्रारम्भे" डा० राघवन् के Bhoja's Śṛṅgāra Prakāśa पृ० ८ से उद्धृत।

२. तस्य श्रीरणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः॥ राजमार्तण्डवृत्ति, प्रारम्भिक श्लोक संख्या ॥५॥ 'राजमृगाङ्ककरण' में भी—"व्युत्पत्तिसारमिह राजमृगाङ्कसंज्ञमेतद् व्यधाच्च करणं रणरङ्गमल्लः":—'राजा भोजः' पृ० २३९

३. इति श्री विदर्भराजविरचिते चम्पूरामायणे (सुन्दरकाण्डः) समाप्तः। आदि

४. स्वरचित्रं तु बन्धशैथिल्यकारितया दोष एवेति नालङ्कारतया स्वीकृतम्। यदाह राजा "उरुगुं घुगुरुं०" आदि, : Bombay Sanskrit Series No. 63, Bombay, 1903, page 192.

५. Our Bhoja ,is frequently cited in later Alaṃkāra literature as Bhojarāja, and sometimes simply as RĀJAN which designation like that of MUNI applied to Bharata seems to mark him out parexcellence in this literature." Sanskrit Poetics P. 135, Calcutta, 1960.

भोज का वंश तथा परिवार—

भोज 'परमार' वंश के थे।[१] परमारों की उत्पत्ति अग्नि से हुई थी जो 'अर्बुदाचल' पर्वत पर वसिष्ठ के अग्निकुण्ड में स्थापित थी। इस वंश के अग्नि से उद्भव का संक्षिप्त ऐतिह्य भोज ने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'[२] नामक अलङ्कारग्रन्थ में 'नायकगुण' के प्रसङ्ग में दिया है—

वासिष्ठैः सुकृतोद्भवोऽध्वरशतैरस्त्याग्निकुण्डोद्भवो
भूपालः 'परमार' इत्यधिपतिः सप्ताब्धिकाञ्चेर्भुवः।
अद्याप्यद्भुतहर्षगद्गदगिरो गायन्ति यस्योद्भटं
विश्वामित्रजयोर्जितस्य भुजयोर्विस्फूर्जितं गुर्जराः॥[३]

इनके पिता का नाम सिन्धुल अथवा सिन्धुराज, पितामह का सीयकदेव तथा चाचा का वाक्पतिराज अथवा 'मुञ्ज' था। सीयकदेव के उत्तराधिकारी मुञ्ज ही थे जिनके बाद सिन्धुराज राज्यासीन हुये और उनके बाद भोज। इस शासन परम्परा का ज्ञान भोज के सम्वत् १०७६ तथा १०७८ के अभिलेखों के प्रारम्भिक अंशो से भी होता है।[४] भोज की माता का नाम सावित्री तथा पुत्र का जयसिंह था। ऐसा कहा जाता है कि इनकी स्त्री का नाम लीलावती तथा कन्या का भानुमती था।[५]

भोजदेव अनेक विद्याओं—काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र, वास्तुशास्त्र, युद्धकौशल, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि में परमनिष्णात, समराङ्गणसूत्रधार, चतुष्षष्टिकलापारदृश्वा, कुशलप्रशासक, कवि, दानवीर, विद्वानो तथा कवियों के आश्रयदाता थे जिनके लिये 'प्रत्यक्षरं लक्षं (लक्ष्यं वा) ददौ' सदृश शब्दों का प्रयोग कर बल्लालसेन कृतकृत्य हुये। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की 'गिरिराजीय' टीका में काटयवेम ने भोज को भरत जैसा नाट्याचार्य कहा है, 'अभिनवरामाभ्युदय' के रचयिता अभिरामकामाक्षी ने इनकी प्रशंसा की है। चिदम्बर कवि ने इनको अपने 'पञ्चकल्याणचम्पू' में 'भोजराजो, भूयानुदारकवितारसवासभूमिः' कहा है। 'कन्दर्पचूडामणि' के रचयिता राजा वीरभद्रने अपनी तुलना भोज से की है—

भोज इवायं निरतो नानाविद्यानिबन्धनिर्माणे।
समयोच्छिन्नप्राये सोद्योगः कामशास्त्रेऽपि॥

'सङ्गीतरत्नाकर' के रचयिता 'शार्ङ्गदेव' ने इनका स्मरण 'भोजभूवल्लभ' के रूप में किया है। पार्श्वदेव ने 'सङ्गीतसमयसार' में—

'शास्त्रं भोजमतङ्गकश्यपमुखाः व्यातेनिरे ते पुरा'

कह कर इनको सङ्गीताचार्य माना है। 'भेषजकल्पसारसंग्रह' में 'वाहटे चरके भोजे बृहद्भोजे च हारिते' उल्लेख होने से इनकी आयुर्वेदविशारदता सिद्ध होती है। वेङ्कटकृष्ण ने 'नटेश-

---

१. परमार नाम के लिये द्रष्टव्य—पद्मगुप्तपरिमल-रचित 'नवसाहसाङ्कचरितम्' ॥ ११।४९-७४ ॥
२. सरस्वतीकण्ठाभरणम्—पञ्चमपरिच्छेदः
३. 'भोज' नाम के ऊहापोह के लिये द्रष्टव्य—'तत्त्वप्रकाशः' भूमिका पृ० ३५-३७ सम्पादक—डा० कामेश्वरनाथ मिश्र, चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी, १९७६ ई०।
४. परमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीसीयकदेव...श्री वाक्पतिराजदेव...श्री सिन्धुराजदेव...श्री भोजदेवः कुशली० आदि, दोनों अभिलेख।
५. पातञ्जलयोगसूत्रम्-भोजकृत-राजमार्तण्डवृत्तिसमेतम्, भारतीयविद्याप्रकाशन, वाराणसी १९६३ ई०, भूमिका पृ० २६, तथा 'सनत्सुजातीय' ग्रन्थ का परिशिष्ट पृ० ६७०

विजय' काव्य में अपने आश्रयदाता नरेश को "बोधे कलानां नवभोजराजः" कहा है।[१] इन उक्तियों से भोज के सर्वाङ्गीण प्रकर्ष का ज्ञान होता है।

समय—भोज ऐतिहासिक महापुरुष थे। उनके तथा उनके विषय में अन्यों के प्राप्त अभिलेखों, ग्रन्थों, तथा विवरणों से प्राप्त सामग्री के आधार पर इनका समय निश्चित है और उसमें विशेष विवाद नहीं है। यह अवश्य है कि उनकी आविर्भाव तथा तिरोधान की निश्चित तिथियाँ कहीं लिखी हुई नहीं मिलतीं, अतः उनके विषय में कुछ पौर्वापर्य संभावित है। अनेक अन्तः तथा बहिः साक्ष्यों के आधार पर इनका समय बहुत आगे-पीछे नहीं खिसक पाता है। आज तक भोज के अनेक दानपत्र उपलब्ध हो चुके हैं, जिनमें एक १०७६ तथा दूसरा १०७८ विक्रमसम्वत् का है। कल्हण की राजतरङ्गिणी[२] तथा मम्मट के 'काव्यप्रकाश'[३] में भोज का नाम मिलता है तथा इनके गुणों की प्रशस्ति है। वाजसनेयी संहिता के टीकाकार उव्वट, तिलकमञ्जरी के कर्त्ता धनपाल तथा 'दशरूपक' आदि के रचयिता धनिक आदि भोज के प्रायः समकालीन ही थे।[४] नागौर से एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, उसका समय वि० सं० ११६१ है, उसमें इनके पूर्व पुरुषों से लेकर इन तक का उल्लेख है।[५] 'उदयपुर-प्रशस्ति' में भोज की प्रशंसा है।[६] इन ऐतिहासिक तथ्यों से इनका समय निश्चित करने में सहायता मिलती है।

चालुक्यराज जयसिंह तृतीय से १०११–१०२९ ई० के मध्य इनकी लड़ाई हुई थी। उसके उत्तराधिकारी सोमेश्वर (१०४२–१०६६ ई०) से भी इनका युद्ध हुआ था।[७] प्रो० एस० के० डे का मत इनके समय के विषय में अधिक पुष्ट प्रतीत होता है, जिसमें उन्होंने इनको १०१०–१०५५ ई० के मध्य का कहा है।[८] डा० राघवन् भोज का राज्याभिषेक का समय लगभग १०१० ई० तथा मृत्यु का १०६२ ई० के बाद मानते हैं।[९]

---

१. इन उद्धरणों के लिए द्रष्टव्य, रेउः राजा भोज, पृ० २९९–३१२.
२. राजतरङ्गिणी ७।२५९ ॥
३. भोजनृपतेस्तस्यागलीलायितम् ॥ काव्यप्रकाश उल्लास
४. सरस्वतीकण्ठाभरणम्-भूमिका पृ० ३ (निर्णयसागरप्रेस)
५. एपिग्रैफिका इण्डिका, भाग २, (पृ० १८३–१८५)
६. साधितं विहितं दत्तं ज्ञातं तद् यन्न केनचित् ।
   किमन्यत्कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते ॥
७. विक्रमाङ्कदेवचरितम् ॥ १८।९६ ॥
८. All this, however, will justify us in fixing Bhoja's date with great probability between 1010 and 1055 A. D. i. e. roughly covering a part of the first and whole of the second quarter of the 11th century and he may have lived into the third quarter of the same century. The exact dates of his succession and death are unknown, but it seems that he died after a long illness, in the midst of wars with Bhima, King of Gujarāta & with Kalcuri Karṇa, King of Tripuri." Sanskṛt Poetics, page 136.
९. Bhoja might have assumed reigns of Government about 1010 A. D. or somewhat later...He died sometime after 1062 A. D. Śṛṅgāra Prakāśa. page 5, footnote No 1.

इस प्रकार इतिहासचर्चित व्यक्तित्व होने के कारण भोज के समय के विषय में बहुत टटोलना नहीं पड़ता, तथापि विशिष्टप्रमाण न मिलने के कारण उनके जन्म, राज्यारोहण, मरण आदि की निश्चित तिथियाँ नहीं दी जा सकतीं। आशा है उत्खनन, नव सन्दर्भप्रकाशन आदि से कुछ विशिष्ट सामग्री उपलब्ध होने से भविष्य में अज्ञातपक्ष प्रकाशित हो सकेंगे।

भोज का धर्म, धार्मिक कृत्य तथा दीक्षागुरु

यह राजा शैवमतानुयायी था। उदयपुरप्रशस्ति में इनको 'भर्गभक्त'—शिवभक्त-कहा गया है।[1] गणरत्नमहोदधि' नामक ग्रन्थ में भोज के सिप्रा नदी के तट पर स्थित ऋष्याश्रम में जाने का उल्लेख है जहाँ पहुँचने पर उसके स्वागत में ऋषि के मुख से कहलाया गया है कि यद्यपि इनके पूर्वज भी शिवभक्त थे तथापि शिव का साक्षात्कार तो भोज को ही हुआ था।

> दृष्टोडुलोमेषु मयौडुलोमे श्रीवैरिसिंहादिषु रुद्रभक्तिः।
> अपार्थिवा सा त्वयि पार्थिवीयां नौत्स्यौदपान्योऽपि न वर्णयन्ति ॥ १ ॥
> कस्तारुणस्तालुनवाप्कयौ वा सौवप्कयिर्वा हृदये करोति।
> विलासिनोर्वीपतिना कलौ यद् व्यलोकि लोकेऽत्र मृगाङ्कमौलिः ॥[2]

स्वयं भोज के ही १०७६ तथा १०७८ वि० सं० के दोनों दानपत्रों का पूर्वार्ध समान पदावली में निबद्ध है जिसमें भगवान् शिव को प्रणाम तथा उनसे रक्षा कामना के पश्चात् पूर्ववर्ती राजाओं का विरुद के साथ स्मरण और शिवपूजा के अनन्तर दान देने का उल्लेख है। इतना ही नहीं वहाँ तो संसार की असारता तक का भी भोज को प्रत्यक्ष हो चुका था, इस तथ्य का उद्घाटन हुआ है। दानपत्रों का समान शब्दावली का प्रमुख अंश इस प्रकार है—

> ॐ जयति व्योमकेशोऽसौ यः सर्गाय बिभर्ति ताम्।
> ऐन्दवीं शिरसा लेखां जगद्बीजाङ्कुराकृतिम् ॥ १ ॥
> तन्वन्तु वः स्मरारातेः कल्याणमनिशं जटाः।
> कल्पान्तसमयोद्दामतडिद्वलयपिङ्गलाः ॥ २ ॥

"......परमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीसीयकदेवपादानुध्यातपरमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीवाक्पतिराजदेव-पादानुध्यात-परमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीसिन्धुराजदेव-पादानुध्यात-परमभट्टारक - महाराजाधिराज - परमेश्वर-श्रीभोजदेवः कुशली।...स्नात्वा चराचरगुरुं भगवन्तं भवानीपतिं समभ्यर्च्य, संसारस्यासारतां दृष्ट्वा वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्यमापातमात्रमधुरो विषयोपभोगः। प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमा नराणां, धर्मः सखा परमहो परलोकयाने। भ्रमत्संसार-चक्राग्रधाराधारामिमां श्रियम्। प्राप्य येन ददुस्तेषां पश्चात्तापः परं फलम्। इति जगतो विनश्वरं स्वरूपमाकलय्य...,,[3]

ये शब्द स्वयं भोजदेव के हैं, अतः उनके शैव होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

इतना ही नहीं भोज के अधिकांश ग्रन्थों का मङ्गलाचरण शिवपरक है। पातञ्जलयोगसूत्र की राजमार्तण्डवृत्ति के प्रत्येक पाद के प्रारम्भ में शिव का स्मरण है। 'सरस्वतीकण्ठाभरणम्'—

---

१. तत्रादित्यप्रतापे गतवति सदनं स्वर्गिणां भर्गभक्ते। एपिग्रैफिका इण्डिका, भाग १ पृ० २३६

२. गणरत्नमहोदधि, तद्धितगणाध्याय, ४ पृ० १६३.

३. विश्वेश्वरनाथ रेउः राजाभोज, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उ० प्र० इलाहाबाद, १९३२ ई., परिशिष्ट २-३ से उद्धृत।

अलङ्कारग्रन्थ—के आदि में यदि सरस्वती का स्मरण है तो अन्त में शिव का भी है। 'श्रृङ्गार-प्रकाश' का आदि श्लोक अर्धनारीश्वर से सम्बद्ध है।[1] भोज के बहुसंख्यक ग्रन्थों में कुछ ही ऐसे हैं जिनमें मङ्गलाचरण में शिव के अतिरिक्त किसी अन्य देवता का वर्णन है।[2] इन अन्तः तथा बहिः साक्ष्यों के अतिरिक्त भोज का शैव होना इससे भी सिद्ध होता है कि उन्होंने शैवदर्शन पर भी ग्रन्थ लिखा है।

भोज शैवदर्शन के जिस सम्प्रदाय के अनुयायी थे वह 'सिद्धान्त-शैवदर्शन' के नाम से विख्यात है। यह दर्शन द्वैतवादी है। इनके दीक्षागुरु का नाम उत्तुङ्गशिव था, जो प्राचीन लाट देश की कल्याणनगरी के निवासी थे। उत्तुङ्गशिव के 'पद्धति' नामक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। 'परं तु श्रीमदघोरशिवाचार्यकृतपद्धत्यास् उत्सवविधौ गोत्रविधिनिर्णयपटले—

ततोऽभूल्लाट उत्तुङ्गशिवो विन्ध्ये व्रतीश्वरः।
कल्याणनगरीवासी गुरुः पद्धतिकृत् सुधीः॥
सर्वविद्याधिपो यस्य कनीयानार्यदेशजः।
सर्वागमार्थनिर्णेतुः श्रीभोजनृपतेर्गुरुः॥[3]

'सिद्धान्त-शैवदर्शन' पर अपने पाण्डित्य का निरूपण यह स्वयं अपने ग्रन्थ 'तत्त्वप्रकाश' की ७५-७६ वीं कारिका में करते हैं[4] और उन पर श्रीकुमार की व्याख्या की पंक्तियों से तथ्य का अनुमोदन भी होता है।[5]

महाराज भोज ने धारा में सरस्वतीकण्ठाभरण पाठशाला का निर्माण कराया था, जहां सरस्वती की प्रतिमा स्थापित की थी। अपने देश से बाहर भी अनेक राज्यों में उन्होने वापी-तडाग आदि के साथ शिवमन्दिरों का निर्माण कराया था। उदयपुरप्रशस्ति में उनके केदार, रामेश्वर, सोमनाथ, सुन्दरवन (सुण्डीर), कालानल (महाकाल) आदि स्थलों पर मन्दिर निर्माण कराने का उल्लेख है।[6] कल्हण ने राजतरङ्गिणी में कपटेश्वर में कुण्डनिर्माण का विशद वर्णन किया है।

मालवाधिपतिर्भोजः प्रहितैः स्वर्णसंचयैः।
अकारयद्येन कुण्डयोजनं कपटेश्वरे॥

---

१. अच्छिन्नमेखलमलब्धदृढोपगूढमप्राप्तचुम्बनमवीक्षितवक्त्रकांति ।
कान्ताविमिश्रवपुषः कृतविप्रलम्भसंभोगसख्यमिव पातु वपुः पुरारेः॥ शृ० प्र०॥ १.१॥

२. विश्वेश्वरनाथ रेउःराजा भोजः ग्रन्थ से सम्बद्ध अध्याय द्रष्टव्य है।

३. डा० के० सी० पाण्डेयः भास्करी भाग ३ पृ० २२६ से उद्धृत।

४. तत्त्वानामपि तत्त्वं येनाखिलमेव लीलया कथितम्।
श्रीभोजदेवनृपतिर्व्यदधत्तत्त्वप्रकाशं सः॥ ७५॥
यस्याखिलं करतलामलकक्रमेण देवस्य विस्फुरति चेतसि तत्त्वजातम्॥
श्रीभोजदेवनृपतिः स शिवागमार्थं तत्त्वप्रकाशमसमानमिदं व्यधत्त॥ ७६॥

५. नमस्तस्मै भगवते भोजायाक्लिष्टकर्मणे। शिवाय शिवभक्ताय शिवैकाहितचेतसे॥
देखिये—डा० कामेश्वरनाथमिश्र सम्पादित'तत्त्वप्रकाशः' पृ० १४७, चौखम्भा ओरियण्टालिया वाराणसी, १९७६.

६. केदार-रामेश्वर-सोमनाथ-सुण्डीर-कालानल-रुद्रसत्कैः।
सुराश्रयैर्व्याप्य च यः समन्ताद्यथार्थसंज्ञां जगतीं चकार॥ एपी० इण्डि० भाग १, पृ० २३६,

प्रतिज्ञा भोजराजेन पापसूदनतीर्थजैः ।
सततं वदनस्नाने या तोयैर्विहिताऽभवत् ॥
अपूरयत्तस्य यस्तां दुस्तरां नियमादितः ।
प्रहितैः काचकलशीकुलैस्तद्वारिपूरितैः ॥[1]

मैलकम (Malcolm) के अनुसार भोपाल के दक्षिणपूर्व में ३५० वर्ग मील की एक सुन्दर झील सुरम्य प्राकृतिक वातावरण के साथ भोज के समय में बनवायी गयी थी जो भारतीय स्थापत्यकला का उत्कृष्ट निदर्शन थी।[2] भोज जैसे धार्मिक राजा के लिये यह सब इष्टापूर्तकर्म सहज स्वीकार्य रहा होगा। यहाँ किसी शङ्का के लिये स्थान नहीं।

क्या भोज जैन या इस्लाम धर्म से प्रभावित थे ?—

भोज के शैव होने में कोई सन्देह नहीं रहा, किन्तु कुछ फुटकर उद्धरणों या ग्रन्थों में इनके अन्य-धर्म-स्वीकृति के उल्लेख मिलते हैं। 'श्रवणबेलगोला' से प्राप्त एक कनारी भाषा के अभिलेख में भोज द्वारा जैनाचार्य प्रभाचन्द्र के पैर पूजे जाने का उल्लेख मिलता है।[3] इसी प्रकार दूबकुण्ड से प्राप्त कच्छपघातवंशी विक्रमादित्य के वि० सं० ११४५ के लेख में वर्णन है कि शान्तिसेन ने अम्बरसेन आदि जैनाचार्यों के अपमानकर्त्ताओं को भोज की सभा में पराजित किया था।

आस्थानाधिपतौ बुधादद्विगुणे श्रीभोजदेवे नृपे
सभ्येष्वम्बरसेनपण्डितशिरोरत्नादिपूद्यन्मदान् ।
योऽनेकान् शतशो व्यजेष्ट पटुताभीष्टोद्यमो वादिनः
शास्त्राम्भोनिधिपारगोऽभवदतः श्रीशान्तिषेणो गुरुः ॥[4]

किन्तु किसी धर्म के आचार्य को सम्मान देना वस्तुतः भोज की उदारता है तथा अपनी सभा में शास्त्रार्थ के लिये भिन्नमतावलम्बियों को प्रश्रय देना उसकी गुणग्राहकता तथा विद्याव्यसन के ही परिचायक हैं, इनका तात्पर्य धर्म परिवर्तन नहीं है। अपना व्यक्तिगत धर्म होने पर भी अन्य धर्मों वाली जनता के भी धर्म का स्वागत करना राजा का कर्त्तव्य है।

इसी प्रकार का मनगढन्त निरूपण इस्लाम धर्म के कुछ लेखकों ने भी किया है। 'गुलदस्ते अब्र' नामक उर्दू की एक छोटी सी पुस्तिका में लिखा है कि अब्दुल्ला शाह फकीर के चमत्कारों को देखकर भोज मुसलमान हो गया था।[5] धारा में विद्यमान अब्दुल्ला शाह चङ्गाल की कब्र से प्राप्त (वि० सं० १५१२=१४५५ ई०) ८५९ हिजरी के लेख में लिखा है कि भोज ने धर्म परिवर्तन कर अपना नाम अब्दुल्ला रख लिया था।[6] किन्तु प्रो० रेउ इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते और इसे 'मुल्लाओं की कपोलकल्पना' मानते हैं।[7] उनका यह भी मत है कि "या तो भोज के मुसलमान होने की यह कथा कल्पित ही है, या फिर इसका सम्बन्ध भोज

---

१. राजतरङ्गिणी ७।१९०-९२ ॥
२. M. Krishnamachariar : Hist. of Cl. Skt. Lit., 1970, Page 501.
३. Inscriptions at Śravanabelgola, No 55, p. 47
४. एपिग्रैफिका इण्डिका पृ० २३९ ।
५. रेउ : राजाभोजः पृ० ८७ ।
६. वही ।
७. वही ।

द्वितीय से हैं।[1] यह भोज द्वितीय उपेन्द्र (कृष्णराज) से प्रारम्भ मालवे के परमारों की वंशावली में २५वीं पीढ़ी पर था और २४वीं पीढ़ी वाले अर्जुन वर्मा (द्वितीय) से उत्तराधिकार प्राप्त किया था। भोज द्वितीय का भी उत्तराधिकारी जयसिंह चतुर्थ हुआ था। भोज जैसे पराक्रमी, विद्वान्, साधक तथा परम्परा से शैवधर्म के प्रचारक राजा का धर्मान्तरित होना अत्यन्त अस्वाभाविक है। धर्मान्तरण के प्रतिकूल एक दूसरा प्रवल तर्क यह है कि यदि वह जैन या मुसलमान हो गया होता तो उसके बाद उसके वंशधर सनातनी नाम वाले न होते, उनके भी नाम जैनी या इस्लामी होते। किन्तु इतिहास साक्षी है कि भोज के बाद कई पीढ़ियों तक परमारवंश के सनातनी राजाओं ने शासन किया, अतः भोज के धर्मान्तरण सम्बन्धी प्रवाद निराधार हैं।

भोज का साम्राज्य—

भोज मालवाधीश थे। उनके युद्ध पड़ोस के राजाओं से होते रहे, किन्तु उनका जो कुछ भी भाग हिस्से में आता रहा 'मालवा' में ही समाहित होता रहा। आश्चर्य है कि भोज के राज्य के कैलास से लेकर मलयगिरि तक फैले होने का उल्लेख शिलालेखों में मिलता है।[2] उनको चेदि, कर्णाट, लाट, गुर्जर तथा तुरुष्क प्रदेशों का भी विजेता कहा गया है।

चेदीश्वरेन्द्ररथतोग्गलभीममुख्यान्
कर्णाटलाटपतिगुर्जरराट्तुरुष्कान्।
यद्भृत्यमात्रविजितानवलोक्य मौला
दोष्णां बलानि कलयन्ति न योद्धलोकान्।[3]

इन अभिलेखों में संभवतः उसी प्रकार का अर्थवाद है जैसा सामन्तीयुग में हुआ करता था, जबकि एक छोटी सी रियासत के ठेकेदार तक को आश्रित कविजन अथवा भाट-चारण लोग त्रिलोकीपति, सकलवसुधाधिपति, चक्रवर्ती आदि कहा करते थे।

भोज के ग्रन्थ—

भोज बहुमुखी प्रतिभा के राजर्षि थे। उन्होंने अनेक विषय के ग्रन्थों का प्रणयन किया। इनकी रचनायें अपने क्षेत्र में अतीव महत्त्वपूर्ण रहीं इसी से परवर्ती ग्रन्थकारों ने तत्तद्विषयों में इनको उद्धृत भी किया है। आयुर्वेद के क्षेत्र में 'भावप्रकाश' तथा माधव के 'रुग्विनिश्चय' (माधवनिदान) में, ज्योतिष में केशवार्क द्वारा, वैयाकरण तथा कोशकार के रूप में क्षीरस्वामी, सायण तथा महीप द्वारा, चित्तप, देवेश्वर, विनायक शङ्कर, सरस्वती-कुटुम्बदुहितृ आदि कवियों द्वारा सामान्यतः ससम्मान इनको उद्धृत किया गया है तथा इनकी यशोगाथायें गाई गयी हैं।[4] 'शैवदर्शन' में भी 'सर्वदर्शनसंग्रह' में माधव द्वारा तथा 'ईशानगुरुदेवपद्धति' में

---

१. वही पृ० ३३५।

२. आकैलासान्मलयगिरितोऽस्तोदयाद्रिद्वयाद्वा
मुक्ता पृथ्वी पृथुनरपतेस्तुल्यरूपेण येन।
उन्मूल्योर्वभरगुरुणा लीलया चापयष्ट्या
क्षिप्ता दिक्षु क्षितिरपि परां प्रीतिमापादिता च॥ एपि० इण्डिका० भाग १, पृ० २३५

३. एपिग्रैफिका इण्डिका भा० १ पृ० २३६

४. As a medical writer he is quoted in thc Bhāvaprakāśa, & Mādhava's Rugviniscaya, as astrologer by Kecvarka, as a grammarian and lexicographer he is noticed by Kshiraswami,

ईशानदेवमिश्र द्वारा भोज के वाक्य बहुशः उद्धृत किये गये हैं। भोज की बहुमुखी साहित्य-सेवा का निदर्शन श्री चन्द्रप्रभसूरि के ग्रन्थ 'प्रभावकचरितम्' (श्लोक ४७५-७८) में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

भोजव्याकरणं ह्येतत् शब्दशास्त्रं प्रवर्तते॥
असौ हि मालवाधीशो विद्वच्चक्रशिरोमणिः।
शब्दालङ्कार-दैवज्ञ-तर्कशास्त्राणि निर्ममे॥
चिकित्सा-राजसिद्धान्त-तरुवास्तूदयानि च।
अङ्कशाकुनकाध्यात्म-स्वप्नसामुद्रिकाण्यपि॥
ग्रन्थान् निमित्तव्याख्यानप्रश्नचूडामणीनिह।
विवृत्तिं चाथ सद्भावेऽर्थशास्त्रं मेघमालया॥[1]

आजड (Ajada) के अनुसार इनके ग्रन्थों की संख्या चौरासी है जो वस्तुतः भोज के एक-एक विरुद के आधार पर नामाङ्कित हैं। उदाहरणार्थ वह स्वयं शृङ्गारप्रकाश, राजमृगाङ्क, राजमार्तण्ड आदि थे और इन्हीं के नामों पर उन्होंने तन्नामक ग्रन्थों को लिखा।

"इह हि शिष्टशिरोमणि-निखिल-निरवद्य-निर्माणापूर्वप्रजापति-प्रचण्डभुजदण्ड-पराक्रमार्जित-चतुरशीतिविरुदप्रकाशितस्वकृतग्रन्थसमाजः श्रीभोजराजः शास्त्रारम्भे" आदि।[2]

आफ्रेक्ट महोदय ने अपने 'कैटेलागस कैटेलागोरम' में भोज के नाम से भिन्न-भिन्न विषयों के ग्रन्थों की सूची दी है। अन्यत्र भी उल्लिखित ग्रन्थों का विषयतः वर्गीकरण दिया जा रहा है।

काव्यशास्त्र—(१) सरस्वतीकण्ठाभरण (२) शृङ्गारप्रकाश

व्याकरण—(३) सरस्वतीकण्ठाभरण (४) शब्दानुशासन (५) भर्तृहरिकारिका

चिकित्सा—(६) आयुर्वेदसर्वस्व (७) राजमृगाङ्क (८) विश्रान्तविद्याविनोद (९) शालिहोत्र (अश्वचिकित्सा)

ज्योतिष—(१०) आदित्यप्रतापसिद्धान्त (११) राजमार्तण्ड (१२) राजमृगाङ्क(करण)[3] (१३) विद्वज्जनवल्लभ-प्रश्नज्ञान।

शैवदर्शन—(१४) सिद्धान्तसंग्रह[4] (१५) तत्त्वप्रकाश (१६) शिवतत्त्वरत्नकलिका

वास्तुविद्या—(१७) समराङ्गणसूत्रधार (१८) युक्तिकल्पतरु

धर्मशास्त्र एवं नीति—(१९) चाणक्यनीति (२०) चारुचर्या (२१) व्यवहारसमुच्चय (२२) विविधविद्याचतुरा (२३) सिद्धान्तसारपद्धति।

अन्यदर्शन—(२४) राजमार्तण्ड (योगसूत्रवृत्ति) (२५) राजमार्तण्ड (वेदान्त?) (२६) द्रव्यानुयोगतर्कणा की टीका।

काव्य, कथा, चम्पू आदि—(२७) चम्पूरामायण (२८) नाममालिका (कोष) (२९) विद्या-

---

Sāyaṇa & Mādhava. He is praised by the poets Chittapa, Deveśvara, Vinayaka, Cankara, Saraswatikutumba-duhitṛ."

Aufrecht : Cat, Cat. Vol. I pp. 418–9

१. Dr. V. Raghvan : Bhoja's Śṛṅgāra Prakāśa p. 5 पर उद्धृत।

२. वही।

३. C. M. Duff : The Chronology of Indian Hist., Chauphambha Orientalia, Varanasi, 1975, pp. 149, 310

४. कुछ लोग इसको ज्योतिष का ग्रन्थ मानते हैं।

विनोद (काव्य) (३०) सुभाषित प्रबन्ध (३१) कूर्मशतकम् (३२) अवनिशतकम् (३३) पारिजातमञ्जरी (३४) शृङ्गारमञ्जरीकथा (३५) कोदण्ड (३६) अज्ञातनामप्राकृतकाव्य ।

इन ग्रन्थों में चाणक्यनीति, चारुचर्या तथा राजमार्तण्ड (वेदान्त) सन्दिग्ध हैं, क्योंकि प्रथम सामान्यतः चाणक्य की तथा द्वितीय क्षेमेन्द्र की रचना होने का सन्देह है। राजमार्तण्ड (वेदान्त) नामतः उल्लिखित होने पर भी अनुपलब्ध है। 'शिवतत्त्वरत्नकलिका' किसी कृष्णानन्द सरस्वती की रचना समझी जाती है। इस पर उनकी 'आमोदरञ्जन' नाम की स्वोपज्ञ टीका भी है।[1] नामसाम्य होने पर भी यदि ग्रन्थों के प्रतिपाद्य में भिन्नता हो, तो ग्रन्थों को भी भिन्न कहा जा सकता है, किन्तु प्रस्तुतसन्दर्भ में ऐसी बात प्रतीत नहीं होती। 'सिद्धान्तसंग्रह' पर 'सोमेश्वर' की 'विवृति' नाम की टीका है। यह सिद्धान्तशैवदर्शन का ग्रन्थ है। कूर्मशतकम् तथा अवनिशतकम् ये दोनों प्राकृतभाषा की भोज की रचनायें हैं। 'कोदण्ड' तथा 'अन्तिम ग्रन्थ' दोनों का उल्लेख श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ ने अपने ग्रन्थ 'राजा भोज' के परिशिष्ट में किया है और इनको 'प्राकृतकाव्य' कहा हैं।[2] 'चम्पूरामायण' या 'रामायणचम्पू' की रचना भोज ने किष्किन्धाकाण्ड तक ही की थी, शेष युद्धकाण्ड की पूर्ति लक्ष्मणसूरि ने की।[3] 'हनुमन्नाटक' (महानाटक) का भी उद्धारक भोज को माना जाता है और रचयिता दामोदर मिश्र को।[4]

भोज का ग्रन्थकर्तृत्व तथा सरस्वती-कण्ठाभरण—

विद्वान् इस तथ्य पर एकमत नहीं हैं कि उक्त समस्त असन्दिग्ध ग्रन्थों की रचना एक ही भोज ने की थी। ज्ञात नहीं कि इस निराधार भावना का उद्भावक कौन-सा शङ्कालु विकृतमस्तिष्क रहा, किन्तु अन्यों की बनायीं सूची के आधार पर अपनी बृहद्ग्रन्थसूची के सम्पादक आफ्रेक्ट महोदय ने भोज के नाम से विख्यात ग्रन्थों की सूची देते समय अपना मत व्यक्त किया था कि—
"It is almost superfluous to add that none of the following works were actually written by himself, but belong to authors who either lived during his reign, or sometime after."[5]

यही नहीं प्रो० चन्द्रप्रसाद सैकिया ने श्री आनन्दोराव बरुआ का मत व्यक्त करते हुये 'भोज' शब्द को एक व्यक्तिविशेष का नाम न मानकर 'वंश' का वाचक माना है और 'सरस्वतीकण्ठाभरणम्' जैसे अलङ्कार ग्रन्थों की रचना अनेकों भोजों में एक द्वारा स्वीकार की है।[6] श्री यदुगिरिस्वामी द्वारा प्रकाशित 'शृङ्गारप्रकाश' (२२-२४ प्रकाश) की भूमिका में ए० रङ्गास्वामी सरस्वती ने

---

१. New Cat. Cat. Val. II p. 147, Madras.
२. राजाभोज : परिशिष्ट पृ० १३–१५ ।
३. 'लक्ष्मण महाकवि : श्रीमद्भोजराजप्रणीतचम्पूरामायणस्य परिपूर्तये अवशिष्टं युद्धकाण्डं प्रारिप्सुः...' युद्धकाण्ड के प्रारम्भ में नारायण की 'पदयोजना' टीका में ।
४. M. Krishnamachariar, Hist. of Class. Skt. Lit., pp. 640–41.
५. Catalogus Catalogorum. Val. I pp. 418–19.
६. The popular belief that the book was written by King Bhoja Deva is not based on unassailable evidence, it seems more reasonable to assume that the book might be the work of any of the several rulers belonging to the Bhoja dynasty'" Saraswati Kaṇṭhābharaṇa, Introduction p. viii. Gauhati, 1969.

बड़े अभिनिवेश के साथ एक राजा के निर्देशन में सभापण्डितों द्वारा इन ग्रन्थों का सम्पादन माना है ।[1]

पता नहीं इन मान्यताओं की स्थापना विद्वानों ने भोज की निन्दा के लिये की थी, अथवा व्यक्तित्वहीन सभापण्डितों की अथवा पण्डितों की बहुश्रुतता तथा सम्भूयकारित्व की प्रशंसा के लिये। निःसन्देह भारत में ऐसे उदाहरण कम नहीं हैं जिनसे द्रव्यादि देकर राजाओं द्वारा विद्वानों के ग्रन्थों को अपने नाम से प्रकाशित कराये जाने की पुष्टि न हो, अथवा सभापण्डितों को अपनी रचनाओं को आश्रयदाताओं के नाम से प्रकाशित कर कृपापात्रता की सिद्धि न हुई हो, तथापि सर्वत्र ऐसा ही रहा होगा, यह न तो तथ्य है, न परम्परा और न युक्तिसंगत। संभवतः इस अद्भुत उद्भावना का कारण भोज का राजा होना, ग्रन्थों का बहुविषयक तथा बहुसंख्यक होना, राजा होने के कारण युद्धादि अनेक कार्यों में व्यापृत रहना और काव्यरचना के लिये समय न मिल पाना, अथवा सभापण्डितों की चाटुकारिका के चङ्गुल में आना आदि समझा जा सकता है, किन्तु डा० वे० राघवन् का ही मत संगत प्रतीत होता है कि—
"...It must be accepted, very learned men among kings there were, and that when we see modern writers, some of them engaged in multifarious public activities, producing voluminous books on diverse subjects, sometimes in unconnected branches of knowledge, we can certainly believe that the ancient Hindu system of education and the old Hindu devotion to learning did produce giants who wrote a very large number of works, in different fields of learning"[2]

वास्तविकता यह है कि जिन कारणों से विद्वान् इन कृतियों को भोजकृत नहीं मानते हैं, वही उनके कर्तृत्व की सिद्धि के पोषक हैं। राजा होकर ग्रन्थरचना भारतीय इतिहास में न पाप माना गया है न अपराध, अपितु राजशेखर सदृश आलंकारिकों ने उन पर यह दायित्व सौंपा था कि ये कवियों की परीक्षा करायें और अपनी सभा में उनको उचित सम्मान दें। अनेक राजधानियों में कविसभा-समायोजन के उदाहरण भी उन्होंने दिये हैं—

राजा कविः कविसमाजं विदधीत। राजनि कवौ सर्वो लोकः कविः स्यात्। स काव्यपरीक्षायै सभां कारयेत्। सा षोडशभिः स्तम्भैश्चतुर्भिर्द्वारैरष्टभिर्मत्तवारणीभिरुपेता स्यात्। तदनुलग्नं राज्ञः केलिगृहम्। मध्ये चतुःस्तम्भान्तरा हस्तमात्रोत्सेधा समणिभूमिका वेदिका। तस्यां राजासनम्। तस्य चोत्तरतः संस्कृताः कवयो निविशेरन्। बहुभाषाकवित्वे यो यत्राधिकं प्रवीणः स तेन व्यपदिश्यते। यस्त्वनेकत्र प्रवीणः स संक्रम्य तत्र तत्रोपविशेत्, ततः परं वेदविद्याविदः प्रामाणिकाः पौराणिकाः स्मार्ता भिषजो मौहूर्तिका अन्येऽपि तथाविधाः। पूर्वेण प्राकृताः कवयः ततः परं नटनर्तकगायन(क?)वादकवाग्जीवनकुशीलवतालावचरा अन्येऽपि तथाविधाः। दक्षिणतो भूतभाषाकवयः, ततः परं चित्रलेप्यकृतो माणिक्यबन्धका वैकटिकाः स्वर्णकारवर्धकिलोहकाराः अन्येऽपि तथाविधाः। दक्षिणतो भूतभाषाकवयः, ततः परं भुजङ्गगणिकाः प्लवकशौभिकधम्मकमल्लाः शस्त्रोपजीविनोऽन्येऽपि तथाविधाः।

तत्र यथासुखमासीनः काव्यगोष्ठीं प्रवर्तयेत् भावयेत् परीक्षेत च। वासुदेवसातवाहन-

---

१. Foreword p. Vii.

२. Bhoja's Sṛṅgāra Prakāśa, page 6.

शूद्रकसाहसाङ्कादीन् सकलान् सभापतीन् दानमानाभ्यामनुकुर्यात्। तुष्टपुष्टाश्चास्य सभ्या भवेयुः। स्थाने च पारितोषिकं लभेरन्। लोकोत्तरस्य काव्यस्य च यथार्हापूजा कवेर्वा। अन्तरान्तरा च काव्यगोष्ठीं शास्त्रवादाननुजानीयात्। मध्वपि नानवदंशं स्वदते। काव्यशास्त्रविरतौ विज्ञानिष्वभिरमेत। देशान्तरादागतानां च विदुषामन्यद्वारा सङ्गं कारयेदौचित्यात् यावत्स्थितिपूजां च। वृत्तिकामांश्चोपजपेत् संगृह्णीयाच्च पुरुषरत्नानामेक एव ह्यसावुपकारो यद्राजोपजीविनां संस्कारः। महानगरेषु च काव्यशास्त्रपरीक्षार्थं ब्रह्मसभाः कारयेत्। तत्र परीक्षोत्तीर्णानां ब्रह्मरथयानं पट्टबन्धश्च। श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—

'इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥'

श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—
'अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः।
वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥'
इत्थं सभापतिर्भूत्वा यः काव्यानि परीक्षते।
यशस्तस्य जगद्व्यापि स सुखी तत्र तत्र च॥'[1]

राजशेखर की उक्ति तथा भोज के ग्रन्थों को देखने से प्रतीत होता है कि धर्मशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, काव्यशास्त्र, राजनीति, विभिन्नभाषाज्ञान, वास्तु एवं समर की विद्याओं को जानने तथा प्रवीणता प्राप्त करने के जितने अवसर राजा को मिलते थे, उतने किसी भी अन्य व्यक्ति को नहीं। भोज स्वयं कवि तथा कविहृदय, शूरवीर, धर्मात्मा एवं नीतिज्ञ थे, अतः उनके द्वारा इन विभिन्न विषयों के ग्रन्थों का रचा जाना पुष्ट अधिक एवं शंका का विषय कम सिद्ध होता है।

वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' में जिन चतुःषष्टिकलाओं[2] की परिगणना की है और नागरक के जीवन का विधान किया है, वह राजा अथवा बहुत बड़े सामन्त के अतिरिक्त अन्य

---

१. काव्यमीमांसा।

२. गीतम् वाद्य नृत्यं आलेख्यं विशेषकच्छेद्यं तण्डुलकुसुमवलिविकाराः पुष्पास्तरणं दशनवसनाङ्गरागः मणिभूमिकाकर्म शयनरचनं उदकवाद्यं उदकाघातः चित्राश्च योगाः माल्यग्रथनविकल्पाः शेखरकापीडयोजनं नेपथ्यप्रयोगाः कर्णपत्रभङ्गाः गन्धयुक्तिः भूषणायोजनम् ऐन्द्रजालाः कौचुमाराश्चयोगाः हस्तलाघवं विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया पानकरसरागासवयोजनं सूचीवानकर्माणि सूत्रक्रीडा वीणाडमरुकवाद्यानि प्रहेलिकाः प्रतिमाला दुर्वाचकयोगाः पुस्तवाचनम् नाटकाख्यायिकादर्शनं काव्यसमस्यापूरणं पट्टिकावेत्रवानविकल्पाः तक्षकर्माणि तक्षणम् वास्तुविद्या रूप्यरत्नपरीक्षा धातुवादः मणिरागाकरज्ञानं वृक्षायुर्वेदयोगाः मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः शुकसारिकाप्रलापनं उत्सादने संवाहने केशमर्दने च कौशलं अक्षरमुष्टिकाकथनं म्लेच्छितविकल्पाः देशभाषाविज्ञानं पुष्पशकटिका निमित्तज्ञानं यन्त्रमातृका धारणमातृका संपाठ्यं मानसीकाव्यक्रिया अभिधानकोशः छन्दोज्ञानं क्रियाकल्पः छलितकयोगाः वस्त्रगोपनानि द्यूतविशेषा आकर्षक्रीडा बालक्रीडनकानि वैनयिकीनां वैजयिकीनां व्यायामिकीनां च विद्यानां ज्ञानं इति चतुष्षष्टिरङ्गविद्याः कामसूत्रस्यावयविन्याः॥

कामसूत्र॥ १।३।१६॥

व्यक्ति के जीवन में घटित हो पाना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।[1] वहाँ जिस त्रिवर्गसाधक पुरुप[2] की स्थापना वात्स्यायन ने की है, लगता है भोज ने उसको अक्षरशः अपने जीवन में उतारने की चेष्टा की है। चतुःषष्टिकलाओं में से गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, आलेख्य, प्रहेलिका, पुस्तकवाचन, काव्यसमस्यापूर्ति, अक्षरमुष्टिकाकथन, म्लेच्छित-विकल्प, देशभाषाविज्ञान, धारण-मातृका, संपाठ्य, मानसीकाव्यक्रिया, अभिधानकोष, छन्दोज्ञान, क्रिया-विकल्प आदि कुछ तो ऐसी हैं जिनका साक्षात् सम्बन्ध कविकर्म से हैं। इनके प्रति रुचि रखने वाले भोज की रची हुई प्राकृत आदि भाषा की कविताओं तथा अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थों के प्रति तत्कर्तृकता में कोई सन्देह का अवसर ही नहीं रह जाता है। सरस्वतीकण्ठाभरण के द्वितीय परिच्छेद में चित्रकाव्यनिरूपण के प्रसङ्ग में विविध बन्ध, आलेख्य आदि तथा ग्राम्या, उपनागरिका, वक्रोक्ति, गूढोक्ति, चित्रोक्ति, उक्तिप्रत्युक्ति, वाकोवाक्य, प्रहेलिका और उसके च्युताक्षरा, दत्ताक्षरा, मुष्टि, विन्दुमती, क्रीडागोष्ठी, परव्यामोहन, क्रियागुप्ता, कारकगुप्ता, पादगूढ, अन्तःप्रश्न, बहिःप्रश्न, ध्रुवा, आक्षिप्तिका, प्रेक्षण, क्ष्वेडिका, ताण्डव, लास्य, छलिक, शम्पा, हल्लीसक तथा विभिन्न अभिनय निरूपित हैं। इनका किसी न किसी प्रकार ६४ कलाओं में अधिकांश से सम्बन्ध स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वहीं पञ्चमपरिच्छेद में वर्णित 'प्रकीर्ण'[3] कामसूत्र में वर्णित क्रीड़ाओं से प्रायः मिलते हैं, उनमें अन्तर अतिस्वल्प है।[4]

उक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि महाराजाधिराज भोजदेव ने त्रिवर्ग का समुचित सेवन किया

---

१. घटानिवन्धं गोष्ठीसमवायः समापानकं उद्यानगमनं समस्याः क्रीडाश्च प्रवर्तयेत् ॥१४॥ पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्याः भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः ॥१५॥ कुशील-वाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजां नियतं लभेरन्। ततो यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा। व्यसनोत्सवेषु चैषां परस्परस्यैककार्यता ॥१६॥ आगन्तूनां च कृतसमवा-यानां पूजनमभ्युपपत्तिश्च। इति गणधर्मः ॥१७॥
एतेन तं तं देवताविशेषमुद्दिश्य संभावितस्थितयो घटाः व्याख्याताः ॥१८॥ वेश्याभवने सभायामन्यतमस्योद्वसिते वा समानविद्याबुद्धिशीलवित्तवयसां सह वेश्याभिरनुरूपैरालापैरा-सनबन्धो गोष्ठी ॥१९॥ तत्र चैषां काव्यसमस्या कलासमस्या वा ॥२०॥

नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया।
कथां गोष्ठीषु कथयंल्लोके बहुमतो भवेत् ॥ ३७ ॥ कामसूत्र १।४।

२. एवमर्थं च कामं च धर्मं चोपाचरन्नरः।
इहामुत्र च निःशल्यमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ ३९ ॥
किं स्यात् परत्रेत्याशङ्का कार्ये यस्मिन्न जायते।
न चार्थघ्नं सुखं चेति शिष्टास्तत्र व्यवस्थिताः ॥ ४० ॥
त्रिवर्गसाधकं यत् स्यात् द्वयोरेकस्य वा पुनः।
कार्यं तदपि कुर्वीत न त्वेकार्थं द्विबाधकम् ॥ ४१ ॥ कामसूत्र १।२॥

३. सरस्वतीकण्ठाभरण ५।९३–९६ ॥ द्रष्टव्य-श्रृङ्गारप्रकाश का ३४ वां प्रकाश।

४. यक्षरात्रिः, कौमुदीजागरः, सुवसन्तकः, सहकारभञ्जिका, अभ्यूषखादिका, विसखादिका, नवपत्रिका, उदकक्ष्वेडिका, पाञ्चालानम् , एकशाल्मली, यवचतुर्थी, आलोलचतुर्थी, मदनो-त्सवः, दमनभञ्जिका, होलाका, अशोकोत्तंसिका, पुष्पावचायिका, चूतलतिका-इक्षुभञ्जिका, कदम्बयुद्धानि, तास्ताश्च महिमान्यो देश्याश्च क्रीडा जनेभ्यो विशिष्टमाचरेयुरिति संभूय-क्रीडाः। कामसूत्र १।४।४२॥

और शास्त्रीय अपेक्षाओं की पूर्णपूर्ति का यथासम्भव प्रयास किया। इन शास्त्रीय अनुष्ठानों के सम्पादन से उनके चरित्र एवं व्यक्तित्व में आये उग्र चाकचिक्य से समीक्षकों की सशक्त भी चक्षु चौंधिया गयी और वे सदसद्विनिश्चय में असमर्थ हो भ्रान्त हो गये। शास्त्रनिर्देश होने पर भी अनेक शासक प्रायः नियमों और अपेक्षाओं के पालन एवं सम्पादन में असमर्थ रहे, जिन्होंने उनका पालन किया वे आश्चर्य के विषय बने, यही कारण है कि भोज का ग्रन्थकर्तृत्वविवाद का विषय रहा। सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृङ्गारप्रकाश के समानशब्दात्मक उपसंहृतिश्लोक में इन दोनों ग्रन्थों को 'अनङ्गसर्वस्व' कहा गया है और उससे 'परिषद्' के सन्तोष की अपेक्षा की गयी है—

इति निगदितभङ्ग्याऽनङ्गसर्वस्वमेत-
द्विविधमपि मनोभिर्भावयन्तोऽस्य भेदम्।
तदनुभवसमुत्थानन्दसम्मीलिताक्षाः
परिषदि परितोषं हन्त सन्तः प्रयान्तु॥

इन सन्दर्भों से ऐसा प्रतीत होता है मानो भोज ने इन दोनों ग्रन्थों की रचना अन्य काव्य-रचनाओं की भांति—विभिन्न काव्यगोष्ठियों में की हो और उनका आदर्श 'कामसूत्र' ही रहा हो। उक्त प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि भोज ने ही अपने नाम से विख्यात काव्य तथा अलङ्कार ग्रन्थों को रचा। विभिन्न गोष्ठियों, समाजों और सभाओं के आयोजनों से तथा उनमें सक्रिय भाग लेने से भोज को देशीभाषाओं, प्राकृतों तथा अन्य भाषाविकारों का ज्ञान सहज ही हो गया होगा। राजा का जीवन बहुरङ्गी तथा अनेक साधनों से परिपूर्ण होने से ही सम्भवतः महाकाव्यों एवं नाटकों के नायकादि के रूप में भी उसी की उपयोगिता समझी गयी थी।

यही युक्तियाँ भोज के नाम से विख्यात धर्मशास्त्र, व्यवहारशास्त्र, राजनीति, वैद्यक आदि शास्त्रग्रन्थों के भी विषय में उपस्थित की जा सकती हैं। प्राचीन न्यायप्रणाली में पुरोहित तथा धर्माचार्यों का प्रमुख हाथ होने पर भी पूर्ण वर्चस्व राजा का ही होता था और चरम न्यायमूर्ति वही होता भी था। अतः धर्म तथा व्यवहार का ज्ञान राजा को होना स्वाभाविक था। भोज स्वयं समराङ्गण में उतरता था, लड़ता था और घायल होने पर उसे परिचर्या की अपेक्षा होती थी। उसकी चिकित्सा निपुण वैद्यों द्वारा की जाती थी। शुभ कार्यों तथा रणप्रस्थानों के लिये शुभमुहूर्तों का ज्ञान भी अपेक्षित था। यद्यपि उसकी सभा में 'दैवज्ञ' रहे ही होंगे, तथापि यह आवश्यक नहीं कि रोगी होने पर दवा तो खायी जावे और उसके गुणावगुण जाने ही न जायें, शुभ घड़ी में प्रस्थान या शुभकार्य का आरम्भ तो किया जाये किन्तु उन शुभनक्षत्रों के विषय में ज्ञान प्राप्त ही न किया जाये। ऐसी दशा में प्रतिभाशाली भोज का उनमें प्रावीण्य प्राप्त करना तथा तद्विषयक अनुभवों को लिपिबद्ध करना न तो अस्वाभाविक है और न अनुचित। यही बातें वास्तुविद्या के ग्रंथों के विषय में भी चरितार्थ होती हैं। वास्तुविद्या के ग्रन्थों की रचना का एक और रहस्य प्रतीत होता है। यह बतलाया जा चुका है कि भोज-सिद्धान्त 'शैवदर्शन' के दीक्षित साधक थे। इस सम्प्रदाय में 'चर्या' का विशेष महत्त्व है जिसमें देवविग्रह, देवालय-निर्माण आदि का ज्ञान विशेषतः अपेक्षित है। ईशानदेव मिश्र का 'ईशानगुरुपद्धति' ग्रन्थ इस विषय के लिये विशेष द्रष्टव्य है। शैवदर्शन से सम्बद्ध अंशुमद्भेद, कामिक, करण, वैखानस तथा सुप्रभेद आगमों और अग्नि, गरुड, नारद, ब्रह्माण्ड, भविष्य, मत्स्य, लिङ्ग, वायु, स्कन्द, कालिका आदि पुराणों में वास्तुविद्या के प्रचुरनिरूपण का भी यही रहस्य प्रतीत होता है। यद्यपि किसी भी सम्प्रदाय में देवालयनिर्माण आदि का विधान है, तथापि इसमें विशिष्ट हैं।

'तत्त्वप्रकाश' आदि शैवदर्शन के ग्रन्थों की रचना के विषय में भी सन्देह निराधार सिद्ध होता है[1], क्योंकि भोज ने उत्तुङ्गशिव से दीक्षा ली थी। इनके पूर्वचर्चित १०७६ तथा १०७८ वि० सं० के दानपत्रों से भी स्पष्ट है कि इस राजा ने संसार की असारता को जान लिया था और वह आध्यात्मिक साधना की ओर भी अग्रसर हो गया था।

चर्चित सभी ग्रंथों के रचयिता अकेले भोज ही थे इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि प्रायः सभी उक्त ग्रंथों के मङ्गलाचरण, पुष्पिका अथवा उपसंहार के श्लोक शिवपरक हैं। प्रारम्भ तथा अन्त में प्रायः सभी ग्रन्थों में शिव का स्मरण है। इनके बहुसंख्यक ग्रन्थों में कुछ ही ऐसे हैं जिनमें यह बात नहीं घटती। 'राजमार्तण्ड' (ज्योतिष) के प्रारम्भ में सूर्य, 'चम्पूरामायण' में गणेश, 'चाणक्यराजनीति' में गणेश तथा विष्णु और 'भुजबलनिबन्ध' में विष्णु का, सरस्वती-कण्ठाभरणम्' (अलङ्कार) में वाग्देवी का स्मरण है। किन्तु ज्योतिष तथा काव्यशास्त्र के ग्रन्थ की प्रस्तावना में सूर्य या वाग्देवी की तथा भारतीय परम्परा में विघ्नविनाशक स्वीकृत होने से गणेश की स्तुतियाँ न तो अस्वाभाविक हैं न अव्यावहारिक, विशेषतः एक राजा के लिये जिसे व्यक्तिगत धार्मिक सम्प्रदाय के साथ प्रजा के भी धर्म का सम्मान करना अपेक्षित है। विष्णु का भी स्मरण भोज को अनपेक्षित नहीं, क्योंकि सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृङ्गारप्रकाश दोनों के समान शब्दात्मक उपसंहार श्लोक में शिव के साथ विष्णु का भी उल्लेख है—

यावन्मूर्ध्नि हिमांशुकन्दलवती स्वर्वाहिनी धूर्जटेः
यावद्वक्षसि कौस्तुभस्तबकिते पद्मा मुरद्वेषिणः।
यावच्चित्तभुवस्त्रिलोकविजयप्रोच्चं धनुः कौसुमं
भूयात्तावदियं कृतिः कृतधियां कर्णावतंसोत्पलम्॥

जहाँ तक सैकिया के इस मत का प्रश्न है कि इन ग्रन्थों की रचना एक भोज ने नहीं अपितु उनके वंशधरों ने की, यह भी निराधार एवं असिद्ध है। कामसूत्र तथा कौटलीय अर्थशास्त्र दोनों ग्रन्थों में कामातिशयता से भोजवंशीय दाण्डक्य नामक राजा के विनाश का उल्लेख एक ही शब्दावली में है—"यथा दाण्डक्यो नाम भोजः कामाद् ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश'। इसी पर जयमङ्गल टीकाकार कहते हैं—दाण्डक्य इति संज्ञा। भोज इति भोजवंशः। अभिमन्यमानोऽभिगच्छन्।[2] किन्तु इतिहास की अबतक प्राप्त सामग्री और राजवंशावली में कोई भोजवंश नहीं मिला, यदि हो भी तो वह परमारवंशीय भोज और उनके वंश से सर्वथा भिन्न था। मालवा के परमारवंश में केवल दो ही भोज हुये, एक सिन्धुराज के पुत्र दूसरे इनसे कई पीढ़ी बाद अर्जुनवर्मा (द्वितीय) के उत्तराधिकारी तथा जयसिंह (चतुर्थ) के पिता (लगभग १२८३ में)। महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री के तीन भोज[3], भी अबतक न तो इतिहास में पूर्णतः प्रकाश में आये हैं और न उनका ग्रंथकर्त्ता के रूप में कोई विशेष उल्लेख है। अन्य वंशों तथा स्थानों के भोजनामधारी राजाओं से हमारा कोई प्रयोजन यहाँ है ही नहीं। अतः सैकिया महोदय का मत पूर्णतः निराधार है।

---

१. माधव ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' तथा ईशानगुरु ने अपनी 'पद्धति' में 'तत्त्वप्रकाश' की कारिकायें उद्धृत की हैं तथा भोज का नामशः उल्लेख किया है।

२. कामसूत्र पृ० ६५ तथा—उदयवीर शास्त्री सम्पादित—कौटलीय अर्थशास्त्रः प्रथम भाग १।६।७॥ मेहरचन्द लछमनदास दिल्ली, १९७० ई०।

३. डा० कामेश्वरनाथ मिश्र सम्पादित—तत्त्वप्रकाश, भूमिका पृ० ३५, पादटिप्पणी ६।

आश्चर्य तो यह है कि किसी भी परवर्ती भारतीय कवि या नाटककार ने परम्परा का ही अनुसरण किया है और अपने-अपने क्षेत्र में भोज के नाम से विख्यात ग्रंथो को यदि कुछ भी कहा है तो भोजकृत ही कहा है[१], कहीं भी यह उल्लेख नहीं किया कि भोज ने किसी कवि या सभापण्डित से पैसे देकर ग्रन्थ अपने नाम से लिखवा लिया, यद्यपि उनकी दानशीलता, काव्य-प्रेम और कविसत्कार आदि निरन्तर प्रशंसित रहे और सभी कार्य निर्विशेष भाव से ही किये गये। यदि भोज ने आश्रित कवियों की रचनाओं को अपने नाम से घोषित किया होता, तो 'हर्षादेर्धावकादीनामिव' जैसा प्रवाद इनके लिये भी अब तक प्रचलित हो गया होता और कहीं न कहीं प्राचीन ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में चर्चा अवश्य की होती।

भोज की सभा में दैवयोग से विक्रमादित्य की सभा जैसे 'नवरत्न' या बहुत प्रख्यात कवि और लेखक नहीं थे। वल्लाल के 'भोजप्रबन्ध' में भोजदेव से कई सौ वर्ष पहले तथा कई दशक बाद तक के कवियों का उनकी सभा में सन्निवेश अनैतिहासिक तथा प्रमाणहीन सिद्ध हो चुका है। श्री वि० ना० रेउ के शब्दों में "मेरुतुङ्गरचित 'प्रबन्धचिन्तामणि' और वल्लालकृत 'भोज-प्रबन्ध' में माघ, बाणभट्ट, पुलिन्द, सुबन्धु, मयूर, मदन, सीता, कालिदास, अमर, वासुदेव, दामोदर, राजशेखर, भवभूति, दण्डी, मल्लिनाथ, मानतुङ्ग, धनपाल, भास्करभट्ट, वररुचि, रामदेव, हरिवंश, शङ्कर, कलिङ्ग, कर्पूर, विनायक, विद्याविनोद, कोकिल, तारेन्द्र आदि अनेक प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध कवियों का भोज की सभा में होना लिखा है। परन्तु इनमें से बहुत से विद्वान् भोज से पहले हो चुके थे, इसलिये यह नामावलि विश्वासयोग्य नहीं है।"[२] भोज के शासनकाल में सामान्य जनता का भी वैदुष्य तो प्रथित है, किन्तु सभासद के रूप में किसी कालिदासकोटिक कवि तथा वराहमिहिर, अमरसिंह आदि के सदृश दैवज्ञों एवं कोषकारों की उपस्थिति इतिहास सिद्ध नहीं। अतः यह कहना निरर्थक है कि भोज के ग्रन्थों की रचना उनके सभासदों ने की होगी। वस्तुतः उनकी सभा में एक ही विशिष्ट कवि दामोदरमिश्र—का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम से 'महानाटक' अथवा 'हनुमन्नाटक' विख्यात है। यदि तथ्य अन्यथा होता तो यह ग्रन्थ भी भोज के ही नाम से प्रथित होता। धनिक, धनञ्जय आदि आचार्य भोज के समकालीन अथवा कुछ पूर्वापर रहे होंगे, किन्तु उनकी सभा में इनका होना सिद्ध नहीं है। दूसरी बात यह है कि उनके नाम से स्वयं ही उत्कृष्टकोटि के ग्रंथ विख्यात हैं।

यह तर्क भी असंगत लगता है कि परवर्ती छोटे-छोटे ग्रंथकारों ने भोज के नाम से ख्याति की कामना से अपने ग्रंथों को उनके नाम से अङ्कित कर दिया होगा। वस्तुतः जिसको अपनी कृति की ख्यातिप्रिय होगी, वह अपने नाम को अज्ञात नहीं रख सकता, न दूसरे के नाम कर सकता है, और यदि यही सत्य होता तब तो एक महान् ग्रन्थकार के बाद छोटे ग्रन्थकारों का नाम ही श्रवणगोचर न होता।

अतः सिद्ध होता है कि भोज ने स्वयं बहुत से ग्रन्थों की रचना की। यदि आश्चर्य हो सकता है तो इसी बात पर कि भोज जैसे महान् एवं यशस्वी राजा, प्रतिभाशाली कवि, उदार एवं सहृदय दानकर्ता, तथा विशाल व्यक्तित्व के महापुरुष की लेखनी से कुछ ग्रन्थ और भी क्यों नहीं लिखे गये, जीवन के कुछ अन्य विषय पाकशास्त्र, कामशास्त्र आदि अछूते क्यों रह गये? वस्तुतः भोज द्वारा ग्रन्थों को न रचे जाने की प्रामाणिकता किम्वदन्ती जैसी ही है।

---

१. द्रष्टव्यः आफ्रेक्टः कैटे० कैटे० वाल्यूम I, पृ० ४१८–१९।

२. राजा भोज, पृ० १८३।

तत्त्वप्रकाश, सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश के अतिरिक्त भोज के अन्य ग्रन्थों में समराङ्गणसूत्रधार (सम्पादक गणपतिशास्त्री, दो भागों में, गायकवाड़ ओ० सी० बड़ौदा, १९२४–२५), युक्तिकल्पतरु (ईश्वरचन्द्र शास्त्री, कलकत्ता, १९१७), प्रकाशित हो चुके हैं। 'योगसूत्र' की राजमार्तण्डवृत्ति कलकत्ता (१८८३ ई.) के बाद अनेक स्थानों से एवं 'सरस्वतीकण्ठाभरण' (व्याकरण-मद्रास वि. वि. १९३७ ई.) नारायणदण्डनाथ की हृदयहारिणी टीका के साथ त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरिज से १९३५, '४८ में प्रकाशित हुये थे।

डा० राघवन् की भांति प्रो० कीथ[1] तथा एम० कृष्णमाचारियर[2] भी भोज के ग्रंथकर्तृत्व में आस्था अधिक एवं सन्देह कम ही व्यक्त किये हैं। अतः जिन ग्रन्थों के विषय में विवाद नहीं है, विषय और भाषाशैली में औचित्य का निर्णय कर उनको भोजकृत ही स्वीकार करना चाहिये।

सरस्वतीकण्ठाभरण तथा उसके टीकाकार—

भोजरचित व्याकरण तथा अलङ्कारशास्त्र के दो ग्रन्थ एक ही नाम—सरस्वतीकण्ठाभरण—से उपलब्ध होते हैं। वर्तमान अलङ्कारशास्त्र का ग्रन्थ पाठक के हाथों में है। इसके विवेच्य विषय भी समक्ष ही हैं।

इस ग्रन्थ का सम्भवतः सर्वप्रथम टीका सहित प्रकाशन वही था जिसका सम्पादन द्राविड वीरेश्वर शास्त्री ने किया था। इसमें तृतीय परिच्छेद के अन्त तक रत्नेश्वर मिश्र की टीका भी साथ में रही। इसका प्रकाशन वर्ष वैशाख सुदी ८, भौमवार मि० सं० १९४३ तथा प्रकाशन स्थान काशी रहा।

सम्भवतः दूसरा संस्करण निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से काव्यमाला सं० ९४ के रूप में सन् १९२५ ई० में प्रकाशित हुआ, जिसका सम्पादन एवं संशोधन श्री वासुदेव शर्मा ने किया था। इस संस्करण में तृतीय परिच्छेद के अन्त तक रत्नेश्वर की टीका तथा चतुर्थ परिच्छेद पर जगद्धर की टीका रही। यह जगद्धर सम्भवतः मेघदूत, वासवदत्ता, वेणीसंहार, मालतीमाधव आदि के टीकाकार ही हैं। इनका समय १७वीं सदी के पूर्व है[3]। रत्नेश्वर की टीका का नाम 'रत्नदर्पण' रहा। इसी ग्रन्थ का दूसरा संस्करण उसी स्थान से उसी काव्यमाला संख्या में सन् १९३४ में भी प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ के निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित दोनों संस्करणों में मुखपृष्ठ पर "रामसिंहविरचितया तृतीयपरिच्छेदान्तया..." आदि लिखा है, और ग्रन्थारम्भ में टीका में रामसिंह के टीकाकार होने का भी उल्लेख है, किन्तु वीरेश्वर शास्त्री ने अपने संस्करण के प्राक्कथन के पृष्ठ २ पर "इति श्रीमहाराजरामसिंहनरेन्द्राज्ञाकारिणा श्रीमत्कविवरेण्येन रत्नेश्वरमिश्रेण विरचितां रत्नदर्पणाख्यां व्याख्यां..." आदि लिखा है। काव्यमाला के संस्करणों के प्रथम परिच्छेद के अन्त में—"श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचितं सरस्वतीकण्ठाभरणम्। श्रीरत्नेश्वरविरचितया रत्नदर्पणाख्यया व्याख्यया समेतम्।" आदि तथा तृतीयपरिच्छेद के अन्त में—

---

१. "Four hundred years later Bhoja of Dhārā was more fortunate, for we have no real knowledge to disprove his claim to polymathy exhibited in a large variety of works." A Hist. of Sans. Literature, page. 53.

२. Hist of Cl. Sans. Literature p. 501.

३. De : Sanskrit Poetics, page 139.

श्रीरामसिंहदेवाज्ञामादाय रचितो मया।
दर्पणाख्यः सदा तेन तुष्यतु श्रीसरस्वती॥
रत्नेश्वरो नाम कवीश्वरोऽसौ विराजते काव्यसुधाभिषेकैः।
दुस्तर्कचक्राहतदुर्विदग्धां वसुंधरां पल्लवयन्नजस्रम्॥
अद्य स्फुरतु वाग्देव्याः कण्ठाभरणकौतुकम्।
मयि ब्रह्ममनोवृत्तौ कुर्वाणे रत्नदर्पणम्॥

इति श्रीमन्महाराजश्रीरामसिंहेन महामहोपाध्यायमनीषिरत्नेश्वरेण विरचय्य प्रकाशिते दर्पणाख्ये सरस्वतीकण्ठाभरणविवरणेऽर्थालङ्कारस्तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः।"
लिखा है, जिससे उक्त टीका रामसिंह प्रेरित रत्नेश्वर की लिखी सिद्ध होती है। चतुर्थ परिच्छेद की जगद्धर के विवरण की पुष्पिका में "रत्नं रत्नधरोऽजनिष्ट०" आदि शब्दों से भी रत्नेश्वर का ही टीकाकर्तृत्व सिद्ध होता है।

इस ग्रन्थ का तीसरा संस्करण कलकत्ता से पण्डित जीवानन्द विद्यासागर ने निकाला था, जिसमें रत्नेश्वर मिश्र की टीका एक से तीन परिच्छेद तक रही, किन्तु उन्होंने शेष परिच्छेदों में अपनी संक्षिप्त टिप्पणी भी जोड़ दी जिससे अध्येताओं को काफी सरलता हुई। रत्नेश्वर ने 'काव्यप्रकाश' पर भी टीका लिखी थी। इनका समय सम्भवतः १४वीं शती ई० था[1]।

आनन्दोराम वरुआ द्वारा सम्पादित मूलमात्र का प्रकाशन १९६९ ई० में प्रकाशन विभाग, आसाम, से हुआ। इसका प्रथम संस्करण श्री वरुआ ने सन् १८८० अथवा १८८४ ई० में ही किया था। इस प्रकार ग्रन्थ के मूलमात्र का यह सर्वप्रथम प्रकाशन सिद्ध होता है।

प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने अपने भामहकृत काव्यालङ्कार के आमुख (पृष्ठ ६) पर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से हिन्दी व्याख्या सहित इस ग्रन्थ के भावी प्रकाशन की घोषणा बहुत पहले संवत् २०१९, (१९६२ ई०) में ही की थी, किन्तु आज तक वह ग्रंथ दृष्टि में न आ सका।

विख्यात भारतीय विद्याविद् डा० राघवन् ने 'आजड' नाम के इस ग्रन्थ के एक और संस्कृत व्याख्याकार की चर्चा अपने विख्यात ग्रन्थ 'भोजाज़ शृङ्गारप्रकाश' में की है। आजड का उल्लेख मेरी इस भूमिका में भी कई स्थानों पर उसी आधार पर किया गया है, किन्तु यह टीका अभी तक प्रकाश में नहीं आयी। यदि आयी भी हो तो अब तक देखने का सुयोग नहीं आया। प्रो० डे ने दण्डी के टीकाकार हरिनाथ की 'मार्जना' टीका का भी 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पर होना स्वीकार किया है। इनका समय १६९० ई० से पूर्व होना चाहिये।[2] डे महोदय ने ही 'दुष्कर-चित्र-प्रकाशिका' नाम की लक्ष्मीनाथभट्ट की टीका का भी उल्लेख किया है,[3] किन्तु वह भी प्रकाश में नहीं आयी।

---

१. वही।
२. वही पृ. ७० तथा १३९
३. वही पृ० १३९

चित्र-अलङ्कार

शरीरभूत शब्द एवं अर्थ के माध्यम से काव्य की शोभाभिवृद्धि करने वाले तत्त्वों को अलङ्कार स्वीकार किया गया है।[1] इनकी संख्या तथा स्वरूप के विषय में आचार्यों में वैमत्य दृष्टिगोचर होता है जो उनके गहन चिन्तन का परिणाम है।

शब्दालङ्कारों में अनुप्रास, यमक तथा श्लेष का बहुल उल्लेख काव्यशास्त्रियों ने किया है। चित्रालङ्कार भी शब्दालंकारों में परिगणित होता है।

'चित्र' और चित्रालङ्कार का अर्थ—

'चित्र' शब्द का प्रयोग सामान्यतः—आश्चर्य तथा आलेख्य[2]—दो अर्थों में होता है। अलङ्कारशास्त्र में विभिन्न आचार्यों ने चित्रालङ्कार के सन्दर्भ में इन दोनों अर्थों में से एक-एक अथवा दोनों को एक साथ स्वीकार किया है। आद्य आलंकारिकों में भामह ने इधर ध्यान नहीं दिया। दण्डी ने गोमूत्रिका, यमक तथा स्वर-स्थान-वर्ण से सम्बद्ध उदाहरण तो प्रस्तुत किया, किन्तु चित्रालङ्कार के लक्षण आदि से विरत रहे।[3]

प्रारम्भिक आचार्यों में रुद्रट ने अपने 'काव्यालङ्कार' में चित्रालङ्कार पर विशेष ध्यान दिया। उनके अनुसार—

> भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि।
> साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम्॥ काव्या० ५।१॥

उसी कारिका पर नमिसाधु की टीका है—"यत्र काव्ये वस्तूनां चक्रादीनां रूपाणि संस्थानानि रच्यन्ते निबध्यन्ते तच्चित्रसादृश्यादाश्चर्याद् वा चित्रं नामालङ्कारः।"[4] इन दोनों आचार्यों ने दोनों अर्थों का सन्निवेश अपने लक्षण में कर लिया है अर्थात् चाहे वर्णों को क्रमविशेष में रखने से कमल आदि कोई आलेख्य बन जाये, अथवा चित्र न बनने पर भी अक्षरपंक्तियों के विशिष्ट क्रम से असामान्यता लक्षित होने से द्रष्टा या अध्येता को आश्चर्य हो उठे, इन दोनों परिस्थितियों में चित्रालङ्कार होगा, ऐसा इन आचार्यों का अभिप्राय परिलक्षित होता है। 'आश्चर्य' की अनुभूति की अभिव्यक्ति 'एकावली' के शब्दों में द्रष्टव्य है—"अहो येन क्रमेण गता वर्णपंक्तिः तेनैव क्रमेण प्रत्यागतेत्याश्चर्यकारित्वाद् वा चित्रम्"।[5]

'आश्चर्य' के अर्थ को छोड़ कर 'आलेख्य' अर्थ पर विशेष बल देने वाले आचार्यों में संभवतः आनन्दवर्धन प्रथम हैं। उन्होने चित्रालंकार की आश्चर्यार्थकता को छोड़ कर आलेख्यार्थकता पर विशेष बल दिया, यह उनके ध्वन्यालोक के वचनो से स्पष्ट है—"केवल-वाच्य-वाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेण उपनिबद्धालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्।"[6] उनका भाव अभिनवगुप्त के 'लोचन' के अंश से और भी स्पष्ट हो जाता है—यमकचक्रबन्धादि चित्रतया

---

१. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते॥ दण्डी : काव्यादर्श २।१॥ मम्मटः काव्य-प्रकाशः ८।२॥
२. आश्चर्यालेख्ययोश्चित्रम्-अमरकोशः
३. काव्यादर्श, ३ य परिच्छेद।
४. काव्यालंकार ॥ ५।१ ॥ पर टीका।
५. विद्याधरः एकावली, बाम्बे संस्कृत सीरीज सं० ६३, १९०३ ई० पृ. १९१
६. ध्वन्यालोक ३।

प्रसिद्धमेव तत्तुल्यार्थमेवार्थचित्रं मन्तव्यम् इति भावः। आलेख्यप्रख्यमिति रसादि-जीवरहितं मुख्यप्रतिकृतिरूपं चेत्यर्थः।'[1] दोनों आचार्यों के इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि इनको 'रस-व्यञ्जना' की अप्रधानता के कारण चित्रकाव्य अभीष्ट न था। यहीं यह दूसरा तथ्य भी प्रकाशित होता है कि जहाँ आनन्दवर्धन 'आलेख्य' को 'चित्र' मानने पर विशेष बल देते थे, वहीं अभिनवगुप्त को यमक आदि भी लोकमान्यता के आधार पर चित्र रूप में अभीष्ट थे। आगे यथास्थान इस विषय पर प्रकाश डाला जायेगा कि 'चित्रालंकार' की उद्भावना में यमक प्रमुख आधार रहा और वही गतिचित्र के रूप में पूर्णतः विकसित हुआ। यद्यपि 'आश्चर्य' के अर्थ में 'चित्र' को स्वीकार कर उसके भेदोपभेदो का निरूपण कारणनिर्देशपूर्वक करने वाले आचार्यों की कमी न रही तथापि आनन्दवर्धन के बाद रसध्वनिवादी आलंकारिको ने खड्ग, कमल आदि आकारों—आलेख्यों—के हेतुभूत वर्णविन्यास को प्रधान रूप से 'चित्रालंकार' मानना प्रारम्भ कर दिया। ध्वनिस्थापनाचार्य मम्मट[2], आचार्य रुय्यक,[3] जयदेव,[4] विद्यानाथ,[5] विश्वनाथ,[6] अप्पय, शिवदत्त[7] आदि प्रमुख आचार्यों की दृष्टि में 'आलेख्यता' ही 'चित्र' के अर्थ में विद्यमान रही। सामान्य पाठक के भी हृदय में चित्रालंकार का नाम लेने पर 'आलेख्य' अर्थ ही सर्वप्रथम स्फुरित होता है।

भोजदेव ऐसे आचार्य थे जिन्होंने दण्डी की भांति 'चित्र' की विशिष्ट परिभाषा तो नहीं दी किन्तु उसका निरूपण प्रारम्भ करते समय 'आलेख्य' के अतिरिक्त अन्य प्रकारों का भी समावेश उसमें किया और 'आश्चर्य' अर्थ को भी स्थापित किया।[8] भोज की इस उक्ति पर व्याख्या करते समय रत्नेश्वर मिश्र ने अभिनवगुप्त की मान्यता पर आक्षेप किया है और भोज के मतको पुष्ट करते हुए चित्र का 'आश्चर्य' अर्थ स्वीकार किया है।

"चित्रमालेख्यं तदिव जीवितस्थानीयध्वनिरहितं चित्रमिति काश्मीरकाः। तदसत्। ध्वनेः प्राधान्यानङ्गीकारात् प्रतीयमानसाम्राभावस्य क्वचिदप्यसंभवात्। यद्वा आकृति-

---

१. वही।

२. 'तच्चित्रं यत्रवर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता।' सन्निवेशविशेषेण यत्र न्यस्ताः वर्णाः खड्ग-मुरज-पद्माद्याकारमुल्लासयन्ति तच्चित्रकाव्यम्॥ का. प्र। ९।

३. वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम्। अलंकारसर्वस्वम्, काव्यमाला ३४, बम्बई —१९३९ ई. पृ. ३०

४. काव्यवित्प्रवरैश्चित्रं खड्गबन्धादि लक्ष्यते। चन्द्रालोक ५।९॥

५. पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते॥ प्रतापरुद्रीय,, बालमनोरमाप्रेस मद्रास, १९२४ ई. पृ. २५१

६. 'पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते।' साहित्यदर्पण। १०।१५॥ 'आदिशब्दात् खड्गमुरज-चक्र-गोमूत्रिकादयः' विश्वनाथ की इसी उक्ति पर हरिदाससिद्धान्त-वागीश—"अस्य चित्रसम्पाद्यतया चित्रमिति नाम।" सा. द. कलकत्ता, शकाब्द १८४१.

७. 'चित्रं पद्मादिबन्धत्वे।' शब्दानामिति यावत्। अस्यापि प्रचुरभेदत्वात् दिङ्मात्रम्॥ काव्यारसायनम्॥ २७१॥ कलकत्ता, १९६० विक्रम०

८. वर्ण-स्थान-स्वराकार-गतिबन्धान् प्रतीह यः।
नियमस्तद् बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते॥ स० क० २।१०९॥

विशेषयुक्तं चित्रमिति तदपि न। अव्यापकत्वात्। अतो वर्णादिनियमेन प्रवृत्तमाश्चर्यकारितया चित्रमित्येव युक्तम्।"[1]

अपने टीकाकारों के अतिरिक्त अन्य परवर्त्ती आचार्यों से भी भोज को समर्थन मिला। विद्याधर ने अपनी 'एकावली' में चित्रालङ्कार का लक्षण यद्यपि कहा है, तथापि इस पर उनकी वृत्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अन्य प्रकारों को भी इस में समाविष्ट ही नहीं किया है, अपितु चित्र की एक नयी परिभाषा भी दी है।

"वर्णानामथ पद्माद्याकृतिहेतुत्वमुच्यते चित्रम्"[2]

आकारचित्र इवेह बन्धचित्रेऽपि वर्णानामाकारोल्लासकत्वात् पद्मादिरूपतयाऽक्षराणां लिख्यमानत्वेन चित्रसादृश्याच्चित्रमिदमुच्यते । अहो येन क्रमेण गता वर्णपंक्तिस्तेनैव क्रमेण प्रत्यागतेत्याश्चर्यकारित्वाद्वा चित्रमित्यन्वर्थबलाद् वर्णानामाकारानुल्लासकत्वेनाव्याप्तावपि गतप्रत्यागतार्धभ्रम-सर्वतोभद्र-धेनुप्रभृतिगतिचित्रमत्रसंग्रहीतम्। अभिनवपदपदार्थ-पर्यालोचनेन मन्दबुद्धीनां चितो ज्ञानस्य त्राणाद्वा चित्रमिति अन्वर्थमहिम्ना निष्कण्ठ्य-निरोष्ठ्य-निस्तालव्यादि-स्थानचित्रं च स्वीकृतम्।[3]

विद्याधर की उक्त पंक्तियों के कुछ शब्दों की मल्लिनाथकृत 'तरला' व्याख्या के कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं। इनसे भी अनेक लक्षणों तथा भेदों की पुष्टि हो जाती है।

"आकारेति। आकारोल्लासहेतुत्वाविशेषादाकारचित्र एवान्तर्भूतं बन्धचित्रमपीत्यर्थः। 'आश्चर्यालेख्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः। तत्रालेख्यार्थत्वमाश्रित्य चित्रशब्दस्येह प्रवृत्तिनिमित्तमाह । पद्मादिरूपतयेति। चित्रसदृशत्वाच्चित्रमित्यर्थः। तर्ह्याकारोल्लासहेतुत्वाभावाद् गतिचित्रेऽर्धभ्रम-सर्वतोभद्रादौ अतिव्याप्तिः इत्याशङ्क्य चित्रशब्दस्याश्चर्यार्थताश्रयणेन तत्रापि प्रवृत्तिनिमित्तं संभावयति। अहो येनेति। गतागताभ्यां चित्रत्वादाश्चर्यत्वाच्चित्रमिति गतिचित्रेऽपि नाव्याप्तिरित्यर्थः। तर्हि गतप्रत्यागतरहिते स्थानचित्रे निरोष्ठ्यादावव्याप्तिरित्याशङ्क्य रूढिं विहाय चितो ज्ञानस्य त्राणाच्चित्रमितियोगाश्रयणेन तत्रापि चित्रशब्दं प्रवर्तयति। अभिनवेति। निरोष्ठ्य-निष्कण्ठ्याद्यपूर्वार्थपरिशीलनेनेत्यर्थः। अन्वर्थेति। चितं संविदं त्रायत इति चित्रं व्युत्पत्तिविशेषहेतुरिति यावत्। "आतोऽनुपसर्गे कः' इदं चित्रं निरोष्ठ्यादिस्थानचित्रेऽप्यस्तीति न क्वाप्यव्याप्तिरित्यर्थ।"[4]

विद्याधर की भांति वाग्भट ने अपने 'वाग्भटालङ्कार' में 'चित्रालङ्कार' के लक्षण में 'आलेख्य' रूप अर्थ को और भी अधिक स्पष्ट किया है, तथा 'आश्चर्यकारित्व' को भी 'चित्र' का आधार माना है।

यत्राङ्गसंधितद्रूपैरक्षरैर्वस्तुकल्पना ।
सत्यां प्रसत्तौ तच्चित्रं, तच्चित्रं चित्रकृच्च यत् ॥ ३७ ॥

इसी की अपनी व्याख्या में श्रीसिंहदेवगणि ने भावों को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है—"यत्र बन्धे वस्तुकल्पना पदार्थघटना अङ्गसंधितद्रूपैरक्षरैर्भवति। वस्तुनः कमल-छत्र-चामर-बन्धादेर्घटनावस्तुनोऽङ्गानां ये संधयस्तेषु तद्रूपाणि तान्येवाक्षराणि वस्तु कमलबन्धच्छत्रबन्धादि-तदङ्गानि कमलाङ्गानि दलादीनि। छत्राङ्गानि दण्डपट्टिकादीनि।

१. वहीं, रत्नेश्वर की टीका।
२. एकावलीः बाम्बे संस्कृत सीरीज नं० ६३, सन् १९०३ ई., ॥७।८॥ पृ. १८९.
३. वही पृ. १८९–१९१
४. वही पृ० १९०–१९१ ॥

तेषामङ्गानां ये संधयस्तत्र सदृशाक्षराणि कार्याणीत्यर्थः। तच्चित्रमुच्यते। यच्च चित्रकृदाश्चर्यकारि दुष्करत्वेन कविप्रज्ञातिशयख्यापकं भवति एकस्वरादिकमेकव्यञ्जनादिकं वा तदपि चित्रमुच्यते। परमपि यथाचित्रं प्रसक्तौ सत्यां प्रसक्तेरेव काव्यैर्विधेयम्। अप्रसक्तेस्तु काव्यैः को नाम चित्रकविर्न भवेत्।"[1]

उपरिलिखित सन्दर्भों से स्पष्ट है कि ध्वनिवादी आचार्यों के प्रभाव से यद्यपि चित्रालङ्कार आलेख्यार्थ में रूढ़ सा हो गया था, तथापि समय-समय पर व्यापक दृष्टि रखने वाले आचार्यों ने 'आश्चर्यकारित्व' अर्थ भी स्वीकार किया और चित्र-काव्य तथा चित्रालङ्कार को व्यापक क्षेत्र प्रदान किया।

चित्रालङ्कार के आधार—

चित्रालङ्कार के भीतर जहाँ आलेख्य एवं आश्चर्य की भावना ने काम किया, वहीं इसके विकास के मूल में अनुप्रास, यमक तथा श्लेष इन तीन शब्दालंकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।[2] यह योगदान अथवा मूलकता उसी प्रकार की है जैसी अप्पय की दृष्टि में अन्य अर्थालङ्कारों के प्रति उपमा की है।[3] तथापि न उपमा एकमात्र अर्थालङ्कार है और न अनुप्रास, यमक आदि ही शब्दालङ्कार। अनुप्रास में एक अथवा कुछ वर्णों की आवृत्तिमात्र अपेक्षित होती है, क्रम का महत्त्व विशेष नहीं होता, जब कि बन्ध, स्थान, व्यञ्जन तथा स्वर के चित्रों में कहीं वर्ण का क्रम महत्त्वपूर्ण होता है, कहीं संख्या और कहीं पौर्वापर्य अथवा पढ़ने का अनुलोम या विलोम क्रम। ऐसी दशाओं में पाठक का ध्यान इस तथ्य पर नहीं जाता कि एक अथवा दो वर्ण की आवृत्ति कितनी बार हुयी है, अपितु वह आदि से अन्त तक पूरे श्लोक या पाद में एक, दो या तीन वर्णों का ही अनवरत प्रयोग देखकर चमत्कृत हो जाता है। बन्ध आदि चित्रों में संयोग से ही आवृत्ति हो जाती है, अनिवार्यतः अपेक्षित नहीं, जहाँ अपेक्षा है भी वहाँ उसका क्रम पूर्वतः निश्चित होता है।

जहाँ तक यमक का प्रश्न है, निश्चित ही चित्रकाव्यों के 'गति' नामक भेद में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। दण्डी के काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद में यमकों के जितने भेद दिये गये हैं, उनका विशेष प्रभाव ही नहीं अपितु बहुतों का स्वरूप भी भोजकृत गतिचित्र में देखा जा सकता है। भोजको मान्य चित्र-भेदों में श्लेष का बहुत प्रभाव नहीं दृष्टिगत होता है, किन्तु परवर्ती विशाल संस्कृतवाङ्मय में कवियों ने अन्यविध चित्रों की भी उद्भावना की है, वहाँ अवश्य श्लेष का महत्त्वपूर्ण सहयोग है।

प्रसिद्ध भारतीयविद्याविद् प्रो० कीथ के अनुसार यह क्षमता संस्कृत भाषा के ही स्वरूप में है कि उसकी शब्दावली इतनी विविध, लचीली तथा व्याकरण की दृष्टि से परिपुष्ट है कि उससे अनेक अर्थ विभिन्न भङ्गियों के आधार पर किये जा सकते हैं। विश्वसाहित्य में 'लियन आफ मेडीना'

---

१. वाग्भटालङ्कारः—काव्यमाला ४८, निर्णयसागर, बम्बई, १९०३ ई०, पृ० २९.
२. "The figures that make up a Citrakāvya are Anuprāsa, Yamaka and Śleṣa." M. Krishnamachariar..Hist. of Cl. Skt. Lit. page. 369, Motilal Banarsidass, 1970.
३. उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥ चित्रमीमांसा पृ. ४१. वाणीविहार, वाराणसी १९६५ ई०,

ही एक ऐसा निदर्शन है जिसको इटैलियन तथा हेब्रू दोनों भाषाओं में पढ़ा जा सकता है।[1] संस्कृतचित्रकाव्य के मर्मज्ञ पूर्णतः जानते हैं कि जो क्षमता विश्व की अन्यभाषाओं में असम्भव सी है, वह संस्कृत में कितनी सहज है कि संस्कृत के श्लोक प्राकृत आदि भाषाओं तक में पढ़े जा सकते हैं, संस्कृत की संस्कृत में विकृतियाँ तो अनन्त हैं।

'चित्र' की शब्दालङ्कारता—

भोजदेव के परवर्तियों में कई ने चित्रालङ्कार के प्रसङ्ग में इसकी शब्दालंकारता के औचित्य पर भी विचार किया है। निःसंदेह उनके मन में 'चित्र' का रूढ अर्थ 'बन्ध' या 'आकार' ही प्रधानतः विद्यमान रहा। किसी भी वस्तु का चित्र स्वयं में काव्य नहीं है, और न लिपि ही अक्षर हैं। वस्तुतः शब्द हैं सार्थक ध्वनियों के समूह। इनका वाचक होने से ही प्रत्येक ध्वनि के लिपिबद्ध प्रतीक वर्ण या अक्षर कहे जाते हैं। यही लिपिबद्ध अक्षर समूह शब्द, पद, वाक्य आदि का रूप ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार की स्थिति चित्रालङ्कारों की है। 'चित्र' जब तक शब्द या वर्ण का समूह नहीं होता है, तब तक उसकी अलंकारता का प्रश्न नहीं उठता, अन्यथा कोई भी चित्र काव्य हो जाता, किन्तु जब श्लोकों को लिपिबद्ध कर दिया जाता है और उनके घटक वर्णों को क्रमविशेष में सन्निविष्ट कर देने से एक चित्र बन जाता है और श्लोकता भी सुरक्षित रहती है, तब वही भूषण हो जाता है। रुय्यक[2] के शब्दों में "यद्यपि लिप्यक्षराणां खड्गादिसंनिवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाशसमवेतवर्णात्मकशब्दाभेदेन तेषां लोके प्रतीतेर्वाचकशब्दालङ्कारोऽयम्।" 'एकावली' में विद्याधर ने इस भाव को और भी स्पष्ट किया है कि—

"कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशसमवेतैः ककारादिभिरभेदेन ग्रहणाल्लिप्यक्षरेष्वप्ययं ककार इत्यैक्यप्रतीतेः शब्दालङ्कारत्वमत्रौपचारिकम्। कर्णिकाप्रमुखस्थानविशेषश्लिष्टानां वर्णानां पुनः पुनरावृत्तिव्यावृत्तिभ्यामादानादक्षरसंकोचश्चित्रम्।"[3] यद्यपि विश्वनाथ ने भी लगभग इन्ही शब्दों में[4] अपना मन्तव्य प्रकट किया है तथापि विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रीय' पर अपनी 'रत्नापण' नामक व्याख्या में मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने मूल 'पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते' पर जो लिखा वह प्रस्तुत विषय को अधिक स्पष्ट करता है—"पद्मेति। न च

---

१. "The feat which at first sight appears incredible, is explained without special difficulty by the nature of Sanskrit··· Further and this is of special importance, the Sanskrit laxica allow to words a very large variety of meanings and they supply a considerable numbers of very strange words which have a remarkable appearance of being more or less manufactured... L. H. Gray has noted a western parallel in the elegy of Leon of Medina on his teacher Moses Bassola, which can be read either as Italian or as Hebrew." A Hist. of Skt. Lireræture, pp. 137, 138, 139, Oxford, 1961.

२. अलंकारसर्वस्वः काव्यमाला ३५, सन् १९३९ ई. पृ. ३०

३. एकावली ७।८ पर वृत्ति, पृ. २९९, बाम्बे सं. सी. ६३, १९०२ ई.

२. अस्य च तथाविध-लिपिसन्निवेश-विशेषवशेन चमत्कारविधायिनामपि वर्णानां तथाविध-श्रोत्राकाश-समवाय-विशेषवशेन चमत्कारविधायिभिर्वर्णैः अभेदेनोपचाराच्छब्दालङ्कारत्वम्। सहित्यदर्पण १०।१५ की वृत्ति।

श्रावणानां वर्णानां पद्माद्याकारहेतुत्वं न घटत इति वाच्यम् । वर्णशब्देन तत्स्मारकाणां लिप्यक्षराणामाक्षेपात् तेषां मुख्यवर्णाभेदेन लोकव्यवहारादस्य शब्दालङ्कारत्वम् ।''[1]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने चित्रनिरूपण के प्रसङ्ग में—

"लिप्यक्षराणां विन्यासे खड्ग-पद्मादिरूपता ।
यस्मिन्नालोक्यते चित्रा तच्चित्रमिति गीयते ॥

यस्मिन् यत्र लिप्यक्षराणां लिपिवर्णानां न तूच्चार्यमाणानां, जिह्वापाटनादिप्रसङ्गात् विन्यासे पत्रादिलेखने सति खड्गपद्मादिरूपता खड्गपद्मादीनामाकृतिश्चित्राऽवलोक्यते, तच्चित्रम् इत्यलङ्कारो गीयते ।''[2] आदि कह कर स्पष्ट कर दिया है कि चित्रनिर्माण लिप्यक्षरों के सन्निवेश से ही अपेक्षित है, उच्चारण से नहीं । उच्चारण से खड्ग आदि बनने लगने पर जिह्वा आदि वाग्यन्त्र कट जायेंगे ।

इन रूपों में आचार्यों ने सिद्ध कर दिया है कि जिस प्रकार कर्ण से उपहित आकाश में समवायसम्बन्ध से विद्यमान ककार आदि के साथ लिपि के अक्षरों का भी अभेदरूप से ग्रहण होता है उसी प्रकार शब्दों में विद्यमान रहने वाला अलङ्कार उपचारतः चित्र आदि में भी अभिन्नरूप से स्वीकार किया जाता है ।

चित्रालङ्कार के भेद—

जिन आलङ्कारिकों के मत से बन्ध, आकार अथवा आलेख्य ही चित्र का अर्थ रहा, उनकी दृष्टि में पद्म, खड्ग, मुरज आदि वस्तुविशेष की आकृतियाँ ही चित्रालङ्कार का भेद होंगी,[3] किन्तु जिन्होंने इसका व्यापक अर्थ लिया है, उनके अनुसार इसके कई विभाग संभव हैं ।

अग्निपुराण में सर्वप्रथम चित्र का नियम, विदर्भ (विकल्प) तथा बन्ध तीन प्रमुख भेद किया गया है और पुनः प्रथम के स्थान, स्वर तथा व्यञ्जनभेद से तीन, विकल्प (या विदर्भ) के प्रतिलोम आदि अनेक तथा बन्ध के आठ प्रमुख भेद प्रदर्शित हैं ।[4] आचार्य दण्डी ने यमक के भेदोपभेद निरूपित किये हैं, 'गति' शब्द का प्रयोग भी उसी सन्दर्भ में[5] किया है, उसके पश्चात् गोमूत्रिका निरूपित की गई है,[6] अर्धभ्रम तथा सर्वतोभद्र का भी उल्लेख हुआ है,[7] और स्वर, स्थान, वर्ण के नियमों में दुष्करता बतलाकर उदाहरण भी दिया गया है,[8] किन्तु चित्रालङ्कार का न तो स्पष्ट लक्षण है और न वर्गीकरण ।

---

१. प्रतापरुद्रीयः पृ. २५१, बालमनोरमाप्रेस, १९१४ ई.
२. अलंकारमहोदधि ७।२१ तथा वृत्ति, पृ. २१९, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९४२ ई.
३. आदिग्रहणाच्चक्रबन्धादयः । (प्रतापरुद्रीय पृ० २५१) आदिशब्दात् खड्ग-मुरज-चक्र-गोमूत्रिकादयः । (साहित्यदर्पण १०।१५ वृत्ति), आदिशब्दान्मुरज-चक्रादिरूपता गृह्यते । सा च शिशुपालवध-रुद्रटादिष्वालोकनीया । (अलङ्कारमहोदधि पृ० २२०), चित्रं पद्मादि-बन्धत्वे । शब्दानामिति यावत् । अस्यापि प्रचुरभेदत्वाद् दिङ्मात्रम् । (काव्यरसायनम् , ॥ २।७१ ॥, शिवदत्तशर्मा, कलकत्ता, सम्वत् १९६० वै०) आदि ।
४. अग्निपुराण अध्याय ३४३।२३–६५ ॥
५. इति पादादियमकविकल्पस्येदृशी गतिः । काव्यादर्श ३।३७ ॥
६. वही ३।७८ ॥
७. वही ३।८० ॥
८. यः स्वरस्थानवर्णानां नियमो दुष्करेष्वसौ ॥ वही ३।८३ ॥

अन्य आचार्यों में हेमचन्द्र ने स्वर, व्यञ्जन, स्थान, गति, आकार, नियम, च्युत, और गूढ आदि चित्र के भेद स्वीकार किया है।[१] वाग्भट ने भी अपना मत इसी से मिलता दिया है।[२] अलङ्कारचिन्तामणि में इसके बहुत से भेदोपभेद किये गये हैं—

नीरोष्ठ्य-बिन्दुसद्-बिन्दुच्युतमादिस्वतोऽद्भुतम्।
करोति यत्तदत्रोक्तं चित्रं चित्रविधा यथा॥

तच्च बहुविधम्—उभे व्यस्तसमस्ते च द्विर्व्यस्तद्विःसमस्तके।
उक्तव्यस्तसमस्तं च द्विर्व्यस्तकसमस्तकम्॥
द्विःसमस्तकसुव्यस्तसेकालापं प्रभिन्नकम्।
भेद्यभेदकमोजस्वि सालङ्कारं च कौतुकम्॥
प्रश्नोत्तरसमं पृष्टप्रश्नभग्नोत्तरं तथा।
आदिमध्योत्तराभिख्ये अन्तोत्तरमपह्नुतम्॥
विषमं वृत्तनामापि नामाख्यातं च तार्तिकम्।
सौत्रं शाब्दिकशास्त्रार्थे वर्णवाक्योत्तरे तथा॥
श्लोकवाक्योत्तरं खण्डं पादोत्तरसुचक्रके।
पद्मं काकपदं चापि गोमूत्रं सर्वतः शुभम्॥
गतप्रत्यागतं चापि वर्धमानाक्षरं तथा।
हीयमानाक्षरं चापि शृङ्खलं नागपाशकम्॥
चित्रं संशुद्धमन्यत्तु सप्रहेलिकमीरितम्।[३]

विद्याधर ने 'एकावली' में स्वररहित व्यञ्जनमात्रसादृश्य वाले वर्णचित्रों को वृत्यनुप्रास में अन्तर्भूत कर दिया है और स्वरचित्र को बन्धशैथिल्य कह कर दोष की संज्ञा दी है। अतः उनके मत में यह दोनों स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं हैं।[४] विद्याधर का मत यह है जब कि 'वाग्भटालङ्कार' में 'चित्र' के चार भेद अभीष्ट है—"चित्रमाकार–गति–स्वर–व्यञ्जन–भेदाच्चतुर्विधं भवति"[५]।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्यों ने अपने मन से 'चित्र' का अर्थ किया है, और उनका वर्गीकरण भी। भोज ने इन सबका एक ऐसा वर्गीकरण प्रस्तुत किया है जिसका कम से कम एक रूप ध्वनिवादी आचार्यों को भी अभीष्ट है, और अन्यों को भी शेष भेद प्रायः मान्य ही हैं। सामान्यतः भोजकृत 'चित्र' का वर्गीकरण अधिक सङ्गत, सर्वग्राहक तथा प्रख्यात है। इस प्रसङ्ग में विद्याधर ने अनेक स्थानों पर भोज का नाम-स्मरण किया है,[६] और हरिदाससिद्धान्तवागीश ने

---

१. स्वरव्यञ्जनस्थानगत्याकारनियमच्युतगूढादि चित्रम्। काव्यानुशासनम्
२. आकार-गति-स्वर-व्यञ्जन-स्थान-नियम-च्युत-गुप्तादिभेदैरनेकधाचित्रम्। काव्यानुशासनम्, निर्णयसागर, १९१५ ई.
३. अलङ्कारचिन्तामणि २।२–९॥
४. यत् पुनः स्वरविरहितव्यञ्जनमात्रसादृश्यप्रयुक्तं वर्णचित्रमपरैरभ्यधायि तदस्मिन् दर्शने वृत्त्यनुप्रास एव। यथा कलंकित० आदि।'''स्वरचित्रं तु बन्धशैथिल्यकारितया दोष एवेति नालंकारतया स्वीकृतम्। यदाह राजा–उरगुं गुरुगुरं० आदि। एकावली पृ० १९१–२, बाम्बे संस्कृत सीरीज नं० ६३, सन् १९०३ ई०।
५. वाग्भटालंकार पृ. २९।
६. एकावली—पृ० १९२।

तो स्पष्ट कह दिया था—"एषां लक्षणानि सरस्वतीकण्ठाभरणादावनुसंधेयानि।"[1]

भोजकृत 'चित्र' का वर्गीकरण—

यमक, श्लेष तथा अनुप्रास के बाद भोज ने चित्रालंकार का निरूपण किया है। इससे प्रकट होता है कि 'चित्र' पर इन तीनों अलंकारों का प्रभाव है, यद्यपि विद्यानाथ[2] तथा रुय्यक[3] 'पुनरुक्ति' को इसका आधार मानते हैं। वस्तुतः पुनरुक्ति अथवा आवृत्ति उक्त तीनों अलंकारों का भी मूल है, अतः पारमार्थिक रूप से इन मान्यताओं में विरोध नहीं परिलक्षित होता है, यह मात्र अभिप्राय का भेद है।

भोज के अनुसार 'चित्रालंकार' छः प्रकार का होता है—

वर्ण-स्थान-स्वराकार-गति-बन्धान् प्रतीह यः।
नियमस्तद्बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते॥ स० क० २।१०९॥

(१) वर्णचित्र—यहाँ 'वर्ण' का अर्थ 'व्यञ्जन' है।[4] वाग्भट ने इसको स्पष्ट कर दिया है—"एक-द्वि-त्र्यादिव्यञ्जननियमो व्यञ्जनचित्रम्।"[5] अर्थात् एक, दो, तीन आदि ही व्यञ्जनों का प्रयोग श्लोक में सीमित रखने से एक आश्चर्य उत्पन्न होता है, इसको ही वर्णचित्र की संज्ञा दी जाती है। 'वाग्भटालंकार' के आचार्य के मतानुसार व्यञ्जनचित्र में एक श्लोक में एक, दो, तीन या चार व्यञ्जनों का ही प्रयोग करना चाहिये, तभी वैचित्र्य की प्रतीति होगी, अन्यथा अधिक वर्णों का प्रयोग होने पर न तो उनमें कोई विशिष्टता रहेगी और न दुष्करता।[6] वाग्भट का अभिप्राय स्पष्ट है कि अधिक व्यञ्जनों का प्रयोग करने से श्लोकों में कोई असामान्यता नहीं रह जायेगी, वे भी अन्यों की ही भाँति हो जायेंगे।

गोष्ठीरसिक भोज ने वाग्भट के पूर्व ही वर्णचित्रों का क्षेत्र-विस्तार कर दिया था। चतुर्व्यञ्जन, त्रिव्यञ्जन, द्विव्यञ्जन और एकव्यञ्जन का उदाहरण तो दिया ही था, उन्होंने क्रमशः सभी व्यञ्जनों का एक श्लोक में सार्थक प्रयोग प्रस्तुत कर आश्चर्यजनक चमत्कार उत्पन्न कर दिया।[7] कवि गोष्ठी में छन्दों के लिये निर्धारित अक्षरों का प्रयोग, षड्ज आदि स्वरों के व्यञ्जक व्यञ्जनों—स, र, ग, म आदि का प्रयोग तथा 'मुरजाक्षर' व्यञ्जनों के प्रयोग से उद्गत चित्रता प्रदर्शित कर अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन भोज ने किया।[8]

स्मरणीय है कि यहाँ व्यञ्जनों के ही विषय में नियम अपेक्षित हैं, स्वरों का कोई नियम

---

१. साहित्यदर्पण की टीका, पृ० ८०६, कलकत्ता, शकाब्द १८४१।
२. पद्मादिबन्धेषु कर्णिकादिस्थानविशेषेषु वर्णानां पौनरुक्त्यात् पौनरुक्त्यमूलालंकारानन्तर्यं च द्रष्टव्यम्। प्रतापरुद्रीय पृ. २५१, बालमनोरमाप्रेस, मद्रास, १९१४ ई०।
३. पौनरुक्त्यप्रस्तावे स्थानविशेषश्लिष्टवर्णपौनरुक्त्यात्मकं चित्रवचनम्। अलंकारसर्वस्वम्, पृष्ठ ३०, काव्यमाला ३५, १९३९ ई०
४. वर्णा व्यञ्जनानि। स. क. २।१०९॥ पर रत्नेश्वर की टीका।
५. काव्यानुशासनम्, निर्णयसागर, १९१५ ई. पृ. ४८
६. व्यञ्जनचित्रं एकव्यञ्जन-द्विव्यञ्जन-त्रिव्यञ्जन-चतुर्व्यञ्जनबन्धम् यावद् व्यञ्जनचित्रम्। न तत्परं सुकरत्वाद्।" वाग्भटालंकार, पृ० २९, निर्णयसागर, बम्बई, १९०३ ई.।
७. स. कं. २।३६३ श्लोक॥ पृ. ४०२।
८. द्रष्टव्य स. क. पृष्ठ ४०२–३।

व्यञ्जनचित्र में अभीष्ट नहीं। भोजदेव ने स्वयं इस अभिप्राय को व्यक्त किया है—"वर्णशब्देन चात्र स्वराणां पृथङ्निर्देशाद् व्यञ्जनान्येव प्रगृह्यन्ते।"[1]

भोजकृत वर्णचित्रों के आठ उदाहरण मिलते हैं। इनको ही भेद मान कर स्पष्टता के लिये रेखाचित्र इस प्रकार दिया जा सकता है—

शेष ग्रन्थ में ही द्रष्टव्य हैं। (पृ. ४००-४)

(२) स्थानचित्र—'स्थान' का अभिप्राय यहाँ 'कण्ठ' आदि उच्चारण स्थान है।[2] जैसे व्यञ्जनचित्र में एक श्लोक में कुछ वर्णों का ही नियत प्रयोग अभीष्ट रहा उसी प्रकार यहां कुछ ही उच्चारण-स्थानों से निर्गत वर्णों का। वाग्भट इसके विषय में मौन हैं। सम्भवतः उन्होंने 'स्थान' को 'व्यञ्जन' या 'स्वर' से भिन्न नहीं समझा।

यद्यपि 'स्वर' या 'व्यञ्जन' भी किसी न किसी 'स्थान' से ही निर्गत होते हैं तथापि इसका उनसे भेद है। व्यञ्जनचित्र में वर्णों की संख्या एक से चार तक अथवा षड्ज, मुरजादि प्रकार तक सीमित होती है, उनका उच्चारण का स्थान भिन्न भी हो सकता है और समान भी, जब कि स्थानचित्र में वैशिष्ट्य यह है कि यहां वर्णों की संख्या नियत न होकर स्थान की संख्या नियत होती है। एक स्थान से बहुत से वर्ण निर्गत होते हैं, अतः स्थान एक होने पर भी वर्ण बहुत से हो सकते हैं। यदि विशेष ध्यान न दिया जाये तो स्थानचित्र के वैशिष्ट्य का पता ही न चल सके और श्लोक सामान्य ही प्रतीत हो, जब कि वर्णचित्र में वह अन्तर स्पष्ट होता है। यदि वहां निर्देश न हो कि अमुक श्लोक निष्कण्ठ्य है अथवा निस्तालव्य आदि, तो उनके वैचित्र्य का आभास ही न हो। स्पष्टतार्थ स्थानचित्रों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं।[3]

वर्णचित्र की भांति स्थानचित्र को भी चार आदि स्थानों से निर्गत वर्ण तक सीमित रखना चाहिये।[4] वस्तुतः उच्चारण-स्थान आठ हैं—उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ तथा तालु। वैयाकरणों के अनुसार शुद्धाशुद्ध रूप से उच्चारण के स्थान ग्यारह हैं—कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, मुखसहित नासिका, कण्ठतालु, कण्ठोष्ठ, दन्तोष्ठ, जिह्वामूल तथा नासिका।[5] रत्नेश्वर पुरानी परम्परा का अनुसरण करते हुये जिह्वामूल, उरस्य और नासिक्य का स्वतन्त्र प्रयोग न स्वीकार कर केवल पांच स्थानों से ही निष्पन्न वर्णों के प्रयोग पर बल देते हैं, उनमें भी एक साथ अधिक से अधिक चार का।

---

१. वही पृ. ४०० ।
२. वही २।१०९ पर रत्नदर्पण पृष्ठ ४०० ।
३. वही पृष्ठ ४०४–८ तक ।
४. कण्ठ-तालु-मूर्ध-दन्तौष्ठादि-स्थाननियमः स्थानचित्रम् । वाग्भट, काव्यानुशासनम् , पृ. ४८ ।
५. "अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। इचुयशानां तालु। ऋटुरषाणां मूर्धा। लृतुलसानां दन्ताः। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां नासिका च। एदैतोः कण्ठतालु। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्। वकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। नासिकाऽनुस्वारस्य।" सिद्धान्तकौमुदी, संज्ञाप्रकरण पृ. २, चौखम्भा ओरियण्टालिया, १९७५ ई. ।

"वर्णवत् स्थानेष्वपि चतुरादिनियमेन चित्रम्। यद्यपि च 'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा। जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च' इति, तथापि जिह्वामूलीयस्य स्वरस्वादुरस्य-नासिक्ययोः काव्यप्रवेशाभावादुरोनासिका-जिह्वामूलपर्युदासेन स्थानपञ्चके चतुरादिनिरूपणम् ।"[1]

भोज ने स्थानचित्र का प्रधानतः चार भेद किया है, वह चतुस्थान, त्रिस्थान, द्विस्थान तथा एक-स्थान के चित्रों का उदाहरण देते हैं। कुल पञ्चस्थानीय वर्ण हैं उनमें से चतुःस्थानता किसी भी एक स्थान के वर्णों का अभाव कर देने से बन जाती है। सरस्वतीकण्ठाभरण में इस प्रकार के पांच प्रयोग उदाहृत हैं। एक में कण्ठ्य वर्णों का अभाव है, दूसरे में तालव्य, तीसरे में दन्त्य, चतुर्थ में ओष्ठ्य तथा पञ्चम में मूर्धन्य। इसी प्रकार त्रिस्थानों में निरोष्ठ्यदन्त्य तथा निरोष्ठ्य-मूर्धन्य का, द्विस्थान में दन्त्यकण्ठ्य का एवं एक स्थान में कण्ठ्य का उदाहरण प्रस्तुत किया गया हैं।[2] इसके अतिरिक्त भी उदाहरण हो सकते हैं, किन्तु विस्तारभय से वह सब नहीं दिया गया। स्पष्टतार्थ रेखाचित्र दिया जा रहा हैं।
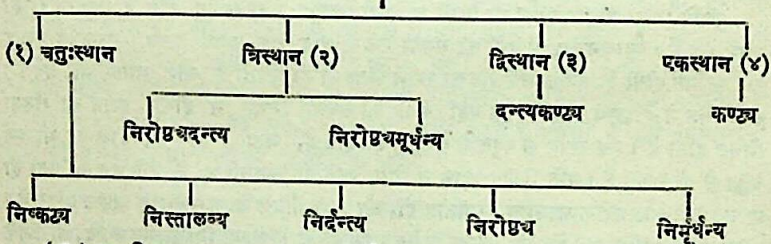
(३) स्वरचित्र—अकार आदि स्वर हैं।[3] जिस श्लोक में नियत एक, दो या तीन स्वर ही प्रयुक्त होते हैं, भले ही व्यञ्जन अनेक हों, उसमें स्वरनियम के कारण एक वैचित्र्य दृष्टिगोचर होने लगता है। इसी को स्वरचित्र कहते हैं।

स्वर सामान्यतः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत होते हैं। प्लुत का प्रयोग स्वल्प होता है, अतः ह्रस्व' दीर्घ और इनके मिश्रित स्वरूपों से ही वैचित्र्य उत्पन्न किया जाता है। वाग्भट के शब्दों में—'ह्रस्वादिस्वरनियमो स्वरचित्रम् ।"[4] वाग्भटालंकार के कर्त्ता का कथन है कि एक, दो या अनेक स्वरों से निष्पादित चित्र 'स्वरचित्र' है। उनके मत में एक श्लोक में तीन स्वरों तक का ही प्रयोग अधिक दुष्कर होता है, अतः उतने का ही प्रयोग आश्चर्योत्पादक होगा, उसके आगे चित्रात्मकता कहाँ ?

"स्वरेण स्वराभ्यां स्वरैर्वा चित्रं स्वरचित्रम्। स्वरत्रयं यावच्चित्रकस्य दुष्करत्वं संभवति। स्वरत्रयादूर्ध्वं किं चित्रम् ।"[5]

---

१. स. कण्ठा. पृ. ४०४, द्वितीय परिच्छेद के श्लोक २६७ की टीका।
२. वही पृ. ४०४–४०७।
३. स्वरा अकारादयः। रत्नदर्पणटीका २।१०९ पर, स. कण्ठा. पृ. ४००
४. काव्यानुशासनम्, पृ. ४७
५. वाग्भटालंकार पृ. २९, बम्बई १९०३ ई.

भोज ने सर्वप्रथम, स्वरचित्र का तीन भेद किया हैं—ह्रस्वस्वर, दीर्घस्वर तथा मिश्रस्वर। ह्रस्वस्वरों में भी कहीं एक, कहीं दो और कहीं तीन का प्रयोग एक श्लोक में उदाहृत किया हैं। दीर्घ में एक, दो तथा चार के उदाहरण हैं। 'मिश्र' में प्रतिव्यञ्जनविन्यस्तस्वर तथा प्रतिव्यञ्जन-विन्यस्तापास्तस्वर दो भेद हैं। उनका सरल रेखाचित्र इस प्रकार है।
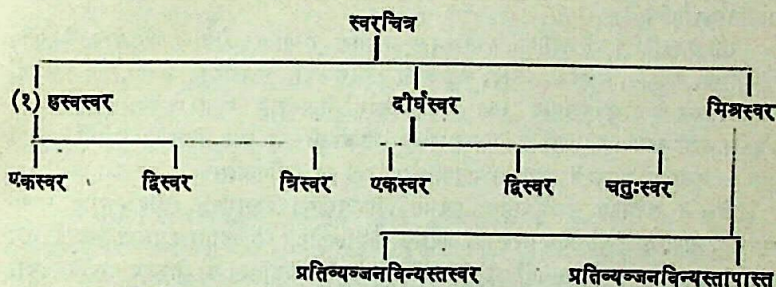
(४) आकारचित्र—वर्णों के विन्यास से कमल आदि का आकार उन्मुद्रित होना आकार-चित्र हैं।[1] सामान्यतः आकारचित्र ही चित्रालंकार के रूप में रूढ़ है। वाग्भट ने वाग्भटालंकार में "आकारचित्रं पद्म–छत्र–चामर–स्वस्तिक–कलश–हल–मुसलादिवन्धैरनेकधा।"[2] कहा है जिससे इसका स्वरूप तथा भेद दोनों प्रकट होता है। 'काव्यानुशासन' के रचयिता वाग्भट आकार और वन्ध को पर्याय समझते हैं, अतएव 'चित्रों' के भेद में प्रथम को वह 'आकार' कहते हैं और लक्षण देते समय उसी की व्याख्या 'वन्ध' शब्द से करते हैं।

"वन्धस्य खड्ग-धनु-र्वाण-मुसल-शूल-शक्ति-हल-च्छत्र-पद्म-मुरज-चक्र-स्वस्तिकाद्याकार-सादृश्यादाकारचित्रम्।"[3]

भोज ने आकारचित्र का लक्षणादि न देकर उसके भेदों का परिगणन एवं उदाहरण देना प्रारम्भ कर दिया था। उनके आकारचित्र मूलतः दो हैं—कमलचित्र तथा चक्रचित्र। कमलचित्रों में उन्होंने तीन प्रकार के अष्टदल, चतुष्पत्र, अष्टपत्र, षोडशपत्र तथा कविनामांक अष्टपत्र भेदों का, और चक्रों में द्व्यङ्कषडरचक्र तथा चतुरङ्कषडरचक्र का उदाहरण दिया है।[4]
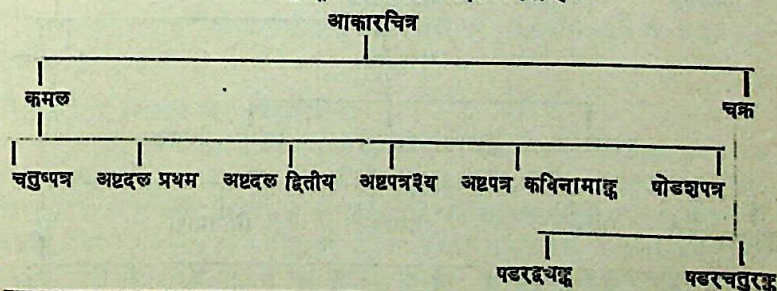
१. आकारः पद्माद्याकृत्युन्मुद्रणम्। रत्नदर्पणटीका स. क. २।१०९ पर, पृ० ४००
२. वाग्भटालंकार पृ. २९, निर्णयसागर, बम्बई, १९०३ ई.
३. काव्यानुशासनम्, पृ. ४६, बम्बई, १९१५ ई.
४. सर. कण्ठा. पृ. ४११–२२.

(५) गतिचित्र—रत्नेश्वर के अनुसार 'गतिः पठितिभङ्गविशेषः'[1] है। अर्थात् एक श्लोक में लिखे हुये वर्णों को एक विशेष क्रम से सीधे, उलटे, प्रथम पाद, द्वितीय पाद आदि पादशः, वर्णभेदशः आदि पढ़ने पर भी उनकी सार्थकता, एक अथवा अनेकार्थता, एक ही श्लोक से दूसरे छन्द, दूसरी भाषा अथवा अर्थ का श्लोक निकालना आदि देखकर आश्चर्य होता है। यही पठितिभङ्ग विशेष है।

पठितिभङ्गविशेष भी कहीं श्लोक के वर्ण अथवा पाद पर आश्रित होता है और कहीं तुरङ्गगति, गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र आदि, पशु आदि की गतियों, तत्कृतचिह्नों तथा वर्णविन्यासक्रमों पर। वाग्भट के काव्यानुशासन[2] तथा वाग्भटालङ्कार[3] में इसी से लक्षण न देकर मात्र भेदों का उल्लेख करके स्पष्टता की गयी है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि डालने पर स्पष्ट होता है कि गतिचित्रों में कुछ का मूलाधार यमक है, कुछ का पशुगति तथा कुछ का वर्णविन्यास।

भोज ने सर्वप्रथम गतप्रत्यागत (पदगत), गतप्रत्यागत (अक्षरगत), श्लोकान्तरगत, भाषान्तरगत, भाषान्तर-अर्थानुमत, तुरङ्गपद, अर्धभ्रम और सर्वतोभद्र का उदाहरण प्रस्तुत किया है और बाद में गोमूत्रिका के अनेक भेदों की ओर संकेत किया है। गोमूत्रिका का निरूपण उन्होंने स्पष्टता के लिये 'बन्धों' के बाद दिया है। गतिचित्र का सामान्यरेखांकन इस प्रकार किया जा सकता है—
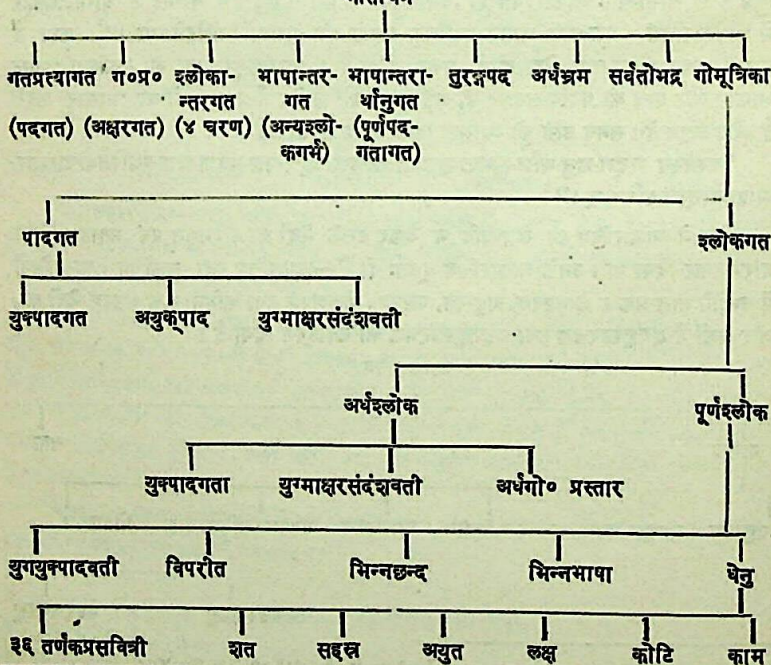
१. स. कण्ठा. ॥ २।१०९ ॥ पृ. ४००
२. गतिचित्रं सर्वतोभद्र-गतप्रत्यागत-गोमूत्रिका-अर्धभ्रम-रथ-पद-तुरगपद-गजपदादिभेदैरनेकधा भवति। काव्यानुशासन पृ. ४७
३. गतिचित्रं गोमूत्रिका-तुरग-गजपदादिभिर्भवति। वाग्भटालङ्कारः पृ. २९

गतिचित्रों का यह सामान्य रेखाचित्र है। विशेष वर्णन ग्रन्थ में ही देखना चाहिये।

(६) बन्धचित्र—सामान्यतः 'आकार' और 'बन्ध' में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। भोज ने भी कोई अन्तर दिये बिना दोनों का अलग-अलग परिगणन कर दिया। रत्नेश्वर ने भी आकार के विषय में 'आकारः पद्माद्याकृत्युन्मुद्रणम्'' और 'बन्ध, का 'बन्धो विविडितप्रभृतिः'' कहकर मुक्ति ले ली है। प्रायः अन्य आलङ्कारिकों ने भी दोनों को परस्पर पर्याय ही समझा है और 'आकार' तथा 'बन्ध' दोनों को पृथक् भेद नहीं स्वीकार किया। विद्याधर सम्भवतः प्रथम परवर्ती आचार्य हैं जिन्होंने न केवल इन दोनों भेदों की ओर संकेत किया अपितु भोजकृत विभाजन को एक आधार भी दिया है। उनके अनुसार ईश्वरकर्तृक पद्म, शैल आदि पर आधृत चित्र 'आकार' हैं और जो ईश्वरदत्त वस्तुओं से मनुष्यकृत होने के कारण द्विकर्तृक हैं जैसे—हल, मुसल आदि—वे सब बन्धचित्र हैं।

"अत्र यद्यपि बन्धचित्रमाकारचित्राद् भिन्नं मन्यमानैरपि चिरन्तनैः न किञ्चिद्-भेदकमुक्तं तथापीश्वरकर्तृकत्वे सत्यपि यदेककर्तृकतया प्रसिद्धं तत् पद्मशैलादिकमाकार-चित्रम्। यत्तु द्विकर्तृकं हल-मुसल-मुरज-गोमूत्रिका-चाप-चक्रादि तद्बन्धचित्रमित्यनयो-र्भेदः कल्पयितुं शक्य एवाऽस्माभिः। तथापि न कल्पितः। आकारचित्र इवेह बन्धचित्रेऽपि वर्णानामाकारोल्लासकत्वात् पद्मादिरूपतयाक्षराणां लिख्यमानत्वेन चित्रसादृश्याच्चित्र-मिदमुच्यते।"[२]

यह तर्क भोज के उदाहरणों में भी पूर्णतः चरितार्थ नहीं होता। अन्यत्र की उतनी चिन्ता भी नहीं है क्योंकि इन्होंने जब दोनों को पृथक् माना नहीं तब अन्तर का कोई प्रश्न नहीं। वस्तुतः विद्याधर ने भोज को एक सुदृढ़ आधार देने का प्रयास किया।
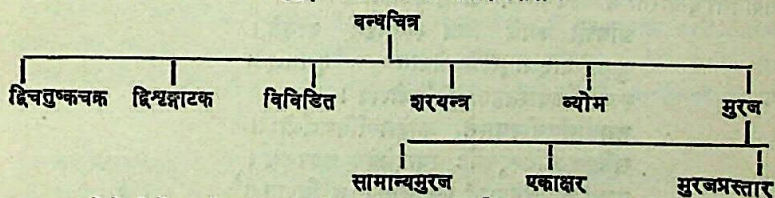
अन्य भेदोपभेदों का निरूपण ग्रन्थ में ही देखना चाहिये[३]। पिष्टपेषण बचाने के लिये यहां नहीं दिया जा रहा है।

चित्रालङ्कार में कुछ अनवधेयतायें—

चित्रालङ्कार स्वयं में बहुत कठिन साधना की अपेक्षा रखता है। यहां कवि की प्रौढि और व्युत्पत्ति का विशेष महत्त्व है। दैवज्ञ सूर्य कवि ने स्वीकार किया था कि चित्रालङ्कार या चित्र-काव्य की रचना मे कहीं तो छन्दःपूर्ति में बाधा पड़ती है, कहीं अनुलोमविलोम-क्रम में पदों में साकांक्षता का अभाव हो जाता है और कहीं प्रारम्भ किये गये कथानक के आद्यन्तनिर्वाह की ही समस्या उत्पन्न हो जाती हैं, इसी से वह अपनी चपलता पर विद्वानों से क्षमा मांगते हैं और चित्रकाव्यनिर्माण में शारदा की कृपा को ही प्रधान मानते हैं—

१. सर. कण्ठा. पृ. ४००
२. एकावली, पृ. १८९–१९१, बम्बई, १९०३ ई.
३. स. कण्ठा. पृ. ४२८ तथा आगे

छन्दःपूरणमुत्क्रमक्रमविधौ साकांक्षता तत्पदे-
ष्वारम्भाच्चरिते क्रमोऽपि सुतरामेतत्त्रयं दुर्गमम् ।
एवं सत्यपि सन्मतिः कियदपि प्रागल्भ्यमालम्बते
तत्सर्वं गुणिनः क्षमन्तु यदहो यूयं श्रमज्ञाः स्वयम् ॥
कदाचिदपि संतरेत् कृतिपरो नरो नीरधिं,
कथंचिदपि धावति प्रवरधाम धाराध्वनिः ।
ऋतेऽप्यतिविशारदा प्रचुरशारदानुग्रहं
विलोमकविताकृतौ सुकविधीरधारा भवेत् ॥[1]

रचना की इन कठिनाइयों को देखकर उन्होंने पिङ्गलमुनि के वचनों को उद्धृत करते हुये स्पष्ट किया था कि चित्रालङ्कारयुक्त काव्य में वाक्य या अर्थ की पूर्ति के लिये 'यत्–तद्' का अथवा क्रिया का अध्याहार, पाद के आदि अथवा अन्त में विसर्ग का ग्रहण या परित्याग, अथवा अर्थसिद्धि के लिये अभिधा से काम न चलने पर लक्षणा या व्यन्जना का आश्रय लेना, आवश्यकतानुसार, अनुचित नहीं है––

अथ कवित्व-परिभाषा पिङ्गलादौ कथिता—
अध्याहारो यत्तदोर्वा क्रियायाः पादाद्यन्ते वा विसर्गोऽविसर्गः ।
कुत्राप्यूह्या लक्षणा व्यञ्जना वा विद्यादेतां चित्रकाव्यानुपूर्वीम् ॥[2]

विद्याधर ने भी यमक और चित्रकाव्य में रसपोष की कमी को स्वीकार किया है और दुष्करता के कारण इनमें असाधुत्वदोष की सम्भावना व्यक्त की हैं। इसी से उन्होंने र और ल, ड तथा ल, ल और ळ, व तथा ब, न और म, न तथा ण, अन्त में सविसर्गता तथा अविसर्गता, सानुस्वारता तथा निरनुस्वारता में अभेद-कल्पना को क्षम्य माना है।

प्रायशो यमके चित्रे रसपुष्टिर्न दृश्यते ।
दुष्करत्वादसाधुत्वमेकमेवात्र दूषणम् ॥
रलयोर्डलयोस्तद्वल्लडोर्बवयोरपि ।
नमयोर्नणयोश्चान्ते सविसर्गाविसर्गयोः ॥
सविन्दुकाविन्दुकयोः स्यादभेदेन कल्पनम् ।
यमकं तु विधातव्यं कथञ्चिदपि न त्रिपात् ॥[3]

भोज द्वारा दिये गये उदाहरणों में कहीं-कहीं ये असंगतियां तथा समायोजनायें दृष्टिगोचर होती हैं।

चित्रकाव्य की हेयता—

दण्डी ने पर्याप्त विवेचन भी किया और 'चित्र' को 'नैकान्तमधुर'[4] भी घोषित कर दिया। आनन्दवर्धन ने रस और ध्वनि पर इतना बल दिया कि उनको असहज तथा प्रयाससाध्य काव्य भी अभीष्ट न रहा।[5] फिर 'चित्र' के दुष्करत्व, नीरसत्व, दुर्बोधत्व के प्रतिपादन की परम्परा-सी चल पड़ी। भोज ने स्वयं कहा था––

१. डा० कामेश्वरनाथ मिश्र : रामकृष्णविलोमकाव्यम् , पृ० १, चौखम्बा, वाराणसी १९७० ई०
२. वही।
३. एकावली ७।५-७। पृ० २८९, बा० सं० सी० ६३, बाम्बे, १९०३ ई०।
४. काव्यादर्श ॥ ३।९१ ॥
५. ध्वन्यालोक ३।४३ की वृत्ति।

दुष्करत्वात् कठोरत्वाद् दुर्बोधत्वाद् विनावधेः।
दिङ्मात्रं दर्शितं चित्रे शेषमूह्यं महात्मभिः ॥ स० क० २।१४६॥

आचार्य मम्मट ने भी इसमें नीरसता आदि का नाम न लेकर मात्र 'कष्टं' पद से सभी की अभिव्यक्ति कर दी हैं और उसी को इस काव्य का दोष कहा है।[1] विद्याधर और विश्वनाथ[2] ने 'चित्र' प्रहेलिका आदि सबको रसबोध में बाधा माना है।[3] अप्पयदीक्षित को रस के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नहीं मिलती है जिससे वह शब्दचित्र का विशेष निरूपण कर सकें--"शब्द-चित्रस्य प्रायोनीरसत्वान्नात्यन्तं तदाद्रियन्ते कवयः, न वा तत्र विचारणीयमतीवोपल-भ्यत इति।"[4] नरेन्द्रप्रभसूरि इसे कवि का शक्तिप्रदर्शनमात्र तथा रसवीथीवहिष्कृत मानते हैं। इसी से इसका विवेचन विशेष नहीं करते।[5] यह सत्य है कि अलंकारयुक्त होने पर भी नीरस वनिता की भांति कविता भी आनन्द नहीं देती,[6] तथापि अलंकरणों का अपना महत्त्व है। दुःख का विषय यह है कि विद्वान् कविगण केवल एक-एक साम्प्रदायिक गुण के पीछे ऐसा पड़े कि मधुरस विष हो गया, अलंकार भार हो गये, रीति अवरोध हो गई, ध्वनि कोलाहल बन गयी वक्रोक्ति बन गयी प्रवञ्चना और औचित्यलोक से उठ ही गया।

अप्पय ने नीरसत्व का आरोप शब्दचित्र पर करके भी, सामान्य रूप से 'चित्र' को व्यङ्ग्यहीन होने पर भी 'चारु' कहा है। "यदव्यङ्ग्यमपि चारु तच्चित्रम्।"[7] वस्तुतः कहीं-कहीं परिस्थिति के अनुसार विचित्रप्रयोगों में ही स्वाभाविकता प्रतीत होती है। दण्डी ने दशकुमारचरितम् में मन्त्रगुप्त को प्रियतमा से इतना पिटवाया है कि उसका नीचे का ओठ कट गया। ऐसी दशा में उसके उच्चारण में ओष्ठ्यवर्णों का अभाव ही स्वाभाविक रहा, जिसे दण्डी ने सायास नियोजित किया है।[8] चित्रात्मक होते हुये भी यह प्रयास प्रशंसनीय तथा हृद्य हैं। इसी प्रकार युद्धों में भी सैन्यविन्यास की विविधता, बहुविध प्रहारक्षमता, विषम गति आदि का प्रदर्शन करने के लिये तद्रूप श्लोकों का ग्रहण युद्धप्रसंग में कवियों ने किया है। माघ ने युद्धप्रसंग में ऐसे श्लोकों का प्रयोग किया है, जो उचित है। मन्दबुद्धि वालों को अनुचित न लगे इसलिये उन्होंने स्पष्टीकरण भी दिया है--

---

१. कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते। का. प्र. पृ. ४३४, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, १९६० ई०।
२. एतच्च काव्ये गडुभूतमिति नेह प्रतायते। एकावली, पृ० १९१
३. काव्यान्तरगडुभूततया तु नेह प्रपञ्च्यते--
रसस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका। उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका ॥
सा० दर्पण १०।१३ ॥
४. चित्रमीमांसा, पृ. ४०, वाणीविहार, वाराणसी, १९६५ ई०।
५. शक्तिमात्रप्रकाशनकलैवेषा कविता न भूम्ना महाकविभिराद्दृता रसवीथीवहिष्कृतत्वादिति ज्ञापनाय न प्रपञ्च्यते। अलङ्कारमहोदधि ७।२१ की वृत्ति, पृ. २२०, ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, सन् १९४२ ई०।
६. रतिरीतिवीतवसना प्रियेव शुद्धापि वाङ्मुदे सरसा।
अरसा सालङ्कृतिरपि न रोचते शालभञ्जीव ॥ आर्यासप्तशती ॥ ११५४ ॥
७. चित्रमीमांसा, पृ. ३५, वाराणसी, १९६५ ई०
८. दशकुमारचरितम् ७ ॥

विषमं सर्वतोभद्रचक्रगोमूत्रिकादिभिः ।
श्लोकैरिव महाकाव्यं व्यूहैस्तदभवद् बलम् ॥[1]

इसी प्रकार तुरग, गज आदि के गमन, सेना के पदाभ्यास, काव्यगोष्ठी आदि में इनकी सहजता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। अग्निपुराण में चित्रबन्ध, प्रश्न, प्रहेलिका आदि का औचित्य गोष्ठी में कौतूहल हेतु उचित माना गया है--

गोष्ठ्यां कुतूहलाध्यायी वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते ।
प्रश्नः प्रहेलिका गुप्तं च्युतदत्ते तथोभयम् ॥[2]

गोष्ठी आदि के अतिरिक्त अनुकरण, विद्वद्वार्ता आदि ऐसे प्रसङ्ग हैं जहां श्लेष, अप्रतीतत्व, निहतार्थत्व, अप्रयुक्तप्रयोग आदि दोष दोष नहीं रह जाते अपितु गुण भी हो जाते हैं। मम्मट में शब्दों में--

"अनुकरणे तु सर्वेषां वक्त्र्यौचित्यवशाद् दोषोऽपि गुणः क्वचित्। क्वचिन्नोभौ।[3]
वहीं वृत्ति में आचार्य प्रवर कहते हैं--

"वक्तृ-प्रतिपाद्य-व्यङ्ग्य-वाच्य-प्रकरणादीनां महिम्ना दोषोऽपि क्वचिद् गुणः, क्वचिन्न दोषो न गुणः। तत्र वैयाकरणादौ वक्तरि प्रतिपाद्ये च, रौद्रादौ च रसे व्यङ्ग्ये कष्टत्वं गुणः।[4] विश्वनाथ ने भी इसी क्रम का अनुसरण किया है।[5]

भोज ने 'दोषगुण' प्रकरण में प्रथम परिच्छेद में स्पष्ट कर दिया था कि अविद्वानों, अज्ञ, स्त्रियों तथा बालकों के लिये प्रसादपूर्ण काव्य रचा जाता है, किन्तु श्रोताओं या अध्येताओं के विद्वान् होने पर 'अप्रसन्नता' दोष नहीं, इसी प्रकार 'चित्र' में भी। वह तो दोषहान में कवि की क्षमता को ही हेतु मानते हैं--

अविद्वदङ्गनाबालप्रसिद्धार्थं प्रसादवत्।
विपर्ययोऽस्याप्रसन्नं चित्रादौ तन्न दुष्यति ॥
विरोधः सकलेष्वेव कदाचित् न कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥[6]

स्पष्ट है कि 'चित्रकाव्य' का दुष्करत्व, दुर्बोधत्व अज्ञों के लिये भले हो किन्तु विशेषज्ञों के लिये वह सरस एवं आनन्ददायक है। व्याकरण तथा इतिवृत्तों का ज्ञान चित्ररसज्ञ के लिये आवश्यक है। इस विषय में ब्रह्मलीन अनन्तश्रीविभूषित स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती के शब्द दर्शनीय हैं--

सर्वो धातुगणः क्रियादिविपुलो जिह्वाजिरे रागते
विश्वास्तद्धितवृत्तयः प्रमुदिताः क्रीडन्ति कण्ठस्थिताः।

---

१. शिशुपालवध ॥ १९।४१ ॥
२. अग्निपुराण ३४३।२२ ॥
३. काव्यप्रकाश सप्तम उल्लास पृ० ३४५-६
४. वही।
५. स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्थाप्रयुक्तये। गुणः स्यादप्रतीतत्वं ज्ञत्वं चेद्वक्तृवाच्ययोः ॥
सा० द० ७।१७,१८ ॥
६. सर० कण्ठा० १।१२९, १५६ ॥

कृत्संज्ञा विलसन्ति प्रत्ययघटाः स्वान्तान्तरालाम्बरे
येषां ते विभवो भवन्ति कृतिनो बन्धोत्कटे कानने ॥
सत्यं वल्गितमस्ति तत्र भवतोऽशक्तस्य कस्यापि ते
द्राक्षामम्लतरां वदन्ति कृपणाः श्रान्ताः परास्तोद्यमाः ।
शाब्दे ब्रह्मणि साधिकारवचसां क्लिष्टक्रमाभ्यासिनां
बन्धाली विजरीहरीति सुभगा विद्येश्वराणां मुदे ।[1]

महाराजाधिराज भोज स्वयं कवि थे, उनको गोष्ठी का सौभाग्य प्राप्त था, उनकी सारी प्रजा विद्यामण्डित थी । अतः ऐसे विद्या-राज्येश्वर का चित्रकाव्यनिरूपण विस्तृत होना आश्चर्य का विषय नहीं ।

—कामेश्वरनाथ मिश्र

---

१. रामरूपकवि : चित्रकाव्यकौतुकम् , की भूमिका १६,९ ॥

॥ श्रीः ॥

सरस्वतीकण्ठाभरणम्

सानुवाद 'स्वरूपानन्द' हिन्दीभाष्योपेत 'रत्नदर्पण'-व्याख्याविभूषितम्
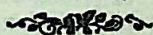
प्रथमः परिच्छेदः

ग्रन्थारम्भे समुचितेष्टदेवतानमस्कारेण शिष्टाचारमनुवर्तते—ध्वनिरिति।

ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्।
यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे ॥ १ ॥

व्याख्याकर्तृमङ्गलम्

जयति स्वरूपानन्दो जातो यो रत्नदर्पणे दृष्ट्वा।
वाणीकण्ठाभरणं रचितं सुष्ठु भोजदेवेन ॥

अनुवाद—ग्रन्थकार भोजदेव अपनी कृति की निर्विघ्न समाप्ति तथा दुरित प्रणाश के लिए विद्या की अधिष्ठात्री देवी की स्तुति करते हैं—

सूक्ष्म आदि भेद करने से ध्वनि, वर्ण, पद तथा वाक्य ये चार जिसके अधिष्ठान हैं उस वाणी देवी की हम उपासना—वन्दना करते हैं ॥ १ ॥

स्वरूपानन्दभाष्य—यह मङ्गल श्लोक कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें परम्परा का निर्वाह तो है ही, साथ ही अतिसूक्ष्म विवेचन के आधार पर किये गये चार विभाग और उन विभागों में अर्थ का समावेश न होना साहित्य-शास्त्र के प्रेमी के लिए असमञ्जस की स्थिति उत्पन्न करता है। सामान्यतः साहित्यशास्त्र में शब्द, अर्थ तथा वाक्य इन तीन शब्दों का महत्त्व विभिन्न आचार्यों ने पृथक्-पृथक् अथवा समवेत रूप में स्वीकार किया है। पद, वाक्य तथा प्रमाण को महत्त्व देने वाले भिन्न शास्त्रों का भी निर्माण हो चुका है। ध्वनिवादी आचार्यों ने तो ध्वनि को ही काव्य का प्राण तक स्वीकार किया है और उसे वर्ण, पद आदि से भी यत्र-तत्र व्यंग्य माना है। इसी प्रकार वैयाकरणों ने पद-शास्त्र विषय होने पर भी अपरिहार्य होने से पदों के घटक वर्णों तथा उनकी भी मूलभूत ध्वनियों का विशद विश्लेषण एवं वर्गीकरण प्रस्तुत किया है।

यह स्पष्ट है कि भोजराज समस्त पूर्वाग्रहों से मुक्त हैं और उन्होंने किसी के अनुसार नहीं अपितु अनुभवगम्य आधार पर वाणी का विभाजन किया है जो वस्तुतः वैयाकरणों की वैखरी वाणी से प्रारम्भ करके वाक्य की स्थिति में आने का क्रम प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम वाणी एक ध्वनि के रूप में अवतरित होती है, वही ग्राहकों द्वारा वर्ण के रूप में स्वीकृत होती है, इन वर्णों से प्रयोगयोग्य पद बनते हैं और पदों से वाक्यों का निर्माण होता है। यही वाणी का स्पष्ट स्वरूप है जिसका उपयोग अपनी-अपनी आवश्यकताओं तथा मान्यताओं के आधार पर विभिन्न आचार्यों ने किया है। व्याकरण शास्त्र में किये गये परा, पश्यन्ती आदि सूक्ष्मभेद यहाँ अधिष्ठान के रूप में अपेक्षित नहीं, क्योंकि शब्दोत्पत्ति के क्रमज्ञान हेतु आवश्यक होने पर भी पाठ्य

तथा श्रव्य अथवा वाच्य साहित्य में उसका उपयोग नहीं होता। अन्य तथ्यों की भाँति यह भी विषय यहाँ निर्विवाद है कि यहाँ ध्वनि शब्द का अर्थ किसी भी दशा में व्यंग्यार्थ नहीं है, वैसा कहना मात्र द्रविड-प्राणायाम है।

अतिसूक्ष्म भेद करने पर भी यहाँ 'अर्थ' का समावेश न करना अवश्य ही विचारणीय है। वस्तुतः यह विचार ही इसलिए आया क्योंकि अन्य आलङ्कारिकों ने प्रायः वन्दना में, काव्य-लक्षण में अथवा इनके आस-पास ही शब्द, अर्थ या वाक्य का महत्त्व काव्य के घटक तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया हैं, किन्तु भोजराज ने वन्दना में नाम ही नहीं लिया तथा काव्य की परिभाषा भी ऐसी निपुणता से प्रस्तुत की कि यह प्रश्न ही नहीं उठ पाता। इन्होंने अन्य ग्रन्थकार आलङ्कारिकों की भाँति पृथक् रूप से काव्य का लक्षण भी नहीं कहा। इस आश्चर्य का समाधान अनेक अनुमानों से किया जा सकता है।

जो लोग शब्द तथा अर्थ, पद और पदार्थ, नाम और रूप इनको पृथक्-पृथक् मानते हैं, उनके लिए तो यह स्पष्ट उत्तर ही है कि जब समस्त साहित्य वाङ्मय ही है तब अर्थ का समावेश ही कैसे हो सकता है? दूसरी बात यह भी है कि शब्द और अर्थ हैं तो अवश्य भिन्न किन्तु इनका सम्बन्ध नित्य है। इस नित्य सम्बन्ध के कारण शब्द का उच्चारण करते ही अर्थ स्वतः उपस्थित हो जाता है, ठीक उसी भाँति जैसे काव्य परिभाषा में 'रस' शब्द का प्रयोग न करने पर भी मम्मट की परिभाषा में गुण शब्द का ग्रहण करने मात्र से 'रस' का ग्रहण हो जाना[1]। इसके अतिरिक्त व्यावहारिक कठिनाई भी है, शब्द तथा अर्थ में पारमार्थिक भिन्नता स्वीकार करने पर एक ही तत्त्व दो पूर्ण भिन्न वस्तु एक साथ हो ही कैसे सकता है?

कठिनाई यह है कि भोज ने अपने ग्रंथ में अर्थ की पृथक् सत्ता—शब्द के अतिरिक्त—स्वीकार भी की है। यदि ऐसा न होता तो अर्थालङ्कारों का समावेश भी कैसे होता? सूक्ष्म विवेचन करने पर असङ्गति का निराकरण हो जाता है। लोक में तो शब्द और अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु काव्य में अर्थ भी शब्दात्मक ही होता है। जो अर्थ साहित्य में प्रकट होता है, वह जबतक शब्दात्मक नहीं हो जाता तबतक कोई भी औपचारिकता निभ नहीं सकती। काश्मीरीय शैवदर्शन में तो नामरहित विश्व माना ही नहीं गया है। पण्डितराज जगन्नाथ के भी शब्द को काव्य मानने का अभिप्राय यही लगता है। भोजराज ने सम्भवतः इन्हीं विरोधाभासों का समाधान करने के लिए 'सूक्ष्मादिभेदेन' पद का प्रयोग किया है। तुलसी के शब्दों में—'गिरा अर्थ जलवीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।' प्रकृत कारिका में प्रयुक्त 'सूक्ष्मा' 'परा' का पर्याय है।

'एकेन यस्य यमिनः प्रमदेव देहमर्धेन राजति पुमानिव चापरेण।
तत्त्वक्रमादथ च न प्रमदा पुमान् वा श्रेयांसि वर्धयतु स स्मरशासनो वः॥
श्रीरामसिंहदेवेन दोर्दण्डदलितद्विपा।
क्रियतेऽवन्तिभूपालकण्ठाभरणदर्पणः॥
कण्ठाभरणमनर्घ्यं वाग्देवीरत्नदर्पणोत्सङ्गे।
अस्मिन् पश्यतु निभृतं प्रकाशसर्वाङ्गलावण्यम्॥

'वाचामधिष्ठात्री देवी द्योतमाना स्वप्रकाशशब्दब्रह्मरूपा भारती। कथमुपास्यते। सूक्ष्मादिभेदेन ध्वन्यादिभेदेन च विवक्षितो नमस्कारः। शब्दब्रह्मणश्चतस्रो भिदा भवन्ति। सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी चेति। तत्राविकारदशा सूक्ष्मा। सा हि सर्वस्य प्राणापानान्तरालवर्तिनी विगतप्रादुर्भावतिरोभावा सम्यक्प्रयोगपरिशीलनात्मना कर्मयोगेन मननादिना

---

1. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। का० प्र० १।४॥

ज्ञानयोगेन च सम्यगधिगम्यते। 'सेयमाकीर्यमाणापि नित्यमागन्तुकैर्मलैः। अन्त्या कला हि सोमस्य नात्यन्तमभिभूयते॥ तस्यां विज्ञातमात्रायामधिकारो निवर्तते। पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम्॥' इति। तस्य ब्रह्मणोऽनाद्यविद्यावशादाद्यः परिणामः पश्यन्तीरूपो जायते। स हि वर्णविभागादक्रमः स्वयंप्रकाशश्च। पूर्वापरे स्वात्रस्थे पश्यतीति पश्यन्तीत्युच्यते। ततः परमविद्योपादानादन्तःसंकल्परूपक्रमवान् श्रोत्रग्राह्यवर्णाभिव्यक्तिरहितस्तृतीयः परिणामो मध्यमारूपो जायते। सा किल द्वयोः परिणामयोर्मध्ये सदा तिष्ठतीति मध्यमेत्युच्यते। अन्तरं दूरप्रसृतायामविद्यायां स्थानकरणप्रयत्नव्यज्यमानश्रोत्रसंवादिवीणादुन्दुभिनादपरिचयगद्गदाव्यक्ताकारादिवर्णसमुदायात्मकस्तृतीयः परिणामो वैखरीरूपो जायते। विशिष्टं खमाकाशं राति प्रयच्छतीति विखरो देहेन्द्रियसंघातः। तथा च श्रुतिः—'न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वा व सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः॥' इति। तत्र भवा वैखरीति। तदेतासामवस्थानामाद्यास्तिस्रो नित्या अतीन्द्रियाः। तदुक्तम्—'स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा। वैखरी वाक्प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना॥ केवलं बुद्ध्युपादानक्रमरूपानुपातिनी। प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक्प्रवर्तते॥ अविभागात्तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा। स्वरूपज्योतिरेवान्तःसूक्ष्मा सा चानपायिनी॥' इति। श्रुतिरप्याह—'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥' इत्यादिकमागमसमुच्चयादेवावसेयम्। का पुनस्ता वाचो यासामियमधिष्ठात्रीत्यत उक्तम्—'ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्। यस्याः' इति। आस्पदमधिष्ठानमवच्छेदः। ध्वन्यादिभिरवच्छिन्ना परा वाक् तद्व्यवहारहेतुः। साहित्यप्रसिद्धाभिधानध्वननलक्षणव्यवहारकारित्वमेकस्मिन् वर्णे न निरूप्यते इति बहुवचनम्। पदवाक्ययोरस्ति प्रत्येकमपि तथाभाव इति ताभ्यामेकवचनमुपात्तम्। तदयमत्र तात्पर्यसंक्षेपः। साहित्यस्वरूपनिरूपणाय किलैष ग्रन्थारम्भः। साहित्यं च शब्दार्थयोः संबन्धः। तत्र शब्द एव क इत्यपेक्षायामयं विभागो ध्वनिरित्यादिः। अर्थस्तु स्तम्भकुम्भादिलक्षणो लोके शास्त्रे च प्रसिद्धः। संबन्धः कश्चिदनादिः। सर्वस्वायमानस्तु संबन्धो नान्यत्रेत्यस्मिन्नायतते। स चतुर्विधः—दोषहानम्, गुणोपादानम्, अलंकारयोगः, रसाभियोगश्चेति॥ १॥

प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गसंबन्धप्रयोजने दर्शयति—

> निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
> रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥ २॥[1]

अनुवाद—अग्रिम कारिका में ग्रन्थकृत् काव्य का लक्षण तथा प्रयोजन अपने ढङ्ग से प्रस्तुत करता है—

दोषहीन, गुणसमन्वित, अलङ्कारों से विभूषित तथा रसपेशल काव्य की रचना करता हुआ कवि यश तथा आनन्द-प्रीति प्राप्त करता है॥ २॥

स्व०भा०—उपर्युक्त कारिका में कवि को एक विशेष प्रकार की कविता रचने से विशिष्ट फल की प्राप्ति होने का उल्लेख किया गया है। स्वतःसिद्ध है कि जो कवि अपेक्षित गुण युक्त काव्य-निर्माण नहीं करेगा उसे उक्त फल भी प्राप्त नहीं हो सकते। यहाँ अन्य आलङ्कारिकों की भाँति न तो स्पष्ट रूप से काव्य का लक्षण ही दिया गया है और न प्रयोजन ही निर्दिष्ट है। यहाँ है प्रका-

---

१. अप्पय दीक्षित इस कारिका को अपनी 'चित्र-मीमांसा' में अग्निपुराण की स्वीकार करते हैं।

रान्तर से पूर्ववर्ती अथवा समकालीन आचार्यों द्वारा दी गई काव्य-परिभाषाओं का सङ्कलन। इसमें उनका संकलन भी संयोगवश प्रसंगतः हो गया है, ध्यान देकर लिखा नहीं गया। इसका कारण यह लगता है कि भोज व्यर्थ का विवाद नहीं चाहते। उनके समय तक काव्य का स्वरूप प्रायः स्पष्ट हो चुका था और प्रयोजन भी स्पष्ट ही था। विभिन्न सम्प्रदायों का सूत्रपात भी तबतक हो जाने से, उन्होंने यह पाठकों पर ही छोड़ दिया कि वे अपनी रुचि के अनुसार काव्य की परिभाषा करते रहें, इनका सम्बन्ध अनपेक्षित तथा अपेक्षित काव्य-तत्त्वों के निरूपण से है।

यहाँ 'काव्यम्' पद के विशेषण के रूप में प्रयुक्त 'निर्दोषं', 'गुणवत्', 'अलङ्कारैरलंकृतं' तथा 'रसान्वितं' पद ग्रन्थकार की काव्य-विषयक मान्यता को स्पष्ट कर देते हैं। भामह की—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्', दण्डी की–'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली', अग्निपुराण की–'संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्', रुद्रट की–'शब्दार्थौ काव्यम्', वामन की–'काव्य-शब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोः वर्तते' तथा आनन्दवर्धन की–'शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्' आदि समस्त परिभाषाओं में शब्द तथा अर्थ अनिवार्यतः काव्य शरीर के रूप में स्वीकृत हैं। निर्देश न करने पर भी भोज इन्हें स्वीकार करते हैं। उनकी परिभाषा में विद्यमान काव्य के विशेषण पद परवर्ती आचार्यों की परिभाषा रचना पर विशेष छाप डालते हैं। इनके परवर्ती आचार्यों में हेमचन्द्र की परिभाषा–'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्' इनके अत्यन्त निकट है। इसी प्रकार आचार्य मम्मट की–'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि', वाग्भट्ट की–'शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ च काव्यम्' विद्यानाथ की–'गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम्' तथा जयदेव की—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता। सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥

आदि उक्तियाँ निःसन्देह भोजराज का प्रभाव प्रदर्शित करती हैं।

भोजराज रसवादी समीक्षक हैं। अतः काव्य के लिए अपेक्षित गुण एवं अलङ्कार दोनों में से किसी एक को ही यदि ग्रहण करना हो तो वह गुण को ही वरीयता देंगे। गुण का रस से नित्य सम्बन्ध है जब कि अलङ्कारों का नहीं। उन्होंने स्पष्ट ही स्वीकार किया है—

अलंकृतमपि श्राव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्। गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयोः॥ १।५९॥

प्रथम परिच्छेद के अन्त में इन्होंने अत्यन्त सरस-रीति से अलङ्कार की अपेक्षा गुणों की वरीयता प्रतिपादित की है।

युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते॥

दीर्घापाङ्गं नयनयुगलं भूषयत्यञ्जनश्रीस्तुङ्गाभोगौ प्रभवति कुचावर्चितुं हारयष्टिः।
मध्ये क्षामे वपुषि लभते स्थामकूर्पासलक्ष्मीः श्रोणीबिम्बे गुरुणि रशनादामशोभां बिभर्ति॥१।१५८-६०॥

भोजराज की यह मान्यता परवर्ती आलङ्कारिकों में 'अनलंकृती पुनः क्वापि', 'प्रायः अलङ्कारैरलं-कृतम्' सदृश काव्यपरिभाषाओं में स्पष्ट देखी जाती है।

इसी प्रकार रसविहीन वाक्य भी काव्य के रूप में भोज को अस्वीकार्य है। पञ्चम परिच्छेद में उन्हीं की उक्ति है—

पश्यति स्त्रीति वाक्ये हि न रसः प्रतिभासते। विलोकयति कान्तेति व्यक्तमेव प्रतीयते॥ ५।४॥
नवोऽर्थः सूक्तिरग्राम्या श्रव्यो बन्धः स्फुटा श्रुतिः। अलौकिकार्थयुक्तिश्च रसमाहर्तुमीशते॥ ५।७॥

काव्यप्रयोजन—भोज ने कवि को दो लाभ बताया है। वे लाभ हैं कीर्ति और प्रीति। रसाचार्य भरत के अनुसार नाटक और उपचारतः सम्पूर्ण साहित्य का प्रयोजन यों है—

> उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्। हितोपदेशजननं धृतिक्रीडा-सुखादिकृत्॥
> दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्। विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति॥
> धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्। लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति॥

भरत द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजनों का ही संक्षेप-सा अपने शब्दों में भामह ने किया है—

> धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥

वामन ने भी प्रीति और कीर्ति का सहारा लिया है। उनके भी अनुसार काव्य का हेतु यही है—'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।' आचार्य कुन्तक ने बड़े सुन्दर ढङ्ग से काव्य के प्रयोजनों का संकलन किया है। उनके अनुसार—

> धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः। काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥
> व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः। सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥
> चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्। काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥१।३-५॥

कुन्तक में भामह के प्रयोजनों का विस्तार स्पष्टतः लक्षित होता है। भोज के पूर्ववर्ती रुद्रट ने भी काव्यप्रयोजनों का विशद वर्णन किया है—

> ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम्।
> स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि॥
> अर्थमनर्थोपशमं सममसममथवा मतं यदेवास्य। विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः॥
> तदितिपुरुषार्थसिद्धिः साधु विधास्यद्भिरविकलां कुशलैः।
> अधिगतसकलज्ञेयैः कर्तव्यं काव्यममलमलम्॥

इनमें भी पूर्वाचार्यों का पूर्णप्रभाव विद्यमान है, यद्यपि भाषा अधिक परिमार्जित है। भोज के पूर्ववर्ती उपर्युक्त प्रमुख आलङ्कारिकों के काव्यप्रयोजन सम्बन्धी छन्दों का विवेचन करने से स्पष्ट हो जाता है कि इन पर अन्यों की अपेक्षा इस प्रसङ्ग पर भामह का प्रभाव विशेष है। इन्होंने काव्यालङ्कार से ही 'कीर्ति' और 'प्रीति' शब्दों का ग्रहण किया है। भामह ने अपने ग्रंथ के प्रथम परिच्छेद के षष्ठ से दशम कारिकाओं में काव्यरचना से प्राप्य कीर्ति का आकर्षक वर्णन किया है। प्रायः यही वर्णन रुद्रट में भी है।

सूक्ष्म विवेचन से ज्ञात होता है कि भोज ने अपने 'कीर्ति' और 'प्रीति' शब्दों में ही पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती दोनों समय के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट समस्त प्रयोजनों का अन्तर्भाव-सा कर दिया है। शब्द पूर्वपरिचित तथा अन्यतः प्राप्त होने पर भी इनके यहाँ अर्थविस्तार कर बैठे हैं। इनके यहाँ 'प्रीति' शब्द अर्थजन्य, व्यवहारजन्य, शिवेतरक्षतिजनित, रसानुभूतिजनित तथा मधुर उपदेशजन्य इन समस्त आनन्दों को अपने में समाविष्ट कर लेता है। यहाँ प्रीतिपद अधिक व्यापक है।

अब जटिल समस्या उपस्थित होती है इन फलों के भोक्ता के विषय में। कीर्ति और प्रीति मिलती किसे है? भोज की पङ्क्ति से ज्ञात होता है कि इनकी प्राप्ति सत्कवि को होती है क्योंकि वही काव्य का कर्ता है। लगभग यही भाव इनसे पूर्ववर्ती अन्य आचार्यों के निरूपणों में भी देखा जा सकता है। किन्तु पुनः प्रश्न उठता है कि पाठक को क्या मिलता है? आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ में जिन छः काव्यप्रयोजनों का उल्लेख किया है उनकी वृत्ति में लिख दिया है—

'...यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम् ।' अर्थात् यशःप्राप्ति, अर्थप्राप्ति, व्यवहारज्ञान, शिवेतरक्षति, रसास्वाद और उपदेश इन छः प्रयोजनों में से आवश्यकतानुसार कुछ कवि तथा सहृदय को प्राप्त हुआ करते हैं। काव्यप्रकाश के व्याख्याकारों ने इनमें से यश तथा अर्थ की प्राप्ति और शिवेतरक्षति को मुख्यतः कविनिष्ठ तथा शेष को मुख्यतः रसिकनिष्ठ स्वीकार किया है। पूर्वाचार्यों ने यह विभाग नहीं किया है, तथापि यह तथ्य स्वभावतः सिद्ध है कि कवि को पाठक का रसबोध नहीं हो सकता। उसे प्राप्त हो सकता है केवल कर्तृत्व का सन्तोष। यदि वह पुनः अपने काव्य का आनन्द लेना चाहता है तो उसे पाठक अथवा सामाजिक की कोटि तक उतरना पड़ेगा। किसी ने तो स्पष्ट कहा था कि—कवितारसमाधुर्यं कविर्वेत्ति न तत्कविः। भवानी भ्रुकुटीभङ्गं भवो वेत्ति न भूधरः॥ सरस्वतीकण्ठाभरण के व्याख्याकार रत्नेश्वर ने रत्नदर्पणटीका में लिखा है कि—'प्रीतिः सम्पूर्णकाव्यार्थस्वादसमुत्थः आनन्दः, काव्यार्थभावनादशायां कवेरपि सामाजिकत्वाङ्गीकारात् ।' अतः इसका स्पष्टार्थ यह हुआ कि सत्काव्य का कवि रचना करने के कारण अक्षयकीर्ति पाता है तथा काव्यार्थ की भावना करने पर पाठकों-सा रसचर्वणा का अतुल आनन्द भी। इस आनन्द की उपलब्धि के लिए उसे परमुखापेक्षी नहीं होना पड़ता, वह उसके अधीन ही रहता है। यदि प्रीति का विस्तृत अर्थ भी लिया जाये तो भी रसानुभूतिजन्य आनन्द में अव्याप्ति नहीं होगी।

दोष-निरास—भोज ने काव्य में सर्वाधिक अपेक्षा निर्दोषता की की है। उनको दोषयुक्त काव्य स्वीकार्य नहीं। इसीलिए 'क्या होना चाहिये' इसका वर्णन तो उन्होंने बाद में किया है किन्तु 'क्या नहीं होना चाहिये' इसका सर्वप्रथम। महर्षि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में दोषों की गणना असंख्य कहकर शुद्ध शब्दों की रचना-विधि पर बल दिया और उनकी ही गणना प्रारम्भ की, किन्तु यहाँ की धारा ही उलटी है। कारण भी स्पष्ट है। शब्दों में दोष अनेक प्रकार आ सकते हैं, क्योंकि वे वस्तुतः असंख्य हैं, अपरिमित हैं, किन्तु काव्य में दोषों की संख्या तथा प्रकार बहुत हो सकते हैं किन्तु असंख्येय नहीं। एक निश्चित मान्यता के अनुसार होने वाली रचना में सम्भव दोष गिनाये तो जा ही सकते हैं।

भोजराज की स्पष्ट घोषणा है कि—

एवं पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च यः कविः। दोषान् हेयतया वेत्ति स काव्यं कर्तुमर्हति ॥१।५८॥

इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी काव्य की निर्दोषता पर बहुत ही बल दिया है। अलंकारशास्त्र के प्रमुख आचार्य भामह ने पहले ही उपदेश दिया था कि—

सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्। विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥ १।११ ॥

इसी सन्दर्भ में उन्होंने जितनी ही अधिक सत्काव्य के कारण कवि के यश की प्रशंसा की है, उतनी ही दुष्टकाव्य के कारण अपकीर्ति की निन्दा भी। आचार्य दण्डी भी दोष-निरास को अपरिहार्य मानते हैं। उनका मत है कि—

गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः। दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ॥
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन। स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥१।६-७॥

यही कारण है कि भोजराज ने दोषों का निराकरण अत्यन्त आवश्यक माना है।

दोष—आशा की जाती थी कि ग्रन्थकार दोष-सामान्य की परिभाषा देने के बाद दोष-विशेष का साङ्गोपाङ्ग निरूपण करेंगे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इनके लक्षणों से तो ऐसा प्रतीत होता है कि पद, वाक्य तथा वाक्यार्थों में जिन्हें नहीं आना चाहिए वही दोष हैं, किन्तु यह कोई

परिभाषा नहीं हुई। यह बात यहाँ बहुत खटकती है। लगता है कि ग्रन्थकार ने यहाँ भी समीक्षा के क्षेत्र में सामान्यतः स्वीकृत दोष-व्याख्या तथा दोष-स्वरूप को ही मनमें स्वीकार करके विशेष झगड़ा न खड़ा कर विशिष्ट-विशिष्ट दोषों का सोदाहरण निरूपण प्रारम्भ कर दिया।

भारतीय समीक्षा के प्रायः सभी सिद्धान्तों और सम्प्रदायों में कुछ न कुछ ऐसे तत्व अवश्य ही हेय माने गए हैं जिनका निरास करना काव्य के प्राण को अक्षत बनाये रखने के लिए आवश्यक है। रसाचार्य भरत ने भी दोष माने हैं। आनन्दवर्धन ने पहले ही घोषित किया था—'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्'। अग्निपुराण ने उद्वेगजनकता को ही दोष माना है—'उद्वेगजनको दोषः'। रीतिमार्ग के आचार्य वामन की भी दोषधारणा स्पष्ट है। वह रीति को काव्य की आत्मा तथा गुण को उसका उन्नायक समझते हैं। जिस प्रकार एक औचित्यवादी की दृष्टि में अनौचित्य से बढ़कर दूसरा अपकारी नहीं हो सकता उसी प्रकार रीतिगुणवादी के लिए अरीतिमत्व, अगुणत्व आदि से बढ़कर दूसरा दोष नहीं हो सकता। उनके अनुसार 'गुणविपर्ययात्मानो दोषाः' हैं। ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने मुख्यार्थ के अपकर्षक को दोष माना है। उनके अनुसार रस का वाचक होने से—व्यञ्जक होने से-वाच्यार्थ भी उपचारतः लिया जा सकता है। अपने काव्यप्रकाश में उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट कर ली है—

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्याः तेन तेष्वपि सः॥

रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने अपना पक्ष और भी स्पष्ट रखा है। उनके अनुसार तो—रसापकर्षका दोषाः।' और 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्, दोषास्तस्यापकर्षकाः।' अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य भामह ने 'दुष्टं च नेष्यते' कहकर और आचार्य दण्डी ने भी तीसरे परिच्छेद के १२६ वें छन्द के उत्तरार्ध में 'वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः' तो कहा किन्तु कारण नहीं स्पष्ट किया। भामह का 'नेष्यते'-(अभीष्ट नहीं है), और दण्डी के 'वर्ज्याः' ('वर्जनीय है',) भोजराज के 'हेयाः' ('त्यागने योग्य हैं') के अधिक निकट हैं।

इसमें कोई विवाद नहीं है कि कुछ कारणों से काव्य उत्कृष्ट हो जाता है और कुछ कारणों से अपकृष्ट, इनमें प्रथम गुण तथा दूसरा अवगुण या दोष है, किन्तु विवाद प्रारम्भ हो जाता है काव्यस्वरूप के विषय में मतवैभिन्न्य के कारण। सभी भारतीय आलंकारिकों ने अपने अपने सम्प्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा भिन्न-भिन्न माना है। अतः आन्तरिक सम्बन्ध के कारण गुण और दोष सीधे उसी से सम्बद्ध होने के कारण भिन्न से हो उठते हैं, यद्यपि अन्ततः सबका उद्देश्य आनन्दोपलब्धि है और उसमें बाधा पहुँचाने वाले सर्वत्र अनपेक्षित होते हैं। भोज समन्वयवादी रसशास्त्री हैं। अतः वह सभी सम्प्रदायों के उपयोगी तत्त्वों को ग्रहण कर अपने अनुसार रसानुगुण ढालते हैं। इनके द्वारा चर्चित दोषों में प्रायः सभी दोषों का समावेश हो जाता है। दोषों के निरूपण के प्रसंग में परिभाषा में यह अवश्य अपने पूर्ववर्ती भामह और दण्डी के अनुगामी प्रतीत होते हैं, किन्तु वर्गीकरण के सिद्धान्त इनके निजी ही हैं।

काव्य के ये अनपेक्षित, हेय, वर्ज्य अथवा 'नेष्ट' दोष काव्य, रस, वाच्यार्थ अथवा अभिमतप्रतीति के परिपन्थी तत्त्व किन रूपों में हानि पहुँचा कर अपकर्ष करते हैं, उसका सुष्ठु विवेचन काव्यप्रदीप में उपलब्ध होता है। उसके अनुसार—'नीरसे तु अविलम्बितचमत्कारिवाक्यार्थप्रतीतिविघातका एव हेयाः।' अर्थात् काव्य के दुष्ट होने पर काव्यास्वाद में विलम्ब होता है, काव्य का आस्वाद ही नहीं मिलता है अथवा काव्य की उत्कृष्टता समाप्त हो जाती है। काव्य का चमत्कार प्रतीत ही नहीं होता है। अतः भोज के अनुसार भी वे अनपेक्षित तत्त्व ही हैं जिनके आने से उपर्युक्त तीन प्रकार की त्रुटि समवेत अथवा पृथक् रूप से काव्य में आ जाया करती हैं।

दोषों का वर्गीकरण—आचार्य भरत से लेकर अर्वाचीन समीक्षकों तक सभी ने दोषों की गणना करके संख्या तक का उल्लेख किया है। वर्गीकरण भी उपलब्ध होते हैं। भरत ने केवल दस दोष स्वीकार किये हैं। वे प्रायः सभी शब्द दोष ही हैं। उनके द्वारा गिनाये गए दोष ये हैं—

'गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः॥'

भामह ने 'प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते' कहकर पूर्वनिर्दिष्ट दोषों की अपेक्षा तीन दोष और माने हैं। किन्तु दण्डी ने केवल दस ही स्वीकार किये हैं। उनके अनुसार—
अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्। शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धिकम्॥
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च। इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः॥
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ। विचारः कर्कशः प्रायस्तेनालीढेन किं फलम्॥३।१२५-२७॥
भोज के परवर्ती मम्मट और विश्वनाथ आदि ध्वनि तथा रसवादी समीक्षकों ने पूर्वाचार्यों की भांति केवल शब्द अथवा अर्थ दोष ही नहीं माना है। उनके अनुसार दोषों के पाँच आश्रय होने से पाँच विभाग किए जा सकते हैं। विश्वनाथ के अनुसार—
रसापकर्षका दोषास्ते पुनः पञ्चधा मताः। पदे तदंशे वाक्येऽर्थे सम्भवन्ति रसेऽपि यत्॥ ७।१॥
मम्मट ने विश्वनाथ सा पृथक् संख्या निर्देश नहीं किया अपितु दोषों का लक्षण सामान्य बतला कर विभिन्न प्रकार के दोषों की गणना और उदाहरण दिया है। विश्वनाथ पर मम्मट का सीधा प्रभाव है।

भोज में दोनों अतिरेकों का परित्याग है। उन्होंने वर्गीकरण तथा संख्या दोनों में अपनी ही विचारस्वतन्त्रता का परिचय दिया है। इनके अनुसार पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ में दोष संभव हैं।

भोज का वर्गीकरण भी समीचीन है। वस्तुतः पदांशदोष भी पददोष ही है, अतः वह पृथक् वर्णनीय नहीं। उसका अन्तर्भाव पददोषों में हो जाता है। जहाँ तक रस-दोष का प्रश्न है, उसकी भी स्थिति स्पष्ट ही है। यदि मम्मट रसरूप मुख्यार्थ का आश्रय होने से वाच्यार्थ तथा शब्दों का ग्रहण कर सकते हैं, तो भोज केवल पद, वाक्य अथवा वाक्यार्थ मात्र के दोषों की गणना करके, रस के आश्रय इनके ही दोषों से रस में अपकृष्टता आने से पृथक् रसदोष की चर्चा नहीं कर सकते। सूक्ष्म विवेचन से ज्ञात हो जाता है कि दोषों का रस से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, और न सम्बन्ध ही नित्य है। दोष काणत्व, खञ्जत्व की भाँति काव्यशरीर शब्द तथा अर्थ के माध्यम से रस में अपकर्ष लाते हैं। वामन ने दोषों को गुण विपर्यय कहा है। उससे भी यह अर्थ निकल सकता है कि दोष केवल गुण के उलटे ही नहीं हैं अपितु गुणों के सम्बन्ध के विपरीत इनका सम्बन्ध भी अनित्य ही है। इस प्रकार जैसे पद, वाक्य और अर्थ के माध्यम से रसानुभूति होती है, उसी भांति इनमें ही दोष आ जाने से रस भी दोषवर्जित नहीं रह पाता। वस्तुतः तो जब सभी दोषों का उद्देश्य ही रसापकर्ष करना है—रसवादी की दृष्टि में—तब अलग से रसदोषों की गणना करना ही असंगत है। परवर्ती आचार्यों द्वारा गिनाये गए रस के स्वपदवाच्यता आदि दोषों का अन्तर्भाव पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ दोषों में हो जाता है। अतः पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ इन तीन विभागों में दोषों का भोजकृत वर्गीकरण महत्त्वपूर्ण एवं विवेकपरिचायक है।

पदों से वाक्य बनने के कारण, तीनों प्रकार के दोषों का उल्लेख मात्र करके, भोज ने लक्षण तथा उदाहरण दे देकर, पददोषों का विशद वर्णन किया है।

निर्दोषमिति। प्रीतिः संपूर्णकाव्यार्थस्वादसमुत्थ आनन्दः काव्यार्थभावनादशायां कवेरपि सामाजिकत्वाङ्गीकारात्। सहृदयश्लाघया वा प्रीतिस्तद्दृष्टं प्रयोजनम्। कीर्तिरदृष्टद्वारा स्वर्गफलेत्यदृष्टम्। यदाह—'कीर्तिं स्वर्गफलामाहुः' इति। अङ्गिनः काव्यस्य प्रयोजनाख्यानेनाङ्गभूतस्यास्य प्रयोजनसंबन्ध उक्तः। यद्यपि काव्यशब्दो दोषाभावादिविशिष्टावेव शब्दार्थौ ब्रूते, तथापि लक्षणया शब्दार्थमात्रे प्रयुक्तः। लक्षणाप्रयोजनं चाभिधेयानामुद्देशः। त्रिधा हि शास्त्रशरीरम्—'उद्देशः, लक्षणम्, परीक्षा चे'ति। उदाहरणव्याख्याग्रन्थः सर्वत्र परीक्षापर इत्यस्मद्गुरवः। प्रयोजनाभिसम्बन्धपरादेवोद्देशो लभ्यत इति न विरोधः। अत एव दोषाद्युद्देशक्रमेण परिच्छेदाः। निर्दोषं दोषात्यन्ताभाववत्, अवयवैकदेशवर्तिना श्वित्रेणेव कामिनीशरीरस्य वर्णमात्रगतेनापि दोषेण काव्यवैरस्यनियमात्। अत एवामङ्गलप्रायाणामपि दोषाणां प्रथममुपादानम्। अयमेव हि प्राचः कवेर्व्यापारो यद्दोषहानं नाम। गुणवदिति। भूम्नि प्रशंसायां वा मतुप्। अलंकृतमित्येव वक्तव्येऽलङ्कारैरिति प्रसिद्धालङ्कारपरिग्रहार्थम्। तथालङ्कारैरित्येव वाच्ये प्रसिद्धानामपि वक्ष्यमाणानामेवोपादानार्थमलंकृतपदम्। रसान्वितं रसेन नित्यसम्बद्धम्। 'नास्त्येव तत्काव्यं यत्र परम्परयापि विभावादिपर्यवसानं न भवति' इति काश्मीरिकाः। एतेन काव्यलक्षणमपि कटाक्षितम्। ईदृशं काव्यं तत्कुर्वन्। कविरिति कवेरपि लक्षणमिति ॥ २ ॥

अथोद्देशक्रमेण दोषाणां सामान्यलक्षणं विभागं चाह—

दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडश।
हेयाः काव्ये कवीन्द्रैर्ये तानेवादौ प्रचक्ष्महे ॥ ३ ॥

अनुवाद—पदों, वाक्यों तथा वाक्यार्थों के (प्रत्येक के पृथक् पृथक्) सोलह-सोलह दोष होते हैं। अच्छे कवियों द्वारा वर्जनीय जो ये दोष हैं, (गुण, अलंकार, रस आदि की अपेक्षा) पहले उन्हीं को कहते हैं ॥ ३ ॥

स्व० भा०—द्वितीय कारिका में काव्य लक्षण वाले छन्द में काव्य के विशेषणों के क्रम में दोषों का ही उल्लेख सर्वप्रथम हुआ है। अतः सबसे पहले उसी का वर्णन क्रमानुसार प्राप्त भी है। इसी लिए भोज दोषों का ही निरूपण कर रहे हैं। काव्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थों में आचार्यों ने काव्य, उसके प्रकार, रस, गुण आदि का यथास्थान यथायोग्य समावेश करने के पश्चात् ही दोष प्रकरण प्रारम्भ किया है, किन्तु भोज की दृष्टि दोषों को हटाने के लिए अचल है।

दोषाः पदानामिति। हेया इत्यनेन सामान्यलक्षणम्। ये हेयास्ते दोषा इत्यभिप्रायात्। अभिमतप्रतीतिव्यवधायकतया विघ्नभूतः शश्वत्काव्ये हेयतामासादयति स एव दोषः। अयमेवार्थः 'मुख्यार्थहतिर्दोषः—' इति पदेनान्येषामभिमतः। स च पद-वाक्य-वाक्यार्थविषयतया पूर्वं त्रिविधः। पदपूर्वकत्वाद्वाक्यस्य तत्पूर्वकत्वाद्वाक्यार्थस्य युक्तः क्रमः। वर्णमात्रदोषो नोल्लेखीत्युपेक्षितवान्। अवान्तरविभागे तु क्रियमाणे प्रत्येकं षोडशभिरुपाधिभिः सङ्कुलमित्याह—षोडशेति। काव्यप्रकाशकारादिभिरुक्तानामधिकानामिहान्तर्भावः। अनन्तर्भावे तु दोषत्वमेव नास्तीत्यभिप्रायः, न तु देशीयरागन्यायेन स्वमतप्रकाशनम्। प्रतीतिव्यवधायकानां सर्वदा तद्रूपत्वात्। उक्तमेवाभिसन्धानम्—तानेवादाविति ॥ ३ ॥

विभागमन्तरेण विशेषलक्षणानवतारात्पददोषान् विभजते—

असाधु चाप्रयुक्तं च कष्टं चानर्थकं च यत्।
अन्यार्थकमपुष्टार्थमसमर्थं तथैव च ॥ ४ ॥

अप्रतीतमथ क्लिष्टं गूढं नेयार्थमेव च।
सन्दिग्धं च विरुद्धं च प्रोक्तं यच्चाप्रयोजकम्॥ ५॥
देश्यं ग्राम्यमिति स्पष्टा दोषाः स्युः पदसंश्रयाः।

अनुवाद-पददोष—(१) असाधु (२) अप्रयुक्त (३) कष्ट (४) अनर्थक (५) अन्यार्थक (६) अपुष्टार्थ उसी प्रकार (७) असमर्थ (८) अप्रतीत (९) क्लिष्ट (१०) गूढ़ (११) नेयार्थ (१२) सन्दिग्ध (१३) विरुद्ध तथा जिसे (१४) अप्रयोजक कहते हैं वह (१५) देश्य (१६) ग्राम्य ये पद पर आश्रित रहने वाले स्पष्ट (सोलह) दोष हैं। (पदाश्रित होने के कारण इन्हें पददोष कहा जाता है।)॥ ४-५ अ॥

असाध्विति। मुख्यार्थहतौ मिथोऽनपेक्षसूचनया समासः। अत एव लाघवेऽनादरः। कथं पदप्रतीकदोषा न गण्यन्त इति शङ्कामभिप्रेत्याह—स्पष्टा इति। पदसंश्रयाः पदान्वयव्यतिरेकानुविधायिनः। एवं वाक्यादावपि गुणादावपीदमेवाश्रितत्वम्॥ ४-५॥

विभागप्रयोजनमाह—

अथैषां लक्षणं सम्यक्सोदाहरणमुच्यते॥ ६॥

अनुवाद—(इनकी नाम गणना के) पश्चात् भलीभाँति इनके लक्षण तथा उदाहरण कहे जा रहे हैं॥ ६॥

स्व० भा०—भरत ने कुल मिलाकर दस, भामह ने तेरह तथा दण्डी ने दस दोष माने हैं जब कि भोज ने केवल पददोष ही सोलह माना है। परवर्ती विश्वनाथ ने भी सोलह पददोष तथा पाँच पदांशगत दोषों को स्वीकार किया है। मम्मट ने तो पदांशगत ६ दोष तथा पदगत सोलह ही दोष माना है।

अथैषामिति। परीक्षां प्रतिजानीते—सम्यगिति। लक्षणदोषशून्यं लक्षणानुपपत्तिनिर्णेजनमेव हि परीक्षापदार्थः। कथमेतत्सम्पत्स्यते इत्यत आह—सोदाहरणमिति॥ ६॥

शब्दस्वरूपलक्षणः प्रथमनिरस्यो दोष इत्याशयेन प्रागुद्दिष्टस्यासाधोर्लक्षणमाह—

(१) पदगत असाधु दोष

शब्दशास्त्रविरुद्धं यत्तदसाधु प्रचक्षते।

यथा—

'भूरिभारभराक्रान्त बाधति स्कन्ध एष ते।
तथा न बाधते स्कन्धो यथा बाधति बाधते॥ १॥

अत्र बाधतेरात्मनेपदित्वाद् 'बाधते' इति स्यात्, न पुनर् 'बाधति' इति॥

अनुवाद—जब कोई पद शब्दशास्त्र के नियमों के विपरीत होता है, तब वहाँ असाधुत्व दोष कहा जाता है॥ ७ अ॥

जैसे—हे अत्यधिक भार से दबे हुए वाहक! क्या तुम्हारा यह कंधा दुःख दे रहा है? (वह उत्तर देता है)-कंधा उतना अधिक कष्ट नहीं दे रहा है जितना कि बाध् धातु का 'बाधति' रूप॥ १॥

स्व० भा०—व्याकरणशास्त्र को शब्द अथवा पद शास्त्र कहा जाता है। उसमें पद-सम्बन्धी नियमों का निर्देश है। सभी लोग पदों का प्रयोग उन्हीं रूपों में करते हैं जैसा वहाँ विहित है।

उसके विपरीत प्रयोग करना अशुद्धता है। उसी अशुद्ध रूप के प्रयोग को भोज ने काव्य में असाधुत्व दोप की संज्ञा दी है। मम्मट इस दोप को च्युतसंस्कृति कहते हैं और लक्षण देते हैं—'च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनम्'। यही परिभाषा विश्वनाथ की भी है। पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी ने इसे 'शब्दहीनत्व' दोप कहा है। उनके ही शब्दों में—

शब्दहीनमनालक्ष्यलक्ष्यलक्षणपद्धतिः। पदप्रयोगोऽशिष्टेष्टः शिष्टेष्टस्तु न दुष्यति ॥ ३।१४८ ॥

वस्तुतः शब्दहीनत्व नाम उतना उचित नहीं प्रतीत होता है जितना 'असाधुत्व' या 'च्युतसंस्कृति'। 'साधु' और 'असाधु' पद व्याकरण जगत् में विशेष अर्थ में प्रयुक्त होते हैं जिसका अभिप्राय होता है व्याकरण के नियमों के अनुरूप अथवा विरुद्ध। शास्त्र-विशेष से सम्बद्ध पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग तत्सम्बद्ध सन्दर्भों में उचित ही है। मम्मट और विश्वनाथ द्वारा प्रयुक्त शब्द भी अधिक सरलतापूर्वक अर्थज्ञान करा देते हैं। लोकदृष्टि से इनका प्रयोग अच्छा है।

प्रस्तुत उदाहरण में व्याकरण विरुद्ध प्रयोग करके स्पष्टीकरण किया गया है। वस्तुतः 'बाधृ लोडने' भ्वादिगणीय धातु का प्रयोग आत्मनेपद में होता है। यही रूप व्याकरणसम्मत है। इसका परस्मैपद की धातु की भाँति प्रयोग करना नियम विरुद्ध है। अतः यहाँ असाधुत्व दोप है।

कथा—प्रस्तुत उदाहरण एक कथा से सम्बद्ध है। उस कथा में हुए प्रश्नोत्तर के श्लोक रूप में ही यह छन्द प्रयुक्त हुआ है। यह कथा शार्ङ्गधरपद्धति में है। इस ग्रन्थ में अनेक चमत्कारपूर्ण साहित्यिक चुटकुलों का संग्रह है। कहा जाता है कि एक बार गुणरत्नपारखी एवं सहृदय धाराधीश भोज पालकी में बैठकर कहीं जा रहे थे। उनकी पालकी को उठाने वाला एक व्यक्ति नया ही था। उसको पहले कभी पालकी लेकर चलने का अभ्यास नहीं था, अतः वह क्षण-क्षण में अपना कंधा बदल रहा था। उसका कन्धा दर्द कर रहा था। पालकी में बैठे महाराज यह दृश्य देख रहे थे। उनसे रहा न गया। उन्होंने उस नववाहक से पूछा—भूरिभारभराक्रान्त बाधति स्कन्ध एप ते—हे अत्यधिक भार से दबे जा रहे वाहक! क्या तुम्हारा कन्धा दुःख दे रहा है? उनके प्रश्न को सुनकर और 'बाधृ' धातु का परस्मैपदीय प्रयोग देखकर वह विद्वान् भारवाह् तिलमिला उठा। बिना विचारे कि कौन बैठा है और किससे बात हो रही है—उसने तत्काल कह दिया कि महाराज, इस समय तो कन्धा उतना कष्ट नहीं दे रहा है जितना कि बाध् धातु का परस्मैपद में प्रयोग। उसका रूप बाधते बनता है वही साधु है। 'बाधति' रूप तिप् लगाकर तब बनता जब कि वह परस्मैपद का होता। नियम विरुद्ध होने से यह प्रयोग असाधु है, अतः दोप है।

शब्देति। शब्दाः शिष्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययविभागपरिकल्पनया ज्ञाप्यन्ते येन तच्छब्दशास्त्रं त्रिमुनिव्याकरणं तेन विरुद्धं तदाम्नातप्रातिस्विकविशेषपरित्यक्तमतो न देशीयपदानामसाधुत्वम्। तथा च प्राच्यैः—'नाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः' इति अन्यकारकवैयर्थ्यमिति, 'सलीलपाणिद्वयलोलनालमानर्तिताताम्रदलं दधन्तीम्' इति च तादृशमेवोदाहृतम्। अत्र केचिदाहुः—'बाधतिधातुं संस्कारप्रच्यावनेन बाधते इति बाधतिबाधस्तस्य सम्बोधनं बाधतिबाधेति। ते तव। वचनमिति शेपः' इति, तदसत्। नेयार्थत्वप्रसङ्गात्। अन्ये तु 'बाधतिर्बाधते यथा' इति पठन्ति। इदं तत्त्वम्। विद्यमानस्यार्थवत्त्वस्याविवक्षायां गविस्ययमाहेत्यादाविव प्रातिपदिकसंज्ञा न प्रवर्तते ॥ ७ ॥

(२ अप्रयुक्त पद-दोप)

कविभिर्न प्रयुक्तं यदप्रयुक्तं तदुच्यते ॥ ७ ॥

यथा—

'कामचीकमथाः केऽमी त्वामजिह्मायकीयिपन्।
स सस्ति किं वचन्तीमे कम्बः शम्बं घरिष्यति ॥ २ ॥'

अत्र 'अचीकमथाः', 'अजिह्लायकीयिषन्', 'सस्ति', 'वचन्ति', 'घरिष्यति', 'कम्वः', 'शम्यम्' इति शब्दानुशासनसिद्धान्यपि कविभिर्न प्रयुज्यन्ते।

अनुवाद—(व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी) जिसका कवियों द्वारा प्रयोग नहीं किया जाता है (उस पद का प्रयोग करने पर जो दोष होता है) उसे अप्रयुक्त दोष कहते हैं ॥ ७ ॥

जैसे तुम दोनों ने किस नायिका को चाहा ? ये कौन हैं जो तुम्हें अपना ह्रायक-दूत बनाना चाहते थे ? वह सोता है। ये क्या कहते हैं ? मेघ तालाब को सींच देंगे–भर देंगे[1] ॥ २ ॥

यहाँ इस श्लोक में 'अचीकमथाः', 'अजिह्लायकीयिषन्', 'सस्ति', 'वचन्ति', 'घरिष्यति', 'कम्वः', 'शम्वम्' ये शब्द व्याकरण के नियमों के अनुसार बनने पर भी कवियों द्वारा प्रयुक्त नहीं होते।

स्व० भा०—व्याकरण के नियमों के विरुद्ध किसी पद का प्रयोग करना तो दोष है ही, किन्तु उसके नियमानुकूल होने पर भी यदि कोई पद सामान्य प्रयोग प्रवाह में नहीं है तो उसका प्रयोग करने पर भी दोष होता है। प्रस्तुत उदाहरण में अनेक पदों का प्रयोग करके बतलाया गया है, कि ये पद व्याकरण के नियमों के अनुकूल होने पर भी दोष मुक्त नहीं हैं। कमि धातु का लुङ् लकार में द्विवचन मध्यम पुरुष में सन्वद्भाव, दीर्घत्व, ह्रस्वत्व आदि के अतिरिक्त णित्व विधान तथा लोप करने से 'अचीकमथाः' पद बनता है। यह व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है, किन्तु इसका प्रयोग कवियों द्वारा नहीं किया जाता। अतः दोष है। इसी प्रकार ह्रायक शब्द से क्यच्, सन् आदि करके लङ् में 'अजिह्लायकीयिषन्' रूप बनता है। 'षस सस्ति स्वप्ने' धातु का लट् अन्य पुरुष में 'सस्ति' रूप नियमानुकूल बन जाता है। 'वच परिभाषणे' धातु से बहुवचन में 'वचन्ति' रूप भी बन ही जाता है। 'कम्' तथा 'शम्' पद जलवाचक हैं। इनसे 'कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः' ५।२।१३८ सूत्र के अनुसार मत्वर्थीय प्रत्यय लगाकर 'कंवः', 'शंवः' रूप बनते हैं। 'घृ सेचने' धातु का भी सामान्य भविष्यत् में एक वचन प्रथम पुरुष का 'घरिष्यति' रूप बनता है। ये सभी रूप अपेक्षित नियमानुसार पूर्ण शुद्ध हैं, दोष इसीलिए है क्योंकि इनका प्रयोग प्रचुरता से कवि-समुदाय में नहीं होता।

भोजराज के पूर्ववर्ती आचार्यों में दण्डी ने इस दोष पर स्पष्ट मति प्रकट की है। अप्रयुक्तत्व-दोष इनको अभिमत 'शब्दहीनत्व' दोष का एक प्रकार कहा जा सकता है।

शब्दहीनमनालक्ष्यलक्ष्यलक्षणपद्धतिः। पदप्रयोगोऽशिष्टेष्टः शिष्टेष्टस्तु न दुष्यति ॥ ३।१४८ ॥

भोज के परवर्ती मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ आदि ने इस दोष को इसी अर्थ एवं रूप में ग्रहण किया है, किन्तु भोज की परिभाषा तथा उदाहरण दोनों सर्वोत्कृष्ट हैं। यह दोष प्रायः पण्डितम्मन्य लोगों में पाया जाता है।

कविभिरिति। अस्ति हि किञ्चित्पदं यत्राप्रयोज्यत्वेनैव हेयता। यद्येवं लोके प्रयुज्यमानस्य साधुतैव प्रसक्ता इत्यत उक्तम्—कविभिरिति। काव्ये यस्याप्रयोज्यत्वमेव दुष्टत्वबीजं तदित्यर्थः। तथाभूता च पदजातिरलङ्कारकारसमयादवसीयते। तथा चैकेन पुंदैवतशब्दोऽपरेण चीर्णशब्द उदाहृतः। एवमन्यदप्यप्रयुक्तमित्याशयवान् किञ्चिदुदाहरति—कामचीकमथा इति। उदाहरणत्वाच्चैकोऽत्र श्लोको गवेष्यः। एकपदमात्रप्रयोगस्तु त्याज्यः समयविरोधाभावादित्याराध्याः। 'अचीकमथाः' इति कमेर्णिङन्तस्य लुङि चङि

---

१. कहीं-कहीं 'शम्वः कम्वम् घरिष्यति' पाठान्तर मिलता है। वहाँ इसका अर्थ होगा कि 'कोई कल्याणवान् पुरुष कपाली को सींचेगा।'

द्विर्वचनसन्वद्भावदीर्घत्वह्रस्वत्वणिलोपेषु रूपम् । कां नायिकां कामितवानसीत्यर्थः । अमी च के स्वामात्मनो ह्वायकमेषितुमिष्टवन्तः । ह्वायकशब्दात् क्यच् । ततः सन् । ततो लङि अजिह्वायकीयिषन्निति रूपम् । स कश्चित् सस्ति स्वपिति । 'षस सस्ति स्वप्ने' इति धातो रूपम् । कम्बः शम्बमिति । कंशंशब्दौ जलवाचकौ ताभ्याम् । 'कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः' इति मत्वर्थीयो बप्रत्ययः । तत्राद्येन जलधरो जलाशयं सेचयतीत्यर्थः । 'शम्बः कम्बन्' इति क्वचित्पठ्यते । तत्र कल्याणवान् कपालिनं सेचयतीत्यर्थो बोद्धव्यः । 'घृ सेचने' इत्यस्य धातोर्घरिष्यतीति रूपम् । स हि धातुः 'घृतघृणाधर्मेभ्यो नान्यत्र युज्यते' इति पूर्वाचार्याः । कविभिरित्यनेनासाधुशङ्का व्यावर्तितेत्याह—शब्दानुशासनसिद्धान्यपीति ।

(३ कष्ट दोष)

पदं श्रुतेरसुखदं कष्टमित्यभिशब्दितम् ।

यथा—

'वर्वर्ष्टि जलदो यत्र यत्र दुर्धर्ष्टि चातकः ।
पोफुल्लुति नीपः कालोऽयं चर्कर्ति हृदयं मम ॥ ३ ॥'

अत्र वर्वर्ष्ट्यादीनि क्रियापदानि श्रुत्यसुखदानि श्रूयन्ते ॥

अनुवाद—(दुर्वाच्य वर्णों से बने पदों का उच्चारण कष्टता से होने के कारण) पद के कर्णप्रिय न होने से अथवा श्रोत्रेन्द्रिय को सुख न देने वाले कर्णकटु पद को कष्ट (अर्थात् कष्टत्व दोष से युक्त) कहा गया है ॥ ८ अ ॥

जैसे—जहाँ-(जब)-बादल बार-बार बरसता है, जब चातक बार-बार धृष्टता करता है,[1] जब खूब कदम्ब फूलता है, वही यह (वर्षा) काल मुझ (विरही) के हृदय को बार-बार टुकड़े-टुकड़े किये दे रहा है ॥ ३ ॥

इस श्लोक में 'वर्वर्ष्टि' आदि क्रिया पद कानों को कष्टप्रद अथवा 'सुखकर नहीं' सुनाई पड़ते हैं।

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण में 'वर्वर्ष्टि', 'दुर्धर्ष्टि', 'पोफुल्लुति', तथा 'चर्कर्ति इन चारो क्रियाओं में रेफ, पकार, टकार, धकार आदि कठोर वर्णों का संयोग हुआ है । इनको पढ़ते ही निकलने वाली संयुक्त ध्वनियाँ कानों को कष्ट ही देती हैं । वाक्य में प्रयुक्त सभी क्रियाओं क्रमशः वृष्, ञिधृष्, अथवा 'दर्द्रष्टि' अवस्था में दृश्, फुल्ल, तथा 'कृती छेदने' के यङ् तथा लुङ् के रूप हैं । यहाँ अनेक पदों के होने से वाक्य दोष की संभावना की जा सकती है, किन्तु वस्तुतः वह है नहीं । एक प्रधान वाक्य में एक ही क्रिया होती है । इस उदाहरण में जितनी क्रियायें हैं उतने ही उपवाक्य हैं । एक वाक्य में एक ही पद कटु है । अतः पददोष ही हुआ ।

आचार्य वामन ने इस दोष को इसी नाम से स्वीकार किया है । उनका 'श्रुतिविरसं कष्टम्' लक्षण भी (२।१।६) लगभग समान ही है । मम्मट ने इसे श्रुतिकटु (का० प्र० ७।२), जयदेव भी यही (चन्द्रा० २।२) तथा विश्वनाथ 'दुःश्रवत्व' नाम (सा० द० ७।२) देते हैं । प्रायः सर्वत्र समान ही भाव है । आचार्य भामह इसे 'श्रुतिदुष्ट' कहते हैं, तथा विभिन्न कारणों से श्रुतिदोष उत्पन्न करने वाले कई पदों का संग्रह भी करते हैं ।[2]

---

१. 'दुर्धर्ष्टि' के स्थान पर 'दर्द्रष्टि' पाठ होने पर अर्थ होगा—'जब पपीहा बार-बार देखता है ।'

२. विड् वर्चोविष्ठितक्लिन्नछिन्नवान्तप्रवृत्तयः । प्रचारधर्षितोद्गारविसर्गहृदयन्त्रिताः ॥
हिरण्यरेता : सम्बाधः पेलवोपस्थिताण्डजाः । वाक्काटवादयश्चेति श्रुतिदुष्टा मता गिरः ॥
काव्यालंकार १।४८-४९

पदमित्यादि। दुर्वचकवर्णारब्धपदं कष्टोच्चारणीयतया कष्टमुच्यते। श्रुतेरसुखदमिति दूषकताबीजोद्घाटनम्। कदर्थिता हि तेन श्रुतिशक्तिर्न तद्वाक्यप्रतीकपरामर्शंचमेति। काव्यप्रकाशकृता पदैकदेशः कष्ट उक्तः, यथा—'तद्गच्छ सिद्ध्यै', 'अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्ध्यै' इत्यत्र 'ध्यै' 'ध्यै' इति, तत्राह—पदमिति। न हि समस्तवस्तुकटुत्व एव पदं कष्टत्वमासादयति। कार्तार्थ्यमित्यादौ तदुदाहृते तदभावात्। एकदेशकष्टतया पदकष्टत्वमिति चात्रापि न दण्डवारितमिति भावः। वर्वर्ष्टि पुनः पुनर्वर्षति। वृषेर्यङ्लुगन्तस्य रूपम्। दर्धर्ष्टि पुनः पुनर्धृष्टो भवति। 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये' इत्यस्य तत्रैव रूपम्। 'दर्दर्ष्टि' इति पाठे दृशेर्यङ्लुक्यमागमे च रूपम्। पुनः पश्यति। नीपः कदम्बः। पोफुल्लुति। 'फुल्ल विकसने' इत्यस्य तत्रैव रूपम्। एवम्भूतो वर्षासमयो मम विदूरकान्तस्य हृदयं चर्कर्ति पुनः पुनरतिशयेन वा छिनत्ति। 'कृती छेदने' इत्यस्य रूपम्। भूयसां कष्टपदानां समभिव्याहाराद्वाक्यदोष इति भ्रान्तिः स्यात्तत्राह—क्रियापदानीति। कथमेवं विभागोऽवसीयत इत्यत आह—श्रूयन्त इति। श्रोत्रप्रत्यक्षेणैव पदमात्रगामितया कष्टत्वमनुभूयते इत्यर्थः।

(४ अनर्थक दोष)

पादपूरणमात्रार्थमनर्थकमुदाहृतम् ॥ ८ ॥

यथा—

> 'बिभर्ति यश्च देहार्धे प्रियामिन्दुं हि मूर्धनि।
> स वै देवः खलु त्वां तु पुनातु मदनान्तकः ॥ ४ ॥'

अत्र 'च' 'हि' 'वै' 'खलु' 'तु' इत्येतानि पदानि पादानेव पूरयन्ति ॥

अनुवाद—(अर्थ में उपयोगी न होने पर भी छन्दोभङ्गता न आने देने के लिए) छन्द की पादपूर्ति के लिए ही किसी पद का प्रयोग करने पर 'अनर्थक पददोष कहा गया है ॥ ८ ॥

जैसे, जो अपने अर्धशरीर में अपनी प्रियतमा पार्वती तथा मस्तक पर चन्द्रमा को धारण करते हैं, वही कामविनाशकदेव भगवान् शिव आपको पवित्र करें ॥ ४ ॥

इसमें च, हि, वै, खलु, तु ये पद केवल चरणों की पूर्ति करते हैं।

स्व॰भा॰—च, हि, तु आदि अव्यय हैं। इनका एक विशेष अर्थ होता है। किन्तु यहाँ पर इनके अर्थों के साथ वाक्यार्थ करना अत्यन्त असुन्दर होगा। अतः इनका प्रयोग केवल उदाहरण के अनुष्टुप् छन्द की छन्दोभङ्गता बचाने के लिए किया गया है। अनुष्टुप् में ८, ८ वर्णों के चार पाद होते हैं। इन अव्ययों का अर्थ न ग्रहण करने से वाक्यार्थ पर तनिक भी असर नहीं पड़ता, किन्तु इन पदों का प्रयोग न करने पर पद्य बन ही नहीं सकता। पाँच वर्णों की कमी बत्तीस वर्ण वाले छन्द में हो जाती और यह उदाहरण गद्यात्मक हो जाता। आचार्यों ने छन्दोभङ्गता बचाने को अधिक महत्त्व दिया है। 'मापस्यापि मषं कुर्यात्, छन्दोभङ्गं न कारयेत्'। इसका प्रमाण है। आश्चर्य है कि भामह, दण्डी, रुद्रट आदि ने इस दोष का उल्लेख नहीं किया है। वामन ने जो परिभाषा दी है—'पूरणार्थमनर्थकम्' (२।१।९) वह भोज के शब्द नाम से तो सारूप्य बताती ही है, उनके पद से अधिक व्यापक भी है। इसी सूत्र की वृत्ति में कथित—'पूरणमात्रप्रयोजनमव्ययपदमनर्थकम्। दण्डापूपन्यायेन पदमन्यदप्यनर्थमेव।' पदों से स्पष्ट है कि अनर्थक किन्तु पादपूर्ति में सहायक ये पद प्रायः अव्यय होते हैं, किन्तु उपचारतः इनके स्थान पर अन्य प्रकार के पदों का भी प्रयोग किया

जा सकता है। जहाँ इनका प्रयोग वाक्यालङ्कारार्थ होता है, वहाँ ये दोष नहीं होते।[1] जयदेव का भी मत है कि—

> दधार गौरी हृदये देवं हिमकराङ्कितम्।
> अत्र श्लेषोदयान्नैव त्याज्यं हीति निरर्थकम्॥ चन्द्रालोक २।४४–५॥

मम्मट और विश्वनाथ ने भी इस दोष को 'निरर्थक' संज्ञा दी है।[2] इन दोनों का भी अभिप्राय भोज जैसा ही है। श्री रत्नेश्वर महोदय ने भोज की इसी पंक्ति की अपनी रत्नदर्पण व्याख्या में अव्यय के अतिरिक्त अन्य प्रकार के पदों की भी निरर्थकता का उल्लेख किया है।

पादपूरणेति। द्योतनीयमर्थमन्तरेण प्रयुक्तमव्ययमनर्थकमभिमतम्, अत एव प्राच्यैश्चादिपदमव्ययमिति प्रयोगबीजकथनार्थं नहि निर्मूलः प्रयोगः सम्भवति वृत्तिनिर्वहणसमर्थः। प्रायेणाव्ययपदानि क्षिप्त्वा तत्पूरयति। तदुक्तम्—'कुकविप्रबन्ध इव श्लिष्टपदप्रचारः। प्रकटतुहिनचयो जनाकीर्णश्च' इति। बिभर्तीति। च समुच्चयादिषु चतुर्षु प्रसिद्धप्रयोगो न च तेषामन्यतमोऽप्यत्र सम्भवति। नाप्युच्चावचार्थकः इति भाषणेनार्थान्तरमपि। एवं हिप्रभृतिष्ववसेयम्। एतेनैतदप्यपास्तम्। यदाहुरेके—पदादिविशेषानुपादानात्पदैकदेशोऽप्यनर्थकोऽभिमतः। तथा च—'आदावञ्जनपुञ्जलिप्तवपुषां श्वासानिलोल्लासितप्रोत्सर्पद्विरहानलेन च ततः सन्तापितानां दृशम्। सम्प्रत्येव निषेकमश्रुपयसा देवस्य चेतोभुवो भल्लीनामिव पानकर्म कुरुते कामं कुरङ्गेक्षणा।' इत्यत्र दृशामिति बहुवचनमनर्थकं कुरङ्गेक्षणाया एकस्या एवोपादानात्। न चात्र व्यापारे दृक्शब्दो वर्तते, अञ्जनपुञ्जलेपादीनामनन्वयापत्तेः। तथा 'कुरुते' इत्यात्मनेपदमनर्थकमकर्त्रभिप्रायक्रियाफलादिति। अपि च। बहुत्वकर्त्रभिप्रायफलाभावे कथनं द्वयोरसाधुत्वमिति राजमार्ग एव भ्रमः। नहि स्वरूपत एव किञ्चिदसाधु साधु वा सम्भवति।

(५ अन्यार्थ दोष)

रूढिच्युतं पदं यत्तु तदन्यार्थमिति श्रुतम्।

यथा—

> 'विभजन्ते न ये भूपमालभन्ते न ते श्रियम्।
> आवहन्ति न ते दुःखं प्रस्मरन्ति न ये प्रियाम्॥ ५॥

अत्र विभजतेर्वण्टने, आलभतेर्मारणे, आवहतेः करणे, प्रस्मरतेर्विस्मरणे रूढिः। न तु विशेषसेवायाम्, अभितो लाभे, समन्ताद्वहने, प्रकृष्टस्मरणे चेति।

अनुवाद—(जब) कोई पद (अपने परम्परया संकेतित अथवा सर्वमान्य अर्थसामान्य का ज्ञान न कराकर), अपने रूढिगत अर्थ से अलग हो जाता है तब वह अन्यार्थ अर्थात् अन्यार्थत्व दोष से युक्त सुना जाता है॥ ९ अ॥

जैसे, जो लोग राजा की विशेष सेवा नहीं करते वे धन अच्छी तरह नहीं पा सकते। उन्हें बहुत अधिक दुःख नहीं होता जो अपनी प्रियतमा की बहुत अधिक याद नहीं करते॥ ५॥

इस छन्द में विभजते क्रिया का बाँटना, आलभते का मारण, आवहति का करना, तथा प्रस्मरण

---

१. द्रष्टव्य–काव्यालंकारसूत्र २।१।१०॥

२. काव्य० प्र० ७।२॥, सा० द० ७।४॥

का विस्मरण अर्थ रूढ है। इनका क्रमशः विशिष्ट सेवा, चातुर्दिक लाभ, भलीभाँति वहन, तथा प्रकृष्ट स्मरण आदि अर्थ (रूढ) नहीं।

स्व० भा०—किसी शब्द का उच्चारण करने पर उसका जो अर्थ अव्यवहित रूप से उपस्थित होता है, वही अभिधेय, वाच्य, मुख्य अथवा संकेतित अर्थ होता है। उसके अन्य अर्थ भी हो सकते हैं, किन्तु उसका एक अर्थ सामान्यतः निर्विवाद रूप से सर्वस्वीकृत होता है। अतः वह अर्थ विशेष उस शब्द-विशेष का रूढ अर्थ हो जाता है। जब कोई प्रयोक्ता उस सर्वमान्य अर्थ को छोड़कर प्रकृति प्रत्यय आदि के आधार पर एक विशेष अर्थ में किसी शब्द का प्रयोग करता है तब अन्यार्थत्व दोष हो जाता है। शब्दशास्त्र के अनुसार-'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥' इस प्रकार उपसर्गभेद के कारण धात्वर्थ में अन्तर आने पर भी, एक अर्थ में उपसर्ग सहित धात्वात्मक पद का एक न एक रूढ अर्थ होता ही है। उस रूढ अर्थ के अतिरिक्त विशिष्ट यौगिक अर्थ करने पर यह दोष होता है।

भामह तथा दण्डी इस दोष के प्रति मौन हैं। पूर्ववर्ती वामन के द्वारा कथित नाम तथा लक्षण दोनों ही भोज ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार 'रूढिच्युतमन्यार्थम्' है। (२।१।१२) स्पष्टता के लिए इसी सूत्र पर वामन की वृत्ति भी दर्शनीय है[1] भोज द्वारा प्रयुक्त 'आवहन्ति' तथा 'प्रस्मरन्ति' पदों का ही प्रयोग है, किन्तु छन्द में किञ्चित् अन्तर है। यह मम्मट, जयदेव तथा विश्वनाथ प्रभृति परवर्ती आचार्यों के दोष 'असमर्थत्व से मिलता' है। इन सबने विभिन्न छन्दों में अथवा छन्दांशों में 'हन्' धातु का गमनरूप अर्थ निकालना असमर्थता माना है। जयदेव का उदाहरण तथा लक्षण दोनों रमणीय हैं—

असमर्थं तु हन्त्यादेः प्रयोगो गमनादिषु। स हन्ति हन्त कान्तारे कान्तः कुटिलकुन्तलः॥ चन्द्रा० २।३-४॥ रुद्रट ने इस असमर्थत्व दोष के चार प्रकार निरूपित किए हैं।[2]

यद्यपि पूर्ववर्ती रुद्रट तथा परवर्ती अनेक आलंकारिकों ने इस दोष का नाम 'असमर्थत्व' जिस दृष्टि से रखा है, कुछ सीमा तक ठीक भी है, किन्तु वामन और भोज द्वारा प्रदत्त नाम 'अन्यार्थ' अधिक स्पष्ट है। यहाँ शब्द की अपेक्षा अर्थ पर अधिक बल प्रतीत होने से इसकी अर्थदोषों में गणना की भ्रान्ति हो सकती है, किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। मूल दोष तो शब्दाश्रित ही है। यदि पद विशेष का प्रयोग न किया जाये तो इस भ्रान्ति की संभावना ही न होती। अतः इसे पददोष ही मानना चाहिए।

---

१. रूढेश्च्युतं रूढिच्युतम्, रूढिमनपेक्ष्य यौगिकार्थमात्रोपादानात्। अन्यार्थं पदम्॥ वही॥ अन्तर यही है कि भोज इसे पददोष मानते हैं और वामन पदार्थदोष। भोज तथा मम्मट आदि के 'असमर्थत्वों' में भी अन्तर है।

२. पदमिदमसमर्थं स्याद् वाचकमर्थस्य तस्य न च वक्तुम्।
तं शक्नोति तिरोहिततत्सामर्थ्ये निमित्तेन ॥
धातुविशेषोऽर्थान्तरमुपसर्गविशेषयोगतो गतवान्।
असमर्थः स स्वार्थे भवति यथा प्रस्थितः स्थाणौ ॥
इदमपरमसामर्थ्यं धातोर्यत्पठ्यते तदर्थोऽसौ। न च शक्नोति तमर्थं वक्तुं गमनं यथा हन्ति ॥
शब्दप्रवृत्तिहेतौ सत्यप्यसमर्थमेव रूढिबलात्। यौगिकमर्थविशेषं पदं यथा वारिधौ जलभृत् ॥
निश्चीयते न यस्मिन् वस्तु विशिष्टं पदे समानेन।
असमर्थं तत्त्व यथा मेघच्छविमारुरोहाश्मम् ॥ काव्यालङ्कार ६।३-७।

रूढिच्युतमिति। शक्तिमनपेक्ष्य प्रयुक्तं रूढिच्युतम्। अत एव यदभिसन्धाय प्रयुज्यते न कथञ्चन यस्यासावर्थ इति अन्वर्थमन्यार्थमिति नाम। एतदेव धातुविशेषोऽवान्तरमुपसर्गविशेषयोगतो योगवानित्यादिनान्यैरुक्तम्। विभजन्त इति। भजिः सेवार्थो विरुपसर्गस्तद्गतविशेषद्योतकस्ततश्च यथा विद्योतत इति। अत्र विशिष्टधात्वनुरूपप्रयोगाभिधानं तथात्रापि भविष्यतीति भ्रमो बीजमत्र शब्दशक्तिस्वभावात्। क्वचिदुपसर्गोपसंदानेन धातुरर्थान्तर एव वर्तते। यदाहुः—'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्॥' इति। तदाह—अत्र विभजतेरित्यादि। नन्वर्थापेक्षित्वे पदार्थदूषणमेवंविधमिति वामनः। नैतत्। पदस्यैवान्वयव्यतिरेकवत्त्वात्। नह्यत्रान्वयस्यापराधः कश्चित्। किं तु शब्द एव वृत्तिस्खलितादिभिरपराध्यति। यदि चार्थापेक्षितामात्रेणार्थदोषत्वं कथमसाधुप्रभृतीनामपि शब्ददूषणता। नहि तानि स्वरूपत एव तथापि त्वर्थविशेषो विशेष एवाश्वगोश्वादिवदिति। अर्थदोषास्तु यथा भवन्ति तथा वक्ष्यामः।

(६ अपुष्टार्थ दोष)

यत्तु तुच्छाभिधेयं स्यादपुष्टार्थं तदुच्यते ॥ ९ ॥

यथा—

'शतार्धपञ्चांशभुजो द्वादशार्धार्धलोचनः।
विंशत्यर्धार्धमूर्धा वः पुनातु मदनान्तकः ॥ ६ ॥

अत्र दशबाहुः, त्रिलोचनः, पञ्चवक्त्र इति तुच्छमेवाभिधेयमतुच्छशब्दैरुक्तमिति अपुष्टार्थम्।

(जब कोई पद इस प्रकार से प्रयुक्त हो कि उसका) वाच्यार्थ तुच्छ हो अर्थात् अपने लिए प्रयुक्त वाचक शब्दों की अपेक्षा अत्यल्प हो, तब वह पद अपुष्टार्थ कहा जाता है ॥ ९ ॥

जैसे—सौ के आधे के पाँचवें अंश अर्थात् दस संख्यक भुजाओं वाले, बारह के आधे के आधे नेत्र वाले, बीस के आधे के आधे शिर वाले भगवान् शंकर आप की रक्षा करें अथवा आप को पवित्र रखें ॥ ६ ॥

यहाँ दस भुजाओं वाले, तीन आँखों वाले तथा पंच मुख यह तुच्छ अर्थात् अल्प वाच्य अर्थ अत्यधिक शब्दों द्वारा कहा गया है। इसीलिए अपुष्टार्थत्व दोष है।

स्व० भा०—वस्तुतः अल्प शब्दों का प्रयोग करके अधिकाधिक अर्थ की प्रतीति कराना हितकर होता है किन्तु जब बहुत शब्दों का प्रयोग करने के बाद भी कम अर्थ निकलता है तब वह पद जितना पुष्ट होना चाहिए वैसा नहीं रह पाता। अतः ऐसी दशा में अपुष्टार्थता दोष होता है। यहाँ दश बाहु, त्रिनेत्र तथा पंचमुख इन विशेषणों को शिव के साथ सम्बद्ध करना था। केवल दस, तीन और पाँच कहने से ही जो काम हो जाता उसी के लिए सौ के आधे पचास का पाँचवाँ भाग, बारह के आधे छः के आधे तीन तथा दस के आधे पाँच का प्रयोग क्रमशः किया गया है। इतने अधिक वाग्जाल का प्रयोग केवल कुछ वर्णों के पदों के लिए किया गया है। अतः यहाँ दोष है।

यत्तु तुच्छाभिधेयमिति। स्तोकशब्दाभिलभ्येऽर्थे बहुतरशब्दबहुलमित्यर्थः। नहि तथा क्रियमाणमल्पीयसीमपि प्रकर्षतां पुष्यति येन त्याज्यं न स्यादित्यपुष्टपदेन सूचितम्। शतस्यार्धं पञ्चाशत्तेषां पञ्चतमोंऽशो दश। समासे पूरणप्रत्ययलोपः।

(७ असमर्थ दोष)

असंगतं पदं यत्तदसमर्थमिति स्मृतम्।

यथा—

'जलं जलधरे क्षारमयं वर्षति वारिधिः।
इदं बृंहितमश्वानां ककुद्मानेष ह्रेषते ॥ ७ ॥'

अत्र जलधरो मेघः, वारिधिः समुद्रः, बृंहितं गजानाम्, ह्रेषितमश्वानामिति लोकप्रसिद्धम्। तदिह समुद्र-मेघ-अश्व-वृषभविषयतया प्रयुज्यमानमसंगतार्थत्वादवाचकमित्यसमर्थम्।

जो पद असंगत हो (अर्थात् जब पदों का परम्परया रूढ अर्थ ग्रहण करने पर योग्यता का अभाव दृष्टिगोचर हो) वह पद असमर्थत्व दोष से युक्त जाना जाता है ॥ १० अ ॥

जैसे—यह मेघ समुद्र पर खारा जल बरसता है। यह घोड़ों की चिग्घाड़ है। यह बैल हिनहिना रहा है ॥ ७ ॥

जलधर शब्द मेघ के लिये, वारिधि समुद्र के लिए, चिग्घाड़ हाथियों का तथा हिनहिनाना घोड़ों का विश्व में विख्यात है। वही यहाँ क्रमशः समुद्र, मेघ, घोड़ा तथा बैल के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह अर्थ संगत न होने से—रूढ़ न होने से, वाच्य नहीं है और न ये शब्द ही इन अर्थों के वाचक हैं। अतः अवाचकत्व होने से यहाँ असमर्थत्व दोष है।

स्व० भा०—मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ आदि द्वारा निरूपित असमर्थत्व दोष भोज के अन्यार्थकत्व के अधिक निकट है, और इनका अवाचकत्व पददोष भोज के असमर्थत्व के बहुत निकट है। इस प्रकार नाम में समानता होने पर भी लक्षण और उदाहरण में बहुत अन्तर है। रुद्रट के द्वारा दिया गया असमर्थत्व का तृतीय उदाहरण और लक्षण इसकी परिभाषा स्पष्ट कर देता है।

शब्दप्रवृत्तिहेतौ सत्यप्यसमर्थमेव रूढिबलात्।
यौगिकमर्थविशेषं पदं यथा वारिधौ जलभृत् ॥ काव्यालंकार ६।६ ॥

इसमें तथा अन्यार्थकत्व दोष में अन्तर स्पष्ट है। अन्यार्थत्व में यौगिक अर्थ की अपेक्षा रूढिगत अर्थ बलवान् होता है और इसमें केवल यौगिक की अपेक्षा यौगिक तथा रूढ़ दोनों। अर्थात् इसमें सबसे प्रथम एक शब्द का यौगिक अर्थ निश्चित किया जाता है। सर्वमान्य परम्परा में आ जाने पर वही पद अर्थविशेष के लिए रूढ़ हो जाता है। पुनः उस रूढ़ परम्परा को तोड़कर यौगिक अर्थ स्वीकार करने पर असमर्थ दोष होता है।

असंगतमिति। कथं पुनरिदमन्यार्थाद्भिद्यते। अत्राराध्याः। अन्यार्थे केवलं योगाद्रूढिर्बलवती। असमर्थे तु केवलयोगाद्योगरूढिः। तदपरे दूषयन्ति। तथापि रूढिच्युतिः साधारण्येव तदवान्तरं विशेषद्वयमन्यदिति। तन्न। भावानवबोधात्। किंचिद्धि पदमपवादकारणबलादवगम्यमानमपि योगमनपेक्ष्यैव क्वचिदर्थविशेषे वर्तते। यथा—गौरिति। नहि गमनस्य वाक्यार्थे प्रवेशः संभवति। किंचित्पुनरसति बाधहेतौ बुध्यमानस्य त्यागायोगाद्योगविशिष्टमेवोपाधिमभिधत्ते। यथा—पङ्कजमिति। तत्राद्यप्रकारे रूढिरेव सर्वस्वमिति तत्परित्यागे रूढिच्युतम्। द्वितीये तु योगमात्रे प्रयुक्तमसंगतं शक्तिशून्ये प्रयुक्तं शक्त्यैकदेशे प्रयुक्तमिति भिन्नोऽर्थस्तदेतत्सर्वं व्याख्यानेन स्फुटयति—अत्र जलधरेति। जलधरादिपदानि जलधारणादिविशिष्टे मेघत्वादौ रूढाभिधानशक्तीनि। कथमेतदवसितमिति चेत्तत्राह—लोकप्रसिद्धमिति। लोकाधीनावधारणत्वाच्छब्दार्थसंबन्धस्येति भावः।

ततश्च यद्विशिष्टस्य योगस्य शक्तिविषयतया न तेन संकेतः। यत्र च समुद्रादौ प्रयोगो न तदुपाधिभिः समुद्रत्वाद्यैः संभूय शक्त्या संकेतः। चारादिपदोपसंदानेन च समुद्रादौ प्रयोग उन्नीयत इत्याह—तदिहेति। अत एव न तदवस्थस्य पदं वाचकमत एव चाक्षमत्वाद-समर्थमिति संज्ञयैव व्यवह्रियत इति संक्षेपः॥

(८ अप्रतीत दोष)

अप्रतीतं तदुद्दिष्टं प्रसिद्धं शास्त्र एव यत्॥ १०॥

यथा—

'किं भाषितेन बहुना रूपस्कन्धस्य सन्ति मे न गुणाः।
गुणनान्तरीयकं च प्रेमेति न तेऽस्त्युपालम्भः॥ ८॥'

अत्र रूपस्कन्ध-नान्तरीयकशब्दयोः शास्त्रप्रसिद्धत्वादन्यत्राप्रतीयमानयोः प्रयोगादप्रतीतम्।

अप्रतीत उस पद को कहा गया है जो केवल शास्त्रों में प्रसिद्ध हो, (लोकसामान्य में नहीं)॥ १०॥

जैसे—बहुत बोलने से क्या लाभ? मुझ रूपस्कन्ध में गुण है ही नहीं। प्रेम ऐसा होता है जिसके लिए गुण आवश्यक है—(गुण व्यापक है)। अतः तुमसे कोई उलाहना नहीं॥ ८॥

रूपस्कन्ध तथा नान्तरीयक इन दोनों ने पदों के शास्त्र में ही प्रसिद्ध होने के कारण तथा लोक में दूसरी जगह प्रकट न होने के कारण, यहाँ प्रयोग होने से अप्रतीतत्व दोष हुआ।

स्व० भा०—प्रस्तुत छन्द में किसी नायक का नायिका के प्रति प्रतिवेदन है। किन्तु उसके द्वारा प्रयुक्त रूपस्कन्ध तथा नान्तरीयक ये दोनों पद क्रमशः बौद्धदर्शन तथा न्यायदर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। बौद्धदर्शन के अनुसार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान इन पांचों का संग्रह मानव है। इनमें रूपस्कन्ध पञ्चेन्द्रिय, पञ्च विषय तथा विज्ञप्ति इन ग्यारह का समूह है। इन पारिभाषिक शब्दावलियों का ज्ञान शास्त्राभ्यासी को ही होगा, लौकिक जनता इनसे अपरिचित है, अतः काव्य में दुर्बोधता आने के कारण दोष होगा। इसी प्रकार 'नान्तरीयक' पद न्यायशास्त्र में 'आवश्यक' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी को दूसरे शब्दों में 'व्यापक' भी कहते हैं। वहाँ पर परामर्शजन्य ज्ञान का महत्त्व अधिक होने से तथा उसका आधार व्याप्यव्यापक का ज्ञान होने से, इसका विशेष महत्त्व है। ऐसे शब्दों का प्रयोग दुष्ट माना गया है।

रुद्रट द्वारा भी अप्रतीतत्व दोष स्वीकार किया गया है। (द्रष्टव्य काव्यालंकार ६।२, ११-१३॥) किन्तु इनका अप्रतीतत्व भोज के अप्रतीतत्व से सर्वथा भिन्न है। वामन द्वारा निर्दिष्ट यह दोष भोज से पूर्णतः मिलता है। लगता है भोज ने उदाहरण भी वामन से ही लिया था, क्योंकि दोनों के ग्रन्थों में एक ही उदाहरण का छन्द है।[1] परवर्ती आलंकारिकों का भी मत भोज के अनुकूल ही है।

लोक तथा शास्त्र दोनों ओर प्रयुक्त होने वाले शब्दों से बने छन्द आदि का अर्थज्ञान अज्ञात शब्द के कारण व्यवहित हो जाता है। अतः दोष होता है। अप्रयुक्तत्व दोष में शब्दशास्त्र से सिद्ध पदों का प्रयोग प्रवाह में न होने के कारण प्रयोग करने पर दोष होता है, जब कि इसमें शब्द

---

१. द्रष्टव्य-काव्यालंकारसूत्र २।१।८॥

पारिभाषिक होते हैं, शास्त्रज्ञ लोग प्रयोग भी करते हैं, किन्तु लोकव्यवहार में न होने के कारण दोषाधान होता है।

अप्रतीतमिति। शास्त्रमात्रप्रसिद्धं शास्त्रव्यवहारिभिः संकेतितमित्यर्थः। प्रतीताप्रतीतसमभिव्याहाररूपं हि वाक्यमशास्त्रज्ञविषयं प्रयुक्तमभिमतार्थप्रतीतिं न जनयितुमीष्टे। तत्राप्रतीतानामेवापराधोऽतः परिस्खलनखेददायितया भवति दुष्टत्वम्। अत एवाप्रयुक्ताद्बहिर्भावः। किं भाषितेनेति। रूपस्कन्धत्वाचोयुक्तिः सौगतसमयप्रसिद्धा। तेषां रूपं वेदना संज्ञा संस्कारो विज्ञानमिति पञ्च स्कन्धाः। तत्रापि रूपस्कन्धपदार्थ एकादशपदार्थकः। पञ्चेन्द्रियाणि पञ्च विषया विज्ञप्तिरेकादशीति प्रक्रिया। अन्तरमिति विनार्थे गहादौ पठ्यते। 'तत्र भवः' इति छे स्वार्थिके च कनि नञ्समासे पृषोदरादित्वान्नलोपाभाव इति भाष्यटीका। प्रेम्णो व्यापका गुणा न सन्ति मे न च व्यापकमन्तरेण व्याप्यं भवतीति व्यापकानुपलब्धिप्रयुक्तत्वात्प्रेमाभावस्य तथोपालम्भे वाच्यता नास्तीति भावः। शास्त्र एवेत्यवधारणेन यद्व्यावर्त्यते तदाह—अन्यत्रेति। लोक इत्यर्थः।

(९ क्लिष्ट नामक दोष)

दूरे यस्यार्थसंवित्तिः क्लिष्टं नेष्टं हि तत्सताम्।

यथा—

'विजितात्मभवद्वेषिगुरुपादहतो जनः।
हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमाभिनन्दति॥ ९॥

अत्र विना गरुत्मता जित इन्द्रस्तस्यात्मभवोऽर्जुनस्तस्य द्वेषी कर्णस्तस्य गुरुः सूर्यस्तत्पादैरभिहतो लोक आकाशमभिनन्दति। कीदृशम्। हिमापहो वह्निस्तस्यामित्रो जलं तद्धारयन्ति ये मेघास्तैर्व्याप्तमिति व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टमेतत्।

जिसका अर्थज्ञान विलम्ब से हो सके उसे क्लिष्ट (कहते हैं।) यह निश्चित ही सज्जनों-सहृदय रसिकों को अभीष्ट नहीं॥ ११अ॥

जैसे—गरुड के द्वारा जीते गये इन्द्र के पुत्र अर्जुन के द्वेषी कर्ण के गुरु सूर्य की किरणों से अभिहत लोक शीत को नष्ट करने वाले अग्नि के शत्रु जल को धारण करने वाले मेघों से व्याप्त आकाश का अभिनन्दन करता है॥ ९॥

अर्थात् सूर्य के ताप से आहत व्यक्ति बदली चाहता है।

इस छन्द में वि अर्थात् पक्षी गरुड के द्वारा पराजित इन्द्र के पुत्र जो अर्जुन उनके द्वेषी कर्ण और कर्ण के पिता सूर्य उनके किरण चरणों से व्याकुल लोक आकाश का स्वागत करता है। (वह) किस प्रकार के आकाश को चाहता है, यह कहते हैं—हिम-शीत-को नष्ट करने वाले अग्नि का शत्रु जो जल हैं, उस जल को ये जो धारण करने वाले मेघ हैं उनसे व्याप्त आकाश को इसमें अर्थ का ज्ञान साक्षात् संकेतित न होकर व्यवधानपूर्वक परम्परया होता है। अतः यह क्लिष्टत्व दोष से युक्त होता है।

स्व० भा०—भामह, दण्डी और रुद्रट इस दोष पर मौन हैं। वामन ने पदार्थ दोषों में इसे अन्तिम माना है। भोज ने तो इनकी परिभाषा की पूरी शब्दावली ही व्याख्या में उतार दी है।

'व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टम्' यह भोज की वृत्ति का अन्तिम अंश है और वामन की परिभाषा भी[1] मम्मट तथा विश्वनाथ की भी परिभाषायें समान ही हैं, मात्र वर्णों का अन्तर है। जयदेव की परिभाषा भाव को और भी अधिक स्पष्ट कर देती है।

क्लिष्टमर्थो यदीयोऽर्थश्रेणितः श्रेणिमृच्छति ।
हरिप्रियापितृवारिप्रवाहप्रतिमं वचः ॥ चन्द्रालोक २।१२॥

अर्थात् इसमें अर्थ श्रृङ्खलाबद्ध रूप में एक दूसरे से सम्पर्क जोड़ता चला जाता है।

भोजराज ने उदाहरण का छन्द दण्डी के काव्यादर्श के प्रहेलिका प्रकरण (३।१२०) से उद्धृत किया है। भारवि ने भी किरातार्जुनीयम् के प्रथम सर्ग में 'अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः' आदि पदों का प्रयोग इसी प्रकार किया है। तेल मँगाने के लिए दासी को सूचना देती हुई नायिका की हिन्दी उक्ति दर्शनीय है—

'बाजीवाहन तासु रिपु ता रिपु तुरत मँगाव। आज श्याम सो मिलन है यह श्रृङ्गार सजाव ॥'

इस प्रकार के साहित्यिक प्रयोग चामत्कारिक हैं गुप्त संकेत के लिए उपयोगी भी, किन्तु क्लिष्टता के कारण साहित्यिक क्षेत्र में त्याज्य हैं। यानी बौद्धिक व्यायाम बहुत अपेक्षित है।

दूर इति। दूरं चिरं विलम्ब इत्यनर्थान्तरम्। क्लेशो द्विविधः—पदविषयः, वाक्यविषयश्च। आद्यः सामान्यशब्दस्य प्रकरणादिकमनपेक्ष्य क्वचिदभिप्रेतविषये प्रयोगः। तथा सति वाचकतायामपि झटिति प्रतिपत्तिर्न भवति। किं तु परस्परान्वयपर्यालोचनया चिरेणेति विरसत्वम्। यदाह—'नेष्टं हि तत्प्रसितानाम्' इति, अयमेवार्थो व्यवधानपदेन वामनादिभिरुक्तः। द्वितीयस्तु व्याकीर्णादिपदेनान्यथा वक्ष्यते—विजितेति। विशब्देन पक्षिसामान्यवचनेन तद्विशेषो गरुडात्मा विवक्षितः। तज्जितोऽपि विशेष एव। एवमन्यत्रापि। न चात्रापि किंचिज्झटिति प्रतीत्यनुगुणं नियमकारणमस्तीति युक्तमेव व्यवधानम्। हिमापहो वह्निरिति हन्तेर्डंप्रत्यये रूपम्। तथा च चन्द्रगोमी डप्रकरणे 'हन्तेर्डः' इत्येव सूत्रितवान्। हिमापहो वह्निरिति क्विपि व्यभिचारं दृष्ट्वा 'ब्रह्मभ्रूण-' इत्यादि सूत्रितं चन्द्रगोमिना।

(१० गूढार्थ दोष)

गूढार्थमप्रसिद्धार्थं प्रयोगं ब्रुवते बुधाः ॥ ११ ॥

यथा—

'सहस्रगोरिवानीकं भवतो दुःसहं परैः।
हरेरिव तवाभान्ति नान्यतेजांसि तेजसि ॥ १० ॥'

सहस्रगुशब्देन सहस्राक्ष उक्तः। न च गोशब्दस्याक्षिण भूयसी प्रसिद्धिः। हरिशब्देन च सहस्रांशुः सोऽपि न तेन नाम्ना बहुभिरुच्यत इति गूढत्वम्।

विद्वान् उस प्रयोग को गूढार्थत्व दोष से युक्त मानते हैं जिसमें (किसी अनेकार्थक शब्द का) अप्रसिद्ध अर्थ ग्रहण किया जाता है ॥ ११ ॥

जैसे—(कोई वन्दी राजा से कहता है, हे महाराज!) सहस्राक्ष इन्द्र की सेना की भांति आपकी भी सेना शत्रुओं को असह्य है। हरि-सूर्य की भांति आपके भी तेज में दूसरों के तेज ज्ञात ही नहीं पड़ते ॥ १० ॥

---

१. द्रष्टव्य-काव्यालंकारसूत्र २।१।२१॥

इस छन्द में सहस्रगु शब्द से सहस्राक्ष इन्द्र कहे गये हैं। गो शब्द की अत्यधिक ख्याति नेत्र अर्थ में नहीं है। इसी प्रकार हरि शब्द का भी यहाँ सहस्रांशु सूर्य अर्थ अभीष्ट है, किन्तु वह भी इस नाम से बहुत लोगों द्वारा अभिहित नहीं होते। इसी से गूढ़ता है।

स्व० भा०—भोज की परिभाषा में प्रायः वामनोक्त शब्द ही हैं। फिर भी, वामन का लक्षण अधिक ठोस एवं श्लिष्ट है।[1] इनके उदाहरण का पूर्वार्द्ध भी वामन से ही है। मम्मट आदि ने इस दोष को निहतार्थ दोष कहा है। अपनी अपनी दृष्टि से दोनों द्वारा किया गया नामकरण उचित ही है। 'गौः शराक्षिपयःस्वर्गपशुभेदवचःसु च' तथा 'हरिः कृष्णे च सिंहे च भेकार्कभुजगेषु च' इन वचनों से गौ तथा हरि का क्रमशः अक्षि तथा सूर्य अर्थ होता तो है, किन्तु इनकी प्रसिद्धि गाय तथा कृष्ण के अर्थ में अधिक है। अतः अप्रख्यात अर्थ प्रयुक्त होने से गूढार्थत्व दोष हुआ।

अप्रयुक्तत्व तथा इस दोष में अन्तर पद के प्रयोग की मात्रा का है। यहाँ अप्रसिद्ध रहने पर भी इसका प्रयोग प्रायः होता ही रहता है, जब कि प्रथम में लगभग नहीं।

गूढार्थमिति। यस्य पदस्य द्वावर्थौ सिद्धश्चासिद्धश्च तच्चेदप्रसिद्धे प्रयुक्तं तदा गूढार्थम्। अप्रसिद्धार्थं प्रयोगमिति। अप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगो यस्येति गमकत्वाद्बहुव्रीहिः। तव तेजसि नान्यतेजांसि भान्तीति योजना। 'गौः शराक्षिपयःस्वर्गपशुभेदवचःसु च' इत्याम्नातोऽपि तथा नाक्षिण प्रयुज्यते यथा पशुभेदादावित्याह—न च गोशब्दस्येति। 'हरिः कृष्णे च सिंहे च भेकार्कभुजगेषु च' इति स्वसंकेतितस्यापि हरिशब्दस्य न तथा रवौ प्रसिद्धिर्यथान्यत्रेत्याह—सोऽपि नेति।

(११ नेयार्थत्व दोष)

स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थं नेयार्थमिति कथ्यते।

यथा—

'मुखांशवन्तमास्थाय विमुक्तपशुपङ्क्तिना।
पङ्क्त्यनेकजनामध्रतुका जित उलूकजित्॥ ११ ॥

अत्र पङ्क्तिशब्देन दशसंख्या, अनेकजनामेत्यनेन चक्रम्, तद्ध्र इत्यनेन रथस्ताभ्यां दशरथस्तस्य तुक् बालको लक्ष्मणस्तेन जित उलूकजिदिन्द्रजित्। किं कृत्वा। मुखांशवन्तमास्थाय हनुमन्तम्। किंभूतेन। विमुक्तपशुपङ्क्तिना विमुक्तेषु पशुपङ्क्तिना। अत्र पशुशब्देन गोशब्दो लक्ष्यते तेनेषवस्तदिदं स्वसंकेतकल्पितार्थं नेयार्थमुच्यते॥

जब किसी शब्द के वाच्य अर्थ की कल्पना की जाती है तब नेयार्थत्व दोष होता है॥ १२ अ॥

जैसे—मुख के एक अंश हनु से संयुक्त अर्थात् हनुमान् के सहारे पशु अर्थात् गो, तदर्थक बाणों के समूह को छोड़ने वाले, पंक्ति-दश तथा एक से अधिक दो जन्म वाले द्विज पक्षी चक्र को धारण करने वाले रथ अर्थात् दशरथ के पुत्र लक्ष्मण ने इन्द्रजित् मेघनाद को परास्त कर दिया॥

इस छन्द में पङ्क्ति शब्द से दस की संख्या, अनेकजनाम (अनेक + ज = द्विज + नाम = चक्र) इस पद से चक्र, तद्ध्र पद से रथ और इन दोनों के साथ अर्थात् दशरथ, उनके पुत्र लक्ष्मण के द्वारा जीता गया उलूकजित् मेघनाद। क्या करके? मुख के अंश से संयुक्त नाम वाले हनुमान् का

---

१. वही २।१।१४॥

सहारा लेकर। किस प्रकार के? विमुक्त पशुपङ्क्ति अर्थात् छोड़ छोड़कर बाणों को। यहाँ पशुशब्द से गौ पद लक्षणा से प्राप्त होता है और उस गोपद से बाण। यह वही अपने वाच्य अर्थ की कल्पना कराने वाला पद नेयार्थत्व दोष से संयुक्त कहा जाता है ॥ ११ ॥

स्व० भा०—कहने का अभिप्राय यह है कि यहाँ शब्द का संकेतित अर्थ स्वयं प्रकट नहीं होता है अपितु अर्थ की कल्पना की जाती है। यहाँ कल्पना शब्द अपना महत्त्व रखता है क्योंकि यह कल्पित अर्थ न तो स्पष्टरूप से संकेतित अर्थ ही होता है और न लक्ष्यार्थ ही। यदि संकेतित अभिधेय अथवा वाच्य होता तो कल्पना की आवश्यकता ही न पड़ती और यदि लक्ष्यार्थ होता तो रूढि अथवा प्रयोजन होता। इसीलिए अर्थ कल्पनीय होता है।

इसी उदाहरण के श्लोक में प्रत्येक पद का अर्थ कल्पित ही है। वस्तुतः मुख के अंश के रूप में हनु ही कल्पित किया गया जब कि कोई भी भाग लिया जा सकता था। इसी भांति पङ्क्ति एक दशाक्षर छन्द है जिससे दश संख्या ग्रहण की गई। अनेकज पद भी द्विजवाचक और द्विज भी पक्षीवाचक, न कि दाँत, ब्राह्मण या चन्द्रमा, स्वीकार किया गया। यह पक्षी भी चक्रवाक और उसका भी पूर्वार्द्ध मात्र चक्र। चक्रध्र तो विष्णु भी कहे जा सकते थे, किन्तु उसका भी अर्थ रथ ही लिया गया। तुक् शब्द जहाँ अनेकार्थक है, वहीं उसका अर्थ पुत्र ही लिया गया और यह पुत्र भी लक्ष्मण को छोड़ कर और किसी को नहीं माना गया। इस तरह से कहीं लक्ष्मण अर्थ की कल्पना की जा सकी। वस्तुतः यह संकेतित अर्थ नहीं है, अपितु यही कल्पित किया गया है।

आचार्य वामन ने लगभग भोज के ही शब्दों में नेयार्थत्व की परिभाषा दी है। (२।१।१३)। उनके उदाहरण में शब्द दूसरे अवश्य हैं किन्तु भोज के उदाहरण के अर्थ सा ही उससे भी अर्थ निकलता है। मम्मट, जयदेव तथा विश्वनाथ भी प्रकारान्तर से इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

स्वसंकेतेति। कल्पितार्थं नेयार्थमिति सूत्रयित्वा वामनेन व्याख्यातम्। अश्रौतस्यार्थस्य कल्पना कल्पनाकल्पितार्थम्। अस्यार्थः—यत्पदं नानार्थस्वपर्यायलक्षणया विवक्षितप्रतीतिपर्यन्तं नीयते तत्कल्पितार्थमिति केचित्। तदयुक्तम्। स्वपर्यायेत्यस्य व्यर्थत्वादव्यापकत्वाच्च। तस्मात्प्रयोजनं विना लक्षणया प्रयुक्तमित्येवार्थः। यदाह काव्यप्रकाशकारः—नेयार्थेयत्स्वशक्तित इति यस्मिन्निपिद्धं लाक्षणिकमिति। प्रयोजनं विना रूढं लक्षणापरिग्रहे न दोषः। तथा च द्विरेफरथाङ्गनामादिपदानां रेफद्वयानुगतभ्रमरादिशब्दलक्षणाद्वारेण षट्पदादौ वृत्तिर्वृद्धव्यवहारपरम्परानुपातिनीति तेषां प्रयोगोऽयुक्त एव। अत एव 'तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वालेव भित्त्वा जलमुल्ललास' इत्यादिकमपि नेयार्थमिति काश्मीरकाः। तदेतत्स्वपदेन दर्शितवान्। मुखस्यांशो हनुरत्राभिमतः। पङ्क्तिरिति दशाक्षरं छन्दः दशसंख्या लक्ष्यते। अनेकजो द्विजश्चक्रवाकस्तस्य नाम चक्रं रथैकदेशस्तद्धारयतीति धारयतेर्मूलविभुजादित्वात्कः। ताभ्यामिति। पङ्क्तिरनेकज इति नाम यस्येत्यर्थात्। तुक् तोकं तोकममित्यपत्यनामानि। उपलक्षणतयैकदेशं व्याचष्टे। अत्र पशुशब्देन गोशब्दो लक्ष्यत इति प्रकृतापेक्षया। तेनेषवः प्रत्यायन्त इति शेषः॥

(१२ संदिग्धत्व दोष)

न यत्पदं निश्चयकृत् संदिग्धमिति तद्विदुः ॥ १२ ॥

यथा—

'नीललोहितमूर्तिर्यो दहत्यन्ते जगत्त्रयम्।
स एष हि महादेवस्त्रिषु लोकेषु पूज्यते ॥ १२ ॥'

अत्र वह्निरर्कः शिवो वेति न निश्चीयते ॥

जो पद एक निश्चित अर्थ नहीं देता उसे संदिग्ध अथवा संदिग्धत्व दोषसे युक्त जाना जाता है ॥

जैसे—नीलरक्त वर्ण का जिसका रूप है, जो अन्त में तीनो लोकों को जला डालता है, वही यह बहुत बड़ा देवता है, जो तीनो लोको में पूजा जाता है ॥ १२ ॥

इस उदाहरण में (ये विशेषण) अग्नि, सूर्य अथवा शिव हैं यह निश्चित नहीं है।

स्व० भा०—यहाँ पद का स्वरूप ही बाधित है। ये सभी विशेषण सबके साथ जा सकते हैं। प्रलयकाल में अत्यन्त प्रवृद्ध, सूर्य, अग्नि, शिव ये सभी दाहकता के कारण एक से ही हो जाते हैं। यहाँ प्रकरण संदिग्ध है। वक्ता, तथा बोद्धा का संयोग और स्वरूप अज्ञात है। इन विशेषणों का प्रयोग किसके लिए हुआ, यह निश्चित ज्ञात नहीं होता।

भामह और दण्डी इस दोष को ससंशय संज्ञा देते हैं।[1] रुद्रट का चतुर्थ प्रकार का असमर्थत्व दोष ससंशय ही है।[2] वामन ने संदिग्धत्व को (२।२।२०) वाक्यदोष माना है। मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भोज के सदृश ही लक्षण दिये हैं।

ससंशय अथवा संदिग्धत्व दोष तथा संदेह अलंकार इन दोनों में अन्तर है। प्रथम भेद तो यही है कि एक दोष है और दूसरा अलंकार-शोभादायक। सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्रथम में अपनी क्षमता के कारण रचनाकार अपने लक्ष्य को स्पष्ट रूप नहीं दे पाता है, जब कि द्वितीय में वह अपनी प्रतिभा के द्वारा संशय उत्पन्न करके चमत्कार पैदा करता है। दोष इसीलिये होता है, क्योंकि कवि प्रयोग तो करना चाहता है निर्णयार्थ किन्तु वहाँ असफल रहता है। इस प्रकार ससंशय दोष और संदेह अलंकार में लक्ष्य का ही महान् अन्तर हो जाता है। दण्डी ने यही तथ्य स्पष्ट किया है—

ईदृशं संशयायैव यदि जातु प्रयुज्यते।
स्यादलंकार एवासौ न दोषस्तत्र······ ॥ काव्यादर्श ३।१४१॥

न यत्पदमिति। पदस्वरूपमेव संदिह्यमानमत्र। तथाहि—स एष हि महादेव इत्यत्र स किमेष हि महादेव इति च्छेदो विधीयतां महादेव इति वा साधकबाधकप्रमाणाभावे संदिह्यते। न च विशेषणनियमहेतुः। वह्न्यर्कावपि हि भगवतो नीललोहितमूर्तिभूतौ हिमापहौ च न निश्चयकृदिति दूषणताबीजप्रदर्शनम्। यद्येको विवक्षितस्तदा दोषः। साधुचर इत्यत्रापि 'भूतपूर्वे चरट्' इति चरट्प्रत्यये किं पूर्वं साधुरथवा चरेष्टप्रत्यये साधुषु चरतीति पदमेव संदिह्यते तेन पदावयवः संदिग्ध इति केनचिदुक्तम्, तदप्यपास्तम् ॥

(१३ विरुद्ध अथवा विरुद्धार्थ प्रकल्पन दोष)

विपरीतं विरुद्धार्थप्रकल्पनमिहोच्यते।

यथा—

'अनुत्तमानुभावस्य परैरपिहितौजसः।
अकार्यसुहृदोऽस्माकमपूर्वास्तव कीर्तयः ॥ १३ ॥'

अत्र अनुत्तमा इत्यनेन यथोत्कृष्टस्तथापकृष्टोऽपि। अपिहितमित्यनेन यथा नाच्छादितं तथाच्छादितमिति। अकार्यसुहृदित्यनेन यथाकार्यमन्तरेण सुहृदेव-

१. काव्यालंकार ४।१, १८, १९॥ काव्यादर्श ३।१२५।१३९–४०॥
२. काव्यालंकार ६।७॥

मकार्ये यः सुहृत् सोऽप्युच्यते । अपूर्वाः कीर्तय इत्यनेन यथाद्भुताः कीर्तय एवमकीर्तयोऽप्युच्यन्ते ॥

विरुद्ध, विरुद्धार्थ प्रकल्पन अथवा व्यर्थत्व दोष उस पद में होता है जिसके अर्थ पूर्णतः विपरीत–(एक अर्थ के सर्वथा प्रतिकूल) होते हैं ॥ १३अ ॥

जैसे—सर्वोत्कृष्ट कर्मों वाले, शत्रुओं से अनाच्छन्न प्रताप वाले, बिना प्रयोजन के ही हमसे मैत्रीभाव रखने वाले आपकी कीर्ति अनोखी है। (विपरीत अर्थकल्पना में इसका दूसरा अर्थ यह होगा)—निकृष्ट कर्म करने वाले, शत्रुओं से अभिभूत प्रभाव वाले, अपकर्म के साथी अथवा हमारे कामों में साथ न देने वाले आपको कीर्ति अपूर्व है—अर्थात् अवर्ण है पूर्व में जिसके वह अकीर्ति है ॥ १३ ॥

इस छन्द में अनुत्तम पद से जिस प्रकार उत्कृष्ट अर्थ निकलता है उसी प्रकार अपकृष्ट भी, अपिहितं से जिस प्रकार अनावृत उसी प्रकार आवृत (भी अर्थ ज्ञात होता है।) . अकार्यसुहृद् पद से जैसे काम के बिना भी मैत्रीभाव रखने वाला, उसी भांति अपकर्म में जो साथी है यह भी अर्थ निकलता है। 'अपूर्वाः कीर्तयः' इस पद द्वारा जैसे अद्भुत यश उसी प्रकार अकीर्ति–अपयश–अ है पूर्व में जिसके ऐसी कीर्ति अर्थात् अकीर्ति भी उक्त होती है।

स्व० भा०—यहाँ निर्दिष्ट क्रम में प्रायः प्रत्येक पद के जो अर्थ निकल रहे हैं वे परस्पर विरोधी हैं। व्याकरण के ग्रन्थों में तो 'सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचिनः' तक की व्यवस्था है, किन्तु यह देखा जाता है कि एक पद एकाधिक अर्थों का प्रत्यायन कराने में समर्थ है। कहीं कहीं ये अर्थ परस्पर भिन्न होते हैं और कहीं सर्वथा विपरीत। एक पद की भिन्नार्थता देखी जा चुकी है, आगे भी देखी जायेगी, किन्तु विपरीत अर्थ तो यहीं उपस्थित है। अनुत्तम आदि पद सर्वथा विपरीत अर्थों के वाचक हैं। ऐसी स्थिति में जहाँ एक ओर चमत्कार प्रतीत होता है, वहीं अर्थ का अनर्थ संभव होने से दोष भी है। 'विरुद्धार्थों में किसको ग्रहण किया जाये' इस प्रकार का सन्देह भी उपस्थित होता है। किन्तु इस दोष में तथा संदिग्धत्व में महान् अन्तर है। संशय में अर्थों के अनेक विशेष्य संभव होने पर भी विरोध नहीं होता है। पूर्वोक्त उदाहरण में ही नीललोहितत्व आदि गुण अग्नि, सूर्य तथा शिव में से किसी के भी साथ संयुक्त हो सकते हैं, किन्तु यहाँ दोनों अर्थ पूर्णतः विरोधी ही हैं। दूसरी बात यह भी है कि संदिग्धत्व में प्रायः विशेषण समानता के प्रतिपादक होते हैं, विरोध के नहीं और अनिश्चय भी प्रायः विशेष्य के प्रति ही होता है।

भामह और दण्डी का व्यर्थत्व दोष इससे मिलता है। उनको व्यर्थ का 'वि' उपसर्ग विरोध अथवा विरुद्ध अर्थ में अभीष्ट है, अभाव के अर्थ में नहीं ॥ द्रष्टव्य है काव्यालंकार के चतुर्थ परिच्छेद का नवम छन्द—

विरुद्धार्थं मतं व्यर्थं विरुद्धं तूपदिश्यते। पूर्वापरार्थव्याघाताद्विपर्ययकरं यथा ॥

दण्डी ने भी 'विरुद्धार्थतया व्यर्थमिति दोषेषु पठ्यते' (३।१३१) कहा अवश्य है किन्तु दोष वाक्य तथा प्रबन्ध में माना है। यही भाव भामह का भी है जो उनके उदाहरण छन्द ४।१० से स्पष्ट है। वामन ने भी 'विरुद्ध' अर्थ में ही 'व्यर्थ' दोष माना है। इनको भी यह दोष वाक्यगत ही मान्य है। मम्मट आदि भोजराज के अनुसार ही अपना मत प्रकट करते हैं।

भामह दण्डी आदि आलंकारिकों ने देश, काल, कला, लोक, न्याय और आगमविरोधी दोष माना है। भोज इस रूप में इन्हें नहीं मानते। तथापि 'व्यर्थ' और 'विरोध' के अन्तर का आधार क्रमशः प्रबन्ध या वाक्य के पर्यालोचन तथा प्रकरण-पर्यालोचन के बाद होने वाला आभास है।

इसी प्रकार इनको मान्य 'अपार्थ' में दुष्टत्व का कारण आकांक्षा आदि के अभाव में न होने वाला शाब्दबोध है तथा व्यर्थ में शाब्दबोध के अनन्तर अर्थविरोध दृष्टिगोचर होता है।

विपरीतमिति। विपरीतं प्रकृतोपमर्दकमर्थकल्पनं यत्र। तथा हि—अनुत्तमेत्यादौ प्रकरणादिभिः स्तुतिपरत्वे व्यवस्थिते उत्तमत्वाभावादिना विरुद्धेनार्थेन तत्र पर्यवसाययितुं न शक्यते। संशयं युगपद्विवक्षायामपि न विरोधः। इह तु स्तुतिनिन्दयोर्यौगपद्यमसंभावितमत एवैकस्य संभवे स्वपरस्य बाध एव। यथा—'चिरकालपरिप्राप्तलोचनानन्ददायिनः। कान्ता कान्तस्य सहसा विदधाति गलग्रहम्॥' इति गलग्रहशब्दस्य कण्ठग्रहप्रतिद्वन्द्विन्यर्थे विवक्षिते पूर्वप्रक्रान्तानन्ददायित्वं बाध्यते। अत्रानुत्तम इति बहुव्रीहितत्पुरुषाभ्यामपिहितमिति 'वष्टि भागुरिः' इत्यादिना विकल्पेनाकारलोपविधानात्। अपूर्वा इति पक्षान्तरेऽकारपूर्वाः। नियामकसद्भावे तु गुण एव। यथा—'अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलाम्' इति शब्दरूपान्तरमेव विरुद्धोपचायकमित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्ददोषताव्यवस्थितिः॥

(१४ अप्रयोजक दोष)

अप्रयोजकमित्याहुरविशेषविधायकम् ॥ १३ ॥

यथा—

'तमालश्यामलं क्षारमत्यच्छमतिफेनिलम्।
फालेन लङ्घयामास हनूमानेष सागरम्॥ १४॥'

अत्र तमालश्यामलमित्यादीनि सागरविशेषणानि तानि न हनूमतो लङ्घनेऽतिशयं सूचयन्ति॥

अप्रयोजक दोष तब कहा गया है (जब प्रयुक्त पद से कर्त्ता आदि में) विशिष्टता का विधान नहीं हो पाता॥ १३॥

जैसे—हनुमान् एक ही उछाल में तमाल के सदृश नीले, खारे, अत्यन्त निर्मल, खूब फेन से भरे हुये समुद्र को लांघ गए॥ १४॥

इस छन्द में प्रयुक्त तमालश्यामल आदि सागर के विशेषण हैं। वे हनुमान् द्वारा लाँघने की विशेषता अथवा महत्त्व नहीं सूचित करते।

स्व० भा०—वस्तुतः कवि द्वारा प्रयुक्त वे ही पद प्रशस्त माने जाते हैं जो वाक्य में अर्थ को चरमसीमा तक उत्कृष्टता प्रदान करें। यदि उनके प्रयोग से कोई विशेषता नहीं आती तब तो परिश्रम व्यर्थ ही है। यहाँ परिश्रम की व्यर्थता पर सहृदय को उतना क्षोभ नहीं होता जितना शब्दराशि की निरर्थकता अथवा अनुपादेयता पर। यदि सागर की सुन्दरता को नहीं अपितु इसकी दुर्लंघ्यता को बताने वाले पदों का प्रयोग करके तब हनुमान् के कृत्य का निरूपण होता तब विशिष्टता आती। कार्य के दुष्कर होने पर ही उसे साधने वाला विशिष्ट होता है।

विशिष्टताधायक न होने पर भी इन प्रयुक्त पदों को अनर्थक दोष में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता क्योंकि वहाँ पादपूरक पदों का अर्थ ही ग्रहण नहीं किया जाता। यहाँ अर्थ होता है, केवल वह विशिष्टता लाने में असमर्थ होता है। उसकी यह असमर्थता ही दोष है। वह दोष भोज की अपनी उद्भावना है।

अप्रयोजकमित्याहुरिति। तदेव हि कवीनामुपादेयं यद्वाक्यार्थे प्रकृष्टकाष्ठां पुष्णाति। अन्यथानङ्गाभिधानेऽवाच्यवचनमेव स्यादसार्थकत्वादनन्वयत्वाच्च। न वृत्तपूरणमात्र-प्रयोजनता नातिशयमिति। सागरलङ्घनद्वारा हनूमतः प्रकर्षो वाच्यः। न च तमाल-श्यामलत्वादिविशेषणानि कथंचित्प्रकर्षमर्पयन्ति यानि दूरत्वादीनि तथा न तेषामुपादानम् ॥

(१५ देश्यदोष)

तद्देश्यमिति निर्दिष्टं यदव्युत्पत्तिमत् पदम् ।

यथा—

'गल्लौ लावण्यतल्लौ ते लडहौ मडहौ भुजौ।
नेत्रे वोसट्टकन्दोट्टमोट्टायितसखे सखि ॥ १५ ॥

अत्र गल्लतल्लादयः शब्दा अव्युत्पत्तिमन्तो देश्या दृश्यन्ते ॥

वह पद देश्यदोष से युक्त कहा गया है जो व्युत्पत्ति रहित होता है अर्थात् जिसके प्रकृतिप्रत्यय आदि का ज्ञान नहीं हो पाता ॥ १४ अ ॥

जैसे (कोई सखी नायिका से कहती है कि) हे सखी, तेरे कपोल तो सौन्दर्य की तलैया हैं, तेरी दोनों बाहुयें अत्यन्त मनोहर तथा कृश हैं, और दोनो नयन तो विकसित नीलोत्पल की छटा के साथी हैं ॥ १५ ॥

इस छन्द में गल्ल, तल्ल आदि शब्द व्युत्पत्तिहीन होने से देशी दिखाई पड़ते हैं।

स्व० भा०—शास्त्रियों के व्युत्पत्ति तथा अव्युत्पत्तिवादी दो पक्ष हैं। प्रथम के अनुसार मूल शब्द से प्रत्यय आदि लगाकर ही पद बनाया जाता है जब कि दूसरों के मत में शब्द ज्यों के त्यों ही होते हैं। यास्क ने तो अग्नि जैसे पद को भी अद्, गम् तथा नी इन तीन धातुओं के योग से निष्पन्न माना है। व्युत्पत्तिवादी शब्दों को किसी न किसी धातु से सम्बद्ध कर ही देते हैं। किन्तु कुछ पद ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग केवल लोक में होता है। शास्त्र में न आने से भी तथा सीधे या टेढ़े उनका प्रकृति-प्रत्यय विभाग नहीं हो पाता। प्रकृतिप्रत्यय का विभाग न हो पाने से, केवल लोक में प्रयुक्त होने से इसमें उसी भांति दुर्बोधता तथा दोषत्व है जैसे अप्रतीत पद में।

जब ये व्युत्पन्न तथा अव्युत्पन्न दोनों प्रकार के पद एक साथ छन्द में प्रयुक्त होते हैं तब दोनों का प्रभाव दो प्रकार होने से सहृदय को खटक जाता है, उसे रसबोध में व्यवधान होता है। अतः यह दोष है।

रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में देश्य तथा ग्राम्य दोनों दोषों को पृथक् २ माना है। भोज का यह दोष विवेचन रुद्रट से ही मिलता है, क्योंकि वामन (काव्यालंकारसूत्र २।१।१७) तथा मम्मट, और जयदेव, विश्वनाथ आदि ने भोज के देश्य को ही अपने यहाँ ग्राम्य कहा है। इनके देश्य की वही परिभाषा है जो उनके ग्राम्य की है। भोज का ग्राम्य उनके त्रिविध अश्लीलत्व का पर्याय है। रुद्रट की परिभाषा भोज की भी अपेक्षा अधिक स्पष्ट है, अतः दर्शनीय है।

प्रकृतिप्रत्ययमूला व्युत्पत्तिर्नास्ति यस्य देश्यस्य।
तन्मडहादि कथञ्चन रूढिरिति न संस्कृतं रचयेत् ॥ काव्या० ६।२७॥

प्रस्तुत श्लोक में उद्धृत तल्लशब्द ताल या छोटे तड़ाग, लडहं मनोहर, मडहं कृशता, वोसट्ट विकसित, कन्दोट्ट नीलोत्पल तथा मोट्टायित विलास के वाचक हैं।

तद्देश्यमिति। अव्युत्पत्तिमत् प्रकृतिप्रत्ययविभागशून्यं लोकमात्रप्रयुक्तं पदमनादेयं भवति। तद् द्विविधम्—अभागं भागवच्चेति। आद्यं देश्यम्, द्वितीयं ग्राम्यमिति विभागः।

व्युत्पन्नानामन्यादृशी च्छाया देश्यानां च न तादृशीति देश्यवेद्यपदसमभिव्याहारे प्रायेण छायावैरूप्यं बन्धस्य भवतीति सहृदयहृदयसाक्षिकं दोषबीजम्। तल्लमल्लपसरः, लडहं मनोहरम्, मडहं कृशम्, वोसट्टं विकसितम्, कन्दोट्टं नीलोत्पलम्, मोट्टायितं विलासः॥

(१६ ग्राम्यत्व दोष)

अश्लीलामङ्गलघृणावदर्थं ग्राम्यमुच्यते॥ १४॥
अत्राश्लीलमसभ्यार्थमसभ्यार्थान्तरं च यत्।
असभ्यस्मृतिहेतुश्च त्रिविधं परिपठ्यते॥ १५॥

अश्लील, अमङ्गल तथा घृणोत्पादक अर्थ वाले पद को ग्राम्य कहते हैं इन भेदों में अश्लील असभ्यार्थ, असभ्यार्थान्तर तथा असभ्यस्मृति हेतु इस तीन प्रकार का पढ़ा जाता है॥ १४–१५॥

स्व० भा०—भोज और रुद्रट ने ग्राम्यत्व पद का प्रयोग अधिक विवेक के साथ किया है। वामन, मम्मट, जयदेव तथा विश्वनाथ आदि ने ग्राम्यत्व दोष की जो परिभाषायें दी हैं वे भोज के 'देश्य' के समान हैं। इन लोगों ने अश्लीलत्व एक अलग दोष मानकर उसके तीन भेद किये हैं। सूक्ष्म विचार करने से भोज का देश्य तथा ग्राम्य विभाजन अधिक उपयुक्त दृष्टिगोचर होता है। सम्भवतः मम्मट आदि ने लोक में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को ग्राम में बसने वाले लोगों की वाणी समझा और उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों को ग्राम्यनाम दे डाला। देशी अथवा देश्य शब्द इसलिए उचित है क्योंकि ये एक देश अथवा क्षेत्र विशेष में प्रयुक्त होते हैं। ये एक देशीय अथवा क्षेत्रीय होते हैं। दूसरी ओर ग्राम्यत्व विभाजन इसलिए अश्लीलत्व, अमङ्गल तथा घृणावद् पदों के लिए उपयुक्त है, क्योंकि नागर अथवा अधिक परिष्कृत न होने के कारण एक ग्राम्य व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि उसके वाणी में ये पद आ जायें। आज भी गाँवों में सहजभाव से इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग खूब होता है जिसे वहाँ के लोग विना विशेष ध्यान दिए सुनते हैं, यह बात केवल ग्राम में रहने वालों तक ही नहीं अपितु लक्षणया असंस्कृत लोगों से भी सम्बद्ध है।

भोज ने ग्राम्यत्व की सीमा और प्रकार का निर्धारण तो कर दिया किन्तु उसकी परिभाषा नहीं की। इनके अनुकूल, न कि मम्मट आदि के जैसा जो देश्य को ही ग्राम्य मानते हैं, रुद्रट की परिभाषा अत्यन्त स्पष्ट तथा सुन्दर है।

यदनुचितं यत्र पदं तत्तत्रैवोपजायते ग्राम्यम्।
तद् वक्तृवस्तु विषयं विभिद्यमानं द्विधा भवति॥ ६।१७॥

रुद्रट ने भेद भी प्रकारान्तर से दो ही–सभ्य तथा असभ्यार्थक–किया है (६।२१)

वामन ने अश्लीलत्व दोष का दो प्रकार से विभाजन किया है। प्रथम में असभ्यार्थान्तर तथा असभ्यस्मृति हेतु का समावेश है तथा द्वितीय में व्रीडा, जुगुप्सा तथा अमङ्गलरूप का [1]। वामन के ये दोष पदार्थगत हैं। इनमें से प्रथम भेद भोज के तथा द्वितीय प्रकार का भेद परवर्तियों के अधिक निकट है। भोज ने वामन की अपेक्षा अश्लील का एक उपभेद अधिक किया है।

---

१. असभ्यार्थान्तरमसभ्यस्मृतिहेतुश्चाश्लीलम् ।२।१।१५॥ तथा
तत्त्रैविध्यम्० व्रीडाजुगुप्सामङ्गलातङ्कदायिभेदात्॥ २।१।२०॥

(१६ क-१ ग्राम्यत्व के अश्लील भेद का प्रथम उपभेद असभ्यार्थ)

तेष्वसभ्यार्थं यथा—

'छत्राकारशिराः शिरालसरसस्थूलप्रकाण्डो महान्
मध्ये भानुसुताभ्रसिन्धुविपुलाभोगो वटः पातु वः।
कायैक्ये विकटप्रसारितमहाजङ्घं महीसुप्तयो-
र्यः खण्डेन्दुकिरीटकैटभजितोः काटश्रियं कर्षति ॥ १६ ॥

तदेतच्छत्राकारशिराः काट इत्यादेरसभ्यार्थत्वादसभ्यार्थम् ॥

अश्लील के भेदों में (जिसे) असभ्यार्थ कहते हैं, वह इस प्रकार होता है (जैसा कि आगे है।) छाते के सदृश शिरोभाग वाला, शिराओं-जटाओं से संयुक्त, हरी-भरी तथा मोटी डालों से संयुक्त, अत्यन्त विशाल तथा यमुना और गङ्गा के विस्तृत पुलिन प्रदेश के मध्य स्थित वह वटवृक्ष आपकी रक्षा करे जो शरीर एक में सटाकर अपनी विशाल एवं सुदृढ़ जांघों को फैलाकर पृथ्वीपर ही सोये हुये अर्धचन्द्र को किरीट की भांति शिर पर धारण करने वाले शिव तथा विष्णु की कटि की शोभा को धारण कर रहा है ॥ १६ ॥

यहाँ पर 'छत्राकारशिरा' काट, आदि पदों का असभ्य अर्थ होने से यहाँ असभ्यार्थ दोष है।

स्व० भा०—वस्तुतः इस पद्य को पढ़ने पर प्रकारान्तर से जितने भी वट के विशेषण पद हैं वे पुरुष लिङ्ग के लिए भी अर्थ देने में सक्षम प्रतीत होते हैं। पुरुष जननेन्द्रिय का अर्थ लेने पर छन्द का अर्थ कुछ इस प्रकार होगा—यह वटवृक्ष एक में शरीर सटाकर अपनी बलिष्ठ तथा विशाल जांघों को फैलाकर पृथ्वी पर ही अर्धचन्द्र-गलबांहीं डालकर सोये हुये मिथुन के छत्ते से फैले हुए अग्रभाग वाली नसों से संयुक्त, चिकने एवं मोटे-मोटे, बहुत बड़े यमुना तथा गंगा नदियों के पुलिन के सदृश लम्बाई चौड़ाई वाले गुप्तांग की भांति लग रहा है।

भोजराज द्वारा उद्धृत इस पद्य के प्रायः प्रत्येक पद से अश्लील असभ्य अर्थ निकल रहा है। यहाँ 'काट' शब्द गुप्तांग का वाचक हो जाता है। छत्राकार शिरा आदि पदों का अर्थ उत्तेजित अवस्था के छत्ते सा फूले हुये अग्रभाग वाले शिश्न के विशेषण के रूप में लग जाता है। इसी प्रकार अन्य शब्दों के भी अर्थ उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार लगा लेना चाहिए। परवर्ती आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट व्रीडार्थक अश्लील दोष इससे मिलता जुलता है। अन्यों के उदाहरण एक अथवा दो अश्लील पदों से युक्त हैं, किन्तु भोज ने तो पूरा पद्य ही ऐसे व्रीडाव्यंजक पदों से भर दिया है।

अश्लीलेति। देश्यातिरिक्तं लोकमात्रप्रयुक्तं ग्राम्यम्। तत्त्रिधा—व्रीडाजुगुप्सातङ्कदायित्वात्। तत्राद्यमश्लीलं श्रीर्यस्यास्ति तच्छ्लीलम्। सिध्मादेराकृतिगणत्वाल्लच्। कपिलकादिपाठाल्लत्वम्। न श्लीलमश्लीलम्। व्रीडादायित्वेनाकान्तमित्यर्थः। द्वितीयं घृणावदर्थकम्। जुगुप्सादायि प्रत्याख्यमस्येति। तृतीयममङ्गलार्थमातङ्कदायिज्ञाप्यमस्येति कृत्वाश्लीलपर्यायोऽसभ्यशब्दः। सभायां साधुरित्यर्थे तेनापि शास्त्रे व्यवहार इति प्रदर्शनार्थमसत्यशब्देनाश्लीलमनूद्य व्याचष्टे। तत्रासभ्यमिति। अर्थस्यासभ्यत्वात्पदमप्यसभ्यम्। स चार्थः क्वचित् प्रकृतोऽप्रकृतोऽपि श्लेषोपस्थित एकदेशास्मृतिमात्रारूढो वा। तत्र यथाक्रममसभ्यादयस्त्रयः। एवममङ्गलादयोऽपि। सूर्यसुता यमुना। अभ्रसिन्धुर्गङ्गा। तयोर्मध्ये 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावः। अर्धं हरेरर्धं हरस्येति शरीरैक्ये काटशब्दस्यासभ्यार्थत्वे तद्विशेषणानामप्यसभ्यत्वमिति तान्यादाय व्याचष्टे—अत्र छत्राकारेति॥

(१६ क-२ ग्राम्य अश्लील का दूसरा भेद असभ्यार्थान्तर)

असभ्यार्थान्तरं यथा—

'विद्यामभ्यसतो रात्रावेति या भवतः प्रिया।
वांनता गुह्यकेशानां कथं ते पेलवन्धनम्॥ १७॥

तदेतद्या भवतः प्रिया गुह्यकेशानां पेलवन्धनशब्दानामसभ्यार्थान्तरत्वाद-सभ्यार्थान्तरम्॥

असभ्यार्थान्तर अश्लीलत्व भी होता है जैसे—

(कोई साथी अपने मित्र से कहता है कि) रात्रि में मन्त्रविद्या का अभ्यास करने वाले आपकी जो प्रियतमा आती है वह तो गुह्यकों की स्त्री अर्थात् यक्षिणी है। अतः आपको धन की कमी कैसे हो सकती है॥ १७॥

तो यहाँ यह जो 'या भवतः प्रिया' (जो आपकी प्रेयसी अथवा 'मैथुन करने वाले की प्रेमिका') 'गुह्यकेशानाम्' (यक्षों के स्वामी की अथवा गुप्तांग के बालों की), 'पेलवन्धन'—(धनाभाव अथवा अण्डकोशों का बन्धन), इन शब्दों का दूसरा अर्थ असभ्य होने से यहाँ असभ्या-र्थान्तर दोष है।

स्व० भा०—जब किसी पद के अनेक अर्थों में एक अर्थ अश्लील होता है तब यह दोष होता है। वामन द्वारा दी गई परिभाषा[1]—'यस्य पदस्यानेकार्थस्यैकोऽर्थोऽसभ्यः स्यात् तदसभ्यार्थान्तरम्' से यह स्पष्ट हो जाता है। परवर्ती आचार्यों में अश्लीलार्थक विसन्धि दोषों के प्रकरण में यह स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

विद्यामिति। या रात्रौ विद्यामभ्यसतो मन्त्रमावर्तयतस्तव प्रिया समायाति सा यक्षिणी। अतः कथं ते धनं पेलवं कोमलम्। स्वल्पमिति यावत्। किं तु यक्षिणीप्रसादाद्बहु धनं तत्रोचितमित्यर्थः। प्रकृतपदानि स्वसभ्यार्थान्तराणि तान्युद्धृत्य व्याचष्टे—तदेतद्या भवतः प्रियेति। असभ्यार्थप्रकाशनमेव 'षष्ठ्या आक्रोश' इत्यर्थः। याभवतः प्रियेति एकं पदं याभो मैथुनं तद्वतः प्रियेत्यर्थात्। योनिर्वनिताया गुह्यस्तस्य केशाः। पेलशब्दो मुष्कयोः प्रसिद्धः। तत्र बन्धनमिति॥

(१६ क-३ ग्राम्य अश्लील का असभ्यस्मृति हेतु दोष)

असभ्यस्मृतिहेतुर्यथा—

'उत्कम्पयसि मां चूत पिकवाक्काटवेन किम्।
कृतः कृकाटिकायां ते पादः प्राणेन यास्यता॥ १८॥'

तदिदं काटवकृकाटिकापादयोरसभ्यस्मृतिहेतुत्वादसभ्यस्मृतिहेतुता॥

(जब कोई पद सभ्यार्थवाचक होते हुये भी, एक अंश द्वारा असभ्यार्थ का स्मरण करा देता है तब) असभ्यार्थस्मृति हेतु होता है जैसे—हे आम्रवृक्ष, दुःखद होने के कारण कोयल की वाणी से तुम मुझे क्यों डरा रहे हो। तुम्हारे गले पर पाँव रखकर मेरे प्राण चले, (अतः मैं जीत गया।)॥ १८॥

यहाँ काटव तथा कृकाटिका इन दोनों पदों से अश्लील अर्थ की याद आने से यह दोष है।

स्व० भा०—काट तथा काटिका पदों का अर्थ गुह्यांग है, अतः पद के बीच में आने पर भी इनसे अश्लील अर्थ की याद आ ही जाती है।

---

१. काव्यालंकारसूत्र २।१।१५॥ की वृत्ति।

उत्कम्पयसीति। हे चूलवृक्ष, कोकिलस्य वाचा कटुत्वेन दुःखदायित्वात् किं मां भापयसि। ननु तव कृकाटिकायां ग्रीवायां पादं दत्त्वा चलिता मम प्राणास्तेन मया जितम्। व्यर्थस्तवायं परिश्रम इति वाक्यार्थो विवक्षितः। काटवशब्दे काट एकदेशः कृकाटिकाशब्दे काटिकेति लोपः। काटः काटिका॥

(१६ ख-१ ग्राम्य-अमङ्गल का अशस्तार्थ भेद)

लोकेषु यदशस्तार्थमशस्तार्थान्तरं च यत्।
अशस्तस्मृतिहेतुश्चामङ्गलार्थं त्रिधैव तत्॥ १६॥

तेष्वशस्तार्थं यथा—

'खेटके भक्तसूपस्य वलभ्याः पत्तनस्य च।
अतृप्तोऽहं मरिष्यामि हे हले भाषितस्य च॥ १९॥'

अत्र मरिष्यामीतिपदमशस्तार्थम्॥

लोक में जो अशस्तार्थ अर्थात् अमाङ्गलिक अर्थवाला, अशस्तार्थान्तर अर्थात् अनेक अर्थों में एक अशिव अर्थ रखने वाला तथा अशस्तस्मृति हेतु अर्थात् अमाङ्गलिक अर्थ की याद दिलाने वाला अमङ्गलार्थ (नामक ग्राम्यत्व का द्वितीय भेद है) वह तीन ही प्रकार का है॥ १६॥

इनमें से अशस्तार्थ इस प्रकार होता है जैसे—(कोई रसिक कहता है कि) गांवों में (उत्पन्न) भात तथा दाल या चटनी से तथा नगर की छतों पर स्त्रियों के हो रहे 'हे हले' के साथ प्रेमपूर्ण वार्तालाप से विना अघाये ही मैं मर जाऊँगा, अर्थात् मैं जितना भी इन्हें पाऊँ मेरी तृप्ति नहीं होती॥ १९॥

स्व० भा०—यहाँ पर प्रयुक्त 'मरिष्यामि' मर जाऊँगा यह पद अमङ्गलवाचक है।

खेटक इति। अतृप्तः सुखस्येयत्तापरिच्छेदाभावात्। खेटके ग्रामे यद्भक्तं सूपश्चोत्पद्यते तस्य पत्तनस्य या वलभी नगरस्य या वलभी तस्यां सुहितार्थयोगे षष्ठीनिषेधाल्लिङ्गादनुमीयते तृप्त्यर्थयोगे षष्ठी भवति। अन्ये तु व्याचक्षते—भक्तसूपपदनामा दक्षिणापथे विषयस्तत्सद्मनि खेटके वलभीनाम कस्यचिद्विरूपाक्षाधिष्ठानस्य तत्रैव पत्तनस्य हे हले इति स्त्रीणामव्याजमन्योन्यप्रेमातिशयगर्भस्य भाषितस्येति॥

(१६ ख-२ ग्राम्य अमङ्गलका अशस्तार्थान्तर दोष)

अशस्तार्थान्तरं यथा—

'प्रवासयति या कान्तं वसन्ते गृहसंस्थितम्।
विना शपथदानेन पिशाची सा न चाङ्गना॥ २०॥'

अत्र प्रवासयति-संस्थितं-विनाशपथदानेन-पिशाचीपदानामशस्तार्थान्तरत्वम्॥

अशस्तार्थान्तर दोष ऐसे स्थानों पर होता है जैसे—

विना शपथ दिलाए घर में सम्यक् स्थित प्रिय को वसन्त ऋतु में जो बाहर जाने देती है वह वस्तुतः स्त्री नहीं अपितु पिशाची के सदृश अनुचितकारिणी है॥ २०॥

यहाँ प्रवासयति = बाहर जाने देती है, संस्थित = भली भांति विद्यमान, विना शपथदान = विना कसम दिये, तथा पिशाची = तद्वत् कठोर कर्म करने वाली पदों का (उच्चाटन, मृत, विनाश का मार्ग देना, तथा मांसभक्षिणी जैसा) दूसरा अमांगलिक अर्थ भी होने के कारण यह दोष है।

प्रवासयतीति। शपथदानं विना प्रवासयति अन्यत्र प्रहिणोति गृहे सम्यक् स्थितं प्रियं साङ्गना न, किं तु पिशाचीवदनुचितकारिणीत्यर्थोऽभिमतः। अन्यत्र प्रवासनमुच्चाटनं संस्थानं विनाशः विनाशस्य पन्थास्तस्य दानम्। पिशितमश्नातीति पिशाची। पृषोदरादित्वात्। तदेतद्व्याचष्टे—अत्र प्रवासयतीति।

(१६ ख-३ ग्राम्य अमङ्गल का अशस्तार्थस्मृति हेतु)

अशस्तस्मृतिहेतुर्यथा—

'मारीचोऽयं मुनिर्यस्य कृत्या कालान्तकालये।
पत्न्यां संक्रन्दनादीनां सुतानामाप्तयेऽभवन्॥ २१॥'

अत्र मारीचकृत्या कालान्तक-संक्रन्दन-पदानामशस्तार्थस्मृतिहेतुत्वम्॥

अशस्तस्मृतिहेतु दोष उन स्थानों पर होता है जैसे—

यही वह मुनि काश्यप हैं जिनकी (आराधना आदि की) क्रियायें शिव के मन्दिर में अपनी पत्नी से इन्द्र आदि द्वादश आदित्यों को पुत्र रूप में प्राप्त करने के लिए की गई थीं॥ २१॥

यहाँ छन्द में प्रयुक्त मारीच, कृत्या, कालान्तक, संक्रन्दन पद क्रमशः मारक, कृत्या, यमराज तथा चिल्लाना आदि अमङ्गल अर्थों की याद का कारण बनते हैं, अतः यहाँ अशस्तस्मृति हेतु दोष है।

स्व० भा०—इन दोषों के नामों से ही गुण प्रकट हो जाने के कारण भोज ने पृथक् २ लक्षण नहीं दिये। यही भाव अश्लीलत्व तथा घृणावत् में भी समझना चाहिए।

मारीचोऽयमिति। मरीचेरपत्यं मारीचः काश्यपः संक्रन्दनादीनिन्द्रादीन् द्वादश पुत्रानादित्यानुत्पादितवान्। तच्च कालान्तकस्य भगवतो महादेवस्यालये याः कृत्याः क्रिया भगवदाराधनरूपास्तासां फलमित्यर्थः। मारीचशब्दे मारकदेशः कृत्या इति सुबन्तपदे कृत्येत्येकदेशः, कालान्तकालय इत्यत्रान्तकेति, संक्रन्दने शब्दक्रन्दनेति॥

(१६ ग-१ ग्राम्यघृणावदर्थ तथा भेद)

पदमर्थं घृणावन्तं यदाहार्थान्तरं च यत्।
घृणावत्स्मृतिहेतुर्यत्तद्घृणावदिह त्रिधा॥ १७॥

तेषु घृणावदर्थं यथा—

'पर्दते हदते स्तन्यं वमत्येष स्तनन्धयः।
मुहुरुत्कौति निष्ठीवत्यात्तगर्भा पुनर्वधूः॥ २२॥'

पर्दते हदते वमति निष्ठीवतीति शब्दानां घृणावदर्थत्वम्॥

जब कोई पद घृणावान् अर्थ को, अथवा घृणावदर्थान्तर को प्रकट करता है और घृणावत् अर्थ की याद का निमित्त बनता है, तब घृणावद् दोष होता है जो तीन प्रकार का है॥ १७॥

इनमें घृणावदर्थ दोष यों होता है जैसे—

यह दुधमुँह बच्चा पादता है, हगता है और स्तन के पिये हुये दूध को वमन करता है। फिर से गर्भवती हो गई दुलहिन बार बार उबकाई लेती है, बार बार थूकती है॥ २२॥

स्व० भा०—इस भेद को परवर्ती आचार्यों के जुगुप्सित अश्लील की कोटि में रखा जा सकता है।

पर्दत इति । उत्कौति उत्कारं करोति । निष्ठीवति थूत्करोति । आत्तगर्भा पुनर्वधूरिति बालस्य स्तन्यवमनादिनिदानसूचनम् । अत एव 'न गर्भिण्याः पिबेत्क्षीरं पारगर्भिकक्रत्तु तत्' इति वैद्यकम् ॥

(१६ ग-२ ग्राम्य घृणावद् का अर्थान्तर दोष)

घृणावदर्थान्तरं यथा—

'बाष्पक्लिन्नाविमौ गण्डौ विपूयापाण्डरौ तव ।
प्रियोऽग्रे विष्ठितः पुत्रि स्मितवर्चोभिरर्चति ॥ २३ ॥'

अत्र क्लिन्नगण्डविपूयाविष्ठितवर्चःपदानां घृणावदर्थान्तरम् ॥

यह वहाँ होगा जैसे—(कोई वृद्धा दूती नायिका से कहती है कि) हे बेटी, सामने भली भांति बैठा हुआ तुम्हारा प्रेमी अपने मन्द हास्य की चमक से तुम्हारे इन दोनों मूँज के सदृश स्वर्णिम आभावाले सरस कपोलों की मानो पूजा कर रहा है ॥ २३ ॥

यहाँ प्रयुक्त क्लिन्न = कोमल या सरस, गण्ड = कपोल, विपूय = मूँज, विष्ठित = विशेषरूप से बैठे, वर्चः = छटा या आभा पदों का दूसरा अर्थ (गला हुआ, घाव, पीव, मलत्याग किए हुये, तथा मल) घृणोत्पादक है । अतः यहाँ घृणावदर्थान्तर दोष हुआ ।

बाष्पेति । विपूयो मुञ्जः । विशेषेण स्थितो विष्ठितः स्मितवर्चो हास्यतेजः । तव कपोलौ दृष्ट्वा पुरःस्थितस्तव प्रिय ईषद्धास्यं कुर्वन् कपोलयोर्हास्यज्योत्स्नया पूजां करोतीत्यर्थः । अन्यत्र बाष्पेणोष्मणा क्लिन्नो मृदूभूतः गण्डो व्रणः । विशिष्टः पूयो विपूयस्तेन पाण्डरः । विष्ठितो विष्ठा संजातास्य । वर्चः पुरीषम् । यत्स्मरणाद्बाष्पादीनां घृणावति वृत्तिस्तदेव पृथक्कृत्याह—अत्र क्लिन्नेति ॥

(१६ ग-३ ग्राम्यघृणावत्स्मृतिहेतु)

घृणावत्स्मृतिहेतुर्यथा—

'प्रत्यार्द्रयन्तो रूढानि मदनेषुव्रणानि नः ।
हृदयं क्लेदयन्त्येते पुरीषण्डमहद्द्रुमाः ॥ २४ ॥'

अत्र रूढव्रणक्लेदपुरीषण्डपदानां घृणावत्स्मृतिहेतुत्वम् ॥

(जुगुप्सित अर्थ की याद दिलाने वाला पद) घृणावत् स्मृति हेतु है । जैसे—ये नगरी से सटे हुए सघन एवं विशाल वृक्ष कामबाण से बने उभर रहे घावों को और भी अधिक आर्द्र करते हुये हृदय को द्रवित किये दे रहे हैं ॥ २४ ॥

यहाँ रूढ = उगे हुए, व्रण = घाव, क्लेद = आर्द्रता, पुरीषण्ड = मल, पदों के घृणित अर्थ का स्मारक होने से घृणावत्स्मृतिहेतु नामक दोष हुआ ।

स्व० भा०—ग्राम्यत्व दोष के अश्लील, अमङ्गलार्थ तथा घृणावदर्थ विभागों के जो सर्वत्र तीन-तीन उपभेद किए गए हैं उनमें अन्तर स्पष्ट है । जैसे असभ्यार्थ असभ्यार्थान्तर से इसलिए भिन्न है क्योंकि प्रथम का स्वाभाविक संकेतित अर्थ ही अश्लीलता का ज्ञान कराता है जब कि द्वितीय में अभिधेय के अतिरिक्त जो पद का अमुख्य दूसरा अर्थ होता है वह अश्लीलता उत्पन्न करता है । इसी प्रकार स्मृति हेतु में छन्द में प्रयुक्त पद अथवा उसका कोई अंश इस रीति से सामने आ जाता है कि वह स्वयं स्पष्ट रूप से प्रथम भेद की भाँति नहीं अपितु अमुख्य अर्थ अथवा पद के

भीतर पड़े रह कर झलक जाता है और अश्लील, अमङ्गल अथवा घृणावत् पदार्थ की याद आ जाया करती है।

पददोष : एक रेखा चित्र
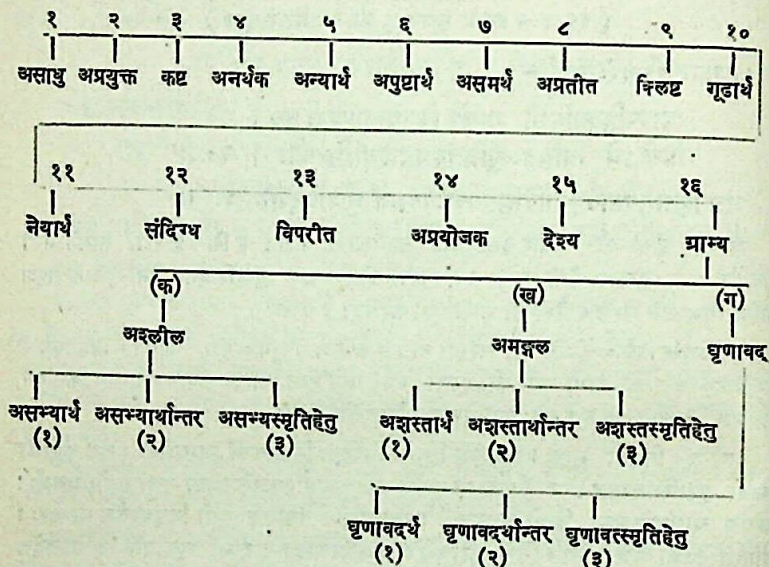
इस प्रकार पददोषों का विहगावलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकारिकों में इनकी संख्या, स्वरूप, नाम तथा भेदोपभेद के विषय में ऐकमत्य नहीं है। नाम समान होने पर भी उनके लक्षणों में यत्र तत्र भिन्नता है। संक्षेप में इसका कारण समीक्षकों के मौलिक चिन्तन की क्षमता, संस्कृत भाषा के शब्दों में अनेकार्थ प्रतीत करा लेने की शक्ति, पुनरुक्ति तथा पिष्टपेषणता से बचने की प्रवृत्ति तथा काव्य की आत्मा के विषय में मतभेद होने से अपनी मान्यता के अनुसार ही दोषादिर्शन की भावना, क्रमशः सूक्ष्मविवेचन के प्रति अभिरुचि आदि हैं।

वाक्यदोष

वाक्य पर आश्रित दोषों को वाक्यदोष कहते हैं। पददोषों में अवाञ्छित तत्त्व केवल एक पद के कारण आता है और उसका प्रभाव भी उसी पद तक सीमित रहता है, किन्तु वाक्यदोष में वह अपने तक ही सीमित न रहकर पूरे वाक्य पर अथवा अपने से भिन्न पदों पर भी असर डाल कर पूरे वाक्य को दुष्ट कर देता है। वाक्यों में पद ही होते हैं अतः पदों के माध्यम से ही प्रायः वाक्य में दोष आते हैं। दोनों का अन्तर विशेषतः प्रभावक्षेत्र का है। मम्मट ने इसीलिए समस्त पद दोषों की भी गणना वाक्यदोषों में की है।

प्रत्यार्द्रयन्त इति। अन्योन्यलग्नो वृक्षसमूहः षण्डः। रूढानीत्यनेन मदनेषुव्रणानां विशेषितत्वात्। मदनेषुभागमपहाय व्रणभागमात्रेण रूढव्रणस्मृतिर्भवन्तीपदादेवेति विवक्षितवान्। पुरीषण्डशब्दे पुरीषेत्येकदेशः॥

तदेवं पददोषांल्लक्षयित्वा क्रमप्राप्तवाक्यदोषा लक्षणीया इति तान्विभजते—

शब्दहीनं क्रमभ्रष्टं विसंधि पुनरुक्तिमत् ।
व्याकीर्णं वाक्यसंकीर्णमपदं वाक्यगर्भितम् ॥ १८ ॥
द्वे भिन्नलिङ्गवचने द्वे च न्यूनाधिकोपमे ।
भग्नच्छन्दोयती च द्वे अशरीरमरीतिमत् ॥ १९ ॥
वाक्यस्यैते महादोषाः षोडशैव प्रकीर्तिताः ।

भोज अपनी पूर्वप्रतिज्ञा 'दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडश' (१।३) के अनुसार पददोषों का निरूपण करने के बाद क्रमप्राप्त षोडश वाक्यदोषों का उल्लेख करते हैं—

(१) शब्दहीन (२) क्रमभ्रष्ट (३) विसन्धि (४) पुनरुक्तिमत् (५) व्याकीर्ण (६) वाक्यसंकीर्ण (७) अपद (८) वाक्यगर्भित (९) भिन्न लिङ्ग (१०) भिन्न वचन ये दो, तथा दो ये (११) न्यूनोपमा (१२) अधिकोपमा, (१३) भिन्नछन्द तथा (१४) भिन्नयति ये दो, (१५) अशरीर (१६) अरीतिमत् ये सोलह ही वाक्य के महादोष प्रख्यात हैं ॥ १८–२० अ ॥

स्व० भा०—ग्रन्थकार ने षोडश संख्या पर विशेष बल दिया है। रसाचार्य भरत ने दस, भामह ने दोषनिरूपक चतुर्थ परिच्छेद के प्रारम्भ में सब मिलाकर–न कि केवल वाक्यगत–१८ दोष, रुद्रट ने काव्यालंकार के षष्ठ अध्याय में सामान्यरूप से सात दोष तथा एकादश में नव अर्थदोष बताया है। रुद्रट ने पृथक् रूप से वाक्यदोषों की गणना षष्ठ अध्याय के चालीसवें छन्द में की हैं और संख्या केवल तीन कही है।[1] इनके अतिरिक्त वाक्यगुणों के वर्णन के प्रसङ्ग में कुछ दोष प्रकारान्तर से गिना गए हैं।

अन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थशब्दचारुपदम् ।
क्षोदक्षममक्षूणं सुमतिर्वाक्यं प्रयुञ्जीत ॥ वही २।८ ॥

दण्डी ने 'इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः' (कव्यादर्श ३।१२६) कहकर दस संख्या पर अधिक बल दिया है और भामह के प्रतिज्ञा, हेतुदृष्टान्तहानि आदि दोषों को अपास्त कर दिया है। (वही १२७)। वामन ने 'भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसंधीनि वाक्यानि' (काव्यालंकारसूत्र २।२।१) कहकर केवल तीन वाक्यदोष माना है। अतः भोज ने सोलह संख्या पर बल दिया है।

दोषाः के स्थान पर 'महादोषाः' कहने का अभिप्राय केवल पाद पूरण नहीं है। इससे यह व्यक्त होता है कि पदगत अन्य दोष अथवा अर्थगत अन्य दोषों की संभावना वाक्यदोषों में भी की जा सकती है किन्तु बहुत ही अधिक अखरने वाले केवल ये वाक्यगत ही दोष हैं। संभवतः परवर्ती मम्मट को—

अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् । वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते···" काव्यप्रकाश ७।४॥

कहने की प्रेरणा भोज के इसी शब्द से मिली।

शब्दहीनमिति। उक्तेनैव प्रयोजनेनासमासद्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासौ। एवं गुणादिविभागवाक्येष्वपि प्रयोजनमवसेयम्। भिन्नलिङ्गवचने इत्यादौ तु द्वन्द्वलक्षणस्य समासस्य पूर्ववर्तिनां भिन्नादिपदानां प्रत्येकमन्वयः। यमनं यतिरिति भग्नच्छन्दो भग्नयतिरिति

---

(१) वाक्यं भवति तु दुष्टं संकीर्णं गर्भितं गतार्थं च ।
यत्पुनरनलंकारं निर्दोषं चेति तन्मध्यम् ॥ वही ६।४० ॥

केचित्। तथा च व्यतिकीर्णोऽर्थः स्यात्। अरीतिमदिति। 'रीतिरस्यास्तीति नित्ययोगे मतुप्। नित्ययोगप्रतिपादनं हि दूपकतावीजोद्घाटनायोपपद्यते। अत एव बहुव्रीहौ लाघवं तत्र नादरः॥

अथैषां लक्ष्म संक्षेपात् सनिदर्शनमुच्यते॥ २०॥

दोषों की नामगणना के अनन्तर संक्षेप में इनके उदाहरण सहित लक्षण कहे जा रहे हैं॥२०॥

(१ शब्दहीनत्व वाक्यदोष)

असाधुवदसाधुमत्त्वस्य प्राथम्याल्लक्षणमाह—

उच्यते शब्दहीनं तद्वाक्यं यदपशब्दवत्।

यथा—

'नीरन्ध्रं गमितवति क्षयं पृषत्कैर्भूतानामधिपतिना शिलावितानेे।
गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः॥ २५॥'

अत्र गमितवतीति क्तवतोः कर्मणि, आजघ्न इति आत्मनेपदस्यास्वाङ्गकर्मणि प्रयोगादपशब्दौ। तौ च शिलावितानत्र्यक्षवक्षःसंबन्धाद्वाक्यदोषौ जायमानौ असाधुनाम्नः पददोषाद्भिद्येते॥

जो वाक्य अपशब्द अर्थात् व्याकरण सम्बन्धी असंगति से युक्त होता है, उसे शब्दहीन कहते हैं। (२१ अ)

जैसे—प्रमथगणों के अधीश्वर शंकरजी के द्वारा वाणों से (अर्जुन द्वारा फेंकने से वन गये) सघन पाषाणजाल के भी क्षीण कर दिये जाने पर, गाण्डीवधारी (अर्जुन) ने त्रिनत्र शंकर के स्वर्णशिला सदृश वक्षस्थल पद दोनों भुजाओं से ही प्रहार किया॥ २५॥

इस छन्द में गमितवति इस क्तवतु प्रत्ययान्त पद का कर्म में, 'आजघ्ने' इस आत्मनेपद की धातु का कर्म स्वाङ्ग न होने से दोनों पदों का प्रयोग अपशब्दत्व दोष से युक्त है। शिलावितान तथा विषमविलोचन के वक्षस्थल से सम्बद्ध होने के कारण होने वाले ये दोनों स्थलों के दोष असाधुनामक पददोष से भिन्न हैं।

स्व॰ भा॰—वृत्ति में गमितवति तथा आजघ्ने के कारण अपशब्दत्व होने से शब्दहीनत्व है, ऐसा कहा गया है। 'कर्तरि कृत्' के अनुसार क्तवतु प्रत्यय का प्रयोग कर्तृवाच्य में होना चाहिये कर्मवाच्य में नहीं। कर्मवाच्य के कारण कर्त्ता तृतीयान्त हो जाता है। अतः अधिपति में तृतीया एकवचन का टा प्रत्यय लगा है, किन्तु यह अनुचित है।

इसी प्रकार "अकर्मकाच्च (१।३।२६) की अनुवृत्ति करके "आङोयमहनः ॥१।३।२८॥ सूत्र का अर्थ होता है कि अपने ही शरीर के अङ्ग के कर्म होने पर आङ् उपसर्ग पूर्वक हन धातु का आत्मनेपदीय प्रयोग होता है। यदि मारने वाला अपने अङ्ग—स्वाङ्ग—पर प्रहार नहीं करता है तो आत्मनेपद नहीं होगा, यह बात "स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्' वार्तिक से स्पष्ट होती है। प्रस्तुत पद्य में गाण्डीवी अर्जुन ने अपने अङ्ग पर प्रहार न करके विषमविलोचन शिव के वक्षस्थल पर प्रहार किया है। अतः आत्मनेपदी रूप यहाँ नहीं होना चाहिए। इस प्रकार 'गमितवति' तथा 'आजघ्ने' इन दोनों पदों का प्रयोग अपशब्दत्व का सूचक है।

वृत्ति के अन्तिम अंश में भोज ने इस दोष की वाक्यपरता सिद्ध की है। इसी प्रकार का व्याकरण विरुद्ध प्रयोग असाधुत्व पददोप में भी होता है, अतः इसे भी पददोप ही मानना

चाहिए ऐसा भ्रम हो सकता है। इसी का निराकरण करते हुए ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है कि पददोष एकदेशीय होता है। वह दोष उसी तक सीमित रहता है किन्तु वाक्य दोष में ऐसे पदों का प्रभाव अन्यपदों पर भी पड़ता है जिनसे वाक्य बनता है। यहीं पर 'गमितवति' का सम्बन्ध शिलावितान से है और 'आजघ्ने' का विषमविलोचन के वक्ष से। अतः ये स्वयंसीमित नहीं हैं।

पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी—विशेषकर भामह और दण्डी ने इस दोष को इसी नाम से अभिहित किया है। परिभाषा भी लगभग इसी प्रकार की दी है। मम्मट के निरर्थकत्व दोष से यह बहुत-कुछ मिलता है।

इस छन्द को भारवि के सत्रहवें सर्ग से उद्धृत किया गया है। जो पाठ वहाँ मिलता है वही उदाहरण के रूप में सिद्धान्तकौमुदी में आत्मनेपद प्रक्रिया के सन्दर्भ में 'आङो यमहनः' १।३।२८॥ के साथ दिया भी गया है। किन्तु चौखम्बा, वाराणसी से प्रकाशित सम्पूर्ण किराता-र्जुनीयम्' में उत्तरार्ध में पाठान्तर है। वहाँ का रूप निम्नलिखित है।—

नीरन्ध्रं परिगमिते क्षयं पृषत्कैर्भूतानामधिपतिना शिलावितानें।
उच्छ्रायस्थगितनभोदिगन्तरालं चिक्षेप क्षितिरुहजालमिन्द्रसूनुः॥ १७।६१॥

उच्यत इति। अपशब्दत्वं पद एव नियतं वाक्ये संस्कारप्रसक्तेरभावादपशब्दत्वं न वाक्यदूषणम्। तथा हि—'कर्तरि कृत्' इति नियमात्कर्मणि क्तवतुरसाधुः। 'अकर्मकाच्च' इत्यनुवृत्तौ 'आङो यमहनः' इत्यात्मनेपदमकर्मक एव प्राप्तं 'स्वाङ्गकर्मकाच्च' इति वाक्यै-कवाक्यतापर्यालोचनयास्वाङ्गकर्मण्यसाधुः कथं वाक्यदूषणता। नहि वाक्यान्तःपातिता-मात्रेण सा युज्यतेऽतिप्रसङ्गादित्याशङ्क्योक्तम्। तौ चेति। नहि यथा बाधधातुः परस्मै-पदान्त इत्येवासाधुत्वम्, तथात्र पदान्तरसंनिधानापेक्षत्वेऽध्यवसीयते। भूतानामधि-पतिना इति शिलावितान यावन्नानुसंधीयते तावद्गमितवतीति किं कर्तरि कर्मणि वेति संदेहा-निवृत्तेः। तथा गाण्डीवी विषमविलोचनस्य वक्ष इत्येतावत्प्रतीत्य कथमाजघ्न इत्यस्वाङ्ग-कर्मणि आत्मनेपदमध्यवसानयोग्यम्। इयमेव हि वाक्यदोषता यदनेकपदनिरूप्यता नाम बाधतीत्यत्रापि किं बाधशब्दात् क्विबन्तात्तिप्, उत बाधधातुरिति संदेह इति कुदेश्यम्। स्कन्धादिपदसंनिधानेऽपि तस्यानिवृत्तेः। 'तेन स्वामनुनाथते कुचयुगम्—' इत्यादिकमत्र-त्यमुदाहरणं प्रमादात् काव्यप्रकाशकृता पददोषेषु लिखितम्। यथा च। 'उदपूतितः को न हीयते' इति रुद्रटेन। तत्र हि 'अपादाने चाहीयरुहोः' इति तसिप्रत्ययनिषेधः। स च पदान्तरसंनिधानेनैवेति स्वयमालोचनीयम्। शिलावितानम्यक्षवक्ष इत्युपलक्षणम्। अधिपतिगाण्डीविशब्दावपि बोद्धव्याविति॥

(२ क्रमभ्रष्ट वाक्यदोष)

क्रमभ्रष्टं भवेदार्थः शाब्दो वा यत्र तत्क्रमः॥ २१॥

यथा—

'तुरङ्गमथ मातङ्गं प्रयच्छास्मै मदालसम्।
कान्तिप्रतापौ भवतः सूर्याचन्द्रमसोः समौ॥ २६॥'

अत्र मातङ्गमथ तुरङ्गमिति वक्तव्ये तुरङ्गमथ मातङ्गमित्यर्थः। कान्तिप्रतापौ चोक्त्वा सूर्याचन्द्रमसोः समाविति शाब्दः क्रमभ्रंशो लक्ष्यते॥

जहाँ पर अर्थसम्बन्धी तथा शब्दसम्बन्धी क्रम का निर्वाह न हो वहाँ क्रमभ्रष्ट दोष होता है ॥ २१ ॥

जैसे—(हे महाराज !) इसको घोड़ा अथवा मदमत्त गजराज दीजिए। आपकी कान्ति तथा प्रताप सूर्य तथा चन्द्रमा के सदृश है ॥ २६ ॥

यहाँ पर हाथी अथवा घोड़ा यह कहना था किन्तु घोड़ा अथवा हाथी कहा गया है। इसलिए अर्थसम्बन्धी क्रमभ्रष्टता हुई। कान्ति तथा प्रताप कहकर सूर्य और चन्द्रमा के सदृश बताया गया है, अतः शब्दसम्बन्धी क्रमभ्रष्टता लक्षित होती है।

स्व० भा०—यहाँ उदाहरण में यह प्रदर्शित किया गया है कि कोई व्यक्ति किसी राजा अथवा धनाढ्य व्यक्ति से कह रहा है कि आप इस व्यक्ति को घोड़ा दीजिए। यदि यह शक्ति न हो तो मत्त गजराज दे दीजिए। अतः यहाँ अर्थक्रम च्युत हुआ है। वस्तुतः कहना तो यह था कि यदि हाथी नहीं दे सकते तो घोड़ा दीजिए, क्योंकि जब कोई व्यक्ति किसी बड़ी चीज को देने में असमर्थ होता है तभी कोई अपेक्षाकृत छोटी चीज देने को कही जाती है। यहाँ इसी का व्यतिक्रम है। यह व्यतिक्रम मुख्यतः बड़ी तथा छोटी वस्तु से सम्बद्ध है, अतः आर्थक्रम-भ्रष्टता रही।

उदाहरण के उत्तरार्ध में शाब्द क्रमभङ्गता है। कान्ति कोमल छटा का व्यञ्जक है और प्रताप उग्र। अतः इनका सम्बन्ध क्रमशः चन्द्रमा तथा सूर्य से होना चाहिए। यहाँ उसी पौर्वापर्य का निर्वाह न होने से शाब्द क्रमभ्रष्टता है।

यहाँ शब्दों के अर्थ में कोई अनौचित्य नहीं है, अपितु वह है उन अर्थों वाले शब्दों के क्रम में। अतः दोष अर्थसम्बन्धी होते हुए भी शब्द से अपेक्षाकृत अधिक सम्बद्ध है। इस प्रकार शब्दमय होने से वाक्य पर सीधा प्रभाव पड़ता है। अतएव वाक्यदोष है। वामन ने अपक्रम वाक्यार्थ दोष (२।२।२२) के उदाहरण के रूप में यह छन्द उद्धृत किया है।

क्रमभ्रष्टमिति। अर्थादागतः क्रम आर्थः। शब्दादागतः शाब्दः। अर्थक्रमभ्रंशः कथं शब्ददूषणमत आह—इति वक्तव्य इति। मातङ्गो दीयतामथ तद्दानसामर्थ्यं नास्ति तदा तुरङ्ग इति वक्तव्ये रचनावैपरीत्यमात्रमत्रापराध्यति। नार्थ इति युक्ता शब्ददोषता ॥

(३ विसंधि दोष)

विसंहितो विरूपो वा यस्य संधिर्विसंधि तत् ।

यथा—

'मेघानिलेन अमुना एतस्मिन्नद्रिकानने।
मञ्जर्युद्गमगर्भासौ तर्वाल्युर्वी विधूयते ॥ २७ ॥'

अत्र मेघानिलेन अमुना एतस्मिन्नसंहितया विवक्षामीत्यभिसंधानं विसंधिः। मञ्जर्युद्गमगर्भासौ इत्यादौ तु विरूपसंधानं विसंधिः ॥

जिस वाक्य में संधिकार्य (संहिता-अर्थात् स्वरसंधि) न हो, या (संहिता करने पर पदयोगों में) अनौचित्य अथवा अननुरूपता हो, वह विसंधि अथवा विसंधित्व दोष से युक्त होता है ॥ २२ अ ॥

जैसे—इस आर्द्र वायु के द्वारा इस पर्वतीय वन में इन निकल रही मञ्जरियों से भरी हुई और दूर तक फैली हुई वृक्षों की पंक्ति झकझोरी जा रही—हिलाई जा रही है ॥ २७ ॥

प्रस्तुत छन्द में मेघानिलेन अमुना इन (दोनों पदों में) संहिता नहीं कहना चाहता (करना चाहता) इस घोषणा से ही विसंधित्व (है)। 'मञ्जर्युद्गमगर्भासौ' इत्यादि में तो विरूप-अनुचित-संधि होने से विसंधित्व दोष है।

स्व० भा०—विसंधित्व दोष दो प्रकार का होता है। प्रथम तो वहाँ जहाँ संहिता कार्य हो सकता है, किन्तु किया नहीं गया। दूसरे वहाँ जब कि संहिता की तो जाती है, किन्तु संहित पद कटुता, क्लिष्टता, अश्लीलता आदि दोषों से युक्त हो जाते हैं। इन्हीं को क्रमशः असंहित तथा 'विरूप' कहा गया है।

वस्तुतः यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः। नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते॥

अतः मेघानिलेन+अमुना में 'अकः सवर्णे दीर्घः सूत्रानुसार तथा अमुना+एतस्मिन् में 'वृद्धिरेचि' से क्रमशः सवर्णदीर्घ तथा वृद्धि संधि होनी ही चाहिए। यदि यह कहा जाये कि यह संहिता कार्य विवक्षाधीन है अतः नहीं किया, यह भी अनुचित ही है, क्योंकि 'नहीं किया' या 'अभीष्ट नहीं है', यह कथन ही इसका सूचक है कि कोई कार्य सज्जनों को मान्य है, किन्तु प्रमादवश किया नहीं जा रहा है। 'न संहितां विवक्षामि' यह वृत्ति का भाग दण्डी के निम्नांकित छन्द के अनुसार अर्थ प्रकट करता है—

न संहितां विवक्षामीत्यसन्धानं पदेषु यत्।
तद्विसन्धीति निर्दिष्टं न प्रगृह्यादिहेतुकम्॥ काव्यादर्श ३।१५९॥

दूसरी बात यह भी है कि जब एक ही छन्द में एक स्थान पर संधि नहीं की जा रही है और दूसरे स्थान पर की जा रही है, तब तो अनौचित्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। या तो सभी अपेक्षित स्थानों पर संधि हो या सर्वथा हो ही नहीं। दोनों में से एक विकल्प स्वीकार करना चाहिए।

संधि स्वरस्वर के अतिरिक्त व्यञ्जन और व्यञ्जन में भी होती है। इसके अतिरिक्त स्वर और व्यञ्जन को भी नितान्त निकट—केवल अर्धमात्रा के व्यवधान से—रख कर भी संधि की जाती है। इनमें प्रथम तथा तृतीय को 'परः सन्निकर्षः संहिता' के अनुसार स्वर सन्धि या संहिता कहते हैं। तथा 'हलोऽनन्तराः संयोगः' नियमानुसार द्वितीय को हल्, व्यञ्जन संधि अथवा संयोग कहते हैं। वाक्य में संहिता का ही महत्त्व होने से अन्य संधिभेदों का उल्लेख नहीं किया गया।

कहीं-कहीं संहिताकार्य करने पर संहितरूप ऐसा हो जाता है, कि अच्छा नहीं लगता। वहाँ दुर्वाचकता, श्रुतिकटुत्व, अश्लीलत्व आदि दोष आ जाते हैं। जैसे मञ्जरी+उद्गम=मञ्जर्युद्गम, तरु+आली+उर्वी=तर्वाल्युर्वी में। अतः 'यह भी दोषान्तरजनकता के कारण अनपेक्षित है। भामह, दण्डी, रुद्रट आदि सभी आचार्य इस दोष को स्वीकार करते हैं। वामन से तो भोज ने उदाहरण तक लिया है। (द्रष्टव्य २।२।८॥ के उदाहरण)। वामनने वहीं भोज के प्रथम प्रकार के विसंधि दोष को 'विश्लेष' तथा शेष के दो रूप अश्लीलत्व तथा कष्टत्व–दिखाये हैं। वामन का यही दोष-विभाग मम्मट, विश्वनाथ आदि में विश्लेष, अश्लील तथा कष्ट इन्हीं नामों से विख्यात है।

विसंहित इति। विशब्दो विगमं वैपरीत्यं च द्योतयति। तेनार्थद्वयं संपद्यते। 'पर संनिकर्षः संहिता'। तया तत्कार्यं लक्ष्यते। संधानं संधिः। अर्धमात्राकालव्यवधानं। तथा च—संहिताकार्यशून्यं संधानं यत्रेत्यर्थः। 'संहितैकपदे नित्या' इति समयादन्यत्र विकल्पः।

वैरूप्यं द्विविधम्। दुर्वचत्वम्, अश्लीलत्वं च। तत्राद्यमुपलक्षणतयोदाहृतम्। द्वितीयं यथा—'उड्डीय गगने दूरं चलन् डामरचेष्टितः। अयमुत्पतते पत्री ततोऽत्रैव रुचिं कुरु॥' ननु यदि संधिकार्यं वैकल्पिकं कथमत्र दोष इत्यत आह—न संहितामिति। यदि संहिताप्रतिषेधः स्यात्तदा सकृद्द्विसंधिकरणेन तथावैरूप्यं भवतीति कवेरपराधो न संभाव्यते, यदि तु प्रतिषेधो नास्ति असकृद्दोषोपादानं तदा व्यक्तवैरूप्यप्रतिभासात्कथं न दोष इत्यर्थः। न विवक्षामीत्युपलक्षणम्। विवक्षायामप्यसकृत्प्रयोगो विरस एव। यथा—'तत उदित उदारहावहारी' इति। विशेषं वैशेषिके वक्ष्यामः॥

(४ पुनरुक्तिमत् दोष)

पदं पदार्थश्चाभिन्नौ यत्र तत्पुनरुक्तिमत् ॥ २२ ॥

यथा—

'उत्कानुन्मनयन्त्येते गम्भीराः स्तनयित्नवः।
अम्भोधरास्तडित्वन्तो गम्भीराः स्तनयित्नवः॥ २८॥

अत्र उत्कानुन्मनयन्तीत्यर्थपुनरुक्तम्। गम्भीराः स्तनयित्नव इति शब्दपुनरुक्तम्॥

जिस वाक्य में पद तथा पदार्थ उसी रूप में (पुनः) आते हैं वह वाक्य पुनरुक्ति दोष से युक्त होता है॥ २२॥

जैसे ये मांसल, शब्द करते हुये, विद्युत युक्त मेघ उन्मन नायिका को उन्मन बनाये दे रहे हैं॥ २८॥

यहाँ उन्मनो को उन्मन बनाये दे रहे हैं, इस कथन के कारण अर्थ की पुनरुक्ति हुई तथा गम्भीर और गर्जनकारी—(गम्भीराः तथा स्तनयित्नवः) शब्दों के दो बार आने से शब्द पुनरुक्ति है।

स्व० भा०—इस प्रकार पुनरुक्ति दोष अर्थसम्बन्धी तथा शब्दसम्बन्धी दो प्रकार का होता है। लाटानुप्रास तथा यमक अलंकारों में तात्पर्य और अर्थ का भेद होता है। अतः वहाँ दोष नहीं हुआ।

भामह तथा दण्डी ने इसे एकार्थ दोष माना है। भामह इसे विशेषकर अर्थदोष ही मानते हैं।[1] किन्तु दण्डी ने स्पष्ट रूप से भोज पर अपना प्रभाव डाला है। उनके अनुसार—

अविशेषेण पूर्वोक्तं यदि भूयोऽपि कीर्त्यते। अर्थतः शब्दतो वापि तदेकार्थं मतं यथा॥

काव्यादर्श ३।१३५

भोज का उदाहरण तो अक्षरशः दण्डी का ही है।[2] मम्मट आदि के यहाँ यही दोष कथितपदता नाम से विख्यात है। यहाँ अर्थ को छोड़ कर केवल पद की ही एकाधिक बार प्रयुक्ति अभिमत है।[3]

पदं पदार्थश्चाभिन्नाविति। पदमभिन्नमभिन्नतात्पर्याभिधेयमिति विशेषः। तेन तात्पर्यभेदे लाटानुप्रासोऽभिधेयभेदे यमकं च न दोषः। पदार्थोऽभिन्नपर्यायशब्दोपात्त इति शेषः। तेन पूर्वस्माद्विशेषः। स्वाभिधेयतात्पर्यकपदावृत्तिः पर्यायोपादानं च द्वयमपि शब्दपुनरु-

१. अत्रार्थपुनरुक्तं यत्तदेवैकार्थमिष्यते। काव्यालंकार ४।१५॥ २. काव्यादर्श ३।१३६॥
३. काव्यप्रकाश ७।४॥ में सप्तमदोष।

क्तमिष्यते। तथा च पारमर्षं सूत्रम्-'शब्दयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्' इति। युक्तं चैतत्। एकस्याभिधेयस्य द्विरभिधानं दोषः। तच्चाभिधानं तेनैव पदेन पर्यायेण वा संभवतीति शब्दमादायैव तस्य व्यवस्था पुनरुक्तिरत्रैव पदे भवति, तत्कोऽत्र मत्वर्थ इत्यत उक्तम्—यत्र तदिति। यत्र समुदायेऽवयवः पुनरुक्तरूपः स मतुबर्थः। अत एव नानापदनिरूपणीयतया वाक्यदूषणमिति स्फुटोऽर्थः। विकल्पितं चेदं लक्षणमेकस्यैव दूषणधुरारोहणक्षमत्वात्। संक्षेपार्थं त्वेकमुदाहरणम्। अर्थमादायैव पुनरभिधानं पुनरुक्तमिति विभावयितुं लक्षणक्रमवैपरीत्येन प्रथममर्थपुनरुक्तमुदाहृतमित्याशयवान्। व्याख्यानेऽपि तमेव क्रममाद्रियमाण आह—अत्रोत्कानिति। उत्क उन्मनाः। उन्मनयन्तीति उन्मनसं कुर्वन्तीति णिचि इष्ठवद्भावे टिलोपे च रूपम्। अम्भोधरा इति विशेष्यपदम्। शेषाणि विशेषणानि—गम्भीरा मांसलाः, स्तनयित्नवः शब्दायमानाः, तडित्वन्तः प्रकृष्टतडिद्युक्ताः।

(५ व्याकीर्णत्व दोष)

व्याकीर्णं तन्मिथो यस्मिन्विभक्तीनामसंगतिः।

यथा—

'दण्डे चुम्बति पद्मिन्या हंसः कर्कशकण्टके।
मुखं वल्गुरवं कुर्वंस्तुण्डेनाङ्गानि घट्टयन्॥ २६॥'

अत्र कर्कशकण्टके दण्डेऽङ्गानि घट्टयन् हंसः पद्मिन्या मुखं चुम्बतीति वक्तव्ये यथानिर्दिष्टरूपे विघट्टितविभक्तिकयुक्तित्वाद्व्याकीर्णम्॥

जिस वाक्य में परस्पर विभक्तियों का साथ न हो, वह व्याकीर्ण अथवा व्याकीर्णतादोष से युक्त माना जायेगा। २३ आ।

जैसे—कठोर कांटों से संयुक्त कमलदण्ड में अपने अङ्गों को रगड़ता हुआ, सानन्द शब्द कर रहा हंस कमलिनी के मुख को अपने मुख से चूम रहा है। २९।

यहाँ "कर्कशकण्टके दण्डेऽङ्गानि घट्टयन् हंसः पद्मिन्या मुखं तुण्डेन चुम्बति" यह कहना था, किन्तु समुचित रूप में (क्रमशः रखने के स्थान पर) विभक्तियों (से युक्त पदों को) (अलग अलग) बिखेर कर रख देने से व्याकीर्णत्व दोष हुआ।

स्व० भा०—पदों के क्लिष्ट न होने पर भी साकांक्ष विभक्तियों वाले पदों के व्यवधान से अथवा अनपेक्षित विभक्तियों वाले पदों को एक साथ रख देने से अर्थज्ञान में कठिनाई होती है। इस अपेक्षित क्रम का सम्बन्ध एक पद अथवा अर्थ से ही न होकर पूरे वाक्य से होता है, अतः यह वाक्यदोष है।

वस्तुतः संस्कृत में कर्ता, कर्म तथा क्रिया इस क्रम से शब्द रखकर वाक्य बनाने का नियम है। इससे अर्थावबोध में सरलता होती है। यदि यह क्रम नहीं रहता तब भी संस्कृतभाषा की अपनी विशिष्टता के कारण अनर्थ तो नहीं होता, किन्तु अर्थबोध में कठिनाई अवश्य होती है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत छन्द में ही यह निश्चित क्रम नहीं मिलता है। अतः दोष है। छन्द और वृत्ति दोनों में इन पदों का रूप स्पष्ट लक्षित होता है।

इस छन्द को दण्डी ने काव्यादर्श में, अन्वयबोध के लिये आवश्यक पदासत्ति का विशेष रूप से अतिक्रमण होने के कारण, व्युत्क्रान्ता नामक प्रहेलिका के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।[1]

---

१. काव्यादर्श ३। ११०॥

व्याकीर्णं तदिति। पदानामक्लेशेऽप्यर्थप्रतीतिहेतुभूताकाङ्क्षावद्विभक्तिव्यवधानादनाकाङ्क्षितविभक्तिसंनिधानाच्च नाहत्यपदानि विशिष्टार्थज्ञानजननसमर्थानि भवन्ति। विलक्षणलक्षणक्लेशपदानि भ्रमकराणीति वदतामाराध्यानामयमेवाभिप्रायो बोद्धव्यः। विभक्तिव्यवधानमात्रकृतस्तु क्लेशः प्रायेण पदैकवाक्यतायामुपपद्यते। दण्ड इति। आधारविभक्तिराधेयविभक्तिमपेक्षते, न तु चुम्बतीति क्रियाविभक्तिम्। सापि कारकविभक्तिमाकाङ्क्षति। पद्मिन्या इति संबन्धविभक्तिकमेव तत्र बोद्धव्यम्। क्लेशेन योऽत्रावगम्यते तमभिमतमर्थमावेदयति—अत्र कर्कशेति। अत एव नापार्थकत्वेन संकरः समुदायार्थस्य प्रतीयमानत्वात्। अस्ति कश्चिदुच्चारणयोर्विशेषो येन वाक्यार्थप्रतीतिः क्वचिदाहत्य भवति। क्वचित्तु नेति स एव विशेषः। संनिधानं व्यवधानमिति व्याख्यायते। कार्यदर्शनादर्शनाभ्यां चोन्नीयत इत्याशयवानाह—यथोक्तरूपेणेति (?)॥

(६ संकीर्णता दोष)

वाक्यान्तरपदैर्मिश्रं संकीर्णमिति तद्विदुः ॥ २३ ॥

यथा—

'काअं खाअइ खुहिओ कूरं फेल्लेइ णिब्भरं रुट्ठो।
सुंणअं, गेण्हइ कण्ठे हक्केइअ णत्तिअं ठेरो ॥ ३० ॥'
[काकं खादति क्षुधितः कूरं फेल्लति निर्भरं रुष्टः।
श्वानं गृह्णाति कण्ठे हक्कायति नप्तारं स्थविरः ॥]

अत्र काकं क्षिपति, कूरं खादति, कण्ठे नप्तारं गृह्णाति, श्वानं भीपयते, इत्यादौ वक्तव्ये यथोक्तपदविन्यासः संकीर्यते ॥

(एक वाक्य के पदों के) दूसरे वाक्य के पदों से मिल जाने पर संकीर्णता दोष समझा जाता है ॥ २३ ॥

जैसे—कौवे को खाता है, भूखा भात मारता है, अत्यन्त क्रुद्ध, कुत्ते को गले से पकड़ता है, दूर हटाता है नाती को बुड्ढा ॥ ३० ॥

यहाँ कौवे को मारता है, भात खाता है, नातीको गले से पकड़ता है, कुत्ते को डराता है, इत्यादि कहना चाहिए था, किन्तु यह निश्चित क्रम वाली वाक्य रचना संकीर्ण हो रही है।

स्व० भा०—व्याकीर्ण तथा संकीर्ण इन दोनों में अन्तर विशेषतः यह है कि प्रथम में वाक्य एक ही होता है, उसमें पद जहाँ के तहाँ अनपेक्षित ढंग से रख दिए जाते हैं जब कि द्वितीय में वाक्य एक से अधिक होते हैं। सम्पूर्ण छन्द का स्पष्ट अर्थ है—बुड्ढा आदमी क्षुधित होकर भात खाता है, कौवे को अत्यन्त रुष्ट होकर मारता है, कुत्ते को डराता है (भगाता है), और नाती को गले से लगाता है। यहाँ संस्कृत छन्द में एक वाक्य के पद दूसरे-दूसरे में घुस कर पूरे समुदाय को दुष्ट किए दे रहे हैं। मम्मट, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने भी यह दोष इसी रूप में स्वीकार किया है।

वाक्यान्तरपदैरिति। वाक्यान्तरसंवलितानि पदानि वाक्यान्तरमनुप्रविश्य तथा प्रतीतिं विघ्नन्ति, यथा समुदाय एव दूषितो भवति॥ काकमिति। कूरं भक्तं क्षुधितः खादति, काकं च निर्भरं रुष्टः सन् क्षिपति, श्वानं च निवारयति, नप्तारं च कण्ठे गृह्णाति स्थविरजातिः॥ आकाङ्क्षाक्रमेण किंचित्पदं कस्यचिद्वाक्यस्य संबद्धमिति ज्ञायत एव। तदाह—अत्र काकं

क्षिपतीति। शब्ददोषत्वं प्रकाशयति—इति वक्तव्य इति। यथोक्तपदविन्यास इत्यनेन संकीर्यंत इत्यस्यार्थो विवक्षितः। एवंप्रकारः संकर इत्यर्थः। विजातीयसंवलने लोके संकरव्यवहारः॥

(७ अपदत्व दोष)

विभिन्नप्रकृतिस्थादि पदयुक्त्यपदं विदुः।

यथा—

'आवज्जअ पिट्टिअए जह कुक्कुलि णाम मज्झ भत्ताले।
पेक्खन्तह लाउलकण्णिआह हा कस्स कन्देमि॥ ३१॥'

[आवर्ज्य पीड्यते यथा कुक्कुरो नाम मम भर्ता।
प्रेक्षंत राजकुलकर्मकरा अहह कस्य क्रन्दामि॥]

तदेतत्प्रकृतिस्थकोमलकठोराणां नागरोपनागराणां ग्राम्याणां वापदानाम-युक्तेरपदम्॥

वाक्य में जब समुचित पदयोजना प्रकृतिस्थ आदि पदों द्वारा अन्यथा कर दी जाती है तब अपदत्व दोष होता है॥ २४ अ॥

जैसे, (कोई मजदूर की पत्नी कह रही है)–सिर पकड़ कर कुत्ते की भांति मेरा पति राजकुल कर्मचारियों के देखते-देखते मारा जा रहा है, हाय किससे रोऊँ॥ ३१॥

यहाँ प्रकृतिस्थ, कोमल, कठोर, नागर, उपनागर अथवा ग्राम्य पदों का समुचित प्रयोग न होने से अपदत्व दोष है।

स्व० भा०—पद छः प्रकार के होते हैं। प्रकृतिस्थ, कोमल, कठोर, ग्राम्य, नागर तथा उपनागर। अनेक दीर्घस्वर के कारण गुरु तथा एक वर्ण के संयुक्ताक्षर से युक्त होने पर पद प्रकृतिस्थ, एकस्वर से दीर्घ अथवा गुरुरहित को कोमल, अनुस्वार, विसर्ग तथा दीर्घस्वर से गुरु अथवा अनेक संयुक्ताक्षर से युक्त को कठोर कहते हैं। इसी प्रकार प्रसिद्धि के आधार पर शेष तीनों का विभाजन होता है। सर्वलोकप्रसिद्ध को ग्राम्य, पण्डितजन-प्रसिद्ध को नागरिका तथा उभयनिश्रित को उपनागरिका कहते हैं। प्रस्तुत प्राकृत छन्द में प्रथमपाद में आवज्जिअए' में उपनागर तथा प्रकृतिस्थ, इसी प्रकार 'भत्ताल' में भी, तृतीयपाद में 'पेक्खन्तह' में कठोर तथा उपनागर, 'लाउल 'कण्णिआह' में ग्राम्य तथा प्रकृतिस्थ हैं। इसी प्रकार अन्यों में भी मिश्रण दर्शनीय है। इनके मिश्रण के कारण यहाँ अपदत्व दोष है।[1]

विभिन्नेति। षोढा पदं भवति—प्रकृतिस्थम्, कोमलम्, कठोरम्, ग्राम्यम्, नागरम्, उपनागरं च। तत्रानेकदीर्घस्वरकृतगौरवमेकसंयोगकृतगौरवं पदं प्रकृतिस्थम्। यथा—नीहारतारानीकाशसारसीत्यादि, हस्तपल्लवकङ्कणकर्पूरादि च। यथा च—पाडिव आमाण सिणिवं आलगोलेत्यादि, त्यज्झतुज्झउत्ताविलविहत्थतिअच्छेत्यादि च। एकस्वरकृतगौरवं गुरुशून्यं वा कोमलम्। करेणुतारकसरोजनिकरादि, मधुरमसृणसरससरलेत्यादि च। यथा—नीहारवाण इवाणवेर्णात्यादि, परकुअलडहतलिणेत्यादि च। सानुस्वारविसर्गदीर्घस्वरकृत-गौरवं संयोगबहुलं वाक्कठोरम्। यथा शुद्ध पयः पाचयांबभूव ता पिब, आह्विषातामित्यत्र।

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य इसी प्रसंग की रत्नदर्पण व्याख्या।

अच्छाच्छतत्रस्थग्यूढोरस्कप्रच्छन्नेत्यादि च यथा च—आ ई इ ए इत्यादि। उप्पिच्छउप्पुपुअ-एक्कमेक्कमित्यादि च। प्रसिद्धिमादाय ग्राम्यादित्रयं भवति। प्रसिद्धिस्त्रिधा। सार्वलौकिकी, पण्डितजनगामिनी, तदुपजीविनिचतुरलौकिकगामिनी चेति। तत्र सर्वलोकप्रसिद्धं ग्राम्यम्। देशीपदानि सर्वाण्येव संस्कृतेषु हस्तविवाहभगिनीहारकङ्कणादिकम्, तुंभ अंभ हलिद्दासा-हज्जादिकं च। एतदपभ्रंशसमानप्रसिद्धिकमतिप्रसिद्धं चेति गीयते। ग्राम्यवैपरीत्येन नातिप्रसिद्धं नागरं नगरेणोपमितमिति कृत्वातिप्रसिद्धाभावेनोपमा। इदमेव नात्यप्रसिद्धमु-पनागरमित्युच्यते। यथा—आद्याशङ्किंशाखुरलीलातङ्केत्यादि, सुदेवअच्छेवगुप्पन्ती विवलाआ इत्यादि च। शृङ्गारप्रकाशे तु भाषाणामपि भेदो पदमित्युक्तम्। इह तु शब्दजा-त्यौचित्याविवेचनेन गतमिति ग्रन्थकर्तुराशयः। तदेवं स्थिते प्रतिपदं कवीनां कोऽपि क्रमो निर्वाह्यो न त्वकस्मादेवालूनविशीर्णभावो विधेयः। तदिदमाह—विभिन्नेत्यादि। युक्तिरुचिता योजना सा प्रकृतिस्थादीनां विभिन्नान्यथानीतात्युक्तिरिति यावत्। एतद्व्यचयति—अयुक्ते-रिति॥ आउज्झिअ इति। आवर्ज्य केशेषु नमयित्वा। 'आउज्झिए' इति पाठे निर्भर्त्स्य। पिट्टिअए ताड्यते। जह कुक्कुलि यथा कुर्कुरी नामशब्दः प्राकाश्ये प्रकाशमेव ताडितमि-त्यर्थः। मज्झ भत्ताले मम भर्ता। पेक्खन्तह लाउलकण्णिआह। अनादरे षष्ठी। राजकु-लनियुक्तान् प्रेक्षमाणाननादृत्येत्यर्थः। हाशब्दः खेदे। कस्य क्रन्दामि। कस्य फूत्करो-मीत्यर्थः। अत्र प्रथमे पादे आउज्झिए इत्युपनागरं प्रकृतिस्थं च। 'आउज्झी' इति पाठे ग्राम्यं प्रकृतिस्थं च। भत्ताल इत्यपि तथा। तृतीयपादे पेक्खन्तहेति कठोरमुपनागरं च। राउल-कण्णिआहेति ग्राम्यं प्रकृतिस्थं च। हेति ग्राम्यं कोमलं च। कस्सेति प्रकृतिस्थमुपनागरं च। कन्देमीति ग्राम्यं प्रकृतिस्थं च। तदिहैकरूप एव कर्मकरवधूलक्षणे ग्राम्ये वक्तरि एकरूप एव वाक्यार्थे सर्वदोषतिरोधायकरसदीप्त्यभावे च यथा भाषाणां व्यतिकरो दूषणं तथा ग्राम्यादीनामिति सहृदयमात्रवेद्यश्चायं पन्था इत्यवहितैर्भवितव्यम्। एतेषां च स्वरूपं स्वयमेव गुणीभावप्रस्तावे लेशतः प्रकाशयिष्यति तेनेह संक्षिप्तवान्। नैवंविधः कदापि व्यति-करो महाकविगिरामाजानिकः प्रवर्तते। तथा हि—'त्यजतो मङ्गलक्षौमे दधानस्य च वल्कले। ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः॥' अत्र प्रथमादिषु पादेषु क्षौमचीरविस्मितरा-गपदानि उपनागराणि शेषाणि ग्राम्याणि। प्रतिपादं च प्रकृतिस्थकोमलाभ्यामेव निर्वाहः। एवमन्यत्रापि प्रत्येकं द्वन्द्वसमुदायैः प्रतिपादमुपक्रमोपसंहारनिर्वाहक्रमः स्वयमुपलक्षणीय इत्यास्तां तावत्॥

(८ वाक्यगर्भित दोष)

वाक्यान्तरसगर्भं यत् तदाहुर्वाक्यगर्भितम्॥ २४॥

यथा—

'योग्यो यस्ते पुत्रः सोऽयं दशवदन लक्ष्मणेन मया।
रक्षैनं यदि शक्तिर्मृत्युवशं नीयते विवशः॥ ३२॥'

अत्र योग्यो यस्ते पुत्रो लक्ष्मणेन मया मृत्युवशं नीयत इति वाक्यस्य रक्षैनं यदि शक्तिरिति वाक्यान्तरेण सगर्भत्वाद्गर्भितम्॥

जब एक वाक्य के गर्भ में दूसरा भी वाक्य होता है, (तब) उसे वाक्यगर्भित दोष कहते हैं॥ २४॥

जैसे—हे रावण, मुझ लक्ष्मण के द्वारा तुम्हारा यह जो दक्ष पुत्र (मेघनाद) है, हठात् मारा जा रहा है, यदि शक्ति हो तो इसकी रक्षा करो ॥ ३२ ॥'

यहाँ पर तुम्हारा जो योग्य पुत्र है, वह मुझ लक्ष्मण के द्वारा मृत्यु के वश में ले जाया जा रहा है, इस वाक्य के मध्य में यदि शक्ति हो तो रक्षा करो यह दूसरा वाक्य आ जाने से वाक्यगर्भितत्व दोष हुआ।

स्व० भा०—जब एक वाक्य के पूर्व तथा उत्तरभाग के मध्य में कोई दूसरा वाक्य ही आकर अर्थ में व्यवधान उपस्थित करता है तब यह दोष होता है। व्याकीर्ण में वाक्य एक ही होता है, किन्तु साकांक्ष विभक्ति वाले पद अस्तव्यस्त क्रम से रखे होते हैं, संकीर्णत्व में अनेक वाक्य होते हैं जिनमें एक दूसरे के पद एक दूसरे वाक्य में चले जाते हैं, किन्तु इसमें केवल दो वाक्य होते हैं जिनमें एक छोटा वाक्य बड़े वाक्य के ही भीतर रखा रहता है। इसमें न तो व्याकीर्ण जैसा विभिन्न विभक्तिक पद ही अस्त-व्यस्त रहते हैं और न तो एक के पद ही दूसरे से मिल जाते हैं, अपितु पूरा क्रम अपेक्षित रूप से ही होता है, केवल दूसरा वाक्य प्रथम वाक्य के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध के मध्य आ जाता है। मम्मट आदि परवर्तियों ने भी इसे इसी रूप में माना है।

वाक्यान्तरेति। मध्यप्रविष्टं वाक्यं पूर्वोत्तरभागाभ्यामेकीभूतस्य गर्भायमाणमेकस्वरस-प्रसूतां प्रतीतिं विघ्नयदात्मना सहैव समुदायविरसकक्षामारोहयति। वाक्यान्तरवाक्यस्य विशेषो विवक्षितः प्रतीतिव्यवधायक इति यावत्॥ योग्य इति। मयेति। कारकविभक्तेः क्रियाकाङ्क्षाशीलायास्तामसंगमय्य मध्ये रक्षैनं शक्तिरित्येतावता गर्भस्थानीयेन विरसी-करणमित्याह—अत्र योग्यो य इति। एवं वाक्यरूपताभङ्गहेतून्दोषानभिधाय तत्रैव काव्यभावप्रत्यूहहेतवोऽभिधातव्यास्ते च गुणभङ्गद्वारकाः, अलंकारभङ्गद्वारकाः, छन्दोभङ्ग-द्वारकाः, यतिभङ्गद्वारकाश्चेति चतुर्धा विप्रथन्ते। ततश्च यद्यपि प्रथमं गुणभङ्गद्वारका वक्तु-मुचितास्तथापि तेषां बहुत्वाद् दुरूहत्वाच्च सूचीकटाहन्यायेन पश्चात्करणमलंकारभेदादिषु च मध्ये प्रतियोगिद्वारालंकारभङ्गस्य प्राधान्यमिति तद्द्वारा दोषांल्लक्षयति॥

(९–१० भिन्नलिङ्गोपमा तथा भिन्नवचनोपमा दोष)

यत्रोपमा भिन्नलिङ्गा भिन्नलिङ्गं तदुच्यते।
भवेत्तद्भिन्नवचनं यद्भिन्नवचनोपमम्॥ २५॥

यथा—

'अविगाह्योऽसि नारीणामनन्यवचसामपि।
विषमोपलभिन्नोर्मिरापगेवोत्तितीर्षतः॥ ३३॥'[1]

अत्रापगेव त्वमविगाह्योऽसीति लिङ्गभेदः। नारीणामुत्तितीर्षत इति लिङ्गभेदो वचनभेदश्च। तदिदं द्वयोरेकमेवोदाहरणम्॥

जहाँ पर उपमा भिन्नलिङ्ग की होती है अर्थात् उपमेय तथा उपमान के लिङ्ग भिन्न होते हैं, वहाँ वाक्य भिन्नलिङ्गोपम होता है। तथा जिस वाक्य में उपमा का वचन भिन्न होता है अर्थात् उपमेय तथा उपमान के वचन एक नहीं होते तब भिन्नवचन दोष होता है॥ २५॥

---

१. रुद्रट के काव्यालंकार ६।४४ में यही उदाहरण है।

जैसे—(हे महाराज,) अनन्यवाक् स्त्रियों के लिए आप उसी प्रकार दुःखग्राह्य हैं जिस प्रकार पार जाने की इच्छा वाले व्यक्ति के लिए ऊँचे-नीचे पत्थरों से टकराती हुई लहरों वाली नदी ॥ ३३ ॥

यहाँ पर "नदी की भाँति आप अनवगाह्य हैं" इतने में लिङ्गभेद, 'स्त्रियों के' तथा पार जाने की "इच्छा वाला" में लिङ्गभेद तथा वचनभेद (दोनों हैं)। यह दोनों का एक ही उदाहरण है।

स्व० भा०—कोई भी उपमातभी अच्छी लगती है और उससे तभी सचमुच भावबोध के साथ चमत्कार की प्रतीति होती है जब उपमेय तथा उपमान दोनों ही समानलिङ्ग तथा वचन के होते हैं। ऐसा न होने पर दोप होता है क्योंकि साधर्म्य बोध पूर्ण पुष्ट नहीं हो पाता। वस्तुतः एक तथा अनेक की और स्त्री, पुरुप अथवा नपुंसक की एक दूसरे से तुलना ही असङ्गत है।

यत्रोपमेति। उपमाग्रहणमुपलक्षणमित्यग्रे वक्ष्यामः। उपमा उपमितिः सादृश्यभिन्नोपमानवाचिनन उपमेयवाचिनश्च लिङ्गं स्त्रीपुंनपुंसकं यस्य सा तथोक्ता। एवं भिन्नवचनोपममित्यत्रापि व्याख्येयम् ॥ अविगाह्योऽसीति। अविगाह्यतामात्रमत्र सादृश्यं विवक्षितमेतदुपयुक्तमेव विशेषणमुपमानोपमेययोरुपादानयोग्यमित्यकस्मादेव विकृतवचनभेदनिवन्धनः प्रयोजनमाकाङ्क्षति। तथा तदनुसंधानप्रवणस्य प्रकृतप्रतीतिराच्छाद्यत इतिदूषणसिद्धिः। एतेन दूषणता व्याख्याता। विभागवाक्ये संहितावस्थयोरुद्देशादिह च मिलितयोरुदाहरणात्तथाभावो दोषत्वमिति भ्रान्तिं निरस्यति—तदिदमिति। एकमुदाहरणं नत्वेकः संभिन्न उपाधिः प्रत्येकमेव स्वस्ति समर्थत्वादित्यर्थः। एतदेवानुसंधाय विभागवाक्ये द्वे पदम् ॥

तत्किमुदाहरणस्य संकीर्णत्वमेव नेत्याह—

अथ भिन्नलिङ्गस्यैव यथा—

'वापीव विमलं व्योम हंसीव धवलः शशी।
शशिलेखेव हंसोऽयं हंसालिरिव ते यशः ॥ ३४ ॥'

भिन्नवचनस्यैव यथा—

'सरांसीवामलं व्योम काशा इव सितः शशी।
शशीव धवला हंसी हंसीव धवला दिशः ॥ ३५ ॥'

अब (दोनों का पृथक्-पृथक् उदाहरण देते समय) केवल भिन्नलिङ्गोपमा का उदाहरण किया जा रहा है। जैसे—(कोई बन्दी राजा की प्रशस्ति करते हुए कहता है कि हे महाराज) वापी के सदृश आकाश निर्मल है, हंसी के सदृश चन्द्र श्वेत है, चन्द्रकला की भाँति यह हंस है तथा हंस-पङ्क्तियों की भाँति आपका यश है ॥ ३४ ॥

भिन्नवचन का उदाहरण इस प्रकार है जैसे—सरोवरों की भाँति आकाश स्वच्छ है कासों की भाँति चन्द्रमा श्वेत है, चन्द्रमा की भाँति हंसी श्वेत है और हंसी की भाँति दिशायें स्वच्छ हैं ॥ ३५ ॥

स्व० भा०—ये दोनों क्रमशः भिन्नलिङ्ग तथा भिन्नवचन के उदाहरण हैं। वापी स्त्रीलिङ्ग तथा व्योम नपुंसकलिङ्ग है। इसी प्रकार हंसी, शशिलेखा, तथा हंसालि ये उपमान स्त्रीलिङ्ग तथा क्रमशः शशी, हंस और यशः पुल्लिंग, पुल्लिंग तथा नपुंसक लिङ्ग में है। अतः दोनों में भिन्नलिङ्गता स्पष्ट है।

दूसरे छन्द में भी 'सरांसि' 'काशा' तथा हँसी ये बहुवचन, बहुवचन तथा एकवचन के उपमान शब्द क्रमशः 'व्योम' 'शशी,' तथा 'दिशः' उपमेयों की तुलना में आए हैं जो क्रमशः एकवचन, एकवचन तथा बहुवचन हैं।

भोज ने दोनों दोष भामह से ग्रहण किये हैं। उन्होंने काव्यालङ्कार में (२।३९) इनका उल्लेख किया है। भोज ने प्रथम उदाहरण भी भामह का ही लिया है।[1]

अथ भिन्नलिङ्गस्यैवेति। द्वयमपि निगदव्याख्यातम् ॥

(११ न्यूनोपम दोष)

जातिप्रमाणधर्मतो न्यूनता उपमानस्य न्यूनोपमत्वम्। तत्र जातिप्रमाणन्यूनतार्थदोषः। धर्मन्यूनता तु धर्माभिधायकपदन्यूनतालक्षणाशब्ददोष एव। एतेनाधिकत्वं व्याख्यातमित्याशयवानाह—

न्यूनोपममिह न्यूनमुपमानविशेषणैः।

यथा—

'संहअचक्कवाअजुआ विअसिअकमला मुणालसंछण्णा।
वावी वहु व्व रोअणविलित्तथणआ सुहावेइ ॥ ३६ ॥'

[संहतचक्रवाकयुगा विकसितकमला मृणालसंछन्ना।
वापी वधूरिव रोचनाविलिप्तस्तनी सुखयति ॥]

अत्र नेत्रबाहूपमापदानां वधूविशेषणत्वेनानुक्तत्वादिदं न्यूनोपमम् ॥

इस काव्यशास्त्र में उपमान के विशेषणों में कमी होने पर वाक्य न्यूनोपम होता है। २६ अ।

जैसे—सट कर बैठे हुए दो चक्रवाकों से संयुक्त, खिले हुए कमलों वाली तथा कमलदण्ड से भरी हुई वापी स्तनों में गोरोचन (अथवा रोचना) का लेप की हुई नववधू की भांति सुख दे रही है। ३६ ॥

इस छन्द में वधू के विशेषण के रूप में नेत्र और बाहु जैसे पदों को न कहने के कारण इस वाक्य में न्यूनोपमत्व दोष है।

स्व० भा०—भामह ने भी (काव्या २।३९, ४१) उपमा दोषों में प्रथम हीनत्व दोष को ही स्वीकार किया था। लक्षण समान होने पर भी भोज ने उसे न्यूनोपमत्व नाम दिया है।

वस्तुतः उपमेय तथा उपमान दोनों के समलिङ्गवचन होने के साथ समान तथा समसंख्यक विशेषण भी होने चाहिए। अन्यथा सादृश्य अपूर्ण रह जाता है।

उपर्युक्त छन्द में ही उपमेय वापी पद चक्रवाक युगल, कमल तथा मृणाल इन तीन विशेषणों से युक्त है जब कि उपमान वधू पद केवल स्तनमात्र विशेषण से संयुक्त है। यदि वधू के नेत्र तथा बाहु का भी समावेश कर लिया गया होता तो दोनों स्थानों में समसंख्यता होने से यह दोष न रहता। अतः उपमान के विशेषणों में अपेक्षाकृत कमी के कारण यहाँ न्यूनोपमत्व दोष है।

न्यूनोपममहेति। इहशब्दो येषु मध्येषूपमानस्य स्तोकविशेषणतयोपमेयन्यूनेत्युक्तं तथाधिकोपममिति वक्ष्यति—संहतेत्यादि। अत्र चक्रवाकयुगोपमानमपदमेव परमुपात्तम्। रोचनाविलिप्तस्तनीत्यनेन कमलस्योपमानं नेत्रपदं मृणालस्योपमानं बाहुपदं च नोपात्तं

---

१. काव्यालंकार २।५३ ॥

तदपि च सविशेषणमुपादेयं भवति। येन विकासादिसमभिव्याहारसामञ्जस्यमपि स्यादिति। पदानामिति बहुवचनाभिप्रायः। अत एव धर्माणामेकनिर्देशेऽन्यसंवित्साहचर्यादिति नावतरति व्यभिचारात्। किमर्थं तस्योपमानमनुसंधेयमित्यपि न वाच्यम्। मात्रापि नानर्थिका कविनोपादेयेति साहित्यविदाम्नायव्यवस्थितावुपमेयविशेषणस्योपमानविशेषणतया प्रयोजनचिन्तायां पूर्ववदेव प्रतीतिप्रत्यूहस्य सुलभत्वादनुक्तत्वादितिशब्दप्रधानकतामाचष्टे। एवमुत्तरत्र॥

(१३ अधिकोपमत्व दोष)

अधिकं यत्पुनस्तैः स्यात्तमाहुरधिकोपमम्॥ २६॥

यथा—

'अहिणवमणहरवरिइअवलअविहूसा विहाइ णववहुआ।
कुन्दलएव्व समुप्फुल्लगुच्छपरिणित्तभसरगणा॥ ३७॥'

[अभिनवमनोहरविरचितवलयविभूषा विभाति नववधूः।
कुन्दलतेव समुत्फुल्लगुच्छपरिणीयमानभ्रमरगणा॥]

इदं भ्रमरगणस्योपमानविशेषणस्याधिक्यादधिकोपमानम्॥

जो वाक्य अधिक उपमान पदों से युक्त होता है उसको अधिकोपम कहा गया है॥ २६॥

जैसे—नवीन एवं मनोहर बने हुये वलय से सुशोभित नववधू फूले हुये पुष्पगुच्छ पर परागपान कर रहे भ्रमरों से संयुक्त कुन्दलता की भांति लग रही है। ३७॥

उपमान (कुन्दलता) के विशेषण भ्रमरसमूह इस पद के (उपमेय की अपेक्षा) अधिक होने से अधिकोपम दोष हुआ।

स्व० भा०—यहाँ नववधू के सदृश कुन्दलता तो है, नवीन और मनोहर वलय का उपमान उसी भांति समुत्फुल्ल गुच्छ है, किन्तु भ्रमरगण पद का स्थान ग्रहण करने वाला कोई उपमेय पद नहीं है। अतः जहाँ न्यूनोपम में उपमान की कमी से दोष आता था, वहीं यहाँ पर पदों के अधिक हो जाने से दोष हुआ। इसे भी भोज ने भामह से ही लिया है।[1] परवर्ती मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भी न्यूनपदत्व तथा अधिकपदत्व दोषों की चर्चा की है, किन्तु उन लोगों ने उपमा से इनका सम्बन्ध नहीं जोड़ा है।

अधिकमिति। यद्यप्येकस्य विशेषणाधिक्ये विशेषणन्यूनत्वे वान्यविशेषणस्य न्यूनाधिकभावो नियतस्तथाप्युपमानगतमेव द्वयं निरूप्यते। तत्र हि दृष्टमुपमेये प्रतिबिम्बकल्पमुपस्थाप्यते तेनान्तो नोपमेये तयोर्निरूपणमिति॥

(१४ छन्दोभङ्गता दोष)

भग्नच्छन्द इति प्राहुर्यच्छन्दोभङ्गवद्वचः।

यथा—

'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः॥ ३८॥'

अत्र पञ्चमवर्णस्य लघोः स्थाने गुरोः करणाच्छन्दोभङ्गः॥

---

१. काव्यालंकार २।५८॥

जो उक्ति छन्दोभङ्गता से युक्त होती है, उसे भग्नछन्द कहा जाता है। २७ अ।

जैसे—जिसमें पांच २ पुरुष—देव, पितृगण, गन्धर्व, राक्षस तथा असुर अथवा निषाद सहित चतुर्वर्ण और आकाश भी स्थित हैं, उसी आत्मतत्व को जानकर धीर ब्राह्मण उत्कृष्ट ज्ञान का साक्षात्कार करे॥ ३८॥

यहाँ लघु रूप से अपेक्षित पञ्चम वर्ण के स्थान पर गुरु कर देने से छन्दोभङ्ग हो गया है।

स्व० भा०—यह एक ऐसा वाक्यदोष है जिसको कोई भी दोषविचारक प्रायः छोड़ नहीं सका है। यहाँ भोज की परिभाषा स्पष्ट नहीं है, किन्तु उदाहरण तथा वृत्ति से ऐसा ज्ञात होता है कि वाक्य अथवा छन्द में अपेक्षित क्रम में गुरु तथा लघु का सन्निवेश न होने से केवल लघु गुरु विपर्ययरूप दोष ही मान्य है। भामह को भिन्नवृत्तत्व दोष में गुरु तथा लघु वर्णों का अस्थान में सन्निवेश, अथवा उनकी न्यूनता या अधिकता सब स्वीकार्य है। उनके अनुसार—

गुरोर्लघोश्च वर्णस्य योऽस्थाने रचनाविधिः।
तन्न्यूनाधिकता वापि भिन्नवृत्तमिदं यथा॥ ४।२६॥

इसी से मिलता-जुलता लक्षण दण्डी का भी है।[1] वामन का लक्षण 'स्वलक्षणच्युतकृतं वृत्तं भिन्नवृत्तम्' (२।२।१॥) अधिक श्लिष्ट है। वृत्त अपने लक्षण से हीन हो गया, चाहे जिस रीति से हो, वह दोष युक्त हो गया। मम्मट ने अश्रव्य, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु तथा रसाननुगुण इन तीन प्रकार के रूपों को स्वीकार किया है।[2]

यहाँ उद्धृत छन्द अनुष्टुप् है। इसका लक्षण है—

पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः।
षष्ठं गुरुं विजानीयाच्छेषास्त्वनियता मताः॥

इस लक्षण के अनुसार प्रत्येक पाद में पञ्चम वर्ण लघु होना था, किन्तु यहाँ 'पं' प्रथम पाद में, 'री' तृतीय में, 'त' चतुर्थ में गुरु है। द्वितीय के 'प्र' का भी उच्चारण गुरु-सा ही है। अतः यहाँ दोष है।

भग्नच्छन्द इति। **वाचां श्रव्योऽवच्छेदश्छन्दस्तस्यैवोपमानयुक्तादयस्तेनैव गुरुलघुनिवेशक्रमेण श्रव्यता भवतीत्याशयात्। तस्य विपर्यासश्छन्दोभङ्गो व्यक्त एव वैरस्यहेतुः प्राहुरिति। पञ्चोदाहरणत्वावच्छेदविपर्यासत्वे च भग्नवृत्तव्यवहारादिदमेव निमित्तमस्यावधार्यत इत्यर्थः। पञ्चेति। पञ्चजनाः पुरुषास्ते देवपितृगन्धर्वराक्षसासुरभेदात्पञ्च। अथवा निषादपञ्चमब्राह्मणादिचतुष्टयभेदात्। तमेवात्मानं ब्रह्मापरपर्यायं विज्ञाय श्रवणमननिदिध्यासनैरुपास्य प्रज्ञां प्रकृष्टं ज्ञानं साक्षात्कुर्वीत॥ अत्र पञ्चमवर्णस्येति। 'पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः। षष्ठं गुरुं विजानीयाच्छेषास्त्वनियता मताः॥' इत्यनुष्टुप्छन्दसो लक्षणम्॥**

(१४ भग्नयति दोष)

अस्थाने विरतिर्यस्य तत्तु भग्नयतीष्यते॥ २७॥

---

१. वर्णानां न्यूनताधिक्ये गुरुलघ्वयथास्थितिः।
यत्र तद् भिन्नवृत्तं स्यादेष दोषः सुनिन्दितः॥ ३।१५६॥

२. द्रष्टव्य काव्यप्र० ७।५॥ का पाँचवां दोषवर्णन।

यथा—

'ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्रादिगीर्वाणवन्द्यो भक्तानां भूयाच्छ्रिये चन्द्रचूडः।
स्त्रीणां संगीतं समाकर्णयन्केतूदस्ताम्भोदं सदध्यास्त ईशः ॥३९॥'

अत्र चतुर्थस्थाने यतौ कर्तव्यायां तदन्यत्र यतिकरणाद्भग्नयतीदम् ॥

जिस वाक्य में जहाँ नहीं होना चाहिए उस स्थान पर होता है अथवा जहाँ होना चाहिये उस स्थान पर विराम हो जाने से होता है, उस वाक्य में भग्नयतित्व दोष अपेक्षित होता है ॥२७॥

जैसे—ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु आदि देवताओं के वन्दनीय भगवान् शिव भक्तों की समृद्धि के लिए हों अर्थात् भक्तों की समृद्धि का वर्धन करें। स्त्रियों के गीतों को सुनते हुये, अपनी ध्वजाओं से बादलों को भी ऊपर उठा देने वाली अर्थात् ऊँची सभा में महाराज बैठे हैं। (३९) अथवा-(दोनों पंक्तियों को एक-सा मानने पर)-ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु आदि देवताओं के वन्दनीय स्त्रियों (किन्नरियों तथा अप्सराओं) के गीतों को सुनते हुये, अपनी पताका से बादलों को भी ऊपर खिसका देने वाली अर्थात् अत्यन्त ऊँची चोटी से संयुक्त सभा में बैठे, चन्द्रधर भगवान् शंकर भक्तों की समृद्धि का वर्धन करें ॥ ३९ ॥

यहाँ चतुर्थ स्थान पर यति करनी चाहिए थी अतः दूसरी जगह यति करने से भग्नयतित्व दोष है।

स्व० भा०—इस छन्द के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध समान वृत्त वाले दो छन्दों के अंश प्रतीत होते हैं अन्यथा सम्पूर्ण छन्द का अर्थ बाद वाला होगा। यहाँ शालिनी नामक छन्द है। उसका लक्षण है-"वेदच्छेदा शालिनी मोऽथ तौ गौ"। यह ग्यारह वर्णों का छन्द है जिसमें चार तथा सात वर्णों पर यति होती है। प्रस्तुत श्लोक में संहिता अथवा संयोग होने से चारों चरणों में चार वर्णों के बाद यति नहीं हो पाती। प्रथम, तृतीय तथा चतुर्थ पादों में नामपद--संज्ञायें-आयी हैं जो चतुर्थ पर यति लेने से कट जाती हैं तथा द्वितीय में धातु है जो कट रही है। अतः यहाँ भग्नयति दोष है।

इस दोष को भी भामह,[1] दण्डी तथा वामन ने यतिभ्रष्ट नाम दिया है। भोज उसी को भग्नयति कहते हैं। दण्डी की परिभाषा भोज से भी अधिक स्पष्ट है--

श्लोकेषु नियतस्थानं पदच्छेदं यतिं विदुः।
तदपेतं यतिभ्रष्टं श्रवणोद्वेजनं यथा ॥ ३।१५२ ॥

वामन ने 'विरसविरामं यतिभ्रष्टम्' (२।२।३) कह कर उसका 'तद्धातुनामभागभेदे स्वरसंध्यकृते प्रायेण (२।२।४) के अनुसार धातुभागभेद तथा नामभागभेद दो भेद भी किया है। उन्होंने प्रश्न भी उठाया है कि--"न वृत्तदोषात्पृथग्यतिदोषः, वृत्तस्य यत्यात्मकत्वात्" (२।२।५) तथा समाधान भी किया है--'न, लक्ष्मणः पृथक्त्वात् ॥ वही ६ ॥...."गुरुलघुनियमात्मकं वृत्तम्। विरामात्मिका च यतिरिति" (वही।)

अस्थान इति। श्रव्यः पठितेति-विच्छेदो यतिर्विच्छिद्य विच्छिद्य पठ्यमाना भारती स्वदतो श्रव्यतोपलक्षणार्थं च द्विमुनिवेदादिसंज्ञया तत्र तत्र विविच्यते। तथा चास्ति कश्चिद्विशेषो येन क्रियमाणापि विरतिर्न सौभाग्यपदं पुष्यति। स च विशेषो नाम भागभेदोऽस्वरसंधिकृतश्च प्रायेण एतेषां स्वभावविशेषादेव स्थाने क्रियमाणापि विरतिरन्यत्रैव परं प्रकाशते।

---

१. काव्यालंकार ४।२४ ॥

न तत्र कथंचन सौभाग्यमुन्मीलयति, स्थानपरिभाषया व्यावर्तितत्वात्। तदिदमुक्तम्—अस्थान इति वामनोऽप्याह 'विरसविरामं कष्टम्' इति। सदो गृहरूपा सभा केतूदस्ता, स्भोदं ध्वजदण्डोत्क्षिप्तजलधरमित्युच्चैस्त्वम्। 'वेदच्छेदा शालिनी मोऽथ तौ गौ' इत्युपलक्षणं श्रव्यरतेः। अत्र द्वितीयपादे धातुभागभेदः शेषपादत्रये नामभागभेदाः। न चात्र स्वरसंधानमस्तीति ॥

(१५ अशरीरत्व दोष)

क्रियापदविहीनं यदशरीरं तदुच्यते।

यथा—

'सेलसुआरुद्धद्धं मुद्धाणाबद्धमुद्धससिलेहम्।
सीसपरिट्ठिअगङ्गं संज्झापणअं पमहणाहम् ॥ ४० ॥'
[शैलसुतारुद्धार्धं मूर्धाबद्धमुग्नशशिलेखम्।
शीर्षपरिष्ठितगङ्गं संध्याप्रणतं प्रमथनाथम् ॥]
क्रियापदाभावादशरीरमिदम् ॥

जो वाक्य क्रियापद से रहित हो, वह अशरीर अथवा इस दोष से युक्त होगा। २८ अ।

जैसे--पर्वतपुत्री पार्वती से अवरुद्ध अर्ध शरीर वाले, भाल पर खण्डचन्द्रकला बाँधे हुये, मस्तक पर गङ्गा को बैठाये हुए, सन्ध्या के लिए प्रणत प्रमथगणों के स्वामी को (प्रणाम) ॥४०॥

क्रिया पद का अभाव होने से यह वाक्य अशरीर है।

स्व० भा०—किसी भी वाक्य में पूर्णता के लिए क्रिया आवश्यक होती है। इसके बिना वाक्य का एक अङ्ग ही नहीं रहता। रत्नदर्पण टीका के कर्त्ता रत्नेश्वर के अनुसार 'क्रियेत्युपलक्षणम्। प्रधानपदहीनमिति बोद्धव्यम्।' यहाँ क्रिया न होने से यह नहीं स्पष्ट हो पाता है, कि उन शिव को क्या किया जाये। अतः यहाँ विधेय अंश अस्पष्ट है। इसके कारण यहाँ यह दोष है।

क्रियापदेति। क्रियेत्युपलक्षणम्। प्रधानपदहीनमिति बोद्धव्यम्। प्रधानाविमर्शे हि वाक्यशरीरमेव न निष्पन्नं स्यात् ॥ शैलेति। वाक्ये क्रियाप्रधानमिति दर्शने तत्पदानुपादानादत्र प्रधानाविमर्शः। शैलसुतयावरुद्धमर्धं यस्य। मुद्धाणो मूर्धा तत्राबद्धा भुग्ना शशिलेखा येन। शीर्षे परिष्ठिता गङ्गा येन। यश्च संध्यायै प्रणतस्तं प्रमथनाथं प्रमथा गणास्तेषां नाथम्। कर्मविभक्तेः क्रियामन्तरेणाचरितार्थत्वात् क्रियाया नमस्काररूपाया व्यभिचारेणार्थापत्तिविषयतानुपपत्तेरिति। अस्यां च गाथायां स्त्रीमयव्यापाररूपता भगवतः प्रतीयते इति रहस्यमाराध्या मन्यन्ते ॥

(१६ अरीतिमत् वाक्यदोष)

गुणभङ्गद्वारकदोषनिरूपणावसरोऽयमित्याशयवानाह—

गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः ॥ २८ ॥
अरीतिमदिति प्राहुस्तत्त्रिधैव प्रचक्षते।
शब्दार्थोभययोगस्य प्राधान्यात् प्रथमं त्रिधा ॥ २९ ॥
भूत्वा श्लेषादियोगेन पुनस्त्रेधोपजायते।

अत्र यः श्लेपसमतासौकुमार्यविपर्ययः ॥ ३० ॥
शब्दप्रधानमाहुस्तमरीतिमति दूषणम् ।

जहाँ पर श्लेप आदि गुणों की विपरीतता देखी जाती है वहाँ अरीतिमत् दोप कहा गया है। यह तीन प्रकार का ही कहा जाता है। शब्द, अर्थ तथा दोनों की प्रधानता होने पर पहले तीन प्रकार का होकर श्लेप आदि के सम्बन्ध से पुनः प्रत्येक तीन प्रकार का हो जाता है। इनमें भी जो श्लेप, समता, और सुकुमारता की विपरीतता है उस अरीतिमत् वाक्यदोप को शब्द-प्रधान कहा गया है। (२८-३१ अ)

स्व० भा०—श्लेप, प्रसाद, समता, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, माधुर्य, कान्ति, उदारता तथा ओज इनके योग में वाक्य में वक्रता आती है और काव्य नाम सार्थक होता है। इन गुणों के अभाव में काव्य केवल काव्याभास रह जाता है। ये श्लेप आदि नौ ही ऐसे हैं जिनके अभाव में काव्याभास होता है। इनके विपरीत हो जाने से रीति भग्न हो जाती है क्योंकि गुणों से युक्त पदों की रचना ही रीति है। "विशिष्टपदसंघटना रीतिः।"

यहाँ भोज ने विभाजन शब्द, अर्थ तथा उभय के आधार पर प्रथम किया। इस प्रकार यह त्रिविध हुआ। इसके पश्चात् इनमें आश्रित रहने वाले अलग २ प्रत्येक तीन-तीन गुण हैं। उनके न रहने से अथवा विपर्यय से एक-एक के तीन-तीन दोप होने से सब मिला कर अरीतिमत् दोप के नव भेद हुए।

(१६ क (१) श्लेपविपर्ययरूपशब्दप्रधान अरीतिमत् दोप)

तत्र—

विपर्ययेण श्लेपस्य संदर्भः शिथिलो भवेत् ॥ ३१ ॥

यथा—

'आलीयं मालतीमाला लोलालिकलिला मनः ।
निर्मूलयति मे मूलात्तमालमलिने वने ॥ ४१ ॥'

अत्र भिन्नानामपि पदानामेकपदता प्रतिभासहेतुरनतिकोमलो बन्धविशेषः श्लेपः। तद्विपर्ययेण शब्दप्रधानोऽयं श्लेपविपर्ययः ॥

श्लेप के विपर्यय से प्रसंग शिथिल हो जाता है ॥ ३१ ॥

जैसे—हे सखी ! तमालवृक्ष के कारण श्यामल इस वन में यह चञ्चल भ्रमरों से कलुषित मालतीमाला मेरे मन को जड़ से उखाड़े दे रही है ॥ ४१ ॥

काव्यशास्त्र में भिन्न-भिन्न भी पदों की एकपदता को प्रदर्शित करने का कारणभूत, जो बहुत ही अधिक कोमल नहीं होता है वही बन्धविशेप—विशेप प्रकार की पदयोजना श्लेप है। उसके विपर्यय से यह शब्दप्रधान श्लेप-विपर्यय दोप है।

स्व० भा०—पूरे का दो शब्दों में अभिप्राय यही है कि काव्य में अत्यधिक कोमलता भी दोप है। यहाँ लकारबहुल अत्यन्त मृदु वर्णों का ही उपयोग करने से जितना वेग होना चाहिए कथन में वह नहीं आ पाया।

गुणानामिति। समाध्यादिभङ्गेऽपि तर्हि दोपः स्यादित्यत आह—श्लेपादीनामिति। श्लेपप्रसादसमतासौकुमार्यार्थव्यक्तिमाधुर्यकान्त्युदारतौजसाम्। एतद्योगाद्वाक्यं वक्ररूप-

तामासाद्य काव्यव्यपदेशं लभते। तेषां गुणानां भङ्गः काव्याभासत्वपर्यवसायी दोषः। ते च श्लेषादयो नवेव। तेषामन्यतमाभावे काव्यस्याभासत्वात्। तेषां हि विपर्यये रीतिरवश्यं भज्यते। तस्या गुणवत्पदरचनारूपत्वात्। अत एव पानकरसन्यायेन संभूयचित्रास्वादपर्यवसानक्षमं गुणसंवलनमेव रीतिरिति लोचनकारः। रीतिः साररूपतया काव्यस्यात्मेत्युच्यते। यथा चित्रस्य लेखा उत्तुङ्गप्रत्यङ्गलावण्योन्मीलनक्षमा, तथा रीतिरिति द्वितीये विस्तरः। तन्निवेति। तदिति काकाक्षिगोलकवत्पूर्वापराभ्यामभिसंबध्यते। यत्र गुणानां विपर्ययस्तद्रीतिमत्। तन्निधेत्यर्थः। त्रिधाभूतं भूयस्त्रिधा प्रचक्षते। तेन नवभेदाः। तदेतद्विवृणोति—शब्दार्थेति। योगशब्दः प्रत्येकमन्वीयते। शब्दप्रधानत्वमर्थानपेक्षशब्दनिरूप्यत्वम्। वाक्यगुणस्य श्लेषादित्रयस्य। एवंशब्दानपेक्षार्थनिरूपणीयत्वं तादृशस्य कान्त्यादित्रयस्य। एतेनौजःप्रभृतित्रिकस्योभयप्रधानता व्याख्याता। तेनायमर्थः शब्दार्थोभयप्रधानतया सामान्यतस्त्रिधा भूत्वा श्लेषादित्रिकविवक्षया प्रत्येकं त्रिधा भवतीति। तेषु शब्दस्य प्राथम्यात्तत्प्रधानकगुणभङ्गः प्रथमं विवेक्तव्य इत्याह—तत्रेति। अरीतिमतीति निर्धारणे सप्तमी। जात्यभिप्रायमेकवचनम्। विपर्ययेणेति। श्लेषः संधानं घटनमित्यनर्थान्तरम्। न चैतावतैव गुणत्वं वाक्यमात्रसाधारणत्वात्। तेन बहूनामपि पदानामेकताप्रतिभासहेतुत्वमनतिकोमलत्वं च विशेषणमिच्छन्ति। विशेषमर्थगुणकाण्डे वक्ष्यामः। एवंभूतविशेषणविपर्यासे शिथिलो बन्धोऽतिकोमलो विकीर्णप्रायश्चेत्यर्थः। आलीयमित्यादौ दन्त्यवर्णप्रायतयातिकोमलत्वं विकीर्णता च व्यक्तैव। नास्य निरूपणे क्वचिदप्यर्थापेक्षेति स्फुटयन्नाह—अत्र भिन्नानामिति। श्लेषस्य शब्दप्रधानतया तद्विपर्ययोऽपि शब्दप्रधानो भवतीत्याह—शब्दप्रधानोऽयमिति। अन्यतरविशेषणहानावपि श्लेषाभावो भवत्येव। तेन पूर्वार्धस्य लेशत ऐक्यप्रतिभानसंभवेऽप्यतिकोमलतया दुष्टत्वम्॥

(१६ क (२) समताविपर्यय रूप शब्दप्रधान अरीतिमत दोष)

भवेत् स एव विषमः समताया विपर्ययात्।

तथा—

'कोकिलालापवाचालो मामेति मलयानिलः।
उच्छलच्छीकराच्छाच्छनिर्झराम्भःकणोक्षितः ॥ ४२ ॥'

अत्र पूर्वार्धस्य मृदुबन्धत्वादुत्तरार्धस्य च गाढबन्धत्वात् समबन्धेषु विषममिति विषमो नाम शब्दप्रधानः समताविपर्ययो दोषः॥

वही सन्दर्भ समतागुण की अननुकूलता से समताविपर्यय अथवा विषम दोष होता है। ३२ अ।

जैसे—कोयल की आवाज से मुखर, छलकते हुए जलकणों से संयुक्त, अतिनिर्मल झरने के जलकण से परिपूर्ण दक्षिणदिशा की (सुगन्धित) वायु मेरे पास आ रही है॥ ४२॥

इस छन्द में पूर्वार्ध में मृदुबन्धता के कारण तथा उत्तरार्ध के गाढबन्धता—कठोर वर्णों के सम्बन्ध से समबन्ध में भी विषमता आ जाने से, समता के विपर्यय से होने वाला विषम नामक शब्दप्रधान दोष है।

स्व० भा०—यह अनुष्टुप् छन्द है। इसमें पूर्वार्ध में मृदु वर्णों का आधिक्य है और उत्तरार्ध में कठोर वर्णों का। अतः यहाँ पूर्णतः—मृदु-मृदु अथवा कठोर-कठोर वर्णों के ही आदि से अन्त पर्यन्त न रहने से दोष आ गया।

भवेदिति। स एव संदर्भो मृदुमध्यकठोरवर्णनिर्व्यूढास्तिस्रो बन्धजातयस्तत्रैकरूपे वाक्यार्थे एकैव जातिरुपादेयेति तद्विपर्यासो वैराग्यहेतुरेव। उच्छलन्तः शीकरा यस्मात्तथा-च्छाच्छमस्यच्छम्। द्वयमपि निर्झराम्भोविशेषणम्। मलयमारुतस्योद्दीपनविभावभूतस्य वर्णमात्रवैरूप्यमस्येत्याशयवानाह—अत्र पूर्वार्धस्येति। शब्दप्रधानतामस्य विवृणोति—समबन्धेष्विति॥

(१६ क (३) कठोरतारूप शब्दप्रधान अरीतिमत् दोष)

सौकुमार्यविपर्यासात् कठोर उपजायते ॥ ३२ ॥

यथा—

'असिततितुगद्रिच्छित्स्वःक्षितांपतिरद्विदृक्।
अभिद्भिः शुभ्रदग्दष्टैर्द्विषो जेघ्नीयिषीष्ट वः ॥ ४३ ॥'

अत्रातिकठोरत्वादसौकुमार्यं सुप्रतीतमेव ॥

सुकुमारता के विपर्यास से कठोरता उत्पन्न हो जाती है ॥ ३२ ।

जैसे—कृष्णमार्ग वाले अग्नि के पुत्र, (क्रौञ्च) पर्वत को छेद डालने वाले, स्वर्गवासियों के रक्षक, दो आँखे नहीं (अपितु द्वादश नेत्र) रखने वाले, श्री कार्तिकेय जी अपने रूक्ष तथा धवल नेत्रपातों से आप लोगों के शत्रुओं का पूर्णतः विनाश करें ॥ ४३ ॥

यहाँ अत्यधिक कठोरता होने से सुकुमारता का अभाव स्पष्ट रूप से ज्ञात ही है।

स्व० भा०—यहाँ छन्द में 'तिं', 'द्रि', 'च्छि', 'द्विदृ', 'दृग्दृष्टैः' आदि वर्णों का इस क्रम में रखना ही कठोरता है। √हन+यङ्+आशीर्लिङ् में बना रूप 'जेघ्नीयिषीष्ट' पद भी अत्यन्त कठोर है।

ये शब्दप्रधान दोष किसी रूप में पददोषों में भी देखे जा सकते हैं, किन्तु वहाँ आधार पद या शब्द थे और यहाँ पर रीति तथा गुण है। यही दोनों का अन्तर है।

सौकुमार्यविपर्यासादिति। अकठोराक्षरप्रायताबन्धस्य सुकुमारत्वं तद्विपर्यये कठोरता श्रुतिकटुत्वं भवति। असिततिंति। 'ऋ गतौ' इति धात्वनुसाराद्दतिर्वर्त्म। असिता कृष्णा ऋतिर्वर्त्म यस्य कृष्णवर्त्मा वह्निस्तस्य तुगपत्यम्। अद्रिच्छिदिति क्रौञ्चदारणत्वात्। स्वर्गे क्षियन्ति निवसन्ति ये देवास्तेषां पतिः सेनानीत्वात्। अद्विदृग्द्वादशलोचनत्वात्। स एवंभूतो भगवान् कुमारोऽभिद्भिरस्निग्धैः रूक्षैः शुभ्रदग्दष्टैर्धवलावलोकितैः सक्रोधनि-भालने तारकाभागस्योर्ध्वतया नयनात्तथाभावो जातिर्वो युष्माकं द्विपः शत्रून् जेघ्नीयिषीष्ट अत्यर्थं पुनः पुनर्वा वध्यादित्यर्थः। हन्तेर्यङि घ्नीभावे आशीर्लिङि रूपम्। स्वतन्त्रस्य पदस्य श्रुतिकटुता पददोषः। इह तु पदानामतथाभावे तिं द्रि च्छि इत्यादीनां वर्णानां परस्परसंनिधाने घटनैव कठोरेत्याह—अत्रातिकठोरत्वादिति॥

(१६ ख अर्थप्रधान (१) अप्रसन्नदोष)

या तु कान्तिप्रसादार्थव्यक्तीनामन्यथा गतिः।
अर्थप्रधानः प्रोक्तः स वाक्ये गुणविपर्ययः ॥ ३३ ॥
अप्रसन्नं भवेद्वाक्यं प्रसादस्य विपर्ययात्।

यथा—

'अनङ्गकमलं चक्रे मयमाना मरालिका।
यस्यानत्यर्जुनाब्जन्म सदृक्षाङ्को वलक्षगुः ॥ ४४ ॥'

अत्र शब्दानामनतिप्रसिद्धत्वादनतिप्रसन्नत्वमिति सोऽयमर्थप्रधानः प्रसादविपर्ययो दोषः ॥

जो कान्ति, प्रसाद तथा अर्थव्यक्ति का विपर्यास है वही (गुणविपर्यय) वाक्य में अर्थप्रधान दोष कहा गया है। प्रसाद गुण के न रहने पर वाक्य अप्रसन्नत्व दोष से युक्त हो जाता है ॥ ३३-३४ अ ॥

जैसे—अनधिक श्वेत जलोत्पन्न--नीलकमल सदृश चिह्न से संयुक्त शुभ्रकिरणों वाला चन्द्रमा जिसे सुशोभित न कर सका उसी अङ्कविहीन आकाश को यह उड़ती हुई हंसी सुशोभित कर रही है ॥ ४४ ॥

इस श्लोक में शब्दों के अत्यधिक विख्यात न होने से अत्यधिक सरलता नहीं है। अतः यहाँ अर्थप्रधान प्रसादविपर्यय अथवा अप्रसन्नता दोष है।

स्व० भा०—यहाँ छन्द में मूलपाठ 'कान्तिप्रसादार्थव्यक्तीनाम्' इस पाठ के स्थान पर निरूपण के क्रम को देखते हुए 'प्रसादार्थव्यक्तिकान्तीनाम्' यह पाठ होना चाहिए। सुनते ही जिस शब्द का अर्थ हृदय पर छा जाये वह शब्द प्रसन्न अथवा प्रसादगुणसम्पन्न माना जाता है। प्रस्तुत छन्द में 'अनङ्ग' पद का आकाश के लिए, 'मयमाना' पद चलती अथवा उड़ती हुई के अर्थ में, 'अर्जुन' का श्वेतता के लिये, 'अब्जन्म' कमल के लिए, 'वलक्षगुः' चन्द्रमा के लिए अप्रसिद्ध हैं। अप्रसिद्ध होने के कारण अर्थ तत्काल प्रकट नहीं हो पाता है।

ऐसी दशाओं में 'क्लिष्टता' तथा 'गूढार्थत्व' दोषों की शङ्का हो सकती है, किन्तु वस्तुतः है नहीं। इसी की टीका में रत्नेश्वर ने लिखा है—'न च मयमानादीनां क्लिष्टता (श्लिष्टता वा)। तल्लक्षणविरहात्। नापि गूढार्थत्वं तत एव।''

या तु कान्तीति। 'कान्तिप्रसादार्थव्यक्तीनाम्' इति प्रमादात् पाठः। विवरणक्रमानुरोधेन 'प्रसादार्थव्यक्तिकान्तीनाम्' इति पठनीयम्। अप्रसन्नमिति। श्रुतमात्रस्यैव यस्यार्थश्चित्ते प्रतिफलति स प्रसन्नः शब्दः। तथा चार्थस्य प्राकट्यं झटिति प्रतिबन्धयोग्यत्वम्। 'पश्चादिव गतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुतः' इति सहृदयव्यवहारार्थविषयत्वं प्रसादोऽर्थनिरूपणीय इति भवत्यर्थप्रधानः। न चासौ पदमात्रमुल्लिखतीति वाक्यांशो भवति। तेन तद्विपर्ययोऽपि वाक्यगामी। 'अर्थस्य यत्र झटिति प्रतीतिरुपजायते। तत्र तत्र महाराज शब्द एवापराध्यति ॥' इति वाक्यदोषेषु परिगणनमभ्यच्छतया च शब्दानां प्रतीतिः स्खलन्ती दूषणतामस्य स्थापयति—अनङ्गकमिति। न विद्यतेऽङ्गं यस्येत्यनङ्गकमाकाशं मयमाना गच्छन्ती। अयमयेति दण्डकेषु पठितान्मयधातोः शानच्। मरालिका हंसी। अलंचक्रे शोभितवती। ननु हंस्यागमनपथालंकरणकालो रात्रिस्तस्यां च तुषारकिरण एव तदलंकारकारी किमनया वराक्येत्यत आह—यस्येति। यदनत्यर्जुनं न भवति अब्जन्म तोयभवम्। नीलोत्पलमिति यावत्। तत्सदृशलाञ्छनो वलक्षगुर्वलक्षो गौः किरणो यस्य शुभ्रांशुश्चन्द्रः। तेनासौ सकलङ्कतया न तथालंकाराय यथेयमित्यर्थः। पश्येति वाक्यार्थकर्मकमेके पठन्ति। तन्न युक्तम्। चक्र इति परोक्षतया स्वरसभङ्गापत्तेः। उक्तयुक्त्या वाक्यदोषत्वमाह—अत्र शब्दानामिति। न च मयमानादीनां श्लिष्टता। तल्लक्षणविरहात्। नापि गूढार्थत्वं तत एव ॥

(१६ ख (२) अर्थव्यक्तिविपर्यय)

वाक्यं भवति नेयार्थमर्थव्यक्तेर्विपर्ययात् ॥ ३४ ॥

यथा—

'मही महावराहेण लोहितादुद्धृतोदधेः ।
इतीयत्येव निर्दिष्टे नेया लौहित्यहेतवः ॥ ४५ ॥'

तदिदं निगदेनैव व्याख्यातमित्यर्थप्रधानोऽयमर्थव्यक्तिविपर्ययः ॥

अर्थव्यक्ति का विपर्यय होने से वाक्य के अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है अर्थात् नेयार्थत्व दोष होता है। (अतः ऐसे स्थलों पर अर्थव्यक्तिविपर्यय या नेयार्थ नामक दोष होता है।) ॥३४॥

जैसे—आदि वाराह के द्वारा अरुणिम अथवा रक्तमिश्रित सागर से पृथ्वी निकाली गई। इस इतने ही निर्देश में अरुणता के कारण कल्पनीय हैं ॥ ४५ ॥

इस छन्द में उक्ति द्वारा ही व्याख्या कर दी गई है। कि (किस कारण यहाँ अर्थव्यक्ति न हो पाने से अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है।) यहाँ अर्थप्रधान अर्थव्यक्ति विपर्यय नामक दोष है।

स्व० भा०—जहाँ सम्पूर्णवाक्यता होती है अर्थात् वाक्य की अर्थपूर्ति के लिये अलग से कल्पना नहीं करनी पड़ती है, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है। गुण-प्रसङ्ग में इसका निरूपण होगा। यहाँ सागर का विशेषण लोहित पद है। इसकी उपयुक्तता के लिए 'वराह द्वारा असुर को मारने से प्रवाहित रक्त के कारण लोहित' इतने अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। अतः अर्थव्यक्ति गुण के न होने से यह वाक्य दुष्ट हुआ। दण्डी के काव्यादर्श (१ । ७४) में यही उदाहरण अर्थव्यक्ति के अपवाद के रूप में उद्धृत किया गया है।

वाक्यमिति। संपूर्णं वाक्यत्वमर्थव्यक्तिं करोति वक्ष्यति। सर्वस्य वाक्यस्य विशेषण-विशेष्यभावबोधकत्वनियमे यावतां विशेषणविशेष्यभावोऽभिमतस्तावत्प्रतिपादकपदोपादानं संपूर्णता। सा च विशेषणविशेष्यभावानुरूपार्थनिरूपणीयतयार्थप्रधानेति तद्विपर्ययोऽपि तत्प्रधान इति पूर्ववन्नेयम्। अत एव विवक्षितवाक्यान्यथानुपपत्त्या नेयः कल्पनीयोऽर्थो यस्येति नेयार्थमित्यर्थोऽपि घटते। महीति। पूर्वार्ध एव काव्यं निर्वर्तितम्। न च तावता विवक्षितार्थलाभः। तथा हि—समुद्रमध्यात्पृथिव्यामुद्ध्रियमाणायां महासुरविमर्दे तेषां दंष्ट्रया पाटनेन रुधिरशबलतया लोहितत्वमुदधेरिति वाक्यार्थोऽभिप्रेतः। लक्षणाया अभावाच्च नेयार्थत्वं पददूषणमत्र संभावनामारोहति। दूषणताबीजं चात्र स्फुटमेव। अशरीरं तु क्रियापदशून्यमित्युक्तम्। तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह—तदिदं निगदेनैवेति॥

(१६ ख (३) कान्तिविपर्यय दोष)

कान्तेर्विपर्ययाद्वाक्यं ग्राम्यमित्यपदिश्यते ।

यथा—

'विरहे ते विषीदन्तं निषीदन्तं तवान्तिके ।
कन्ये कामयमानं मां त्वं न कामयसे कथम् ॥ ४६ ॥'

इदमुक्तेर्ग्राम्यतया कान्तिहीनमित्यर्थप्रधानोऽयं कान्तिविपर्ययो दोषः ॥

कान्तिगुण का विपर्यय होने से वाक्य ग्राम्यत्व दोष से युक्त होने से कुख्यात होता है। ३५ (अ)।

जैसे—तुम्हारे वियोग में दुःख उठा रहे, तुम्हारे पास में ही पड़े हुए, रति के लिए व्याकुल मुझको, हे कन्ये, तुम क्यों नहीं चाहती ? ॥ ४६ ॥

इस उक्ति में ग्राम्यता होने के कारण, कान्ति न होने से, अर्थप्रधान कान्तिविपर्यय दोष है।

स्व० भा०—रस की दीप्ति को कान्ति कहते हैं। अनुकूल सम्बोधन तथा समुचित कथन रीति से अर्थ स्वयं रस की वर्षा करने लगता है। कन्या पद जो कि 'पुत्री का वाचक है उसी का प्रेमहेतु स्पष्ट शब्दों में आह्वान करने पर असभ्यता ही दृष्टिगोचर होती है। अतः रसोत्कृष्टता में बाधा उपस्थित होना स्वाभाविक है।

इस छन्द का उत्तरार्ध काव्यादर्श (१ । ६३) के कान्तिरहित छन्द में ग्राम्यता का प्रतिपादन कर रहे प्रसङ्ग से उद्धृत किया गया है।

कान्तेरिति। रसस्य दीप्तिः कान्तिरग्रे विवरिष्यते तेनार्थप्रधानता व्यक्ता। तस्यामस्ति वाच्यवाच्ययोर्व्यापारः। वाच्यं विदग्धोक्तिकं व्याप्रियते। अतथाभूतस्य रसाव्यञ्जकत्व-नियमात्। तथाहि—कन्ये इति संबोधनेन रसविरोधिनीविलसिता चमता प्रतीयते। कामयमानमित्यनेनानावरणमुच्यमानोऽर्थः कथं न वैरस्यमावहतीत्यादिकमुन्नेयम्। तदिदमाह—इदमुक्तेर्ग्राम्यतयेति ॥

(१६ ग उभय प्रधान (१) ओजोविपर्यय दोष)

ओजोमाधुर्यमौदर्यं न प्रकर्षाय जायते ॥ ३५ ॥
यस्मिस्तमाहुरुभयप्रधानं तद्विपर्ययात्।
वाक्ये यः खण्डयन् रीतिं भवत्योजोविपर्ययः।
असमस्तमिति प्राहुर्दोषं तमिह तद्विदः ॥ ३६ ॥

यथा—

'स्मरः खरः खलः कान्तः कायः कोपधनः कृशः।
च्युतो मानोऽधिको रागो मोहो जातोऽसवो गताः ॥ ४७ ॥

अत्र सत्यसमस्तपदाभिधाने सत्यपि चार्थसौकुमार्ये श्लेषादिगुणसामग्र्य-भावान्न वैदर्भी रीतिः। नापि यथोक्तलक्षणाभावाद्गौडीयादय इति। खण्डित-रीतित्वादयमोजोविपर्ययः शब्दार्थप्रधानो गुणविपर्ययो दोषो भवति। यदाह—

इत्यादिबन्धपारुष्यं शैथिल्यं च नियच्छति।
अतो नैनमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते ॥ ३७ ॥

जिस वाक्य में ओज, माधुर्य और औदार्य गुण विपर्ययके कारण उत्कर्षाधायक नहीं होते उस वाक्य को उभयप्रधान दोष से संयुक्त कहते हैं। जो ओजगुण का विपर्यय वाक्य में एक निश्चित रीति को भग्न करता है, समास से रहित होता है उसे काव्यज्ञों ने काव्यशास्त्र में ओजोविपर्यय दोष कहा है ॥ ३५-३६ ॥

जैसे—काम उद्दीप्त है, प्रिय निष्ठुर है, क्रोध का धनी शरीर तथा क्रोध रूप धन (दोनों) क्षीण हैं, मान गल गया, प्रेम बढ़ गया है, [मेरी] मूर्खता जाती रही अथवा मूर्च्छा आने लगी, प्राण निकल गये ॥ ४७ ॥

यहाँ वस्तुत समासयुक्त पदों का ग्रहण न होने पर भी, अर्थ सुकुमारता के होने पर भी श्लेष आदि समस्त गुणों अथवा श्लेष आदि गुणों की सामग्री के अभाव में वैदर्भी रीति नहीं है। कहे गये नियमों के अनुसार लक्षण का अभाव होने से गौडी आदि रीतियाँ भी नहीं हैं। [अतः] रीति का खण्डन होने से यहाँ ओजोविपर्यय नामक शब्दार्थप्रधान गुणहीन दोष होता है। कहा गया है—इस प्रकार के प्रयोग बन्ध में परुषता तथा शिथिलता लाते हैं। अतएव इस अनुप्रास का प्रयोग दाक्षिणात्य [कवि] नहीं करते हैं ॥ ३७ ॥

स्व० भा०—प्रस्तुत छन्द में किसी भी रीति का निर्वाह नहीं हो पा रहा है। इसका लक्षण यथावसर कहा जायेगा। वैदर्भी में दसो गुण होने चाहिए, गौडीया में समासाधिक्य अपेक्षित हैं, ऐसे ही अन्यों का भी क्रम हैं। इस छन्द के शब्दों को देखने से स्पष्ट है कि कोई भी रीति पूर्णतः नहीं है। यद्यपि इस छन्द में अनुप्रास अलंकार है, किन्तु रीति के बिना यह शव के आभूषण की भाँति है। इसी कारण यहाँ सदोषता है।

वाक्ये य इति। ननु समासभूयस्त्वमोजोऽभिधास्यते तत्कथमस्याभावोऽर्थप्रधानोऽपि कथं च दोष इत्यत आह—खण्डयन् रीतिमिति। रीतिर्भङ्गपर्यवसायी तस्याभावो दूषणम्। न तु तन्मात्रमित्यर्थः। एतदुक्तं भवति। शब्दार्थयोरुचिता प्रौढिरोजः। यदाह—'रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः। तद्व्यक्तिहेतुशब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥' इति। तत्रार्थव्यक्तिमर्थगुणेषु विवेचयिष्यामः। शब्दस्य तु पारुष्यशैथिल्यव्यतिकरलक्षणा सा च क्वचित्समासदीर्घतया व्यज्यते। यथा—'चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।' इति। क्वचित् अन्यथापि प्रकाश्यते। यथा—'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि। तदेवं तत्त्वव्यवस्थितौ पूर्वाचार्यव्यवस्थित्या गुणकाण्डे समासभूयस्त्वमोजोलक्षणं व्यभिचारितगुणमध्ये समासरचनासौष्ठवं वक्तृक्षमतया गुण इत्यभिप्रायाद्विशेषं तत्र वक्ष्यामः—तदिदमिति। रीतिं खण्डयतीति। नहि प्रौढेरभावे गुणसंबन्धनात्मिका रीतिर्नामेति विपर्ययपदेन साधारणेन पारुष्यशैथिल्ये दर्शयति—अत्रेति। एतदेवाचार्यमतेन द्रढयति—यदाहेति। यद्यप्यत्रानुप्रासोऽस्ति तथापि रीतिमन्तरेण मृतशरीर इव काव्ये नालंकरणतामध्यास्ते। ततश्च न प्रकृतः कोऽपि चमत्काराविर्भाव इति नास्यैव काव्यतां प्रयोजयतीत्यर्थः। दाक्षिणात्या वैदर्भीमाहुः। पारावरीणास्ते हि विशिष्टरीतिस्वरूपमवधारयितुं क्षमा इति ॥

१६ ग (२) उभयप्रधान माधुर्यव्यत्ययदोष।

माधुर्यव्यत्ययो यस्तु जायते रीतिखण्डनात्।
तदनिर्व्यूढमित्युक्तं काव्यसर्वस्ववेदिभिः ॥ ३८ ॥

यथा—

'नखिनां च नदीनां च शृङ्गिणां शस्त्रपाणिनाम्।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥ ४८ ॥'

अत्र नखिनां च नदीनां चेति षष्ठ्यन्ताच्चकारेण रीतेरुपक्रमे शृङ्गिणां शस्त्रपाणिनामिति चकारानिर्वाहात् स्त्रीषु राजकुलेषु चेति षष्ठीपरित्यागादमधुरार्थत्वाच्च माधुर्यविपर्ययनामायं शब्दार्थप्रधानो गुणविपर्ययो दोषः। यदाह—

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥ ३९ ॥
यया कयाचिच्छ्रुत्या यत्समानमनुभूयते ।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥ ४० ॥

एक प्रारब्ध रीति का खण्डन हो जाने से जो माधुर्य का व्यत्यय हो जाता है उसे काव्य की आत्मा को जानने वालों ने अनिर्व्यूढत्व कहा है—अर्थात् क्रम का निर्वाह न कर पाने से दोष कहा है ॥ ३८ ॥

जैसे—नख वाले प्राणियों का, नदी का, शस्त्र हाथ में लिए हुए लोगों का, स्त्रियों तथा राजकुल में विश्वास नहीं ही करना चाहिए ॥ ४८ ॥

यहाँ पर 'नखिनाम्' तथा 'नदीनां' इन षष्ठी विभक्त्यन्त पदों को चकार से (संयुक्त करने की) रीति प्रारम्भ करने के बाद 'शृङ्गिणाम्' तथा 'शस्त्रपाणिनाम्' इनके साथ चकार का निर्वाह न करने से तथा 'स्त्रीपु' और 'राजकुलेपु' में षष्ठी का परित्याग कर देने से तथा अर्थ के भी मधुर न होने से माधुर्यविपर्यय नामक शब्दार्थप्रधान गुण से विपरीत दोष है। जैसा कहा गया है—

सरस को मधुर कहते हैं। रस की स्थिति शब्द (वाणी) तथा अर्थ (वस्तु) (दोनों) में हुआ करती है जिससे सहृदय लोग उसी प्रकार मस्त हो जाया करते हैं जैसे पराग से भ्रमर जिस किसी भी वाणी के उच्चारण से अथवा तालव्य और कण्ठ्य वर्णों के उच्चारण से जो समानता की अनुभूति होती है, उस समान श्रुतिरूप अनुप्रास से संयुक्त पदों की घटना रसाधायक हुआ करती है ॥ ३९-४० ॥

स्व० भा०—यहाँ छन्द में कई रीतियों का प्रारम्भ किया गया, किन्तु प्रारम्भ से लेकर अन्त तक उसका निर्वाह नहीं किया गया। प्रथमतः 'च' का प्रयोग प्रत्येक पद के बाद किया गया, वह भी दो पदों के बाद छोड़ दिया गया। षष्ठ्यन्त पदों का ग्रहण करके दूसरी रीति चालू की गई किन्तु फिर सप्तम्यन्त पदों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। इन रीतियों के अनिर्वाह के साथ ही ऐसी रसात्मकता-मधुरता भी नहीं है जो चित्त को द्रवित कर दे। अतः यहाँ माधुर्य विपर्यय नामक दोष है। अन्त में दिये गए छन्द मत की पुष्टि के लिए दण्डी के काव्यादर्श (१।५१-५२) के हैं।

माधुर्यव्यत्यय इति। शब्दार्थयोश्चित्तद्रुतिविधायित्वं माधुर्यम्। निचुलितत्वमिवार्द्रता-पदाभिधेया चेतसोऽवस्था तत्कारिता माधुर्यम्। सा च शृङ्गारकरुणान्यतरप्रकाशानुगुण-व्यापारावेशेन भवति। यदाह—'शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः। तन्मयं काव्य-माश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥ शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्। माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥' इति। तत्र शब्दस्य माधुर्यं पृथक्पदतया व्यज्यते। दीर्घ-समासस्य यत्नान्तरसाध्यतया सुकुमाररसप्रकाशसामग्रीबहिर्भावात्। ततश्च शब्द-दूषणप्रस्तावे पृथक्पदतामात्रप्रत्ययो यदुच्यते गौडीया दुष्टा स्यात्, इति रीतिखण्डन-पर्यवसायितयाभिधानम्। भवति हि कदाचित्कवेः शक्तिवशात्सोल्लेखेऽपि समासे रसव्यक्तिः। यथा—'याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तसङ्गानतां, कालिन्दीतटरूढवञ्जुल-लतामालिङ्ग्य सोत्कण्ठया। उद्गीतं गुरुबाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया, येनान्तर्जलचारि-

भिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥' एवं चास्खलितप्रतीतिविषयस्यैव संदर्भस्य रसत्वं पदघटनारूपस्य च संदर्भस्यानिर्वाहादेव प्रतीतिः स्खलतीत्याह—तदनिर्व्यूढमिति। काव्यसर्वस्वं रसप्रकाशस्तद्वेदिभिस्तदुपायभूतघटनास्वरूपवेदिभिः। एतदेव व्याख्यानेन स्फुटयति—अत्रेति। नखिनां च नदीनां चेति चकारेणोत्तरत्र तत्परित्यागेऽनुपपत्तिर्जागर्ति तदेव प्रतीतेः संवलनम्। एवमुत्तरत्रापि। अस्तु तर्हि वस्त्वसत्वेऽप्येकदिङ्माधुर्यसंपत्तौ काव्यताप्रतिलम्भ इत्यत आह—अमधुरार्थत्वाच्चेति। स्पष्टमेतच्छब्दार्थप्रधानतां माधुर्यस्य पूर्वाचार्यसंमत्या द्रढयति—यदाहेति। माद्यन्ति आर्द्रचित्ता भवन्ति। मधुरसादृश्यादयं व्यवहार इत्यत आह—मधुनेति। इदं च घटनाया माधुर्यं परमं रहस्यमित्याह—यया कयाचिदिति। ओष्ठ्यकण्ठ्यादिकं वा तद्रूपसमानश्रुतिकमादौ यस्य तथाभूतस्य पदस्य प्रत्यासत्तिः 'तद्रूपा हि' इति पाठे व्यक्त एवार्थः। अत एव सानुप्रासा ततश्च रसावहेत्यर्थः। यदाह—'कङ्कणादिविमुक्तापि कान्ता किमपि शोभते। कुङ्कुमेनाङ्गरागश्चेत् सर्वाङ्गीणः प्रवर्तते ॥' इति ॥

(१६ ग (३) औदार्यविपर्यय दोष)

विकटतामात्रभावस्यादोषत्वाद्विशेषयन्नाह—

> यस्तु रीतेरनिर्वाहादौदार्यस्य विपर्ययः।
> वाक्यं तदनलंकारमलंकारविदो विदुः ॥ ४१ ॥

यथा—

> 'दीर्घपुच्छश्चतुष्पादः ककुद्माँल्लम्बकम्बलः।
> गोरपत्यं बलीवर्दस्तृणमत्ति मुखेन सः ॥ ४९ ॥'

तदिदमपुष्टार्थत्वादनुत्कृष्टविशेषणमनुदारं निरलंकारमाचक्षते सोऽयमौदार्यविपर्ययो नाम शब्दार्थप्रधानो गुणविपर्ययो दोषः। यदाह—

> श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं वाक्यमिष्यते।
> यथा लीलाम्बुजक्रीडासरोहेमाङ्गदादयः ॥ ४२ ॥
> उत्कर्षवान् गुणः कश्चिदुक्तेर्यस्मिन् प्रतीयते।
> तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः ॥ ४३ ॥

रीति का निर्वाह न हो पाने से जो औदार्य का व्यत्यय है इससे युक्त वाक्य को अलंकार शास्त्रियों ने अनलङ्कार समझा है ॥ ४१ ॥

जैसे—जिसकी लम्बी सी पूँछ है, चार पैर हैं, ककुद् है, लम्बकम्बल (गले में नीचे लटकने वाली लम्बी खाल = लर) है, वह गाय का बच्चा बैल मुख से घास चरता है ॥ ४९ ॥

इस प्रकार जो यह अर्थ के परिपुष्ट न होने से, अच्छे विशेषणों से रहित, औदार्यहीन, वाक्य निरलंकार कहा जाता है, वही औदार्यविपर्यय नामक शब्दार्थप्रधान गुणहीनता रूप दोष कहा जाता है। जैसा कि कहा गया है।—

कुछ लोगों को प्रशंसनीय विशेषणों से युक्त उदारता गुण अभीष्ट है (अर्थात् श्लाघ्य विशेषणों से युक्त वाक्य को उदार कहते हैं)। जैसे—लीलाम्बुज, क्रीडासर, हेमाङ्गद आदि। जिस

वाक्य में उक्ति का कोई उत्कृष्ट अलौकिक गुण प्रतीत होता है उसको उदारता नामक गुण कहते हैं। इससे काव्य-पद्धति सनाथ हो जाती है ॥ ४२ ॥

स्व० भा०—ये दोनों छन्द दण्डी के काव्यादर्श (१।७९, ७६) से प्रमाण रूप में उद्धृत हैं। इसमें औदार्य गुण तथा उससे समन्वित वाणी की विशिष्टता द्योतित की गई है। श्लाघ्य विशेषणों से युक्तता का अभिप्राय यह है कि जहाँ एक पद सामान्य रूप से किसी अर्थ के वाचक के रूप में प्रयुक्त हुआ, वहीं, यदि उसे कोई उपयुक्त विशेषण मिल जाये तो शोभा और भी बढ़ जाती है। अम्बुज पद के साथ 'लीला' पद जोड़ देने से 'लीलाम्बुज' पद उच्चारण में भी अच्छा लगता है तथा अर्थ का प्रत्यायन भी कोमल ढङ्ग से कर देता है। इसी प्रकार अन्य विशेषण और विशेष्य भी द्रष्टव्य हैं।

वाक्यदोष के सोलहवें दोष अरीतिमत्त्व के भेदोपभेद की स्पष्टता के लिए इसी का एक रेखाचित्र दिया जा रहा है। ऊपर से लिखी गई संख्याओं तथा कोष्ठ के वर्णों को मिलाने से जो रूप बनेगा, वही रूप उनका विवेचन करते समय कोष्ठ में लिख दिया गया है। जैसे—अरीतिमत्त्व दोष सोलहवाँ है अतः (१६) संख्या लिखी होगी। इसका तृतीय भेद शब्दार्थ प्रधान रूप है अतः (ग) लिखा है और इसका तीसरा भेद औदार्य-विपर्यय है अतः (३) लिख दिया गया है।
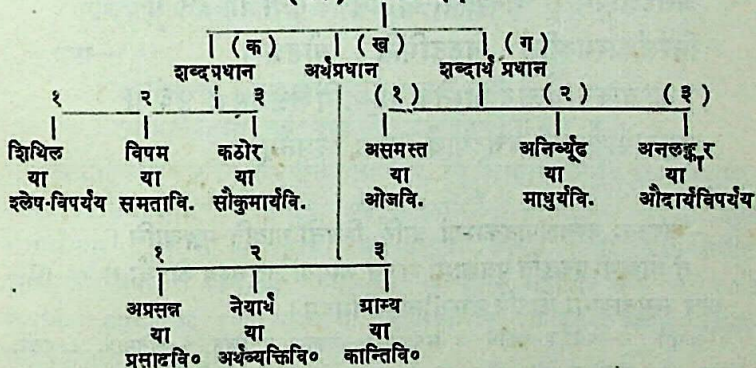
वाक्यार्थ दोष

यह वाक्यार्थ दोष नया नहीं है। भामह और दण्डी ने दोषों का सोदाहरण लक्षण दिया है। इन लोगों ने एक साथ दोष गिना दिए थे, उनके लक्षण भी यथामति दिये थे, किन्तु उनका वर्गीकरण नहीं किया था। रुद्रट ने अपने काव्यालङ्कार के षष्ठ अध्याय में पद तथा वाक्य दोषों का और एकादश में अर्थदोषों का निरूपण किया है। वामन ने काव्यालङ्कार सूत्र के द्वितीय अधिकरण के प्रथम अध्याय में पद तथा पदार्थ दोषों का और उसी अधिकरण के द्वितीय अध्याय में वाक्य तथा वाक्यार्थ दोषों का सोदाहरण विवेचन किया है। महिम भट्ट ने द्वितीय विमर्श में दोषों को अनौचित्य नाम से अभिहित कर उनको शब्द तथा अर्थ विषयक माना था। वहीं उन्होंने रस सम्बन्धी दोषों को अन्तरङ्ग तथा शेष को बहिरङ्ग माना है। उनके बहिरङ्ग दोषों में विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य तथा वाच्यावचन है। इन्हीं बहिरङ्ग भेदों का उन्होंने विशेष वर्णन किया है।

भोज का दोष-विभाग वामन से अधिक प्रभावित दृष्टिगोचर होता है, जब कि अधिकांश वाक्यार्थ-दोष उदाहरण सहित उन्होंने दण्डी से लिए हैं और कुछ भामह से। इनका आगे यथास्थान निर्देश होगा। भामह ने चतुर्थ परिच्छेद में १८, दण्डी ने १० तथा वामन ने ६ वाक्यार्थ दोष माना है। भोजराज के वाक्यार्थ दोषों की संख्या १६ है।

यस्तु रीतेरिति। काव्यरूपताप्रयोजकं शब्दार्थयोर्वक्रता उदारता। नहि वक्रतामन्तरेण काव्यपदवीप्राप्तिस्तदाह—'यत्तु वक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्। वक्रं यदनुरागादौ तत्र काव्यमिति श्रुतिः॥' इति। तदेतदलंकारसामान्यमस्याभावे निरलंकारता भवतीत्याह—अनलंकारमिति। दीर्घपुच्छ इत्यादौ प्रकृतोदाहरणे स्फुटयति—यथेति। विविच्य गुणप्रस्तावे कथयिष्यामः। अर्थदोषमाह—उत्कर्षवानिति। उभयप्रधानतामुपसंहरति—काव्येति॥

तदेवं वाक्यदोषाँल्लक्षयित्वा क्रमप्राप्ता वाक्यार्थदोषा लक्षणीया इति तान्विभजते—

> अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
> खिन्नं चैवातिमात्रं च परुषं विरसं तथा॥ ४४॥
> हीनोपमं भवेच्चान्यदधिकोपममेव च।
> असदृक्षोपमं चान्यदप्रसिद्धोपमं तथा॥ ४५॥
> निरलंकारमश्लीलं विरुद्धमिति षोडश।
> उक्ता वाक्यार्थजा दोषास्तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्॥ ४६॥
> समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थं वचः स्मृतम्।

यथा—

> 'जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मङ्गलानि।
> तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्थः॥ ५०॥'

अत्र समुदायार्थः कोऽपि नास्तीत्यपार्थमिदम्।

१-अपार्थ २-व्यर्थ ३-एकार्थ ४-ससंशय ५-अपक्रम ६-खिन्न ७-अतिमात्र, ८-परुष, ९-विरस १०-हीनोपम ११-अधिकोपम १२-असदृशोपम १३-अप्रसिद्धोपम १४-निरलङ्कार १५-अश्लील १६-विरुद्ध ये सोलह वाक्यार्थ से उत्पन्न दोष कहे गए हैं। उनका लक्षण कहूँगा।

(सोलह में प्रथम दोष अपार्थ)

साथ में आये हुए सभी पदों के अर्थ से शून्य जो वाणी है उसे अपार्थ नाम से याद किया गया है॥ ४४-४६, ४७ अ॥

जैसे—कम्बल तथा चरणपादुका के साथ बूढा बैल द्वार पर बैठ माङ्गलिक गीत गा रहा है। उससे पुत्र चाहने वाली स्त्री पूछती है हे राजन् रुमा लवणाकर में लहसुन का क्या अर्थ है?॥ ५०॥

यहाँ समुदाय अर्थ कोई नहीं है इसलिए यहाँ अपार्थत्व दोष है।

स्व० भा०—भामह (४।१) तथा दण्डी (३।२५) के लक्षण शब्दशः मिल रहे हैं। दोष-गणना में चौवालीसवीं कारिका का पूर्वार्ध इन्हीं दोनों से अक्षरशः उद्धृत हैं। इसी प्रकार दण्डी के अपार्थत्व लक्षण (३।१२८) तथा भोज के अपार्थत्व लक्षण अभिन्न हैं। अपार्थत्व के

सन्दर्भ में आया हुआ समुदाय पद शब्द तथा वाक्य दोनों के समूह का वाचक हो सकता है। उसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि जब एक वाक्य के पदों का अर्थ तो होता है, किन्तु उनका समवेत अर्थ नहीं बन पाता, अथवा कई उपवाक्यों का पृथक्-पृथक् अर्थ तो होता है किन्तु महावाक्य में वे वाक्य निरपेक्ष सा लगते हैं। अतः अपार्थता होती है।

उपर्युक्त उदाहरण में ही प्रत्येक पद का—सविभक्तिक—होने से एक अर्थ है, किन्तु वे परस्पर साकांक्ष नहीं। कम्बल तथा पादुका से बूढ़े बैल का कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार उसके मङ्गल-गान ही कैसे होंगे? पुत्रकामा का उससे सम्बोधन 'राजन्' भी महत्त्व का नहीं।

अपार्थमिति। उद्देशे दोषाणां व्यासेनोक्तिः पूर्वोक्तप्रयोजनानुरोधेनेति। समुदायिपदानां विशेषणविशेष्यभावः समुदायार्थः : तेन शून्यं पदजातमपार्थकं पदार्थानामसंसर्गेण पदानामसंसर्गोऽभिधीयते। तेनार्थदोषत्वम्। जरद्गव इति। कम्बलपादुकाभ्यामिति लक्षणे तृतीया। न च ताभ्यां वृद्धोक्षस्य संबन्धः। कथं च तस्य मङ्गलानां धवलादीनाम्। 'मद्रकाणाम्' इति पाठे गीतकविशेषाणां वा संगतिः, कथं वा पुत्रकामायास्तत्प्रश्नसंसर्गः, कथं च राजन्निति संबोधनं घटते, पुत्रकामायाश्च रुमालवणार्थप्रश्नः। रुमा लवणाकरः। तथा च प्रयोगः—'रुमाघासकान्तादिलवणारमवत्' इति॥

(२ व्यर्थत्व दोष)

व्यर्थमाहुर्गतार्थं यद्यच्च स्यान्निष्प्रयोजकम्॥ ४७॥

यथा—

'आहिषातां रघुव्याघ्रौ शरभङ्गाश्रमं ततः।
स्वामहौषीत्तनुं वह्नौ दृष्ट्वा तौ रामलक्ष्मणौ॥ ५१॥'

अत्राहिषातां दृष्ट्वेत्येताभ्यामेव ताविति, रघुव्याघ्रावित्यनेनैव रामलक्ष्मणाविति, तनुमित्यनेनैव स्वामिति, अहौषीदित्यनेनैव वह्नाविति, गम्यत इति गतार्थत्वम्। न च शरभङ्गाश्रमगमनं तनुहोमो वाग्रतः कथाशरीरोपयोगीति निष्प्रयोजकत्वम्। अतोऽयं व्यर्थनामा वाक्यस्य महावाक्यस्य च दोषो भवति। आर्थ्या च वृत्त्या लब्धस्य शास्त्रेतिहासादौ शब्दवृत्त्या भणनमपौनरुक्त्यायेत्यर्थपुनरुक्तेर्भिद्यते॥

जो वाक्य गतार्थ हो—जिसका अर्थ पहले से ज्ञात हो अथवा जिसका कोई अर्थ ही न हो—तथा जो आगे प्रयोजक न हो—कथाशरीर से सम्बन्ध न हो—उसे व्यर्थ कहा गया है॥ ४७॥

जैसे—उसके बाद रघुव्याघ्र शरभङ्ग के आश्रम में आये। (वहाँ) उन दोनों राम तथा लक्ष्मण को देखकर उन्होंने अपने शरीर को अग्नि में होम कर दिया॥ ५१॥

यहाँ आये हुए (आहिषातां) तथा देखकर (दृष्ट्वा) इन दोनों से ही उन दोनों (तौ), 'रघुव्याघ्रौ' इस पद से ही 'रामलक्ष्मणौ', 'तनुम्' इससे ही 'स्वाम्' (अपनी), अहौषीत् (होम कर दिया) इससे ही 'वह्नौ' (अग्नि में) यह सब ज्ञात हो जाता है अतः यहाँ गतार्थता है। और शरभङ्ग के आश्रम को जाना अथवा तनु का होम करना इससे आगे कथा शरीर के लिए उपयोगी भी नहीं इसलिए निष्प्रयोजकता है। अतः यह व्यर्थ नाम का वाक्य तथा महावाक्य का दोष होता है। आर्थी वृत्ति से प्राप्त वस्तु का शास्त्र, इतिहास आदि में शब्दवृत्ति से कहना पुनरुक्ति नहीं है। इस प्रकार पुनरुक्ति दोष से यह भिन्न है

स्व० भा०—भोज तथा उनके पूर्ववर्तियों में इस दोष की परिभाषा को लेकर एकता नहीं। भामह और दण्डी व्यर्थ के 'वि' उपसर्ग का अर्थ विरुद्ध लगाते हैं, 'न कि विना'। भामह ने स्पष्ट कहा है—

विरुद्धार्थं मतं व्यर्थं विरुद्धं तूपदिश्यते।
पूर्वापरार्थव्याघाताद्विपर्ययकरं यथा ॥ काव्यालङ्कार ४।९ ॥

लगभग यही भाव दण्डी का (काव्यादर्श ३।१३१) भी है। जब कि भोज 'वि' उपसर्ग का अर्थ 'गत' अथवा 'विगत' तथा 'अनावश्यक' भी लेते हैं। इनके यहाँ विरुद्धता का कोई प्रश्न ही नहीं है।

वृत्ति में व्यर्थता का निरूपण स्पष्ट है। 'आये हुए' को 'देखकर' कोई कार्य करना इस बात का परिचायक है कि जब कोई आ गया है तो उसकी अनुभूति हो ही गई, पुनः 'दृष्ट्वा' कहना अनावश्यक है। इसी प्रकार द्विवचनान्त संज्ञाओं का प्रयोग करने के बाद 'तौ' जैसे द्वित्वबोधक पदों का प्रयोग भी बेकार ही है। व्यर्थ का अर्थ निष्प्रयोजन बेकार बिना किसी विशेष उपयोग का आदि ही है न कि पूर्णतः अर्थहीन। एकबार किसी बात को कहने के बाद पुनः कहना सामान्यतः पुनरुक्ति है, किन्तु अर्थ रूप से प्राप्त का शब्द से और शब्द से उक्त का अर्थ द्वारा पुनः कथन पुनरुक्ति नहीं है। माध्यम का भेद होने से पुनरुक्ति नहीं होगी। यहाँ 'रघुव्याघ्रौ' पद प्रसङ्गवश 'रामलक्ष्मणौ' अर्थ को प्रकट करता है, वस्तुतः उसका यह शब्दार्थ नहीं। अतः अर्थतः उससे रामलक्ष्मणौ प्राप्त होता है और दूसरी ओर शब्दतः कहा गया है।

व्यर्थमिति। विज्ञातो वा विगतो वार्थोऽभिधेयं प्रयोजनं यस्य तद्व्यर्थं स्वतन्त्रं च दूषणमिति वैशेषिके वक्तव्यम्। तथा हि—आहिपातामिति। अंहेर्गतिकर्मणो लुङि रूपम्। स च प्राचुर्यप्रयोगः प्राप्त्यवच्छिन्नं व्यापारप्रचयमभिधत्ते। तथा चार्थसिद्धायां प्राप्तौ शब्देनोपादानमनुचितं लोकानुसारेण काव्ये दृशिश्चाक्षुष एव ज्ञाने प्रयुज्यते। यथा—'मया तावद्दृष्टो न खलु कलिकन्दर्पनृपतेर्गुणैस्तुल्यः कोऽपि क्वचिदपि किमश्रावि भवता। इति प्रश्नं श्रुत्वा क्वणितमिव कर्णान्तिकमगान्मृगाक्षीणां चक्षुश्चटुलभवतो चान्त-तरलम् ॥' यथा वा—'नैवादर्शि न चाश्रावि फलं मलयभूरुहः।' चक्षुश्च प्राप्तमेव गृह्णातीत्यर्थलब्धायां प्राप्तौ कथं शब्देनोपादानम्। तदिदमुक्तम्—एताभ्यामेवेति। रघुव्याघ्रादिप्रकरणादिकमासाद्य विशेषपर्यवसायि यौगिकत्वान्न तु विशेष एव शक्तम्। 'उपगम्य रघुव्याघ्रः कच्छभूभागचारिणीम्। लुलुभे मुनिधेनुं तां वेलामिव महार्णवः॥' इति महर्षिप्रयोगात्। एतेन पुष्पवदादिपदवद्वचनभेदोऽप्यपास्तः। एवं च प्रकरणादिना रघुव्याघ्रपदं रामलक्ष्मणपरमेवेति पूर्वार्द्धे तयोरेव प्रक्रान्तत्वादुत्तरार्धे सर्वनाम्ना परामर्शो युज्यते, न तु स्वशब्देन। तनुप्रभृतिशब्दानां संबन्धिशब्दत्वात्समभिव्याहृतशब्दार्थ-संबन्धकत्वं लोके व्युत्पन्नम्। यथा—'करौ धुनाना नवपल्लवाकृती वृथा कृथा मानिनि मा परिश्रमम्।' इति शब्दान्तरसंनिधाने तु क्वचित्ताद्रूप्यावगमो भवति। यथा—'उमास्तनो-द्भेदमनुप्रवृद्धो मनोरथो यः प्रथमं बभूव। तमेव मेनादुहितुः कथंचिद्विवाहदीक्षातिलकं चकार॥' तदिहान्यस्यानुपादानाच्छरभङ्गसम्बन्धिन्येव तनुः प्रतीयते। जुहोतिश्च वह्न्या-धारकमेव हविर्द्रव्यस्यागमभिधत्ते तेन 'वह्नौ' इत्यपि न वाच्यम्। गतार्थशब्दं व्याचष्टे-गम्यत इति। अस्मिन्नेवोदाहरणे निष्प्रयोजनत्वमाह—न चेति। शरभङ्गाश्रमगमनं तनुहो-मश्चात्र वाक्यार्थद्वयं न प्रयोजनवत्। अस्य वाक्यस्य चरितार्थत्वात्। किं प्रयोजनान्तरग-वेषणयेत्यत आह—अत इति। यद्वाक्यपोषणायानौपयिकपदमप्रयोजकवचसा प्रागुक्तं तथा

च प्रबन्धाद्यर्थपोषपर्यवसायि वाक्यमेव; इहाप्यवाच्यवचनस्य स्फुटत्वात्। न चाश्रमगमनतनुहोमौ करिष्यमाणवीररसोचितकथाशरीरे काममपि शोभामात्रामर्पयत इति वाक्यस्य महावाक्यस्य चेति यथासंख्यमन्वयः। कथं पुनर्गतार्थं प्रसाधितस्येत्यादेरर्थपुनरुक्ताञ्चित इत्यत आह—आर्थ्या चेति। शब्दवृत्त्यैवावगतस्य शब्दवृत्त्या पुनरुक्तम्। अर्थतो लब्धस्य शब्दवृत्त्या भणनमित्येकः प्रकारः। अर्थतो लाभं व्युत्पादयति—शास्त्रेति। अस्य रघुकुलभुवः शरभङ्गाश्रमगमनमितिहासाच्चक्षुषः प्राप्तस्यैव ज्ञानजनकत्वं शास्त्रात्। शरभङ्गसंबन्धिन्येव तनुर्लोकव्युत्पत्तेस्तेन नियमेन ह्यर्थतः प्राप्तिर्भवतीत्यभिप्रायः॥

(३ एकार्थता दोष)

उक्त्यभिन्नार्थमेकार्थं

यथा—

'प्रसाधितस्याथ मुरद्विषोऽभूदन्यैव लक्ष्मीरिति युक्तमेतम्।
वपुष्यशेषेऽखिललोककान्ता सानन्यकान्ता ह्युरसीतरा तु॥ ५२॥'

इत्युक्तैकार्थमेवाह—

'कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य तस्य।
आलिङ्गिताशेषजना बभूव सर्वाङ्गसङ्गिन्यपरैव लक्ष्मीः॥ ५३॥

अनयोः श्लोकयोरभिन्नार्थमेकं वाक्यं महावाक्ये दुष्यति॥

उक्तियों का एक ही अर्थ होना एकार्थ दोष है॥ ४८ क॥

जैसे—इस प्रकार अनेक प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित श्रीकृष्ण की श्री एक अन्य ही हो गई थी, यह उचित ही था, क्योंकि अलङ्कारों से आई श्री उनके सम्पूर्ण शरीर में निवास कर रही थी और सम्पूर्ण लोक की प्रिया थी, जब कि दूसरी श्री—लक्ष्मी-दूसरी की प्रिया नहीं थी और वह उनके हृदय में ही निवास कर रही थी॥ ५२॥

इसी कहे हुए अभिप्राय को ही (पुनः कहा गया है)—

कपाट के सदृश विशाल तथा मनोहर वक्षःस्थल पर निवास करने वाली लक्ष्मी ही जिनकी कान्ता थीं, उन श्रीकृष्ण की उस समय सबको आनन्दित करने वाली, सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त एक दूसरी ही लक्ष्मी थी॥ ५३॥

इन दोनों श्लोकों का समान अर्थ वाला एक ही वाक्य है जो महावाक्य में दोष होगा।

स्व० भा०—ये दोनों छन्द शिशुपालवध (३।१२–१३) से लिए गए हैं। शरीरश्री तथा पत्नीश्री दोनों से सम्बद्ध अपूर्वता दोनों ही छन्दों में शब्दान्तर से कही गई है अतः। पूरे प्रबन्ध को एक साथ देखने पर अपूर्वता नहीं प्रकट होती। पूर्व छन्द की ही अपूर्वता पुनः वर्णित हो जाने से चमत्कारहीन हो गई है।

भोज द्वारा वर्णित एकार्थता भामह और दण्डी की एकार्थता से भिन्न है। इन लोगों की एकार्थता पूर्णतः पुनरुक्ति दोष है। भोज का यह दोष वामन के एकार्थदोष के अधिक निकट है। वस्तुतः भामह और दण्डी इस दोष को पदगत तथा अर्थगत मानते हैं। भोज तथा वामन द्वारा इसको वाक्यार्थ दोष मानने से आधार का अन्तर होने से भेद होना स्वाभाविक ही है।

उक्त्यभिन्नार्थमिति । वाक्यान्तरोक्त्यभिन्नस्तात्पर्यार्थो यस्य तत्तथोक्तम् । तथा हि—'प्रसाधितस्य–' इत्यादिश्लोके श्लेषोपहितेन व्यतिरेकेण काप्यपूर्वा कृष्णस्य लक्ष्मीस्तत्काले बभूवेति तात्पर्यार्थः । तेनैव प्रकारेण 'कपाट–' इत्यग्रिमश्लोके स एवास्ति । तुल्यार्थत्व उपादानं भिन्नार्थत्वेऽपि । तदिदमाह—अनयोः श्लोकयोरिति । महावाक्ये श्लोकद्वयरूपे एकम्, अन्यतरद् दुष्यति । हेयं भवतीत्यर्थः ॥

(४ ससंशय दोष)

संदिग्धार्थं ससंशयम् ।

यथा—

'मनोरथप्रियालोकरसलोलेक्षणे सखि ।
आराद्वृत्तिरियं माता न क्षमा द्रष्टुमीदृशम् ॥ ५४ ॥'

अत्रारात्प्रभृतिशब्दानामुभयार्थत्वान्माता द्रक्ष्यति न वेति संदिग्धम् ।

जहाँ अर्थ संदिग्ध हो अर्थात् एक निश्चयात्मक तथ्य पर न पहुँचा जा सके, वहाँ ससंशय दोष होता है ॥ ४८ अ ॥

जैसे—अपने मनचाहे प्रेमी को निहारने से आनन्द के कारण चञ्चलनयनों वाली हे सखी ! दूर अथवा निकट स्थित तुम्हारी माँ, इस प्रकार की बातों को देखने में असमर्थ है ॥ ५४ ॥

यहाँ आरात् जैसे शब्दों के द्व्यर्थक होने से 'माता देखेगी अथवा नहीं' इसमें संदेह है। अतः यहाँ ससंशय दोष है ।

स्व० भा०—यहाँ भोज की परिभाषा उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी कि भामह या दण्डी की । इन्होंने तो वामन की शैली में[1] लक्षण कह दिया है । भामह की उक्ति—

श्रुतेः सामान्यधर्माणां विशेषस्यानुदाहृते । अप्रतिष्ठं यदत्रैतज्ज्ञानं तत्संशयं विदुः ॥
ससंशयमिति प्राहुस्ततस्तज्जननं वचः । इष्टं निश्चितये वाक्यं न दोलयेत तद् यथा ॥
काव्या० ४।१७–१८ ॥

लक्षण दण्डी का भी स्पष्ट है।[2] भोज ने उदाहरण दण्डी से ही दिया है । (द्रष्टव्य ३।१४०) ।

छन्द में प्रयुक्त 'आरात्' शब्द 'दूर' तथा 'निकट' दोनों अर्थों का वाचक है। अतः प्रथम अर्थ ग्रहण करने पर माता के दूर होने से नायिका के स्वैर प्रियदर्शन की छूट द्योतित होती है, जब कि निकट अर्थ पर उस कार्य का निषेध प्रकट होता है। अतः ऐसे द्व्यर्थक पदों का प्रयोग पूरे वाक्यार्थ पर अपना असर दिखा देता है ।

संदिग्धार्थमिति । शब्दस्वरूपनिश्चयेऽपि वाक्यार्थो दोलायित इत्यर्थदोषत्वम् । तथा हि—मनोरथेत्यादौ मनोरथे यः प्रियो वल्लभस्तदालोकरसेन लोलेक्षणे चपललोचने तव मातेयमाराद्वृत्तिर्दूरवर्तिनी । अतो नैतादृशं सानुरागाङ्गनाजनयोग्यं द्रष्टुं क्षमा इति व्यवस्थापनान्नावलोकयितुं शक्ता ततो निःशङ्कमालोकस्वेति वाक्यार्थ उतेयमाराद्वृत्तिः समीपदेशवर्तिनी । 'आराद् दूरसमीपयोः' । तथा चेदृशं कुलाङ्गनानुचितं चारित्रखण्डनं द्रष्टुं न क्षमा न सहिष्णुरतो मा नयनचापलं कार्षीरिति । नानार्थपदप्रक्षेपात्साधकबाधकप्रमाणाभावाच्च संदिह्यत इत्याह—अत्रारात्प्रभृतिशब्दानामिति । न च मिथो विरोधिनोरेकत्र विवक्षा संभवति । न चास्ति प्रकरणादिकमेकनियामकम् । न च मातुः प्रकोपशङ्कया प्रियविलोकनरसोत्काया मनोरथभङ्गो न भवतीत्यर्थः ॥

---

१. संशयकृत् संदिग्धम् । २।२।२० ॥ २. काव्यादर्शः ३।१३९ ॥

(५ अपक्रम दोष)

वाक्यं यत्तु क्रमभ्रष्टं तदपक्रममुच्यते ॥ ४८ ॥

यथा—

'काराविऊण खउरं गामउलो मज्जिओ अ जिमिओ अ ।
णक्खत्ततिहिवारे जोइसिअं पुच्छिउं चलिओ ॥ ५५ ॥'

[कारयित्वा क्षौरं ग्रामप्रधानो मज्जितश्च भुक्तवांश्च ।
नक्षत्रतिथिवाराञ्ज्यौतिषिकं प्रष्टुं चलितः ॥]

अत्र क्षुरकर्मणोऽनन्तरं नक्षत्रादिप्रश्नादिदमपक्रमम् ॥

जो वाक्य क्रमभ्रष्ट हो अर्थात् जिसमें करणीय कर्मों के पौर्वापर्य का ध्यान न रखा गया हो, उसे अपक्रम दोष कहते हैं ॥ ४८ ॥

जैसे—बाल बनवाने के बाद स्नान तथा भोजन करके ग्रामप्रधान ज्योतिषी से नक्षत्र, तिथि तथा दिन पूछने के लिए चलता है ॥ ५५ ॥

यहाँ क्षौर कर्म के पश्चात् नक्षत्र आदि पूछने से अपक्रम दोष है।

स्व० भा०—लोक में कार्यों का एक निश्चित पौर्वापर्य होता है। जब वाक्य में उसका वर्णन उस क्रम में नहीं होता है तब अपक्रम हो जाता है। क्षौर कर्म के लिए एक निश्चित दिन आदि भारतीय ज्योतिष् में निर्दिष्ट है। ये नियम प्रत्येक शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के कार्यों के लिए बने हैं, छोटे से छोटे से लेकर बड़े से बड़े कार्यों के करने के दिन, घड़ी, नक्षत्र आदि का विचार इस शास्त्र में है। किसी कार्य को सम्पन्न करने के पूर्व ही इनका ज्ञान अपेक्षित है। यहाँ निर्दिष्ट प्रसंग में क्षौर के पश्चात् स्नान तथा भोजन ये तो क्रम से ही हैं किन्तु इनके बाद बाल कटाने का समय पूछने के लिये चलना एक निश्चित क्रम का भङ्ग ही है। अतः यहाँ अपक्रम दोष है।

भामह, दण्डी आदि द्वारा निर्दिष्ट अपक्रमत्व शब्द दोष है, वाक्यार्थ दोष नहीं।

वाक्यं यत्त्विति। कारयित्वा क्षौरं गामउलो ग्रामप्रधानपुरुष इति देशीयाः। ग्रामेऽपि वा यः कुटोऽभ्युत्पन्नः। मज्जिओ अ सुस्नातश्च जिमिओ अ भुक्तवांश्च ततो नक्षत्रं तिथिवारौ च ज्यौतिषिकं प्रष्टुं चलितः। तिथिवारज्ञानानन्तरं क्षुरकर्म, ततः स्नानभोजने, इति लौकिकः क्रमस्तस्य विपर्यासो व्यक्त एव श्रुतिवचनात्। क्रियमाणेऽपि रचनावैपरीत्येन क्रमभ्रंशः समाधीयत इति नासौ शब्ददोषः। अत्र पूर्वार्धोपात्तानां क्रमो न विपर्यस्तः, किंतु क्षौरोत्तरार्धोक्तयोरित्याह—अत्र क्षुरकर्मण इति ॥

(६ खिन्नत्व दोष)

जात्याद्युक्तावनिर्व्यूढं खिन्नमाहुर्महाधियः ।

यथा—

'वेवाहिऊण वहुआ सासुरअं दोलिआइ णिज्जन्ती ।
रोअइ दिअरो तं संठवेइ पस्सेण वच्चन्तो ॥ ५६ ॥'

[विवाह्य वधूः श्वाशुरकं दोलिकया नीयमाना ।
रोदिति देवरस्तां संस्थापयति पार्श्वेन व्रजन् ॥]

अत्र प्रक्रान्तस्य नवपरिणयवतीस्वरूपभणनस्यानिर्व्यूढत्वात्खिन्नत्वम् ॥

(एक विशेष) जाति आदि का ग्रहण करने के बाद उसका निर्वाह न करने पर विशद बुद्धि वालों ने 'खिन्नत्व' दोष कहा है ॥ ४९ अ ॥

जैसे—विवाह करके पालकी से ससुराल ले जाई जा रही नवपरिणीता वधू रो रही है और बगल में चलता हुआ देवर उसे आश्वासन दे रहा है ॥ ५६ ॥

यहाँ प्रारम्भ कर दिये गए नवपरिणीता वधू के स्वरूप का आगे निर्वाह न करने से खिन्नत्व दोष है।

स्व० भा०—स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिनिर्मित आदि वाक्यार्थ के भेद हैं। कोई कारण विशेष न होने पर एक जिस प्रकार के अर्थ का ग्रहण कवि ने कर लिया है, उसका निर्वाह उसे अन्त तक करना चाहिए यही जाति का निर्वाह है। ऐसा न करने पर दोष होता है।

यहाँ नवविवाहिता का स्वरूपचित्रण प्रारम्भ किया गया। वह रो रही थी। यदि उसकी चेष्टाओं का आगे और भी निरूपण किया गया होता, कि आत्मीय जनों द्वारा समझाने पर भी वह उन्हीं के गले से और अधिक लिपट कर रोने लगती है, आदि, आदि तो एक क्रम का निर्वाह होता। वहाँ स्वाभाविकता होती किन्तु समझाना और वह भी देवर द्वारा जो कि ससुराल पक्ष का ही है, स्वभाव के विपरीत है। अतः दोष है।

जात्यादीति। वाक्यार्थो द्विविधः—स्वतःसंभवी, कविप्रौढोक्तिनिर्मितश्च। तत्रासति विशेषहेतौ यज्जातीयमर्थं बुद्ध्या व्यवस्थाप्य वचनोपक्रमस्तज्जातीयस्यैव समस्तवाक्यनिर्वाहो युक्तो न त्वन्तरेण परित्यागेन भेदः। उपक्रान्तनिर्वाहाशक्तो लोके खिन्न इत्युच्यते। तदिदमुक्तम्—जात्यादीति। आदिपदेन स्वतःसंभवविशेषाणामुपमादीनां कविप्रौढिनिर्मितानां च रूपकादीनां परिग्रहः। विवाह्य नववधूः सासुरअं श्वशुरगृहं दोलिकया नीयमाना रोदितीति स्वतःसंभवी। नवपरिणीतास्वभावलक्षणार्थस्तावदुपक्रान्तः, तथा सति यो जन्माभ्यस्तपितृगृहवियोगवेदनादूनमानसाया अत्यन्तापरिशीलितेन देवरेण संस्थापनप्रकारः स न जातौ निविशते। परिशीलितभर्तृकुलायाः कुलायां वा। तस्यौचित्यात्तस्या एव हि किंचन वक्तव्यं भवतीत्याह—अत्र प्रक्रान्तस्येति ॥

(७ अतिमात्रता दोष)

यत्सर्वलोकातीतार्थमतिमात्रं तदुच्यते ॥ ४९ ॥

यथा—

'भृङ्गेण कलिकाकोपस्तथा भृशमपीड्यत।
ववर्ष विपिनोत्सङ्गे गोष्पदप्रं यथा मधु ॥ ५७ ॥'

अत्र कलिकाकोपे गोष्पदप्रमधुवर्षस्यासंभवादतिमात्रत्वम् ॥

जो वाक्य ऐसा हो जिसका अर्थ सम्पूर्ण लोक की मर्यादा से भी बढ़ कर हो वह अतिमात्रत्व दोष से युक्त कहा जाता है ॥ ४९ ॥

जैसे—भौंरे ने कली के कोप को इतना अधिक कस कर दबाया कि उसके कारण उपवन के प्राङ्गण में इतनी मधुवृष्टि हुई कि गोपद से बने गड्ढे भर गए ॥ ५७ ॥

यहाँ कलीबन्ध से गोपद को भरने के प्रमाण की मधुवर्षा असम्भव होने से अतिमात्रत्व दोष है।

स्व० भा०—यहाँ पर दो बातें अलोकसामान्य कही गई हैं। प्रथम तो फूले फूल के अतिरिक्त कली में भ्रमर बैठता नहीं, यहाँ उसके बैठने का ही नहीं अपितु दबाने तक का वर्णन है। दूसरे एक कली का आकार इतना छोटा होता है कि उससे निकलने वाला रस कभी इतनी मात्रा में हो ही नहीं सकता कि उपवन-भूमि में गोपद के गड्ढे भर जायें। अतः यह उक्ति दोषपूर्ण है। रुद्रट की परिभाषा सुन्दर है—'अतिदूरमतिक्रान्तो मात्रालोकेऽतिमात्र इत्यर्थः' ११।१७॥

यत्सर्वलोकेति। गोष्पदप्रमिति पूरेर्णिजन्ताद् 'वर्षप्रमाण ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इति णमुल्, ऊलोपश्च। कलिकामकरन्दपरिणामस्यैतावतो लोके न प्रसिद्धिः। न चैतत्खिन्नमेव। कलिकाकुसुमस्यानुपक्रमात्, किं तु स्वरूपभ्रमाल्लोकमर्यादातिरिक्तवृत्तमुपात्तमिति पृथगेव दोषः॥

(८ परुषत्व दोष)

यत्तु क्रूरार्थमत्यर्थं परुषं तु तदुच्यते।

यथा—

'खाहि विसं, पिअ मुत्तं, णिज्जसु मारीअ, पडउ दे वज्जम्।
दन्तक्खण्डिअथणआ खिविऊण सुअं सवइ माआ॥ ५८॥'
[खाद विषं, पिब मूत्रं, नीयस्व मार्या, पततु ते वज्रम्।
दन्तखण्डितस्तनी क्षिप्त्वा सुतं शपति माता॥]

अत्र खाद विषमित्यादीनां क्रूरार्थानामभिधानात्पारुष्यम्॥

जिस वाक्य का अर्थ अत्यन्त कठोर होता है वह परुष कहा जाता है। ५० अ॥

जैसे—विष खा ले, मूत्र पी ले, तुझे महामारी उठा ले जाये, तुझ पर वज्र गिरे। इसी प्रकार के शब्दों से दाँत से स्तन काट लेने पर एक माँ बच्चे को पटक कर शाप देती है॥ ५८॥

यहाँ 'जहर खा ले' इत्यादि क्रूर वस्तुओं का उच्चारण करने से कठोरता है।

स्व० भा०—दुधमुँहे बालक का माता के स्तन को काटना स्वाभाविक है। यही एक प्रकार की जाति है। अतः ऐसा कहने पर जाति भङ्ग होने से यहाँ खिन्नत्व दोष होना चाहिए ऐसा भ्रम होता है, किन्तु यहाँ अत्यन्त कठोरता अपेक्षित होने से परुषत्व दोष ही हुआ।

यत्त्विति। 'खाद विषं, पिब मूत्रं, नीयस्व मार्या, पततु ते वज्रम्' इत्थं माता पुत्रमाक्रोशति। किं कृत्वा। क्षिप्त्वा भूमौ निरस्य। कुतः। दन्तखण्डितस्तनी। यतो बालो दन्तैर्मातुः स्तनं दशतीति जातिस्तस्याः पुनरेवंविधं परुषाभिधायित्वमनुचितम्। अतिपारुष्यमेव चात्र विरसताहेतुः। तेनातिमात्राद्भेदः॥

(९ विरसत्व दोष)

अप्रस्तुतरसं यत्स्याद्विरसं तन्निगद्यते॥ ५०॥

यथा—

'तव वनवासोऽनुचितः पितृमरणशुचं जहीहि किं तपसा।
सफलय यौवनमेतत्सममनुरक्तेन सुतनु मया॥ ५९॥

अत्र पितृमरणसंतप्तायाः संभोगप्रवर्तनमप्रकृतरसत्वाद्विरसम्॥

प्रस्तुत, प्रारब्ध अथवा प्राप्त रस की बात जिसमें (आगे) न हो अथवा अनुपस्थित अनुपयुक्त या अप्राप्त रस जिस वाक्य में आ जाये उस वाक्य को विरस (विपरीत रस वाला) अथवा विरसत्व दोष से युक्त कहते हैं ॥ ५० ॥

जैसे—तुम्हारा वनवास अनुचित है, पितृशोक छोड़ो, तपस्या से क्या लाभ ? अरी सुन्दरी ! मुझ प्रेमी के साथ अपने इस यौवन को सार्थक करो ॥ ५९ ॥

यहाँ पिता की मृत्यु से शोक-संतप्त युवती को रतिहेतु प्रवृत्ति कराना प्रस्तुतरस से विरुद्ध है। अतः विरसत्व नामक दोष है।

स्व० भा०—पितृमरण से करुण प्रसंग उपस्थित था। यहाँ करुण का ही विस्तार होने से उस प्राप्त रस का विस्तार होता, किन्तु उसके विरोधी शृङ्गार को उपस्थित करना अनुचित है। इसी अनौचित्य के कारण यहाँ दोष है। जो वर्णन का रस नहीं है उसका ग्रहण करना अथवा वर्णित हो रहे रस का आगे विस्तार न करना दोनों अर्थ 'अप्रस्तुतरस' पद से 'नञ्' अ का भिन्न स्थानीय प्रयोग करके निकाला जा सकता है। रुद्रट का भी उदाहरण यही है। उनकी परिभाषा स्पष्ट है।[1]

अप्रस्तुतेति। अप्रस्तुतः प्रस्तावमन्तरेण सूचितो रसो यत्र तत्तथा। एकरसप्रक्रमे हि विरोधिरसान्तरप्रस्ताव एव क्रियमाणो नौचित्यवान्। न चौचित्यमन्तरेण रसस्य पद-संबन्धः संभवति। यदाह—'अनौचित्यादृते नास्ति रसभङ्गस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्य-बन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥' इति। तव वनवास इत्यादौ पितृमरणानुभवप्राप्तशोक-प्रकर्षायाः शृङ्गारप्रस्तावना विरसायते। सा हि स्वभावत एव करुणेन सहैकवाक्यसमावेश-विरोधिनी। न चैकस्य बाध्यत्वमङ्गभावो वावगम्यते। नाप्युभयोरन्यगुणीभावोऽवगम्यते। येनायं विरोधः समाधीयताम्। युक्तिरत्र विदग्धैव। अर्थस्तु रसात्माविरोधेन पदं बध्नाति ततः कान्तिविपर्ययाद्भेदः। न च करुणोक्तिरुपक्रान्ता यतस्तदनिर्वाहे खेदसंभावना स्यात्। किंतु पितृमरणशुचं जहीहीत्यनेन शोकाविष्टायां शृङ्गारप्रस्तावना। तथा च भिन्न-मेव दुष्टताबीजं तदेतत्सर्वमपि संधाय व्याचष्टे—अत्रेति ॥

इदानीमनौचित्यरूपदूषणप्रस्तावः। अर्थालंकारेषूपमा प्रधानमिति प्रसिद्ध्या तस्या-मेवोपलक्षणतयानौचित्यं प्रपञ्चयति—

(१० हीनोपमत्व दोष)

हीनं यत्रोपमानं स्यात्तत्तु हीनोपमं स्मृतम् ।

यथा—

'क्वचिदग्रेऽप्रसरता क्वचिदाप्लुत्य निघ्नता।
शुनेव सारङ्गकुलं त्वया भिन्नं द्विषत्कुलम् ॥ ६० ॥

अत्र शौर्यशालिनः शुनोपमितत्वाद्धीनोपममिदम् ॥

जिस वाक्य में उपमान (उपमेय की अपेक्षा) हीन होता है, वहाँ हीनोपमत्व दोष अभिमत है ॥ ५१ अ ॥

जैसे—कहीं आगे बढ़कर, कभी पीछे मुड़कर प्रहार करते हुए तुमने शत्रुसेना को उसी प्रकार छिन्न-भिन्न कर दिया जैसे एक कुत्ता मृग समूह को छिन्न-भिन्न कर देता है ॥ ६० ॥

१. अन्यस्य यः प्रसङ्गे रसस्य निपतेद्रसः क्रमापेतः।
विरसोऽसौ स च शक्यः सम्यग्ज्ञातुं प्रबन्धेभ्यः ॥ काव्याल० ११।१२–१३ ॥

शौर्यशाली व्यक्ति की कुत्ते से तुलना करने से यह श्लोकार्थ हीनोपम दोष से युक्त है।

स्व० भा०—भामह ने (काव्यालं० २।५३–५४ ॥) इस दोष को उपमा के विपर्यय दोषों में से प्रथम माना है। भोजराज ने उदाहरण वहीं से लिया है। यहाँ कुत्ते जैसे कार्यव्यापार का सादृश्य भले ही बहुत अच्छा हो, और सटीक भी बैठता हो किन्तु निम्नयोनि वाले कुत्ते से एक राजा की तुलना करना दोषपूर्ण है।

हीनमित्यादि। हीनमपकृष्टमसजातीयमुपमानमित्युपमानप्रसिद्धा विशेषा उपमेये प्रतिबिम्बकल्पाश्च प्रतीयन्त इत्युक्तम्। उत्कृष्टजातीयस्योपमेयस्य हीनजातीयेन सामान्यमभिधीयमानं शाब्दन्यायेन बोधयदनुचितमेव भवति। यथा—'रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः' इति। नन्वत्र रूपकबलेन वर्णनीयस्य पशुतावगम्यत इति युक्तमनौचित्यम्। क्वचिदग्र इत्यादौ प्रकृतोदाहरणे तु कथम्। नह्यत्र प्रस्तुतोपश्लोकस्य सारमेयतावगम्यते अग्रे प्रसरणमाप्लुत्य निहननं च सादृश्यमुपात्तमुचितमेवेति नैतत्। तत्त्वप्रतिबिम्बे सादृश्यप्रतीतिरपि शब्देन क्रियमाणा लोके कान्तिं प्रति पुष्णाति। न हि कदापि हीनेन सादृश्योक्तौ वर्णना सजीवा प्रतीयते। प्रतीतिमात्रपरमार्थं च काव्यदर्शनमिति॥

(११ अधिकोपम दोष)

तदेव यस्मिन्नधिकं तद्भवेदधिकोपमम् ॥ ५१ ॥

यथा—

'अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते।
युगादौ भगवान् ब्रह्मा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः ॥ ६१ ॥'

अत्र चक्रवाकस्य जगत्स्रष्ट्रा ब्रह्मणोपमितत्वादधिकोपममिदम् ॥

जिस वाक्य में उपमान ही (उपमेय की अपेक्षा) अधिक वर्णित हो वह वाक्य अधिकोपम अर्थात् अतिशयित उपमा वाले दोष से युक्त होगा ॥ ५१ ॥

जैसे—युग के प्रारम्भ में प्रजा का निर्माण करने की इच्छा वाले भगवान् ब्रह्मा की भाँति यह चक्रवाक कमल पर बैठा हुआ सुशोभित हो रहा है ॥ ६१ ॥

यहाँ चक्रवाक की जगत् के निर्माता ब्रह्मा से तुलना करने से अधिकोपमत्व दोष हुआ।

स्व० भा०—उपमा में तो उपमेय की अपेक्षा उपमान बढ़ा-चढ़ा रहता ही है। अन्यथा उपमा देने से तो कोई लाभ ही नहीं है। किन्तु जिस प्रकार उपमान को उपमेय से अपकृष्ट चित्रित करना दोष है, उसी प्रकार किसी छोटी सी वस्तु की तुलना किसी बहुत बड़ी वस्तु से देना भी उपहास का विषय है। भोज ने यह उदाहरण भी भामह के द्वारा निरूपित उपमा दोष के प्रसङ्ग से ही उद्धृत किया है। (द्रष्टव्य काव्यालं० २।५६) रुद्रट ने (काव्यालं० ११। ३४–५) श्लोक के पूर्वार्ध को अप्रसिद्धोपम के उदाहरण के रूप में किया है।

तदेवेति। हीनेनोत्कृष्टं यथा नोपमीयत इति लोकमर्यादा तथोत्कृष्टेन हीनम्। तथा हि—चक्रवाकोपमितिमनुसंदधतां विशेषावगतिविधुराणां च सहृदयानां प्रतीतिः स्खलन्ती जनयत्येव वैरस्यमिति सूक्ष्मेक्षिकया दूषणम् ॥

इदमपरमायातमनौचित्यं यत्सादृश्यबुद्ध्या निबन्धेऽप्यसादृश्यपर्यवसानमित्याह—

(१२ असदृशोपम दोष)

यत्त्वतुल्योपमानं तद्वदन्त्यसदृशोपमम्।

यथा—

'णमह हरं रोसाणलणिदद्धमुद्धमम्महसरीरम् ।
वित्थअणिअम्बणिग्गअगङ्गासोत्तं व हिमवन्तम् ॥ ६२ ॥'

[नमत हरं रोषानलनिर्दग्धमुग्धमन्मथशरीरम् ।
विस्तृतनितम्बनिर्गतगङ्गास्रोतसमिव हिमवन्तम् ॥)

अत्र कोपानलनिर्दग्धमुग्धमन्मथशरीरस्य हरस्य नितम्बनिर्गतस्रोतसा हिमवद्गिरिणा सहासादृश्यादिदमसदृशोपमम् ॥

उस वाक्य को असदृशोपमत्व दोष से युक्त कहते हैं जिसमें उपमेय के सदृश उपमान नहीं होता ॥ ५२ अ ॥

जैसे—सुन्दर कामदेव को क्रोधाग्नि से भस्म कर देने वाले शंकर को प्रणाम करो जो कि विशाल नितम्ब से निकली हुई गङ्गा की धारा वाले हिमालय की भाँति हैं ॥ ६२ ॥

यहाँ "क्रोधानल से मनोहर कामदेव के शरीर को जलाने वाले शङ्कर" की "नितम्ब से निकली हुई गङ्गा की धारा वाले हिमालय" के साथ तुलना उपयुक्त न होने से असदृशोपमत्व दोष है।

स्व० भा०—शङ्कर तथा हिमालय दोनों पूज्य हैं, किन्तु दोनों की तुलना नहीं हो सकती। यह सम्भव है कि कुछ गुणों के कारण दोनों में साम्य दिखाया जाये, किन्तु जो विशेषण यहाँ पृथक्-पृथक् रूप से दोनों के दिए गए हैं उनमें तो किसी प्रकार का सादृश्य है ही नहीं अतः यहाँ असादृश्योपम दोष है।

यत्त्विति। यद्यपि बलवत्त्वादिना प्रतीयमानं हिमवद्भगवतोरस्ति सादृश्यम्, तथापि वाच्योपमाक्रमेणायं निबन्धः, सा च न सम्पन्ना, नहि रोषेण विदग्धमन्मथशरीरदाहो विस्तृतनितम्बनिर्गतगङ्गास्रोतःप्रतिबिम्बभूतः। धातुरङ्गरञ्जितो गङ्गाप्रवाहोऽभिमतस्य भवति ललाटनेत्राग्निज्वालाप्रतिबिम्बमित्यपि न वाच्यम्, येनान्धत्वप्रसङ्गात्। नितम्बसंबन्धोक्तिश्च न संगता स्यात्। कथं च मन्मथशरीरदाहः प्रतिबिम्बायत इत्याशयेन व्याचष्टे—अत्रेति। विशेषणयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावाभावे विशिष्टयोरुपमानं संभवतीति मत्वा विशेषणद्वयमदोपायैवेति व्याख्यातवान् ॥

(१३ अप्रसिद्धोपम)

इदानीं कविसमयबहिर्भूतत्वेनोपमानौचितीमाह—

अप्रसिद्धोपमानं यदप्रसिद्धोपमं हि तत् ॥ ५२ ॥

यथा—

'कुमुदमिव मुखं तस्या गौरिव महिषः शशीव काव्यमिदम् ।
शरदिव विभाति तरुणी विकसितपुलकोत्करा सेयम् ॥ ६३ ॥'

अत्र कुमुदमुखयोर्गोमहिषयोः काव्यशशिनोश्च प्रतीयमाने शरत्तरुण्योश्च विधीयमाने सादृश्ये उपमानोपमेयस्याप्रसिद्धत्वादप्रसिद्धोपममिदम् ॥

जिस वाक्य में प्रयुक्त उपमान लोकविख्यात नहीं होते हैं, (उनका उपयोग होने पर) उसको अप्रसिद्धोपम दोष से युक्त कहते हैं ॥ ५२ ॥

जैसे—कुमुदिनी की भाँति मुख है उस नायिका का, गाय की तरह भैंस होती है, चन्द्रमा की तरह यह काव्य है, अत्यधिक स्पष्ट पुलकों से संयुक्त यह युवती फूले हुये पुलक वृक्षों से संयुक्त शरद् की भाँति लगती है ॥ ६३ ॥

यहाँ कुमुद तथा मुख का, गौ तथा महिष का, कविता तथा चन्द्रमा का, प्रतीयमान तथा शरद् और तरुणी का विधीयमान सादृश्य प्रदर्शित करते समय उपमेय का उपमान जगद् विख्यात न होने से अप्रसिद्धोपम दोष है। (रुद्रट ने उदाहरण के श्लोक का उत्तरार्ध अप्रतीतत्व दोष के उदाहरण (काव्यालंकार ११.५) के रूप में दिया था।)

स्व० भा०—किसी भी उपमेय की तुलना इसीलिये की जाती है कि उसका सादृश्य एक उत्कृष्ट पदार्थ से जानकर सहृदय चमत्कृत होता है। किन्तु वह चमत्कार तब तक नहीं आ सकता जब तक उपमान का उन्हें ज्ञान नहीं होता। उपमान जितना ही अधिक विख्यात होता है सादृश्यबोध उतना ही शीघ्र होता है और जितना शीघ्र सादृश्य ज्ञान होता है उतना ही शीघ्र आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यदि उपमान प्रख्यात नहीं हुआ, अथवा जिन उपमेयों के जो उपमान पूर्व ज्ञात है, उनमें से नहीं हुआ तो आनन्द प्राप्त नहीं होता, व्यवधान के कारण यहाँ दोष की कल्पना है।

अप्रसिद्धेति। कमलमुखयोरिव कुमुदमुखयोर्गोगवयोरिव गोमहिषयोः काव्यशब्दयोरिव काव्यशशिनोरस्ति सादृश्यं सौरभादिकमेवानुपात्तमपि प्रसिद्धतया प्रतीयमानम्। शरत्तरुण्योस्तु न तथा प्रसिद्धमिति विकसितपुलकाङ्कुरा भातीत्येताभ्यामुपात्तम्। पुलक इवाङ्कुरा इति तत्राशयात्। विशिष्टभानस्य च द्वयानुगतत्वेनैव प्रतीयमानत्वात्तथापि पद इवालंकारेऽपि कविभिरप्रयुज्यमानत्वमेव दोष इति व्याचष्टे—अत्रेति। प्रतीयमान इति। इवशब्दस्य द्योतकमात्रत्वात्। अभिधीयमानं व्याख्यातम् ॥

(१४ निरलंकार दोष)

वक्रताविशेषविशिष्टस्यवार्थस्य काव्यकोटिनिवेशादवक्रो हेय इत्याह—

यदलंकारहीनं तन्निरलंकारमुच्यते।

यथा—

'कोला खणन्ति मोत्थं, गिद्धा खाअन्ति मउअमंसाइं,।
उलुआ हणन्ति काए, काआ उलुए वि वाअन्ति ॥ ६४ ॥'
[कोलाः खनन्ति मुस्ताम् , गृध्राः खादन्ति मृतकमांसानि।
उलूका घ्नन्ति काकान्, काका उलूकानपि वायन्ति ॥)

अत्र कोलादेः स्वरूपाद्यनभिधानाज्जात्याद्यलंकारासंभवे निरलंकारनामायं वाक्यार्थदोषः। सविशेषणाद्गोरपत्यमित्यादेर्वाक्यदोषाद्भिद्यते ॥

जो अलंकार से हीन होता है वह निरलंकार कहा जाता है ॥ ५३ अ ॥

जैसे—शूकर मोथा खोदते हैं, गृद्ध मृतकों का मांस खा रहे हैं। उल्लू कौओं को मारते हैं। कौवे भी उल्लुओं को परेशान कर रहे हैं ॥ ६४ ॥

यहाँ शूकर आदि के स्वरूप आदि का वर्णन न होने से 'जाति' आदि अलंकार भी न होने से निरलंकार नामक वाक्यार्थ दोष है। यह विशेषण से युक्त होने वाले "गोः अपत्यम्" वाले वाक्यदोष से भिन्न है।

स्व० भा०—एक निरलंकारता नामक वाक्यदोष भी होता है। वहाँ पर भी लक्षण समान सा ही लगता है, किन्तु उदाहरण से इन दोनों का—वाक्य तथा वाक्यार्थ का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। वाक्य दोष के उदाहरण में विशेषण का प्रयोग होने से वक्रताव्यतिरेक के कारण शब्दों का ही अपवाद होता है। अतः वहाँ शब्द का ही दोष है। यहाँ तो कहा ही गया है कि स्वरूप वक्र नहीं है।

यदिति। वक्रताव्यतिरेकेऽलंकारसामान्यमेव न स्यादिति निरलंकारमित्युक्तम्। वायन्ति क्षिपन्ति खादन्ति। 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' इति धात्वनुसारात्। नन्वस्ति कोलादिस्वरूपमत्र। ततो जात्यलंकारेण वक्रत्वमाक्षिप्यते। विशेषस्य च सामान्यमान्तरीयकत्वात्कथमुच्यते निरलंकारमित्यत आह—अत्रेति। स्वं रूपं चमत्कारकारि कविप्रतिभामात्रप्रकाशनीयं रूपं तदेवालंकारकक्षामधिशेते। न चात्र तथा किंचिदभिहितमतो न जात्यलंकारः। एवमन्योऽप्यलंकारो नास्ति। कथं तर्हि वक्रताभावरूपदीर्घपुच्छ इत्यादेः शब्ददोषाद्भिद्यते तदाह—सविशेषणादिति। तत्र विशेषणप्रयोगे शब्दानामेव वक्रताव्यतिरेकेणापवाद इति शब्ददूषणम्, इह तु न तथा। किं तूक्तमेव स्वरूपं न वक्रमिति वाक्यार्थ एव दुष्टः॥

(१५ अश्लीलत्व दोष)

अश्लीलमिति निर्दिष्टमश्लीलार्थप्रतीतिकृत् ॥ ५३ ॥

यथा—

> 'उद्यतस्य परं हन्तुं स्तब्धस्य विवरैषिणः।
> पतनं जायतेऽवश्यं कृच्छ्रेण पुनरुन्नतिः॥ ६५॥'

अत्रोद्यतस्य परं हन्तुमिति संभोगारम्भविषया, स्तब्धस्य विवरैषिण इति वराङ्गविषया, पतनं जायतेऽवश्यमिति रेतोविसर्गविषया, कृच्छ्रेण पुनरुन्नतिरिति नष्टरागप्रत्यानयनविषया अश्लीलवाक्यार्थविषया प्रतीतिर्भवति॥

अश्लील अर्थ को प्रकट करने वाला अश्लीलदोष कहा गया है॥ ५३॥

दूसरे को मारने के लिये सन्नद्ध, सावधान तथा (दूसरे का) छिद्रान्वेषण करने के इच्छुक व्यक्ति का अधःपात निश्चित होता है किन्तु उसका उत्कर्ष बड़ी कठिनाई से होता है॥ ६५॥

यहाँ पर 'उद्यतस्य परं हन्तुं' इससे रतिक्रिया को प्रारम्भ करने के विषय की, 'स्तब्धस्य विवरैषिणः' पदों से योनिविषयक अथवा लिङ्ग विषयक, 'पतनं जायतेऽवश्यं' से वीर्यस्खलन विषयक, तथा 'कृच्छ्रेण पुनरुन्नतिः' इससे नष्टराग प्रत्यानयन—अर्थात् स्खलन के बाद पुनः लिङ्ग चैतन्य लौटाने—के विषय में अश्लील वाक्यार्थ की प्रतीति होती है।

स्व० भा०—यहाँ अर्थ स्पष्ट है। विशेष्य का शब्दशः उपादान न होने से इसका अश्लील अर्थ भी प्रकट होता है। इसका अश्लीलार्थ इस प्रकार होगा—

'कस कर प्रहार करने के लिए पूर्णतः तैयार, उत्थित तथा योनिछिद्र में प्रवेश करने की कामना से संयुक्त (शिश्न में वीर्यस्खलन होने से) शिथिलता अवश्य आ जाती है, किन्तु पुनः लिङ्ग चैतन्य की प्राप्ति—नष्टराग प्रत्यानयन—बड़ी मुश्किल से होती है। अन्यत्र निरूपित अश्लीलत्व दोष पद अथवा वाक्यमात्र में होता है किन्तु यहाँ सम्पूर्ण वाक्य में व्याप्त शब्दों का अर्थ अश्लील हो सकने से वाक्यार्थ दोष है।

अश्लीलमिति। उद्यतस्येति। परमन्यं हन्तुमुद्यतस्य विवरैषिण इति प्रमादकृतावधानस्य स्तब्धस्यात्मन्युत्कर्षाभिधानेनान्यानवधीरयतः पतनमावश्यकमुद्गमः कृच्छ्रादिति संसर्गो-

भिमतः। एषामेव पदार्थानां संसर्गान्तरमश्लीलमेवेत्याह—अत्रोद्यतस्येति। एतेन पददोपाच्छेद उक्तः॥

(१६ त्रिविधविरोध-(क) १ देशविरोध)

देशकालादेः काव्याङ्गत्वात्तद्विरोधेनार्थो दुष्टः। विरोधश्च बाधः। स प्रमाणेनैव ततो लोकादिविरोधस्यालंकारसमयसिद्धस्य प्रमाणविरोधपर्यवसायित्वं विवक्षन्नाह—

विरुद्धं नाम तद्यत्र विरोधस्त्रिविधो भवेत्।
प्रत्यक्षेणानुमानेन तद्वदागमवर्त्मना ॥ ५४ ॥
यो देशकाललोकादिप्रतीपः कोऽपि दृश्यते।
तमामनन्ति प्रत्यक्षविरोधं शुद्धबुद्धयः ॥ ५५ ॥

तत्र देशविरोधो यथा—

'सुराष्ट्रेष्वस्ति नगरी मथुरा नाम विश्रुता।
अक्षोटनारिकेराढ्या यदुपान्ताद्रिभूमयः ॥ ६६ ॥'

अत्र सुराष्ट्रेषु मथुरा नास्ति। तत्पर्यन्तादिभूमिषु चाक्षोटनारिकेराणामभावात्। देशोऽद्रिवनराष्ट्रादिरित्ययं देशकृतः प्रत्यक्षविरोधः॥

विरुद्ध नामक दोष वहां होता है—जहां पर प्रत्यक्ष, अनुमान और उसी प्रकार आगम रीति से तीन प्रकार का विरोध हो जो कोई भी देश, काल, लोक आदि का उल्टा दिखाई पड़ता है उसे विमलबुद्धि वाले विद्वान् लोग प्रत्यक्ष-विरोध मानते हैं ॥ ५४–५५ ॥

इनमें देशविरोध इस प्रकार होता है, जैसे—

सुराष्ट्र देश में मथुरा नाम की विख्यात नगरी है, वह अखरोट तथा नारियल के वृक्षों से भरी है तथा उसके निकट पहाड़ी भूमि है ॥ ६६ ॥

यहां (छन्द में जैसा दिखाया गया है) सुराष्ट्र में मथुरा नहीं है। उसके निकटवर्ती प्रदेश में अखरोट तथा नारियल का अभाव है। देश शब्द के अन्तर्गत पर्वत, वन राष्ट्र आदि का समावेश होता है। अतः यहाँ देशकृत प्रत्यक्ष विरोध है।

स्व० भा०—भामह ने भी देश, काल, कला, लोक, न्याय, आगम आदि का विरोध निरूपित किया है। दण्डी ने 'देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च' (३।१२६) कह कर भामह को ही पुष्ट किया है। वामन ने (२।२।९) लोकविद्याविरुद्ध एक दोष माना है। भोज ने वामन से ही उनके देशविरोध के उदाहरण से मिलता-जुलता ही उदाहरण उपस्थित किया है। जहाँ तहाँ एकाध शब्दों में अन्तर है (२।२।२३) भामह का देशविरोधी का लक्षण अधिक स्पष्ट है—

या देशे द्रव्यसम्भूतिरपि वा नोपदिश्यते।
तत्तद्विरोधि विज्ञेयं स्वभावात्तद् यथोच्यते ॥ ४।२९ ॥

दण्डी ने देश के अन्तर्गत वहीं माना है जो भोज ने बाद में स्वीकार किया—'देशोऽद्रिवनराष्ट्रादिः।' ३।१६२ काव्यादर्श॥

छन्द में जो नगरी जहाँ नहीं है वहाँ, जो पदार्थ जहाँ नहीं उत्पन्न होता वहाँ, उनकी उपस्थिति बताने से दोष हुआ है।

विरुद्धमिति । तत्र देशकालादौ प्रत्यक्षत एव वर्ण्यमानस्याभावो निश्चीयते इति देशादिविरोधः प्रत्यक्षविरोधः । शूरसेनेषु मधुरा न सुराष्ट्रेषु । तत्पर्यन्तभूमिष्वक्षोटा नालिकेरा वा न संभवन्ति । अद्रीणां कथं देशत्वमित्यत आह—देशोऽद्रिवनराष्ट्रादिरिति ॥

(१६ (क) २ कालविरोध)

कालविरोधो यथा—

'पद्मिनी नक्तमुन्निद्रा स्फुटत्यह्नि कुमुद्वती ।
मधुरुत्फुल्लनिचुलो निदाघो मेघदुर्दिनः ॥ ६७ ॥

अत्र पद्मिन्या नक्तं कुमुद्वत्या अह्नि मधौ निचुलानामुन्निद्रत्वाद्यभावान्निदाघस्य चामेघदुर्दिनत्वात् कालो नक्तं दिनर्तव इति कालकृतोऽयं प्रत्यक्षविरोधः ॥

कालविरोध (वहाँ होता है) जैसे—

कमलिनी रात में खिली, दिन में कुमुदिनी विकसित होती है, वसन्त में हिज्जल फूल उठते हैं और ग्रीष्म में मेघों के कारण दुर्दिन हो जाता है ॥ ६७ ॥

कमलिनी का रात्रि में, कुमुदिनी का दिन में, वसन्त में हिज्जलों के फूलने का अभाव होने से, और ग्रीष्म में मेघों के कारण दुर्दिन की उपस्थिति बताने से यहाँ कालविरोध हुआ । काल के अन्तर्गत रात, दिन, ऋतु आदि हैं । (यहाँ उन्हीं का विरोध बताया गया है) अतः यह कालकृत प्रत्यक्ष विरोध का उदाहरण है ।

स्व० भा०—भोज ने स्पष्टतः कारिका द्वारा इस उपभेद का लक्षण नहीं दिया है । भामह ने इसकी परिभाषा ठीक ही दी है । (४।३०)

षण्णामृतूनां भेदेन कालः षोढेव भिद्यते ।
तद्विरोधकृदित्याहुर्विपर्यासादिदं यथा ॥

दण्डी ने ऋतुओं के अतिरिक्त दिन, रात आदि को भी काल की सीमा में ला दिया है । उनके अनुसार "कालो रात्रिंदिवर्तवः" (काव्यादर्शः ३।१६२) है । भोज ने तो उदाहरण दण्डी से ही (काव्यादर्श ३।१६७) लिया है ।

पद्मिनीति । नक्तं रात्रौ । मधुर्वसन्तः निचुला हिज्जलाः । ते वर्षासु पुष्प्यन्ति न वसन्ते । यद्यपि कालस्वरूपमप्रत्यक्षं तथापि तदुपाधीनां व्यवहाराङ्गतेव प्रत्यक्षता चेत्याह—कालो नक्तं दिनर्तव इति ॥

(१६ (क) ३ लोकविरोध)

लोकविरोधो यथा—

'आधूतकेसरो हस्ती तीक्ष्णशृङ्गस्तुरङ्गमः ।
गुरुसारोऽयमेरण्डो निःसारः खदिरद्रुमः ॥ ६८ ॥'

अत्र हस्तिहयैरण्डखदिराणां केसरादिसद्भावस्य प्रत्यक्षेणानुपलम्भात् । जङ्गमस्थावरो लोक इति लोककृतोऽयं प्रत्यक्षविरोधः ॥

लोकविरोध वहाँ होता है जैसे (निम्नलिखित वाक्य में)—

हाथी केसर हिलाता है, घोड़े की सींग खूब तेज है, इस एरण्ड वृक्ष में बहुत सार है और खैर का वृक्ष सारहीन है ॥ ६८ ॥

यहाँ पर हाथी, घोड़ा, एरण्ड, खदिर आदि में केसर आदि की उपस्थिति प्रत्यक्षरूप से उपलब्ध नहीं होती। अतः यहाँ लोक विरुद्ध दोष है। लोक स्थावर तथा जङ्गम (दो प्रकार का) होता है इसलिए यह लोककृत प्रत्यक्षविरोध है।

स्व० द०—जो बातें लोक में स्वतः जिस रूप में दृष्टिगोचर होती हैं, उनका वैसा वर्णन न करना लोकविरुद्ध है। केसर सिंह को होती है हाथी को नहीं। घोड़े को सींग नहीं होती फिर तीक्ष्णता का प्रश्न ही क्या? एरण्ड वृक्ष भीतर से निःसार होता है खैर का वृक्ष नहीं किन्तु यहाँ उलटा ही वर्णन है। अतः लोकविरुद्धत्व दोष है।

दण्डी के अनुसार "चराचराणां भूतानां प्रवृत्तिर्लोकसंज्ञिता" ३।१६३॥

आधृतेति। अन्ते प्रत्यक्षविरोधशब्दार्थं व्याचष्टे—प्रत्यक्षेणानुपलम्भादिति। कथमयं लौकिकविरोध इत्यत आह—जङ्गमेति। जङ्गमस्थावरं जीवच्छरीरं लोकः। तत्र जङ्गमं गवाश्वादि स्थावरं लतावृक्षादि राष्ट्रादावेव देशपरिभाषा इदं प्रकारान्तरेण देशशब्देनाभिधीयते॥

(१६ (ख) १ अनुमान विरोध और युक्तिविरुद्धता)

युक्त्यौचित्यप्रतिज्ञादिकृतो यस्त्विह कश्चन।
अनुमानविरोधः स कविमुख्यैर्निगद्यते॥ ५६॥

तत्र युक्तिविरुद्धं यथा—

'सुरहिमहुपाणलम्पडभमरगणाबद्धमण्डलीबन्धम्।
कस्स मणं णाणन्दइ कुम्मीपुट्ठट्ठिअं कमलम्॥ ६९॥'
[सुरभिमधुपानलम्पटभ्रमरगणाबद्धमण्डलीबन्धम्।
कस्य मनो नानन्दयति कूर्मीपृष्ठस्थितं कमलम्॥]

अत्र कूर्मीपृष्ठे कमलोद्गतेरयुक्तियुक्तत्वाद्युक्तिविरुद्धमिदम्॥

काव्य में युक्ति, औचित्य, प्रतिज्ञा आदि के विषय में जो कोई भी विरोध प्रदर्शित किया जाता है, उसे श्रेष्ठ कवियों ने अनुमानविरोध कहा है॥ ५६॥

इनमें युक्ति विरोध उन स्थानों पर होता है, जैसे—

सुगन्धित परागपीने के लोभी भ्रमर समुदायों से घिरा हुआ, कच्छपी की पीठ पर उगा कमल किसके मन को प्रसन्न नहीं बनाता है॥ ६९॥

कच्छपी की पीठ पर कमल का निकलना तर्कविरुद्ध होने से इस श्लोक में युक्तिविरुद्धता दोष हुआ।

स्व० भा०—न्यायशास्त्र में विशेषरूप से तथा अन्य दर्शनों में सामान्यरूप से अनुमान प्रमाण स्वीकार किया गया है। यह व्याप्यव्यापक के परामर्श से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है। अर्थात् जिन पदार्थों का परस्पर अटूट सम्बन्ध रहता है, उनमें से एक को देखकर दूसरे की उपस्थिति का ज्ञान कर लेना ही अनुमान है। अतः जहाँ पर कारण कार्य आदि रूप से विख्यात सम्बन्धों वाले पदार्थों को छोड़कर किसी अन्य असम्बद्ध को उनके स्थानों पर मान लिया जाता है तब यह दोष हो जाता है।

इसी उदाहरण में कमल की उत्पत्ति कूर्मीपृष्ठ पर दिखाई गई है, जब कि कमल कमल से अथवा जल से उत्पन्न होता है।

युक्तीति । सामान्यतस्तावदनुमानविरोधो यत्प्रमाणाभावः । नहि प्रमेयाभावे प्रमाणं प्रसिद्धम् । तदयमर्थो युक्तिः प्रमाणम् । आधूतकेसरेत्यादौ उदाहरणे क्वचिदेव व्यक्तिविशेषे केसरादिसंबन्धप्रतिपादनं कथमन्यथा तेषामेरण्डं निर्दिशति । ततो भवति प्रत्यक्षेणैव विरोधः । इह तु न तथा । नहि विशेषतः क्वापि कूर्मपृष्ठव्यक्तिरस्तीति सामान्याकारेण विवक्षितम् । ततश्च कमलजातेः पङ्कजप्रभवाया एव निश्चयात् कूर्मपृष्ठादुद्गमे न किञ्चित्प्रमाणं कदापि कस्याप्यवतरतीत्याशयवान् व्याचष्टे—अत्रेति । अयुक्तियुक्तत्वादिति । युक्तेः प्रमाणत्वेनासंबद्धत्वादित्यर्थः ॥

(१६ (ख) २ औचित्य विरोध)

औचित्यविरुद्धं यथा—

'पट्टंसुउत्तरिज्जेण पामरो पामरीऍ परिपुसइ ।
अइगरुअकूरकुम्भीभरेण सेउल्लिअं वअणम् ॥ ७० ॥'

[पट्टांशुकोत्तरीयेण पामरः पामर्याः प्रोञ्छति ।
अतिगुरुककूरकुम्भीभरेण स्वेदार्द्रितं वदनम् ॥]

अत्र पामरस्य पट्टांशुकोत्तरीयाभरणानौचित्याद् औचित्यविरुद्धमिदम् ॥

औचित्य विरोध वहाँ होता है जैसे—

रेशमीवस्त्र के दुपट्टे से एक पामर पामरी का बड़े भारी भात की कलशी के भार के कारण उत्पन्न पसीने से आर्द्र मुख पोंछ रहा है ॥ ७० ॥

यहाँ पामर के लिए रेशमीवस्त्र के दुपट्टे का ग्रहण अनुचित होने से यह छन्द औचित्यविरुद्ध का उदाहरण है ।

स्व० भा०—जो जिसके उपयुक्त हो, उसका उसके साथ होने वाला चित्रण औचित्यपूर्ण होगा । किन्तु अनुपयुक्त पदार्थ का संयोग किसी अनधिकारी के साथ प्रदर्शित करना अनौचित्य है । पामर का रेशमी वस्त्र धारण करना ही अनुचित है, क्योंकि वह तो सभ्यों का परिधान है ।

औचित्यविरुद्धमिति । औचित्यं योग्यता तस्य परामृश्यमानस्य विवक्षितविपरीतपर्यवसानमन्योऽनुमानविरोधः । तथा हि—पट्टांशुकोत्तरीयेण पामरः पामर्याः प्रोञ्छति । अतिगुरुककूरकुम्भीभरेण स्वेदार्द्रितं वदनमित्यत्र पूर्ववत्संबन्धग्राहकप्रमाणाभावः । कदाचिद्राजप्रसादादिना तथा संभवात् । किं तु पामरौचित्यप्रतिसंधाने पट्टांशुकावगुण्ठनमनुचितम् । विदग्धनेपथ्यपरिग्रहादिनागरवृत्तापरिचय एव पामरत्वम् । ततश्चायमर्थो भवति—पट्टांशुकसंबन्धायोग्येयं पामरत्वादिति । कूरं भक्तम् । कुम्भी कलशी ॥

(१६ (ख) ३ प्रतिज्ञाविरुद्धत्व दोष)

प्रतिज्ञाविरुद्धं यथा—

'यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी च मे पिता ।
माता च मम वन्ध्यासीत्स्मराभोऽनुपमो भवान् ॥ ७१ ॥'

अत्र स्वयं वक्तुरेव 'यावज्जीवमहं मौनी' इत्यादिपदानामुक्त्या प्रतिज्ञाविरोधात् प्रतिज्ञाविरुद्धमिदम् ॥

प्रतिज्ञाविरुद्ध दोष उन स्थलों पर होता है जैसे—

मैं सम्पूर्ण जीवनपर्यन्त मौनी हूँ, मेरे पिता ब्रह्मचारी हैं, मेरी माँ वन्ध्या थीं। कामदेव के सदृश सुन्दर आप तो अतुलनीय हैं॥ ७१॥

यहाँ स्वयं वक्ता का कहना कि "मैं जीवनपर्यन्त मौनधारी हूँ" प्रतिज्ञा विरोध के कारण प्रतिज्ञाविरुद्धत्व दोष से युक्त है।

स्व० भा०—प्रतिज्ञा का लक्षण भामह ने दिया है—

विविधास्पदधर्मेण धर्मी कृतविशेषणः। पक्षस्तस्य च निर्देशः प्रतिज्ञेत्यभिधीयते॥ काव्यालं० ५।१२॥

अर्थात् जो पदार्थ कई गुणों से युक्त है, उनमें से किसी एक का उससे सम्बन्ध स्थापित करना प्रतिज्ञा है। जैसे अग्नि के अनेक गुण-धर्म हैं, जिनमें से एक धर्म उसका धुयें से संयुक्त रहना भी है। अतः अग्नि से धुआँ उठता है कहना अथवा धुयें से संयुक्त होने के कारण पर्वत पर अग्नि है कहना प्रतिज्ञा होगी। इसी में विरोध हो जाने से अधर्मी से धर्म विशेष का सम्बन्ध चित्रित कर देने से प्रतिज्ञाविरुद्ध दोष होता है।

प्रस्तुत उदाहरण में ही कई प्रतिज्ञाओं का विरोध दर्शित है। जो जीवनपर्यन्त मौन है, वह स्वयं बोलेगा कैसे? जिसका पिता ब्रह्मचारी और माता वन्ध्या है, उसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई, जो कामदेव के सदृश सुन्दर है वह अतुलनीय कैसे हुआ? इनका सम्बन्ध न होने पर भी चित्रित किया गया है, अतः प्रतिज्ञा विरुद्धत्व दोष है।

प्रतिज्ञाविरुद्धमिति। अभ्युपगमवाक्यं प्रतिज्ञा। यथा—'यद्यदादिशति स्वामी तत्करोम्यविचारयन्' इति साध्यनिर्देशश्च—'अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः। नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥' इति। द्वयमपि प्रतिज्ञापदेनाभिमतम्। तत्राद्ये 'यावज्जीवमहं मौनी' इत्युदाहरणम्। अभ्याहारो मौनम्। तदभ्युपगमवाक्येनैव बोध्यते। तथा हि—नायं मौनी वचनवत्त्वादित्यभ्युपगम्य मौनाभावपर्यवसन्नमिति तृतीयोऽयमनुमानविरोधः। द्वितीयपक्षकक्षीकरणेन चतुर्थोदाहरणे 'ब्रह्मचारी च मे पिता, माता च मम वन्ध्या' इति वक्ता यस्यौरसः सुतः स पितृपदेनाभिमतो न च तस्य ब्रह्मचारित्वं संभवति। माता जनन्येवाभिधीयते न च तस्या वन्ध्यात्वं संभवति। परस्परव्याघातो विरोधः। अयं च पञ्चमप्रकारो यद्व्यापकद्वारा विरोधः। यथा—स्मराभोऽनुपम इति। नहि स्मराभत्वं लोके प्रसिद्धं किंतु स्मरतुल्यतां वदन् सोपमानत्वमभ्युपगच्छति। तच्चानुपमत्वेन विरुद्धम्। ततो व्यापकविरोधोऽयम्। यथा—वह्निरनुष्ण इति। आदिग्रहणाद् दृष्टान्तद्वारकोऽनुमानविरोधः संगृहीतः॥

(१६ (ग) १ आगमविरोध में धर्मशास्त्रविरोध)

धर्मार्थकामशास्त्रादिविरोधः कोऽपि यो भवेत्।
तमागमविरोधाख्यं दोषमाचक्षते बुधाः॥ ५७॥

तेषु धर्मशास्त्रविरोधो यथा—

'असावनुपनीतोऽपि वेदानधिजगे गुरोः।
स्वभावशुद्धस्फटिको न संस्कारमपेक्षते॥ ७२॥'

अत्रानुपनीतस्य वेदाध्ययनानधिकाराद्धर्मशास्त्रविरोधः॥

जो कोई भी विरोध धर्म, अर्थ, कामशास्त्रादि के विषय में होता है उसको विद्वानों ने आगम विरोध नामक दोष कहा है ॥ ५७ ॥

इनमें धर्मशास्त्र का विरोध यहाँ है जैसे—

बिना यज्ञोपवीत किए हुए भी इसने गुरु से विधिवत् वेदों को पढ़ लिया। वस्तुतः प्राकृतिक रूप से शुद्ध-निर्मल- स्फटिक को संस्कार की अपेक्षा नहीं होती ॥ ७२ ॥

यहाँ यज्ञोपवीत न करने वाले का वेदाध्ययन में अधिकार न होने पर भी वेदपाठ निरूपित करने से धर्मशास्त्र विरोध हुआ।

स्व० भा०—धर्मशास्त्र के अन्तर्गत वेद, उपनिषद, स्मृति, पुराण आदि सब आ जाते हैं। अतः कहीं भी निर्दिष्ट विधान का विरोध निरूपित करने पर, यह दोष होता ही है। धर्मशास्त्र का नियम है कि—

अकृतव्रतवन्धे तु गुरावुपरते सति।
नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ॥

बिना यज्ञोपवीत किये वेदाध्ययन का विधान नहीं है। यहाँ वही वर्णित है अतः धर्मशास्त्र विरोध हुआ। भोज ने यह उदाहरण दण्डी के काव्यादर्श (३।१७८) से उद्धृत किया है।

धर्मार्थेति। वेदाध्ययनानधिकारादिति। 'अकृतव्रतवन्धे तु गुरावुपरते सति। नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ॥' इति धर्मशास्त्रम् ॥

(१६ (ग) २ अर्थशास्त्रविरोध)

अर्थशास्त्रविरोधो यथा—

'कामोपभोगसाकल्यफलो राज्ञां महीजयः।
अहंकारेण जीयन्ते द्विषन्तः किं नयश्रिया ॥ ७३ ॥'

अत्र महीजयस्य फलत्वेन कामोपभोगानामर्थशास्त्रकारैरननुमतत्वाच्छत्रुविजये चाहंकारस्याहेतुत्वादर्थशास्त्रविरोधः ॥

अर्थशास्त्र का विरोध जैसे—

राजाओं के लिए पृथ्वी को जीतना तो सभी कामनाओं के उपभोग का फल है। (अर्थात् उन्होंने धरती क्या जीत ली, मानो सभी पुरुषार्थ—काम आदि-मिल गए।) अहंकार मात्र से शत्रुगण पराजित हो जाते हैं, नीतिशास्त्र से क्या लाभ ? ॥ ७३ ॥

यहाँ पृथ्वीजय के फल के रूप में कामोपभोगों की प्राप्ति अर्थशास्त्रकारों को अभिमत नहीं है, इसलिए, तथा शत्रु को जीतने में अहंकार को कारण मानने से भी अर्थशास्त्र का विरोध है।

स्व० भा०—यहाँ का उद्धरण वामन के काव्यालंकार सूत्र (२।२।२४) से उपस्थित किया गया है।

उन्होंने इसकी प्रथम पंक्ति चतुर्वर्गशास्त्र के विरोध के उदाहरण के रूप में तथा द्वितीय पंक्ति को अर्थशास्त्र के विरोध के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया था।

वृत्ति के अनुवाद से दोष स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः पृथ्वी जीतना ही राजा का उद्देश्य नहीं, उसी से सभी पुरुषार्थों की प्राप्ति उसे नहीं होती और अहंकारमात्र से राजा लोग सफल नहीं होते, अन्य अनेक बातें भी अपेक्षित होती हैं। अतः यहाँ कही गई बातें अर्थशास्त्र में स्वीकृत न होने से, उसके विरोध के रूप में प्रस्तुत की गई हैं।

कामेति। अत्र महीजयस्येति। महीजयस्य धर्मः फलमिति नीतिशास्त्रे स्थितम्। अहंकारो मानः स न शत्रुविजये साधनम्। अरिषड्वर्गत्यागो हीन्द्रियजयः। तथा विजिगीषुता। तथा च शत्रुपरिभव इति। यदाह—स रघुराड्रो विललास इत्युपक्रम्य कौटिल्याचार्यैः मानाद्रावणः परदारानप्रयच्छन् दुर्योधनो राज्यांशं चेति ॥

(१६ ग (३) कामशास्त्र विरोध)

कामशास्त्रविरोधो यथा—

'तवोत्तरोष्ठे बिम्बोष्ठि दशनाङ्को विराजते।
पूर्णसप्तस्वरः सोऽयं भिन्नग्रामः प्रवर्तते ॥ ७४ ॥'

अत्रोत्तरोष्ठे दशनाङ्कस्य कामशास्त्रकारैरननुज्ञानात्कामशास्त्रविरोधः। भिन्नग्रामाणां च पूर्णसप्तस्वरत्वानुपपत्तेः। कलाविरोधेऽपि तदंशत्वात्कामशास्त्रविरोध एव ॥

कामशास्त्र का विरोध जैसे—

हे लाल लाल होठों वाली सुन्दरि! तुम्हारे ऊपरी होठ पर दाँतों के चिन्ह सुशोभित हो रहे हैं। यह वही पूरे सातों स्वरों वाला भिन्न ग्राम प्रवृत्त हो रहा है ॥ १७० ॥

यहाँ ऊपरी ओष्ठ में दाँतों का चिह्न कामशास्त्रकारों को स्वीकार न होने से कामशास्त्र का विरोध है। भिन्नग्राम-रागों की पूर्ण सप्तस्वरता सिद्ध नहीं होती, (अतः इस अनुमति के कारण यहाँ कला-विरोध हुआ)। कलाविरोध होने पर भी उसका अंश होने के कारण कामशास्त्र का ही विरोध प्रदर्शित है।

स्व० भा०—कामशास्त्र में मुख के भीतर के भाग तथा नेत्रों के किनारों को छोड़कर शेष अंगों का चुम्बन तथा दंशन अभीष्ट है। साथ ही अधर—नीचे के होंठ—का चुम्बन तथा दन्तच्छेद शास्त्रविहित है, न कि ऊपर के ओष्ठ का। अतः यहाँ कामशास्त्र के नियमों का विरोध है। इसी प्रकार उत्तरार्ध में संगीतशास्त्र के नियमों का उल्लंघन है। वस्तुतः शास्त्रीय भिन्नमार्गता सातों स्वरों को मिलाकर नहीं होती। अर्थात् सातों स्वर यदि पूर्णतः साथ रहे तो संगीत को भिन्नमार्ग अथवा भिन्नग्राम नहीं कहा जा सकता, जबकि यहाँ कहा गया है। इस शास्त्र के विपरीत कथन के कारण यहाँ शास्त्रविरुद्धता आ गई है।

दण्डी ने काव्यादर्श में (३।१७०) इस संगीतशास्त्र वाले उत्तरार्ध भाग को कला विरोध के उदाहरण के रूप में रखा है।

वामन ने 'कलाचतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धानि विद्याविरुद्धानि' (२।२।२४) कहकर इन सबको विद्याविरुद्ध कहा है।

सरलता के लिए विरुद्धत्व दोष के भेदोपभेदों का रेखाचित्र प्रस्तुत है।
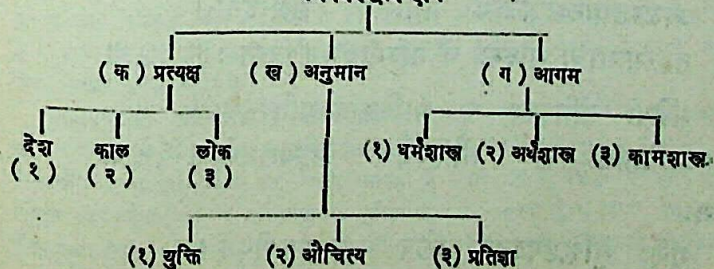
तवेति। अत्रोत्तरोष्ठ इत्युपरितन ओष्ठ उत्तरोष्ठमन्तरमुखं नयनान्तं च मुक्त्वा चुम्बनवद्दशनच्छेद्यस्थानानीति कामसूत्रम्। भिन्नग्रामरागाणामिति। भिन्नमार्गेषु सप्तस्वराणां समवायो नोपनिबद्धः। तथा च 'प्रांशुस्तु धैवतन्यासः पञ्चमर्षभवर्जितः। षड्जो दीव्यतां जा(या)तो भिन्नषड्ज उदाहृतः'। तमङ्गोऽप्याह—'षाडवौडविके जातौ भिन्नग्राम उदाहृतः' इति। ततश्च षड्वा पञ्च वा स्वरा भवन्ति भिन्नग्रामे न तु सप्त। कामशास्त्रविरोधप्रस्तावे कथं कलाविरोध उदाह्रियत इत्यत आह—तदंशत्वादिति। गीतादिकलाचतुःषष्टेः कामाङ्गतया कामसूत्रकारैरुपदेशाद्भवति तद्विरोधे कामशास्त्रविरोध इत्यर्थः। आदिग्रहणाद्देवताभक्तितो मुक्तिर्न तत्त्वज्ञानसंपदेत्यादिकं मोक्षादिशास्त्रविरुद्धमुदाहरणीयम्॥

गुण की भूमिका और श्लेष गुण (१)

दोषाणां प्रथममुद्देशोऽयमभिसंधाय कृतस्तं विशेषसंहारव्याजेन स्फुटयति—

एवं पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च यः कविः।
दोषान्हेयतया वेत्ति स काव्यं कर्तुमर्हति॥ ५८॥

अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥ ५९॥

त्रिविधाश्च गुणाः काव्ये भवन्ति कविसंमताः।
बाह्याश्चाभ्यन्तराश्चैव ये च वैशेषिका इति॥ ६०॥

बाह्याः शब्दगुणास्तेषु चान्तरास्त्वर्थसंश्रयाः।
वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः॥ ६१॥

चतुर्विंशतिराख्यातास्तेषु ये शब्दसंश्रयाः।
ते तावदभिधीयन्ते नामलक्षणयोगतः॥ ६२॥

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता॥ ६३॥

ओजस्तथान्यदौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता।
तद्वत्समाधिः सौक्ष्म्यं च गाम्भीर्यमथ विस्तरः॥ ६४॥

संक्षेपः संमितत्वं च भाविकत्वं गतिस्तथा।
रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढिरथैषां लक्ष्यलक्षणे॥ ६५॥

तत्र

गुणः सुश्लिष्टपदता श्लेष इत्यभिधीयते।

यथा—

'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम् ।
तदोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥ ७५ ॥'

अत्र भिन्नानामपि पदानामेकपदताप्रतिभासहेतुत्वेन संदर्भस्य सुश्लिष्टत्वादयं श्लेषो नाम शब्दगुणः ॥

इस प्रकार से जो कवि पदों, वाक्यों तथा वाक्यार्थों के दोषों को त्याज्य अथवा हीन होने से अग्रहणीय समझता है उसे काव्य करना चाहिये ॥ ५८ ॥

अलंकार से युक्त रहने पर भी गुणहीन काव्य को नहीं सुनना चाहिए। गुण तथा अलंकार इन दोनों के योगों में गुण का योग अपेक्षाकृत प्रमुख है ॥ ५९ ॥

कवियों को मान्य तीन प्रकार के गुण होते हैं काव्य में, और वे हैं—बाह्य, आभ्यन्तर तथा वैशेषिक ॥ ६० ॥

इनमें बाह्य वे हैं जो शब्द के आश्रित हैं, और अर्थ पर आश्रित रहने वाले हैं आन्तर। निश्चय ही वे वैशेषिक है जो दोष मुक्त होने पर भी गुण होते हैं ॥ ६१ ॥

जो शब्द पर आश्रित दोष है वे चौबीस विख्यात हैं। तब तक नाम और लक्षण सहित उन्हीं को (शब्द दोषों को) कहते हैं ॥ ६२ ॥

ये हैं (१) श्लेष (२) प्रसाद (३) समता (४) माधुर्य (५) सुकुमारता (६) अर्थ-व्यक्ति (७) कान्ति (८) उदारत्व (९) उदात्तता (१०) ओज (११) और्जित्य (१२) प्रेयान् (१३) सुशब्दता (१४) समाधि (१५) सौक्ष्म्य (१६) गाम्भीर्य (१७) विस्तर (१८) संक्षेप (१९) संमितत्व (२०) भाविकत्व (२१) गति (२२) रीति (२३) उक्ति और (२४) प्रौढि। अब इनके लक्ष्य तथा लक्षण कहे जायेंगे ॥ ६३–६५ ॥

इनमें वह गुण जिसमें सुन्दर श्लिष्ट पदत्व होता है श्लेष कहा जाता है ॥ ६६ अ ॥

जैसे—यदि आकाश में आकाश गङ्गा के जल की दो अलग अलग धारायें गिरने लगे तभी इनके (कृष्ण) तमालतरु की भांति नीले और मुक्ताहार से संयुक्त वक्षस्थल की तुलना की जा सकती है ॥ ७५ ॥

यहाँ पदों के भिन्न २ रहने पर भी एकपदत्व सा ज्ञात होने के कारण पूरे संदर्भ में सुश्लिष्टता होने से श्लेष नामक शब्द गुण है।

स्व० भा०—काव्य की रमणीयता में वृद्धि करने के लिए कवि निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। जिन तत्त्वों के आधार पर रमणीयता में वृद्धि होती है उसे काव्यशास्त्रियों ने गुण तथा अलङ्कार नामों से अभिहित किया है। इनमें से कुछ ऐसे होते हैं जिनके आधार पर काव्य का अस्तित्व होता है और कुछ ऐसे हैं जो अस्तित्व में आने के बाद काव्य की श्रीवृद्धि करते हैं। प्रथम को गुण तथा द्वितीय को अलंकार कहते हैं। भोज के पूर्ववर्ती आचार्यों ने इनके ऊपर विशद विचार किया है।

भट्टोद्भट का मत है कि गुण तथा अलङ्कार में कोई भेद नहीं है। दोनों ही काव्य के शोभाधायक तत्त्व है। लोक गड्डलिकाप्रवाहेण दो शब्द होने के कारण जिसका चाहता है उपयोग करता है। इनका मत आचार्य मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में इन शब्दों में उद्धृत किया है—"एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणा-लंकाराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषाम् अपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति

गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः" (अष्टम उल्लास)। अतः इनका मत अभेदवादी मत के नाम से जाना जाता है।

दण्डी ने भी अलङ्कार तथा गुण शब्दों का अलग अलग प्रयोग किया है। काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद की प्रथम कारिका में दी "काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते" कहा है जब कि प्रथम परिच्छेद में (१।४१) गुणों का नाम गिनाकर "इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः"। अतः यह स्पष्ट है कि दण्डी के मन में इनका भेद प्रस्फुटित हो रहा था। इसीलिए उन्होंने काव्य अर्थात् शब्द और अर्थ को सुशोभित करने वाले तत्त्वों को अलङ्कार कहा और रीति—विशेषकर वैदर्भी का सौन्दर्य नहीं अपितु प्राण कहा गुणों को।

आचार्य वामन ने स्पष्ट शब्दों में गुण तथा अलंकार का भेद निरूपित किया है। उनके अनुसार—"काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ॥ १ ॥ ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः। ते चौजःप्रसादादयः। न यमकोपमादयः, कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात्। ओजःप्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वम् इति। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ॥ २ ॥ तस्याः काव्यशोभायाः अतिशयस्तदतिशयस्तस्य हेतवः। तुशब्दो व्यतिरेके। अलंकाराश्च यमकोपमादयः"...."पूर्वे नित्याः ॥ ३ ॥ पूर्वे गुणाः नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः।" का० सू० ३।१ ॥

वामन की परिभाषा से इतना तो स्पष्ट ही है कि वह गुणों को काव्य की आत्मा तो नहीं किन्तु उसका एक अत्यन्त आवश्यक अपरिहार्य अङ्ग अवश्य मानते हैं।

आनन्दवर्धन का विचार है कि—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत् ॥

काव्य की आत्मा रसादिध्वनि के आश्रित रहने वाले वे तत्त्व जो काव्य की श्रीवृद्धि करते हैं, गुण हैं, अलङ्कार गौण हैं, अत्याज्य नहीं है। ध्वनि सम्प्रदाय के ही प्रतिष्ठापनाचार्य मम्मट ने आनन्दवर्धन के ही मत से मिलता जुलता अपना मत दिया है। इनके अनुसार—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ ८।१ ॥

इनके मत में वामन के गुण की नित्यता तथा अपरिहार्यता सम्बन्धी मान्यता तथा आनन्दवर्धन के रसाश्रयत्व के सिद्धान्त का समन्वय है। साथ ही इनका योग यह है कि शोभाजनक केवल गुण ही है, अलङ्कार नहीं, अलङ्कार तो केवल गुणों द्वारा आयातित सौन्दर्य को किञ्चिद् उत्कृष्ट कर देते हैं।

भोजराज का भी अपना मत है। यह भी अलङ्कारों की अपेक्षा, वामन की भांति, गुण को बहुत महत्त्व देते हैं। भामह की भांति वामन ने भी गुणों को रीति का जीवन निश्चित किया था, किन्तु भोजराज गुणों का आश्रय शब्द तथा अर्थ ही मानते हैं। वैशेषिक गुण तो इनकी अपनी ही मान्यता हैं। जयदेव ने दोषपरिहार को दोषाङ्कुश[1] के नाम से अभिहित किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने ऐसी स्थितियों का निर्देश किया अवश्य था जहां पर दोष-दोष नहीं रह पाते थे, किन्तु उनका नामकरण तथा गुणों के मध्य में गणना करने का प्रयास भोज ने ही किया। गुणों की संख्या की भी बड़ी रोचक कहानी है। आदि आचार्य भरत ने दस गुणों का

१. चन्द्रालोक २।४०।४१ ॥

उल्लेख किया है। भामह ने प्रकारान्तर से तीन ही गुणों का—माधुर्य, प्रसाद तथा ओज-(२।१,२) उल्लेख किया है। दण्डी ने दस, वामन ने शब्द तथा अर्थगत करके २० और भोज ने २४ शब्द तथा २४ अर्थ के सब मिलाकर ४८ भेद किये हैं।

वामन ने श्लेष की परिभाषा 'मसृणत्वं श्लेषः' (३।१।१०॥) कह कर 'मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति बहून्यपि पदान्येकवद्भासन्ते।' वृत्ति दी है। प्रायः इसी प्रकार की परिभाषा अन्य आचार्यों ने भी दी है, किन्तु भरत की परिभाषा सर्वश्रेष्ठ और स्पष्ट लगती हैं—

> विचारगहनं यत्स्यात् स्फुटं चैव स्वभावतः।
> स्वतः सुप्रतिबद्धं च श्लिष्टं तत् परिकीर्तितम्॥

भोज की परिभाषा कि जो सुन्दर श्लिष्ट पदों से युक्त होने का भाव है वही श्लेष है, कोई परिभाषा नहीं हुई। यहां का उदाहरण शिशुपालवध के प्रथम सर्ग से है।

एवमिति। तदेवं दोषलक्षणे वृत्ते क्रमप्राप्ता गुणा लक्षयितव्याः। तदेवमोजःप्रसादादयो गुणाः यमकादयस्त्वलंकारा इति पूर्वप्रसिद्धौ सत्यां विचार्यंते। किमेषां मिथो भेदनिबन्धनम्, कथं चालंकारेभ्यो गुणानां पूर्वनिपातः, रसस्य हि दोषाभावादित्रयसंस्कृत एव पदलाभ इत्यस्ति पश्चाद्भावे निबन्धनमिति तत्राह—अलंकृतमपीति। रसावलम्बिनो गुणाः, शब्दार्थावलम्बिनस्त्वलंकारा इति काश्मीरकाः। तदगमकम्। तथा हि—यदि काव्यस्य रसप्रधानात्मकतामाश्रित्यायं विभागः, अलंकारा अपि तर्हि तत्प्रवणा एव। अथ नायं नियमो यत्सर्वत्र रसः प्रधानमिति, तदात्र गुणेष्वपि कथं तदालम्बननियमः। किं चात्र प्रसादादिवत् श्लेषादयोऽपि शब्दार्थगता एव प्रत्यभिज्ञायन्ते तत्कथमयं विभागः। यद्यपि शब्दार्थौ ज्ञायन्ते, तथापि रसप्रवणा इति चेत्। किमिदं रसप्रवणत्वं, रसाश्रितत्वं तावन्न संभवत्येव। रसप्रतीतिपर्यवसानं च यथाकथंचिदलंकारेष्वपि तुल्यमित्यविचारितरमणीयोऽयं मार्गः। लोकशास्त्रवचनातिगामी कश्चिद्विशेषः शोभापदाभिलप्यो भवन्नस्मिन्नश्रव्यशब्दः शब्दार्थौ विषयीकरोति। ततश्च तथाभूतशोभानिष्पत्तिहेतवो गुणास्तदुत्कर्षहेतवस्त्वलंकाराः। यदाह—'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' इत्यन्ये, तदपि न। अस्य रसादिवदव्याप्तेः। नहि तेषां रीतिशरीरान्तर्निवेशः कैश्चिदभ्युपगम्यते, तस्मादालंकारिकसमयानुपाती श्लेषाद्यन्यतमो गुणः। जात्याद्यन्यतमश्चालंकार इति विभागः। तत एव च शोभाकारित्वेन गुणानामलंकारपक्षनिक्षेपं करिष्यति। उद्भूतगुणं तु स्फुटालंकारहीनमपि चमत्कारमावहत्येव। यथा—'का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते। आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति॥' यतो गुणयोगो मुख्यस्ततः प्रथममुद्दिष्टो लक्षितश्चैषः। सामान्यगुणस्थितौ गुणान्विभजते—त्रिविधाश्चेति। शब्दः शरीरस्थानीयोऽधिष्ठेयतया प्रथमप्रतिसंधेयतया च बाह्यः। ततस्तदाश्रिता गुणा अपि बाह्याः। अर्थस्त्वात्मतुल्योऽधिष्ठायकतया पश्चाद्ग्राह्यतया चान्तरस्तेन तदाश्रिता गुणा अभ्यान्तराः। अथेदानीं येषामग्रे दोषत्वं ततो गुणभावः। केचिद्विशेषमासाद्यन्ते वैशेषिकाः। पूर्वं दोषा अपि विशेषयोगेन गुणीभवन्तीत्यभिप्रायात्। 'माधुर्यौजःप्रसादास्त्रय एव गुणाः' इति ध्वनिकारस्य मतं निरस्यति—चतुर्विंशतिरिति। परस्परसंकीर्णत्वादुपाधीनामिति भावः। न चैतदस्माकं मनीषामात्रेण कल्पनमित्याह—आख्याता इति। निष्ठाप्रत्ययेनेदंप्रथमता द्योत्यते। उक्तविशेषादेव शब्दगुणानां पूर्वमाह इत्याह—तेष्विति। अभिधानं द्विविधं विभागतः, लक्षणतश्चेत्याह—नामलक्षणयोगत इति। पदघटनव्यवस्थितौ गुणान्तरगवेषणम्। अतः प्रथमं श्लेषलक्षणमाह—तत्रेति। श्लिष्टानि

घटितानि पदानि यत्र तस्य भावस्तत्ता। न च घटनामात्रस्य गुणभाव इति शङ्क्यम्। सुपदं शोभना घटनेत्यर्थः। शोभनत्वं घटनाया मसृणत्वमेकताप्रतिभानसामर्थ्यं यद्राह्रं सूत्रमुरःस्थल इति। बीजं चात्र श्रुत्यनुप्रासवत्त्वमलक्षितसंधिता च। तथा हि प्रकृतोदाहरणे उभाविप्युकारवकारावोष्ठ्यौ। यदि 'व्य' इत्याद्यन्तौ वकारयकारौ तालव्यौ। न चायं वर्णानुप्रासः। ईषत्स्पृष्टत्वादिभेदात्। मध्ये दकारवकारौ दन्त्योष्ठ्यौ। 'भिन' इत्यत्र मकारो भकारेण, नकारो दकारेण समानश्रुतिक इत्यादि बोद्धव्यम्। तथा 'पृथक्प्रवाहौ' इति ककारस्य पवर्गगमनैकता प्रतिभासते, 'प्रवाहावाकाश' इत्यौकारस्यावादेशेन वर्णान्तरनिष्पत्त्या। एवं 'पयसः पतेताम्' इत्यादावुन्नेयम्। पृथगिति पार्श्वद्वये। तेन वक्षःस्थलदक्षिणवामभागयोर्लम्बमानो द्विसरो हार इति लभ्यते। अस्य वक्ष इति। अत्रास्येति पदेन नान्यस्य हार इत्थमनुपमो न चान्यस्य वक्षःस्थलमाकाशवदुन्नतविस्तीर्णमिति भगवतः सकलजगद्विलक्षणत्वध्वनिरित्याराध्याः॥

(२) प्रसाद गुण

प्रसिद्धार्थपदत्वं यत्स प्रसादो निगद्यते ॥ ६६ ॥

यथा—

'गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्यावन्धमस्मद्धनुः ॥ ७६ ॥'

अत्र 'गाहन्तां महिषा निपानसलिलम्' इत्यादिप्रसिद्धार्थपदोपादानात्प्रसादः॥

वह गुण जिसे प्रसाद कहते हैं वह होता है जो ऐसे पद में रहता है जिसका अर्थ अत्यन्त विख्यात हो, (अर्थात् जिस पद का अर्थ पूर्ण प्रचलित रूप में ही ग्रहण होता है, जिसे समझने के लिए विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता है, वहां प्रसादगुण होता है।)॥ ६६ ॥

जैसे—सींगों से बार-बार आलोडित किए जाते हुए गड्ढे के जल में भैंसे अवगाहन करें, छाया में झुण्ड बनाकर स्थित मृगों का समूह जुगाली का अभ्यास करे, वराहपति भी आश्वस्त होकर तलैया में मोथे की खुदाई करें, और यह ढीली की गई प्रत्यञ्चा वाली मेरी धनुष् भी आराम कर ले॥ ७६ ॥

यहां 'गाहन्तां महिषा निपानसलिलम्' आदि प्रसिद्ध अर्थवाले पदों का ग्रहण करने से प्रसाद गुण है।

स्व० भा०—भोज का यह लक्षण दण्डी के "प्रसादवत् प्रसिद्धार्थम्" १।४५॥ का रूपान्तर मात्र है। इनके पूर्ववर्ती वामन ने 'श्लथत्वमोजसा युक्तं प्रसादं च प्रचक्षते' कहा है, किन्तु भरत का लक्षण अधिक स्पष्ट है—

अथानुक्तो बुधैर्यत्र शब्दादर्थः प्रतीयते।
सुखशब्दार्थसंयोगात् प्रसादः परिकीर्त्यते॥

प्रसाद गुण सामान्य शब्दों में सरलता का नाम है जिसके कारण किसी भी शब्द का अर्थ बिना विशेष कष्टके समझ में आ जाता है।

प्रसिद्धार्थेति। अस्यार्थः प्रागेव विवृतः। प्रसादो द्विधा—वाच्यविषयः, प्रतीयमानविषयश्च। तत्र प्रतीयमानविषयो यथा—'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी। लीला-

कमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥' अत्र श्रुतावगतादेव वाक्याल्लज्जादयो हस्तदत्ता इव प्रकाशन्ते ॥ वाक्यविषयो द्विधा भवति । ग्राम्यैरेव ग्राम्य उपनागरैर्वा, पदैः संदर्भनिर्वाहे । आद्यो यथा—'चन्द्रे कलङ्कः सुजने दरिद्रता विकाशलक्ष्मीः कमलेषु चञ्चला । सुखाप्रसादः सधनेषु सर्वदा यशो विधातुः कथयन्ति खण्डितम् ॥' द्वितीयमुदाहरति—गाहन्तामिति । अत्र प्रथमपादे गाहन्तां महिषा इति ग्राम्यम् । निपानसलिलमित्युपनागरम् । शृङ्गैरिति ग्राम्यम् । मुहुरित्युपनागरम् । ताडितमिति ग्राम्यम् । द्वितीयपादे कदम्बक-रोमन्थशब्दावुपनागरौ, शेषाणि ग्राम्याणि । एवं च चरमयोरपि स्वतो विवेचनीयम् । गाहनं विलोडनं तन्निःशङ्कमेव भवतीति विस्रम्भध्वनिः । अत एव त्रासाभावात्प्रकृतिप्रत्या-पत्तौ । शृङ्गाभ्यां पर्यायेण जलताडनं महिषजातिः । छायाश्रयणं यूथबन्धश्च मृगजातिः । चिरपरस्परवार्तानभिज्ञानाद्विवा निष्पलायनेन रोमन्थोऽपरिचित इवासीत्तस्येदानीं शिक्षा-क्रमेण यदि परिचयः स्यादित्यभ्यस्यत्विति ध्वनिः । वराहपतिभिरिति न यादृशतादृशा-नामस्मन्मृगयासंरम्भगोचरत्वमिति प्रकाश्यते । ननु चात्र कर्तृप्रक्रमभेदो दूषणं कस्मान्न भवति । नैतत् । आपातशौण्डेषु परिणतिभीरुषु च महिषेषु स्वभावभीतेषु मृगेषु न तथायं संरम्भते यथा पुनरावृत्तिचतुरेषु प्रकारकोविदेषु च वराहेषु । ततश्च तेषामुचितक्रियासु कर्तृतामात्रमेव न सोढवानिति सांप्रतं कर्तृताम्यनुज्ञानेन व्यज्यते । ततस्तृतीयायामौचित्य-निवेशिन्यां प्रक्रमभेदोऽप्युचित एवेति व्यक्तिविवेककारादीनामपि संमतः पन्थाः । इदं चेति चकारेण चेदस्मद्धनुरारूढमवतीर्णं वा तदैव संरम्भगोचराणां भयविस्रम्भाविति कोप-प्रकर्षः । अत एवास्मदिति बहुवचनं सजीवम् ॥

(३) समता गुण

यन्मृदुप्रस्फुटोन्मिश्रवर्णबन्धविधिं प्रति ।
अवैषम्येण भणनं समता साभिधीयते ॥ ६७ ॥

यथा—

'यच्चन्द्रकोटिकरकोरकभारभाजि
बभ्राम बभ्रुणि जटापटले हरस्य ।
तद्वः पुनातु हिमशैलशिलानिकुञ्ज-
झाङ्कारडम्बरविरावि सुरापगाम्भः ॥ ७७ ॥'

अत्रोपक्रमादासमाप्ति स्फुटबन्धस्य निर्वाहात्समत्वम् ॥

मृदु, प्रस्फुट, तथा उन्मिश्र वर्णों द्वारा जो रचना विधान है उसी के अनुसार समान रूप से जो कथन है वही समता कहा जाता है ॥ ६७ ॥

जैसे—जो चन्द्रमा की असंख्य किरणवल्लरियों के समूह से संयुक्त भगवान् शङ्कर की पिशङ्ग जटाओं में घूमता रहा, वही हिमालय पर्वत की कन्दराओं में झङ्कारपूर्ण प्रतिध्वनि करने वाला गङ्गा का जल आप लोगों की रक्षा करे ॥ ७७ ॥

यहां प्रारम्भ से लेकर अन्त तक स्फुटबन्ध का निर्वाह होने से समता नामक गुण है ।

स्व० भा०—मृदु, प्रस्फुट तथा मिश्र वर्णों से रचना का विधान है । स्वरों में ह्रस्व, व्यंजनों में पञ्चम, और दन्त्य वर्ण मृदु अथवा कोमल कहे जाते हैं । दीर्घस्वर, णकार को छोड़ कर टवर्ग के

वर्ण र, फ, श, ष, ह तथा दन्त्यों के अतिरिक्त अन्य वर्णों के संयोग ये स्फुट कहे जाते हैं। शेष व्यञ्जन, और दन्त्यसंयोग को उन्मिश्र, मध्यम आदि कहा जाता है। इनमें से किसी एक का आश्रय लेकर रचना में आदि से अन्त तक जब उसी का निर्वाह किया जाता है तब समतागुण होता है। प्रस्तुत छन्द में आदि से अन्त तक स्फुट वर्णों से बने बन्ध का ही निर्वाह होने से यहां समता गुण है। वर्णों के विषय में मम्मट के ये छन्द स्मरणीय हैं—

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा॥
योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि॥ काव्यप्र० ८।९–१०॥

जहां तक समता की परिभाषा का प्रश्न है, दण्डी की बहुत स्पष्ट है—

समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः।
बन्धा मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः॥ १।४७॥

यदिति। प्रतीत्यन्तेन मार्गो व्याख्यातः। अवैषम्येण भणनमित्यनेन वाग्भेदः स्वरेषु ह्रस्वान्त्याः, व्यञ्जनेषु वर्गान्त्या दन्त्याश्च मृदवः कोमला वर्णाः। दीर्घाः स्वराः व्यञ्जनेषु णकारवर्जटवर्गरेफशषहा अदन्त्यसंयोगाश्च प्रस्फुटाः। शेषाणि व्यञ्जनानि दन्त्यसंयोगाश्चोन्मिश्रमध्यमा वर्णास्तेषामन्यतमैर्वर्णैर्यो बन्धनविधिस्तं प्रति यदवैषम्येण उपक्रमनिर्वाहादिना करणेन भणनमुक्तिः सा समता। न चेयं दोषाभावमात्रमेकजातीयवर्णपरिचयप्रबन्धप्रवेशनिर्वाहाणां सिद्धिः शक्तिव्युत्पत्तिरूपतया प्रधानोत्कर्षपर्यवसानात्। न च दोषाभावस्यैवंरूपता केनचित्प्रतिपिद्धा। अत एव श्लेषप्रसादयोरपि गुणभावः सिद्धः। ननु 'रक्ताशोककृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वाताभिभूतं शिरः। उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासंघट्टदष्टच्छदस्तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः॥' इत्यत्र वैषम्यं दोष एव स्यात्। न ह्यत्र मुक्तस्थाने स्फुटता। तस्माद्यत्किंचिदेतत्। तदेवं निर्वाह्यत्रैविध्यात्समता त्रिरूपा भवति ग्राम्या परुषा उपनागरिका च। तत्रोन्मिश्रप्रायसंदर्भनिर्वाहे ग्राम्या। यथा—'पुरः पाण्डुच्छायं तदनुक पिलिम्ना कृतपदं ततः पाकोद्रेकादरुणगुणसंवर्धितवपुः। शनैः कोशारम्भे स्थपुटनिजविष्कम्भविषमे वने पीतामोदं बदरमरम्यं कलयति॥' परुषा यथा—यच्चन्द्रेति। बालेन्दुमयूखमुकुलजालनिचुलितासु परमेश्वरजटावल्लरीषु भ्रमणाभ्यासादिवाद्यापि हिमाद्रिकुञ्जेषु झाङ्कारिगङ्गाम्भ इति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। उपनागरिका यथा—'वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः। अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्यथां व्यनक्ति॥' अत्रास्मत्सहाध्यायिनः पूर्वार्धमेवोपनागरिकोदाहरणं मन्यन्ते। उत्तरार्धे हि निष्करेत्यादिवर्णनिवेशनादुन्मिश्रत्वमेव। इयमपरोन्मिश्रा संदर्भजातिर्यत्कोमलकठोरवर्णतुल्यतया निर्वहणमिति॥

(४) माधुर्यगुण

या पृथक्पदता वाक्ये तन्माधुर्यमिति स्मृतम्।

यथा—

'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥ ७८॥'

अत्र पदेषु संहिताभावात्पृथक्पदत्वेन माधुर्यम्।

वाक्य में पदों की जो अलग-अलग स्थिति है, उसी को माधुर्य नाम से स्मरण किया गया है। (६८अ)

(कालिदास तपस्विनी पार्वती के ऊपर प्रथम जल वृष्टि के समय ऊपर से नीचे की ओर वह उठी जल विन्दुओं का वर्णन करते हैं कि)—प्रथम बरसी हुई जल की बूंदे एक क्षण के लिए नेत्ररोमों पर रुकीं, फिर अधरों पर टकराई और वहां से उभरे उरोजों पर गिर कर चूर चूर हो गई। (इस प्रकार) उस पार्वती की त्रिवलियों में ढुलक आई हुई बूंदे बड़ी देर में उसके नाभि गह्वर को प्राप्त कर सकीं ॥ ७८ ॥

यहां पदों में संहिता—सन्धि का अभाव होने से पदों के अलग-अलग रहने से माधुर्य गुण है।

स्व० भा०—दण्डी ने माधुर्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥ १.५१ ॥

किन्तु भोज इस गुण की परिभाषा में वामन से अधिक प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं। इन्होंने इसकी परिभाषा 'पृथक्पदत्वं माधुर्यम्। ३.१.२० ॥ बन्धस्य पृथक्पदत्वं यत्तन्माधुर्यम्। पृथक् पदानि यस्य स पृथक्पदः, तस्य भावः पृथक्पदत्वम्। समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरं चैतत्।' वामन समास की दीर्घता नहीं चाहते हैं, किन्तु भोज तो संहिता भी नहीं स्वीकार करते। संहिता व्यञ्जनों को छोड़ कर शेष वर्णों की अत्यन्त समीपता को कहते है। "परः सन्निकर्षः संहिता।" कहा गया है।

या पृथगिति। पृथगिव पदानि यत्र भासन्ते स पृथक्पदः संदर्भ इत्युपमागर्भो बहुव्रीहिश्च। तस्य भावस्तत्ता। माधुर्यमुक्तस्वरूपं तच्छब्दगतं पृथक्पदतया विच्छिद्यत इति। तदेव माधुर्यमुक्तम्। औचित्येन हि समासव्यतिरेक आकृष्यते कदाचिदनुद्धतो वा समासः। अनुद्धतिरनुल्लेखः। तदुक्तम्—'अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा' इति। अत एव 'समासनिवृत्तिपरमेतत्' इति वामनः। कश्चित्समासो रसौचित्येनाकृष्टः परिभाव्यमानो मनीषिभिश्चमत्कारकारणं भवति। यथा—'तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां क्षेमं तत्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्। विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना ते नूनं जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः॥' अत्र तच्छब्दो येषां विलाससंपत्तिस्वभावलब्धप्रकर्षाणामनुभव एव साक्षीति विशेषप्राधान्यविवक्षया नसमासेनाभिगमनात्। न या कापि वधूः, अपि तु गोपसंबन्धिनी कृतगोपाचारचातुरीपराधीना। नान्यत्र नीरसप्राये क्वचन सौहार्दं किं तु विलास एव। सोऽपि न यः कश्चित्, अपि तु गोपवधूसंबन्धीत्येवं बहूनां पिण्डीभावविवक्षया समास एवोचितः। एतावतैवाच्छेदोऽप्युचित एव। सर्वस्वायमानत्वात्तत्संबन्धजनितस्य विशेषस्य पृथगेवोक्तिरुचिता। राधारहःसाक्षिणामित्यत्रापि समासः पूर्ववत्। यद्यपि राधासंबन्धस्य वैवक्षिकं प्राधान्यमिति न समासः प्रतिभासते तथापि यदन्यस्य राधारहसि निवेशः क्षम इति भावयन्सुहृदामित्यपहाय साक्षिणामित्युक्तवान्। साक्षी हि तटस्थ एव व्याप्रियते। तेनावश्यकर्तव्यसाक्षिताप्राधान्यविवक्षया संभवति विरोधादित्यवसेयम्। स्थिता इति। पक्ष्मावस्थानेऽधरताडने स्तनतटनिपाते वलिभङ्गस्खलने नाभिनिम्नप्राप्तौ जलबिन्दूनां कर्तृतानिर्देशात्स्वाच्छन्द्यमुन्मीलितम्। तथा च—गौर्या बाह्यसंवेदनाभावस्तेन भगवद्गतोऽनुरागप्रकर्षः प्रथमपादेन। निदाघतापच्छिदा रजोहरणेन वसुंधरा सौरभोन्मीलनेन मयूरकेकायितादिना त्रिभुवनस्यापि ये चमत्कारास्पदमिति ध्वनितम्। तथाभूतानामथ संवेदने पूर्व एवाभिप्रायः। ताडितेत्याकारेण च्छेदोन्मेषः पयोधरेत्यादावोकारः। धकारतकारौ ॥

(५) सुकुमारता गुण

अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिति स्मृतम् ॥ ६८ ॥

यथा—

'मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः ।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि ॥ ७९ ॥'

अत्र सर्वकोमलत्वेऽसति श्लेषविपर्ययदोषशैथिल्याभावाद्बाहुल्याद्वर्णानामनैष्ठुर्यात्सौकुमार्यम् ॥

जिस वाक्य में ऐसे पद हों जिनमें परुष वर्ण अधिकतर न हो, तो वहां सुकुमारता स्मृत की जाती है ॥ ६८ ॥

जैसे—अपने पंखों को गोलाई में फैलाकर, कण्ठ से कर्णप्रिय गीत गाते हुये मयूर वर्षाकाल में नाचते हैं ॥ ७९ ॥

यहां सभी वर्णों के कोमल ही न होने पर भी श्लेष के विपर्यय से होने वाले शैथिल्य दोष से रहित होने के कारण तथा अधिकतर वर्णों के कठोर न होने से सुकुमारता है ।

भोजराज ने लक्षण तथा उदाहरण दोनों दण्डी से लिया है । (काव्यादर्श १।६९–७० ॥) केवल लक्षण वाले छन्द का उत्तरार्ध नहीं दिया गया । उसका भाव वृत्ति में है । दण्डी ने कहा था कि—"बन्धशैथिल्यदोषोऽपि दर्शितः सर्वकोमले ।" अर्थात् छन्द में कोमल वर्ण अधिकतर होने चाहिए किन्तु केवल कोमल ही नहीं । यदि केवल कोमल वर्ण ही होंगे तो शैथिल्य दोष हो जायेगा जो कि श्लेष गुण के विपरीत पड़ता है । 'प्रायः' पद का प्रयोग करके इसी अभीष्ट का प्रदर्शन किया गया है ।

वामन इस गुण को अपारुष्यरूप मानते हैं । 'अजरठत्वं सौकुमार्यम्' ३।१।२१ ॥ बन्धस्य अजरठत्वमपारुष्यं यत् तत् सौकुमार्यम् ।'

अनिष्ठुरेति । समस्त एव गुम्फे द्वित्राणि त्रिचतुराणि प्रस्फुटान्यक्षराणि निवेश्यन्ते स किलान्तरान्तरोपदंशन्यायेन चित्रास्वादपर्यवसायी सुकुमार इति प्राचां मतम् । अत एव समतायाः भेदः । मृद्वीकापाकः पुनरन्यादृशो वक्ष्यते । अनिष्ठुरे सुकुमारव्यवहारो लोके दृष्टः । मण्डलीकृत्येत्यादौ प्रथमपादे मण्डेति, कृत्येति, बर्हेति अत्र संयोगत्रयम् । द्वितीयपादे ण्ठेति, र्मेति च संयोगद्वयमुपन्यस्य गीतिदीर्घस्वरनिवेशो रूपान्तरमादाय विशेषशोभाहेतुः । तृतीयपादे केति न इति प्रनृत्यन्तीति च दीर्घविसर्गसंयोगा इति व्यन्तरम् । चतुर्थपादे दीर्घस्वरा एवान्तरान्तरेति सैव वासना । ननु अनिष्ठुराक्षरमयत्वं सुकुमारतेति वक्तव्ये प्रायशब्दः केन प्रयोजनेनेत्यत आह—अत्रेति । न चायमर्थगुणः स हि वाक्यार्थे धर्मिणि निरूप्यते । अयं तु पदसमुदाय इति युक्तं शब्दगुणेषु परिगणनम् । संमितत्वमन्यथा भविष्यति ॥

(६) अर्थव्यक्ति गुण

यत्र संपूर्णवाक्यत्वमर्थव्यक्तिं वदन्ति ताम् ।

यथा—

'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ ८० ॥'

अत्र वाक्यपरिपूर्णतयार्थसमर्पकत्वादर्थव्यक्तिः ॥

जिस वाक्य में सम्पूर्णता हो वहाँ अर्थव्यक्ति कहते हैं ॥ (६९ अ) ॥

जैसे—शब्द तथा अर्थ की सिद्धि के लिए शब्द तथा अर्थ की ही भांति एक में मिले हुए संसार के माता तथा पिता भगवती पार्वती तथा भगवान् शिव की वन्दना करता हूँ ॥ ८० ॥

यहां वाक्य के पूर्ण होने से सभी अर्थ प्राप्त हो जाने से अर्थव्यक्ति नामक गुण हैं।

स्व० भा०—वाक्य की सम्पूर्णता का अभिप्राय उस वाक्य से हैं जिसमें सभी अपेक्षित अर्थों के वाचक पद हों। इस वाक्य में 'मैं' अर्थ का वाचक कोई पद नहीं है, किन्तु 'अस्मद्युत्तमः' नियम के अनुसार 'वन्दे' क्रिया का उच्चारणमात्र करने से मैं अर्थ का स्वतः आक्षेप हो जाता है।

दण्डी ने इसीलिए इस गुण को नेयत्व दोष का विपर्यय सा माना है—'अर्थव्यक्तिरनेयत्व-मर्थस्य' ॥ १.७३ ॥ नेयार्थत्व दोष इसीलिए है क्योंकि उसमें अर्थ की कल्पना करने पर वाक्य में पूर्णता आती है और यह गुण है इसके विपरीत होने से।

वागर्थाविवेति। अत्र वन्दे इत्युत्तमपुरुषवचनेनैवाहमिति प्राप्तम् 'अस्मद्युत्तमः' इत्यत्र स्थानिनीत्यभिधानात्। किमिति कर्मापेक्षायां पार्वतीपरमेश्वराविति। तावपि किंभूता-वित्यतो जगतः पितराविति। तेन लक्ष्मीनारायणादिवैधर्म्येण नमस्कार्यत्वम्। एकशेष-शब्देनैव मातृशब्दार्थः। स्त्रीपुंसयोरित्यौचित्याद्वागर्थाविवेति। किमर्थं नमस्कुरुत इत्यत्र वागर्थप्रतिपत्तये इति। तदेवं यादृशो यावांश्च विशेषणविशेष्यप्रकारोऽभिमतः स सर्व एव वागित्याद्युपात्तशब्दसमुदायमात्रेण निष्प्रत्यूहमवगम्यत इत्यर्थव्यक्तिशब्दार्थव्याख्यानेन स्फुटयति—अत्रेति। अर्थसमर्पकत्वादित्यनेन शब्दगुणता व्यक्तीकृता ॥

(७) कान्ति गुण

यदुज्ज्वलत्वं बन्धस्य काव्ये सा कान्तिरुच्यते ॥ ६९ ॥

यथा—

'निरानन्दः कौन्दे मधुनि विधुरो बालबकुले
न साले सालम्बो लवमपि लवङ्गे न रमते।
प्रियङ्गौ नासङ्गं रचयति न चूते विचरति
स्मरंल्लक्ष्मीलीलाकमलमधुपानं मधुकरः ॥ ८१ ॥'

अत्र बन्धस्य छायावत्त्वेनौज्ज्वल्यं तदेव च कान्तिरुच्यते ॥

बन्ध की जो उज्ज्वलता है वही काव्य में कान्ति कही जाती है ॥ ६९ ॥

जैसे—कुन्द पुष्प के पराग में आनन्द न पाता हुआ, (पुष्पित न हो पाने के कारण) छोटे बकुल वृक्ष से भी खिन्न, (नीरस तथा असमय के कारण) सालवृक्ष से भी सहारा न पाने वाला भ्रमर लवंग लता में भी लेशमात्र रमण नहीं करता। प्रियङ्गु लता के साथ भी सम्बन्ध नहीं जोड़ता है और न तो आम्रवृक्ष की ही ओर जाता है। बस वह तो लक्ष्मी की विलास भूमि कमल के पराग के पान की ही याद किया करता है ॥ ८१ ॥

यहां पद रचना के छायायुक्त होने से उज्ज्वलता है। यह उज्ज्वलता ही कान्ति है।

स्व० भा०—यहां भोज की परिभाषा 'मघवा शब्द विडौजा टीका' हो गई है। कान्ति पद का पर्याय जो उज्ज्वलत्वपद है, वह भी स्पष्ट नहीं। रङ्ग में उज्ज्वलता का ज्ञान तो है, किन्तु काव्य में इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। वामन ने भी 'औज्ज्वल्यं कान्तिः' ३.१.२४ कह कर "बन्धस्यौज्ज्वलत्वं नाम यदसौ कान्तिरिति। तदभावे पुराणच्छायेत्युच्यते।" वृत्ति दी है। यहाँ

अर्थ स्पष्ट नहीं है। दण्डी की भी परिभाषा स्पष्ट नहीं है। भोज के टीकाकार रत्नेश्वर ने यह प्रश्न उठाया है—"किं पुनरिदमुज्ज्वलत्वं नाम। केचिदाहुरनुप्रासबहुत्वमिति। तदसत्।... एवंविधं हि पुराणच्छायमामनन्ति। कान्तिविपर्ययः पुराणी छाया।...तस्माद् अप्रहतपदैरारम्भः संदर्भस्य कान्तिः।...गुरुत्वमिति प्रहतम्। गौरवमित्यप्रहतम्।...कान्तवर्णानुप्रासोऽपि कान्त एव भवति इति मत्वानुप्रासोत्कटमुदाहरति।..."

भोज द्वारा उपस्थित किए गए उदाहरण से ऐसा अवश्य लगता है कि 'कान्तवर्णानुप्रासता' ही उज्ज्वलता है। किन्तु आगे के औदार्यगुण को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रहतपदत्व औदार्य है और अप्रहतपदत्व कान्ति। प्रहत में पद अनेक वर्णों से युक्त होते हैं जब कि अप्रहत कम ही वर्णों से।

यदुज्ज्वलत्वमिति। किं पुनरिदमुज्ज्वलत्वं नाम। केचिदाहुरनुप्रासबहुत्वमिति, तदसत्—'तस्याः सुस्राव नेत्राभ्यां वारि प्रणयकोपजम्। कुशेशयपलाशाभ्यामवश्यायजलं यथा॥' इत्यादावनुप्रासबहुलता संभवति। एवंविधं हि पुराणच्छायमामनन्ति। कान्तिविपर्ययः पुराणी छाया। यथा—'व्रजति गगनं भल्लातक्या दलेन सहोपमाम्' इति। अत एवाह—'पुराणचित्रस्थानीयं तेन वन्द्यं कवेर्वचः' इति। तस्मादप्रहतपदैरारम्भः संदर्भस्यैव कान्तिः। तद्यथा—कुसुमस्य धनुरिति प्रहतम्। कौसुममित्यप्रहतम्। जलनिधाविति प्रहतम्। अधिजलधीत्यप्रहतम्। गुरुत्वमिति प्रहतम्। गौरवमित्यप्रहतमित्यादि। अत एव प्रहतकाक्षा। चमत्कारित्वं तु सहृदयाह्लादकत्वमस्ति हि तुल्येऽपि वाचकत्वे पदानां कश्चिदवान्तरो विशेषो यमधिकृत्य किंचिदेव प्रयुञ्जते महाकवयो न तु सर्वम्। यथा—पल्लव इति वक्तव्ये किसलयमिति। स्त्रीति वक्तव्ये कान्तेति। कमलमिति राजीवमित्यादि। एतदेव महाकविभिरुपेयते। 'कत्ते सणाम इच्चं सच्चं कविए सर्स समग्गेसु।...सीमठेउण सुस्मितम्मि सच्चण वज्जेअ॥' कान्तवर्णानुप्रासोऽपि कान्त एव भवतीति मत्वानुप्रासोत्कटमुदाहरति—निरानन्द इति। अस्ति कुन्दे मधु परं न कमलसजातीयमित्यसक्तो नानन्दमलभत। कुन्दस्येति प्रहतम्, कौन्दमित्यप्रहतम्। बालत्वे बकुलकुसुमानां न मधुप्रादुर्भाव इति एतत्काले रतिं न प्राप्तवानिति विधुर इत्यनेन व्यज्यते। कालान्तरेऽपि साले मधुनोऽसंभवादालम्बः प्रत्याशामात्रबन्धोऽपि न तस्यासीत्। आमोदप्रकर्षादन्तः क्षणं निपत्य रसमनासादयंश्चनञ्जमनुसरतीति लवमित्यनेन ध्वन्यते। एवमुत्तरार्धेऽपि पदस्वरसो गवेषणीयः। उत्क्रमेण विशेषमभिसंधाय व्याचष्टे—अत्रेति। छायौज्ज्वल्यं कान्तिरित्येकार्थतया लोके प्रसिद्धं तदिह यथा शब्देषु संगच्छते तथा पूर्वाचार्यप्रसिद्ध्या विवेचनीयमित्यभिप्रायः॥

(८) औदार्यगुण

विकटाक्षरबन्धत्वमार्यैरौदार्यमुच्यते।

यथा—

'आरोहत्यवनीरुहं प्रविशति श्वभ्रं नगैः स्पर्धते
खं व्यालेढि विचेष्टते क्षितितले कुञ्जोदरे लीयते।
अन्तर्भ्राम्यति कोटरस्य विलसत्यालम्बते वीरुधः
किं तद्यन्न करोति मारुतवशं यातः कृशानुर्वने॥ ८२॥'

अत्र विकटाक्षरबन्धत्वे नृत्यद्भिरिव पदैर्यद्वाक्यरचना सा उदारता॥

विकट अर्थात् विशाल या अधिक अक्षरों से रचित बन्धगुण को औदार्य कहा जाता है। (७ अ)

जैसे—एक वातव्याधि से पीडित व्यक्ति की भांति वायु के वश में पड़कर अग्नि वन में वृक्षों पर चढ़ जाती है, छिद्रों में प्रविष्ट हो जाती है, पर्वतों से (ऊँचाई आदि में) मुकाबला करती है, आकाश को चाट जाती है, पृथ्वी पर लोटती है, लतावितानों मे आकार समा जाती है, खोहों के भीतर घुमड़ती है, फैलती है, लताओं का सहारा लेती है। (इस दशा में) वह क्या क्या नहीं करती ॥ ८२ ॥

यहाँ पर विशाल पदबन्ध होने पर नाच से रहे पदों द्वारा जो वाक्य की रचना है वही उदारता है।

स्व० भा०—यहाँ विकटता का अर्थ कठोरता आदि नहीं है। इस पद का अर्थ है विशाल अथवा अधिक। जब अधिक वर्णों के संयोग से कोई बड़ा पद बन जाता है, यद्यपि छोटा हो सकता है, तब उस वाक्य में विद्यमान रहने वाला गुण औदार्य कहा जाता है। आचार्य वामन ने इस शब्द का अर्थ लीला सी कर रहा पद माना है। वामन के ही शब्दों में—"विकटत्वमुदारता ।३।१।२२॥ बन्धस्य विकटत्वं यदसावुदारता यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति तद्विकटत्वम्। लीलायमानत्वमित्यर्थः।" दण्डी के अनुसार—

उत्कर्षवान् गुणः कश्चित् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः ॥ १।७६ ॥

विकटेति। विकटैरक्षरैर्बन्धो यस्य तस्य भावस्तत्त्वम्। अस्ति तावन्नृत्यन्तीव पदानीति सहृदयानां क्वचिदर्थे व्यवहारः। स च न निर्विषयो नाप्यस्य विशेष इति तत्प्रमाणकमेव गुणान्तरमवस्थितमिति कश्चिद्व्याचष्टे। तथा तु न कथंचित्स्वरूपमुल्लिख्य दर्शितं भवति। अन्ये तु विसर्गानुप्रासादिग्रन्थिलत्वमनेनाभिमतमित्याहुः। तदपि न। औजित्यावहिर्भाव-प्रसङ्गात्। तस्मादिदमत्र वाच्यम्—विकटानि विशालानि। प्रभूतानीति यावत्। तथाभूता-न्यक्षराणि दीर्घानुस्वारादिरूपाणि सहृदयसंवेदनीयानि। अत एव नृत्यतुल्यता। यथा हि—नृत्येऽङ्गानामङ्गुल्यादीनामाकुञ्चनप्रसारणक्रमेण रञ्जकत्वं तथात्रापि। तथाहि—आरोह-तीत्यादौ प्रथमपादे आकारोकाराभ्यां प्रसारः। ह्रस्वेति संकोचः। नीरुह इतीकारविस-र्गाभ्यां प्रसरणम्। नगैः स्पर्धत इति विसर्गसंध्यक्षरैर्विकाशः। द्वितीयपादेऽपि प्रसारणे-नोपक्रम्यत इति नैव निर्वहणमन्तरान्तरवहोरक्रमो भवति। न चात्र यतीनां संनिवेशोऽ-भिमतः। मारुतवशं यात इत्यनेनोन्मादरोगगृहीत इति शब्दमूलानुस्वान(सार)बलेनाव-गम्यते। उन्मादगृहीतोऽपि वृक्षारोहणादिकमसमञ्जसमव्यवस्थितं च करोति। वन इत्यनेन यत्र सर्वथैव प्रतीकारासंभव इति निरङ्कुशोन्मादचेष्टितमेवोपबृंहयति। नगैः स्पर्धते पर्वतोच्छ्रायमनुकरोतीति दूरप्रसृत उन्मादः। खं व्यालेढीत्यत्रापि तथैवाभिप्रायः। किं तद्यदिति न शक्यते गणयितुमुन्मादचेष्टितानीति प्रकाशन्तेत्येति ग्रन्थिलाविच्छेदात्। प्रसारणस्य पर्यवसानं श्लेत्यनेन प्रविशतीति संकोचः। अत एव परस्मैपदयोनिरन्तरमावापः कान्तिविशेषकरत्वादुपादेय एव भवतीति ॥

(९) उदात्तता

श्लाघ्यैर्विशेषणैर्योगो यस्तु सा स्यादुदात्तता ॥ ७० ॥

यथा—

'श्रुत्वायं सहसागतं निजपुरात्त्रासेन निर्गच्छतां
शत्रूणामवरोधनैर्जललवप्रस्यन्दतिम्यत्पुटाः ।

शुभ्रे सद्मनि पल्लविन्युपवने वाप्यां नवाम्भोरुहि
क्रीडाद्रौ च सशाद्वले विवलितग्रीवैर्विमुक्ता दृशः ॥ ८३ ॥'

अत्र शुभ्रे पल्लविनि नवाम्भोरुहि इत्यादिश्लाघ्यविशेषणोपादानादुदात्तता ॥

श्लाघ्य अर्थात् सहृदयों के हृदय को आकृष्ट करने में सक्षम विशेषणों का जो योग है, उसे उदात्तता कहते हैं ॥ ७० ॥

कोई कवि किसी राजा के प्रताप का वर्णन करते हुए लिखता है कि हे महाराज, केवल यह सुनते ही कि आप आ गए हैं, अपने नगर से मारे भय के एकाएक भाग रहे शत्रुओं की रानियाँ अश्रुधार बहने से अवरुद्ध पलकों वाली निगाहें अतिशय धवल प्रासादों पर, अत्यन्त पल्लवित उद्यानों पर, नवविकसित कमलों से भरी हुई पुष्करिणियों पर तथा हरी हरी घासों से भरे विहार पर्वतों पर गर्दन घुमा कर डालती रहीं ॥ ८३ ॥

यहाँ पर शुभ्र, पल्लविनि, नताम्भोरुहि इत्यादि आह्लादक विशेषणों के ग्रहण से उदात्तता है।

स्व० भा०—रानियों का भय से भागने और अपने विलास के सहचरों तथा स्थलों को मुड़ मुड़ कर देखने का अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से समर्थ शब्दों में चित्रण किया गया है। ये विशेषण विलास के मनोरम स्थलों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत सा कर रहे हैं।

श्लाघ्यैरिति। उत्कर्षवानुदात्तो लोके प्रसिद्धः। बहूनां मध्ये यः श्लाघते स उत्कर्षवान्। तेन श्लाघ्यत्वमुदात्तलक्षणम्। तदिह काव्ये वाक्यार्थपोषाधायकतया सहृदयहृदयावर्जनक्षमत्वेन श्लाघाविषयत्वे विशेष्यत्वं च वाक्यार्थोऽतस्तद्विशेषणपदेषु यथोक्तरूप उत्कर्षोऽभिमतोऽनुदारश्चायं गुण इति स्वरूपविशेषकृतात्कान्तिशरीरान्तर्गताच्चमत्कारित्वाद्भिद्यते। नचात्र मुहुनिरभिमतेति नैकमपि कान्तिरूपमस्ति। अत एव पुराणच्छायमुदाहरति—श्रुत्वेति। श्रुतिमात्रेणेयं दशा दर्शने तु न ज्ञायते कथं भविष्यतीति। यमिति न ह्यन्यस्य श्रुतमात्रस्य तादृशप्रभावसंभावना। सहसेति यावत्क्रीडासहचराणां धवलगृहादीनामपि च प्रेमानुरूपमापृच्छ्यते तावानपि समयो न लब्ध इति ध्वन्यते। आगतमिति चेदिच्छति सिद्धमेवागमनमिति द्योतयति—निजेति। यस्यान्येन धर्षणं स्वप्नेऽपि न बुद्धिविषय आसीत्। सोपद्रवस्यापि यस्य न त्यागः कदापि कथंचिदभूदिति व्यज्यते। निर्गच्छतामिति हृदयवैमुख्येन पुनः पुनरवतिष्ठमानानामसंभवद्रूपं निर्गमनमिति द्योत्यते। शत्रूणामिति बहुवचनेन यदेकावस्कन्दमुद्दिश्यायं प्रचलति तदा सर्वेषामियं दशा भवतीति प्रत्याय्यते। अत एवासमासः सजीवः। वियोगवेदनादूनमानसानामुद्गतोऽपि बाष्पस्रावादन्तरेव विच्छिद्यत इति लवपदेन ध्वन्यते। पुनः समागमाशंसनशीलानाममङ्गलभिया बाष्पस्तम्भो लवपदरहस्यमित्येके मन्यन्ते। अन्यस्य बाष्पस्य निर्गमनानुपपत्तौ पुटयोरार्द्रभावमात्रम्। शुभ्र इति यत्र चन्द्रातपेन पल्लविताः कान्तयः क्षणदाविलासविहारेषु कामपि रसमात्रामुत्कर्षयन्तीति व्यनक्ति, तदनन्तरमेव व्याप्यामित्याह—नवाम्भोरुहीति। पूर्ववत्संभोगोद्गारः। सशाद्वल इत्यनेन रतिकुतूहलोत्कण्ठितानामद्रिशृङ्गारोहणश्रान्तानां तदेवास्तरणमिति प्रकटीक्रियते। विवलितग्रीवतया च पन्थां पलायनमेव न तु शरीरवलनमपीति शृङ्गाराङ्गभयानक एव रसः स्थायीति ध्वनितम्। तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह—अत्रेति ॥

(१०) ओज

अरीतिमत्करणोक्तमभिप्रेत्यौजोलक्षणमाह—

ओजः समासभूयस्त्वम्

यथा—

'जयति भुजगरज्जुग्रन्थिनिष्पीडितेन्दु-
स्रवदमृतनिवृत्तप्रेतभावैः कपोलैः।
विरचितनुतिबन्धो मूर्ध्नि सद्यः पुरारेः
परिणतबहुकल्पब्रह्मणां ब्रह्मघोषः ॥ ८४ ॥'

अत्र भुजगरज्जुग्रन्थीत्यादिना समासभूयस्त्वादोजः ॥

समास की अधिकता ओज है। ७१ (अ)

जैसे—शिर पर साँपों की रस्सी की गांठ से कसे हुए चन्द्रमा से टपक रही अमृत बिन्दुओं से प्रेतभाव दूर किया जा रहा है जिनका उन बीते हुए अनेक कल्पों के ब्रह्माओं के कपोलों द्वारा शिव हेतु तत्काल बताई हुई स्तुति के विशिष्ट पदों से संयुक्त मन्त्र ध्वनियाँ सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ ८४ ॥

यहाँ पर 'भुजगरज्जुग्रन्थि' इत्यादि के प्रयोगों के कारण समास की अधिकता होने से ओज गुण है।

स्व० भा०—जब छन्द में अधिक समस्तपदों का प्रयोग होता है, तब उसमें एक विशेषता आ जाती है। उस प्रकार के शब्दों को पढ़ने से एक विशेष प्रकार की अनुभूति होती है। यही ओज नाम का गुण है। वामन की परिभाषा 'गाढबन्धत्वमोजः' ३।१।५॥ है' किन्तु इनका ओज भोज के और्जित्य का पर्याय है। भोज ने यह परिभाषा दण्डी से ली है।

क्योंकि दण्डी ने भी इस गुण की परिभाषा 'ओजःसमासभूयस्त्वम्' (१।८०) दी है, और निर्देश किया है कि—

तद्गुरूणां लघूनां च बाहुल्याल्पत्वमिश्रणैः।
उच्चावचप्रकारं तद् दृश्यमाख्यायिकादिषु ॥ वही १।८१॥

ओज इति। वैपुल्यवृत्तेर्बहुशब्दस्येयसुनि भूय इति रूपम्। तथा च समासस्य भूयस्त्वं वैपुल्यविकटत्वमिति यावत्। न चैवं गौडीया रीतिरेवेयमिति वाच्यम्। क्वचित्समास-भूयस्तामात्रस्यैवौचितीवशेन विशेषशोभावहत्वात्। यथा—

'वाद्यन्ति दिग्गजगण्डकषणैर्भग्नस्स्रता' इति। न च समासाभावो नोचितः। नह्येक एव समासो रूपभेदमादाय गुणत्वमनलंकारत्वं च प्रयोजयतीति किमनुपपन्नम्। एवं प्रकृतोदाहरणेऽपि। तथा हि—परिणतः परिणामं गताः। बहूनां कल्पानां ब्रह्माण इति चतुर्णां पदार्थानां पिण्डश्चे चत्वारि पदानि समबहुव्रीहिरूढिभिर्भुजगरज्जुभिरिति ग्रन्थि-दृढताबोधनाय रूपकम्। अत इव निवीत्युपसर्गस्तात्पर्यवान्। सद्यो विरचितनुतीत्यनेन कपालानामसाधारणो व्यापारः। बन्धो हि ब्राह्मरूपस्तात्वादिकमन्तरेण न निष्पद्यते। जीवनानन्तरमेव त्रासावेशात्स्तुतिरूप एव ब्रह्मघोष उदचरदिति भगवतस्त्रैलोक्यग्रहे निरङ्कुशप्रभावः सद्यःपदेन सूच्यते। अथवा वेदागमानामात्मलाभानन्तरमेव परमेश्वर-स्तुतिरूपतात्पर्यावसानमिति सर्वस्या अपि श्रुतेः परमेश्वरप्रवणत्वमनन्यसाधारणभक्ति-प्रह्वतां च कविरभिप्रैति। पुरारेरित्यनेन संहारिरूपता भगवतः प्रकृतपोषानुगुणा प्रकाशिता ॥

(११) और्जित्य गुण

और्जित्यं गाढबन्धता।

यथा—'अस्मिन्नीषद्वलितविततस्तोकविच्छिन्नभुग्नः
किंचिल्लीलोपचितविततः पुञ्जितश्चोच्छ्रितश्च ।
धूमोत्पीडस्तरुणमहिषस्कन्धनीलो दवाग्नेः
स्वैरं सर्पन्सृजति गगने गत्वरानभ्रभङ्गान् ॥ ८५ ॥'

अत्र गाढबन्धस्य स्पष्टमेव प्रतिभानादौर्जित्यम् ॥

गाढबन्धता औजित्य है।

जैसे—थोड़ा थोड़ा सिमट कर फैलता हुआ, कुछ कुछ टुकड़े टुकड़े में बँटता हुआ, कुछ कुछ सुन्दरतापूर्वक इकट्ठा होकर फैल रहा, पिंडीभूत, ऊपर उठा हुआ, और तरुण भैसें के कन्धे की भाँति नीला नीला यह दावाग्नि का धूम्र पिण्ड मन्द मन्द बढ़ता हुआ आकाश में चञ्चल मेघखण्डों की रचना कर रहा है ॥ ८५ ॥

यहाँ गाढबन्धता की स्पष्ट ही प्रतीति होने से औजित्य गुण है।

स्व० भा०—सन्दर्भ की महाप्राणता को गाढत्व कहते हैं। अतः जिस छन्द में महाप्राणता का सन्निवेश होता है, उसमें औजित्य उपस्थित समझा जाता है। महाप्राणता का अभिप्राय महाप्राण वर्णों का ही प्रयोग नहीं है, अपितु उसका अर्थ है ऐसे ऐसे वर्णों का क्रम से वाक्य में सन्निवेश जिनके कारण छन्द में बीच बीच में अवरुद्धता तथा गति आती रहती है। प्रस्तुत छन्द में ही जिस क्रम से मृदु, स्फुट और उन्मिश्र वर्णों का प्रयोग किया गया है, उसके अनुसार प्रथम तथा तृतीय चरणों की अपेक्षा द्वितीय तथा चतुर्थ पदों में विशेष गाढता है। यह गुण भोज की अपनी उपज है। वामन ने गाढबन्धत्व को ओज का लक्षण माना है।

औजित्यमिति। ऊर्जितो महाप्राणस्तस्य भाव औजित्यं तत्र संदर्भस्य महाप्राणता गाढत्वमन्तराविलम्बितनयद्भिः प्रयोगैः कुण्डिलत्वम् । गुणसामान्यलक्षणादतिप्रसङ्गो नास्ति। तथा हि—प्रकृतोदाहरणे प्रथमपादे विच्छिन्नभुग्न इत्यत्र तालव्यद्वयम्। कण्ठ्य-दन्त्यसंयोगौ प्रस्फुटोन्मिश्रौ। अन्ये मृदवः। द्वितीयपादे औष्ठ्योपध्मानीयतालव्यचतुष्क-संयोगाः प्रस्फुटाः। स्वरव्यञ्जनमध्ये विसर्गपाठ उभयसंज्ञाभिप्रायेणेति दुर्गसिंहः। तेन तदादेशस्यापि व्यञ्जनत्वम् । अन्ये मृदवः तृतीयपादे दन्त्योष्ठ्यदन्त्यकण्ठ्यसंयोगा उन्मिश्राः। अन्ये मृदवः। चतुर्थपादे रेफान्तसंयोगा मृदवो य इति न कापि कठोरता प्रतिभासते । तथा च—प्रथमतृतीयाभ्यामत्र द्वितीयचतुर्थयोर्गाढत्वम् । तथा—'हस्ते लीलाकमलमलकं बालकुन्दानुविद्धम्—' इत्यादेरगाढप्रथमतृतीययोरस्त्यस्ति धारणी महा-प्राणता व्यक्तेत्याह—अत्रेति ॥

(१२) प्रेय गुण

प्रेयः प्रियतराख्यानं चाटूक्तौ यद्विधीयते ॥ ७१ ॥

यथा—'सौजन्याम्बुनिधे बुधप्रिय गुणप्राकार धर्मद्रुम-
प्रारोह प्रतिपन्नवत्सल महात्यागिन्विवेकाश्रय ।
लक्ष्म्यावास मनस्विनीमनसिजव्यापारदीक्षागुरो
श्रीमन्मुञ्ज किमित्यमुं जनमुपस्प्रष्टुं दृशा नार्हसि ॥ ८६ ॥'

अत्र सौजन्याम्बुनिध इत्यादीनां प्रियार्थानां पदानामुपादानं प्रेयः ॥

प्रेय गुण वहां होता है जिसमें दूसरे को अत्यन्त अच्छी लगने वाली बातें कही जाती हैं। इसका विधान दूसरों की चाटुकारिता (चापलूसी) के लिए किया जाता है ॥ ७१ ॥

जैसे—हे सज्जनता के महासिन्धु, विद्वानों के प्रिय या विद्वानों को प्रेम करने वाले, गुणों की राशि अथवा गुणों की चरमसीमा, धमरूपी वृक्ष के अङ्कुर अर्थात् धर्मतरु के अवलम्ब, शरणागतों पर स्नेह करने वाले, महात्यागशाली, ज्ञान के आधार, लक्ष्मी के निधान, मानिनियों में भी कामव्यापारप्रवृत्त कराने में निपुण, श्रीमान् मुञ्ज महाराज! आप इस व्यक्ति को भी अपनी दृष्टि से क्यों नहीं स्पर्श करना चाहते? अर्थात् इस व्यक्ति पर आप अपनी कृपादृष्टि क्यों नहीं डालते? ॥ ८६ ॥

यहां पर 'सौजन्याम्बुनिधे' इत्यादि अच्छे लगने वाले अर्थों से समन्वित पदों का प्रयोग करने से प्रेयोगुण है।

स्व० भा०—यहाँ कोई व्यक्ति महाराजाधिराज मुञ्ज की प्रार्थना करता हुआ दिखाया गया है। वह व्यक्ति मुञ्ज के लिए ऐसे-ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जो पूर्णतः चाटूक्तियों से भरे हैं। चाटुकारिता में प्रयुक्त पदों द्वारा वे भी गुण किसी व्यक्ति विशेष में बताये जाते हैं जो उसमें नहीं होते। न होने पर भी उनकी सम्भावना करने से व्यक्ति को अच्छे लगते हैं। मुञ्ज में चाहे ये गुण न रहे हों फिर भी उनकी उपस्थिति बताई गई है।

प्रेय इति। परप्रियाख्यानं चाटूक्तिस्तत्र यद्विधीयते स प्रेयो नाम गुणः किं तु क्रियत इत्याह—प्रियतराख्यानमिति। प्रत्ययांशे तात्पर्यं लोके साधारण एव प्रिय इत्युच्यमाने यस्तत्रासाधारणः प्रकर्षोऽवसीयते स इत्यर्थो भवति। एतेन लक्षणपदे ईयसुन् व्याख्यातः। उक्तिखण्डैरुपचितोऽर्थः सन्नसन्वा भवतु कविप्रतिकृष्टा सूक्तिरेक एव त्रिभुवने भूयसीनामपामधिष्ठानम्। एवं भवानपि तत्स्थानीयस्य सौजन्यस्येति प्रतीयते। बुधप्रियेति बहुव्रीहितत्पुरुषाभ्यामर्थद्वयमुपात्तम्। सूक्ष्मगुणप्रतिबिम्बभासितया यावदभिमतदायितया च प्रीतिध्वनितया च प्रकर्षमर्पयति—गुणप्राकारेति। यथा प्राकारे उपर्युपरि शिलादीनामवस्थितिरेवमहमहमिकया त्वयि गुणानाम्। अथवा यथा प्राकारः कलत्रावेक्षणस्थानमेवं भवानपि गुणानामेव प्रोच्यते। धर्मद्रुमप्रारोहेति। प्रारोहः प्ररोहोऽङ्कुरः। तेनातिजरतो भग्नानेकविक्रमादित्यादिशाखस्य धर्मतरोस्त्वमग्रिमः संतानोऽवलम्बः। यदि वाऽधोमुखी लम्बमानलता प्ररोहः। तथा च धर्मतरोरुपरि ब्रह्मलोकादिबद्धविस्तारस्य भगवद्रूपः प्रारोहो भूपृष्ठमधितिष्ठतीति कोऽपि प्रीतौ प्रकर्षः। प्रतिपन्नवत्सलेति। उपकर्तव्यतया प्रतिपन्नः स्वीकृतस्तत्र वत्सलो झटिति स्नेहार्द्रान्तःकरणस्तेनाङ्गीकृतभङ्गभीरुतामात्रेण पुरुहूतादिवन्नापि श्लेषाविश्लेषान्विततया बलिकर्णादिवत्किं तु भवान् सिन्धुरिव वाञ्छितादिकमुपकारं करोतीति समानं पूर्वेण। महात्यागिन्निति। त्यागिनामपि यः पूज्यः स महात्यागी तेन नूनं दधीचिप्रभृतयो विश्राणितार्था अपि न तव तुल्यतामारोढुमीशत इति पूर्ववत्। विवेकाश्रय इति। यथाकर्तव्यताज्ञानं विवेकस्तस्याश्रयो विश्रान्तिस्थानं यदि त्वं मूलस्तम्भो नाभूस्तदा कमाश्रित्य विवेकप्रासादः पदमारोपयेदित्यादिकं स्वयमूहनीयमिति तदेतत्सर्वं सूचयन्नाह—प्रियार्थानां पदानामिति। प्रियार्थानां प्रीतिप्रकर्षार्थानाम् ॥

(१२) सुशब्दता

व्युत्पत्तिः सुप्तिङां या तु प्रोच्यते सा सुशब्दता।

यथा—

'तस्याजीवनिरस्तु मातरवमा जीवस्य माजीवतो
भूयाद्वाऽजननिः किमम्ब जनुषा जन्तोर्वृथा जन्मनः।
यस्त्वामेव न वन्दते न यजते नोपैति नालोकते
नोपस्तौति न मन्यते न मनुते नाध्येति न ध्यायति ॥ ८७ ॥'

अत्र अजीवनिः-अजननिः-इत्यादीनां सुबन्तानां वन्दते-यजते-इत्यादीनां तिङन्तानां च व्युत्पत्तिः सुशब्दता ॥

सुप् तथा तिङ् प्रत्ययों के प्रयोग की जो निपुणता है वही सुशब्दता कही जाती है। (कोई भगवती का भक्त अन्य किसी देवता के पूजक के जीवन की निरर्थकता बताते हुये कहता है कि) हे माता, जो तुम्हारी ही वन्दना नहीं करता, तुम्हारा ही भजन नहीं करता, तुम्हारे ही पास नहीं आता, तुम्हें ही नहीं देखता, तुम्हारी ही स्तुति नहीं करता, तुम्हें ही नहीं मानता, तुम्हारा ही साक्षात्कार नहीं करता, तुम्हारे ही विषय में अध्ययन नहीं करता और तुम्हारा ही ध्यान नहीं करता, उसका जीवन ही भले न रहे किन्तु इस प्रकार का अपमान न हो, यदि हो भी तो उसका पुनर्जीवन न हो, क्योंकि हे माता, ऐसे व्यर्थ जन्म वाले प्राणी के जन्मग्रहण से लाभ ही क्या ? ॥ ८७ ॥

यहाँ पर अजीवनिः, अजननिः इत्यादि सुबन्तों का तथा वन्दते, यजते आदि तिङन्तों की विशिष्ट उत्पत्ति-रचना-से सौशब्द्य है।

स्व० भा०—जिन प्रत्ययों के योग से संज्ञा, सर्वनाम तथा विशेषण शब्दों के सभी विभक्तियों में रूप बनते हैं, उनको सुप् प्रत्यय कहते हैं। ये संख्या में २१ होते हैं। जिन प्रत्ययों के लगने से क्रियाओं के रूप विभिन्न लकारों में चलते हैं उनको तिङ् कहते हैं। जिस व्यक्ति को इनका ज्ञान जितना ही अधिक होगा, छन्दोरचना के लिए उसे उतनी ही सरलता से शब्द मिलते जायेंगे और कहीं शब्ददारिद्र्य नहीं होगा। इसके साथ ही कहीं एक धातु से निष्पन्न होने वाले विभिन्न पद विभिन्न अर्थ प्रदान करेंगे और कहीं अनेक धातुओं का ही पूरा पद का पद बनता रहेगा। इस पूरी कला से एक विशेष आह्लाद उत्पन्न होगा। यही शब्दप्रयोग की दक्षता काव्य में सुशब्दता के नाम से अभिहित है। प्रस्तुत श्लोक में ही जन् धातु का जितने विभिन्न रूपों और अर्थों में तथा अन्तिम दो चरणों में केवल क्रियापदों का प्रयोग हुआ है, शायद ही कोई दूसरा व्यक्ति कर सकता। इसके लिए व्याकरणज्ञान की नितान्त आवश्यकता है।

व्युत्पत्तिरिति। विशिष्टा उत्पत्तिर्व्युत्पत्तिः। सुबन्तानां तिङन्तानां च बहूनामपि चकारादिमन्तरेण घटनासौष्ठवार्पकतया चमत्कारकारित्वमित्यर्थः। 'आक्रोशे नञ्यनिः'। किमर्थमिदमाशास्यत इत्यत आह—जीवतोऽवमान इति। जीवतोऽवमाननं माभून्मरणमपि तदपेक्षया वरमित्यर्थः। आयुःकर्मवशात्तथाभूतोऽपि जीविष्यतीति यदि तदाऽजननिरनुत्पत्तिरेव भूयात्। कुत इत्यत आह—किमिति। जनिनेति पुंलिङ्गनिर्देशश्चिन्त्यः इकः स्त्रीप्रकरणे विधानात्। जननिरुत्पत्तिरिति साहचर्याच्च। कस्येदं सर्वमाशास्यत इत्यत आह—यस्त्वामेवेति। त्वदन्यदेवताप्रवणस्य जन्मादिकं विफलमिति वदतः कोऽपि भगवतीविषये भक्तिप्रकर्षोऽवसीयते। अन्ये तु व्याचक्षते कवेः पदपरिचयान्तरी व्युत्पत्तिः। पदं च सुप्तिङन्ततया द्विविधम्। तयोरेकमुभयं वा यत्र निवेश्यमानं व्युत्पत्तिमभिव्यनक्ति तत्र सौशब्द्यमिति लक्षणार्थः। तथा हि—अजीवनिरिति सोपाधिसिद्धकृदन्तं जीवितमुप-

न्यस्य तदेव जीवस्य जीवत इति निरुपाधिसिद्धसाध्यार्थाभिधायिकृदन्तमुपन्यस्तवान्। मातरवमेति मातृत्वमुभयथोत्प्रेक्षितवान्। द्वितीयपादे जनिजीवमिवोपक्षिप्य जनिना जन्मेति तमेव प्रकारद्वयेनोपात्तवान्। एकैकधातुप्रपञ्चानां सुबन्तानां दुर्घटमेकसंदर्भप्रवेशं तत्तदुचितक्रियासंगमेन विहितवानिति सुबन्तव्युत्पत्तिरिति दिक्। अवमेति अस्त्वित्यनुषज्यते। वृथादि वा पूर्वेणापि संवध्यते। अथोत्तरार्धे तिङन्तव्युत्पत्तिः। तत्र पूर्वप्रकारभेदो न घटते। अतः साभिप्रायाणामेवोत्प्रेक्षणं सा वाच्या। तथा हि—वन्दत इति जायमानमात्राभिवाद्यतया त्रिभुवनमातृता। यजत इति समस्तदेवतारूपत्वम्। उपैतीति सर्वोपगम्यतया जगच्छरण्यत्वम्। आलोकत इति विश्ववर्ति यावन्मनोहरत्वम्। स्तौतीति समस्ताभिमतदायिता। मन्यत इति निखिलज्ञेयस्वरूपता। मनुत इत्यवधारणीयतया तत्त्वात्मकता। अध्येतीति कान्तारादिस्मर्तव्यतया दुर्गादिभेदेन प्रपञ्च्यमानत्वम्। ध्यायतीति निदिध्यासनविषयतया प्रत्यग्ज्योतीरूपतेति परापरभेदभिन्ना भगवती स्तुता भवति। मन्यते मनुते इति यथा सामान्यविशेषाभिधायिनौ तथाध्येति ध्यायतीत्यपि। तिङन्तानां च दुर्घटोऽपि परस्परमन्वयः केनापि प्रकारेण घटित इति पूर्ववद्वोद्धव्यः। तदेतदाह—अत्रेत्यादिपदसुभाभ्यां संवध्यते। तेन जीवितवर्गो जनिवर्गश्चाभिमतः। मतिः सकृदेवावृत्त इति नोक्तः भूयसा हि लोके व्यपदेशो दृश्यत इति॥

(१४) समाधिगुण

समाधिः सोऽन्यधर्माणां यदन्यत्राधिरोपणम् ॥ ७२ ॥

यथा—

'प्रतीच्छत्याशोकीं किसलयपरावृत्तिमधरः
कपोलः पाण्डुत्वादवतरति तालीपरिणतिम्।
परिम्लानप्रायामनुवदति दृष्टिः कमलिनी-
मितीयं माधुर्यं स्पृशति च तनुत्वं च भजते॥ ८८॥

अत्र प्रतीच्छति-अवतरति-अनुवदति-इत्यादिचेतनक्रियाधर्माणामचेतनेऽधरादिपूपचारेणाध्यारोपणं समाधिः॥

समाधिगुण वहाँ होता है जहाँ दूसरे पदार्थ के धर्मों का दूसरे पदार्थ पर अध्यारोप किया जाता है॥ ७२॥

जैसे—(विरहिणी के) अधर- अशोकपल्लवों की कान्ति को लौटा देना चाहते हैं, पीलेपन के कारण उसके कपोल ताली के परिपाक को उतर रहे हैं। इसकी निगाहें—आँखें—लगभग सूख गई कमलिनी के सदृश हो रही हैं, इस प्रकार यह विरहिणी नायिका माधुर्य को भी छू रही है और कृशता को भी प्राप्त कर रही है॥ ८८॥

यहाँ प्रतीच्छति, अवतरति, अनुवदति इत्यादि चेतन की क्रिया के धर्मों का अचेतन अधर आदि में गौण रूप से अध्यारोप करने से समाधि गुण है।

स्व० भा०—परिभाषा के अनुसार उदाहरण अधिक उपयुक्त है क्योंकि यहाँ पर अशोक किसलय की छटा, पके ताली का पीलापन, म्लान कमलिनी का स्वरूप तथा माधुर्य का स्पर्श आदि ऐसे गुण हैं जो दूसरों के हैं किन्तु विरहिणी के अङ्ग-प्रत्यङ्गविशेष में उतरते दिखाये गये हैं।

वामन ने इस गुण की परिभाषा—"आरोहावरोहक्रमः समाधिः" (३।१।१२) दी है जब कि भोज ने दण्डी की परिभाषा से सीधे प्रेरणा ली है—

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ॥ १।९३ ॥

समाधिरिति । सम्यगाधानमारोपणं समाधिः । सम्यक्त्वं च वक्रतालोकातिगत्वं न तदधिकभावः। तदिदं लक्षणे स्फुटम् । कमलानि निमीलन्ति कुमुदान्युन्मिषन्ति च' इत्यादौ व्यभिचाराच्च । तेन संबन्धिता न धर्मविशेषणमत्राभिमता । अलंकाराद्भेदश्चतुर्थे वक्ष्यते—प्रतीच्छतीति । प्रत्येषणं दीयमानस्य ग्रहणं चेतनधर्मः स विरहवत्या अचेतनेऽधरे समारोपितः । किसलयकान्तिमितो मन्दीभूततामवगमयति। देयस्य दातुरपसरणेऽन्यत्र संक्रान्तौ च प्रत्येषणविर्वाहाच्च । तथा चाशोककिसलयेभ्योऽपि कोमलपाटलत्वमधरस्येति माधुर्यपोषः । तदभिमुखप्रवर्तनमवतरणमपि चेतनधर्मः सोऽचेतने कपोले समारोपितः किंचित्पाण्डुतामवद्योतयति । न च प्रत्येषणवत्सामस्त्येन ग्रहणमपि तु संमुखीभावमात्रमित्याशयात् । तथा च पूर्ववन्माधुर्यं पुष्णाति, अनुवादोऽपि चेतनधर्म एव सोऽचेतनायां दृष्टावारोपितः पर्युषितकमलच्छायामखण्डासेवात्र बोधयति । परप्रकर्षाभिमुखेऽपि विप्रलम्भे कदाचित्संकल्पोपस्थितप्राणनाथायां दृष्टौ कान्तीभवतीति प्रायः पदेन सूचितम् । स्पर्शस्य माधुर्यविषयेऽसंभवात्स्पृशतीत्यप्यारोपः । प्रथमविग्रहशोभाविर्भावमभिव्यनक्ति—चेतनक्रियेति । प्रकृतापेक्षया क्रियाक्रियावतोः सादृश्याभावान्नेयं गौणी किं तूपचरितैव शुद्धेत्याह—उपचारेणेति । एतेन रूपकादिभ्यो भेदः समर्थितः ॥

(१५) सौक्ष्म्यगुण

अन्तःसंजल्परूपत्वं शब्दानां सौक्ष्म्यमुच्यते ।

यथा—

'केवलं दधति कर्तृवाचिनः प्रत्ययानिह न जातु कर्मणि ।
धातवः सृजतिसंहृशास्तयः स्तौतिरत्र विपरीतकारकः ॥ ८६ ॥'

अत्र श्रुतावगतवाक्यार्थस्य सृजति-संहरति-शास्ति-स्तूयते-इति शब्दानामन्तःसंजल्परूपेण सूक्ष्मतया सूक्ष्मत्वम् ।

किसी वाक्य में भीतर ही भीतर वार्तालाप होना अर्थात् एक सामान्य अर्थ निकलने के बाद पुनः पूर्वप्रयुक्त पद से एक और अर्थ का प्रतीत होना शब्दों का सौक्ष्म्य गुण कहा जाता है। (७३ अ)

सृजति, संहरति, शास्ति, ये धातुयें केवल कर्तृवाच्य में ही अर्थज्ञान कराने के लिए प्रत्ययों को ग्रहण करती हैं, कर्मवाच्य में नहीं । केवल 'स्तूयते' धातु विपरीत है ।

जैसे सृजति (निर्माण), संहरति (विनाश करना), शास्ति (उपदेश देना), स्तूयते (प्रार्थित होता है), इन शब्दों को सुनने के बाद वाक्यार्थ ज्ञात हो जाने पर भी भीतर ही भीतर वार्तालाप—अर्थान्तर का प्रत्यायन कराने से यहाँ सूक्ष्मता के कारण सौक्ष्म्य गुण है ।

स्व० भा०—उदाहरण के छन्द में कुछ धातुओं को केवल कर्तृवाच्य में और एक को केवल कर्मवाच्य में अर्थप्रत्यायन के लिए प्रत्ययों का ग्रहण करने का निर्देश है । इसके विपरीत नहीं। अतः इनका सीधा अर्थ होगा कि परमेश्वर लोक का निर्माण करते हैं, विनाश करते हैं, अनुशासन करते हैं, किन्तु कर्मवाच्य करने से इनका अर्थ होगा कि परमेश्वर गढ़े जाते हैं, नष्ट किए जाते हैं, उपदिष्ट होते हैं । यह अर्थ ईश्वर के सन्दर्भ में ठीक नहीं । इसी प्रकार 'स्तूयते' का कर्मवाच्य में

अर्थ है स्तुत किए जाते हैं, सभी उनकी स्तुति करते हैं, किन्तु उलटा करने पर कर्तृवाच्य में इसी का अर्थ होगा कि 'वह किसी की स्तुति करते हैं। यह अनुचित है।

यहाँ पर यही निर्देश है कि इन धातुओं का वाच्य विशेष में क्या उचित अर्थ सम्भव हो सकता है, वाच्य परिवर्तन करने से उनका जो अर्थ हो सकता है इसका केवल भीतर ही भीतर ज्ञान हो जाता है, शब्दतः उपात्त नहीं। अतः एक अर्थ निकल जाने पर पाषाण में समाई मूर्ति की भांति एक दूसरा ही अर्थ प्रतीत होने लगता है। यह केवल सूक्ष्मता के कारण है। औचित्य तथा अनौचित्य और तद्रूप अर्थ का ज्ञान सूक्ष्मता से ही सम्भव है। सूक्ष्म रूप से अर्थ प्रतीति होने के कारण यहाँ सौक्ष्म्य नामक गुण है।

अन्तरिति। यथा करितुरगादिरूपकाणां पाषाणशिलादावभिव्यक्तमवस्थितौ सूक्ष्मरूपता तथा शब्दानां श्रूयमाणानामपि कथमन्यथा वाक्यार्थभावनदशायां शेषनियमेनोन्मेषः। केवलमित्यादौ सृजति-संहरति-शास्तयो धातवः कर्तर्येव भगवद्विषये प्रयुज्यमानाः प्रत्ययान्प्रयोजयन्ति न कर्मणीति वाक्यार्थो यदा भाव्यते तदैवायं सृजति संहरति शास्ति, न तु सृज्यते संह्रियते शिष्यते इति शब्दाः प्रकाशन्ते। एवं स्तौतिर्विपरीतकारकः। अत्र स्तौतिः कर्मण्येव प्रत्ययप्रयोजको न कर्तरीति वाक्यार्थभावनासमय एवं किंचित्स्तौति किंतु सर्वैः स्तूयत एवेति शब्दा उन्मिषन्ति। तदेतदाह—अत्र श्रुतावगतेति। यावदेव वाक्यं श्रूयमाणमवगम्यते तस्यैव भावनापल्लवः पश्चादवसीयत इति वटबीजन्यायमुपोद्बलयति। सोऽयं सहृदयप्रतीतिसाक्षिकोऽर्थः॥

(१६) गाम्भीर्य गुण

ध्वनिमत्ता तु गाम्भीर्यम्

यथा—

'मौलौ धारय पुण्डरीकममिनं तन्वात्मनो विक्रमं
चक्राङ्कं वह पादयुग्ममवनीं दोष्णा समभ्युद्धर।
लक्ष्मीं भ्रूनिकटे निवेशय भव ज्यायान्दिवौकस्पते-
विश्वान्तःकरणैकचौर तदपि ज्ञातं हरिः खल्वसि॥ ९०॥'

अत्र नाभ्यां पुण्डरीकधारणं परिमितविक्रमत्वं चक्राङ्कितकरत्वं दंष्ट्रया वसुधोद्धारणं वक्षःस्थलनिवेशितलक्ष्मीकत्वमिन्द्रावरजत्वं च ध्वनयतीति गाम्भीर्यम्॥

व्यंग्य अर्थ से युक्त होना गाम्भीर्य है।

जैसे—चाहे तुम कमल (श्वेत छत्र) को मस्तक पर धारण कर लो, अपने पौरुष को चाहे जितना अपरिमित बनाओ, चक्र अथवा चक्र के चिह्न को दोनों चरणों में धारण करो, पृथ्वी को भुजाओं से ही उठाओ, लक्ष्मी को चाहे अपनी भौंहों के पास रखो और इंद्र से भी क्यों न बढ़ जाओ, फिर भी हे सम्पूर्ण जगत् के प्राणियों के अन्तःकरण को चुराने वाले अब पहचान लिए गए हो कि निश्चय ही तुम विष्णु ही हो—हरि ही हो॥ ९०॥

यहाँ नाभि में कमल धारण, सीमित पराक्रम, चक्र से हाथ का अङ्कित होना, (वाराह रूप में) दाढ़ों पर धरती का उद्धार करना, वक्षस्थल पर लक्ष्मी को धारण करना तथा इन्द्र का छोटा भाई होना आदि ध्वनित हो रहा है, अतः यहाँ गाम्भीर्य है।

स्व० भा०—अभिधा व्यापार द्वारा एक अर्थ निकल आने पर संयोग, विप्रयोग आदि के द्वारा एक दूसरा भी अर्थ प्रतीत होता है। कहा गया है कि—

"अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते। संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्" ॥

मम्मट २।१९ ॥

तथा—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

अर्थात् जिन पदार्थों का साहचर्य अथवा विरोध आदि स्वभावसिद्ध है, सहज है, उनका एक अर्थ स्पष्ट रूप से अभिधेय अर्थ निकलने के बाद भी प्राप्त होता है। इस द्वितीय अर्थ का कारण व्यञ्जना शक्ति होती है। जहाँ व्यञ्जना द्वारा अर्थान्तर प्रतीत होता है वहाँ गाम्भीर्य गुण होता है। प्रस्तुत प्रसंग में ही विष्णु की नाभि में कमल, हाथ में चक्र, परिमित रक्षा शक्ति, पृथ्वी का दंष्ट्रा से उद्धार आदि सहज हैं। विपरीत अर्थ, शिर पर धारण आदि 'अभिधा से निकलने के बावजूद भी सहज अर्थ का प्रत्यायन होता ही है। अतः गाम्भीर्य गुण है।

ध्वनिमत्तेति। ध्वननं ध्वनिर्व्यञ्जनात्मा व्यापारः। स द्विविधः—शब्दध्वनिः अर्थध्वनिश्च। येन शब्द एव ध्वन्यते स शब्दध्वनिरभिमत इति केचित्, तन्न। शब्दस्यैव ध्वन्यतानङ्गीकारात्। नाभ्यां पुण्डरीकधारणमित्यादि व्याख्याग्रन्थभङ्गप्रसङ्गाच्च। तस्माच्छब्दाश्रितं ध्वननं शब्दध्वनिरर्थाश्रितं चार्थध्वनिरिति वक्तव्यम्। प्रभूतध्वनिसंबद्धपदकदम्बकस्य गाम्भीर्यम्। अथवा ध्वनयतीति ध्वनिः शब्दात्मको यत्रास्ति पदसमुदायस्तद्गाम्भीर्यम्। तथा हि पुण्डरीकपदप्रस्तावात्सितच्छत्रे नियताभिधानशक्तिकं कांस्यतालानुस्वानस्थानीयां सिताम्भोजव्यक्तिमुपजनयच्चोपलभ्यते। अनेकार्थनियताभिधानशक्तिकत्वाच्च। तदाह—'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते। संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥' इति। एवं विक्रमादिषु। तथापि विक्रमः पौरुषं परिशिष्टः पादविक्षेपश्च। चक्रं चक्रवर्तिचिह्नं रेखासंनिवेशलक्षणमायुधविशेषश्च। अभ्युद्धरणं सम्यग्लाभपालनप्रापणमुत्थापनं च। लक्ष्मीः संपद्देवताविशेषश्च। ज्यायान् प्रशस्यतरो वयोज्येष्ठश्च। इदमेवाभिसंधाय दिवौकस्पतेरित्यन्तं व्याचष्टे—अत्रेति। तदपीत्यपिशब्देन विरोधद्योतिना हरिभावमाचरन्निति प्रतीयते पुण्डरीकधारणादेरुभयतुल्यत्वान्मौलावित्यादिविरुद्धम्, अतस्तद्विपरीतस्थानीयं विष्णौ ध्वनयत्प्रसिद्धिवल्लाभ्यादिकमेव ध्वनयति। प्रसिद्धिरपि हि विशिष्टार्थप्रतिपत्तौ कारणमेवेत्यभिप्रेत्य शब्दध्वनिप्रस्तावेऽप्यन्यद्व्याख्यातवान्। अन्यथा तु प्रकृतासंगतिशङ्कया न वाच्यार्थपुष्टिः स्यात्। सोऽयं विरोधरूपमूलः प्रतीयमानव्यतिरेको वाक्यार्थः शब्दध्वनिश्चात्र जीवभूतः। विश्वान्तःकरणैकचोर इत्यनेन त्रिभुवनमनोहरता। दिवानिशमन्तःकरणानि चोरयन्नभ्यासकौशलादिवात्यन्तप्रसिद्धानि नारायणचिह्नानि गोपायसीति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। ननु वस्तुध्वनिं शब्दशक्तिमूलमेके न मन्यन्ते। कथं तर्हि 'पन्थिअ न एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे। उन्नअपओहरं पेक्खिअ उण जइ वससि ता वससु ॥' इत्यादौ वस्तुवर्णनं? न ह्यत्र श्लेषन्यायो न वा समासोक्तिन्यायः संभवति। किं चालंकारध्वनावपि शब्दशक्तिरेवोपयुक्तेत्यनुगुणः शब्दध्वनिः। ये तु वदन्ति शब्दस्याभिधाव्यतिरिक्ता वृत्तिरेव नास्तीति, लक्षणापि तैरनङ्गीकरणीया स्यात्। न चानङ्गीकर्तव्येति वाच्यम्। "गङ्गायां घोषः" इत्यत्र सप्तम्यनन्वयापत्तेः। प्रकृत्यनुगतस्वार्थाभिधानं हि विभक्तीनां व्युत्पन्नमिति घोषप्रतियोगिकाधिकरणभावयोग्यः कश्चिदर्थो गङ्गापदस्य

वक्तव्यः। तथा च कान्या नाम लक्षणा। एवं पुण्यत्वादिप्रतीतिस्तत एव भवन्ती ध्वननमुपस्थापयतीत्यादिकमस्माभिः काव्यप्रकाशविवरणे प्रपञ्चितम्। इह तु ग्रन्थगौरवभिया विरम्यते॥

(१७) विस्तर गुण

व्यासेनोक्तिस्तु विस्तरः॥ ७३॥

यथा—

'जनः पुण्यैर्यायाज्जलधिजलभावं जलमुच-
स्तथावस्थं चैनं निदधतु शुभैः शुक्तिवदनैः।
ततस्तां श्रेयोभिः परिणतिमसौ विन्दतु यथा
रुचिं तन्वन् पीनस्तनि हृदि तवायं विलुठति॥ ९१॥'

अत्र कथमहं त्वत्कुचतटे विलुठामीत्यभिप्रायस्य विस्तरेण प्रकाशितत्वादयं विस्तरः॥

विस्तृत रूप से (किसी विषय का) प्रतिपादन करना विस्तर गुण है॥ ७३॥

जैसे—(कोई नायक किसी नायिका से कहता है कि) हे विशाल स्तनों वाली, यह जन तो यह चाहता है कि अपने समस्त सत्कर्मों के फलस्वरूप यह सागर का जल बने, उससे मेघ बने और इस मेघावस्था में स्थित यह अतिसुन्दर शुक्तियों के मुखो से पिया जाये। इसके पश्चात् यह उस श्रेयस्कर दशा को प्राप्त हों कि तुम्हारे वक्षस्थल पर कान्ति फैलाता हुआ लोटता रहे॥ ९१॥

यहाँ पर 'मैं कैसे तुम्हारे उरोजों के समीप लुढ़क सकता हूँ' इसी आशय को विस्तारपूर्वक प्रकट करने से विस्तरगुण है।

स्व० भा०—किसी थोड़ी सी बात को बहुत बढ़ाकर कहना विस्तरगुण है। यहाँ विस्तार करते समय भी चमत्कार रहे इसका विशेष ध्यान रखना पड़ता है। चमत्कारविहीन पद्य काव्य की कोटि में नहीं आ सकता। इसी प्रसंग में नायक केवल इतना कहना चाहता है कि वह घड़ी कैसे आ सकेगी जब मैं तुम्हारे वक्षस्थल का आनन्द ले सकूँगा, किन्तु इतनी ही बात को बहुत विस्तार से अत्यन्त चमत्कारपूर्ण ढंग से रख दिया गया है।

व्यासेनेति। यत्र स्तोकेऽपि वाच्ये वचनपल्लवश्चमत्कारकारी तत्र स एव गुणकक्षाधिरोहणक्षम इति शब्दगुणेषु युक्तो विवेक्तुमत एवोक्तिं विशेष्यतया निर्दिशति। जनः पुण्यैरित्यादौ कथमहमित्यादौ निर्दिष्टोऽपि वक्त्राभिप्रायरूपोऽर्थ उक्तिपल्लवेन प्रकर्षमानीयते। तथा हि जन इति तटस्थोक्त्या न ममेदृशानि भागधेयानि येनाहत्य मनो निर्वहति। पुण्यैरिति बहुवचनेनानेकजन्मोपात्तानामेवेदं फलम्। यायादिति संभावनाभिप्रायेण लिङा मुक्ताफलपरिणतियोग्यजलधिजलप्राप्तिसंभावनापि कस्यचिदेव धन्यजन्मन इति प्रकाशिते कोऽपि कारणप्रकर्षः। जलमुच इत्यनेन येषां न जलदानमेव व्यापारः, अपि तु विश्वसंतापच्छिद्गुराणामन्योपकारप्रवणतया शुक्तिमुखपर्यन्तमपि नयनमुपपद्यत इति। तथावस्थमित्यनेन यदैव स्मरावस्था तदैव जलधरैः पानमाशंसामात्रगोचरो न तु पूर्ववत्संभावनामात्रगोचरः, अत एव शुभैरिति समयविलम्बनस्य प्राक्तनपुण्यमानहेतुकत्वादित्यादि स्वयमवसेयम्। एतेन 'पदार्थे वाक्यरचनम्' इति यदन्यैर्गुणान्तरमभिहितं तद्विस्तारमेकमेव। घटनासौष्ठवमात्रोपयुक्तस्तु पल्लवो विशेषगुणेष्वस्माभिरभिधास्यते। त्वत्कुचतटे लुण्ठनमस्य-

ल्पपुण्यस्य न संपद्यत इत्येतावानेवार्थो विवक्षाविषय इति कार्यविकासस्यैव चमत्कारार्पणे प्रागल्भ्यमिति शब्दप्रधानकतया युक्तमत्र परिसंख्यानमिति ॥

(१८) संक्षेपगुण

समासेनाभिधानं यत्स संक्षेप उदाहृतः । ७३ (अ)

यथा—

'स मारुतिसमानीतमहौषधिहृतव्यथः ।
लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥ ९२ ॥

अत्र कथाविस्तरप्रतिपाद्यस्यार्थस्य प्रकृतसंग्रामरसविच्छेदाशङ्कया श्लोकार्धमात्रेणोक्तत्वात्संक्षेपः ॥

अत्यन्त संक्षेप में वर्णन करना संक्षेप कहा गया है । ७३ (अ)

जैसे—हनुमान् जी द्वारा लाई गई महत्वपूर्ण औषधि से वेदनारहित होकर उन्होंने (लक्ष्मण ने) पुनः अपने को बाणों द्वारा लङ्का की स्त्रियों के लिए रोने का उपदेशक बना दिए ॥९२॥

यहां पर कथा में विस्तार से कथनीय विषय को उपस्थित युद्ध के रस की समाप्ति की आशंका से (पूरी कथा को) केवल आधे श्लोक से व्यक्त कर देने के कारण संक्षेपगुण है ।

स्व० भा०—यह भी एक विचित्रता है कि वाक्य को संकुचित कर देने पर ही अर्थ-चमत्कार लाया जा सकता है । शक्ति लगने तथा हनुमान द्वारा ओषधि लाने की कथा जगद्विख्यात है। प्रस्तुत संदर्भ में यदि उपर्युक्त विषय संक्षेप में न कहकर अधिक विस्तृत कर दिया गया होता, तो युद्ध सम्बन्धी चल रहे वर्णन में गतिरोध उत्पन्न हो जाता, अवान्तर विषय को प्रधानता तथा प्रधान विषय को गौणत्व प्रदान करने से रसबोध का तारतम्य विशृङ्खल हो जाता ।

समासेनेति । अस्ति कश्चिद्विशेषो यत्र वाक्यसंकोचः प्रकृतौचितीवशेन चमत्कारकारणम् । तथा हि—स मारुतीत्यादौ मारुतिना यदोषधेरानयनम् , यच्च तया व्यथाहरणम् , तदुभयमपीतिहासकथाविस्तरेण प्रतिपादितमिह तु श्लोकार्धमात्रेणेति शब्ददत्तभर एवायं गुणो यद्यपि भवति, तथापि यावद्विवक्षितोपादानकाव्यरूपेणार्थसंकोचो वक्तव्यः । स च तथाविधवक्रोक्तिसंकोच एव भवतीत्युक्तावेव संकोच उल्लिखति । कथमयं संकोचः प्राप्तोचितभाव इत्याह—प्रकृतेति । अत एवोपक्षिप्तमपीतिहासार्थमपहाय त्वराविष्टेन कविना प्रकृतमुत्तरार्ध एवासंहितं पूर्वोत्तरार्धसामञ्जस्याय संक्षिप्यैव प्रकृतमप्युक्तम् ॥

(१९) संमितत्वगुण

यावदर्थपदत्वं च संमितत्वमुदाहृतम् ॥ ७४ ॥

यथा—

'केचिद्वस्तुनि नो वाचि केचिद्वाचि न वस्तुनि ।
वाचि वस्तुनि चाप्यन्ये नान्ये वाचि न वस्तुनि ॥ ९३ ॥'

अत्रार्थस्य पदानां च तुलाविधृतवत्तुल्यत्वेन संमितत्वम् ॥

जितने अर्थ अपेक्षित हैं, (उनके वाचक) उतने ही पदों का होना संमितत्व कहा गया है ॥ ७४ ॥

जैसे—कुछ केवल अर्थ में ही होते हैं, शब्द में नहीं, और कुछ शब्द में होते हैं, अर्थ में नहीं ।

अन्य शब्द तथा अर्थ (दोनों) में होते हैं, और कुछ तो न शब्द में न अर्थ में ही ॥ ९३ ॥

यहाँ अर्थ तथा पद को तराजू पर रखे हुए (परिमाण तथा वस्तु) की भांति बराबर-बराबर रखने से संमितत्व गुण है।

स्व० भा०—विस्तर में किसी छोटे-मोटे विषय का, अथवा अत्यन्त बड़े वर्ण्य विषय का वर्णन अत्यन्त विस्तार से किया जाता है, संक्षेप में विस्तृत विषय का थोड़े में, किन्तु संमितत्वगुण वहीं होता है जहां वर्णन न तो अधिक शब्दों में ही किया जाता है और न कम में ही। इसमें जितनी बातें कहनी होती हैं, उतने ही शब्द ग्रहण किए जाते हैं। यहीं इसका अन्यों से भेद है।

यावदिति। यावन्ति वर्णानि विना प्रकृतमनुसर्तुमेव न शक्यन्ते तावन्मात्रमयत्वं वाक्यस्य संमितत्वम्। अतः संक्षेपाद् भेदः। कवेः शक्तिव्युत्पत्तिभ्यामसत्यपि पल्लवे कदाचिद्घटनालावण्यसुन्मिपत्येव। यथा पूर्वमुदाहृतम्—'का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा इत्यादि। अर्थव्यक्तिसंकरशङ्काप्यत एव निराकृता। 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इति केचिदुदाहरन्ति तदयुक्तम्। अनेन नामपदयोः पल्लवरूपत्वात्संमितत्वाभावे कथमाभासत्वं भवतीति विस्मृतव्यभिचारिगुणप्रकरणस्य भाषितमुपेक्षणीयम्। केचिदिति सर्वनाम्न एवाभिमतकविविशेषे पर्यवसानं सामर्थ्येन संभवतीति नाध्याहारशङ्का। शक्ता इत्यादिक्रियापि सामर्थ्येनावसीयतं तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह—तुलाविधृतवदिति।

(२०) भाविकगुण

भावतो वाक्यवृत्तिर्या भाविकं तदुदाहृतम्।

यथा—

'एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र
चुम्बामि मूर्धनि चिरं च परिष्वजे त्वाम्।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥ ९४ ॥

अत्र हर्षवशादनौचित्येनापि 'वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयम्' इत्यादीनामुक्तत्वाद् भाविकत्वम् ॥

(विचार के अनुसार नहीं अपितु) भाव के अनुसार वाक्य में जो पदों का प्रयोग होता है, उसे भाविक कहते हैं। (७५ अ)

जैसे—आओ, आओ, बेटा राम, (आओ) पूर्णचन्द्र (की भांति सुख देने वाले), (आओ) मैं तुम्हारा सिर चूम लूं और देर तक तुम्हारा आलिङ्गन करता रहूं। या अपने हृदय पर रख कर दिनरात तुम्हारे दोनों चरणकमलों की वन्दना करता रहूं" ॥ ९४ ॥

यहाँ आत्यन्तिक प्रसन्नता के कारण अनुचित होने पर भी 'वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते' यह कहने पर भाविकत्वगुण हुआ।

स्व० भा०—जब मनुष्य विवेकपूर्वक कार्य करता है तब अनौचित्य नहीं होता और न असंगति ही आती है किन्तु भावविह्वलता की दशा में औचित्यानौचित्य का भाव समाप्त हो जाता है और मनुष्य विचार खो बैठता है। जब इस प्रकार की भावविह्वल अवस्था का चित्रण होता है, वहाँ अनुचित सम्बोधनों तथा कर्मों का हो जाना सम्भव भी है और स्वाभाविक भी। ऐसी

अवस्था में अनौचित्य होने पर भी वहाँ दोष न होकर वस्तुतः भाविक नाम का गुण होता है, क्योंकि भावों के अनुसार शब्दों का ग्रहण न होने पर अभिव्यक्ति तथा स्वाभाविकता दोनों में शैथिल्य आ जाता है। स्वाभाविकता न होने से कृत्रिमता आ जाती है तथा कृत्रिमता के कारण काव्य अपनी आत्मा ही खो बैठता है। प्रस्तुत संदर्भ में ही बड़े द्वारा छोटे के चरण की वन्दना शास्त्रतः अनुचित है, किन्तु भावतः उचित।[1]

भावत इति। भावनादशापन्ना चित्तवृत्तिर्भावः। भावना वासनाव्याप्तिरित्यनर्थान्तरम्। तथा ह्युच्यते—अनेन गन्धेन रसेन वा सर्वं भावितमिति। हर्षादिभावितचेतसो हि वीचिप्राया उक्तिभेदाः प्रादुर्भवन्ति यैरप्रत्यूहमेव भावोऽभिव्यज्यते तदिदमुक्तं या भावतो वाचः काव्यरूपायाः प्रवृत्तिर्निष्पत्तिः सैव भाविकम्। भावप्रधानो निर्देशः। तथा हि—प्रकृतोदाहरणे एहीत्येकेनैव युष्मदर्थाविनाभाविनाभिमुखीकरणे वृत्ते द्वितीयस्य यदुपादानम्, पूर्णचन्द्रेति यदग्रिमक्रियास्वनुपयुक्तस्यैवाभिधानम्, चुम्बामीति करिष्यमाणस्यापि यो वर्तमानोपदेशः, चुम्बामीत्यत्र विशेषणमनुपादाय परिष्वज इत्यत्र चिरमिति यद्विशेषणोपादानम्, त्वमिति योग्यार्थस्यापि प्रयोगः पूर्वोपात्तवदुत्तरक्रियास्पर्धितया यदेकस्यैव वहनस्य भाषणमेव समस्तसमकचतयैव यद्वहनाभिधानम्, वत्सेत्यभिधाय चरणौ वन्द इति या विरुद्धोक्तिः, यच्च ते इत्यस्यावगतार्थस्यापि वचनम्, तत्सर्वनधर्मसिद्धमेवेति भावार्थस्य निष्पादितया स्वादहेतुर्भवति। प्रवर्तन्ते हि लौकिकानां स्नेहार्थानामुत्कलिकाप्राया वाचः स्वदन्ते च। यथा—'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोरसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः' इति। तदेतदभिप्रेत्य व्याचष्टे—अत्रेति। उद्भटत्वात्तेन शेषाण्युपलक्षयति—अनौचित्येनापि वन्द इति॥

(२१) गति नामक गुण

गतिर्नाम क्रमो यः स्यादिहारोहावरोहयोः ॥ ७५ ॥

यथा—

'वराहः कल्याणं वितरतु स वो यस्य शशभृत्-
कलाकोटीकान्तं क्रमविगलदभ्युद्धृतंभिया।
मिथः संमूर्च्छद्भिश्चतुरुदधिकल्लोलपटलै-
रनामृष्टं दंष्ट्राशिखरमधिशेते वसुमती ॥ ९५ ॥

अत्र पूर्वार्धे स्वरस्यारोहादुत्तरार्धे चावरोहाद्गतिः ॥

(छन्द में स्वरों के) आरोह तथा अवरोह का जो क्रम होता है उसका गति नाम है ॥ ७५॥

जैसे—वह आदि वाराह देव आपमें कल्याण वितरण करें जिनकी चन्द्रकला के किनारे की भांति कमनीय तथा चारों महासिन्धुओं की हिलोर ले रही तरङ्ग से अक्षत दाढ के अग्रभाग पर पदनिक्षेपों के कारण उद्धार से च्युत हो जाने की आशंका के साथ पृथ्वी अवस्थित है ॥ ९५॥

यहाँ पूर्वार्ध में स्वर के आरोह के कारण तथा उत्तरार्ध में अवरोह के कारण गति गुण है।

स्व० भा०—किसी छन्द में जब ऐसी रीति से स्वरों का प्रयोग किया जाता है कि आरोह और अवरोह का क्रम स्पष्ट लक्षित हो जाये तब वहां गति नामक गुण होता है। वृत्तिभाग से यह

१. महावीरचरितम् (१.५५) में धनुर्भङ्ग कर लेने पर राम के प्रति जनक की उक्ति है।

और भी स्पष्ट है कि यहां यतियों का आरोह-अवरोह अपेक्षित नहीं। आरोह और अवरोह सामान्यतः भी स्वरों के ही कारण होते हैं, यति आदि के कारण नहीं। आरोह तथा अवरोह का क्रम श्लोकार्ध, श्लोकपाद तथा श्लोकांश सब में सम्भव है। यहाँ पर पूर्वार्ध में आरोह तथा उत्तरार्ध में अवरोह है।

प्रस्तुत छन्द में 'वराहः' तथा कल्याण' में दो दीर्घ 'आकारों' का प्रयोग करने के बाद 'वो' के ओकार द्वारा ऊंचाई बढ़ा दी गई है और द्वितीय चरण में 'कलाकोटीकान्तम्' में विभिन्न स्वरों द्वारा भी आरोह का क्रम ऊपर ही उठाया गया है। उत्तरार्ध में यह क्रम दृष्टिगोचर नहीं होता, अतः गति नामक गुण है।

वामन ने (३।१।१२) 'आरोहावरोहक्रमः समाधिः' कहा है। इसी प्रसङ्ग में आगे उन्होंने आरोह-अवरोह को ओज और प्रसाद से भिन्न सिद्ध करते हुए इनको समाधि का आधार स्वीकार किया है—'आरोहावरोहनिमित्तं समाधिराख्यायते' (३।१।१८।)

गतिरिति। केचिद् व्याचक्षते। यतीनामारोहावरोहौ विवक्षितौ क्वचित्कविशक्तिवशाद्यद्वद्यारूढा अवरूढा इव प्रकाशन्ते। यथा—'भुवो नीचैर्नीचैरवटपरिपाटीपु पततां स्फुरत्यर्वागर्वागखिलभुवने भोगितिलकः। क्रमादुच्चैरुच्चैर्गिरिशिखरभाजामपि नृणामयं दूरे दूरे भवति भगवानम्बरमणिः॥' अत्र यती नानारोहावरोहौ तिलतन्दुलवत्प्रकाशेते। इयं तु वृत्तौचिती वक्ष्यते। तथा च द्वितीये संगता स्यात्। तस्मादयमर्थः—स्वराणामकारादीनामुपर्युपरितया बोधः संनिकृष्टानामिव प्रकाशनं गतिरिति। तथा च व्याख्यास्यति—स्वरस्येति। तथा हि प्रकृतोदाहरणे वराहः कल्याणमित्यत्राकारद्वयं तुल्यजातीयं निर्दिश्य स वो इत्यत्रौकारेण तुङ्गत्वमिव विधाय द्वितीयपादोपक्रमे कलाकोटीकान्तमित्यत्राभिन्नजातीयारोहपरम्परा विहिता। उत्तरार्धे तु तथा नास्ति। शेते इत्यत्रापि न सोल्लेख आरोहः सोऽयमानुभविको गुणः श्लोकार्धश्लोकपादश्लोकांशक्रमेण नरसिंहवद्भवति। अत्रोपलक्षणतयाद्यमुदाहरति—यत्र पूर्वार्धं इति। क्रमैरितस्ततश्चरणविन्यासैर्विगलन्ती असंपद्यमाना याभ्युद्धृतिरभ्युद्धरणं तस्या या भीर्भयं तयेति केचित्। अन्ये तुव दन्ति—क्रमेण विगलदभ्युद्धृतिभयमूर्ध्वनयने स्फुटनादिभयं यस्याः सा क्रमविगलदभ्युद्धृतिभियेति ॥

(२२) रीतिगुण

उपक्रमस्य निर्वाहो रीतिरित्यभिधीयते।

यथा—

'ग्रावणा नासि गिरेः क्षता न पयसा नार्तासि न म्लायिता
 न श्वासैः फणिनोऽसि न त्वदनुगा नायासिता कापि न।
स्वं वेश्म प्रतिगच्छतोरिति मुहुः श्रीशाङ्गिणोः सस्पृहं
 सा प्रश्नोत्तरयुग्मपङ्क्तिरुभयोरत्यायता पातु वः॥ ९६॥'

अत्र प्रत्येकपदानन्तरं नञो विनिवेशात्क्रमाभेदो रीतिः॥

किसी प्रकार के स्वीकृत ढंग को आदि से अन्त तक बनाये रह जाना रीतिगुण कहा गया है।

जैसे—"पर्वत के पत्थरों से चोट तो नहीं आई?" "नहीं", "जल से तुम्हें कष्ट तो नहीं हुआ?" "नहीं", "सांप के सांसों से कुम्हलाई तो नहीं?" "नहीं", "कहीं तुम्हारे सेवकों को दुःख तो नहीं हुआ?" "नहीं", इस प्रकार से अपने-अपने घर की ओर जा रहे श्री तथा विष्णु

दोनों की बड़ी उत्कण्ठा से होने वाली बड़ी लम्बी-चौड़ी प्रश्न तथा उत्तर दोनों की पंक्तियां आप लोगों की रक्षा करें।" ॥ ९६ ॥

यहां प्रत्येक पद के पश्चात् नञ् (नकार रूप निषेध) को रखने के क्रम का खण्डन न होने से रीतिगुण है।

स्व० भा०—प्रस्तुत छन्द में नकार ग्रहण का उपक्रम प्रारम्भ किया गया। यदि आदि से अन्त तक सन्दर्भ में यह क्रम न निभा होता तो दोष हो जाता और निभ जाने से गुण हो गया। यहां 'पद' का अभिप्राय उतने वाक्यखण्ड से है जितने में कोई अपेक्षित अर्थ निकल जाये, अन्यथा तो 'असि', गिरेः, श्वासैः, आदि पदों के बाद भी 'नञ्' आना ही चाहिए।

उपक्रमस्येति। यादृशी पदसंनिवेशत्वेनोपक्रम्यते तादृश्या वृत्तनिर्वाहः क्वचिद्विशेषशोभावहो भवति। अत एवात्र नात्यन्तनिर्वाहोऽभिमतः। एकादशवृत्तेरप्यभिप्रायसमग्रकाव्यजीवभूतत्वादेतस्या एव नातिप्रसङ्गोऽपि तथा प्रकृतोदाहरणे प्रथमोत्थिताया अब्धिदुहितुरव्याजसर्वाङ्गीणलावण्यमवलोकयिता कृष्णः स्वचक्षुषोः कृतार्थतां गमितवान्। इदानीमधरोष्ठमुद्राभेदेन यदि वर्णमात्रामपि भारतीं निश्चरन्तीमाकर्णयामि तदा श्रोत्रयोः सफलता भवेदिति मन्यते। न चेत्थमेव मुग्धाङ्गनानामालापः प्रवर्तते अपि तु नायकसन्निधौ भयादेवेति प्रथमं पृच्छति—प्राप्ता नासि गिरेः क्षतेति। अनन्तरं च यदि न वक्ष्यामि तदा धृष्टामाकलयिष्यतीति जानत्या द्वयमुत्तरमौचित्यापन्नं स्यात् शिरःकम्प एकाक्षरं च। तत्राद्यः कालिदासेन प्रयुक्तो 'मूर्धकम्पमयमुत्तरं ददौ' इति। द्वितीयं कविना विनिवेशितम्—नेति। एवं श्रुतजल्पितामृतस्तदनुबन्धेन कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यमानोऽधिकत्रासहेतुं स्मारयन्पृच्छति—पयसेति। तदिदमुक्तम्—आर्तेति। प्रकारान्तरेणोत्तरदानासंभवात्पुनरप्याह—नेति। तदनन्तरं व्याजरसायाः कियदधिकवचनश्रवणोत्कण्ठितः सर्वं लोकप्रसिद्धं भयहेतुं स्मारयन्पृच्छति—ग्लायितेति। अभिमतस्यानिष्टं स्वप्नेऽपि न सजत इति दृष्टासीति नोक्तम्। एवं प्रसिद्धमपि वचनपल्लवेन समस्तमुग्धाङ्गनाप्रसिद्धेन वचनोन्मुद्रणप्रकारेण पृच्छति—त्वदनुगेति। सर्वाकारेणोत्तमतामभिज्ञायमानो दृप्तः स्ववेश्म प्रत्येव गतवान् न तु पृष्टवानिति। तदिदं सर्वमभिप्रेत्य व्याचष्टे—अत्रेति॥

(२३) उक्तिगुण

विशिष्टा भणितिर्या स्यादुक्तिं तां कवयो विदुः ॥ ७६ ॥

यथा—

'कुशलं तस्या जीवति कुशलं पृच्छामि जीवतीत्युक्तम्।
पुनरपि तदेव कथयसि मृतां नु कथयामि या श्वसिति ॥ ९७ ॥'

अत्र कुशलं तस्या इति पृष्टे कुशलमकुशलं वेति वक्तव्ये योऽयं जीवतीत्याद्युक्तिभङ्ग्या जीवितमात्रशेषताप्रतिपादनप्रकारः स काव्ये शब्दगुणेषूक्तिसंज्ञां लभते॥

जो कोई विशेष प्रकार का (अलोकसामान्य) कथन होता है उसे कवियों ने 'उक्ति' जाना है॥ ७६ ॥

जैसे—"(कहो भाई) वह सकुशल तो है ?" "(हां) जी रही है", "(अरे) मैं कुशल पूछ रहा हूँ" "(हां, हां) कहा तो कि जी रही है" "फिर तुम वही कह रहे हो ?" "हां, मैं उस मरी हुई के विषय में कह रहा हूँ जो केवल सांस ले रही है"॥ ९७ ॥

यहां "कहो उसका कुशल तो है ?" ऐसा पूछने पर कुशल है अथवा नहीं है यही कहना चाहिये था, किन्तु 'जीवित है' आदि शब्दों द्वारा घुमाकर उसके केवल जीवितभर रहने की बात कहने का जो ढंग है, वही काव्य के शब्द गुणों में उक्ति नाम से ख्यात है।

स्व० भा०—कवि अपनी प्रतिभा द्वारा सामान्य विषय का भी अलौकिक रूप प्रस्तुत करता है। वस्तुतः यह तो कवि की प्रतिभा ही है जो किसी कवि के काव्य में चमत्कार उत्पन्न करती है, अन्यथा एक ही सामान्य विषय का विभिन्न कवियों द्वारा विविध वर्णन सम्भव न होता। भामह के शब्दों में—

काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः ॥ १.५ ॥

यहां प्रश्न पूछने पर यही उत्तर पर्याप्त था कि "हां, वह सकुशल है' अथवा 'वह सकुशल नहीं है" किन्तु इतना घुमाकर उत्तर देने से विशेष चमत्कार आ गया है।

विशिष्टेति। लोकोत्तराः सन्ति हि भणितिप्रकारा लोकप्रसिद्धाः। यथा सुप्तोऽसीति प्रश्ने गृहे देवकुले वेत्यादि। एतत्प्रसिद्धिव्यतिक्रमेण तु या काचित्कविप्रतिभया भणितिराकृष्यते सा भवति लोकोत्तरा। तथा च प्रतिभाकृष्टतया चमत्कारित्वाद् गुणत्वम्। अत एव कवय इत्याह। कविसहृदयानामेव तादृशोक्तिपरिचयसंभवात्। तथा हि—प्रकृतोदाहरणे कुशल-प्रश्ने कुशलं वेति लोकप्रसिद्धमतस्तदेव वक्तुमर्हति। यत्तु तदपहाय जीवतीत्युपात्त-मपरत्रापि प्रश्ने तथैवोक्तं तत्प्रतिभाकृष्टतया साभिप्रायमुन्नीयत इत्याह—अत्र कुशलमकु-शलमित्यादि ॥

(२४) प्रौढिगुण

संप्रति प्रकर्षकाष्ठालक्षणं वाक्यस्य गुणं लक्षयति—

उक्तेः प्रौढः परीपाकः प्रोच्यते प्रौढिसंज्ञया।

यथा—

'अभ्युद्धृता वसुमती दलितं रिपूरः
क्षिप्तक्रमं कवलिता बलिराजलक्ष्मीः।
अत्रैकजन्मनि कृतं यदनेन यूना
जन्मत्रये तदकरोत्पुरुषः पुराणः ॥ ९८ ॥'

अत्र प्रकृतिस्थकोमलकठोरेभ्यो नागरोपनागरग्राम्येभ्यो वा पदेभ्योऽभ्यु-द्धृतादीनां ग्राम्यादीनामुभयेषां वा पदानामावापोद्वापाभ्यां सन्निवेशचारुत्वेन योऽश्रमाभ्यासिको नालिकेरपाको मृद्वीकापाक इत्यादिर्वाक्यपरिपाकः सा प्रौढि-रित्युच्यते। तथा चैतद्वाक्यं नालिकेरपाक इत्युच्यते। एवं सहकारमृद्वीकापाके अप्युदाहरणीये इति ॥

वाक्य की गम्भीर परिपक्वता प्रौढि नाम से अभिहित की जाती है। (७७ अ)

जैसे—धरती का उद्धार किया, शत्रुओं का वक्षस्थल तोड़ा, कदम रखते ही बलि की राज-समृद्धि को ग्रास बना लिया। (इस प्रकार) इस तरुण राजा ने एक ही जन्म में इन (तीनों) कामों को पूर्ण कर लिया जिसे पुरातन पुरुष विष्णु ने (क्रमशः वराह, नृसिंह तथा वामन इन) तीनों जन्मों (अवतारों) में पूर्ण किया था ॥ ९८ ॥

यहां पर प्रकृतिस्थ, कोमल तथा कठोर अथवा नागर, उपनागर और ग्राम्य पदों का, अथवा

अभ्युद्धृत आदि ग्राम्य पदों का अथवा) शेष (दोनों पदों के ही सन्निवेश अथवा ग्रहण तथा परित्याग द्वारा वाक्यरचना में सौन्दर्य लाकर अभ्यास से सम्पन्न होने वाला जो यह 'नारिकेलपाक' 'मृद्वीकापाक' आदि वाक्यों की परिपकता है वही प्रौढि कही जाती है। जैसे कि इसी वाक्य में नारिकेलपाक कहा जाता है। इसी प्रकार सहकारपाक और मृद्वीकापाक का भी उदाहरण दिया जा सकता है।

स्व० भा०—काव्यरचना में प्रौढ़ता कवि को सफल बनाती है। जब कवि अत्यन्त पटु हो जाता है फिर उसमें ऐसी क्षमता आ जाती है कि वह जो कोई भी पद रखता है, अत्युचित ही होता है, अनुचित समझकर बाद में हटाने की दशा नहीं आती। यह सक्षमता ही पाक, प्रौढि, प्रौढता, अभ्यास की पूर्णता आदि कही जाती है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा के पञ्चम अध्याय में सिद्धान्त वाक्य उद्धृत किया है—

अवापोद्धरणे तावद् यावद्दोलायते मनः। पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥

यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुतां। तं शब्दन्यायनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥

भोज द्वारा प्रयुक्त आभ्यासिक पद का अर्थ राजशेखर के शब्दों में—'सततम् अभ्यासवशतः सुकवेः वाक्यं पाकमायाति।" है अन्ततः वह पाक के विषय में अपना मत व्यक्त करते हैं— रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धनः पाकः। यदाह—

गुणालङ्काररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः। स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति।"

भोज ने भी सरस्वतीकण्ठाभरण के पञ्चम परिच्छेद में ४४२ वें छन्द से पाकों का लक्षण और उदाहरण प्रारम्भ किया है। शेष के लक्षण वहीं देखने चाहिए।

उक्तेरिति। उक्तेर्वाक्यस्यायं पाकः सा प्रौढिः। शब्दानां पर्यायपरिवर्तासहत्वं पाकः। यदाह—'यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्। तं शब्दन्यायनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥' इति प्रौढ इति। उपक्रमोपसंहारयोर्निर्व्यूढः स चायं नायं नालिकेरसहकारमृद्वीकोपलक्षणैस्त्रिविधो गीयते। तद्यथा—नालिकेरफलं पक्वं त्वचि कठिनं शिरास्वविवृतकोमलप्रायं कपालिकायां कठिनतरं तथा कश्चित्संदर्भो मुखे कठिनस्तदनन्तरं मृदुप्रायस्ततः कठिनतरो नालिकेरपाक इत्युच्यते। तथा हि—प्रकृतोदाहरणे प्रथमपादेऽभ्युद्धृतेति वर्णचतुष्टयमारम्भे कठिनं 'वसुमती दलि' इति वर्णषट्कं कोमलं 'तं रिपूरः' इत्यनुस्वाररेफदीर्घस्वरचतुष्टयं कठिनतरम्। अत्रापि तमिति मृदुप्रायनिवेशनेन कोमलकपालिकामुखभागसारूप्यं द्रढयतीत्यस्मदाराध्याः। एवं द्वितीयादिपादत्रये चतुष्कषट्कचतुष्कैर्नालिकेरफलसाम्यमुन्नेयम्। कथं पुनरेवंविधः पाकः संभवतीत्यत आह—अत्रेति। अभ्यासेन निर्वृत्त आभ्यासिकः। काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरभ्यासः। असावपि कथं पाकविशेषो भवतीत्यत आह—सन्निवेशचारुत्वेनेति। सन्निवेशो रचना तस्यां चारुत्वम्। तदपि कथमित्यत आह—आवापोद्धापाभ्यामिति। संदर्भानुप्रवेशनमावापः। ततः समुद्धरणमुद्धापः। केषामित्यत उक्तम्—पदानामिति। उद्धृतानामिति बुद्ध्या पृथक्कृतानाम्। केभ्य इत्यत उक्तम्-प्रकृतिस्थादित्यादि। तेनायमर्थः—प्रकृतिस्थादिपदतोऽप्येतदेवोद्धर्तव्यं यद् घटनासौष्ठवेन पर्यायपरिवर्तनं न सहते। भवति हि सहृदयानामेवमन्यत्पदं नास्तीति व्यवहारः। सोऽयं रचनासिद्धिविशेषः कथमन्यथा तज्जातीयमेव पदमन्यत्र संदर्भे निवेशितं न तथा स्वदते। अत एवासौ वाक्यगुणः। काठिन्यं च संयोगैर्दीर्घैर्वा स्वरैर्भवति। यथात्रैवोदाहरणे रिपूर इत्यादौ। सुसिद्धव्युत्पत्तिलक्षणस्तु वार्ताकपाकः कैश्चिदुक्तः, स तु सुशब्दतालक्षणगुण एव। एवमिति। यथा

द्राक्षाफलं त्वच आरभ्य कोमलमन्तरा द्वित्रिचतुरास्थिसंपादितं किंचित्काठिन्यमेवं कश्चित्संदर्भसुपक्रमोपसंहारयोः कोमल एव मध्ये कठिन एव। संयोगदीर्घस्वरमात्रकृतमनाक्कठोरभावो मृद्वीका पाक इत्युच्यते। यथा—'अयि त्वदावर्जितवारिसंभृतं प्रवालमासामनुबन्धिवीरुधाम्। चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते तुलां यदारोहति दन्तवाससा॥', यथा च—'अनवरतनयनजललवनिपतनपरिपीतहरिणमदतिलकम्। वदनमपमातमृगमदशशिकिरणं वहन्ति लोलदृशः॥' अत एव कविकल्पलताकारादिभिरुक्तो नीलकपित्थपाकश्चतुर्थो नास्ति। यच्च परिणतं सहकारफलमारम्भादेव कोमलमस्थनि तु कठोरप्रायमेवमपरः संदर्भो मुखादारभ्य मृदुरन्तरे कठिनतरः सहकारपाक इत्युच्यते। यथा—'कमलिनि कुशलं ते सुप्रभातं रथाङ्गाः कुमुदिनि पुनरिन्दावुद्गते त्वं रमेथाः। सखि रजनि मतासि त्वं तमो जीर्णमुच्चैरिति तरलितपक्षाः पक्षिणो व्याहरन्ति॥' अत्रैवोदाहरणेऽपि द्विधा कठोरत्वमवसेयम्। तेऽमी त्रय एव शुद्धपाकाः। व्यतिकरजन्मानस्तु भूयांसः। एत एवार्थपाकाः पञ्चमे प्रकारान्तरेण प्रतिपादयिष्यन्ते॥

अर्थगुण तथा (१) अर्थश्लेप

सूत्रकार एवार्थगुणप्रकरणे संगतिं करोति—

उक्ताः शब्दगुणा वाक्ये चतुर्विंशतिरित्यमी ॥ ७७ ॥
अथैतानेव वाक्यार्थगुणत्वेन प्रचक्ष्महे।
तेषां श्लेष इति प्रोक्तः संविधाने सुसूत्रता ॥ ७८ ॥

यथा—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति॥ ९९ ॥

अत्रैकासनसंस्थितयोः प्रियतमयोर्विलासिना छेका नयनमीलनकेलिकर्मणा वञ्चिता। अन्या तु वदनचुम्बनेन रञ्जितेति। सेयं संविधाने सुसूत्रता। श्लेषो नाम वाक्यार्थगुणः॥

वाक्य में होने वाले ये चौवीस शब्द के गुण कह दिए गए। अब इनको ही वाक्य के अर्थ के गुणों के रूप में कहेंगे। इनमें से श्लेप (अर्थश्लेप) वहां होता है जहां पर किसी कार्य के सम्पादन में सुन्दर योजना निरूपित होती है॥ ७७–७८॥

जैसे—एक धूर्त नायक एक ही आसन पर अपनी दोनों प्रियतमाओं को बैठी देखकर चुपके से पीछे पहुँचता है और प्रिय खेल (आंखमिचौनी) के कृत्यों के बहाने वह एक की दोनों आंखों को मूँदकर केवल गर्दन को ही किञ्चिन्मात्र घुमाकर, रोमाञ्चित होकर प्रेमानन्द से खिली हुई मन वाली तथा भीतर ही भीतर हँसने से सुन्दर लग रहे गालों वाली दूसरी का चुम्बन करता है॥ ९९॥

यहां एक ही आसन पर बैठी हुई दोनों प्रेयसियों में से लम्पट के द्वारा एक तो आँखमिचौनी के प्रेमभरे कृत्यों द्वारा ठग ली गई और दूसरी मुखचुम्बन के द्वारा प्रसन्न की गई। यही है कार्य के सम्पादन में सुबद्धता। श्लेप यहां वाक्यार्थ का गुण है।

स्व० भा०—कामी पुरुष अपनी उपस्थित सेदोनों प्रेमिकाओं में से किसी को भी विना अप्रसन्न किए प्रणयप्रसार करने का इच्छुक था। सामान्यतः यह असम्भव था, क्योंकि दोनों की उपस्थिति में न तो दोनों से प्रेम किया जा सकता है और न एक से ही। दोनों से एक साथ प्रेम सम्भव नहीं और दोनों के उपस्थित होने पर एक से ही प्रेम करने का अर्थ दूसरे से द्रोह ही है। यह काम यहां बड़ी चतुराई से सम्पन्न हो गया। जिसकी आंख मूँदी गई उसने समझा कि मेरे साथ केलिकौतूहल है और दूसरी ने तो चुम्बन का सुख ही लूटा। आंख मूँद देने से धूर्तता प्रकट नहीं हो पाई। अतः कार्य विधान का समुचित नियोजन होने से यहां श्लेषगुण है।

भोज भी, वामन की भांति, श्लेषादि ही २४ गुणों को अर्थाश्रित भी मानते हैं। नाम एक होने पर भी शब्द तथा अर्थरूप आश्रयभेद होने से दोनों में भेद होता है। वामन ने जिन दस गुणों को शब्दगत माना है उन्हीं को अर्थगत भी। कण्ठाभरणकार पृथक् से शब्दगुण या अर्थ गुण न मानकर वाक्यपदगुण तथा वाक्यार्थ गुण मानते हैं। वाक्य से बाहर के पदों अथवा अर्थों को मान्यता नहीं देते। वास्तव में विना वाक्य में आये पद अपना क्या अर्थ प्रकट करेगा और क्या उसकी स्थिति ही होगी। वामन ने भी अर्थश्लेष के उदाहरण के रूप में अमरुक का यही छन्द उद्धृत किया है। (३।२।४)

उक्ता इति। वृत्तकीर्तनं हेतुभावप्रदर्शनार्थम्। एतानेव श्लेषादिनामकानिति। एषामिति निर्धारणे षष्ठी। 'वाक्यार्थशरीरभूतः श्लेषः प्रथमं लक्ष्यत इति। 'घटनाश्लेषः' इति सूत्रयित्वा 'क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तियोगो घटना' इति वामनेन व्याख्यातम्। अस्यार्थः—इदं कृत्वा इदं कर्तव्यमिति क्रमस्तत्रैव कौटिल्यं लोकातिगामिनीवक्रता। अवक्रयोः शब्दार्थयोः वचनमात्रत्वात्। अतिमात्रतया प्रतिभासाभावोऽनुल्वणत्वम्। कथमेवमर्थः संगच्छत इत्यनुपपत्तिसमाधानौपयिकविशेषनिवेशनमुपपत्तिः। तथा च क्रमेण कौटिल्येनानुल्वणतया उपपत्त्या योजनमर्थस्य श्लेष इति तत्र संविधानक्रमानुल्वणत्वेन सूत्रशब्देनोपात्ते स्वपदेन कौटिल्यमुक्तमघटमानस्येव वाक्यार्थस्य बुद्धिचातुर्येण घटनेति वाक्यार्थः। दृष्ट्वेति। एका नायिका। अपरा नायिका च तत्सखी प्रच्छन्ननायकप्रेमपात्रं तेनैकासनसंगतिः। प्रियतमे इति तदनुरञ्जनमेव जीवितसर्वस्वमिति मन्यमानस्य युगपत्प्रवृत्तिः। आदरेण निभृतपदन्यासता तथा भूत्वा युगपत्कराभ्यां नयनद्वयपिधानं लोकप्रसिद्धा केलिः। ईषदिति कन्धरामात्रं यथा चलते न तु शरीरमपि। अन्यथा चलनज्ञाने नायिकायाः कषायभावः स्यात्। निभृतरागोन्मुद्रणात् पुलकोद्गमः। अत एव प्रेम्णा स्वगोचरलोकोत्तरत्वाभिमानरूपेण तत्तदनेकभावोर्मिभिरान्दोलनं मनस उल्लासः। साधुवचनं न जानातीत्यभिप्रायिकसपत्नीगतधिक्कारभावनया निभृतहासोन्मेषः। वञ्चनाचातुर्येण स्वमनीषितसम्पादनं धूर्तता। तदेतद् व्याचष्टे—अत्रैकासनेति॥

(२) अर्थप्रसाद गुण

यत्तु प्राकट्यमर्थस्य प्रसादः सोऽभिधीयते।

यथा—

अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीना-
मुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम्।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन्
कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि॥ १००॥'

अत्र पद्मिनीविकासकरणे उदग्शैलावतरणे कोकशोकहरणे तमोविदारणे चानुक्तोऽपि सूर्यलक्षणोऽर्थः प्रकटमुपलक्ष्यते ॥

(बिना शब्दतः कहे हुये भी) जो अर्थ का स्पष्ट प्रकट हो जाना है, वही प्रसाद कहा जाता है। (७९ अ)

जैसे—(देखिये) कमलिनियों का संकोच दूर करने वाला, उदयाचल के वनसमूह में विद्यमान बाल कल्पवृक्ष का सुमन, वियोगी चक्रवाक-मिथुनों का हितैषी, क्रुद्ध बन्दर के कपोलक्रोड की भांति लाल-लाल, अन्धकार को छिन्न-भिन्न करता हुआ यह (सूर्य) उदित हो रहा है ॥१००॥

यहाँ कमलिनियों को प्रफुल्लित करने, उदयाचल पर उतरने, चक्रवाकों का शोक हरने, अन्धकार को मिटाने आदि कर्मों से बिना कहे भी सूर्य के लक्षण वाला अर्थ स्पष्ट रूप से लक्षित हो जाता है।

स्व० भा०—वामन ने भी 'अर्थवैमल्यं प्रसादः' (३।२।३) कहा है। अर्थ की विमलता का अभिप्राय ही है अर्थ का अव्यवधानेन प्रकट हो जाना। कथनीय वस्तु का शब्दशः उल्लेख न करके भी इस ढंग में वाक्य योजना कर देना कि अभीष्ट स्वतः उससे प्रकट हो जाये, प्रसाद गुण है। उपस्थित श्लोक में ही शब्दशः सूर्य शब्द उपात्त नहीं है, किन्तु ऐसे-ऐसे विशेषण रखे गये हैं, कि सूर्यरूप अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

यत्तु प्राकट्यमिति। समभिव्याहृतपदार्थसंसर्गात्मनि वाक्यार्थे दर्पणतल इवानुपात्तस्यापि विवक्षितस्य वस्तुनः प्रतिभासोऽर्थप्रसादः। न चेदमनुमानं समानसंवित्संवेद्यत्वात्। तदाह—अनुक्तोऽपि सूर्यलक्षणोऽर्थः प्रकटमुपलक्ष्यत इति ॥

(३) समत्वगुण

अवैषम्यं क्रमवतां समत्वमिति कीर्तितम् ॥ ७९ ॥

यथा—

'अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयो-
र्बालाशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति।
ईषद्बद्धरजःकणाग्रकपिशा चूते नवा मञ्जरी
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीः स्थिता ॥ १०१ ॥'

अत्र मधुश्रियां मौग्ध्यत्यागयौवनारम्भकृतानां विशेषणानामवैषम्यात्समता ॥

क्रमशः वर्ण्यमान विषयों में क्रमबद्धता का भङ्ग न होना समत्व कहा गया है ॥ ७९ ॥

जैसे—(राजा कहता है कि) हे मित्र (देखो तो) सामने ही कान्ता के नख की भांति लाल-लाल तथा दोनों भागों के बीच में श्यामल वृन्तों वाला कुरबक स्थित है, यह लाली ग्रहण करने के कारण सुन्दर लग रहा नवीन अशोक बस फूल ही उठने वाला है। आम्रवृक्ष में भी आई हुई नयी मञ्जरी कुछ-कुछ आ गये परागकणों के अग्रभाग पर छा जाने से कपिशवर्ण की हो उठी है। इससे तो ऐसा लगता है कि वसन्तलक्ष्मी ही मानो मुग्धता तथा युवा अवस्थाओं के बीच खड़ी हुई हो ॥ १०१ ॥

यहाँ मधुश्री को मुग्धात्व भाव छोड़ने तथा यौवनारम्भ की प्राप्ति को बताने वाले विशेषणों में अवैषम्य न होने से—उनके यथाक्रम ही आने से—समता नामक गुण है।

स्व० भा०—यहाँ मुग्धता का भाव छोड़कर यौवन की ओर बढ़ रही मधुलक्ष्मी का निरूपण प्रारम्भ से अन्त तक इसी क्रम से किया गया है। अतः जिस क्रम से लोक में जो कार्य होता है, उसका उसी क्रम में चामत्कारिक वर्णन होने से यहाँ समता नामक अर्थगुण है। कुरवक में प्रथम लाली और बाद में श्यामता आती है। अशोक पहले अपनी लाल-लाल पत्तियों से लद उठता है, फिर फूलता है, आम्रमञ्जरी में पराग धीरे-धीरे प्राचुर्य ग्रहण करता है। इस प्रकार सर्वत्र क्रमशः विकासशील क्रम वर्णित है। यह क्रम किसी सुन्दरी के मुग्धात्व भाव को छोड़कर यौवन की ओर बढ़ने की भांति है। सर्वत्र इसी क्रम का निर्वाह यहाँ दर्शनीय है।

वामन की परिभाषा 'अवैषम्यं समता (३.२.५) के काफी निकट है भोज का लक्षण।

अवैषम्यमिति। येन रूपेण लोकेऽर्थः प्रतीतस्तदनतिक्रमेण तस्योक्तिः समता। वक्रता चात्र विशेषणमूहनीयम्। अन्यथा भुक्त्वा व्रजतीत्यतः को विशेषः स्यात्। अग्रे इति। मुग्ध इति कोपात्प्रथममुद्भिद्यमाना कुरवककलिका कान्तानखव्रतपाटला भवतीति मधुश्रियो बाल्यम्। ततः प्रौढिमापद्यमानासु कलिकासु श्यामो वृन्तभागः स्फुटितत्वाद् द्विधावतिष्ठत इति यौवनम्। एवं बालाशोकमित्यादौ क्रमेण बाल्ययौवनचिह्नोपदर्शनमवसेयम्॥

(४) माधुर्य गुण

माधुर्यमुक्तमाचार्यैः क्रोधादावप्यतीव्रता।

यथा—

'भ्रूभेदे सहसोद्गतेऽपि वदनं नीतं परां नम्रता-
मीषन्मां प्रति भेदकारि हसितं नोक्तं वचो निष्ठुरम्।
अन्तर्बाष्पजडीकृतं प्रभुतया चक्षुर्न विस्फारितं
कोपश्च प्रकटीकृतो दयितया मुक्तश्च नो प्रश्रयः॥ १०२॥'

अत्र वासवदत्तालक्षणस्यार्थस्य कोपेऽपि योऽयं विनयावलम्बेन कोपचिह्न-निह्नवस्तन्माधुर्यम्॥

क्रोध आदि के वर्णन में भी तीव्रता का न होना आचार्यों द्वारा माधुर्य कहा गया है॥८०॥

जैसे—(राजा वासवदत्ता के विषय में कहता है कि) क्रोध के कारण भौंहों के एकाएक तिरछी हो जाने पर भी उसने अपना मुख अत्यन्त नम्र कर दिया। मुझ पर वह भेदभरी रीति से थोड़ा सा हँसी तो जरूर, किन्तु कोई कर्कश बात नहीं कही, भीतर ही भीतर नेत्र तो जड़ हो गये, किन्तु अपनी सामर्थ्य से नेत्रों को (वश में ही रखा) आंखें फाड़कर देखा नहीं, इस भांति मेरी प्रेयसी ने मुझ पर क्रोध भी प्रकट किया और हमारे लिए एक आसरा भी छोड़ रखा॥१०२॥

यहाँ वासवदत्ता विषयक वर्णन में क्रोध होने पर भी नम्रता का सहारा लेकर उसका क्रोध के लक्षणों को छिपा जाना माधुर्य है।

स्व० भा०—प्रायः क्रोध की दशा में अनुभाव तथा वाणी दोनों कर्कश हो जाते हैं। यही दशा वीर, भयानक आदि रसों के प्रसङ्गों में भी दृष्टिगोचर होती है। किन्तु ऐसी स्थितियों में भी अनुभावों की उग्रता प्रदर्शित नहीं होती तभी अर्थमाधुर्य होता है। अर्थगत माधुर्य शर्करारस की भांति है जो सहृदय तथा अहृदय दोनों को समानरूप से अपने गुणों से आकृष्ट कर लेता है।

माधुर्यमिति। शृङ्गारकरुणौ हि मधुरौ ततस्तद्व्यञ्जकोऽर्थोऽपि मधुरस्तस्य शर्करादि-रसोदरं माधुर्यम्। यथा हि—शर्करारसः सहृदयस्यासहृदयस्य वा, सुस्थस्यासुस्थस्य

वा, झटिति रसनाग्रमर्पितश्चमत्कारमावहति, तथा चित्तद्रुतिसारचर्वणैकप्राणरसव्यञ्जको-ऽर्थस्तेन तद्व्यञ्जनशक्तिसमुद्रेकनिर्वहणं वाक्यार्थस्य माधुर्यमिति पर्यवसितोऽर्थः। तत्र वासनापरिपाकवशादुदयव्ययवतीपु दीप्तचित्तवृत्तिपु जागरूकास्वपि समस्तन्यग्भावनया विरोधः संपद्यत इति क्रोधादावप्यतीव्रता इत्युक्तम्। तथा हि—भ्रूभेदे इत्यादौ गोत्रस्खलितादिना कदाचिदपराद्धे नायके प्रेमस्वभावादीर्ष्यारोपलक्षणव्यभिचारिप्रादुर्भावात्तदनुभावभ्रूभेदोद्गमो रतिप्रकर्षान्नविष्णुनावहित्थेन न्यग्भाव्यते। विरोधिविजये हि भूयान् प्रकर्षः परस्य भवति। अत एव परामित्युक्तम्। एवं 'ईयन्मां प्रति भेदकारि हसितम्' इत्यादौ माधुर्यमुन्नेयम्। तदिदमाह—अत्र वासवदत्तालक्षणस्येति ॥

(५) सौकुमार्यगुण

अनिष्ठुरत्वं यत्प्राहुः सौकुमार्यं तदुच्यते ॥ ८० ॥

यथा—

'सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी
सीता जवात त्रिचतुराणि पदानि गत्वा।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद्ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥ १०३ ॥

अत्र सीतायाः पुरीपरिसरेऽपि कियदस्ति गन्तव्यमिति वचनं शृण्वतो रामस्य शिरीषमृदुतदङ्गावलोकनेनाश्रुणोऽवतारः सौकुमार्यमाह ॥

(किसी कोमल प्रसङ्ग के अवसर पर अपने को) जो कठोर न रख पाना है, वही काव्य में अर्थसुकुमारता है ॥ ८० ॥

जैसे—(वनगमन के समय) शिरीष पुष्प के सदृश कोमलाङ्गी सीता मार्ग में तेजी से तीन चार कदम ही चली होगी कि तत्काल अयोध्यानगरी के समीप ही 'अभी कितना चलना है' इस बात को बार-बार कहकर उन्होंने राम की आंखों में प्रथम तया आँसू छलका दिया ॥१०३॥

यहाँ पर सीता का नगर के निकट ही 'अभी कितना और चलना है', यह वचन सुनने वाले राम को उनके शिरीषपुष्प सदृश कोमल शरीर को देखकर आँसू आ जाना सुकुमारता है।

स्व० भा०—वामन ने अर्थसौकुमार्य का लक्षण "अपारुष्यं सौकुमार्यम्" (३।२।११) तथा इसकी वृत्ति 'परुषेऽप्यर्थेऽपारुष्यं सौकुमार्यमिति' दिया है। अतः यह लक्षण भोज के माधुर्य के अधिक निकट है, न कि सुकुमारता के। भोज की दृष्टि में किसी हृदयविदारक करुण अथवा चित्ताकर्षक शृङ्गार आदि की घड़ियों में अपना भी उसी के अनुसार लय कर देना—तन्मय हो जाना, न कि कठोर बने रहना, सुकुमारता है।

तुलसीदास ने बालरामायण के इस छन्द का भावानुवाद अपनी कवितावली में दिया है—

पुरतें निकसीं रघुबीरवधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जलकी, पुनि सूखि गये मधुराधर वै ॥
फिर बूझति हैं चलनोब कितै, पिय पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अतिचारु चलीं जल च्वै ॥

अनिष्ठुरत्वमिति। सामग्रीसंभवेऽपि चित्तद्रुतिमनासादयन्नीरसः कठोरोऽभिधीयते। अतथाभूतस्तु झटिति तन्मयीभवनयोग्यान्तःकरणः सुकुमारस्तदिदमुक्तमनिष्ठुरत्वमिति।

प्राहुरित्यनेन प्रसिद्धिं द्योतयति—सद्य इति। सहगन्तुमुत्सुका कथमेव सुकुमारप्रकृतिः कान्तारेषु भविष्यसीति वार्यमाणापि हृदयवैमुख्येन पद्भ्यामतित्वरितं गमिष्यामीति स्नेहमूढा त्रिचतुराणि पदानि जवाद्गतवती। अश्रुणः प्रथमावतारो भविष्यदश्रुपरम्पराप्रचारभूतः। सौकुमार्यमाहेति अश्रुपातेनानुभावाश्रुनिमित्तभूता चित्तद्रुतिः करतलामलकवत् प्रकाश्यते ॥

(६) अर्थव्यक्तिगुण

अर्थव्यक्तिः स्वरूपस्य साक्षात्कथनमुच्यते ॥ ८१।अ ॥

यथा—

'पृष्ठेषु शङ्खशकलच्छविषु च्छदानां
रेखाभिरङ्कितमलक्तकलोहिताभिः।
गोरोचनाहरितबभ्रुबहिःपलाश-
मामोदते कुमुदमम्भसि पल्वलस्य ॥ १०४ ॥

अत्र कुमुदस्वरूपस्य साक्षादिव प्रतीयमानत्वेन यत्स्पष्टरूपाभिधानमसावर्थव्यक्तिः ॥

किसी भी वस्तु का ऐसा वर्णन कि सामने उसकी आकृति सी उपस्थित हो जाये, अर्थव्यक्ति कहा जाता है॥ ८१ अ ॥

जैसे—पंखुडियों के शंखखण्ड तुल्य श्वेत छटा वाले पृष्ठभाग पर आलता के सदृश लाल-लाल रेखाओं से चिह्नित और गोरोचन तथा हरे रंग के बाहरी दलों वाला कुमुद का पुष्प तालाब के जल में सुगन्ध बिखेर रहा है॥ १०४ ॥

यहाँ कुमुद के रूप के प्रत्यक्ष सा प्रकट हो जाने से जो यह अव्यवहित रूप से चित्र का कथन है, वही अर्थव्यक्ति है।

स्व० भा०—अर्थव्यक्ति का समकक्ष गुण आधुनिक समालोचना के भी क्षेत्र में प्रयुक्त होता है। उसे कहते हैं 'चित्रात्मकता' (Piotorial quality) अर्थात् किसी पदार्थ का ऐसा सजीव वर्णन करना कि उस वर्ण्यमान विषय का साक्षात् रूप सा प्रकट हो जाये।

भोज ने उदाहरण वामन से लिया है और लक्षण की दिशा में भी वह उन्हीं से प्रभावित हैं। वामन के अनुसार—'वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः।' (३।२।१३), वस्तूनां भावानां स्वभावस्य स्फुटत्वं यदसावर्थव्यक्तिः।"

अर्थव्यक्तिरिति। स्वरूपं स्वमसाधारणं कविप्रतिभैकगोचरं चमत्कारिरूपं तस्य साक्षात्कथनम्। कविशक्तिवशात्साक्षात्कारसोदरप्रतीतिजनकपदत्वं संदर्भस्यार्थव्यक्तिनामा गुणः। अर्थो यथोक्तस्तस्य व्यक्तिः प्रत्यक्षायमाणता। जातेर्भेदस्तृतीये वक्ष्यते ॥ पृष्ठेष्विति। ईषद्विकस्वरस्य कुमुदस्य किंचिद्विघटमानबहिः पलाशसंबन्धिषु शीतातपासंपर्कादत्यन्तविशदानां दलानां पृष्ठानि पाकलोहितरेखाङ्कितानि दृश्यन्ते। अत एवामोदते किंचिदुन्निद्रेण मुखेन गर्भपिण्डितमामोदं मुञ्चतीति ॥

(७) कान्तिगुण

कान्तिर्दीप्तरसत्वं स्यात् ॥ ८१ ब।१ ॥

यथा—

'मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति

कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति ।
अन्यापि किं न सखि भाजनमीदृशीनां
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः ॥ १०५ ॥

अत्र नायिकायाः सपत्न्यामीर्ष्यानुबन्धेन प्रतिपादितस्य प्रियतमानुरागलक्षणस्य शृङ्गारस्य दीप्तरसत्वं कान्तिः ॥

(शृङ्गार आदि) रसों का दीप्त होना अर्थात् चरमकोटि की ओर अग्रसर होना आर्थी कान्ति है । (८१ वा१) जैसे—

(एक नायिका अपनी सपत्नी से कहती है) तुम यह घमण्ड मत करो कि तुम्हारे गालों पर प्रियतम के अपने हाथों द्वारा ही लिखी गई पत्ररचना (मञ्जरी) सुशोभित हो रही है । अरी सखी, क्या कोई दूसरी भी इस प्रकार की रचनाओं का पात्र नहीं बन सकती ? अर्थात् बन सकती यदि कहीं इस सुख के बाधक कम्प आदि सात्त्विक भाव वैर न साधते । (अर्थात् तुम तो मूर्ख हो जो इस प्रकार की रचना करा लेने पर गर्व करती हो, तुम्हें प्रियस्पर्शजन्य सुख का ज्ञान ही नहीं । हम लोगों में तो उनका सम्पर्क पाते ही ऐसे भाव जाग्रत हो जाते हैं कि ये रचनायें सम्भव ही नहीं होतीं ।)

यहाँ नायिका का सौत के प्रति ईर्ष्याभाव से निरूपित प्रियतम के प्रेम को प्रकट करने वाले शृङ्गार रस की दीप्ति होने से कान्ति गुण है ।

स्व० भा०—भोज का कान्ति गुण का लक्षण वामन से मिलता है । वामन के अनुसार 'दीप्तरसत्वं कान्तिः (३।२।१४॥) है । 'दीप्तरस' पद सीधे वामन से भोज ने उतार लिया है ।

कान्तिरिति । रसोऽभिमानात्मा शृङ्गारस्तस्य दीप्तत्वं विभावानुभावव्यभिचारिभिः सम्यक् संचलितेन स्थायिना निरन्तरमुपचीयमानस्य परमकोटिगमनम् । तथा हि—सा गर्वमित्यादौ यत्र भङ्गेषु बहुतरसूक्ष्मभङ्गविशेषमयमञ्जरीलिखितेव बहिर्विषयातिरोधानलक्षणतादवस्थ्यात् प्रकाशनेन नायकस्य सपत्न्यामनुरागे विच्छायभावोक्तिः । स्वात्मनि तु सहसाविर्भवत्सात्त्विकप्रतिपादनेन जीवितसर्वस्वाभिमानात्मकरतिस्थायिभावप्रकाशने तस्याः सापेक्षभावे नायिकाया अपि तदवस्थैव सा प्रतीयते । तदिदमाह—प्रियतमानुरागेति । अनुरागेण लक्ष्यते सप्तार्चिरिवार्चिषोपचीयत इत्यनुरागलक्षणः ॥

(८) उदारतागुण

भूत्युत्कर्षं उदारता ॥ ८१ ॥

यथा—

'प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे पुण्याभिषेकक्रिया ।
ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसंनिधौ संयमो
यद्वाञ्छन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥ १०६ ॥'

अत्र मारीचाश्रमस्य सत्कल्पवृक्षादिपदैर्वैभवोत्कर्षस्य प्रतिपादनमुदारता ॥

सम्पत्ति का लोकातिशायी प्रकर्ष चित्रित करना उदारता है ॥ ८१ ॥

जैसे—(राजा दुष्यन्त मारीचाश्रम के महात्माओं पर अपना मत व्यक्त करते हैं कि) (एक दो ही नहीं अपितु) कल्पवृक्षों का वन होने पर भी ये तपस्वी केवल वायु के (भक्षण) द्वारा अपना उचित प्राणधारण करते हैं। स्वर्णकमल के पराग से पीले जल में ये पवित्र स्नान आदि की क्रिया करते हैं। ये मणियों के गृहों में ध्यान लगाते हैं और देवाङ्गनाओं की संनिधि में भी इन्द्रियसंयम करते हैं। दूसरे मुनिगण जिन सम्पत्तिय. को तपस्याओं से प्राप्त करना चाहते हैं, उनकी उपस्थिति पर भी ये तपस्या कर रहे हैं॥ १०६॥

यहाँ मारीचाश्रम की समृद्धि के उत्कर्ष का 'सत्कल्पवृक्ष' आदि पदों से निरूपण है, अतः उदारता गुण है।

स्व० भा०—यहाँ 'वनों' का 'कल्पतरु' से सम्बन्ध उनका उत्कर्ष द्योतित करता है जब कि 'सत्' कल्पवृक्षों का। कमल समुदाय जल की सम्पत्ति हैं, और काञ्चनता कमलों की। अनेकत्व पाषाणनिर्मितगृहों की सम्पत्ति के सूचक हैं, उनमें भी रत्नता उत्कर्ष है। स्त्रिय की संनिधि ही एक उत्कर्ष हैं, उसमें भी 'विबुध' उत्कर्षताधायक है। इस प्रकार यहाँ निरन्तर उत्कर्ष व्यक्त होने से उदारता है।

भूतीत्यादि। भूतिः संपत्तस्या उत्कर्षो लोकातिगप्रकर्षस्तस्यैव सहृदयचमत्कारार्पकतया गुणधुराधिरोहणक्षमत्वात्॥ प्राणानामिति। उचिता तपोयोग्या। वनस्य कल्पतरुसंबन्धः संपत्, तत्रैव सत्पदेन मुक्तास्तवकमाणिक्यमञ्जरीचीनांशुककिसलयादिविशेषद्योतिना प्रकर्षः। पद्मप्रकरस्तोयसंपत्, तत्रैव काञ्चनमयत्वेन पद्मानां प्रकर्षः। बहुत्वं शिलावेश्मसंपत्, तत्रैव रत्नरूपताप्रकर्षः। संनिधिः स्त्रीप्रतियोगिकतासंपत्, तत्रैव विबुधेति प्रकर्षः। तदिदमाह—सत्कल्पवृक्षादिपदैरिति॥

(९) उदात्तता गुण

आशयस्य य उत्कर्षस्तदुदात्तत्वमिष्यते ॥ ८२।अ ॥

यथा—

'पात्रे पुरोवर्तिनि विश्वनाथे क्षोदीयसि क्ष्मावलयेऽपि देये।
व्रीडास्मितं तस्य तदा तदासीच्चमत्कृतो येन स एव देवः॥ १०७॥'

अत्र सकलक्ष्मावलयप्रदानेऽपि जातव्रीडतया बलेराशयोत्कर्षप्रतिपादनादुदात्तत्वम्॥

अभिप्राय की जो उत्कृष्टता है उसे ही उदात्तत्व स्वीकार किया गया है। (८२ अ)

(बलि से वामन द्वारा की गई याचना का प्रसङ्ग उपस्थित करके कवि कह रहा है कि) सामने मांगने वाले खड़े थे सम्पूर्ण चराचर जगत् के स्वामी, जिनको देने के लिए सम्पूर्ण भूमण्डल भी अत्यल्प ही सिद्ध होता है। अतः उस समय दान की क्षुद्रता समझ कर बलि जो लज्जा से मुस्कराया, उस मुस्कराहट से वे देवाधिदेव वामन (विष्णु) भी आश्चर्यचकित हो गये॥ १०७॥

यहाँ सम्पूर्णभूमण्डल प्रदान करने पर भी लज्जा उत्पन्न होनेसे बलि के अभिप्राय की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करने से उदात्तता नामक गुण है।

स्व० भा०—त्रिलोकीनाथ के याचक रूप में उपस्थित होने पर सम्पूर्णभूमण्डल दान देने पर भी बलि का लज्जित होना उसके अभिप्राय की उच्चता का सूचक है। यद्यपि समस्त भूमण्डल जिसमें अगणित राष्ट्र समाहित हैं दान में दे देना गौरव और गर्व की बात है, लज्जा की नहीं,

किन्तु विश्वनाथ के लिए तो यह अत्यल्प ही है यह सोचकर बलि लज्जित हो उठा था। इसी प्रकार देव, असुर, किन्नर, आदि विभिन्न प्रपञ्चात्मक विश्व जिसके निश्वास रूप में प्रकट हुआ, उसका मात्र बलि की स्मिति देखकर चकित हो जाना भी बिना कहे ही उत्कर्ष का सूचक है।

आशयस्येति। उत्कर्षः पूर्ववत्। उच्चाशयो लोके उदात्त इति प्रतीतः॥ पात्र इति। विश्वनाथ इति यदाज्ञावशंवदा त्रिलोकी सोऽपि यच्चार्थयत इति, वलयेऽपीत्यपिशब्देन यस्यैकदेशः कुरुपाण्डवनिधननिदानतया विख्यातस्तस्यापि देये लज्जत इति। देवासुरकिन्नरादि रयं जङ्गमस्थावरप्रपञ्चो यदुच्छ्वासविलसितं सोऽपि चमत्कृत इति पदार्थानभिहितः प्रकर्षोऽभिधेयः॥

(१०) ओजोगुण

ओजः स्वाध्यवसायस्य विशेषोऽर्थेषु यो भवेत् ॥ ८२ ॥

यथा—

'तान्येव यदि भूतानि ता एव यदि शक्तयः।
ततः परशुरामस्य न प्रतीमः पराभवम् ॥ १०८ ॥

अत्र परशुरामो विजयत एवेत्यस्मिन्नर्थे स्वाध्यवसायप्रतिपादनमोजः॥

अनेक अर्थों में वक्ता (स्व) के निश्चय (अध्यवसाय) की विशिष्टता का प्रतिपादन ओज है॥ ८२॥

जैसे—यदि वे ही प्राणी हैं और यदि वे ही शक्तियाँ हैं तो परशुराम के पराजय का हम विश्वास नहीं कर सकते ॥ १०८॥

'यहाँ परशुराम जीत रहे हैं', इसी अर्थ का अपना निश्चय प्रकट करने से ओज गुण है।

स्व० भा०—लोक में भी देखा जाता है कि लोग खूब जोर देकर अपनी बात कहते हैं, और उसमें विशिष्टता लाने के लिए अन्य उपक्रमों का भी योग करते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी प्रकट किया गया है कि यदि उसी क्षत्रियमानव जाति के लोगों का संहार करना है जिनका परशुराम ने इक्कीस बार वध किया है, यदि परशुराम में अब भी दिव्यशक्तियाँ ज्यों की त्यों विद्यमान हैं, क्षीण नहीं हुईं तो यह निश्चय है कि परशुराम यहाँ भी विजयी होंगे ही। अपने निश्चय पर जोर देकर कहने से एक विशेष प्रकार की ऊर्जस्विता प्रतीत होने लगती है, उसी को ओज कहते हैं।

ओज इति। अध्यवसायो निश्चयस्तत्र विशेषः पूर्ववत्। स्वपदेन वक्ताभिमतः॥ तानीति। यदि हन्तव्यजातीयमेव न विपर्यस्तम्। ता एवेति। प्रभावोत्साहमन्त्रजास्तद्दुर्दर्थनिवर्हणप्रौढिप्रख्यातकीर्तयः शक्तयो यदि न विलीनतामयासिषुः। परशुराम इति। अर्जुनभुजसहस्रच्छेदादिना यस्य परशु(राम)र्वरदानेन त्रिभुवनेऽपि प्रसिद्ध इत्यादि॥

(११) और्जित्यगुण

रूढाहंकारतौर्जित्यम् ॥ ८३ आ१ ॥

यथा—

'उमा वधूर्भवान्दाता याचितार इमे वयम्।
वरः शंभुरलं ह्येष त्वत्कुलोद्भूतये विधिः॥ १०६॥

अत्रेमे वयमित्यात्मान्वितव्रतचर्यादिसमुत्थप्रौढाहंकारप्रतिपादनादौर्जित्यम् ॥

प्रौढ अहंकार का प्रदर्शन औजित्य है। (८३ आ१)

जैसे—(सप्तर्षिगण हिमालय से कहते हैं कि) शिव और पार्वती के विवाह कर्म का सम्पन्न हो जाना सब कुछ आपके कुल की वृद्धि के लिए ही है। (अरे, देखिये) उमा वधू होंगी, आप जैसे लोग दाता होंगे। भगवान् शंकर दूल्हा होंगे। यह हम सभी लोग आपके सामने याचक हैं। इस प्रकार यह विवाहविधि तो आपके कुल का उत्कर्ष ही करने वाला है ॥ १०९ ॥

यहाँ पर 'ये हम लोग' इस प्रकार से सप्तर्षियों का कहना उनके अपने में व्रतचर्या, तपस्या आदि के कारण उत्पन्न प्रौढ अहंकार का प्रतिपादक है। अतः यहाँ औजित्य है।

स्व० भा०—यहाँ 'हमारे जैसे लोग आपके याचक हैं" इस प्रकार का सप्तर्षियों का कहना सूचित कर रहा है कि उन्हें अपनी तपस्या, शक्ति आदि का पूर्ण बोध था। उनके ऐसा कहने से उनके गुणविशेष से संयुक्त होने की बात द्योतित होती है। अतः यहाँ औजित्य गुण है।

रूढेति। ऊर्जितशब्दोऽहंकृते प्रसिद्धस्तात्कालिकनिमित्तोपनिपाते वासनाविकासात्तमोनिर्भेदस्थानेषु सुप्तप्रबुद्ध इव स्थायिभिरसंसृज्यमानः प्रथमप्रादुर्भूतोऽभिमानोऽहंकार इत्युच्यते। रूढः सूक्ष्मावस्थातो द्वितीयामाविर्भावदशामापन्नोऽहंकारो यस्य स रूढाहंकारस्तस्य भावस्तत्ता। सुगममुदाहरणम् ॥

(११) प्रेयोगुण

प्रेयस्त्वर्थेष्वभीष्टता ॥ ८३ आ२ ॥

'रसवदमृतं कः संदेहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत्स्वादु स्यात्प्रियादशनच्छदात् ॥ ११०' ॥

अत्रामृतप्रभृतिभ्यः प्रियादशनच्छदस्याभीष्टताप्रतिपादनं प्रेयः ॥

अनेक वस्तुओं में वक्ता को एक का अतिशय प्रिय लगना प्रेयोगुण है। (८३ आ२)

जैसे—कोई प्रेमी कहता है कि भला इसमें क्या संशय है कि अमृत मधुर होता है, मधु भी मधुर के अतिरिक्त और दूसरा कुछ नहीं होता, अर्थात् वह भी मीठा ही होता है, आम का रस से भरा हुआ फल भी अधिक मीठा ही होता है। इस प्रकार दूसरे रसों को अच्छी तरह जानने वाला कोई भी व्यक्ति जरा बिना पक्षपात के केवल एक बार ही कह दे कि इस संसार में प्रियतमा के अधरों से बढ़कर मधुरतर दूसरी कौन सी वस्तु है। अर्थात् वक्ता के अनुसार समस्त मधुर पदार्थों में प्रेयसी के अधर सर्वाधिक मृदु हैं ॥ १० ॥

यहाँ अमृत आदि वस्तुओं की अपेक्षा प्रियतमा के अधरों की अभीष्टता का प्रतिपादन होने से प्रेयोगुण है।

स्व० भा०—यहां श्लोक में अमृत, मधु, आम्रफल, सदृश पदार्थों को मधुर कहा गया है किन्तु वक्ता के अनुसार सर्वाधिक मधुर तो प्रेयसी का अधर ही है, उसके मत से कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति यही कहेगा।

वामन ने इस छन्द को माधुर्य (३।२।१०) गुण के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया था। सम्भवतः भोज ने इसे वहीं से लिया है।

प्रेय इति। शब्दगुणे तु निष्पादितवर्णनीयप्रीतिजनकत्वं पदानामुक्तम्। इह तु वाक्यार्थस्य वक्तृप्रीतिगोचरत्वमुच्यत इति विशेषः। प्रीतिरुक्तपूर्वा। तत्रैवाभिशब्देन प्रकर्षो द्योतितः। अभीष्टता प्रेय इति प्रेयःपदप्रवृत्तिनिमित्तम्। रसवदिति। प्रशंसायां मतुप्। अमृतमिति यस्य प्रसादात्त्रिदशैरमरत्वमासादितं नान्यथेति प्रत्यक्षसाक्षिके वस्तुनि प्रमाणान्तरानुसरणम्। प्रसन्नरसमिति अम्लतालक्षणकाव्यार्थापगमेन परिणतिरित्यादि॥

(१३) सुशब्दतागुण

अदारुणार्थपर्यायो दारुणेषु सुशब्दता॥ ८३॥

यथा—

'देवव्रते वाञ्छति दीर्घनिद्रां द्रोणे च कर्णे च यशोऽवशेषे।
लक्ष्मीसहायस्य तवाद्य वत्स वात्सल्यवान्द्रौणिरयं सहायः॥ १११॥

अत्र मुमूर्षामरणादीनां दारुणार्थानां दीर्घनिद्रां वाञ्छति यशोऽवशेष इत्यादिभिः सुशब्दैः पर्यायेण भणनं सुशब्दता। सा च मुख्यार्थव्यतिक्रमस्य वाक्यार्थत्वान्न शब्दगुणः॥

अत्यन्त कठोर अथवा अशुभ प्रसङ्गों के उपस्थित होने पर उन्हीं के पर्यायवाची कोमल अथवा शुभ शब्दों का प्रयोग सुशब्दता नामक अर्थगुण है॥ ८३॥

जैसे—भीष्म के महानिद्रा की इच्छा करने पर तथा द्रोण और कर्ण के यशःशेष हो जाने पर हे वत्स, वात्सल्य स्नेह से भरा हुआ यह अश्वत्थामा वैभव से समर्थित तुम्हारा सहायक होगा॥ १११॥

मरण की इच्छा तथा मरण आदि अत्यन्त दारुण अर्थों को 'दीर्घनिद्रां वाञ्छति' तथा 'यशोऽवशेष' इत्यादि सुन्दर शब्दों द्वारा प्रकारान्तर से कह देने के कारण यहां सुशब्दता है। (यहाँ शब्दों में भी अन्तर तो अवश्य हुआ है किन्तु) मुख्य अर्थ—अभिधेय—को ही बदल कर वाक्यार्थ निष्पन्न कराने से सुशब्दता नामक शब्दगुण न होकर यहां अर्थगुण ही है।

स्व० भा०—प्रस्तुत श्लोक में 'मरने की इच्छा' तथा 'मर जाना, इन दोनों अर्थों के कष्टप्रद होने से उनको 'दीर्घनिद्रा' तथा 'यशःशेष' शब्दों से प्रकट किया गया है। ऐसी स्थिति में मरण आदि की अपेक्षा 'लम्बी नींद', 'यशमात्र अवशिष्ट रह जाना', आदि शब्दों के प्रयोग कहीं अधिक कोमलता से वही भाव व्यक्त कर देते हैं। अतः दारुण अर्थों का प्रकारान्तर से कोमल अभिधान करने के कारण यहां सुशब्दता नामक अर्थगुण है।

यहां एक प्रश्न उठता है कि जब कोमल शब्दों द्वारा दारुण अर्थ का पर्यायवाची अर्थ प्रकट किया जाता है तब तो यहां शब्दों का खेल होने से शब्दगुण ही होना चाहिए न कि अर्थगुण। किन्तु ऐसी बात नहीं है। शब्दों की अपेक्षा होने के कारण ही तो इसे सुशब्दता नाम दिया गया है, किन्तु मुख्य उद्देश्य वाच्य रूप मुख्य अर्थ का ही परिवर्तन होने से, तथा कोमल अर्थों में ही व्यञ्जक शब्दों का प्रयोग अपेक्षित होने से यहां अर्थगुण ही है।

अदारुणेत्यादि। झटित्यातङ्कदायी दारुणस्तस्य साक्षादभिधाने विवक्षितप्रतीतिस्खलनखेदसंभवात्तदुपनीतस्य वस्तुनस्तदध्यासान्तरितस्य वाक्यार्थत्वादिति। सर्वत्रैव हि लक्षणायामर्थाध्यासोऽङ्गीक्रियते। लौकिकी चेयं लक्षणेति न प्रयोजनगवेषणमपीति। सुगममुदाहरणम्॥

(१४) समाधिगुण

व्याजावलम्बनं यत्तु स समाधिरिति स्मृतः । ॥ ८४।अ ॥

यथा—

'दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥ ११२ ॥

अत्र गमने सति प्रियजनावलोकनाभिलाषिण्याः शकुन्तलाया दर्भाङ्कुरचरणक्षतिवल्कलव्यासङ्गादिव्याजावलम्बनं समाधिः ॥

(अपने भावों को प्रकट करने के लिए अथवा उद्देश्यसिद्धि के लिए) किसी बहाने का सहारा लेना समाधि नामक अर्थगुण के रूप में याद किया जाता है ॥ ८४ अ)

जैसे—दुष्यन्त विदूषक से अपने प्रति शकुन्तला द्वारा किए गये प्रेमपूर्ण प्रदर्शनों के विषय में स्पष्ट कर रहे हैं) कि वह तन्वङ्गी शकुन्तला कुछ ही कदम चलने के बाद एकाएक "कुश के अङ्कुर से पांव घायल हो गया" ऐसा कहकर निष्कारण ही खड़ी हो गई थी, तथा पुनः चलते समय वृक्षों की शाखाओं में वल्कलाञ्चल को न फंसने पर भी छुड़ाती हुई सी शकुन्तला ने मेरी ओर मुँह भी घुमाया था ।

यहां चलना अपेक्षित होने पर भी अपने प्रेमी को देखने की इच्छुक शकुन्तला का कुश की नोक से चरण घायल होने, वल्कलवस्त्र के फस जाने आदि बहानों का सहारा लेने से समाधिगुण है ।

स्व० भा०—शकुन्तला पूर्वानुराग के कारण लज्जा कर दुष्यन्त को नयनभर देख भी नहीं सकती थी, यद्यपि देखने की उद्दाम उत्कण्ठा थी । अतः घायल न होने पर भी बिना कारण ही रुक जाना और वल्कलों के वृक्षों की टहनियों में न फँसने पर भी उन्हें छुड़ाते-छुड़ाते मुख को राजा की ओर घुमा लेना आदि सब बहाना मात्र था । राजा को जीभर कर देख लेने के लिए ये छलछन्द अपनाये गए । अतः अर्थ का ग्रहण होने से अर्थगुण समाधि हुआ ।

व्याजेति । चित्तवृत्तिषु बलादाविर्भवन्तीषु प्रकृतरसौचित्यविरोधिप्रकर्षाप्रकटमनावरणीयासु च यदन्यथा समर्थनं तद्व्याजावलम्बनं प्रस्तुतोचितसमाधानात्मकत्वात् । तथा हि—पूर्वानुरागे त्रपासाध्वसविवशायास्तावन्नायकसमीपादपसरणमौचित्यापन्नम् । अनन्तरं तूत्कण्ठातरलितायाः कथमालोकमात्रेणापि कृतार्थः स्यादिति परावर्तनम् । तत्र च मौग्ध्यभङ्गशङ्कायां दर्भाङ्कुरक्षतिप्रभृतिव्याजावलम्बनमेव कार्यसर्वस्वमाभासत इति ॥

(१५) सौक्ष्म्यगुण

सौक्ष्म्यमित्युच्यते तत्तु यत्सूक्ष्मार्थाभिदर्शनम् ॥ ८४ ॥

यथा—

'अन्योन्यसंवलितमांसलदन्तकान्ति
सोल्लासमाविरलसंवलितार्धतारम् ।
लीलागृहे प्रतिकलं किलकिञ्चितेषु
व्यावर्तमानविनयं मिथुनं चकास्ति ॥ ११३ ॥'

अत्रान्योन्यसंवलितमांसलदन्तकान्तीत्यादिवाक्ये दंपत्योरनुरागलक्षणस्य सूक्ष्मार्थस्य दर्शनात्सौक्ष्म्यम्।

(अपनी कुशाग्र बुद्धि द्वारा किसी) अतिसूक्ष्म अर्थ को (उसकी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ प्रत्यक्ष सा) देखना ही सौक्ष्म्यगुण है ॥ ८४ ॥

(कोई नायिका अपनी सखी से किसी नवोढ़ किन्तु मुग्धत्वभाव को छोड़ रहे दम्पति के विषय में कहती है कि अरी सखी देखो न) प्रति दिन जैसे चन्द्रमा की कला बढ़ती जाती है उसी भांति इस जोड़ो की आजकल मौज बढ़ने लगी है। ये दोनों परस्पर चुम्बन आदि क्रियाओं के समय मसृण दांतों की कान्ति के मिल जाने से चमक उठते हैं। ये खुशी से फूलफूल कर खूब धूर-घूर कर सघन भाव से नेत्रपुतलियों को आधा घुमा-घुमा कर एक दूसरे पर कटाक्षपात करते हैं। शून्य केलिगृह निर्द्वन्द्व भाव से इनके किलकिंचितों—किलकारियों, भारी प्रसन्नता के होनेवाले हास, परिहास और रुदन आदि से भर उठा है। धीरे-धीरे इनका विनय—लज्जा आदि का भाव भी व्यावृत्त हो रहा है ॥ ११३ ॥

यहां 'अन्योन्यसंवलितमांसलदन्तकान्ति' इत्यादि वाक्य में. दम्पति के अनुराग-व्यञ्जक सूक्ष्म अर्थ का दर्शन होने से सौक्ष्म्य गुण है।

स्व० भा०—यहां पर दम्पति के परस्पर कृत्यों से उनका स्नेहातिशय ही प्रकट हो रहा है। यह बात अत्यन्त सूक्ष्म ढंग से कह दी गई है। उनके व्यापारों से उनके भाव व्यक्त हैं, अतः सौक्ष्म्य है। वामन ने इसके दो भेद—भाव्य तथा वासनीय किये हैं। उन्होंने इस उदाहरण को भाव्य के उदाहरण के रूप में (३।२।९) उद्धृत किया है, जब कि भोज के टीकाकार इसे वासनीय का उदाहरण मानते हैं।

सौक्ष्म्यमिति। सूक्ष्ममित्यादिवाक्यैकगोचरोऽर्थः कुशाग्रीयबुद्धितया सूक्ष्मस्तस्य दर्शनमुपायवैलक्षण्यात्तत्तद्विशेषवतः प्रत्यक्षायमाणता। सूक्ष्मालंकाराद्भेदस्तृतीये करिष्यते। स चायं भाव्यो वासनीयश्च। भावनामात्रगम्यो भाव्यो यथा—

> 'उच्चइ आगमहि आवड्ढ सिज्जन्तरो सपरिआरम्।
> पाणौ पसरन्तमत्ताचंवफलिहचसअम्मुहं बाला॥'

एकाग्रताप्रकर्षगम्यो वासनीयस्तमुदाहरति—अन्योन्येति। व्याजापसृतपरिवारे लीलावेश्मनि तत्कालकलितमन्मथोन्माथं विदग्धमिथुनमुत्तरोत्तरमपनीयमानत्रपासाध्वसतया प्रतिकलं नवेन्दुवत्कान्तिविशेषमासादयति। विचित्रमव्यभिचार्यनुप्रवेशे हर्षरुदितस्मितादीनामव्यवस्थिततया व्यतिरेकरूपकिलकिञ्चिताख्यश्शृङ्गारभावोन्मेषः॥

(१६) गाम्भीर्यगुण

शास्त्रार्थसव्यपेक्षत्वं गाम्भीर्यमभिधीयते ॥ ८५।अ ॥

यथा—

> 'मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय
> क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः।
> ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य
> वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम् ॥ ११४ ॥'

अत्र मैत्र्यादिपदानां शास्त्रार्थसव्यपेक्षत्वाद्गाम्भीर्यम्॥

जिस वाक्य का अर्थ समझने के लिए उसमें प्रयुक्त पदों के शास्त्र-विशेष में प्रयुक्त अर्थविशेष की अत्यन्त अपेक्षा होती है उस वाक्यार्थ में गाम्भीर्यगुण होता है। (८५ अ)। जैसे मैत्री आदि चित्त संमार्जनों को जानने वाले योगी गण इस लोक में ही अथवा साधनापथ में क्लेशों का परित्याग करके सबीज समाधि प्राप्त करते हैं। इसके बाद प्रकृति (सत्त्व=प्रधान) तथा पुरुष से भिन्न रूप में ख्याति को समझ कर वे लोग समाधिस्थ होकर उस ख्याति को भी निरुद्ध करने की इच्छा करते हैं॥ १४॥

यहां मैत्री आदि पदों का शास्त्रीय अर्थ विशेषरूप से अपेक्षित होने से गाम्भीर्यगुण है।

स्व० भा०—सामान्य भाषा में प्रयुक्त होने वाले पद जब किसी शास्त्र-विशेष में अपना विशिष्ट अर्थ देते हैं, वहां वे पारिभाषिक हो जाते हैं। जब उनका ही प्रयोग पुनः लौकिक काव्य भाषा में होने लगता है तब उनका शास्त्रीय अर्थ ही अपेक्षित होने से काव्यार्थ में एक विशेष प्रकार की गरिमा आ जाती है। सामान्य अर्थ भी विशेष सन्दर्भ में गम्भीर हो उठता है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में ही मैत्री, क्लेश, सबीज, ख्याति, सत्त्व, पुरुष, निरुद्ध, आदि पद केवल सख्य, कष्ट, बीज से संयुक्त, प्रसिद्धि या ज्ञान, जीव या गुण विशेष, आदमी, तथा रोक नहीं है। वस्तुतः मैत्री' पद योग सूत्र के 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम् भावनातश्चित्त-प्रसादनम्' (१।३३) सूत्र में चित्त को परिष्कृत करने वाले साधनों के रूप में प्रयुक्त हैं। क्लेश पद भी "अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः (यो० सू० २।३) सूत्र के अनुसार कष्ट विशेष अथवा बाधक अन्तराय के अर्थ में गृहीत है। योगसूत्रों में पठित "ता एव सबीजः समाधिः" (१।४६) के अनुसार यहां सबीजता समाधि का एक भेद है। इसी प्रकार सत्त्व, पुरुष तथा ख्याति पदों का भी अर्थ "सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं च" (३।४९) के अनुसार ही लेना लेना चाहिए। 'निरोध' का भी अर्थ 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" (१।१८) के अनुसार ग्रहणीय है। सामान्य विषय को गम्भीर बनाने के लिए ऐसे शब्दों का ही प्रयोग अभीष्ट होता है जो गम्भीर अर्थ वाले होते हैं। यहां गम्भीरता इसलिए आ गई है क्योंकि शब्दों का पारिभाषिक अर्थों में प्रयोग हुआ है।

शास्त्रार्थ इति। एकपुरुषार्थप्रयोजनकपदार्थव्युत्पादनं विधिनिषेधव्युत्पत्तिफलकं शास्त्रं तदर्थसव्यपेक्षत्वम्। तदुक्तप्रक्रियानिरूपणाधीननिरूपणत्वं वाक्यार्थस्य गाम्भीर्यम्। मैत्री-करुणामुदितोपेक्षा इति चतस्रश्चित्तसंमार्जनाः। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः। चित्तवृत्तिनिरोधो योगः, स एव व्युत्थानहेतुभिरनास्कन्दनीयः सबीजः। सत्त्वं प्रधानम्, पुरुषश्चिद्रूपस्तयोर्भेदः प्रथाख्यातिरिति सांख्यप्रक्रिया। अत्र मैत्र्यादिपदाना-मिति। वाक्यार्थस्यैव यथोक्तरूपत्वे तत्प्रतिपादकपदानामवश्यं तथाभावो भवतीति वैशे-षिकाद् भेदो वक्ष्यते॥

(१७) विस्तरगुण

विस्तरोऽर्थविकासः स्यात्॥ ८५।ब॥

यथा—

'संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्तिरनघा कीर्त्या च सप्ताब्धयः॥ ११५॥'

अत्र विपक्षवधात्सप्ताब्धिव्यापिनी कीर्तिरर्जितेत्येतावतोऽर्थस्य बहुविधं विकासितत्वाद्विस्तरः ॥

एक विशेष प्रतिपाद्य विषय को (अन्य विषयों का प्रतिपादन करके) बढ़ाना विस्तर गुण है । (८५ व)

जैसे—(कोई प्रशंसक एक राजा का यशोगान करते हुए कह रहा है कि) हे महाराज, सुनिये, रणभूमि में आकर प्रत्यञ्चा मात्र चढ़ाने से किन-किन को क्या क्या मिला ? आपकी धनुष ने बाण पाये, बाणों ने शत्रुओं के शिर पाये, शत्रुओं के शिरों ने धरती-मण्डल पाया, धरती मण्डल ने आपको पाया, आपने यश पाया और आपकी विमल कीर्ति ने सातों समुद्र पाये ॥ ११५ ॥

यहां 'शत्रुओं का वध करने से आपने सात समुद्रपर्यन्त यश अर्जित किया है' केवल इतना ही प्रतिपाद्य विषय होने पर भी इसका जो अनेक प्रकार से विस्तार किया गया इसी से यहां विस्तर गुण है ।

विस्तर इति । वाक्यार्थस्य पल्लवभूततत्तत्सहृदयचमत्कारिविशेषप्रसारणं संवृतविवृतपटवत् विस्तराख्यो गुणः । विस्तर इव विस्तरः शब्दप्रपञ्चवदित्यर्थः । अन्यथा विस्तार इति स्यात् । संग्रामाङ्गणेत्यादौ तु शत्रुशिरश्छेदात्सप्ताब्धिव्यापिनी त्वया कीर्तिरर्जितेत्येतावान्वाक्यार्थो लौकिकसाधारणतया च चमत्कारास्पदमिति संग्रामाङ्गणसंगतिरेव न तथा यथा वीरमात्रस्योचिता तत्रापि चापसमारोपणमिति काप्युत्साहशक्तिः । अत एव बलवदाश्रयप्रसक्तलुण्टाकवधेन यदवसितं तेनैव तदासादितमिति सोपस्कारकर्तृकर्मप्रपञ्चेन विकासनमेव काव्यपदवीप्राप्तिबीजम् । तदिदमाह—बहुविधं विकसितत्वादिति । नात्र शब्दविकासाधीनः प्रकर्ष इति शब्दविस्तराद्भेदः ॥

(१८) संक्षेपगुण

संक्षेपस्तस्य संवृतिः ॥ ८५ ॥

यथा—

'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ ११६ ॥

अत्र शास्त्रे विस्तरप्रतिपादितस्य धर्मस्य श्लोकार्धेनोक्तत्वादयमर्थसंकोचः संक्षेपः ॥

(फैले हुए वस्त्र को लपेटने की भांति) एक प्रतिपाद्य अर्थ को विना विस्तार किए हुये कह देना संक्षेपगुण है । (८५)

जैसे—(कोई धर्मप्रचारक कह रहा है कि) (सज्जनो) आपलोग धर्म का रहस्य सुनिये और सुनकर मन में धारण कीजिए कि जो काम आप अपने लिए अनुचित समझते हैं, उन्हें दूसरों के लिए नहीं करना चाहिए । अथवा जो आत्मा के विपरीत चीजें हैं, उन्हें दूसरों के प्रति नहीं करना चाहिए ॥ ११६ ॥

यहां धर्मशास्त्र में विस्तार से प्रतिपादित धर्म को केवल आधे श्लोक में ही कह देने से होने वाला अर्थसंकोच संक्षेप है ।

स्व० भा०—अत्यन्त विशाल धार्मिक साहित्य में जिस कर्त्तव्याकर्त्तव्य रूप प्रपञ्च का

विस्तार से वर्णन है उसको ही यहां केवल आधे श्लोक में दे दिया गया है। अतः यहां संक्षेप गुण है।

संक्षेप इति। तस्येत्यर्थस्य समासे गुणीभूतस्यापि बुद्ध्या विभज्य परामर्शः। यथा—अथ शब्दानुशासनम्। केषां? शब्दानामि'ति। अशेषविशेषोपग्राहकपुरस्कारेण वाक्यार्थस्याभिधानं विवृतसंवृतपटवत्संक्षेपः॥ श्रूयतामिति। अत्र तेन तेन विशेषेण विस्तरतः प्रतिपादयितव्यस्य धर्मस्य यत्किंचिदात्मनः प्रतिकूलमन्यस्य नाचरणीयमिति सामान्येनाभिधानमप्रवृत्तप्रवर्तने प्रगल्भायमानमतिसुन्दरमाभासते। नात्र रचनासंकोचप्रतिष्ठितं काव्यमिति शब्दगुणाद्भेदः॥

(१९) संमितत्वगुण

शब्दार्थौ यत्र तुल्यौ स्तः संमितत्वं तदुच्यते॥ ८६।अ॥

यथा—

'इन्दुर्मूर्ध्नि शिवस्य शैलदुहितुर्वक्रो नखाङ्कः स्तने
देयाद्वोऽभ्युदयं द्वयं तदुपमामालम्बमानं मिथः।
संवादः प्रणवेन यस्य दलता कायैकतायां तयो-
रूर्ध्वद्वारविचिन्तितेन च हृदि ध्यातः स्वरूपेण च॥ १७॥'

अत्र प्रणवलक्षणस्यार्थस्य तुल्यत्वेन यथावद्विभज्य विनिवेशनं संमितत्वम्॥

जहां पर शब्द तथा अर्थ दोनों समानरूप से होते हैं, वहां समितत्व गुण होता है॥ ८६ अ॥

भगवान् शिव के मस्तक पर स्थित चन्द्रमा तथा गौरी के स्तन पर बना हुआ टेढ़ा सा नख-चिह्न परस्पर साम्य धारण करने वाले ये दोनों ही एक साथ आप लोगों को कल्याण प्रदान करें। आलिङ्गन के समय उन दोनों के शरीर के एक हो जाने पर ये चन्द्रमा तथा नखच्छेद ऐसे लगते हैं मानों एक ब्रह्मरन्ध्र ऊर्ध्वद्वार-नवमद्वार-पर चिन्त्यमान तथा हृदय में सगुण रूप से ध्यायमान प्रणव—ॐकार-ही दलित होकर दो स्थानों पर बँटकर स्थित हो गया हो॥ १७॥

यहां पर प्रणव के वाचक अर्थ का समानरूप से नियमित विभाजन करके वाक्य में योजना होने से संमितत्व गुण है।

स्व० भा०—योगीगण निराकार ब्रह्म का चिन्तन नवमद्वार–ब्रह्मरन्ध्र में करते हैं और सगुण रूप का हृदयकमल में। सगुण तथा निर्गुण दोनों ही प्रणव के वाच्य हैं। यहां शंकर के मस्तक पर स्थित चन्द्रमा तथा उमा के स्तनों पर बने कुटिल नखच्छेद क्रमशः नवमद्वार तथा हृत्कमल स्थानीय हैं। इन दोनों शब्दों—चन्द्र तथा नखच्छेद—को उद्देश्य करके एक प्रणवरूप अर्थ की योजना की गई है। अतः दोनों अर्थों का एकत्र सन्निवेश होने से—तुलाघृतन्यायवत्—संमितत्त्व गुण है। जब अर्थ का लक्ष्य करके शब्द योजना की जाती है तब शब्दगुण होता है और जब शब्द को उद्दिष्ट करके अर्थ का विधान होता है तब अर्थगुण होता है। यहाँ बालेन्दु तथा नखाङ्क इन दोनों शब्दों का पृथक्-पृथक् निर्देश करके प्रणवरूप अर्थ का तुलना में सन्निवेश करने के अर्थसंमितता है।

शब्दार्थाविति। शब्दस्यार्थौ तयोर्विभज्य विनिवेशनं संमितत्वमिति केचित्, तन्न। शब्दग्रहणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। द्वित्वाविवक्षाप्रसङ्गाच्च।

'पल्लविअं विअ करपल्लवेहिं पप्फुल्लिअं व मुणहअच्छेहिम् ।
फलिअंमिव पीणपओहरेहिं अज्जाइ लावण्णम् ॥'
[पल्लवितमिव करपल्लवाभ्यां प्रफुल्लितमिव मुग्धाक्षिभ्याम् ।
फलितमिव पीनपयोधराभ्यामार्याया लावण्यम् ॥]

इत्यादौ द्विप्रभृतीनामर्थानामविभज्य विनिवेशनमिष्यते । तस्माच्छब्दश्चार्थश्च शब्दार्थौ । तयोस्तुल्यत्वं यावदुद्देशशब्दार्थम् । अर्थस्य विभज्य तुलाधृतवत्प्रतिनिवेशः संमितत्वमिति । अर्थमुद्दिश्य शब्दतुलनं काव्यभावबीजं शब्दगुणः, शब्दमुद्दिश्य त्वर्थतुलनमर्थगुणश्च । तथापि—परमेश्वरस्य मूर्ध्नि बालेन्दुः, पार्वतीस्तने नखाङ्क इति पृथक्शब्देनोद्दिश्य तदुपमायोग्यतया कार्यैकतायां दलनं हृत्पद्मनवमद्वारयोर्ध्यानेन युगपत्संनिधानमिति सम्यग्विभज्य तुलितस्येव प्रणवस्य प्रतिनिर्देश इति ॥ तदिदमाह—अत्रेति । यथावदिति । येन प्रकारेण संगच्छत इति तदनतिक्रमेणेति ॥

(२०) भाविकत्वगुण

साभिप्रायोक्तिविन्यासो भाविकत्वं निगद्यते ॥ ८६ ॥

यथा—

'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि तद्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः ॥ ११८ ॥

अत्र तमालमालावलयितसरित्तीरकृतसंकेतायाः कुलटायाः स्वतनौ भाविनां परपुरुषनखक्षतानां नलग्रन्थ्यालेखव्याजगोपनेन साभिप्रायभणनं भाविकम् ॥

प्रयोजन विशेष पर ध्यान रखकर जब कथन का सन्निवेश होता है—वाक्य में पदों की स्थिति निश्चित की जाती है—तब वहां भाविकत्वगुण कहा जाता है ॥ ८६ ॥

जैसे—एक कुलटा अपनी पड़ोसिन से कहती है कि हे बहन, जरा एक क्षण के लिये मेरे भी घर पर निगाह डालती रहना । (क्या कहूं) इस बच्चे का बाप अर्थात् मेरे पतिदेवता की आदत सी है कि वह कुये के स्वादहीन जल को पियेंगे ही नहीं । अकेली ही हू भी, फिर भी जा रही हूँ । अतः अच्छा यही है कि इधर से ही सघनतमाल वृक्षों से घिरी हुई नदी से पानी ले आऊं भले ही मेरा शरीर खूब सटकर उगी हुई कठोर कांटों वाली नल की कांटों से घायल हो जाये ॥ ११८ ॥

यहां तमाल वृक्षों की सघन वनाली से घिरी हुई नदी के तट पर संकेत दी हुई कुलटा का अपने शरीर पर हो सकने वाले उपपति के नखक्षतों का नल की कांटों से छिदने के बहाने से छिपाना साभिप्राय वर्णित है, अतः यहां भाविकगुण है ।

स्व० भा०—प्रस्तुत श्लोक में स्वैरिणी का स्वैर विहार वर्णित है । देखा घर खाली हुआ और वह दरवाजे पर लड़के को बैठाकर, पड़ोसिन को सौंपकर सघनकुञ्ज की शीतल छाया में चल पड़ीं । जल का बहाना संस्कृत का पूर्णपरिचित और बहुवर्णित आख्यान है, किन्तु यहां 'कठोर कांटों से शरीर के छिदने पर भी' कहने का अभिप्राय है परपुरुष द्वारा सम्भावित नखक्षतों को छिपाने का स्पष्टीकरण । इन पदों का उल्लेख साभिप्राय है ।

साभिप्राय इति । अभिप्रायविशेषप्रतिबद्धस्य वाक्यार्थस्योक्तिविन्यास उक्त्या विशेषो

न्यासः। शब्दगुणे पदानां भाव्यर्थनिष्पादिता इह त्वर्थस्येति विशेषः। तथा हि—दृष्टिमित्यादौ तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थय इत्युक्त्या विन्यस्यमान एव भाविनलग्रन्थ्यालेख्यरूपार्थः कुलटास्वरूपानुसंधानदत्तान्तःकरणस्य प्रतिपत्तुरनन्तरमेव स्वैरविहारचिह्नगोपनमभिव्यनक्ति॥

(२१) गतिगुण

गतिः सा स्यादवगमो योऽर्थादर्थान्तरस्य तु॥ ८७अ॥

यथा—

'शुभे कोऽयं वृद्धो गृहपरिवृढः किं तव पिता
न मे भर्ता रात्रौ व्यपगतदृगन्यच्च बधिरः।
हु हुं हुं श्रान्तोऽहं शिशयिषुरिहैवापवरके
क यामिन्यां यासि स्वपिहि ननु निर्दंशमशके॥ ११६॥'

अत्र प्रश्नादर्थमवगम्य उत्तरादर्थान्तरावगमो गतिः॥

जब एक अर्थ से दूसरा अर्थ निकलता है तब वहां गति नामक अर्थगुण होता है। (८७ अ)

जैसे—(कोई पथिक किसी ग्राम में पहुँच कर एक घर के द्वार पर सायंकाल के लगभग पहुँचता है। उस घर में वह एक प्रमदा को देखता है जिसके पास एक बूढ़ा आदमी बैठा है। वह पूँछता है) "भद्रे, यह बूढ़ा कौन है?" 'घर का स्वामी है।' 'क्या यह तुम्हारा बाप है?" "नहीं, मेरा पति है" इसकी दृष्टि रात्रि में काम नहीं करती और यह बहरा भी है।" "अरे, रे, मैं थका बहुत हूं और सोना चाहता हूं।" (तो फिर ठीक ही है) अब रात में कहां जाओगे, यहीं इसी भीतर के कमरे में सो जाओ, यहां न मच्छर हैं, न डांस।"

यहां प्रश्न से अर्थ समझकर पुनः उत्तर से भी दूसरे एक और अर्थ का भी ज्ञान होने से गतिगुण है।

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण में पथिक तथा नायिका के प्रश्नोत्तर से एक व्यंग्य अर्थ भी निकलता है। यह अर्थ वाच्य अर्थ से ही प्रकट होता है। वहां विशेप रूप से 'रतौंधी वाले' तथा 'बहरे' विशेषणों का रमणी द्वारा प्रयोग, इस बात को और स्पष्ट करता है कि यह इस समय न तो हमारे कृत्यों को देख सकता है और न हमारे प्रेमालाप को सुन ही सकता है। इसी प्रकार पथिक की सोने की इच्छा उसकी कामुकता को प्रकट करती है और नायिका का भीतरी कमरे में स्थान देना तथा दंश और मच्छरों से मुक्त बताना स्वच्छन्द और निर्बाधरमण की ओर भी संकेत करता है। अतः यहां वाच्य अर्थों से एक व्यंग्य अर्थ भी प्रकट होता है।

गतिरिति। अर्थादर्थविशेषात्। हृदयसंवादिन इति यावत्। अर्थान्तरस्य तथाभूतस्य। तेन यत्र सहृदयहृदयंगमादर्थात्कांस्यतालानुस्वानन्यायेन तादृशमर्थान्तरमवगम्यते सा गतिरिति लक्षणार्थः॥ शुभे कोऽयं वृद्ध इति। सर्वाकारमनवद्यायास्तावद्दास्यमपि नायमर्हतीति हृदयानुकूलमर्थं प्रश्नादवगत्य गृहपरिवृढ इत्युत्तरम्। अस्मादपि मम नायं कोऽपि किं तु गृहस्वामीति हृदयसंवादिनमर्थमवधार्य किं तव पितेत्यादिकप्रश्नोत्तरशृङ्खला गवेषणीया। तदेतद्व्याचष्टे—उत्तरादिति। उत्तरप्रत्युत्तरवाक्यात्। उत्तरं तु पदं प्रश्नपदमेव॥

(२२) रीतिगुण

रीतिः सा यस्त्विहार्थानामुत्पत्त्यादिक्रियाक्रमः॥ ८७॥

यथा—

'प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभ-
स्तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः ।
प्रभवति पुनर्ध्वान्तध्वंसक्षमः क्षणदामुखे
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥ १२० ॥'

अत्रोदयादारभ्य चन्द्रस्योत्पत्त्यादिक्रियाक्रमो रीतिः ॥

वाक्य में जो वस्तुओं की उत्पत्ति आदि क्रियाओं का यथाक्रम वर्णन है, वही रीति है ॥८७॥

जैसे—रात्रि के प्रारम्भ होते ही सायंकाल सर्वप्रथम तो कुछ लाल-लाल, उसके बाद फिर स्वर्ण-सी पीली-पीली कान्ति से युक्त, उसके बाद वियोगपीडिता दुर्बल नायिका के कपोल मण्डल सी श्वेतकान्ति से युक्त होकर और उसके भी पश्चात् अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ और ताजे मृणाल के टुकड़े की भांति अत्यन्त शुभ्र वर्ण वाला चन्द्रमा उदित हो रहा है ॥ १२० ॥

यहां उदय से लेकर चन्द्रमा की उत्पत्ति आदि की क्रियाओं का क्रमशः निरूपण है, अतः यहां रीति नामक गुण है ।

स्व० भा०—ध्यान रखना चाहिये कि यहां उत्पत्ति का क्रमिक वर्णन है, न कि स्वभाव का वर्णन या वस्तु का ही सामान्य निरूपण, अतः यहां अर्थव्यक्ति और जाति का भ्रम नहीं होना चाहिए ।

रीतिरिति । उत्पत्त्यादीनां क्रियाणां क्रमः काव्यशोभावहत्वेन गुणः । नेदं वस्तुस्वभाव-वर्णनमिति जातेरर्थव्यक्तेश्च भेदः । सुगममुदाहरणम् ॥

(२३) उक्तिगुण

उक्तिर्नाम यदि स्वार्थो भङ्ग्या भव्योऽभिधीयते ।

यथा—

'त्वमेवंसौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः ।
अपि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वा-
मतः शेषं चेत्स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया ॥ १२१ ॥'

अत्राभीष्टस्य नायकनायिकासंगमस्य भङ्ग्या भणनमुक्तिः ॥

यदि वक्ता का अभिप्राय प्रकारान्तर से किसी मनोहर अर्थ को प्रकट करना हो तो वहाँ उक्ति नामक गुण होगा ॥ ८८ अ ॥

जैसे—(कोई दूती किसी नायिका को नायक से विवाह करने के लिए मनुहार करती हुई दोनों की परस्पर गुणशालिता का उल्लेख करती है और कहती है कि) हे सुन्दरि, तुम इस प्रकार की सुषमा से मण्डित हो और वह नायक भी सौन्दर्य से पूर्णतः परिचित है,—वह गुण का पारखी है—सुन्दर का सम्मान करना जानता है । तुम दोनों ही कलाओं की चरमसीमा प्राप्त कर चुके हो । यदि कहीं सौभाग्य से तुम दोनों का जोड़ा बन जाये अथवा तुम दोनों की जोड़ी परस्पर बातचीत करने लगे तो फिर इसके आगे की शेष बातें तो इस पृथ्वी पर तुम दोनों के गुणों द्वारा मानो जीत ही ली गई हैं ॥ १२१ ॥

यहाँ वक्ता का अभीष्ट है नायक और नायिका का समागम। इसका वक्रोक्ति द्वारा कथन हो जाने से यहाँ उक्ति गुण है।

स्व० भा०—वामन ने यह उदाहरण उदारता नामक गुण के प्रसङ्ग में (३।२।१२) दिया है। वस्तुतः नायिका तथा नायक का समागम दूती को अभीष्ट है। उसी को वह स्पष्ट शब्दों में न कह कर प्रकारान्तर से चतुरता से व्यक्त करती है।

उक्तिरिति। स्वीयोऽभीष्टोऽर्थः स्वार्थः। तस्य साक्षात्प्रतिपादनमनुचितमिति अर्थान्तरभङ्गिभिः प्रतिपादनमर्थगुणः। भव्यो मनोहरः। सुगममन्यत्। नायकनायिकासंगमस्येति। नायकस्य नायिकया तस्याश्च नायकेनेति परस्परोत्कण्ठाप्रकर्षो विवक्षितः। तेनैकशेषो न भवति॥

(२४) प्रौढिगुण

विवक्षितार्थनिर्वाहः काव्ये प्रौढिरिति स्मृता॥ ८८॥

यथा—

'त्वद्वक्त्रेन्दुविलोकनाकुलधिया धात्रा त्वदीयां श्रियं
निक्षिप्य प्रतिराजकेषु विदुषां लक्ष्म्या त्वमापूरितः।
तेनैते नियतं दरिद्रति गृहेष्वेषामियं दृश्यते
नैनामाद्रियसे त्वमिच्छसि नु तां त्वामेव सा धावति॥१२२॥'

अत्र त्वद्वक्त्रविलोकनाकुलेन धात्रा त्वदीया लक्ष्मीः शत्रुषु निक्षिप्य विदुषां च लक्ष्मीस्त्वय्यारोपिता। अतस्त्वं विपक्षलक्ष्मीमाद्रियसे सा च त्वामनुधावति। या च विदुषां लक्ष्मीस्तया त्वमापूरितस्तेन ते दरिद्राः। अत एव त्वमेनां नाद्रियसे। इयं च विद्वद्गेहेष्वेव दृश्यते इत्येतावतः प्रभूतस्यार्थस्यानेकवाक्येन प्रतिपादितत्वाद्विवक्षितार्थनिर्वहणं प्रौढिः॥

काव्य में कवि की मनचाही वस्तु का यथावत् वर्णन (अल्पवाक्यों द्वारा ही) कर देना प्रौढि है॥ ८८॥

जैसे—कोई कवि राजा की प्रशंसा में कहता है कि हे महाराज, ब्रह्मा ने जब आपके मुखचन्द्र का निर्माण किया, उस समय इसके सौन्दर्य को देखकर वह आश्चर्य में पड़ गए। उसी आश्चर्य के कारण व्यग्रचित्त होने से उन्होंने आपकी सम्पत्तियों को शत्रु राजाओं के पास रख दिया और विद्वानों की समृद्धि से आपको पूर दिया। निश्चित ही इसीलिए ये विद्वान् दरिद्र हैं और इनके घरों में यही दिखाई भी पड़ती है। यही कारण है कि आप दरिद्र विद्वानों की लक्ष्मी का आदर नहीं करते और जिस शत्रु-लक्ष्मी की आप इच्छा करते हैं, वह आपकी ही ओर दौड़-दौड़ कर आ रही है॥ १२२॥

यहाँ पर 'तुम्हारे मुख को देखकर व्याकुल हो उठे विधाता के द्वारा तुम्हारी लक्ष्मी शत्रुओं के यहाँ रख दी गई और विद्वानों की लक्ष्मी का तुम्हारे ऊपर आरोप कर दिया गया। इसीलिए तुम्हें शत्रुओं की लक्ष्मी प्रिय है और वह भी तुम्हारी ही ओर दौड़ती है। विधाता ने जो विद्वानों की लक्ष्मी है उससे तुमको पूर्ण कर दिया, इसलिए वे दरिद्र हो गए। अतएव आप इसका सम्मान नहीं करते। यह भी विद्वानों के ही घरों में दिखती है। इस इतने अधिक अर्थ का कई वाक्यों द्वारा प्रतिपादन करने से अभीष्ट अर्थ का निर्वाह हो जाने से प्रौढ़ि गुण है।

विवक्षितेति। कवेरभिमतस्य भूयसोऽप्यर्थस्य स्वल्पेनैव वाक्येन प्रतिपादनं प्रौढिः। तथा हि—त्वां निर्माय जगद्विलक्षणवस्तुनिर्वहणचमत्कृतस्य धातुस्त्वद्वक्त्रेन्दुविलोकनं तदासङ्गेन त्वदर्थनिर्मितायाः श्रियः प्रतिराजकेषु भ्रमणक्रमेण संचारणं तत्पूर्वापरप्रतिसंवात(न)वलाद्विद्वद्वधो लक्ष्मीमाकृष्येत्यादिको भूयानर्थः स्तोकेन वाक्येनोपनीत इति॥

संप्रत्यतिप्रसङ्गवारणार्थं क्रमप्राप्ता वैशेषिकगुणा लक्षितव्याः। ते च दोषा अपि सन्तो गुणीभावमापन्ना उच्यन्ते। तत्रैष कवीनामालापः—

'सामण्णसुन्दरीणं विब्भमसुव्वहइ अविणओच्चेअ।
धूमोच्चिअ पज्जलिआणं बहुमओ सुरहिदारूणम्॥'
['सामान्यसुन्दरीणां विभ्रमसुद्वहत्यविनयोच्छ्रायः।
धूमोच्चयः प्रज्वलितानां बहुमतः सुरभिदारूणाम्॥']

वैशेषिक अथवा दोषगुण प्रकरण

दारुणानां गुणत्वमिति शङ्कां दर्शयन्नाह—

पदाद्याश्रितदोषाणां ये चानुकरणादिषु।
गुणत्वापत्तये नित्यं तेऽत्र दोषगुणाः स्मृताः॥ ८९॥
त्रिविधा अपि ते भूयश्चतुर्विंशतिधा बुधैः।
प्रोक्ता यथा गुणत्वेन प्रविभज्य तथोच्यते॥ ९०॥

(१) असाधुगुणता

या क्लिष्टम्लेच्छितादीनां पददोषेष्वसाधुता।
निरूपितानुकरणे गुणत्वं सा प्रपद्यते॥ ९१॥

यथा—

'उन्नमय्य सकचग्रहमास्यं चुम्बति प्रियतमे हठवृत्त्या।
हुं हु मुञ्च ममेति च मन्दं जल्पितं जयति मानवतीनाम्॥ १२३॥'

अत्र हुं मुञ्च ममेत्यसाध्वोरपि क्लिष्टम्लेच्छितयोरनुकरणत्वाद्गुणत्वम्॥

पद आदि पर आश्रित दोषों में जो अनुकरण आदि करने पर सदा गुणत्व प्राप्त कर लेते हैं वे इस प्रसङ्ग में दोषगुण के नाम से याद किए गए हैं॥ पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ इन तीन प्रकार के होते हुये भी वे प्रत्येक विद्वानों के द्वारा चौबीस-चौबीस प्रकार के कहे गए हैं। वे जिस प्रकार गुण हो जाया करते हैं, उनका विवेकपूर्वक विभाजन करके उल्लेख किया जा रहा है॥ ८९-९०॥

पद दोषों में क्लिष्ट (लुप्तैकदेश), म्लेच्छित (अव्यक्तरूप) (ग्रस्त, निरस्त, उपध्मात, कम्पित) आदि की जो असाधुता निरूपित की गई है, वही अनुकरण करने पर गुणत्व प्राप्त करती है॥ ९१॥

जैसे—केश पकड़कर, ऊपर उठाकर प्रियतम द्वारा जबर्दस्ती प्रियतमा का मुख चूमने पर मानवती कामिनियों के द्वारा धीरे-धीरे कहा गया 'हुँ हु, मेरा पल्ला छोड़ो' आदि पद सबसे सुन्दर है॥ १२३॥

यहाँ पर 'हुं हु ममम' यह सब व्याकरण से सिद्ध न होने से असाधुत्व दोष से संयुक्त हैं, किन्तु इन श्लिष्ट तथा म्लेच्छित दोनों पदों का अनुकरण करने से गुणत्व आ गया है।

स्व० भा०—किसी द्वारा कहे गए शब्दों को उन्हीं रूपों में व्यक्त करना अनुकरण है। अतः जब कोई व्यक्ति किसी की कही हुई शब्दावली का अनुकरण करता है उस समय उससे अपेक्षा की जाती है कि वह वक्ता के शब्दों को ज्यों का त्यों उपस्थित करेगा। यदि वक्ता का उच्चारण अशुद्ध है, तो अनुकर्त्ता को अशुद्ध उच्चारण करके ही शुद्धता रखनी पड़ती है। ऐसी दशा में वहाँ दोष नहीं होता।

प्रस्तुत उदाहरण में ही कोई नायिका अथवा पुरुष ही किसी मानिनी के उस विशेष स्थिति में उक्त शब्दों का अनुकरण करता है। मानिनी ने 'हुं हु ममम' ध्वनियों का उच्चारण किया था अतः द्वितीय 'हुं' पर अनुस्वार न होने से श्लिष्टत्व दोष तथा 'ममम' का रूप अव्यक्त होने से म्लेच्छित दोष होने पर भी यथावत् उच्चारण करने से असाधुत्व पददोष नहीं हुआ। किसी पद के किसी भी एक वर्ण या मात्रा को लुप्त कर देना श्लिष्टता है और किसी पद का स्वरूप अस्पष्ट रहना म्लेच्छितत्व है। यहाँ प्रथम दोष द्वितीय 'हु' से अनुस्वार हटा देने के कारण है तथा द्वितीय दोष 'ममम' का कोई एक पद निश्चित न हो पाने से है।

यद्यपि इन दोषों में गुणत्वाधान अनुकरण के कारण होता है, ऐसा कहा गया है, किन्तु अनुकरण तो मात्र उपलक्षण है। अन्य कारणों से भी अदोषता आती है। रत्नेश्वर के अनुसार—
"यद्यपि चानुकरणादिका एव न गुणाः तथाप्यनुक्रियमाणाद्यभेदोपचारेणोक्तम्।"
रुद्रट ने भी घोषणा की थी कि—

अनुकरणभावमविकलमसमर्थादि स्वरूपतो गच्छन्।
न भवति दुष्टमताद्दृग्विपरीतक्लिष्टवर्णं च ९।६।४७॥

भोज ने शब्द तथा अर्थ दोषों के अर्थात् पद, वाक्य और वाक्यार्थ दोषों का वर्णन करने के बाद शब्दाश्रित बाह्यगुणों का तथा अर्थाश्रित आभ्यन्तर गुणों का सोदाहरण लक्षण निर्देश किया। इनके अनुसार एक प्रकार के गुण और भी होते हैं जिनको वैशेषिक गुण कहा जाता है। ये होते तो हैं वस्तुतः दोष ही किन्तु ये दोषों की भांति मुख्यार्थ का बाध न कर पाने के कारण गुण हो जाया करते हैं। भोज के टीकाकार रत्नेश्वर ने इनकी बड़ी रोचक भूमिका दी है—

'ते च दोषा अपि सन्तो गुणीभावमापन्ना उच्यन्ते। तत्रैव कवीनामालापः—
सामाण्णसुन्दरीणं विब्भममुव्वहइ अविणओच्चेअ।
धूमोच्चिअ पज्जलिआणं बहुमओ सुरहिदारूणम्'॥ अर्थात्
(सामान्यसुन्दरीणां विभ्रममुद्वहत्यविनयोच्छ्रायः।
धूमोच्चयः प्रज्ज्वलितानां बहुमतः सुरभिदारूणाम्॥)

भोज ने शृङ्गारप्रकाश के अष्टम प्रकाश में उपर्युक्त गाथा को दिया है।

यह एक शाश्वत सत्य है, जिसे प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। आचार्य भामह ने बहुत पहले ही घोषित किया था कि संनिवेश तथा आश्रय के वैशिष्ट्य से दोष भी गुण हो जाते हैं।

सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव॥
किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥ १।५४-५५॥

वामन ने काव्यालंकारसूत्र के द्वितीय अधिकरण के द्वितीय अध्याय के १२ वें से १७ वें सूत्रों तक एकार्थ दोष न होने की बात कही है। दण्डी ने भी दोषापवादों का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है। इनके विचारों, लक्षणों तथा उदाहरणों को अनेक स्थानों पर भोज ने अक्षरशः ग्रहण किया है। इनका यथास्थान आगे निर्देश होता रहेगा। रुद्रट ने भी यथास्थान असामर्थ्य, ग्राम्य आदि दोषों की 'अदूषकता' की भी स्थापना की है (काव्यालंकार षष्ठ अध्याय)। परवर्तियों में मम्मट ने 'अनुकरणे तु सर्वेषाम्' (७ मे उल्लास) कह कर अन्य स्थानों पर अनेक दोषों के 'अदोष' होने की चर्चा की है। विश्वनाथ ने भी अपना मत प्रकट किया था कि—"अनुकारे च सर्वेषां दोषाणां नैव दोषता" (सा० द० ७।३१)॥ इसके अतिरिक्त यह भी बतलाया था कि—

अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता॥ सा० द० ७।३२॥

इन समस्त स्वीकृतियों के बावजूद भी किसी ने नामकरण नहीं किया, कि जो दोष होते भी गुण हो जाया करते हैं, उनको क्या नाम दिया जाये। भोज ने यह काम अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया है। जयदेव ने भी ऐसी स्थितियों को जिनमें दोष दोष नहीं रहते उसके गुणकर्तृत्व को 'दोषाङ्कुश' कहा है—

दोषमापतितं स्वान्ते प्रसरन्तं विशृङ्खलम्॥
निवारयति यस्त्रेधा दोषाङ्कुशमुशन्ति तम्।
दोषो गुणत्वं तनुते दोषत्वं वा निरस्यति॥
भवन्तमथवा दोषं नयत्यत्याज्यतामसौ॥ चन्द्रा. २।४०-४२॥

भोज ने पद, वाक्य तथा वाक्यार्थगत दोषों को स्वीकार किया था। प्रत्येक के १६-१६ भेदों को भी माना था। अब उन दोषों को एक-एक करके सिद्ध कर रहे हैं कि वे कैसे दोष नहीं होते।

पदादीति। पदवाक्यवाक्यार्थदोषाणां गुणत्वापत्तये नित्यं ये भवन्ति, तेऽनुकरणादिषु मध्ये दोषगुणाः स्मृता इति संबन्धः। यद्यपि चानुकरणादिका एव न गुणाः, तथाप्यनुक्रियमाणाद्यभेदोपचारेणोक्तम्। पदादिदोषेष्वन्त्यान्त्यस्यैकस्य नवधा भेदे चतुर्विंशतिप्रकाराः। यथेति। येनोपाधिना गुणीभवनमाचार्यैरुपपादितं तत्तदुपाधिविभागप्रदर्शनं करिष्यत इति। या श्लिष्टेति। इह द्वये दोषा नित्या अनित्याश्च। तत्रानुकरणमात्रानपवदनीयदोषभावाश्च्युतसंस्काराप्रयुक्तादयो नित्याः। अनुकरणीयानुकरणानपवादकहेतुकाः श्रुतिकटुत्वप्रभृतयस्त्वनित्याः। येषु पददोषेषु श्लिष्टम्लेच्छितप्रभृतीनां यासाधुता निरूपिता, सा गुणत्वमनुकरणे प्रपद्यत इत्यन्वयः। लुप्तैकदेशं श्लिष्टम्। अव्यक्तरूपं म्लेच्छितम्। आदिग्रहणेन ग्रस्तनिरस्तोपध्मातकम्पितादयः। हुं हु इति द्वितीयहुंकारे बिन्दुप्रोञ्छनाच्छ्लिष्टम्। मममेति। किं मुग्ध मुग्धेति श्लिष्टमुत ममेति न निश्चीयते। अनुकरणत्वाद्गुणत्वमिति। अर्थविशेषे हि साधुत्वव्यवस्थेति। यच्चाशक्तिजमसाधुरूपम्, तस्यानुकरणे साधुत्वमिष्यत इत्युक्तम्, अनुक्रियमाणं तु स्वरूपपदानुकरणतया पूर्वार्थत्यागेन साध्वेव। तस्यैवानुकरणस्य तत्कालरज्यमानवतीमममवचनानुकारतया च गुणीकरणसामर्थ्यमिति॥

(२) अप्रयुक्तत्व दोषगुण

गुणत्वमप्रयुक्तस्य तथानुकरणे भवेत्। ६२ अ।

यथा—

'दिवं पत्काषिणो यान्ति येऽचीकमत भाषिणः ।
पत्काषिणोऽपि नो यान्ति ये वचन्ति प्रयुञ्जते ॥ १२४ ॥'

अत्राचीकमत वचन्तीत्यादिपदानां कविभिरप्रयुक्तानामप्यनुकरणत्वाद् गुणत्वम् ।

अप्रयुक्तत्व दोप भी अनुकरण करने पर गुणत्व प्राप्त कर लेता है ॥ ९२ अ ॥

जैसे—"पादों को कसने वाले स्वर्ग जाते हैं, जो "अचीकमत" कहते हैं । पादों को कसने वाले भी नहीं जाते हैं, जो 'वचन्ति का प्रयोग करते हैं ॥ १२४ ॥

यहाँ पर 'अचीकमत' 'वचन्ति' आदि पदों का कवियों द्वारा प्रयोग न होने पर भ. अनुकरण के कारण गुणत्व आ गया है ।

स्व० भा०—'पत्कापिणः' 'अचीकमत' 'वचन्ति' ये ऐसे पद हैं जिनका कविवर्ग में प्रचलन नहीं है किन्तु किसी व्यक्ति ने इनका प्रयोग किया और कोई दूसरा व्यक्ति उसी का अनुकरण करने लगा । अतः पदों का अनुकरण में ज्यों का त्यों प्रयोग होने के कारण यहां दोप नहीं है ।

'पत्कापिणः' पद "पादमपि कपन्तः' इस अर्थ में 'हिमकापिहतिपु च' नियम के अनुसार पाद का पत् आदेश कर देने पर बना है । इसी प्रकार √कमि धातु से 'अचीकमथाः' की भांति (द्रष्टव्य ९१२ य श्लोक) कामना के अर्थ में विरल रूप से प्रयुक्त हुआ है । 'वचन्ति' भी √वचि से निष्पन्न है जिसका प्रचलित रूप यह नहीं है । वस्तुतः यहाँ का अप्रयुक्तत्व दोप अनुकरण के कारण समाप्त हो गया । उक्त उदाहरण का प्रत्येक चरण स्वतन्त्र वाक्यखण्ड है ।

गुणत्वमिति । पत्कापिण इति पादमपि कपन्तः । 'हिमकापिहतिपु च' इति पादशब्दस्य पद्भावः । वचेर्वचन्तीत्येव रूपमप्रयुक्तम् । न त्वन्यथापि । 'सत्यं नाम न वच्मि' इत्यादेरनुमतत्वात् । इत्यादिपदानामित्युदाहरणान्तराभिप्रायेण ॥

(३) कष्टत्व दोषगुण

यच्छ्रुतेर्विरसं कष्टं तस्य दुर्वचकादिषु ।
गुणत्वमनुमन्यन्ते सानुप्रासस्य सूरयः ॥ ९२ ॥

यथा—

'त्वाष्ट्रास्त्वाष्ट्रारिराष्ट्रे न भ्राष्ट्रे नादंष्ट्रिणो जनाः ।
धार्तराष्ट्राः सुराष्ट्रे न महाराष्ट्रे च नोष्ट्रिणः ॥ १२५ ॥'

अत्र श्रुतिविरसत्वात् कष्टत्वेऽपि दुर्वचकत्वाद् गुणत्वम् ॥

कर्णकटु होने से जो कष्टत्व दोप होता है अनुप्रास से संयुक्त होने पर दुर्वचक आदि प्रसंगों में उसी को बुद्धिमान् लोग गुण मानते हैं ॥ ९२ ॥

जैसे—राक्षसगण स्वर्ग में नहीं हैं, भाड पर दन्तहीन लोग नहीं हैं, सौराष्ट्र में विशेप प्रकार के हंस नहीं हैं और महाराष्ट्र में ऊँट रखने वाले लोग नहीं हैं ॥ १२५ ॥

यहाँ कर्णकटुता होने से कष्टत्व दोप होने पर भी दुर्वचक होने से गुणता आ गई ।

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण के श्लोक में मूर्धन्य व्यञ्जनों का संयोग होने से सुनने में कर्णकटुता का अनुभव होता है । किन्तु सवर्ण वर्णों की अनेकावृत्तियों के कारण यहां अनुप्रास

अवश्य आ गया है। जो वर्ण किसी रस विशेष को पुष्ट करने में बाधक होते हैं, उन्हें दुर्वचक कहा जाता है। कठोर वर्णों का प्रयोग शृङ्गार, करुण आदि में अनुचित माना जाता है। ऐसा होने पर भी अलंकारत्व आ जाने से इन वर्णों का प्रयोग विशेष अखरता नहीं। दुर्वचक वर्णों के विषय में नियम हैं—

शषौ सरेफसंयोगौ टवर्गश्चापि भूयसा। विरोधिनः स्युः शृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युताः॥
त एव विनिवेश्यन्ते वीभत्सादौ रसे यदा। तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसच्युताः॥

यच्छ्रुतेरिति। दुर्वचकयोगा इति व्यावहारिकचतुःपथ्यां दुर्वचकप्रयोगोऽनुमतः। तस्यानुप्रासघटकत्वेऽलंकारनिर्वहणक्षमतया कविशक्तिव्यञ्जकस्य गुणीभावः। आदिपदेन रौद्रादिरसानुप्रवेशः। यदाह—

'शषौ सरेफसंयोगौ टवर्गश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः शृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युताः॥
त एव विनिवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा।
तदा तं दीपयन्त्येव ते न वर्णा रसच्युताः॥' इति।

त्वाष्ट्रा राक्षसास्त्वष्टुरपत्यं वृत्रस्तस्यारिरिन्द्रस्तस्य राष्ट्रे स्वर्गे न सन्ति। भ्राष्ट्रे चणकादिभर्जनस्थाने न कुण्ठदंष्ट्रा भवन्ति। असितचञ्चुचरणा हैमा धार्तराष्ट्रा न विद्यन्ते। उष्ट्रिण उष्ट्रोपजीविनः॥

(४) अनर्थक दोषगुण

यत्पादपूरणाद्यर्थमनर्थकमुदाहृतम्।
गुणत्वमनुमन्यन्ते तस्यापि यमकादिषु॥९३॥

यथा—
'योषितामतितरां नखलूनं गात्रमुज्ज्वलतया न खलूनम्॥१२६॥'
बभौ मुखेनाप्रतिमेन काचन श्रियाधिका तां प्रति मेनका च न॥१२७॥'

अत्र खलुशब्दस्य चशब्दस्य च पादपूरणमात्रेऽपि प्रयोजने यमकत्वाद् गुणत्वम्॥

केवल पादपूर्ति के लिए उपयोगी जो निरर्थकत्व दोष से युक्त पद कहा गया है, उसको भी विद्वान् लोग यमक आदि में गुण मानते हैं॥९३॥

जैसे—(शिशुपालवध के दशम सर्ग में रत्युत्सव के पूर्व किए गए नखच्छेद आदि का वर्णन करते हुये माघ कहते हैं कि) अपनी गोराई के कारण प्रमदाओं का शरीर अत्यधिक नखक्षतों से युक्त कर दिये जाने पर भी शोभा में तनिक भी कम न पड़ा। (शिशु, १०।९०)। (इसी प्रकार प्रदोष वर्णन प्रसङ्ग में वर्णन है कि) कोई नायिका अपने अनुपम मुखमण्डल के कारण शोभा से और भी अधिक चमक उठी। उसके सामने तो मेनका भी कुछ नहीं थी। (शिशु० ९।८६)

यहाँ 'खलु' तथा 'च' शब्दों का पादपूरणमात्र उद्देश्य होने पर भी यमक अलङ्कार होने के कारण गुणत्व आ गया है।

स्व० भा०—छन्द में 'नखलूनं' तथा 'न खलूनं' और 'काचन' तथा 'मेनका च न' इन पदों की पुनरावृत्ति के कारण यमक है, यद्यपि परवर्ती 'खलूनं' का 'खलु' तथा 'च न' का 'च' दोनों

पादपूर्ति के लिए ही प्रयुक्त हुये थे। इनके आने से छन्द में एक नया चमत्कार पैदा हो गया। अतः यहाँ दोष नहीं है। उदाहरण के प्रथम दोनों तथा अन्तिम दोनों चरण पृथक् २ श्लोकों के हैं।

यत्पादपूरणेति। द्योतनीयमर्थमन्तरेण प्रयुक्तमव्ययपदमनर्थकमित्युक्तम्। पादपूरणार्थत्वं तु दूषणताबीजम्। आदिग्रहणाद्द्वयपूरणम्। सति तूपयोगे तस्य तद्बीजाभावाद्दोषभावविरहोऽलंकारारम्भे च गुणत्वम्। तदिदमुक्तम्—यमकादिष्विति। आदिशब्दोऽनुप्रासचित्रादिपरः। वाक्यालंकारार्थत्वमपि शब्दालंकारारम्भकत्वमेव। यदाह—'आर्षापिपुत्रकर्षिकवैदिकादिवाक्यानामलंकारहेतवो वाक्यालंकारार्थाः' इति। तेन—

'उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते मम हि गौरि।
अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति युष्मत्प्रसादेन॥' इति।

अत्र हि प्र इत्येतयोर्न वाक्यालंकारप्रयोजकत्वमित्युक्तप्रायम्। योषितामित्यादावतितरां नखलक्ष्नं योषितां गात्रमुज्ज्वलतया नोनमित्येव पर्याप्ते द्वितीयपादे तदुभयमपि यमकारम्भकं सत्प्रस्तुतोपयोगितया कविव्युत्पत्तिपुरस्कारप्रवृत्तमपजहाति दोषभावमुपादत्ते च गुणत्वमिति॥

(५) अन्यार्थदोषगुण

यत्तु रूढिच्युतत्वेन प्रोक्तमन्यार्थसंज्ञितम्।
प्रहेलिकादिषु प्रायो गुणत्वं तस्य युज्यते॥ ९४॥

यथा—

'खातयः कनि काले ते स्फातयः स्फार्हवल्गवः।
चन्द्रे साक्षाद्भवन्त्यत्र वायवो मम धारिणः॥ १२८॥

अत्र खातय इत्यादीनां घर्घरिकादौ धृङश्चानवस्थाने न रूढिः। गूढार्थे तु प्रहेलिकादौ तन्न दुष्यतीति तेषां दोषगुणत्वम्॥

जो रूढ अर्थ से च्युत हो जाने के कारण सम्भव अन्यार्थ नामक दोष कहा गया था, प्रहेलिका आदि में प्रयोग होने से उसमें गुणत्व हो जाता है॥ ९४॥

जैसे—'हे कन्ये, तुम्हारे आह्लादक चरणों में बँधे घुघुरुओं की ध्वनियाँ का प्रत्यक्ष हो रहा है। (अतः इन प्रखर उद्दीपनों के होने पर तो) मेरे प्राण अब यहाँ रुकने वाले नहीं। अथवा हे कुमारी, तुम्हारे चलने पर तुम्हारे चरणों में से प्रचुर एवं मनोहर शब्द होते हैं, अतः चन्द्रमा के सदृश आह्लादक इन तुम्हारे चरणों में मेरी प्राणवायु स्थित हैं॥ १२८॥

(द्वितीय अर्थ काव्यादर्श ३।१११ के पण्डित रामचन्द्र मिश्र के अनुवाद पर आधृत है)।

यहाँ 'खातयः' आदि का 'घर्घर' आदि अर्थों में तथा √धृङ् धातु का अनवस्थान—न रह पाने के अर्थ में रूढि—परम्परा—नहीं है। रहस्यपूर्ण अर्थ वाली पहेली आदि में वह दोष नहीं रह जाता। अतः यहाँ उसी में गुणत्व है।

स्व० भा०—इसमें 'कनी' का कुमारी, काल का चरण, स्फाति का अत्यन्त फैला हुआ, खाति का 'घर्घर' आदि शब्द, स्फार्ह का मनोहर, वल्गु का ध्वनि इसी प्रकार चन्द्र आदि का आह्लादक अर्थ अप्रसिद्ध है। ये अर्थ रूढ नहीं अपितु यौगिक हैं। अतः दोष होना चाहिये था, किन्तु पहेली में इन्हीं अर्थों की विवक्षा होने से दोष नहीं रहा, क्योंकि पहेली में इसी प्रकार की अस्पष्ट बातों की

ही तो अपेक्षा होती है। दण्डी ने यह छन्द प्रसुपिता नामक पहेली के उदाहरण के (काव्यादर्श ३।१११) रूप में रखा है।

यत्विति। रूढिच्युतत्वेन द्वितीयां संज्ञां प्रयोजयति। आकीर्णामन्त्रणाद्युपयोगिनी प्रहेलिका। तथा च—तद्विदसंभाषायां विदग्धैरुपन्यासैः स्वार्थाप्रत्यायकत्वलक्षणबीजभावान्न दोषः, गुणस्तु भवति। अनुकरणादिकमादिपदेन गृह्यते। खातयो घर्घरिकाः। कनीति कन्यासंबोधनम्। कालध्वरणः कर्णाटदेशभाषानुसारात्। स्फातयः स्फीताः। स्फार्हो मनोहरः। वल्गुर्ध्वनिः। चन्द्र आह्लादकः। वायवः प्राणाः। धारिणोऽनवस्थिताः। तदयं वाक्यार्थः—हे कनि कन्ये, तवाह्लादकचरणबद्धा यथोक्तविशेषणा घर्घरिकाः साक्षाद्भवन्ति श्रोत्रेण प्रत्यक्षीक्रियन्ते। अत्र प्रस्तावे मम प्राणा उद्दीपनप्रकर्षमसहिष्णवो धारिणोऽनवस्थिता इति। व्रणप्ररोहस्थानादौ खात्यादिशब्दानां रूढिर्न तु घर्घरिकादावित्याह—अत्रेति। नामधातुविवक्षया द्विधा व्याख्यातम्॥

(६) अपुष्टार्थदोषगुणता

तुच्छवाच्यमपुष्टार्थमिति यत्प्राक्प्रकाशितम्।
तस्य च्छन्दोऽनुरोधादौ गुणत्वमवधार्यते॥ ९५॥

यथा—

'द्विरष्टवर्षाकृतिमेनमर्थिनामुशन्ति कल्पोपपदं महीरुहम्।
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते॥ १२६॥'

अत्र द्विरष्टवर्षाकृतिमिति कल्पोपपदं महीरुहमिति हिरण्यपूर्वं कशिपुमित्यस्य तुच्छार्थत्वेऽपि च्छन्दोऽनुरोधाद् गुणत्वम्॥

शब्द की अपेक्षा अल्प (तुच्छ) अर्थ होने पर जो अपुष्टार्थ पददोष पहले कहा जा चुका है, उसी की छन्दों में विशेष अपेक्षा होने पर उसमें दोष के स्थान पर गुणत्व आ जाता है॥ ९५॥

जैसे—सोलह (द्विरष्ट) वर्ष के शरीर वाले इस राजा को लोग याचकों का कल्पवृक्ष (कल्प शब्द को उपपद रखने वाला महीरुह = कल्पमहीरुह = कल्पवृक्ष) कहते हैं। जिसको हरि के 'इन्द्र' इस नाम तथा वैभव दोनों का नष्ट कर देनेवाला हिरण्यकशिपु (हिरण्य है पहले जिसके ऐसा कशिपु = हिरण्यकशिपु) कहते हैं॥ १२९॥

यहाँ पर 'द्विरष्टवर्षाकृति' 'कल्पोपपदं महीरुहम्', 'हिरण्यपूर्वं कशिपुम्' इनमें तुच्छार्थता होने पर भी छन्द पूर्ति के लिए इसी रूप की अपेक्षा होने के कारण गुणता है।

स्व० भा०—शब्दों की संख्या अधिक होने पर भी जब अर्थ बहुत कम प्राप्त होता है तब वहाँ तुच्छार्थता कही जाती है। प्रस्तुत छन्द में भी अभीष्ट है केवल सोलह, कल्पवृक्ष, हिरण्यकशिपु रूप अर्थ किन्तु इनके लिये कितने बड़े-बड़े पद प्रयुक्त किए गए हैं। अतः कम अर्थ होने से दोष था, किन्तु विवशता यह है कि इन्हीं रूपों में इन शब्दों का प्रयोग करने पर छन्दपूर्ति होती है। इनका पर्याय रखने पर भी छन्द पूर्ण नहीं हो सकता। अतः यहाँ यह दोष न होकर गुण ही है। उद्धृत किए गए छन्द का उत्तरार्ध शिशुपालवध (१।४२) का है।

तुच्छेति। शब्दपल्लवनस्य प्रकृतरसाननुगुणत्वेन दोषत्वप्रसङ्गे क्वचिदनन्यगतिकतया कवेरुत्पाद्यते। तथा हि—भिन्नसर्गान्तैरित्यादिना सर्गाणामौत्सर्गिकैकवृत्तनिर्वाहौचित्ये स यथोक्तसंक्षिप्तशब्दाप्रवेशात्पररूपेण तदर्थत्वस्य विवक्षितत्वाच्च शब्दविकासे न दोषः, किं

तु गुण एव। प्रकृतोदाहरणे द्विरष्टवर्षाकृतिमिति कल्पोपपदं महीरुहमिति च निदर्शनं मन्यन्ते। षोडशादिशब्दानामपि वंशस्थप्रवेशत्वादनन्यगतिकत्वाभावात्। हिरण्यपूर्वं कशिपुमिति तु संगच्छते। नहि हिरण्यकशिपुशब्दोऽत्र प्रविशति। प्रदर्शनार्थं तु द्वयमन्यदप्युपात्तम्। एवंविधः शब्दविस्तरो गुणतामासादयतीत्याशयात्। तेनायमर्थः—पल्लवाख्यशब्दगुणे तावत्तुच्छता चमत्कारितया गुणधुराधिरूढैवाविस्तरविविक्तविषयतया क्व विशेषगुणस्य भवतीति जिज्ञासायां तु छन्दोऽनुरोधो विहितः। सोऽपि हि कादाचित्कः करोत्येव दोषसावन्याावृत्तमिति॥

(७) असमर्थदोषगुण

प्रतिपादितमादौ यदसमर्थमवाचकम्।
तस्यापि खलु मन्यन्ते गुणत्वं सीत्कृतादिषु॥ ९६॥

यथा—

'आशु लङ्घितवतीष्टकराग्रे नीविमर्धमुकुलीकृतदृष्ट्या।
रक्तवैणिककराहततन्त्री मण्डलक्वणितचारु चुकूजे॥ १३०॥

अत्र कूजितस्य पक्षिणोऽन्यत्रावाचकत्वेऽपि कामशास्त्रेऽनुमतत्वाद् गुणत्वम्॥

(पददोष विवेचन प्रसंग में) पहले कह दिया गया है कि असमर्थत्व दोष वहाँ होता है जहाँ किसी पद से उसका अवाच्य अर्थ ग्रहण किया जाता है। किन्तु उस असमर्थ दोष को भी सीत्कार आदि (रतिकर्म के समय प्रमदाओं द्वारा 'किये जाने वाले सी, सी आदि) के प्रसङ्गों में गुण माना जाता है॥ ९६॥

जैसे—शीघ्रतापूर्वक पति के हाथ के अग्रभाग (अंगुलियों) के नीवीबन्ध को लांघ जाने पर, (मारे आनन्द के) आंखों को अर्धनिमीलित करके कोई रमणी गाननिपुण वीणावादक द्वारा बजाई गई वीणा के स्वरसमूहों की भांति अपने गले से कुहुक उठी॥ १३०॥

'कूजित' शब्द का अर्थ 'पक्षियों की बोली के अतिरिक्त अन्यत्र स्वीकृत न होने पर भी कामशास्त्र में रतिकाल में आनन्दातिरेक से स्त्रियों के कण्ठ से निकलने वाले शब्द स्वीकृत हैं। अतः यहाँ गुण है।

स्व० भा०—कूजित का अर्थ "किया गया अव्यक्त शब्द" है। इसकी निष्पत्ति "√कूज अव्यक्ते शब्दे" धातु से है। लोक में यह पक्षियों की आवाज के अर्थ में रूढ है। ऐसा अर्थ रूढ हो जाने पर भी मनुष्यों के ध्वनि के अर्थ में प्रयोग करना अवाचकता है। अतः दोष होना चाहिए, किन्तु कामशास्त्र में विभिन्न रतिबन्धों में रमणियों के मुखों से विभिन्त पशु-पक्षि-ध्वनियों का निकलना भी मान्य है। अतः दोष होने पर भी यहाँ गुणत्व है। यह श्लोक शिशुपालवध (१०।६५) से उद्धृत है।

प्रतिपादितमिति। अस्ति कश्चिदेवं विषयो यत्रासमर्थस्य चारुतया गुणभावः। तथा हि—यद्यपि गणपाठादव्यक्तशब्दः कूजितम्, तथापि लोके पक्षिविषय एव नियतम्, तथा चाभिमतविषये प्रयुक्तं पक्षिविरुताकारमावेदयति। 'हारीतप्रभृति-'इत्यादिना कामशास्त्रकारैः सीत्कारोपदेशनात्। सीत्कारस्य च चतुःषष्टिकलात्वेन प्रवणतयात्यन्तमुपादेयत्वात्। तदाह—'अन्यान्यप्याकृतिग्रहणान्युपलक्षयेत्' इति॥

(८) अप्रतीतदोषगुण

शास्त्रमात्रप्रतीतत्वादप्रतीतं यदुच्यते ।
गुणत्वं तस्य तद्विद्यसंभाषादौ विदुर्बुधाः ॥ ९७ ॥

यथा—

'सर्वकार्यशरीरेषु मुक्ताङ्गस्कन्धपञ्चकम् ।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम् ॥ १३१ ॥

अत्राङ्गस्कन्धपञ्चकमित्यस्य शास्त्रमात्रप्रसिद्धस्यापि तद्विद्यसंभाषायां गुणत्वम् ॥

केवल शास्त्रों में ही अर्थ स्पष्ट होने से जिन पदों में अप्रतीतत्व दोष कहा जाता है उसे विद्वान् लोग उन शास्त्रों को जानने वालों के वार्तालाप में ही प्रयुक्त होने पर गुण कहते हैं ॥ ९७ ॥

जैसे—जिस प्रकार बौद्धों के लिये सभी 'भाव' पदार्थों में पञ्चस्कन्ध रूप अङ्गों के अतिरिक्त कोई दूसरी आत्मा नाम की चीज नहीं, उसी प्रकार मन्त्रणा के समय राजाओं के लिए सभी कर्त्तव्यव्यापारों में पाँच अङ्गों के आधार को छोड़कर और कोई रहस्य नहीं है ॥ १३१ ॥

यहाँ छन्द में 'अङ्गस्कन्धपञ्चकम्' इस केवल शास्त्र में ही प्रसिद्ध शब्द का प्रयोग होने पर भी उसे जानने वालों की बातचीत के सन्दर्भ में इसके होने से दोष नहीं रह गया ।

स्व० भा०—वस्तुतः अप्रतीतत्व की गणना दोषों में इसीलिए होती है, क्योंकि उसमें ऐसे पदों का प्रयोग होता है जो लोकप्रसिद्ध नहीं होते । यदि वे शास्त्र के ही पारिभाषिक शब्द न रहकर लोक में प्रचलित होते तो दोष होता ही नहीं। दुष्टता इसीलिये होती है क्योंकि उस अर्थ को जानने वाले ही नहीं होते । जब शास्त्रज्ञ लोगों के वार्तालाप में ये ही शब्द आते हैं तब दोष नहीं रह जाता क्योंकि वक्ता और श्रोता दोनों ही विज्ञ होते हैं ।

प्रस्तुत श्लोक में ही 'कार्य', 'अङ्गपञ्चक', 'स्कन्धपंचक', 'आत्मा', 'मन्त्र' आदि पद 'उत्पन्न पदार्थ', 'पुरुष, द्रव्यसम्पत् , देशकालविभाग; विनिपातप्रतीकार, तथा कार्यसिद्धि इन पाँच राज्याङ्गों' 'रूप, संज्ञा, संस्कार, वेदना, विज्ञान', 'रहस्य तथा आत्मतत्व' और 'मन्त्रणा' अर्थों में क्रमशः प्रयुक्त हुये हैं, सामान्य अर्थों में नहीं । विज्ञों द्वारा ही इनका प्रयोग किये जाने से ये दोषाधायक नहीं हुये । ये शब्द बौद्धदर्शन तथा राजनीतिशास्त्र में विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होते हैं ।

शास्त्रेति । शास्त्रमात्रप्रसिद्धानामाहत्यप्रतीत्यजननेन विवक्षितवाक्यार्थप्रत्ययपरिस्खलनं खेददायी नानासूदुदुष्टताबीजम् । यदि तु कुतश्चिद्विशेषाज्झटित्येव प्रतीतिं जनयेत्तदा कथं दोषः । अस्ति च प्रतिपत्तिव्युत्पत्त्यतिशयलक्षणो विशेषः । तदिदमुक्तम्—तद्विद्येति । मन्त्रणावसरे औचितीवशात्तत्पदानां गुणत्वमपि निर्वहति । शास्त्रप्रक्रियापेक्षित्वं गाम्भीर्यम् । शास्त्रव्यवहारसंकेतितपदानां गुणत्वमित्यन्यः प्रकारः । यथावद्विनियोगः कार्यस्तस्य प्रकारसाकल्यं शरीरम्, शब्दच्छलात्कायः आत्मा सारभूतः क्षेत्रज्ञश्च । कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपद्देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिरिति पञ्चाङ्गानि । रूपं संज्ञा संस्कारो वेदना विज्ञानमिति पञ्च स्कन्धाः ॥

(९) क्लिष्टत्वदोषगुण

अर्थप्रतीतिकृद्दूरे क्लिष्टं नाम यदुच्यते ।
झटित्यर्थप्रतीतौ तद्गुणत्वमनुगच्छति ॥ ९८ ॥

यथा—

'अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः ।
पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः ॥ १३२ ॥

अत्रात्मनः पदं शब्दगुणमिति पितुः पदं मध्यममिति चाकाशविषया काञ्चीगुणस्थानं नितम्बविषयमिति सर्वप्रसिद्धेर्झटित्येव प्रतीतिं करोतीति क्लिष्टस्यास्य गुणत्वम् ॥

बहुत विलम्ब से अर्थ का ज्ञान कराने के कारण जो क्लिष्टत्व नाम का दोष कहा जाता है, वही तत्काल अर्थज्ञान करा देने पर गुण की कोटि में आ जाता है ॥ ९८ ॥

जैसे—"गुणज्ञ (राम-हरि) अपने शब्दगुण वाले स्थान (आकाश) को विमान से पार करते हुये", "जगत्पिता के मध्यमधाम (आकाश) में उड़ती हुई" तथा "शोभनगुणों से युक्त सुन्दरी के करधनीसूत्र बाँधने का स्थान (नितम्ब)"।

यहाँ "आत्मनः पदं शब्दगुणम्" "पितुः पदं मध्यमम्" ये (दोनों) पद आकाश अर्थ में 'काञ्चीगुणस्थान' नितम्ब के अर्थ में सर्वप्रसिद्ध होने से अर्थ की प्रतीति सद्यः कर देते हैं। अतः क्लिष्ट होने पर भी यहाँ गुणत्व है।

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण श्लोक का पूर्वार्ध रघुवंश (१३.१) का, उत्तरार्ध का प्रथमार्ध-विक्रमोर्वशीयम् (१.१९) का तथा शेषार्ध नायिका के नितम्बवर्णन प्रसङ्ग का है। यहाँ प्रयुक्त 'आत्मनः पद' का अर्थ स्पष्ट न होता यदि छन्द के उत्तरार्ध में हरिः पद की तथा 'शब्दगुण' पद की संनिधि न होती। विष्णु के धाम असंख्य हैं 'शब्दगुण' आकाश की ओर संकेत करता है, अतः इसकी संनिधि से अर्थ प्रकट हो जाता है। जगत्पिता का मध्यम धाम आकाश के नाम से अत्यन्त विख्यात होने से शीघ्र ही अर्थ प्रकट कर देता है, अन्यथा मध्यम धाम के भी अनेक अर्थ हो सकते थे। इसी प्रकार नखशिख वर्णन प्रसङ्ग में चरण से वर्णन प्रारम्भ करने पर नायिका का रशना-दामस्थल नितम्ब अर्थ का प्रत्यायन प्रकरणवशात् तत्काल करा देता है। इन सभी सन्दर्भों में क्लिष्टत्व रहने पर भी दोषता अखरती नहीं है।

अर्थप्रतीतिकृदिति। इहापि तदेव दूषणताबीजं झटिति प्रतीतिजनने सति समाधीयते। समाधानोपायश्च पदान्तरसंनिधानमतिप्रसिद्धिः प्रकरणं वा। तथा हि—प्रकृतोदाहरणे उत्तरार्धे हरिरित्यभिधानादात्मनः पदमिति हरेः पदमिति संपन्नम्, अस्य च सामान्यशब्दत्वादाकाशविषया प्रतीतिर्यद्यपि झटिति नोत्पत्तुमर्हति, तथापि शब्दगुणमिति विशेषणेन पदार्थान्तराद्यवच्छिद्य विवक्षिताभिमुखी प्रतीतिरुपजन्यते। पितुः पदमिति। यद्यपि पदमिति सामान्यं तथाप्याकाशस्यैव मध्यमचरणविन्यासस्थानत्वेन प्रसिद्धेर्न तथोचितप्रतीतिव्यवधानम्। काञ्चीगुणस्थानमिति। चरणादारभ्य वर्णनाक्रमे नितम्ब एव काञ्चीनिवेशनस्योचितत्वान्न प्रतीतिव्यवधानम्। तदिदमुदाहरणत्रयप्रयोजनमुदाहरणादेरनेकोऽत्र वाक्यार्थो गवेषणीयः। कथं तर्हि सर्वप्रसिद्धेरिति ब्रवीति। इत्थं शब्दगुणशब्दस्य बहुव्रीहित्वादवश्यं विशेषपर्यवसानाय प्रसिद्धिरनुसरणीया। अवश्यं च वर्णनक्रमेऽपि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः इत्यत्र काञ्चीगुणस्थानशब्दस्य नितम्बविशेषपर्यवसानार्थं कवीनामौचित्यप्रसिद्धिरङ्गीकर्तव्येति। ननु चात्मनः पदं शब्दगुणत्वमित्यत्र प्रसादः कस्मान्न भवति। एवमाह न भवतीति। उदाहरणस्यादूषणत्वात्सामान्यशब्दस्य विशेषपर्यवसानम्, अन्यच्च समभि-

व्याहतपदार्थसंसर्गरूपे वाक्यार्थे स्वच्छसलिल इवाभिमतविशेषप्रतिबिम्बनमित्युपाधिद्वयस्य संकराच्च ॥

(१०) गूढार्थत्व दोषगुण

अप्रसिद्धार्थसंबन्धं यद्गूढार्थमिति स्मृतम् ।
तद्व्याख्यानादिषु प्रायो गुणत्वेन तदिष्यते ॥ ९९ ॥

यथा—

अम्हारिसा वि कइणो कइणो हलिबुड्डसालिपमुहा वि ।
मण्डुक्कमक्कडा वि हु होन्ति हरीसप्पसिंहा वि ॥ १३३ ॥'

[अस्मादृशा अपि कवयः कवयो हरिवृद्धशालिप्रमुखा अपि ।
मण्डूकमर्कटा अपि खलु भवन्ति हरिसर्पसिंहा अपि ॥]

अत्र मण्डूकमर्कटसर्पसिंहेष्वप्रसिद्धप्रयोगत्वाद् गूढस्यापि हरिशब्दस्य स्वयं व्याख्यातत्वाद् गुणत्वम् ॥

अप्रसिद्ध अर्थ से शब्द का सम्बन्ध जोड़ देने के कारण जो दोष गूढार्थ नाम से याद किया जाता है, वही अधिकतर शब्द की व्याख्या आदि में गुणरूप में स्वीकार किया जाता है ॥ ९९ ॥

जैसे—(कोई कवि कहता है कि भाई !) हम जैसे लोग भी कवि हैं और हरिवृद्ध, शालि आदि भी कवि ही हैं । जिस प्रकार कि मेढक और बन्दर भी हरि हैं और नाग तथा सिंह भी हरि ही हैं ॥ १३३ ॥

इस छन्द में मेढक, बन्दर, नाग तथा सिंह के अर्थों में (हरि शब्द के विख्यात न होने पर भी) अप्रसिद्ध प्रयोग करने से गूढ होने पर भी स्वयं हरिशब्द की ही व्याख्या होने से गुणत्व ही है ।

अप्रसिद्धार्थसंबन्धमिति । तस्य गुणार्थस्य व्याख्यानं तद्व्याख्यानम् । अत्राप्यतिप्रसिद्धयाकृष्टस्यानतिप्रसिद्धार्थप्रतीत्यकरणं दुष्टताबीजमभिधानीयम्, तत्तु प्रतीतिपर्यवसानादेव निवर्तते । भवति चाभिधानकोष इव व्याख्याने झटिति प्रत्ययः । अस्मादृशा अपि मन्दप्रतिभानाः कवयः कविशब्दवाच्या हरिवृद्धशालिप्रमुखाश्च लोकोत्तरप्रतिभाशालिनस्तदवयवतां विख्याते चाविख्याते च शब्दाः साधारणा भवन्ति । तद्यथा—हरिशब्द एवेति व्याख्यानम् । ततो दोषस्वाभावः प्रतिवस्तुलक्षणालंकारपर्यवसायितया च प्रकृतार्थानुगुणत्वेन गुणत्वलाभः । तदेतद् व्याचष्टे—स्वयं व्याख्यातत्वाद्दोषाभावो गुणत्वं पुनराभिप्रायिकात्प्रकृतानुगुणभावादिति बोद्धव्यम् ॥

(११) नेयार्थत्व दोषगुण

नेयार्थं यत्स्वसंकेतक्लृप्तवाच्यं निरूपितम् ।
प्रहेलिकादिषु प्राज्ञैस्तद्गुणत्वेन गण्यते ॥ १०० ॥

यथा—

'मोरु कलावेण वहइ तह णामह सरिणाउ ।
उस्सीसा पाअन्तिगओ अणुणत्तिहिं जणु णाउ ॥ १३४ ॥'

[मयूरः कलापेन वहति तस्य नाम्नः सदृशनामा ।
उच्छीर्षात्पादान्तगतोऽनुनक्तं यथा नौका ॥]

अत्र मयूरबर्हचन्द्रकसंकेतेन कल्पितस्य चन्द्रनाम्नो नेयार्थत्वेऽपि प्रहेलिकात्वाद् गुणत्वम् ॥

जिस नेयार्थ दोष में अभिधेय अर्थ कथनीय होने पर भी समाहित रहता है, वही गुण के रूप में प्रहेलिका आदि में विद्वानों द्वारा गिना जाता है ॥ १०० ॥

जैसे—(कोई खण्डिता नायिका नायक का अनुनय करती हुई कहती है कि मैं सारी रात देखती रही कि) मयूर जिसे अपने पंखों में धारण करता है, उससे ही मिलते जुलते नाम वाला (चन्द्रमा) नौका की भांति सिरहाने से पैताने की ओर आ गया अर्थात् चन्द्रमा पूर्व में उदित हुआ और पश्चिम में आ गया—भोर हो गया—लेकिन आप नहीं माने ॥ १३४ ॥

इस छन्द में मयूरपिच्छ के चन्द्रक के संकेत से ज्ञात होने वाले चन्द्रमा का नाम नेय होनेपर भी पहेली होने से गुण हो गया है ।

स्व० भा०—मयूर जिसे अपने पिच्छ में धारण करता है, इस प्रकार के बहुत से पदार्थ हो सकते हैं । किन्तु उसका अभिप्राय चन्द्रक से है, और उससे मिलता जुलता नाम चन्द्रमा है । वही सिरहाने से पैताने—पाँव की ओर चला गया—पूर्व से पश्चिम पहुँच गया अर्थात् सवेरा हो गया । यहाँ सवेरा होना तथा चन्द्रगत अर्थ निकालना बहुत कठिन है । अतः दोष है । किन्तु उद्देश्य ही यह होना कि लोगों को अर्थ समझने में कठिनाई हो, इसको गुण की कोटि में ला देता है ।

नेयार्थमिति । अत्रापि पूर्ववदेव वासना । आकीर्णामन्त्रणादौ विदग्धानां लक्षणादयः प्रहेलिकाविशेषाञ्जुन्मीलयन्त उपयुज्यन्ते । तथा हि—मयूरेति । 'जिअनाउ' इति पाठे जितनौक इति स एवार्थः । मयूरो बर्हभारे चन्द्रकं वहति । अनेन संकेतेन चन्द्रनाम लभ्यते । संविष्टस्य शिरोदेश उच्छीर्षम्, चरणदेशः पादान्तः । उच्छीर्षेण प्राची दिग्लक्ष्यते । 'प्राक्शिराः शयीत' इति वचनात् । अर्थात्पादान्तेन प्रतीची । ततश्च 'प्राच्याः प्रतीचिमर्धं चन्द्रो गतः' इति प्रातःकालोद्भेदो वाक्यार्थः । 'अणुणेन्ति अजिणणाउ' इति पाठे सुभगमानिनं कान्तमनुनयन्त्या मया ज्ञात इति खण्डितकामिनीखेदोक्तिः । न चैतासां लक्षणानामस्ति किंचित्प्रयोजनमिति नेयार्थत्वप्रसक्तौ प्रहेलिकाभाव एव समाधानहेतुः । ननु चोच्छीर्षपादान्तरपदयोरस्तु, मयूरकलाप इत्यादौ तु कथम् । यमिति हि सर्वनामाभिमतमेव तावदुपस्थापयति । बर्हे बहूनां बहुले कथमेकस्य प्रतीतिरित्यभिधानेऽपि कदाचित्क्लिष्टस्य विशेषगुणः स्यात् । नात्र नेयार्थता, किं तु तेन संकेतेन कल्पितस्य चन्द्रनाम्न इति । तस्य नाम्नः सदृशनामेत्यनेन मुख्यवृत्त्यैव विवक्षितसदृशलाभादिति । अत्रेदं वक्तव्यम्—तस्य नाम्न इत्यनेन चन्द्रकपदमुपस्थापितम्, न च तेन सहास्ति चन्द्रपदस्य सादृश्यमिति । तत्र लक्षणाश्रयणीया । तदिदमुक्तं चन्द्रसंकेतेन कल्पितस्य चन्द्रनाम्न इति । उपलक्षणतया च एकदेशव्याख्यानम् ॥

(१२) संदिग्धत्व दोषगुण

**यदनिश्चयकृत्प्रोक्तं संदिग्धं तद्गुणी भवेत् ।
भवेद्विशेषावगमो यदि प्रकरणादिभिः ॥ १०१ ॥**

यथा—

'महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
स शार्ङ्गचक्रासिगदाब्जपाणिर्मेघच्छविः पातु जगन्ति शौरिः ॥ १३५ ॥'

अत्र तस्मिन्नपत्ये इत्यनिश्चितस्याप्यापत्यविशेषस्य संदिग्धत्वेऽपि गौर्यामिति प्रकरणेन गम्यते। मेघच्छविरित्यस्य च नवश्यामादिपदानुपादानेऽपि शौरिसंबद्धत्वान्नवमेघच्छविर्मेघश्यामच्छविरिति वा विशेषो निश्चीयत इति तस्यापि गुणत्वम् ॥

निश्चयात्मक ज्ञान न उत्पन्न करनेवाला जो संदिग्धत्व दोष कहा गया है वही गुण हो जाता है, यदि प्रकरण आदि के द्वारा विशिष्ट अर्थ का ज्ञान हो जाये ॥ १०१ ॥

जैसे—"अनेक पुत्रों के होने पर भी हिमालय महाराज की आंखें उस (पार्वतीरूप) संतान में तृप्त नहीं हो पाती थी।" और "वह अपने हाथों में धनुष, चक्र, गदा और पद्म लिये रहने वाले, मेघ के सदृश कान्ति वाले शौरि लोकों की रक्षा करें" ॥ १३५ ॥

यहाँ पर 'तस्मिन् अपत्ये' (उस सन्तान में) इसका विशेष सन्तान रूप अर्थ अनिश्चित होने पर भी, सन्देह बने रहने पर भी प्रकरण से ज्ञात होता है कि वह सन्तान 'गौरी' थी। 'मेघच्छविः' पद का वाच्य नवश्यामल आदि पदों का ग्रहण न करने पर भी 'शौरि' पद का सम्बन्ध होने से "नवीन मेघ के सदृश कान्ति वाले", अथवा "मेघ की भाँति नीली देहच्छटा वाले" यह विशिष्ट अर्थ निश्चित होता है। अतः यहाँ संदिग्ध दोष भी गुण हो गया है।

स्व० भा०—उदाहृत छन्द का पूर्वार्ध कुमारसम्भव (१।२९) से लिया गया है।

यदिति। संशायकजातीयस्य संदेहजनकत्वं नाम दूषकताबीजम्। तद्यदि कुतश्चिद्विशेषाद्विवक्षितप्रतीतिरप्रत्यूहमुपपद्यते तदा भवत्येव दोषाभावः। विशेषावगमो विशेषदर्शनं तस्यैव संशयविरोधित्वात्। महीभृत इत्यादावपत्यशब्दो यद्यपि गौरीशब्दोऽपि तदितरदत्तपद इति संशायकजातीयो भवति, तथापि तच्छब्दोपस्थापित एव विवक्षितविशेषे पर्यवस्यन्नपजहाति दोषत्वम्। तच्छब्द एव कथं तमर्थमुपनयतीत्यत्र तु प्रकरणमेव जाग्रदवस्थमस्ति। मेघच्छविरित्यत्र तु यद्यपि मेघपदं श्यामाश्यामदत्तपदतया संशायकजातीयम्, तथापि प्रसिद्धपदनीलवर्णार्थगौरीपदसमभिव्याहाराच्छब्दान्तरसंनिधिरपि विशेषे नियमयति तद्वा छविपदं वा विशेषे पर्यवस्यति। अत्र प्रकरणादीनां विशेषस्मृतिहेतुत्वात्। अत एव सूत्रे बहुवचनादिपदानुपादानादनुपात्तास्तदेतदभिसंधाय व्याचष्टे—अत्रेत्यादि। एवं नवमेघच्छविरिति चोक्ते यथा नियमेनार्थप्रतीतिरप्रत्यूहा भवति तथा मेघच्छविरित्युक्त इति। अत एव कविसमयप्रसिद्धविशेषावगमसामग्रीसंपादनेन गुणत्वमिति। कथं पुनरिदं क्लिष्टस्य वैशेषिकं न भवति को वाक्यभूतेन भवति। किं तु संशायकत्वमापादयतः प्रतिभासोऽप्युक्त्युक्त्या निवर्तत इत्यभिमतम्। न चैवंरूपता क्लिष्टवैशेषिके संभवति। एकस्यैव चित्रपदस्य संशयशक्तिरिति न वाक्यार्थगामिता ॥

(१३) विरुद्धत्व दोषगुण

यत्तद्विरुद्धमित्युक्तं विपरीतप्रकल्पनम्।
तथाभूताभिधानेन गुणत्वं प्रतिपद्यते ॥ १०२ ॥

यथा—

'अभिधाय तदा तदप्रियं शिशुपालोऽनुशयं परं गतः ।
भवतोऽभिमनाः समीहते सरुषः कर्तुमुपेत्य माननाम् ॥ १३६ ॥'

अत्र विपरीतार्थकल्पनं विरुद्धत्वेऽपि संध्यर्थविग्रहार्थयोः स्फुटभिन्नार्थत्वेनाभिधानाद् गुणत्वम् ॥

अभिधेय अर्थ से विपरीत अर्थ की कल्पना कराने वाला जो विरुद्ध नाम का पददोष कहा गया है, वही जब अविरुद्ध अर्थ को भी अभिधा से ही प्रकट करता है तब वही गुण हो जाता है ॥ १०२ ॥

जैसे—शिशुपाल का दूत कृष्ण से कहता है कि—'शिशुपाल आपके उस अर्घ्यदान के समय उन अप्रिय बातों को कहकर अत्यन्त पश्चात्ताप कर रहा है । वह व्याकुल मन से आपके क्रोध को शान्त करने के लिए यहाँ आकर स्वयं आपकी पूजा करना चाहता है' ॥ १३६ ॥

यहाँ पर विपरीत अर्थ की कल्पना करना, विरुद्ध होने पर भी संधिगत अर्थ तथा विग्रहगत अर्थ इन दोनों को प्रकट रूप से पृथक्-पृथक् कथन होने से, गुणत्व ही है ।

स्व० भा०—(सन्धिगत अर्थ ऊपर आ गया है । इसी श्लोक का विग्रह—युद्ध से सम्बद्ध अर्थ निम्नलिखित होगा)—"उस समय केवल उन अपमान के शब्दों को ही कह पाने से उसके मन में अत्यन्त पश्चात्ताप है (कि उसने आपको मारा भी क्यों नहीं ।) उसके हृदय में दीर्घकाल से आपके प्रति रोष भरा है, अतः निडर होकर वह स्वयं क्रुद्ध होकर आपका वध करना चाहता है। (शिशु १६।२) माघ ने शिशुपालवध के १६ वें सर्ग के प्रारम्भ में इसी प्रकार के विरुद्धार्थक १४ श्लोकों की योजना की है ।

यत्तदिति । एवं वस्तु प्रकृतमभिसंधाय वाक्यरचने तदुपमर्दकवस्त्वन्तरप्रवेशो विरोधः । यत्र द्वे अपि वस्तुनी प्रकृते वस्त्वन्तरमेव वा प्रकृतं तद्यथोक्तरूपाभावे कथं दोषः । तथा हि—अभिधायेत्यादौ दूतवाक्ये संधिविग्रहयोर्मिथो विरोधिनोरपि विवक्षितं स दोषः । सरुषः सक्रोधस्य तव माननां पूजां शिशुपाल इच्छति । अनुशयः पश्चात्तापः । अभिमुखं सोत्कण्ठं मनो यस्य स तथेति संधिपक्षे । विग्रहपक्षे त्वनुशयः क्रोधो भवतः सकाशादभि भयशून्यं मनो यस्येति नित्यसापेक्षत्वात्समासः । सरुषो मानना उपयोगस्तदिह निसृष्टार्थस्योभयोपन्यासो यद्रोचते तद्विधीयतामित्यभिसंधाय रचित इति गुणत्वमित्युभयविवक्षापक्षे व्याख्यानम् । यदा तु शासनहरो दूतस्तदोद्यतेष्वपि शस्त्रेषु यथोक्तवक्तारो दूता भवन्तीति न्यायेन विग्रहार्थमेवाभिमतः विपक्षस्यापि प्ररोचना दूतकर्तव्येति मुखे संधिः पर्यायभूतो युक्त एव । तदिदं व्याख्यानेन स्फुटयति—अत्रेति । संधिरूपोऽर्थः संध्यर्थः, विग्रहरूपोऽर्थो विग्रहार्थः । तयोरभिधानेन स्फुट एव भिन्नोऽर्थः प्रयोजनम् । पक्षद्वयेऽपि यत्प्रयोजनमुक्तं तदभिप्रायेणैतद् व्याख्यानम् ॥

(१४) अप्रयोजकत्व दोषगुण

अप्रयोजकमित्युक्तमविशेषविधायकम् ।
स्वरूपमात्रे वक्तव्ये तस्यापि गुणतेष्यते ॥ १०३ ॥

यथा—

'तेऽप्याकाशमसिश्याममुत्प्लुत्य परमर्षयः ।
साग्रं वर्षसहस्रं स तपस्तेपे महामनाः ॥ १३७ ॥

अत्रासिश्याममित्याकाशं प्रति, साग्रमित्यनेन च वर्षसहस्रं प्रति विशेषान-भिधानेऽपि दूरोत्पतनचिरतपश्चरणयोरुपयोगविवक्षायां गुणत्वम् ॥

(प्रयुक्त विशेषण पद भी) जब विशिष्टता का विधान नहीं कर पाते तब उस दशा में अप्रयोजक दोष कहा गया है। किन्तु स्वरूपमात्र का कथन अभीष्ट होने पर वहाँ भी गुणत्व अपेक्षित होता है ॥ १०३ ॥

जैसे—"वे महर्षि लोग तलवार की भांति नीले-नीले आकाश को भी पार करके" तथा "उस उदारचेता ने बहुत ही समय तक हजारों वर्ष तपस्या की" ॥ १३७ ॥

यहाँ पर 'असिश्याम' पद द्वारा आकाश के लिए तथा 'साग्रम्' इस पद के द्वारा 'वर्षसहस्र' के लिये विशिष्टता न लाये जाने पर भी "खूब दूर उड़ जाना" तथा "चिरकाल तक की तपस्या" इन दोनों का उपयोग निरूपित करने पर गुणत्व है।

स्व० भा०—जब प्रयुक्त पद विशेषता का प्रतिपादन नहीं करते अपितु स्वरूपमात्र स्पष्ट करते हैं तब भी वे दोष न रहकर गुण हो जाते हैं। आचार्य वामन ने 'धनुर्ज्याध्वनौ धनुःश्रुति-रारूढेः प्रतिपत्त्यै" "कर्णावतंसश्रवणकुण्डलशिरःशेखरेषु कर्णादिनिर्देशः संनिधेः" "मुक्ताहारशब्दे मुक्ताशब्दः शुद्धेः" "पुष्पमालाशब्दे पुष्पपदमुत्कर्षस्य" "करिकलभशब्दे करिशब्दस्ताद्रूप्यस्य" "विशेषणस्य च" ३।२।१३-१८॥ इन सूत्रों से अप्रयोजक पदों का विभिन्न सन्दर्भों में गुणत्व सिद्ध किया है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में कुमारसम्भव से उद्धृत पूर्वार्ध तथा श्रीमद्भागवत से उद्धृत उत्तरार्ध में प्रयुक्त 'असिश्याम' तथा 'साग्र' पद 'आकाश' तथा वर्षसहस्र की विशेषता बताने के लिए आवश्यक नहीं क्योंकि आकाश स्वतः नीला होता है और सहस्रपद स्वयं चिरकाल का बोधक है, किन्तु इनके आने से स्वरूप स्पष्ट अवश्य हो गया। जिससे दूरोत्पतन तथा चिरंतन का भाव स्पष्ट होता है।

अप्रयोजकमिति। तदेव कविभिरुपादीयत इति यदभिप्रेतसंधिमाधत्ते। यत्र वाक्यार्थ-प्रविष्टमपि न तथाभावमासादयति तदप्रयोजकमित्युक्तम्। तस्य यदि विशेषस्वरूपाभि-धाने पर्यवसानेन प्रयोगो न तर्हि दोषः। तथा हि—आकाशमित्यादौ नातिश्यामतारूपं विशेषमाकाशे कांचिदपि विशेषमात्रामुन्मुद्रयति, आकाशस्य सर्वदा तद्रूपानपायात्। एवमसमग्रस्य सहस्रत्वाभावात्साग्रमित्यपि न विशेषाधायकम्। आकाशसहस्रयोस्तु यदेव रूपमावेदनीयमित्यत्रैतावन्मात्राभिप्रायेण नास्ति दूषणम्, तथापि नान्तरीयकयोर-भिधाने किं प्रयोजनं येनानयोर्गुणभावसंपत्तिरित्यत आह—दूर इति। अतिदूरे श्यामत्व-मधिकं प्रतिभाति। क्षणमात्रमपि न विरतिरासीदिति साग्रपदाभिप्रायोऽत एव नात्र पौनरुक्त्यम्। तर्हि वाक्यार्थे विशेषाधायकत्वमेवानयोरिति कथं दूषणत्वसंभावना। इत्थम्। यस्मिन्ननुपादीयमानेऽपि नाभिमतन्यूनता तत्पदमप्रयोजकम्। अस्ति चात्र द्वयोरपि तज्जातीयतायां दोषत्वप्रसङ्गः। स प्रकृतोपयोगविवक्षायामेव निवर्तते। सर्वथा प्रकृतानुपयोगे दूषणत्वानपायिता। अस्ति चात्रोचित एवोपयोगो यो विवक्षितुमर्हतीत्याह—विवक्षायामिति ॥

(१६) देश्यदोषगुण

यदव्युत्पत्तिमद्देश्यमिति पूर्वं निरूपितम्।
महाकविनिबद्धं सत्तदप्यत्र गुणी भवेत् ॥ १०४ ॥

यथा—

'षण्डेषूहण्डपिण्डीतगरतरलनाः प्रापिरे येन वेला-
मालम्ब्योत्तालतल्लस्फुटितपुटकिनीबन्धवो गन्धवाहाः ॥ १३८ ॥'
'पातालप्रतिमल्लगल्लविवरप्रक्षिप्तसप्तार्णवम् ॥ १३९ ॥'
'किरन्तः कावेरीलडहलहरीशीकरकणान् ॥ १४० ॥'

अत्र तल्लगल्ललडहलहरीप्रभृतीनामव्युत्पत्तिमत्त्वेनोद्देश्यत्वेऽपि महाकविभिरङ्गीकृतत्वाद् गुणत्वम् ॥

व्युत्पत्तिरहित जो देश्य दोष पहले (पद दोष वर्णन के प्रसङ्ग में) निरूपित हो चुका है, वह भी महाकवियों द्वारा प्रयुक्त किये जाने पर काव्य में गुणशाली हो जाता है ॥ १०४ ॥

जैसे—उन भूखण्डों में जिसने सरोवर के तीर का सहारा लिया अर्थात् उस तट पर जाकर बैठे जहाँ पर ऊपर उठे हुए कठोर पिण्डी तगर को भी हिला देने वाले और तरङ्गित हो रहे सरोवर की खिल रही कलियों के हितैषी पवन प्राप्त हो रहे थे ॥ १३८ ॥

"पाताल के प्रतिस्पर्धी कपोल के छिद्रों से सातो समुद्रों को भी तिरस्कृत करने वाले ॥ १३९ ॥ (मा. मा. ५।२२)

कावेरी नदी की मनोहर तरङ्गों के जलकणों को विखेरता हुआ ॥ १४० ॥

इन उद्धरणों में तल्ल, गल्ल, लडह, लहरी जैसे पद व्युत्पत्ति हीन होने से देश्य हैं किन्तु महाकवियों द्वारा अङ्गीकार किए जाने से इनमें गुणत्व आ गया है।

स्व० भा०—देशी तथा संस्कृत दोनों प्रकार के पदों का एक ही श्लोक में प्रयोग होने से दो प्रकार का आकार हो जाता है। अतः सहृदय को एकरूपता में कुछ व्यवधान-सा प्रतीत होने लगता है। किन्तु जिन स्थलों पर महाकवियों ने इनका प्रयोग किया है वहां पदों को ऐसे संस्कृत पदों के साथ रखा है जो साथ आकर अनुप्रास की सृष्टि करते हैं अथवा माधुर्य का समावेश कर देते हैं अतः सौन्दर्य का आधान करा देने से ये भी गुण ही कहे जाते हैं, दोष नहीं।

यदिति। संदर्भच्छायावैषम्यमत्र कष्टतावीजमिति पूर्वमुक्तं तत्र यदि समानच्छायशब्दमध्यनिवेशनेन प्रतिक्षिप्यते तदा कथं दोषः। तथाभूतानामेव पदानां संदर्भनिर्वाहकतया महाकविनिबद्धमिति। अत एव शब्दगमकतया गुणत्वलाभः। उद्दण्डत्वेन पिण्डीतगराणां कठोरता। तादृशानामपि तरलनेन प्रौढिः। उत्तालेत्याद्यनुप्रासवत्प्रौढपदसजातीयमेव तल्लपदम्। एवं गल्लेत्यादौ बोद्धव्यम्। तदिदमाह—अत्र तल्लगल्लेत्यादि ॥

(१६ क) ग्राम्यदोषगुण

ग्राम्यं घृणावदश्लीलामङ्गलार्थं यदीरितम्।
तत्संवीतेषु गुप्तेषु लक्षितेषु न दुष्यति ॥ १०५ ॥

तत्र संवीते यथा—

'तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां यतात्मने योजयितुं यतस्व।
योषित्सु तद्वीर्यनिषेकभूमिः सैव क्षमेत्यात्मभुवोपदिष्टम् ॥ १४१ ॥'

अत्र तद्वीर्यनिषेकभूमिरित्यश्लीलस्यापि संवीतत्वाद् गुणत्वम् ॥

यदाह—

'संवीतस्य हि लोकेषु न दोषान्वेषणं क्षमम् ।
शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्वभावना ॥'

घृणावद्, अश्लील तथा अमङ्गलार्थ (यह तीन प्रकार का) जो ग्राम्यदोष कहा गया था वही संवीत, गुप्त और लक्षित दशाओं में दोष नहीं रह जाता ॥ १०५ ॥

इनमें से संवीत दशा में (दोष नहीं होता, इसका उदाहरण दिया जा रहा है)—

जैसे—"इस जितेन्द्रिय शङ्कर से हिमालय की संयत पुत्री को संयुक्त कराने की चेष्टा करो। नारियों में केवल वही शंकर के वीर्यसिञ्चन को धारण करने में सक्षम क्षेत्र है। इस प्रकार का उपदेश ब्रह्माजी ने उनको दिया ॥ १४१ ॥

यहां 'तद्वीर्यनिषेकभूमि" इस अश्लील पद में भी संवीतता के कारण गुणत्व आ गया है। जैसा कि कहा भी गया है—लोक में संवीत का दोष खोजना ठीक नहीं। अथवा संवीत का दोष नहीं खोजा जा सकता। भला शिवलिङ्ग जैसे प्रयोगों में कौन असभ्यता की सम्भावना करेगा।

स्व० भा०—यहाँ पर जो उदाहरण दिया गया है वह ग्राम्य के परिगणित भेदों के क्रम में न होकर 'अश्लीलामङ्गलघृणातदर्थं ग्राम्यमुच्यते" (स० कं० १।१४ ॥) क्रम में है। अतः यहां सर्वप्रथम अश्लीलता का उदाहरण है। अश्लील भी असभ्यार्थ, असभ्यार्थान्तर तथा असभ्यस्मृति-हेतु तीन प्रकार का होता है। यहां सवीत के उदाहरण में असभ्यार्थ की निर्दुष्टता निरूपित की गई है। इसी प्रकार गुप्त का असभ्यार्थान्तर तथा लक्षित का असभ्यस्मृति हेतु की निर्दुष्टता का प्रतिपादन करते समय निदर्शन उपस्थित करेंगे।

आगे प्रस्तुत किये गए उदाहरणों में भी संवीत, गुप्त और लक्षित का क्रम प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय भेदों के ही साथ रखा गया है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि एक एक के तीन-तीन भेद नहीं हो सकते, अपितु इसी क्रम में सरलतापूर्वक ये गुणत्वाधान के हेतु दृष्टिगोचर हो जाते हैं, अतः इनके ही उदाहरण क्रमशः दिये गए हैं।

वामन ने भी इनके पूर्व ही 'न गुप्तलक्षितसंवृतानि' (का०सू० २।१।१६) कहकर इन दशाओं में निर्दूषणता का प्रतिपादन किया था। भोज के द्वारा उद्धृत किया गया "संवीतस्य हि लोकेन" आदि कारिका भाग वामन ने भी अपने संवृतनिरूपण के प्रसङ्ग में दिया है।

संवृत का एक अर्थ होता है 'लपेटा हुआ'। अतः यहां अर्थ हुआ लोक की मान्यताओं और स्वीकृतियों में छिपटा हुआ, अर्थात् लोक में जिस शब्द का अर्थ किसी संदर्भ विशेष में जैसा लिया जाता है, वैसा ही ग्रहण करना। जैसे—लिङ्ग-पद-पुरुषजननेन्द्रिय के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जो असभ्यार्थ वाचक है, किन्तु शिवलिङ्ग सदृश शब्दों में लोक अश्लीलता अथवा असभ्यता नहीं मानता। ऐसी दशाओं में प्रयुक्त पद दोषाधायक नहीं होते। संवीत का अर्थ स्वीकृत भी है। अतएव वामन ने कहा था "लोकसंवीतं संवृतम्" (का० सू० २।१।१९ ॥)

ग्राम्यमिति। अत्र केचिद्यथासंख्यं व्याचक्षते—घृणावदादीनां त्रयाणां क्रमेण संख्यानगोपनलक्षणानि दोषत्वाभावबीजानीति, तदसत्। घृणावदर्थादिमात्र एवाग्रे प्रतिसंभेदत्रिकमुपादाय संख्यानादित्रिकस्योपदर्शनात्। एतादृशयथासंख्यसूचनायैव लक्षणातिक्रमेण घृणावतः प्रथममुपादानम्। तस्मात्संख्यानमिव संख्यानं लोकानुमतिः। किंचित्पदं दुष्टजातीयमपि लोके नोपादानात्ताद्रूप्यं जहात्येव। प्रायेण लोकानुसारि काव्यदर्शनं भवत्यतः प्रतिस्वं भेदत्रितयसंबन्धादुपपन्नं यथासंख्यं स्यादित्यभिधाय पूर्वक्रमेणोदाहरति—

अत्रेति। एतेन संवीतेष्वित्यादिकं बहुवचनं व्याख्यातम्। यथा शिवलिङ्गस्य संस्थान इत्यत्र यद्यपि मुख्यविधैव शिवलिङ्गपदमश्लील एवार्थे, तथाप्यविगानेनादिप्रयोगयोगित्वाच्च व्रीडादानक्षमं तथेहापि तद्वीर्येति। शिवलिङ्गेत्यत्र भगवत्संबन्धः प्रयोजक इति तु तुल्यमत्रापीत्याह—तदेति। अत्र हि जगदन्तर्यामिणो भगवतस्तद्विरोधितया प्रसिद्धिरुपजीव्या तदुपजीवने व्रीडादायिनी प्रतीतिरनुत्थायिन्येव। अत्रैवाचार्यमतं लिखति—संवीतस्य हीति। कस्यासभ्यत्वेति। भावना सकललोकसाधारणं ज्ञानम्॥

(ख) गुप्ताश्लीलार्थान्तरदोषगुण

गुप्ते यथा—

'सुदुस्त्यजा यद्यपि जन्मभूमिर्गजैरसंबाधमयांबभूवे।
स तेऽनुनेयः सुभगोऽभिमानी भगिन्ययं नः प्रथमाभिसंधिः॥ १४२॥'

अत्र जन्मभूमिसंबाधसुभगभगिनीशब्दानामश्लीलार्थान्तरत्वेऽपि प्रथमार्थप्रभावभावनागुप्तत्वाद् गुणत्वम्॥

यदाह—

'वस्तुमाहात्म्यगुप्तस्य पदार्थस्य विभावनात्।
भगिनीभगवत्यादि नासभ्यत्वेन भाव्यते॥'

गुप्त होने पर (कैसे असभ्यार्थान्तर दोष नहीं होता है इसका निदर्शन "यद्यपि जन्मभूमि को छोड़ना बहुत कठिन है" "हाथी संकटों से मुक्त हो गये, अथवा हाथियों ने उसे संकट मुक्त कर दिया" "उस अभिमानी सुन्दर युवा को तुम्हें मनाना चाहिये", "हे भगिनि, यह हमारा पहला समझौता है।" ॥ १४२॥

यहां प्रयुक्त वाक्यांशों में 'जन्मभूमि', 'संबाध', 'सुभग', 'भगिनी' आदि शब्दों का क्रमशः (योनि, गुप्तांग, सुन्दरयोनि, योनिवाली आदि) दूसरा अर्थ होने पर भी प्रथम अर्थ के प्रभाव का असर रहने से द्वितीय अर्थ का भाव छिप जाने से गुणता आ गई है। कहा भी गया है कि—वस्तु की महत्ता से छिप गये अर्थ की भावना न करने से भगिनी भगवती आदि शब्दों का अर्थ असभ्यरूप में नहीं लिया जाता है।

स्व० भा०—वामनने गुप्त की परिभाषा "अप्रसिद्धासभ्यं गुप्तम्" (२।१।१७) दी है। अर्थात् पद का असभ्य अर्थ लोक में प्रसिद्ध नहीं होता अतः वह गुप्त हो जाता है, जो प्रसिद्ध अर्थ है वही सहसा उपस्थित होता है। यहीं पर दूसरे अर्थ लोक में सामान्यतः अभिधेय रूप में स्वीकृत नहीं हैं।

यस्य पदस्य व्युत्पत्तिलभ्यमर्थान्तरं ग्राम्यम्, यस्य वा समभिव्याहारलभ्यम्, तत्र गोपनं समाधानबीजम्। तदुभयं भवति रूढेर्वा बलवत्त्वं जलधरादिष्विव तथा तात्पर्यान्वयनप्रतिबन्धेन विपरीतार्थतात्पर्यान्वयनपर्यवसानं वा। यथोदाहरिष्यमाणे तथा च प्रतीतेरप्रत्यूहे दूषणताबीजाभावस्तत्र प्रथमकक्षापक्षीकरणेनाद्यमुदाहरति। रूढ्युपस्थापितः प्राथमिकोऽर्थस्तस्य भावो झटिति वाक्यार्थज्ञानं तस्य भावना वासना तया गोपनं चमत्कारार्पणमतिरोधानाम्। अमुमेवार्थमाचार्यमतेन स्वहस्तयति—वस्तुमाहात्म्येति। अविभावनादिति। विरुद्धं व्रीडादायितया भावनं तस्याभावात्। तेन क्वचिद्योगोपादानेऽपि तथाभावसंपत्तौ न दोषः। एतदेवोदाहरणेन स्फुटयति—भगिनीति। एतेन भगवतीति पूर्वानुपात्तमुदाहरणं व्याख्यातम्। द्वितीयगोपनमशस्तार्थान्तरे व्यक्तीभविष्यतीति॥

(ग) लक्षितासभ्यस्मृतिहेतु

लक्षिते यथा—

'ब्रह्माण्डकारणं योऽप्सु निदधे बीजमात्मनः ।
उपस्थानं करोम्येष तस्मै शेषाहिशायिने ॥ १४३ ॥'

अत्र ब्रह्माण्डोपस्थानशब्दयोरसभ्यस्मृतिहेतुत्वेऽपि अन्यत्र लक्षितत्वाद् गुणत्वम् ॥

असभ्य अर्थ के (अभिधा से नहीं अपितु) लक्षणा से उपस्थित होने पर निर्दोषता का उदाहरण—

जैसे—जिसने ब्रह्माण्ड—विश्व—की उत्पत्ति के लिए अथवा विश्व के कारणभूत अपने वीर्य को जल में रखा मैं उसी शेषनाग पर सोने वाले विष्णु के लिये अर्चा कर रहा हूं (उसी के लिए उपस्थित हूँ ।) ॥ १४३ ॥

इस श्लोक में 'ब्रह्माण्ड' और 'उपस्थान ' इन दोनों शब्दों के असभ्यस्मृति हेतु होने पर भी इनका यह अर्थ लक्षणा से उपस्थित होने के कारण गुणत्व है ।

स्व० भा०—'ब्रह्माण्ड के अण्ड अंश से और उपस्थान से अण्डकोश तथा शिश्न जैसे असभ्य अर्थ की स्मृति हो सकती है, किन्तु ये अर्थ अभिधा से साक्षात् उपस्थित न होकर लक्षणा से उपस्थित होते हैं । अभिधेय अर्थ साक्षात् होता है और लक्ष्य अर्थ 'सान्तर' । अतः लक्षित हो जाने से उनकी दुष्टता दब जाती है ।

वामन ने इसकी परिभाषा दी है—'लाक्षणिकासभ्यान्वितं लक्षितम् ॥' (२।१।१८)

यस्य पदस्यैकदेशो ग्राम्यानुगामी तस्य स्मृतिहेतुता । तत्र कुत्रचिदुक्तिवैचित्र्यादेकदेशो झटिति स्मारकः, क्वचित्तथैव समुदायशक्त्या विपरीतार्थोपस्थापनाज्झटिति स्वार्थं समुदाय एव प्रतिपादयति । आद्यो दूषणम् । द्वितीयस्तु वैजात्याभावाद् गुणः । तदेवं लक्षणं यत्राद्ये ग्राम्यत्वं .ततोऽन्यत्रैव बहुधा लक्षणात्तदिदमुक्तम्—अन्यत्र लक्षितत्वादिति ।

(घ) संवीत अशस्ताभङ्गलत्वदोषगुण

एवमशस्तादीनामपि गुणत्वम् ।

यथा—

'भद्रे मारि प्रशस्तं वद सदसि मुदा नृत्यकृत्ये मुहूर्तं
मृत्यो रत्नैश्चतुष्कं विरचय रचयारात्रिकं कालरात्रि ।
चामुण्डे मुण्डमालामुपनय विनयस्वायतां भैरवीर्ष्या-
मेवं देवे भवानीं वदति परिजनव्याहृतिस्त्रायतां वः ॥ १४४ ॥

अत्र मारीकृत्यादीनामशस्तार्थानामपि पदानां समस्तमङ्गलायतनस्य भगवतो विश्वेश्वरस्य संबन्धेनोक्तत्वाद् गुणत्वम् ॥

इसी प्रकार अमङ्गल ग्राम्य के अशस्त आदि भेदों की भी गुणता सिद्ध होती है । जैसे—"हे देवि महामारी, तुम खूब चिल्लाओ, हे कृत्या देवि, तुम भी सभा में आनन्द से एक क्षण नाचो, हे मृत्यु तुम भी रत्नों से वेदी बनाओ, हे कालरात्रि तुम आरती तैयार करो, चामुण्डा, तुम माला लाओ, भैरवी, तुम भी अपनी ईर्ष्या को लाओ अथवा अपनी ईर्ष्या को विनम्र करो" भगवान्

शङ्कर के देवी उमा से बात करने पर इस प्रकार से की गई सेवकों की पुकार आपकी रक्षा करे ॥ १४४ ॥

यहाँ पर मारी, कृत्या आदि अशस्त अर्थ वाले पदों में समस्त मङ्गलों के निधान भगवान् शिव के सम्बन्ध के कारण गुणत्व आ गया है ।

स्व० भा०—यहाँ लोक में स्वीकृत सिद्धान्त का कि समस्त अमङ्गलों के रहते भी भगवान् शिव सदा मङ्गल है, निरूपण है अतः संवीत होने से यहां दोष नहीं हुआ ।

पुनरपरेण प्रकारेण संव्यानं भवतीत्यप्रशस्ते स्फोरयति । परमेश्वरस्य मङ्गलायतनत्वं तत्संबन्धिमात्रस्यैव मङ्गलीभवननियमेन शास्त्रेतिहासादौ प्रसिद्धत्वात् । तदुक्तम्—'तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमसि' इति । अयं च प्रकारोऽप्रशस्तार्थ एव भवति । मार्यादयो मातृविशेषाः । आरात्रिकं नीराजनदीपन्यासङ्गपात्रम् । परिजनपदं संबन्धं पुष्णाति ॥

द्वितीयं गोपनप्रकारमशस्तार्थान्तरं व्यञ्जयति—

(ङ) गुप्त अशस्तार्थान्तरामङ्गल दोष

यथा वा—

'सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः ।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे ॥ १४५ ॥'

अत्र धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे निपतन्तीत्यस्यामङ्गलार्थान्तरत्वेऽपि 'हंसानहं धार्तराष्ट्रानिति व्यपदिशामि' इति वक्ष्यमाणवाक्यगुप्तत्वाद् गुणत्वम् ॥

अथवा जैसे—

सुन्दर पंखों वाले, मीठी वाणी युक्त, दिशाओं को सुसज्जित कर रहे, मस्ती से नृत्य करते हुए हंस विशेष समय आ जाने से पृथ्वी तल पर उतर रहे हैं ॥ १४५ ॥

(देखिए तो) ये मीठी बोली बोलने वाले, अपनी कामनाओं को सिद्ध कर रहे, मदपूर्वक कार्य प्रारम्भ करने वाले धृतराष्ट्र के पुत्र (कौरवादि) अपने मृत्युवश सहायकों के साथ धराशायी हो रहे हैं ।

इस छन्द में "धार्तराष्ट्राः कालवशात् मेदिनीपृष्ठे निपतन्ति' इसका अमङ्गलरूप दूसरा अर्थ होने पर भी वह आगे कहे जाने वाले वाक्य—"हंसानहं धार्तराष्ट्रानिति व्यपदिशामि" से छिप जाता है ।

स्व० भा०—यह छन्द भट्टनारायण के वेणीसंहार (१।६) का है जिसे सूत्रधार शरद् ऋतु में लौटकर आ रहे हंसों को देखकर कहता है, किन्तु पारिपार्श्विक के द्वारा "(ससंभ्रमं) भाव शान्तं पापम् । प्रतिहतममङ्गलम् ।" कहे जाने पर सूत्रधार कहता है—'मारिष, शरत्समयवर्णनाशंसया हंसा धार्तराष्ट्रा इति व्यपदिश्यन्ते" इससे दोनों अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं ।

यथा वेति । पक्षः पतत्रं परिकरश्च । आशा दिक् प्रत्याशा च । मदः क्षीवता दर्पश्च । निपात आगमनं शस्त्रादिहतानां मेदिनीसंगतिश्च । रङ्गमङ्गलान्तः स्वस्त्ययनप्रवृत्तस्य सूत्रधारस्य मङ्गलार्थाधिकारवस्तुप्रस्तावनं तावद्बुद्धिपूर्वकमत्र न संभवति हंसानहमित्यादिना तात्पर्यस्य नियमितत्वात् । स्वशक्त्या तु पदार्थान्तरमाभासयन्ति पदानि दोषतया न प्रतिभासते । तत्र वीथ्यङ्गविशेषोपक्षेपस्यामुखशरीरत्वादौचित्यनिवेश 'एव स्फुटं कारणमित्याशयो बोद्धव्यः । औचित्यविरोधो न सार्वत्रिक इति नातिप्रसङ्गः ॥

(च) लक्षिताशस्तस्मृतिहेतु दोषगुण

यथा च—

'कोऽभिप्रेतः सुसंस्थानस्तस्या इति न निश्चयः ।
आशापिशाचिकैषा तु कुमारी मां वरिष्यति ॥ १४६ ॥'

अत्राभिप्रेतसुसंस्थानाशापिशाचिका कुमारीति पदानामशस्तस्मृतिहेतूनामपि लोकैरन्यत्र लक्षितत्वाद् गुणत्वम् ॥

और इसी प्रकार

कौन सुघटित शरीर वाला व्यक्ति उसको पसन्द है, यह निश्चित मालूम नहीं । अब तो यह कुमारी आशापिशाची ही मेरा वरण करेगी ॥ १४६ ॥

यहां पर अभिप्रेत, सुसंस्थान, आशापिशाचिका और कुमारी इन पदों द्वारा अमाङ्गलिक (प्रेत, मृत्यु पिशाची, मारी) अर्थ की याद दिलाने से दुष्टता थी, किन्तु लोक में इसका दूसरा अर्थ ही लक्षित होने से यहां गुणत्व है ।

कोऽभिप्रेत इत्यादौ पूर्ववदेव वासना ॥

(छ) संवीत घृणावत् दोष गुण

एवं घृणावदर्थादीनामपि गुणत्वम् ।

तत्र घृणावतो यथा—

'पद्मान्यर्कांशुनिष्ठ्यूताः पीत्वा पावकविप्रुषः ।
भूयो वमन्तीव मुखैरुद्गीर्णारुणरेणुभिः ॥ १४७ ॥

अत्र—

'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् ।
अतिसुन्दरमन्यत्तु ग्राम्यकक्षां विगाहते ॥'

(ज) गुप्तघृणावदर्थान्तर

घृणावदर्थान्तरस्य यथा—

'कामिनीगण्डनिस्यन्दबिन्दुरिन्दुर्मतो मम ।
अन्यथा कथमेतस्य जगदुद्द्योतिनी द्युतिः ॥ १४८ ॥'

अत्र रागातिशयहेतुभूतयोः कामिनीकपोलचन्द्रमसोः स्वरूपभावनामाहात्म्येनार्थान्तरभावना गुप्तेति गण्डनिस्यन्दबिन्दुरित्यस्य घृणावदर्थान्तरस्यापि न दोषत्वम् ॥

इसी प्रकार घृणावत् (ग्राम्य) अर्थों की गुणता सिद्ध होती है ।

इनमें से घृणावत् की निर्दोषिता का उदाहरण यह है—

पराग से भरे कमलों को देखकर कोई व्यक्ति कहता है कि सूर्य की किरणों से निकले हुए जिन अग्नि के कणों को कमलों ने पिया था उन्हें बाहर निकलते हुये लाल-लाल पराग कणों से भरे मुखों द्वारा मानो उगले दे रहे हो ॥ १४७ ॥

यहां—निष्ठ्यूत, उद्‌गीर्ण वान्त आदि गौणीवृत्ति का आश्रय लेने से अत्यन्त सुन्दर हैं, इससे भिन्न तो ग्राम्यता की कोटि में आते हैं ।

घृणावदर्थान्तर के भी गुप्त हो जाने से दुष्टता नहीं रहती।

जैसे—कोई नायक चन्द्रमा को देखकर अपने मित्र से कह रहा है कि मेरा तो विचार ऐसा है कि यह चन्द्रमा किसी सुन्दरी के कपोल से टपका हुआ पसीने का बिन्दु है नहीं तो भला इसमें संसार को आह्लादित करने वाली कांति कैसे होती ॥ १४८ ॥

यहां पर अत्यधिक प्रेम का कारणभूत कामिनी के कपोल तथा चन्द्रमा दोनों के रूप का भाव महत्वपूर्ण होने से दूसरे प्रकार के (घृणावत्) अर्थ का भाव गुप्त हो गया। अतः 'गण्ड-निस्यन्दविन्दु' इस पद का घृणावत् दूसरा अर्थ भी दोषपूर्ण न रहा।

स्व० भा०—घृणावत् के प्रसङ्ग में उदाहृत 'पद्मान्यर्क०' आदि तथा 'निष्ठ्यूत०' आदि श्लोक दण्डी के काव्यादर्श (३।९६, ९५) में अक्षरशः मिलते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि निष्ठ्यूत (थूकना तथा निकलना), वमन्ति (वमन करना तथा निकालना), उद्गीर्ण (उगला हुआ तथा निकल रहा) यह दो-दो अर्थ दे सकते हैं जिनमें प्रथम मुख्यार्थ अमुख्यार्थ के सामने दब गया है। रस में पाठक ऐसा डूब जाता है कि उसका घृणावत् अर्थ स्मरण ही नहीं रह जाता। इसी प्रकार दूसरे प्रसङ्ग में 'गण्ड' पद का भी प्रयोग इतना सुन्दर हुआ है कि उसका घृणाजनक अर्थान्तर प्रतीत ही नहीं होता।

अथापरं संख्यानप्रकारं घृणावदर्थे कथयति—यथेति। गुणवृत्तिव्यापाराश्रयेष्ववान्तरादिपदेषु प्रथमत एवान्यक्रियादिधर्माणामन्यत्रारोपे समाधिप्रादुर्भावादनुत्थानं दोषाभावत्वद्वारं, ततश्च मुख्य एव स्थाने जुगुप्सादायित्वं पूर्वाचार्यश्लोकेनैव व्याचष्टे—अत्रेत्यादि। गुणग्रस्तत्वमभिप्रेत्यातिशयसंपत्तौ प्रकृतौचित्यात्कपोलस्यैव प्रतिभासस्तदिदमुक्तम्—रागातिशयहेतुभूतयोरिति। तथा च जगन्नयनानन्दभूतस्य निःशेषिताशेपतमसश्चन्द्रमसो यदिदमभिप्रेतकामिनीकपोललावण्यविन्दुमात्रतया भानं तदुचितमेवेति ॥

प्राच्यानामेव वासनामभिसंधाय स्मृतिहेतुमुदाहरति—

(ञ) लक्षितघृणावत्स्मृतिहेतुदोषगुण

घृणावत्स्मृतिहेतुर्यथा—

'विपूयरशनावन्तः पलाशाषाढधारिणः।
व्रणवर्चस्विनो यान्ति द्विजपोगण्डका इमे ॥ १४९ ॥

अत्र विपूयपलाशब्रह्मवर्चसपोगण्डशब्दानां घृणावत्स्मृतिहेतुत्वेऽप्यन्यत्र लक्षितत्वाददोषत्वम् ॥

घृणावत्स्मृति हेतु भी गुणत्व कोटि में आ जाता है।

जैसे—मूँज की करधनी पहने, ढाक का दण्ड धारण किये, ब्रह्मतेज वाले ये ब्राह्मण बालक जा रहे हैं ॥ १४९ ॥

यहां विपूय, पलाश, ब्रह्मवर्चस और पोगण्डशब्द घृणित की याद के कारण हैं फिर भी लक्ष्यार्थ दूसरा होने से दोषत्व नहीं रहा।

स्व० भा०—इन पदों के पूय (पीव), पलाश (मांसभक्षी), वर्चस् (विष्ठा), गण्ड (फोड़ा) आदि अर्थ भी होते हैं जिनसे घृणित पदार्थों की याद आ जाती है, किन्तु विवक्षित अर्थ दूसरा ही (मूँज, ढाक, तेज, बालक) होने से दोष नहीं रहा।

यथेति। आषाढो दण्डः। ब्रह्मवर्चस्विन इति। 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः' इति समासान्तस्तत मत्वर्थीय इनिः। पोगण्डो बालः ॥

एवमन्यप्रकारमपि संख्यानादिकं स्वयमुन्नेयमित्याह—

उपसंहार

एवमन्यदपि द्रष्टव्यम् । अत्र च—

किंचिदाश्रयसंबन्धाद्धत्ते शोभामसाध्वपि ।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥ १०६ ॥

तद्यथा—

'अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरकणत्कङ्कण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयत्यम्बरम् ।
पीतच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लसद्
व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥ १५० ॥

अत्राश्रयस्य बीभत्सरसोचितत्वाददोषत्वम् ॥

इसी प्रकार अन्य दोषों को भी देखना चाहिए। यहां तो—(यह कहना है कि)—रमणी के नयनों में लगे काले अञ्जन की भांति कहीं-कहीं आश्रय के सौन्दर्य के कारण भी दोष रमणीयता धारण कर लेते हैं ॥ १०६ ॥

जैसे—निम्नलिखित श्लोक में—अँतड़ियों से बड़े-बड़े कपोलों को छिद्रों से गूँथकर उनकी टक्कर से कंकणों की टक्कर से निकलनेवाले अनेक आभूषणों की ध्वनियों के सदृश घोर ध्वनियों से यह आकाश को गुंजाये दे रही हैं। पीकर उगले हुये रक्त के कीचड़ के सामने की ओर अधिक जम जाने से भीषण लगते हुए, हिल रहे स्तनों के भार से अति भयङ्कर लगने वाले शरीर से मदमत्त होकर यह दौड़ रही है ॥ १५० ॥

यहां आश्रय के बीभत्स रस के उचित होने से दोष नहीं रहा।

स्व० भा०—यह श्लोक महावीरचरितम् (१।२६) से लिया गया है जो ताड़का के वर्णन से सम्बद्ध है। लक्षण की कारिका भामह के काव्यालङ्कार में (१।५५) अक्षरशः विद्यमान है।

एवमिति। अनित्योऽयं दोषः। तेन यत्र दोषता नास्ति तत्र विषये रसप्रकाशसामग्र्यामन्तर्भावात्कथं न गुणत्वम्। अन्तर्भावश्च द्विधा—प्रयोगविषयौचित्येन वा, वागनुभावौचित्येन वा। तत्र प्रथमं दर्शयति—किंचिदिति। यथाञ्जनस्य नाञ्जनवल्यादिसंगतत्वेन शतशो भाव्यमानस्याप्युद्दीपनविभावना। भवति तु कान्ताविलोचनचुम्बितयानुसंधीयमानस्य। तथापदस्यापि विषयेऽतद्विषये च प्रयुज्यमानस्य। तदेतद् व्याचष्टे—अत्राश्रयस्येति।

संनिवेशवशात्किंचिद्विरुद्धमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ॥ १०७ ॥

तद्यथा—

'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः स्त्रीहस्तरक्तोत्पल-
व्यक्तोत्तंसभृतः पिनह्य सहसा हृत्पुण्डरीकस्रजः।
एताः शोणितपङ्ककुङ्कुमजुषः संभूय कान्तैः पिब-
न्त्यस्थिस्नेहसुराः कपालचषकैः प्रीताः पिशाचाङ्गनाः ॥ १५१ ॥'

अत्र शृङ्गारिणो हि जगदपि शृङ्गारमयं पश्यन्तीति बीभत्सरसेऽपि माधवे- नान्त्रादिपदानामन्तरालेषु निवेशितानां मङ्गलप्रतिसरादिपदानामदोषः ॥

संनिवेश की विशेषता के कारण फूलों की माला के बीच गूँथ दिये गए हरे-हरे पत्तों की भांति प्रायः दोषपूर्ण उक्ति भी सुन्दर बन जाती है ॥ १०७ ॥

जैसे—श्मशान पर उपस्थित माधव वहां के दृश्य का वर्णन कर रहा है—आंतों से मांगलिक सूत्र बनाये हुए, मृत अङ्गनाओं के हाथरूपी रक्तकमलों का कर्णभूषण धारण की हुई, रक्त का कुङ्कुम लगाए हुई ये पिशाचललनायें सहसा हृदयरूपी कमलों की मालायें पहन-पहन कर बड़ी प्रसन्न हो, अपने प्रियतमः के साथ कपाल के मधुपात्रों में मज्जा की शराव पी रही हैं ॥ १५१ ॥

यहां रसिक लोग समस्त संसार को ही रसमय देखते हैं। इस दृष्टि से बीभत्सरस में भी माधव के द्वारा आंत आदि पदों के बीच जोड़ दिये गये मांगलिकसूत्र आदि पदों में दोष नहीं हुआ।

स्व० भा०—भोज ने उपर्युक्त कारिका को भी भामह के काव्यालङ्कार से (१.५४) अक्षरशः उद्धृत किया है। यहां बीच-बीच में उपमेयों के मधुर सन्निवेश से दोष नहीं रह गया।

द्वितीयमन्तर्भावप्रकारं व्युत्पादयति—संनिवेशवशादिति । संनिवेशो वागनुभावः। औचित्याकृष्टपदघटना तद्वशत्वं तदाकृष्टत्वमत एव विरोधिसंगततया विजातीययोरप्यौ- चितीवशेन कान्तिविशेषोन्मीलकत्वात् पत्रपुष्पव्यतिकरजमालासादृश्यं दर्शयति—नील- मिति। अन्त्रैरित्यादौ प्रत्युत्पन्नदोपोन्मत्तप्रेताङ्गनावलोकस्य माधवस्यालम्बनोद्दीपनविभा- वादिप्रकर्षे बीभत्सरसोल्लेकस्तावदुपपन्नः। यस्त्वयमकस्मादेव मङ्गलादिपदानां शृङ्गारानु- यायिनामिह निवेशः स कथं दोषभावादपनेतव्यः, कथं वा गुणत्वमासादयितव्यमित्यतो हेतुगर्भं व्याचष्टे—अत्र शृङ्गारिण इति। शृङ्गारवासनानिविष्टः शृङ्गारी। तथा च पूर्वं बीभत्स- रसान्वयेऽपि प्रकृतशृङ्गारभङ्गो मा भूदित्येतदर्थमेव कविना 'मम हि' इत्यादिना प्रतिज्ञाय 'लीनेव' इत्यादिवासनादृढत्वमुपपादितम्। अत एव प्रतिपदं रूपकमाविष्टाभिप्रायमेवं शृङ्गारमयं शृङ्गाराङ्गतया रसतापन्नम्। उपपद्यते च तच्चित्तस्य सादृश्यमात्रेण तद्रूपतानुसं- धानम्। ततश्च कथं नोद्दीपनता वस्तुसत्त्वस्यानुपयोगित्वात्। अत एव सूत्रितस्य बीभ- त्सस्य प्रकृतेन बाधात् प्रकृतार्थानुपोष इति ॥

(चतुर्विंशति दोषों का आकलन)

ननु कथमुद्देशे चतुर्विंशतिधेत्युक्तम्। दोषा हि पूर्वं षोडशैव विभक्ता इत्यत आह—

अश्लीलादेरमी भेदा भिद्यन्ते यत्त्रिधा त्रिधा।
भवन्ति नव तेनैते पूर्वोक्ता दश पञ्च च ॥ १०८ ॥
चतुर्विंशतिरित्येषा प्रोक्ता पदसमाश्रया।
समासात्पूर्वनिर्दिष्टदोषाणां गुणक्लृप्तये ॥ १०९ ॥
इत्येतत्पददोषाणामदोषत्वमुदीरितम् ॥ ११० अ ॥

अश्लील आदि के ये भेद जो कि पुनः तीन-तीन भेदों में विभक्त किए गए हैं, ये सब मिलकर नव होते हैं और इनके पूर्व १५ भेद कहे ही गए हैं। इस प्रकार पद पर आश्रित रहने वाले दोषों की (९+१५=२४) चौबीस संख्या कही गई है। संक्षेप में पहले कहे गए दोषों की गुणत्व प्राप्ति के लिए यहां पद दोषों की निर्दोषता बतलाई गई है। (१०८–११० अ)

स्व० भा०—पददोष सोलह ही भोज ने गिनाये थे, किन्तु दोषगुणों को चौवीस कहा है। उसी के विषय में उन्होंने स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है कि सोलहवें ग्राम्यत्व दोष के पूर्व पन्द्रह दोष हो जाते हैं। ग्राम्यत्व के अश्लील, अमङ्गल तथा घृणावद् ये तीन भेद हो जाते हैं और प्रत्येक के पुनः संवीत, गुप्त और लक्षित। इस प्रकार (३ × ३ = ९) नव भेद हो जाते हैं। अतः (१५ + ९ = २४) सब मिलाकर चौवीस भेद पदाश्रित दोषगुणों के हुये।

अश्लीलादेरिति। निगदव्याख्यातम्। चतुर्विंशतिरित्येपेति। आ दशभ्यः संख्या संख्येये वर्तते, ततः संख्याने संख्येये चाभिधानात् केवलसंख्यानवचनत्वेन गवां विंशतिरितिवत्पद-समाश्रयेत्युपपन्नम्।

वाक्य दोषों का गुणत्व

इदानीं वाक्यदोषाणां गुणत्वमभिधीयते ॥ ११० ॥

अब वाक्यदोषों की गुणता कही जा रही है ॥ ११० ॥

क्रमप्राप्तवाक्यदोषगुणीभावव्युत्पादनमवतारयति—इदानीमिति ॥

(१) शब्दहीनत्व दोषगुण

तत्र शब्दविहीनस्य विवक्षावशतः क्वचित्।
निसर्गसुन्दरत्वेन गुणत्वं परिकल्प्यते ॥ १११ ॥

यथा—

'आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे तव मुखच्छविम्।
कोशदण्डसमग्राणां किमेषां खलु दुष्करम् ॥ १५२ ॥'

अत्र 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इति कर्तृकर्मणोः षष्ठीप्रतिषेधे किमेषां दुष्करमित्यपभाषणेऽपि संबन्धमात्रविवक्षातो गुणत्वम्।

यदाह—

'इदं हि शास्त्रमाहात्म्यदर्शनालसचेतसाम्।
अपभाषणवद्भाति न च सौभाग्यमुज्झति ॥'

वक्ता की बोलने की इच्छामात्र से कही कही शब्दहीनत्व दोष से संयुक्त स्थानों पर भी स्वाभाविक सौन्दर्य होने के कारण गुणत्व की कल्पना की जाती है ॥ १११ ॥

जैसे—हे सुन्दरि, ये कमल तुम्हारे मुख की शोभा की होड़ करते हैं। भला कोषरूपी खजाना और नालरूपी दण्ड से संयुक्त इन कमलों के लिये कष्टसाध्य क्या है ?॥ १५२ ॥

यहां पर 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' सूत्र के द्वारा 'कर्तृकर्मणोः कृति' नामक षष्ठी विधायक सूत्र का बाध होने पर इनके लिए दुष्कर क्या है" इसमें अशुद्धि होने पर भी सम्बन्ध मात्र की उक्ति अपेक्षित होने से गुणता आ गई है। कहा भी गया है—'यहां ऐसा लगता कि मानो किसी पदशास्त्र के महत्त्व को देखने में अलसाये चित्त वाले—भाषाशास्त्र के नियमों को देखने का कष्ट न करने वाले—के द्वारा किया गया अशुद्ध प्रयोग हो, किन्तु (सम्बन्ध विवक्षा के कारण) सौन्दर्य न गया हो।"

स्व० भा०—यहां उदाहरण तथा प्रमाण वाक्य काव्यादर्श (२।३६१ तथा ३।१५१) के हैं। इस प्रसंग में भोज का मत है कि "शब्दहीनता होती अवश्य है, किन्तु वहां दोष नहीं होता जहाँ सौन्दर्य बाध नहीं होता।

पाणिनि के सूत्र 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५) का अर्थ है कि कृदन्त पदों के संयोग में कर्ता तथा कर्म में षष्ठी विभक्ति लगती है। इसी प्रकार 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (२।३।६९) उसका बाधक सूत्र है जिसका अर्थ होता कि कृत् प्रत्ययों में 'लकारों के स्थान पर होने वाले प्रत्ययों में अन्त होने वाले, उ, उक, अव्यय, निष्ठा (क्त, क्तवतु) खलर्थ तथा तृन् प्रत्ययान्त पदों से सम्बन्ध होने पर कर्ता तथा कर्म में षष्ठी विभक्ति न लगे। दुष् उपसर्गपूर्वक कृ धातु से 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' से 'दुष्कर' पद बना। अतः प्रस्तुत सूत्र के अनुसार इससे सम्बद्ध पद में षष्ठी विभक्ति नहीं लगनी चाहिए किन्तु प्रस्तुत श्लोक में 'एषाम्' षष्ठ्यन्त है। यह नियम विरुद्ध अतः शब्दहीनत्व है, किन्तु छन्द के मनोहर होने के कारण और दोषों पर ध्यान न जाने के कारण यहां दोष नहीं लगता।

यस्य वस्तुनो नानारूपाणि विजातीयरूपाणि तत्र तद्रूपविवक्षावैचित्र्याच्छब्दवैचित्र्यं संगच्छत इति दोषत्वाभावः। एवं रूपता गमितवतीत्यादौ कदापि नास्तीति दोषरूपतैषा। क्वचित्पुनरस्ति रूपान्तरमित्याह—क्वचिदिति। भवत्वेवम्। गुणत्वं तु कथमित्यत आह—निसर्गेति। नियतरूपविवक्षा हि महाकवीनां न लावण्यमनुसंधाय भवितुमर्हति। तथाहि—आक्षिपन्तीत्यादौ एषां दुष्करमित्यत्र खलर्थयोगे 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इत्यनेन षष्ठीप्रतिषेधादेषामिति कथं षष्ठीति दुष्टजातीयमादाय शेषरूपविशेषविवक्षा समाधानहेतुः। अस्ति हि षष्ठ्यर्थस्य संबन्धस्य वैरूप्यम्—संबन्धसामान्यं विशेषश्च जन्यजनकभावादिः। अत्र संबन्धविशेषविहितषष्ठीमुपादाय 'न लोक–' इत्यादिना निषेधः। संबन्धसामान्यरूपमुपादाय षष्ठी केन वार्यते। अयमेव संबन्धः शेष इत्युच्यते। एवं तावन्न दोषत्वम्। यथा कोपसमग्राणां राज्ञां विपक्षश्रीहरणमुपदिश्य यत्किमपि संबन्धिमात्रमेव न दुष्करं तथा पद्मानामिति समर्थयामहे। कथमन्यथा दुरापत्वद्वदनश्रीहरणमिति प्रकृतपोषलाभाद् गुणत्वमतिसुलभं तदेतद् व्याचष्टे—अत्रेति। ननु संबन्धमात्रविवक्षायां दोषता मा भूत्, गुणत्वं तु कथमिति यथोक्तमभिसंधाय परमतं लिखति—इदं हीति। शास्त्रमाहात्म्यं विधिनिषेधयोः परस्परासंकीर्णविषयत्वम्॥

(२) क्रमभ्रष्ट दोषगुणत्व

यत्नः संबन्धनिर्ज्ञानहेतुः कोऽपि कृतो यदि।
क्रमलङ्घनमप्याहुर्न दोषं सूरयो यथा॥ ११२॥

बन्धुत्यागस्तनुत्यागो देशत्याग इति त्रिषु।
आद्यन्तावायतक्लेशौ मध्यमः क्षणिकज्वरः॥

आद्यन्तौ मध्यम इति संबन्धनिर्ज्ञानहेतोर्विधानान्न शब्दक्रमलङ्घनं दोषः। यत्कृश्च बन्धुत्यागदेशत्यागयोस्तनुत्यागाद् गरीयस्त्वेनाभिमतत्वादित्यर्थक्रमलङ्घनस्यापि गुणत्वम्॥

यदि अन्वय बोध के लिए कवि द्वारा प्रयत्न किया गया हो तो विद्वानों ने उसके लिये किए गए क्रमोल्लङ्घन को भी दोष नहीं माना है॥ ११२॥

जैसे—बन्धुओं का परित्याग, शरीर का परित्याग तथा देश का परित्याग इन तीनों प्रकार के त्यागों में प्रथम तथा अन्तिम बहुत ही अधिक कष्टदायी हैं और मध्यम अल्प समय तक ही दुःख देने वाला है।

आदि अन्त तथा मध्यम इनका सम्बन्ध निर्धारण के लिए इस क्रम में रखने से यहां शब्दक्रम के लङ्घन से होनेवाला दोष नहीं है। वक्ता के लिए बन्धुत्याग तथा देशत्याग दोनों का तनुत्याग की अपेक्षा अधिक महत्त्व होने से उसके ही विशेषतः मान्य होने से अर्थ के क्रम का लंघन करना भी गुण ही है।

स्व० भा०—वस्तुतः क्रमभङ्ग हो जाने पर अभीष्ट अन्वय में बाधा होती है। यह बाधा ही समस्त दोषों कारण है। अतः यदि कभी इस बाधा के होने से ही अभीष्टप्रतीति होती है उस समय तो गुणत्व ही होना चाहिए। प्रस्तुत उदाहरण में प्रथम द्वितीय तथा तृतीय तीन स्थानों पर तीन प्रकार के त्यागों के वाचक पद हैं। इन्हीं क्रमों में कहीं इनका उल्लेख भी होना चाहिए किन्तु उत्तरार्ध में प्रथम तथा तृतीय का उल्लेख पहले और द्वितीय का सबसे बाद में किया गया है। इस प्रकार तो क्रमभङ्ग हो गया। किन्तु यहां क्रम अभीष्ट होने से शब्दक्रम लङ्घन दोष नहीं हुआ। अर्थ की दृष्टि से भी यहां क्रम लंघन नहीं है, क्योंकि इस दृष्टि से अधिक महत्वशाली बात पहले और कम महत्ववाली बाद में आनी चाहिए। चूँकि प्रथम तथा तृतीय द्वितीय की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, अतः उनका एक साथ प्रथम निर्देश करना अनुचित न होकर उचित हो गया है।

यहां का लक्षण तथा उदाहरण दोनों ही काव्यादर्श (३।१४६-७) का हैं।

यत्न इति। क्रमभ्रंशे हि यथाभिमतान्वयप्रतीतिप्रत्यूहो दूषकताबीजम्। तद्यदि कुतश्चिद्विशेषादस्खलितैव प्रतीतिरुपजायते तदा बीजाभावेन तथाभावो निवर्तत एव। स च विशेषः प्रतिपदमनुक्रमितुं न शक्यते इति कोऽपि यत्न इति सामान्येन प्रतिपादितम्। सोऽयं शब्दक्रमलङ्घनापवादः। अर्थक्रमलङ्घने त्वभिप्रायविशेषः। तथा हि—बन्धुत्याग इत्यादौ बन्धुत्यागतनुत्यागदेशत्यागान्क्रमेणोद्दिश्य तथैवानुदेशोऽप्यर्हति न त्वादिममुद्दिश्य ततोऽन्त्यस्ततो मध्य इति उद्देशानुदेशलक्षणशास्त्रक्रमभ्रंशजातीयत्वेऽपि संबन्धज्ञानहेतुयत्नकरणाददूषणत्वं व्यवस्थाप्यते। यत्नश्चायमेव यदादिपदैरुल्लेखः। तानि हि तत्तस्थानविशेषगामिन एव प्रतीतिमुपजनयन्ति। अवश्यं चानेन क्रमेणात्र वक्तुमुचितं तनुत्यागस्य विजातीयताविवक्षया पृथगेव वक्तुमर्हत्वात्। एवं चानुपपत्तिर्लोके बन्धुत्यागापेक्षया शरीरत्यागस्यातिकृच्छ्रत्वेन प्रसिद्धिः। अतश्च 'मध्यम आयतक्लेश आद्यन्तौ क्षणिकज्वरौ' इति वचनमुचितमिति आर्थक्रमभ्रंशः कथं न भवति तत्राह—वक्तुश्चेति। अभिमतमित्यनेनाभिप्रायविशेषोऽपवादहेतुः—'यथारुचि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते। आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसंधानसाधितः॥' इति न्यायादुपपन्नमेवैतदिति॥

(३) विसंधि दोषगुण

विरूपसंधि यत्पूर्वं विसंधि च निरूपितम्।
न च दुर्वचके प्रायः प्रगृह्यादौ च दुष्यति॥ ११३॥

तत्र दुर्वचके विरूपसंधिर्यथा—

'जयन्ति वर्षास्विति भर्गदुर्गयोः सुदुर्वचा दुर्वचकप्रयुक्तयः।
अभेण्णगेड्डे खमपोग्रभोग्रुरुग्घ्रुड्भ्रमग्र्णमुंख सध्र्यगोधि नः॥ १५३॥'

अत्रोत्तरार्धस्य विरूपसंधित्वेऽपि दुर्वचकत्वेन कलाविद्भिराहतत्वाद् गुणत्वम्।

यदाहुः—

'शुकस्त्रीबालमूर्खाणां मुखसंस्कारसिद्धये ।
प्रहासाय च गोष्ठीषु वाच्या दुर्वचकादयः ॥ १५४ ॥'

प्रगृह्यादौ विगतसंधिर्यथा—

'कमले इव लोचने इमे अनुबध्नाति विलासपद्धतिः ।
स इतोऽन्दव्रतावृतप्रियो न ऋचस्त्वं न यजूंषि ऊहसे ॥ १५५ ॥'

अत्र विसंधेः प्रगृह्यादिहेतुकत्वाद् गुणत्वम् ।

यदाह—

न संहितां विवक्षामीत्यसंधानं पदेषु यत् ।
तद्विसंधीति निर्दिष्टं न प्रगृह्यादिहेतुकम् ॥ ११४ ॥

असुन्दर रूप में होने से पहले जो विसंधि नामक दोष निरूपित हुआ है वह दुर्वचक प्रसंग तथा प्रगृह्यादि के अवसरों पर दोष नहीं होता है ॥ ११३ ॥

इनमें से दुर्वचक में विरूप संधि का उदाहरण—

वर्षा के दिनों में शिव तथा पार्वती की ये अत्यन्त कठिन कही गई दुर्वचक की प्रयुक्तियां सर्वोत्कृष्ट हैं ।

शंकर जी पार्वती से कहते हैं कि हे पर्वतराजपुत्री, (नगेन्द्रजे) आकाश तो चन्द्रमा से रहित सा हो गया है (अ = नहीं है भ = नक्षत्रों का ईश = स्वामी = चन्द्रमा) क्योंकि आकाश में, हे जलजमुखी, उग्रकांति वाले सूर्य की किरणों के द्रोही अर्थात् बादल छा गए हैं । इस पर वह कहती हैं कि फिर तो मेरे साथी होओ ॥ ५३ ॥

यहां उत्तरार्ध में विरूप सन्धि होने पर भी दुर्वचक होने के कारण कला के पारखी इसका आदर करते हैं । उनके द्वारा आदर किए जाने से यहां गुणत्व है । इसके विषय में कहा भी गया है कि—शुक, स्त्री, बालक तथा मूर्खों की मुख की वाणी में शुद्धि लाने के लिए और हंसाने के लिए सभाओं में दुर्वचकादि का प्रयोग होना चाहिए ॥ १५४ ॥

प्रगृह्य आदि में संधि नहीं होता है ।

जैसे—दो कमलों की भांति ये दोनों नेत्र विलास परम्परा को धारण कर रहे हैं । वह वर्ष चला गया 'ऋतु के प्रेमी आप ऋतु में न तो ऋग्वेद का और न यजुर्वेद का ही विवेचन करते हैं' ॥ १५५ ॥

यहां पर सन्धि न होने का कारण प्रगृह्यादि होने से गुणत्व है, दुष्टता नहीं । इसके बारे में कहा गया है कि—यदि कोई व्यक्ति केवल इसीलिए सन्धि का प्रयोग नहीं करता कि मैं संहिता नहीं करना चाहता, तो वैसे स्थानों पर विसन्धि नामक दोष होता है, किन्तु प्रगृह्य आदि संज्ञा के कारण सन्धि न होने पर दोष नहीं होता ॥ ११४ ॥

स्व० भा०—विसन्धि दोष उन दोनो स्थानों पर होता है जहां पर या तो संधि बहुत खराब लगती है, उसका ठीक से उच्चारण असंभव हो जाता है और दूसरे जहां पर संधि ही नहीं की जाती । 'जयति'० आदि वाले श्लोक के उत्तरार्ध में ऐसी संधियां हुई जो दुष्पठ्य है । जो कठिनाई से पढ़े जा सकते हैं उनको दुर्वचक कहते हैं । इनका उपयोग शिक्षा में होता है । अतः शिक्षण के उद्देश्य से इनका प्रयोग होने पर दोष नहीं होता । इसी प्रकार प्रगृह्य प्रकृति भाव आदि में

ऐसी दशायें हैं जहां संधि अपेक्षित नहीं। जैसे—'कमले इव', 'लोचने इमे' तथा 'इमे अनुबध्नाति' संधि प्रगृह्य होने से नहीं हुई। प्रगृह्य का परिभाषा सूत्र—'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' है। इसी प्रकार न 'ऋतु' में संधि 'ऋत्यकः' सूत्र से प्रकृति भाव हो जाने के कारण नहीं हुई। यहां दोष नहीं हुआ।

'कमले इव लोचने' वाला उद्धरण वामन के काव्यालंकार सूत्र (२।२।९) में तथा 'न संहिता' वाला काव्यादर्श (३।१५५) में हैं।

विरूपेति। विरूपो दुर्वचको विसंधिर्विगतं संहिताकार्यं दुर्वचके कलाविशेषरूपतयानुमते संहिताकार्यनियमः। द्वितीये कुत्रादूषणमित्याह—प्रगृह्यादाविति। प्रगृह्यं 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' इत्यादिना यत्र प्रगृह्यसंज्ञा विहिता, आदिग्रहणाद्विनापि प्रगृह्यसंज्ञया यत्र प्रकृतिभावविधानं तथोदाहरिष्यते। यत्र वा वक्तुः खेदादिना विच्छिद्य पाठे विरतिर्भवति। यथा—का एकशिरोरुहेति। तदेवं दुर्वचकप्रगृह्यादि यथासंख्यं विरूपविसंधिविगतसंधानयोरपवादकारणे इत्याह—अत्रेति। प्रयुज्यन्त इति प्रयुक्तयो दुर्वचकाश्च ताः प्रयुक्तयश्चेति दुर्वचकप्रयुक्तय इति कर्मधारयः। सुदुर्वचा इति अन्येनोच्चारयितुमशक्याः। स्वयमेव कविः प्रतिज्ञाय उत्तरार्धे दुर्वचकान्याह—अभेडित्यादि। हे नगेड्जे पर्वतराजपुत्रि, खमाकाशं भेड् भानां नक्षत्राणामोडीश्वरश्चन्द्रः सोऽविद्यमानो यत्र। तिरोधानादसत्कल्पना चन्द्रमसः। केन पुनस्तिरोधानमित्याकाङ्क्षायां द्वितीयं विशेषणम्—अपोग्रेति। अपगतोऽग्रदीप्तिर्भं उग्ररुचिरादित्यस्तदीयद्रोहकारिणोऽप्पदवाच्या मेघा यत्र। अप्सु रोहतीत्यब्रुट् पद्मं तद्वन्मुखं यस्या इति देवीसंबोधनम्। चेदीदृशं तर्हि सभ्रयङ् सहचरो भवास्माकमिति गौर्या उत्तरम्। कलारूपत्वेन विरूपसंधानस्य गुणत्वमित्याह—कलाविद्भिरादृतत्वादिति। कमले इवेत्यादावुदाहरणत्वाच्चैकश्लोकार्धः। पूर्वार्धे कमले इत्यादित्रितयं प्रगृह्यसंज्ञोदाहरणम्। उत्तरार्धे विनैव प्रगृह्यसंज्ञां प्रकृतिभावविधानं यत्र तत्त्रितयोदाहरणम्। तथाहि—अब्दऋताविति। 'न ऋच' इति च 'ऋत्यकः' इत्यनेन प्रकृतिभावः। यजूंषि ऊहस इति 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' इत्यनेन। अपरमादिपदग्राह्यं पूर्वमुदाहृतम्। अत्रापि स इति बोद्धव्यम्। तदेतच्छास्त्रानुमतमपि घटनासौष्ठवेन निवेशनीयम्। न त्वन्यथा। उक्तं च पूर्वमेव यत्प्रगृह्यादिहेतुकमपि नासकृत्प्रयोक्तव्यमिति ॥

(४) पुनरुक्त दोषगुण

अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद्विवक्ष्यते।
न दोषः पुनरुक्तेऽपि प्रत्युतेयमलंक्रिया ॥ ११५ ॥

यथा—

'हन्यते सा वरारोहा स्मरेणाकाण्डवैरिणा।
हन्यते चारुसर्वाङ्गी हन्यते मञ्जुभाषिणी ॥ १५६ ॥'

अत्र हन्यते हन्यत इति शब्दपुनरुक्तं चारुसर्वाङ्गी वरारोहेत्यर्थपुनरुक्तं तदुभयमप्यनुकम्पाद्यतिशयविवक्षायामदोष इति गुणत्वम् ॥

यदि किसी के प्रति अतिशय दया आदि का भाव विवक्षित हो तो पुनरुक्ति होने पर भी दोष नहीं होता अपितु वह गुण हो जाता है ॥ ११५ ॥

जैसे—निष्कारण ही वैर साधने वाले कामदेव के द्वारा यह सुघटित शरीर वाली सुन्दरी

मारी जा रही है, (हाय) यह सम्पूर्णाङ्ग सुन्दरी मारी जा रही है, यह मधुरभाषिणी मारी जा रही है ॥ १५६ ॥

यहां 'हन्यते' 'हन्यते' कह कर शाब्दी पुनरुक्ति और 'चारुसर्वाङ्गी' तथा 'वरारोहा' इनके द्वारा (दोनों में अर्थसाम्य होने से) आर्थी पुनरुक्ति है। ये दोनों पुनरुक्तियां अत्यधिक दया का भाव प्रदर्शित करने के लिए अपेक्षित होने से दोष नहीं हुई अपितु गुण ही हो गई।

स्व० भा०—घबराहट के क्षणों में एक पद का अनेक बार उच्चारण हो जाना स्वाभाविक है, अतः अनेक बार कहने पर भी दोष नहीं होता। यहीं पर किसी नायिका की दुरवस्था देखकर कोई व्यक्ति दयार्द्र होकर पुकार उठता है कि 'हाय हाय बेचारी मर गई, मर गई' आदि। स्वाभाविक होने पर अर्थप्रत्यायन में सरलता होती है।

इसी के विषय में भामह ने कहा था कि—

न शब्दपुनरुक्तं तु स्थौल्यादत्रोपवर्ण्यते।
कथमक्षिप्तचित्तः सन्नुक्तमेवाभिधास्यते ॥
भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः ॥ काव्या० ४।१३-१४

भोज के लक्षण तथा उदाहरण दोनों काव्यादर्श (३।१३७-८) के हैं।

अनुकम्पेति। संभ्रमादौ यावद्बोधमित्यादिना पदद्विरुक्त्यादेरनुमतत्वान्न दोषत्वम्। अभिप्रायव्यञ्जननैयत्येन प्रकृतिपोषानुगुणतया गुणत्वम्। तथाहि—हन्यत इत्यादौ हन्यत इति यद्यप्यभिधेयतात्पर्यमिति शब्दपुनरुक्तजातीयं भवति, यद्यपि च वरारोहेत्यभिधाय चारुसर्वाङ्गीत्यभिन्नाभिधेयतात्पर्यं पर्यायरूपत्वादर्थपुनरुक्तजातीयम्, तथापि विरहवेदनादूनायामनुकम्पातिशयादसकृदुपादानमहिरहिर्बुध्यस्वेति लोकानुसारात्। अनुकम्पाभयाद्यस्य हि तादृशी पदद्विरुक्तिरभिप्रायविशेषार्थनिष्पादितया गुणकक्षाधिरोहणमेवेत्याशयवान्व्याचष्टे—तदुभयमपीति ॥

(५) व्याकीर्णत्व दोष

पदानां व्युत्क्रमो यत्र क्रमेण व्युत्क्रमेण वा।
तद्व्याकीर्णं विदुस्तस्य न दोषः क्वापि तद्यथा ॥ ११६ ॥

'जुगुप्सत स्मैनमदुष्टभावं मैवं भवानक्षतसाधुवृत्तः।
इतीव वाचो निगृहीतकण्ठैः प्राणैररुध्यन्त महर्षिसूनोः ॥ १५७ ॥'

अत्र 'मा स्म जुगुप्सत' इति वक्तव्ये 'जुगुप्सत स्मैनमदुष्टभावं मैवम्' इति पदव्यतिक्रमस्य 'व्यस्तेऽपीच्छन्ति केचित्' इति लुङ्लङोर्विशेषलक्षणत्वाद् गुणत्वम् ॥

जहां पर अनुलोम अथवा प्रतिलोम क्रम से पदों की निश्चित पूर्वापरता भङ्ग हो जाती है वहां व्याकीर्णता कही गयी है, किन्तु (विवक्षित—होने से) कहीं कहीं वह भी दोष नहीं होती ॥ ११६ ॥

जैसे—'आपने कभी सदाचार भङ्ग नहीं किया है, अतः शुद्ध भावना वाले इस व्यक्ति से घृणा मत कीजिए।' इतना कहते ही महर्षि पुत्र के गले तक आ गए प्राणों ने बात रोक दी ॥ १५७ ॥

यहां पर 'मा स्म जुगुप्सत' इस ढंग से कहना चाहिए था किन्तु "जुगुप्सत स्मैनमदुष्टभावम् मैवम्" इस प्रकार कहने पर पदों में व्यतिक्रम हो गया है। फिर भी व्यस्त-पृथक्-पृथक् रहने पर भी कुछ लोग यही चाहते हैं' इस नियम के अनुसार लुङ् तथा लङ् का विशेष प्रकार का लक्षण होने से यहां गुणत्व ही हुआ है।

स्व० भा०—प्रस्तुत छन्द में पद यथाक्रम नहीं हैं। 'अनद्यतने लङ्' (६।४।७१) तथा 'लुङ्' (३।२।११०) से भूतार्थ वृत्ति में लुङ् होता है। इनके अनुसार अपनी २ दशाओं में इनका अपना रूप होता है। 'मा' निषेधार्थक का प्रयोग होने पर 'माङि लुङ्' से (३।३।१७५) 'मा' परे रहते यहां लुङ् लकार प्राप्त था, किन्तु 'स्मोत्तरे लङ् च (३।३।१७६) के अनुसार यदि 'स्म' बाद में आवे तो उसके पूर्व 'मा' का प्रयोग होने पर 'लङ्' होना चाहिए। इस प्रकार यहां नियमतः 'मा' के पश्चात् 'स्म' होना चाहिए न कि 'जुगुप्सत' के बाद। किन्तु 'व्यस्तेऽपीच्छन्ति केचित्' परिभाषा के अनुसार लुङ् तथा लङ् का झगड़ा समाप्त हो जाता है और दोष नहीं रह जाता।

पदानामिति। एकस्मिन् वाक्ये पदानामुचितसंनिवेशविपर्यासः क्रमभ्रंशः। स द्विधा भवति—पूर्वापरभावनियतानां तादृशक्रमप्रच्यावनेन वा। यथा बहुतृणमित्यन्योऽर्थः, तृणं बह्वित्यन्यः। पूर्वापरनियमशून्यानामिति तादृगुच्चारणविपर्यासेन वा। यथा कपालमनुलिम्पति, दुकूलं परिदधातीत्यत्र क्रमनियमोऽभिमतः। अनुलिम्पति कपालम्, परिदधाति वस्त्रमित्यपि कृतेन तस्यैवार्थस्य लाभात्। यदा तु कपालं परिदधाति दुकूलमनुलिम्पतीति क्रियते तदा भवति संनिधिविपर्यासस्तदेतद्व्याकीर्णसंकीर्णयोस्तुल्यं, तदिदमुक्तम्—क्रमेण व्युत्क्रमेण वा। ननु 'स्मोत्तरे लङ् च' इत्यनेन माशब्दादुत्तरं यत्र स्मशब्दप्रयोगस्तत्र लुङ्लङोर्विधाने पदक्रमनियमः कृतस्तत्कथं स्म ममेति प्रयुक्ते सोऽर्थः प्रत्येतव्य इत्यत आह—व्यस्त इति। विशेषेण लक्ष्यत इति विशेषलक्षणं तस्य भावस्तत्त्वम्॥

(६) सङ्कीर्णत्व दोषगुण

पर्यायेण द्वयोर्यत्र वाक्यं प्रश्नोत्तरादिषु।
संकीर्णं तन्न दोषाय वाकोवाक्यविदो विदुः॥ ११७॥

यथा—

'बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते॥ १५८॥'

अत्र संकीर्णत्वेऽपि वाकोवाक्यत्वान्न दोषः॥

जहां वक्ता तथा श्रोता दोनों के वाक्य एक दूसरे में घुस जाते हैं वहां संकीर्णता दोष होता है उसे भी प्रश्नोत्तर आदि में वाक्यविधान जानने वाले दोष का कारण नहीं मानते॥ ११७॥

जैसे—कि एक नायक अपनी रुष्ट नायिका को अश्रुसंवलित देखकर पूछता है—"हे प्रिये" "क्या नाथ" "अरी मानिनी, क्रोध छोड़ दे" "रुष्ट होकर मैंने कर ही क्या लिया" "मुझमें खेद उत्पन्न कर दिया" "(अच्छा चलिए) मुझ पर आपका कोई अपराध नहीं है, वस्तुतः सारे दोष तो मुझमें ही है।" "तब फिर गद्गद वाणी से रो क्यों रही हो?" "किसके सामने रो रही हूं?"

"अरे, मेरे ही सामने तो" "आपके सामने रोने वाली मैं हूं ही कौन" "मेरी प्रियतमा हो!" (ओहो) वही तो नहीं हूं अतः रो रही हूं"॥ १५८ ॥

यहाँ संकीर्णत्व होने पर भी वाक्य में वाक्य की स्थिति (स्वाभाविक होने से अभीष्ट होने के कारण) दोष नहीं है।

स्व० भा०—स्पष्ट अर्थाववोध के लिए आवश्यक हैं कि वाक्य एक दूसरे में घुसे न हों। ऐसी दशा होने पर दोष होता है। किन्तु जिन स्थानों पर ऐसी स्थिति स्वाभाविकता उत्पन्न करती है, अथवा अर्थवोध में कष्ट नहीं होता, वहाँ दोष नहीं होता है। अमरुक के इसी छन्द में क्रम "वाले, मानिनि, रुषं विमुञ्च" तथा "नाथ, रोषान्मया किं कृतम्" होना चाहिए। किन्तु इनके कुछ पद आगे-पीछे मिल गए हैं। फिर भी प्रश्नोत्तर का क्रम चलने से यहाँ दोष नहीं है। यहाँ नायक का 'बाले, सम्बोधन नायिका की मूर्खता, सरलता तथा सखियों की वातों में आने का भाव सूचित करता है, जब कि 'नाथ' पद नायिका के मुख से निकलकर पुरुष के स्वामित्वमय और स्त्री की उपेक्षा का भाव द्योतित करता हैं। अतः भिन्न वाक्यता होने पर भी परस्पर पदों का संक्रमण इनमें दोष नहीं उत्पन्न करता।

पर्यायेणेति। यत्र वाक्यैकवाक्यतायामवान्तरवाक्येषु परस्परपदार्थप्रवेशेन यथाभिमत-संसर्गप्रतीतिः स्खलिता भवति तत्र संकरो दूषणम्, प्रतीतेरस्खलने तु न दोषः। स्खलनं चानेकवक्तृकपर्यायप्रवृत्तवाक्यावयवमिश्रणेन भवति। तदपि मिश्रणं प्रश्नोत्तररूपमन्या-दृशं वा भवतीत्याह—प्रश्नोत्तरादिष्विति। विषयसप्तमीयम्। वाक्ये वाक्यं वाकोवाक्यं पृषोदरादित्वात्साधु। तत्र प्रश्नोत्तरादिरूपं वाकोवाक्यमुदाहरति—बाले इति। अत्र 'बाले विमुञ्च मां प्रति रुषम्' इति प्रथमप्रश्नवाक्यम्। 'नाथ रोषान्मया किं कृतम्' इति तादृशमेवोत्तरवाक्यम्। तत्र बाले इति वाक्यप्रतीकानन्तरमेव नाथेति वाक्यान्तरप्रती-कस्य निर्देशः संकीर्णजातीयतामाकारयितुमुद्यतः प्रश्नोत्तरप्रभावादपोद्यते। संकीर्णयोरपि वाक्ययोः पर्यायनिर्देशे भवत्येव वाकोवाक्यमिति चेत्, न। व्यतिकरस्याभिप्रायविशेष-व्यञ्जकतया चमत्कारकारित्वेन विजातीयत्वात्। अत एव गुणत्वम्। तथा हि बाले इति पदं परचित्तानभिज्ञायाः क्षुद्रसहचरीवचसि विश्वासभाजः सोपालम्भं संबोधनमावि-ष्करोति। एतदाकर्ण्यानन्तरमेवेर्ष्याकषायकामिनीवचनमुचितमिति नाथेति संबोधनं साभिप्रायम्, प्रभुरसि न पुनरस्मासु दत्ताशयो न वा स्वाधीनतासौभाग्यभागिति विवक्षि-तत्वात्। एवमुत्तरत्र स्वयमुन्नेयम्। उपलक्षणं च द्वयोरिति एकस्यापि वक्तुः प्रहेलिकादौ तद्विधविषये तदाभाषणस्योचितत्वात्। विजातीयवाच्यद्वयसंदंशपतितपदे किमिदमनेना-न्वीयतेऽनेन वेति संदेहसंकीर्णतासंशयोऽपि संकरमध्यासीन एवेति गुरवः। अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामित्यत्र राजपदं संदंशपतितं किं पूर्वेणाथ परेणान्वीयत इति संदि-ह्यते। राजगोक्षीरादौ द्वयेनान्वयो गोपदस्य निश्चित इति॥

(७) अपदत्व दोषगुण

प्रकृतिस्थादिभेदेन ग्राम्यादिभिरथापि या।
अपदं तस्य चानुज्ञा भाषाचित्रे विधीयते॥ ११८॥

यथा—

'हा तो जो ज्वलदेउ नैव मदनः साक्षादयं भूतले
तत्किं दीसइ सञ्चमा हतवपुः कामः किल श्रूयते।

ऐ दूए किअलेउ भूतपतिना गौरीविवाहोत्सवे
ऐसें सच्च जि बोल्लु हस्तकटकः किं दर्पणेनेद्यते ॥ १५६ ॥'

अत्र ग्राम्यः प्रष्टा नगरमागतो राजानं दृष्ट्वा ग्राम्यैः प्रकृतिस्थैरेव वा पदैः प्राकृतेन पृच्छति—'हा तो जो ज्जलदेउ' इति। नागरश्च तमनुजिघृक्षुरुपनागरैः कोमलैर्वा पदैः सवक्रोक्ति प्रत्याचष्टे—'नैव मदनः साक्षादयं भूतले' इति। अथ ग्राम्य आहितप्रतिभः पूर्वपदानुरोधादर्धप्राकृतेनैव ग्राम्योपनागरैः प्रकृतिस्थकोमलैर्वा पदैस्तमुपालभते—'तत्किं दीसइ सच्चमा हतवपुः कामः किल श्रूयते' इति। अथ नागरो ज्ञाततत्प्रावीण्यः पादानुरोधादेव अर्धप्राकृतेन ग्राम्योपनागरनागरैः प्रकृतिस्थकोमलकठोरैर्वा पदैः समाधत्ते—ऐ दूए किअलेउ भूतपतिना गौरीविवाहोत्सवे' इति। अथ ग्राम्यः श्लोकसमाप्तेः पादस्य तदुत्तरस्य चानुरोधाद् ग्राम्याणि प्रकृतिस्थानि वा त्रिचतुराणि पदानि प्राकृतेनोक्त्वा पादार्ध एवं तिष्ठति—'ऐसें सच्च जि बोल्लु' इति। अथ नागरो जितकाशी ग्राम्योपनागरनागरैः प्रकृतिस्थकोमलकठोरैर्वा पदैः श्लोकमुत्तरं च पूरयति—हस्तकटकः किं दर्पणेनेद्यते' इति। तत्र च प्राकृतानां सर्वेषामपि ग्राम्यत्वम्। प्रष्टुः संस्कृतपदेषु वपुरित्युपनागरं शेषाणि ग्राम्याणि प्रतिवक्तुश्च हस्तविवाहगौरीपदानि ग्राम्याणि, भूतपतिनेति नागरम्, शेषाण्युपनागराणि। तदिदमीदृशि प्रमेये तथैवोपक्रमादेतन्न दुष्यति॥

प्रकृतिस्थ आदि वर्णों द्वारा अथवा ग्राम्य आदि पदों द्वारा भी प्रयुक्त होकर जो दोष उत्पन्न किया जाता है उसे अपदत्वदोष कहते हैं। किन्तु भाषाचित्र के प्रसङ्ग में उसके भी प्रयोग विधान का आदेश है॥ ११८॥

जैसे—"क्या यह जलदेव दिखाई पड़ रहे हैं?", "नहीं, यह तो पृथ्वी पर आविर्भूत मूर्तिमान् कामदेव ही हैं।" "तो फिर यह दिखाई कैसे पड़ रहे हैं, जब कि यह सत्य बात सुनी जाती है कि कामदेव का शरीर ही नष्ट कर दिया गया था।" "पार्वती के विवाह की प्रसन्न घड़ी में भगवान् शङ्कर ने दूसरा ही कामदेव बनाया था" "क्या आप यह सत्य ही कह रहे हैं?" (और क्या?) कहीं हाथ का कंगन दर्पण में देखा जाता है? अर्थात् इतनी स्पष्ट बात के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता थोड़े ही है।"॥ १५९॥

यहाँ एक ग्रामीण प्रश्नकर्त्ता नगर में आता है और राजा को देखकर ग्राम्य अथवा प्रकृतिस्थ पद का ही प्रयोग करके प्राकृत भाषा में पूछता है "क्या यह जलदेव (इन्द्र) दिखाई पड़ रहे हैं?" उसे छेड़ने की इच्छा से एक नागर पुरुष उपनागर या कोमल पदों से ही कटाक्षपूर्वक उत्तर देता है—"नहीं, यह तो पृथ्वी पर अवतीर्ण मूर्तिमान कामदेव ही हैं।" फिर ग्रामीण भी कुछ प्रतिभा से भरकर पूर्वपद के अनुसार ही अर्धप्राकृत भाषा के द्वारा ग्राम्य और उपनागर अथवा प्रकृतिस्थ और कोमल पदों से उसे उलाहना देता है "तो फिर भला यह दिखाई कैसे पड़ता है, जब कि ऐसा सुना जाता है कि काम का शरीर नष्ट हो गया था", उसके बाद नगरवासी भी उसकी कुशलता को समझकर छन्द के पाद की आवश्यकता के अनुसार अर्धप्राकृत भाषा द्वारा ग्राम्य, उपनागर और नागर अथवा प्रकृतिस्थ, कोमल और कठोर पदों से समाधान करता है—"यह दूसरा ही कामदेव शंकर ने गौरी के विवाहोत्सव के अवसर पर रचा था।" इसके बाद ग्रामीण

व्यक्ति श्लोक के समाप्त (प्राय) होने से परवर्ती चरण तथा अपने उत्तर के अनुरोध से ग्राम्य अथवा प्रकृतस्थ तीन चार पदों को प्राकृत भाषा में बोलकर अन्तिम चरण के बीच में ही रुक जाता है—"क्या आप यह सच ही कह रहे हैं ?" फिर नागर व्यक्ति जीतने की इच्छा से ग्राम्य, उपनागर तथा नागर अथवा प्रकृतिस्थ कोमल और कठोर पदों से श्लोक तथा उत्तर को पूर्ण करता है। "क्या हाथ का कंगन दर्पण से देखा जाता है ?" इस श्लोक में सभी प्राकृत के पद ग्राम्य हैं। प्रश्नकर्ता के संस्कृतपदों में केवल 'वपुः' पद उपनागर है, शेष ग्राम्य हैं। प्रतिवक्ता के भी हस्त, विवाह और गौरी पद ग्राम्य हैं, 'भूनपतिना' नागर है, शेष उपनागर हैं। अतः यहाँ अभीष्ट इसी प्रकार का होने से वैसा ही विधान भी किये जाने पर, दोष नहीं हुआ।

स्व० भा०—जिस प्रकार अनेक रंगों से लिखित रूप विचित्र होता है, आश्चर्यकारी होता है, जैसे विभिन्न प्रकार के धागों से कपड़ा का चित्र बनाया जाता है, उसी प्रकार अनेक भाषाओं के प्रयोग से भाषाचित्र भी बनता है। भाषा चित्र में एक बात ध्यान देने की है कि जहाँ ऐसी विवक्षा हो वहाँ ग्राम्य, नागर और उपनागर को एक साथ और प्रकृतिस्थ, कोमल तथा कठोर इन पदों को एक साथ प्रयुक्त करना चाहिये, दोनों का संकर करके नहीं। इनका लक्षण अपर पद दोष की व्याख्या में दिया गया है। यहाँ भी वृत्ति में स्पष्टता ही है।

प्रकृतिस्थेति। 'विभिन्न–' इत्यादावपदलक्षणसूत्रे षण्णामिति व्यतिकर एकत्वेन नाभिप्रेतः। अपि तु ग्राम्यादित्रिकस्य वा प्रकृतिस्थादित्रिकस्य वेति विकल्पेनोपन्यासप्रयोजनमनुज्ञासंपत्तिस्तेन दोषताभावगुणीभावौ प्रतिपादितौ। विषयं दर्शयति—भाषाचित्र इति। संस्कृतादिव्यतिकरस्यापदत्वेनाभिप्रेतत्वात् संस्कृतादयो ग्राम्यादयः प्रकृतिस्थादयश्च भाषाशब्देनाभिमताः। यथा हि—नानावर्णारब्धमालेख्यचित्रं यथा वा भिन्नप्रकारतन्तुनिर्वातः पटश्चित्रपटस्तथा नानाभाषाभिरारब्धं किंचित्काव्यं चित्रमुच्यते। चित्रमाश्चर्यं तत्कारि च चित्रम्। तेन रूपद्वयसंपत्तौ युक्तिपोषः स्यादेवं यथौचित्याकृष्टनानाभाषाव्यतिकरजमेकं संभवतीत्याशङ्क्य संक्षेपात्सर्वं भाषासंकरमेवोदाहरति—यथेति। संकरमाचितीं च व्याख्यानेन स्फुटयति–अत्र ग्राम्य इति। ग्रामवासी किंचिद् व्युत्पन्नश्च। ग्राम्याश्च नगरवस्तुन्यद्भुतचमत्कारवन्तो जिज्ञासवश्च भवन्तीति जातिः। तत्र राजानं दृष्ट्वेति अद्भुतवस्तुकथनेन चमत्कारः। पृच्छतीति जिज्ञासा बहुमान आदरश्चमत्कारेणैव। यद्वा यान्पृच्छति तेष्वेव बहुमानो धन्यास्ते ये नामगोत्रादिकमेतस्य जानन्तः सततमेनमवलोकयन्त इत्याशयात्। प्रस्तुतग्राम्यप्रकृतेश्चास्य प्राकृतपदैरेव प्रश्नो योग्यः। तदेतत्सर्वमादर्शयितुं प्रश्नं पृथक्कृत्य दर्शयति—हा तो इत्यादि। 'हा तो' इति महाराष्ट्रभाषायां प्रश्नकाकुरयं स इत्यर्थे। स इति यो नामैतन्नगरनायकत्वेनास्मद्ग्रामेऽपि बहुशो विख्यातकीर्तिरिति चमत्कारः। जो जलदेउ इति। जिज्ञासासामान्यतश्च नगरसंचरिष्णुजनगोचरोऽयंप्रश्नः। अत्र सर्वाण्येव पदानि नातिहीनपात्रे ग्राम्ये प्रकृतिभवान्यपभ्रंशपदानि देशीपदत्वेन सर्वेषां ग्राम्यता। 'हा तो इत्यनेन स्वरकृतगौरवम्। 'जो जलदेउ' इत्येकसंयोगवर्णापादितगौरवं च प्रकृतिस्थं तदत्र प्राकृतग्राम्ययोरौचित्याकृष्टम्। प्रकृतिस्थे तु नौचित्यमुपयुज्यते। अपि तु संदर्भारम्भस्तेन प्रक्रान्त इति विवक्षितम्। अधिकस्य प्रष्टव्यस्याभावादेतत्प्रश्नानन्तरमेवोत्तरावसरः। ततश्च नानौचित्यम्। प्रश्नोत्तरोपन्यासो हि प्रकृत्यैव च नागरका ग्राम्यमतविरोधिनो वक्रोक्तिरसिका भवन्ति। यदि तस्य ग्राम्ये जघन्यबुद्धिः किमित्युत्तरमेष दास्यतीत्यत उक्तम्—अनुजिघृक्षुरिति। सबहुमानं पृच्छति। ग्राम्ये यस्य दया तदानीमासीत्। जिज्ञासानिवर्तकज्ञानजननमनुग्रहः। यद्यपि नागरस्य नागराणि पदानि प्रयोक्तुमर्हन्ति, तथापि

ग्राम्यानुग्रहे कर्तव्ये तद्बोधयोग्यमेवाभिमतं न तु नागरवत्त्वम्। तर्हि ग्राम्यैरेव कुतो न ब्रवीतीत्यपि न वाच्यम्। सहसैव तथाकरणे ग्राम्यमतविरोधः। अपि तूपनागरकरूपभङ्गप्रसङ्गात्, ततो मध्यमान्युपनागराणि प्रयोगयोग्यानीत्याह—उपनागरैरिति। स्वभावत एव प्राकृतप्रकृतिस्थानां संस्कृतप्रकृतिस्थानां प्रौढत्वं भवति। तेन यद्यपि ग्राम्यप्रयुक्तजातीयान्येव संदर्भैकरूपतासिद्ध्यर्थं घटयितुमुचितानि तथाप्यौचितीप्राप्तसंस्कृतपदनिवेशने यदि प्रकृतिस्थत्वमाद्रियेत ततश्छायावैरूप्यं स्यादित्याशयेन कोमलप्रायाण्येव निवेशितानीत्याह—कोमलैर्वेति। भूयसा व्यपदेशो भवतीति लोकन्यायानुसारात् 'साक्षात्' इत्येकस्य प्रकृतिस्थत्वेऽपि कोमलैरित्युक्तम्। साकाङ्क्षप्रश्ने च किमर्थं लोकोत्तरो 'जो जलदेउ' नान्यः कश्चित्तादृगिति भावो विवक्षितस्तत्र नेत्येवोक्तेनानुग्रहः कृतः स्यादित्यधिकमपि किंचिद्वक्तुमुचितमित्याह—सवक्रोक्तीति। एतेन नागरकवृत्तिरुपद्वंहिता। नैवेत्येवकारेण मनुष्य एवायं न भवति दूरं तद्विशेषरूपो 'जो जलदेउ' इति प्रकाशितम्। साक्षादिति प्रत्यक्षेणावधार्यमाणः किंचिद्व्युत्पन्नत्वेन ग्राम्यस्योक्तत्वात्। कामव्यावृत्तसाक्षाद्भावलक्षणविरुद्धधर्मानुसंधानेन मदनदाहव्यतिकरता संभवतीति लब्धावसरं ग्राम्यानुयोगमवतारयति—अथेति। शिक्षाविशेषस्पर्शिनी बुद्धिः प्रतिभा। मामेकान्ततो नागरकवृत्तपरिचयपराधीनं मा शङ्किष्ठा इत्याशयशौटीर्येण नागरकप्रयुक्तजातीयैरेव पदैः प्रश्नो योग्यो न चैतावतैव सर्वथा प्रकृतिस्यागोऽर्हतीत्यतः स्वप्रयोगयोग्यान्यपि प्रयोगमर्हन्ति तत्रार्धं प्रकृतिवैशसेनार्धं प्राकृतमर्धं ग्राम्यं च प्रश्नवाक्यानुचितमित्याह—पूर्वपदानुरोधादिति। पूर्वं परप्रयुक्तं पदं तर्कितम्। सच्चिमा सत्यः। यावती ग्राम्यस्य व्युत्पत्तिरर्हति तावतीमुपन्यस्यति—श्रूयत इति। ऐतिहासिकमुखादेवमाकर्णितं पुनरद्यापि निर्णयो वर्तत इत्यर्थः। तर्कितमिति प्रकृतिस्थम्। दीसइति कोमलम्। सच्चिमेति प्रकृतिस्थम्। हतवपुरिति कोमलम्। कामः किलेत्यपि तथा। श्रूयत इति प्रकृतिस्थमिति। अनन्तरं नागरिकस्योत्तरावसरः। कथं परमार्थवादिन्युत्तरं दातव्यमित्यनुपपत्तावयं समाधानप्रकारो भवति। अस्ति ग्राम्यस्य 'किल श्रूयते' इत्येताभ्यां संदिहानत्वं किंचिद्व्युत्पन्नत्वं चोन्नीतमिति किमप्यलीकमेव बुद्धिकौशलात्तथा प्रतीयमानमभिधाय प्रतारणमुपपद्यते। तन्मात्रपरत्वाच्च सर्वाकारमधिकाव्युत्पत्तिराहत्य दर्शयितुमर्हतीति तर्कितमित्यादिपदे यावती ग्राम्यस्य व्युत्पत्तिस्तावदनुकरणं कियदधिकव्युत्पत्तिपुरस्कारमर्हतीत्याशयवानुत्तरमवतारयति—अथेति। पादस्तर्कितमित्यादिग्राम्यप्रयुक्तस्तस्यानुरोधो व्युत्पत्त्यनुसरणम्। पच्छा पश्चात्। ऐ एषः। 'ऐ दूए' इति पाठे दूअं व्याजोऽनेन व्याजेन। भूतपतिः पशुपतिः। ननु न क्वचिदेवं श्रूयते तत्कथं ग्राम्यस्य प्रबोधो भवतीत्याह—गौरीविवाहोत्सव इति। मा श्रूयतामुपपत्त्या तु सिद्धो द्वितीयो यदि कामप्रादुर्भावो न स्यात्कथं गौरीपाणिग्रहे भगवत उत्साह इत्यतस्तेनैव करुणासंतानशान्तात्मना भूयः सृष्टः स्यादित्यर्थः। पच्छेति प्रकृतिस्थम्, ऐ इति कठोरम्, किअलेउ इति कोमलम्, भूतपतिनेति तथा, गौरीविवाहोत्सव इति प्रकृतिस्थम्। 'एँदूएँ' इति पाठे द्वयमपि कठोरम्। तदत्र कठोरनिवेशनं व्युत्पत्त्याधिक्यसूचनाय। एतावत्युक्ते परीक्षणव्युत्पत्तिर्न किंचिद्ग्राम्यं प्रतिभाति। न च तस्याद्यापि निःशङ्कता वर्तते। ततो नागरकप्रामाण्यदत्तभरः प्रश्नो घटत इत्याशयवानवतारयति—अथ ग्राम्य इति। प्रकृत्यापन्न एव, तेन यथा प्रथमं 'हा तो' इत्यादिप्रश्ने गतिस्तथात्रापीति ग्राम्यप्रकृतिस्थयोरुपन्यासः। भाषाचित्रेण परस्परसंघर्षादेककाव्यरचनाप्रवृत्तयोर्ग्राम्यस्यापि श्लोकश्लोकसमासिपदारम्भो योग्य एव। यदि चायमेव समस्तं निर्वाहयन्नशेषशङ्कानिवृत्त्युपयुक्तमुत्तरं नागरस्य निवेशितं स्यादिति तदुत्तरानुरोधेन पादार्ध एव विलम्बोऽप्युचितः। 'ऐसें' एवमित्यत्रार्थे।

काकुगर्भम्। 'सच्च जि बोल्लु' इति जिरवधारणे। सत्यं नैवैतदुक्तम्। यदि सत्यपुरःसं ब्रूयास्तदा प्रत्येमीत्यर्थः। एवं ग्राम्यताप्रतारणसिद्धौ किमत्र सर्वलोकसाक्षिके वस्तुनि वक्रोक्त्यैव पूर्वव्युत्पत्तिमात्रनिवेशनेनोत्तरं दत्त्वा श्लोकपूरणमेव नागरस्योचितमित्याशये- नोत्तरमवतारयति—अथेति। हस्ते इति प्रकृतिस्थम्, कटकमिति कोमलम्, दर्पणेनेक्ष्यते इत्येते प्रकृतिस्थे, इति प्रकृतिस्थादीनां सुपरिचेयत्वाद्ग्राम्यादीन्येव व्याचष्टे—तत्र चेति। प्रकृतिव्यतिकराव्यतिकरत्वयोरौचित्यापन्नत्वाद्भाषासंकरः शोभावहत्वेन गुण एव भवती- त्युक्तमुपसंहरति—तदिति॥

(८) गर्भितत्वदोष

वाक्यान्तरसगर्भं यद्वाक्यं तद्वाच्यगर्भितम्।
रसान्तरतिरस्कारे तदिष्टं नेष्टमन्यथा॥ ११९॥

यथा—

'दिङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते
सिद्धा सा च वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत।
विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो
यस्मादाविरभूत्कथाद्भुतमिदं तत्रैव चास्तं गतम्॥ १६०॥

अत्र 'यथोक्ता मही साध्यते, सिद्धा सा च विप्राय प्रतिपाद्यते' इति वक्तव्ये, येयं वीराद्भुतरसवशप्रवृत्तेन 'वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत' इति वाक्येन प्रकृतवाक्योक्तेरसमाप्तावेव 'विप्राय' च इत्यादिपदविच्छित्तिः सा रसान्तरतिरस्कृतिरित्युच्यते। तया चेदं वाक्यान्तरसगर्भमपि वाक्यं न दोषाय भवति॥

जिस वाक्य के भीतर कोई दूसरा वाक्य समाहित रहता है, उसे वाक्यगर्भितत्व दोष कहते हैं। यह तभी होता है जब कि प्रथम वाक्य में विद्यमान रस का भीतर आने वाले वाक्य का रस विरोध करे, ऐसा न होने पर दोष नहीं होगा॥ १९॥

जैसे—जिसने दिग्गजों की पंक्ति से युक्त चारों दिशाओं की सीमा वाली पृथ्वी को साधना चाहा, और देखिये, यह कहते ही हमारे भीतर रोमाञ्च हो रहा है, कि उसने यथेच्छ रूप से पृथ्वी को सिद्ध भी कर लिया। सिद्ध की हुई पृथ्वी को ब्राह्मणों को प्रदान कर देने वाले उस राम को हम दूसरा क्या करें, उसे तो प्रणाम ही करते हैं। हम उसे प्रणाम करते हैं जिससे यह विचित्र पृथ्वीजय तथा पृथ्वी दान की आश्चर्यमयी कथा प्रारम्भ हुई और उसीमें लीन भी हो गई॥ १६०॥

यहाँ पूर्वप्रतिपादित पृथ्वी साधी जाती है "और वह प्राप्त की गई पृथ्वी ब्राह्मणों को दी भी जा रही है" ऐसा कहना था, किन्तु वीररस में अद्भुत रस का प्रवेश हो जाने से "वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत" इस वाक्य के द्वारा गृहीत वाक्य की बात बिना समाप्त हुये ही "विप्राय" आदि पद का विच्छेद कर दिया गया। यह विच्छेद ही दूसरे रस का दूसरे रस द्वारा किया गया तिरस्कार कहा जाता है। यह वाक्य यद्यपि दूसरे वाक्य को अपने भीतर समाविष्ट किए हैं, तथापि (दूसरे रस द्वारा बाध न होने के कारण) दोषयुक्त नहीं है।

स्व० भा०—प्रस्तुत श्लोक में वीररस का प्रतिपादन प्रधान वाक्य द्वारा हो रहा था। बीच में आ गए वाक्य द्वारा अद्भुत रस का सन्निवेश कर दिया गया। इन दोनों रसों में विरोध न होकर परिपूरक सम्बन्ध है। विरोध न होने के कारण ही यहाँ दोष नहीं हुआ, अन्यथा करुण या शान्त का समावेश होने पर यहाँ दोष हो जाता। आनन्दवर्धन के अनुसार भी—

विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥ ध्व० ३।२० ॥

वाक्यान्तरेति। रसान्तरं रसविशेषः प्रकृतरसानुसंहितो रसस्तेन तिरस्कारो दोषभावस्य, तस्मिन् सति तथाकृतं वाक्यमिष्टमेव कवीनामुपादानयोग्यमेव अन्यथा नेष्टं दुष्टमेवेत्यर्थः। तेनायमर्थो भवति—प्रकृतरसतिरोधायकत्वं किल दूषणताबीजं तदतिरोधानेनैव निवर्तते। प्रत्युत द्वितीयपरिच्छेदे वक्ष्यमाणगर्भादिवाक्ययोजनप्रकारसंपत्तावलंकारलाभे गुणत्वं भवति। तथा हि—दिङ्मातङ्गानां घटया विभक्ताः पृथगुक्त्विय व्यवस्थापिताश्चत्वार आघाटा यस्यां सा, तथा तेन 'सप्तद्वीपा वसुमती साध्यते' इति विवक्षितम्। ये तावद्भरतभगीरथप्रभृतयः प्रथितप्रतापातिशयास्तेषां तद्दूषणपरिनिष्ठितशक्तीनामेकस्यापि समस्तक्षत्रवंशोन्मूलनेन नवखण्डमेदिनीसिद्धौ नोत्साहशक्तिः श्रवणगोचरतामयासीदिति लोकोत्तरा परशुरामस्योत्साहशक्तिरावेद्यते। 'सिद्धा सा च' इत्यनेन यावदभिलपितं तावदेव सिद्धमित्यहो विजिगीषुतेति पूर्ववदेवाभिप्रायः। न चेदसौ सिद्धिमभिसंधाय प्रवृत्तः। अनुपदमेव सा संपन्नेति चकारेण द्योत्यते। एवमभिहिते 'विप्राय' इत्यादिकमस्ति वाक्यशेषभूतम्, तद्विच्छिद्यैव मध्ये 'वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः' इति वाक्येन सगर्भता, सा न दोषाय। अनेन हि वाक्येन लोकोत्तरवस्तुभावनात्मकविभावसंपत्तौ प्रादुर्भवन् वक्तुमभिमतो रसो व्यज्यते। स च वीरानुसंधानहेतुर्वीराद्भुतयोः समानभूमिकयोरन्योन्यानुगमनेन प्रतिकूलता विरहता। तत्र यथा शृङ्गाररौद्रबीभत्सानामनेकप्रघट्टकेन सूत्रेण संनिपातितैरपि हास्यकरुणभयानकैर्न तिरस्कारः, 'स्वाङ्गमव्यवधायकम्' इति न्यायात्, तथेह वीरस्याद्भुतेनात एवाद्भुतादुद्वेलस्य प्रादुर्भूतपुत्रकाङ्क्षलक्षणानुभावप्रदर्शनम्—'पश्यत' इति। न चात्र दोषोदाहरणे 'मया' इति कारकविभक्तेरुत्थिताकाङ्क्षाया 'रक्षैनम्' इत्यादि स्वरसंबाधस्तथात्र संभवति, 'सिद्धा' इत्येतावत्यपि दर्शिते वाक्यार्थपर्यवसानात्। न च संपूर्णे रसे 'वदन्त एव' इत्यादिकमभिधातुमर्हति। अद्भुतता च पार्थिवानुभावस्य तन्मात्रपूरणापेक्षत्वात्। एवं रसानुभावनातृप्तस्य तत्रैव पुनः पुनरुत्कण्ठायां जिगीषुकरणीयलब्धपात्रप्रतिपत्तिविशेषस्फोरणे 'विप्राय प्रतिपाद्यते' इत्युक्तम्। दानवीरोऽपि वीर एव। अत एवाधिकस्य कर्तव्यस्याभावे किमपरमित्यादिरुपसंहारः। तदेतत्सर्वं व्याचष्टे—अत्रेति।

(९-१०) भिन्नलिङ्गवचनोपमदोषगुण—

यद्भिन्नलिङ्गमित्युक्तं विभिन्नवचनं च यत्।
उपमादूषणं तन्न यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥ १२० ॥

यथा—

'अन्यदा भूषणं पुंसः शमो लज्जेव योषितः।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव ॥ १६१ ॥'

अत्र 'पुंसो योषित इव' 'शमो लज्जेव' 'पराक्रमो वैयात्यमिव' इति लिङ्ग-

भेदः। 'परिभवे सुरतेष्विव'इति तु लिङ्गभेदो वचनभेदश्च दृश्यते। स चैषामेव परस्परमुपमानोपमेयभावविवक्षायां पर्यायान्तराभावादन्यथाकर्तुं न शक्यत इति सहृदयानुद्वेजकत्वान्न दुष्यतीति दोषस्यापि गुणत्वम्। तदिदं द्वयोरप्येकमुदाहरणम्।

अथ भिन्नलिंगस्यैव यथा—

'यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति॥ १६२॥'

अत्र प्राग्वदेव पर्यायान्तराभावात् 'स लोहकारभस्त्रेव' इति लिङ्गभेदस्य न दोषः॥

जो भिन्नलिङ्ग तथा भिन्नवचन नाम के उपमा के दोष कहे गये हैं, वे दोष नहीं रहते यदि सहृदयों में उद्वेग न पैदा करें तो॥ १२०॥

जैसे—अन्य समयों में स्त्रियों की लज्जा के समान पुरुषों का भूषण उनकी शान्ति है, और पराजय या अपमान में रतिकाल के समय स्त्रियों की चपलता की भांति उनका पराक्रम ही उनका अलंकार है॥ १६१॥

यहाँ 'पुंसो योषित इव' (पुरुष का स्त्रिय की भांति) 'शमो लज्जेव' (शान्ति लज्जा की भांति') 'पराक्रमो वैयात्यमिव' (पराक्रम धृष्टता की भांति) इन प्रयोगों में लिङ्गभेद है— उपमेय" तथा उपमान समान लिङ्ग के नहीं हैं। (पराजय में रतिकालों की भांति) 'परिभवे सुरतेष्विव' इसमें लिङ्गभेद तथा वचनभेद दोनों दिखते हैं। यह भाव इनके ही परस्पर उपमान-उपमेय भाव से अभीष्ट होने से तथा दूसरे स्थानापन्नों के सम्भव न होने से परिवर्तित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सहृदयों में उद्वेग न पैदा करने के कारण दोषाधान नहीं होता। अतः दोष भी गुण हो गया है। इस छन्द में दोनों दोषों का एकत्र ही उदाहरण है।

अब केवल भिन्नलिङ्ग का उदाहरण दिया जा रहा है—

जैसे—जिसके दिन बिना पुरुषार्थों की सिद्धि किए ही आते और चले जाते हैं, वह व्यक्ति लोहार की भांथी की भांति श्वास तो ले रहा है किन्तु जी नहीं रहा है॥ १६२॥

यहाँ भी पूर्वछन्द के पदों की भांति दूसरे पर्याय के अभाव में 'स लोहकरभस्त्रेव' में लिङ्गभेद नामक दोष नहीं रहा।

यद्भिन्नेति। दोषप्रकरणानुरोधेन समस्तव्यस्तोदाहरणं बोद्धव्यम्। सहृदयोद्वेजकत्वेन हि दोषता। यत्र तु कथंचित्तथाभावो न भवति, तत्र दोषत्वहानिरुचितैव। तथा हि स्त्रीपुंसयोरेव प्रकृतानुगुणोपमानोपमेयभावविवक्षायामावश्यकं लिङ्गवचनभेदयोरन्यतरदेकस्य पुंस उपमेयत्वेन दारशब्दस्य भिन्नवचनत्वनियमात्कलत्रपदं भिन्नवचनमेव। पर्यायाणामपि लिङ्गभेदो नियतः। न च पुंवद्यनं किंचित्समानस्वभावमस्ति येनायं प्रकारो निवर्तेत। न चैवंविधोपमामन्तरेण प्रस्तुतवाक्यार्थपोषः। एवमनन्यगतिका भिन्नलिङ्गता भिन्नवचनता वा साहित्यसमयविदामुद्वेगं नोत्पादयति। अत एवालंकारौचितीसंपदा गुणत्वसिद्धिः। एवं शमलज्जयोः पराक्रमवैयात्ययोः परिभवसुरतयोश्च बोद्धव्यमित्याशयवान् व्याचष्टे—अत्रेति। 'रतं, रहः, शयनं, मोहनम्' इति सुरतवाचिनां सर्वेषामेव नपुंसकता न दुष्यतीति सहृदयहृदयानुद्वेजकत्वादिति हेतुर्गुणत्वेस्वाभिप्रायिकः। स च दर्शित एव। अथेति। धर्मार्थकामास्त्रिवर्गः। वह्निविध्मापनचर्मपुटो भस्त्रा सा यथा

वातेन पूर्यते, वातं च मुञ्चति, न तु किंचित्पुरुषार्थमासादयति, तथा त्रिवर्गशून्येऽपि भस्त्रा-पर्यायस्य समानलिङ्गस्याभावेन सहृदयानामनुद्वेगालंकारसंपत्त्या गुणत्वमुपपन्नमित्याह—अत्र प्राग्वदेवेति । अदोष इत्युपलक्षणम्, गुणश्च भवतीत्यपि बोद्धव्यम् ॥

(केवल भिन्नवचन का उदाहरण)

भिन्नवचनस्यैव यथा—

'प्राज्यप्रभावः प्रभवो धर्मस्यास्तरजस्तमाः ।
मुक्तात्मा नः शिवं नेमिरन्येऽपि ददतां जिनाः ॥ १६३ ॥

अत्र 'नेमिरन्येऽपि' इति वचनभेददोषेऽपि 'ददताम्' इति क्रियापदादेर्वचनश्लेषमाहात्म्याद् गुणत्वम् । न चेदं वाच्यमत्रेवादिर्न विद्यत इति नोपमात्वम् । इवस्यापिना समुच्चयार्थेन तुल्यधर्माणां तु 'धर्मस्य प्रभवः' इत्यादिभिर्वचनश्लेषैर्विषयापहारात् । यथा अग्रतो द्योतकलोप उपमायाम्—'कोमलापाटलौ तन्वि पल्लवश्चाधरश्च ते ।' नन्वेषांऽपि श्लेषः कस्मान्न भवति । उच्यते—'यत्र द्वयोः सदृशयोरभिधानं स श्लेषः । यत्र सदृशात्सदृशप्रतिपत्तिस्तदुपमानम् , यत्र द्वयोः सादृश्यमभिधीयते प्रतीयते वा सोपमा' इति प्रबन्धेनाग्रतो वक्ष्यामः । उपलक्षणं चैतत्—यदुपमायामेव लिङ्गवचनभेदो न दूषणमिति । तस्य सर्वालंकारसाधारणत्वात्केवलं सादृश्यमलंकार इति दर्शने उपमायामुदाह्रियते ॥

समुचितसिद्धियों वाले, धर्म के आदि कारण, शान्त रजोगुण तथा तमोगुण वाले, मुक्तात्मा नेमि की भांति अन्य जिन गण भी हमें कल्याण प्रदान करें ॥ १६३ ॥

प्रस्तुत श्लोक में 'नेमिरन्येऽपि' इसमें वचन भेद नामक दोष होने पर भी 'ददतां इसक्रिया (विशेषण) आदि के वचन की श्लिष्टता से (दोष के स्थान पर) गुणत्व आ गया है । यहाँ यह नहीं प्रश्न करना चाहिए कि इस श्लोक में (वाचक) इव आदि (पद) नहीं हैं अतः उपमा नहीं होगी । क्योंकि समुच्चयबोधक 'अपि' पद के द्वारा समान धर्मवाले 'धर्मस्य प्रभवः' आदि में वचन श्लेष के द्वारा 'इव' के विषय का अपहरण कर लिया गया है अर्थात् 'इव' का कार्य अपि से ही रहा है । जैसे कि आगे वाचकलुप्ता उपमा में कही गई है—हे कृशाङ्गी पल्लव तथा तुम्हारा अधर कोमल और अरुण हैं ।" (अब प्रश्न यह है कि) यहाँ भी श्लेष क्यों नहीं होता ? (तो उत्तर) कहा जा रहा है कि—"जहाँ दो सदृश पदार्थों का कथन होता है वहां श्लेष होता है और जहां समान वस्तु से समानता का ज्ञान होता हैं वहां उपमान होता हैं, जहां पर दोनों की सदृशता कही अथवा समझी जाती है वहां उपमा होती है । इस सबको हम विस्तार से आगे (चतुर्थ परिच्छेद में) कहेंगे । अतः सामान्य लक्षण यह हुआ कि केवल उपमा में ही लिङ्ग और वचन का भेद दोष नहीं होता, अपितु औपम्यभाव के सभी अलंकारों में सामान्यरूप से पाये जाने के कारण "केवल सादृश्य ही अलंकार है" ऐसा प्रतीत होने से उपमा का ही उदाहरण दिया गया ।

स्व० भा०—जहाँ पर कोई विकल्प नहीं होता वहाँ वही स्थिति मान्य होती है, भले ही वहां दोष हो । इस दशा के दोष को दोष नहीं माना जाता है । दूसरी बात यह है कि श्लेष उपमान तथा उपमा इन रूप में सादृश्य होता है, केवल उक्ति वैभिन्न्य के कारण अन्तर है । इसीलिए कुछ आचार्यों के मत से उपमा ही समस्त अलंकारों की जड़ है । यहां उपमा दोष तो केवल उपलक्षण

हैं, जहां कहीं भी उपमेय और उपमान में यह भिन्नता होती है सर्वत्र दोष माना जायगा। शेष विषय वृत्ति में ही स्पष्ट है।

प्राज्येति। आर्हतानां नेमिनामा जिनविशेषोऽन्ये जिना ऋषभनाथप्रभृतयः प्राज्यमुचितं तथाभूतः प्रभावः सिद्धिरूपो यस्य तादृशो नेमिः शिवं ददतां ददातु। 'दद दाने' इति धात्वनुसारात्। कस्मै इत्यपेक्षायां मुक्तात्मा इत्यत्र नः। पक्षे वो युष्मभ्यं शिवं ददतां ददत्विति। धर्मस्य प्रभवमुत्पत्तिनिमित्तं नेमिः। प्रभवः प्रभुता यथावदनुशासनेन जिनाः। रजश्च तमश्च रजस्तमसी ते अस्ते क्षिप्ते येन स तथाभूतो नेमिः। अस्तं रजो यैस्तेऽस्तरजसस्तेषु प्रकृष्टास्तमप्यरजस्तमाः। मुक्तो निरावरण आत्मा आत्मशब्द आत्मवचनः स्वरूपवचनः इति वा बहुव्रीहिस्तादृशो नेमिः। जिनास्तु मुक्तात्मान इति स्पष्टम्। तदिह वचनभेदमन्तरेण वचनश्लेषाभावाद्भिन्नवचनत्वस्यावश्यकत्वेन दोषः। श्लेषलक्षणालंकारघटनया गुणत्वम्। ननु च लिङ्गादिभेद उपमाया दूषणत्वमुक्तम्, इह त्वलंकारान्तर उदाहियते, तत्कथं पूर्वापरसमञ्जसत्वम्। न चात्रोपमा संभवति, तत्सामग्र्यसंभवात्। उपमानोपमेयसाधारणधर्मेवादिशब्दाः किल तद्घटकाः। तदत्र त्रितयसंबद्धे त्वपीववद्वाप्रभृतिशब्दानुपादानात्कथमुपमेति शङ्कामुत्थाप्य निरस्यति—न चेति। इवादयो हि शब्दाः सादृश्यद्योतकाः। तथा च क्वचित्प्रसिद्धस्य प्रकृते संबन्धप्रतीतिस्तेभ्यो भवति बिम्बप्रतिबिम्बन्यायाश्रयणात्। एवं च न युगपत्तुल्यरूपसंबन्धः। अपिशब्दस्तु युगपत्तुल्यरूपसंबन्धं बोधयतीति विभिन्नविषयत्वम्। नहीवादिशब्दाभावे सादृश्यमेव न प्रतीयते, लुप्तोपमाप्रपञ्चभङ्गप्रसङ्गात्। अन्यत एव प्रतीतिसिद्धेरुपायान्तरवैयर्थ्यात्। किमितीह नेवादिपदं प्रयुक्तमिति प्रश्नोऽवशिष्यते तत्रेदमुत्तरम्—इवस्येत्यादि। नेमिरन्येऽपीत्यपिशब्देन समुच्चयोऽप्यवसीयते। स च युगपदेकसंबन्धाभिधाने निर्वहति। तेनानेकमुद्दिश्य किंचिदेकसंबन्धाभिधानं समुच्चयाभिधायिनो विषयः। एकमुद्दिश्य प्रसिद्धान्यधर्मविधानं तु यथेवादिरिति विषयविरोधान्न प्रयुज्यत इति। स्यादेतत्—इववद्वायथादिशब्दा यत्परास्तयैवोपमानताप्रतीतिस्तथा चानेनेदं तुल्यमिति साधारणधर्मविधिरूपा कथमुपमेत्यत उक्तम्—तुल्यधर्माणां त्विति। नात्र वचनश्लेषतुल्यधर्मागमः, अपि तु तथा 'व्यवस्थितानामेव शब्दतन्त्रता' इति 'धर्मस्य प्रभवः' वचनश्लेषैस्तथापि विपर्योपहत इति। यदि चेवादिमन्तरेण नोपमाप्रतीतिस्तर्हि प्रसिद्धमुपमोदाहरणं भज्येतेत्याह—यथेति। अग्रतश्चतुर्थपरिच्छेदे। अत्राप्युपमामनङ्गीकुर्वतो मतमाशङ्कते—नन्विति। इहापि चकाराभ्यां युगपत्पल्लवाधरयोरेकधर्मविधानस्य तुल्यत्वादिति देश्याभिप्रायः। उक्तयुक्त्या दूषयति—उच्यत इति। तर्हि प्रकृतोदाहरणे नास्त्येवोपमा, कथं वचनभेदस्य गुणीभाव उदाहियत इत्याह—यत्रेति। यद्यप्यभिधीयमानं नास्ति सादृश्यम्, तथापि प्रतीयमानोपमा व्यवह्रियतामित्यर्थः। शब्दमात्रसाम्यं श्लेषसंकीर्णमेवेत्युपेक्षितवान्। ननु यत्रोपमया काव्यव्यपदेशस्तत्र प्रतीयमानमपि सादृश्यमूरीक्रियते। यत्र त्वलंकारस्वभावव्यवस्थापितमेव काव्यं न तत्रापीत्याह—उपलक्षणमिति। प्रतिपत्तिवैरूप्यस्यालंकारान्तरसाधारण्यादुपमातोऽन्यत्रापि लिङ्गवचनभेदो दूषणमेव। तद्यथा 'मुखं पद्मम्' इति रूपके, 'मुखं पद्मं वा' इति संशये, 'न मुखं पद्ममेव' इत्यपह्नवे। एवमन्येऽपि। अत एव द्वे भिन्नलिङ्गवचने इत्यत्र नोपमाग्रहणम्। यद्येवं कथमुपमायामेव दूषणमुदाहियत इत्यत आह—केवलमिति। चिरंतनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्द्वे एव यमकोपमे शब्दानुगतालंकारत्वेनेष्टे। तत्प्रपञ्चनमात्रं तु पुनरन्यैरलंकारकारैः कृतमुपमायाः प्रभूतविषयतया प्राधान्याच्चोदाहृतमतिस्फुटं भवतीति संक्षेपः॥

(११) हीनोपमत्वदोषगुण

यत्रोपमानधर्माः स्युर्नोपमेयेन संमिताः ।
तद्धीनोपममित्याहुस्तत्प्रसिद्धौ न दुष्यति ॥ १२१ ॥

यथा—

'स मारुताकम्पितपीतवासा बिभ्रत्सलीलं शशिभासमब्जम् ।
यदुप्रवीरः प्रगृहीतशार्ङ्गः सेन्द्रायुधो मेघ इवाबभासे ॥ १६४ ॥'

अत्र सेन्द्रायुध इति कार्मुकमात्रस्योपादानं वासःशङ्खयोस्त्वनुपादानादूनोपमत्वम् । तत्रेन्दुविद्युतोरतिप्रसिद्धत्वाददोषत्वम् ॥

यदाह—

सर्वं सर्वेण सारूप्यं नास्ति भावस्य कस्यचित् ।
यथोपपत्ति कृतिभिरुपमानं प्रयुज्यते ॥
अखण्डमण्डलः क्वेन्दुः क्व कान्ताननमद्युति ।
यत्किंचित्कान्तिसाम्यात्तु शशिनैवोपमीयते ॥'

जहाँ उपमान के धर्म उपमेय के बराबर न हों वहां हीनोपमत्वदोष होता है, किन्तु उन्हीं उपमानों के प्रसिद्ध होने पर दोष नहीं होता ॥ १२१ ॥

जैसे—वायु के द्वारा कँपाये गए वस्त्रों वाले, चन्द्रमा के सदृश चमकते हुए, शब्द को धारण किए हुये, यदुश्रेष्ठ कृष्ण अपनी धनुष के साथ इन्द्रधनुष से युक्त मेघ की भांति सुशोभित हो रहे थे ॥ १६४ ॥

यहां पर 'इन्द्रधनुष के साथ' इतना कहने से केवल धनुष का ही ग्रहण हुआ, वस्त्र तथा शङ्ख का ग्रहण न होने से हीनोपमत्व दोष हुआ । किन्तु चूँकि आकाश में मेघ में भी चन्द्रमा तथा विद्युत् की स्थिति अत्यन्त प्रसिद्ध होने से (उनका स्मृति द्वारा ग्रहण हो जाने से) दोष नहीं हुआ । जैसा कि कहा गया है—किसी भी पदार्थ की किसी भी पदार्थ से पूरी तौर पर सरूपता नहीं होती है । अतः उद्योगी कवि यथाशक्ति समुचित उपमानों का ही प्रयोग करते हैं । कहां तो समस्तकलाओं से समन्वित पूर्णबिम्ब चन्द्रमा और कहां कान्तिहीन कामिनी का मुख । किन्तु उसमें भी थोड़ा-बहुत समानता होने से उसकी तुलना चन्द्रमा से ही की जाती है ।

स्व० भा०—उदाहरण श्लोक में कृष्ण को मेघ के सदृश बताया गया है । यह सादृश्य तब होता जब कि कृष्ण के द्वारा धारण किए गए पीत वस्त्र, शङ्ख, धनुष इन तीनों उपमेयों के लिए पृथक्-पृथक् उपमान भी होते, किन्तु यहाँ उपमान केवल इन्द्रधनुष ही शब्दतः उपात्त है । वस्त्र और शङ्ख के स्थानापन्न पदों का अभाव है, किन्तु यहाँ दुष्टता इसलिए नहीं मानी जायेगी क्योंकि मेघ के साथ पीली विद्युत् और श्वेत चन्द्र दोनों हैं ऐसा भाव लोकविख्यात है । अतः शब्दतः इनका ग्रहण न होने पर भी इन्हें कृष्ण के पीतवसन तथा शुद्ध शङ्ख का उपमान स्वीकार कर लिया गया ।

भोज ने दोनों प्रमाण की कारिकायें भामह (काव्या० २।४३,४४) से उद्धृत किया है । उदाहरण का भी श्लोक वहीं से (२।४१) गृहीत है ।

यत्रोपमानेति । उपमेयेनोपमेयविशेषणेन संमितास्तुल्यसंख्याः । इन्द्रायुधमिन्द्रधनुरेकमुपमाने उपमेये पीतं वासः शार्ङ्गमब्जः शङ्ख इति त्रीणि विशेषणानि तदिहाधिकविशेषणवि-

पय इति जिज्ञासासमकालमेवाप्रसिद्धेन्दुबिम्बयोरुपमानयोर्मेघानुसंधानात् स्खलनाभिमुखी प्रतीतिरवलक्ष्यते। ध्वननव्यापारोन्मेषाच्च गुणत्वलाभः। तदुक्तम्—'मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि। प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥' इति। न चैवं स्तनितादीनामिति कथं प्रतीतिरिति वाच्यम्। प्रतीयमानस्यापि प्रतिपत्तिवैरूप्यसमाधावनौपयिकस्थानाकाङ्क्षितत्वेनादरादित्याह—सर्वं सर्वेणेति। यथोपपत्तिपर्यन्तो यावतोपमानविशेषणत्वेन प्रकृतमुपमेयविशेषणप्रतिबिम्बता नीयते तदतिक्रमेणैं क्रमप्रतीत्यनुरोधे कल्पितेनाप्युपमेयविशेषणेनेत्यर्थः। अन्यथा चन्द्रमुखादीनां नोपमा पर्यवस्येतेत्याह—अखण्डेति।

(१२) अधिकोपमदोषगुण—

अमुमेव प्रकारमधिकोपमेये योजयन्नाह—

> क्रमेणानेन कृतिभिरेष्टव्यमधिकोपमम्।
> विशेषस्तूपमेयाङ्गमनुमानात्प्रतीयते॥ १२२॥

यथा—

> 'स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः।
> शतह्रदेन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः॥ १६५॥

अत्र शशिनो ग्रहणादधिकोपमत्वेऽप्युपमानत्वेनाविवक्षितत्वाद्गुणत्वम्। यदि वोपमाने धर्मोद्घाटनानुमानात् 'शङ्खचक्रगदाधरो विष्णुः' इति प्रसिद्धेः शार्ङ्गमनुमेयम्॥

इसी प्रकार सहृदयों को अधिकोपमत्वदोष खोजना चाहिये। इसमें विशेष बात यह है कि ये उपमेय के अङ्ग अनुमान से प्रतीत होते हैं॥ १२२॥

जैसे—पीताम्बर धारण किए हुये, शार्ङ्ग लिए कृष्ण का शरीर सुन्दर भी लग रहा था और भयङ्कर भी, जिस प्रकार रात में चन्द्रमा से युक्त होता हुआ, विद्युत् और इन्द्रधनुष से युक्त मेघ सुन्दर भी दीखता है और भयङ्कर भी)॥ १६५॥

यहाँ चन्द्रमा के ग्रहण से अधिकोपमत्व होने पर भी उपमान के रूप में विवक्षा न होने से गुणत्व है। अथवा यदि उपमान में धर्म का उद्घाटन करके अनुमान से 'शङ्ख, चक्र और गदा को धारण करने वाले विष्णु हैं' इस प्रकार की प्रसिद्धि होने से 'शार्ङ्ग' का अनुमान करना चाहिए।

स्व० भा०—यह उदाहरण श्लोक भामह के काव्यालङ्कार (२।५८) से उद्धृत है।

क्रमेणेति। यत्रोपमानेऽधिकविशेषणसंक्षेपस्तद्भावयमधिकोपमिमित्युच्यते तत्र झटिति प्रतिबिम्बभूतोपमेयविशेषणप्रतिसंधानेन दोषः। तत्रैव तु कथमत उक्तम्—विशेषस्त्विति। उपमेयांशे विशेषविशेषणमुपादाना(?)दुपमानविशेषणात्प्रतीयते। शतह्रदा विद्युत्। उपमानत्वेनाविवक्षितत्वादित्यापाततः। उपमानविशेषणानां यावत्प्रतीति न ग्रहणमिति प्रकाशयितुं पारमार्थिकस्त्वयं सिद्धान्त इत्याह—यदि वेति। उपमानधर्मस्याधिकस्योद्घाटनमभिधानं तस्यानु पश्चान्मानं ज्ञानम्। कथमेतदित्याह—इति प्रसिद्धेरिति॥

(१३) छन्दोभङ्गदोषगुण

> यदा तीव्रप्रयत्नेन संयोगादेरगौरवम्।
> न च्छन्दोभङ्ग इत्याहुस्तदा दोषाय सूरयः॥ १२३॥

यथा—

'जह ण्हाउं ओइण्णे अब्भन्तमुल्हासिअमंसुअद्धन्तम् ।
तह अ ण्हाआ सि तुमं सच्छे गोलाणईतूहे ॥ १६६ ॥'
[यथा स्नातुमवतीर्णे आर्द्रीभूतमुल्लासितमंशुकार्धान्तम् ।
तथा च स्नाता भवसि त्वं स्वच्छे गोदानदीतीर्थे ॥]

अत्र द्वितीयैकादशत्रयोविंशतिवर्णानां संयोगपरत्वाद्गुरुत्वेऽपि ण्हाल्हादि-संयोगस्य तीव्रप्रयत्नोच्चारणेन पूर्वलघुत्वे न छन्दोभङ्ग इति गुणत्वम् ॥

जब उच्चारण के स्थान और अवयव के उद्रेक से संयुक्ताक्षर आदि से गुरुत्व नहीं होता, तब जो छन्दोभङ्ग होता है विद्वानों ने उसे दोष का कारण नहीं माना है ॥ १२३ ॥

जैसे—कोई सखी नायिका से कह रही है कि गोदावरी नदी के निर्मल घाट पर तुमने इस प्रकार से नहाया कि नहाने के लिए उतरने पर भी तुम्हारा उड़ता हुआ दुपट्टा का आधा भाग ही भीगा है ॥ १६६ ॥

यहाँ पर द्वितीय, एकादश तथा तेइसवें वर्णों के बाद संयुक्ताक्षर आने से उनमें गुरुत्व होने पर भी 'पट्टा', 'ण्हा', 'ल्हा' आदि संयुक्ताक्षरों के जोरदार प्रयत्न से उच्चारण करने के कारण इनके पूर्ववर्तियों के लघु रहने पर भी छन्दोभङ्ग नहीं हुआ अतः गुणत्व है ।

स्व० भा०—छन्दः शास्त्र के नियमों के अनुसार 'स्वर संयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा' अर्थात् दीर्घस्वर तो गुरु होते ही हैं, इनके अतिरिक्त संयुक्ताक्षर का पूर्ववर्ती स्वर तथा पाद के अन्त में आनेवाला स्वर भी विकल्प से गुरु हो जाता है । अतः जहाँ कहीं भी ऐसी स्थिति होगी निःसन्देह स्वर गुरु होगा । अन्यथा छन्दोभङ्ग हो जायगा । और छन्दोभङ्ग होना दोष है । किन्तु जहां पर झटके में संयुक्ताक्षर को ही बल देकर बोला जाय और पूर्ववर्ती स्वर लघु ही रह जाय तो, पाठ में व्यवधान न होने पर वहां दोष नहीं होगा । प्रस्तुत श्लोक में ही वस्तुतः 'ह', 'मु' और 'अ' (२, ११, २२) को गुरु होना चाहिये, किन्तु ण्हा, ल्हा, ण्हा को ही झटके के साथ बोल जाने से पूर्ववर्ती स्वरों को गुरु न करने पर भी न तो विस्वरता आती है और न पढ़ने में ही कठिनाई होती है । अतः दोष नहीं हुआ ।

यदेति । प्रयतनं प्रयत्नः स्थानकरणव्यापारस्तस्य तीव्रत्वमुद्रेकस्तत एव हि पिण्डाक्षरादीनामकठोरत्वमाभासते । आदिग्रहणाद्विहिकारौ सानुस्वारौ च केवलौ पदान्ते वर्तमानौ तत्तद्भाषाऽविषयेऽवसेयौ । क्वचिदेव हि वर्णे तथावभासते न तु सर्वत्र । तदुपलक्षण-'रह वंजणसंजोए' ['रहौ व्यञ्जनसंयोगे'] इत्यादिकं छन्दोविचितौ दर्शितम् । जहेति । स्नातुमवतीर्णे त्वयि अंशुकार्धमुद्भ्रष्टं सदभ्यन्तमार्द्रीभूतं यथा चलत्त्वं स्थितेस्तथावगम्यते न त्वन्तर्जलं जलकेलिस्थानमवतीर्णं इत्यभिप्रायशेषः । कथमन्यथा गोदावरीनद्याः स्वच्छं जलं दृश्यते इति । तूहं तीर्थम् । अत्र द्वितीयैकादशादिस्थानेषु यद्यपि संयोगात्पूर्वभावे गुरुत्वं विद्यते तथापि तीव्रप्रयत्नोच्चारणीयशकारहकारादिसंयोगमहिम्ना मावच्छेदश्रव्यता कलुषीक्रियत इति । एवमन्यदप्युदाहार्यम् । यथा—

'धवलाइं गलेत्ति धवलेहिं अणअणसामलेहि णिसालआए ।
णक्खत्तकुसुमाइं णहअलाओ ओसरइ ॥'

इत्यादि नामधातुभागे स्वरासंधाने च पठितिविच्छेदो न भवतीत्युक्तं स तदुल्लङ्घन मात्रेण समाधीयते शोभां पुष्यतीति ॥

(१४) भग्नयतिदोषगुण

वाक्यमस्थानविरति प्राग्भग्नयतिसंज्ञया।
समुद्दिष्टं यदधुना गुणत्वं तस्य कल्प्यते ॥ १२४ ॥

यथा—

'शोभां पुष्यत्ययमभिनवः सुन्दरीणां प्रबोधः
किंचिद्भावालसमसरलप्रेक्षितं कामिनीनाम्।
कार्याकार्याण्ययमविकलान्यागमेनैव पश्य-
न्वश्यामुर्वीं वहति नृप इत्यस्ति चायं प्रयोगः ॥ १६७ ॥'

अत्र पादत्रये चतुर्थस्थाने यतौ कर्तव्यायां पञ्चमस्थाने कृतत्वादपरत्र च पादस्य मध्यभागे निविष्टकेवलस्वरत्वाद् यतिभ्रंशेऽपि स्वरसंधिकृतत्वादविभिन्ननामधातुशरीरत्वाच्च न दोषत्वम् ॥

यदाह—

'स्वरसंध्यकृते प्रायो धातुभेदे तदिष्यते।
नामभेदे च शेषेषु न दोष इति सूरयः ॥
लुप्ते पदान्ते शेषस्य पदत्वं निश्चितं यथा।
तथा संधिविकारान्तं पदमेवेति वर्ण्यते ॥'

वाक्य में निश्चित स्थान पर यति न होने से पहले जिस का निर्देश भग्नयति नाम से किया गया है, अब उसी का गुणत्व निरूपित किया जा रहा है ॥ १२४ ॥

जैसे "सुन्दरियों का अभी-अभी जागना विशेष शोभा का आधान कर रहा है" "प्रमदाओं का कटाक्ष कुछ-कुछ भावों से बोझिल है", "यह कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निराकरण निरन्तर शास्त्रों से ही करता हुआ पृथ्वी को धारण करता है, इसी से स्पष्ट इसके लिए 'नृप' शब्द का प्रयोग किया जाता है ॥ १६७ ॥

यहां तीनों चरणों में चौथे स्थान पर यति करनी चाहिए थी, किन्तु उसे पञ्चम स्थान पर करने से तथा अन्यत्र पाद के मध्यभाग में केवल स्वर का ही सन्निवेश करने से यतिभ्रंश होने पर भी स्वरसन्धि करने के कारण तथा संज्ञापदों और क्रियापदों को भग्न न करने से दुष्टता नहीं है। जैसा कि कहा गया है—

प्रायः स्वर सन्धि न करने पर, क्रियापद के कट जाने पर और संज्ञापदों के भी कट जाने पर भग्नयति दोष होता हैं, शेषों के कटने पर दोष नहीं होता ऐसा विद्वानों का मत हैं। जिस प्रकार किसी पद के अन्तिम भाग का लोप हो जाने पर भी शेष का पदत्व निश्चित होता है, उसी प्रकार अन्त में सन्धिविकार रहने पर भी वह पद पद ही रहता है।

स्व० भा०—उदाहरण के प्रथम दो चरण वामन के काव्यालङ्कार सूत्र (२।२।४) में तथा उत्तरार्ध और प्रमाण श्लोक दण्डी के काव्यादर्श (३।१५३–४) में मिलते हैं। वामन ने भी प्रमाण के प्रथम श्लोक से ही मिलता-जुलता मत प्रकट किया है। "तद्धातुनामभागभेदे स्वरसन्ध्यकृते प्रायेण" (२।२।४) वस्तुतः अस्थान पर यति तभी बहुत अधिक खटकती है जब पढ़ते समय संज्ञा अथवा क्रिया पद दो ओर बँट जाते हैं, क्योंकि ऐसी दशा में पूरा क्रियापद स्पष्ट

न होने से और संज्ञाओं के भी स्पष्ट न होने से अर्थावबोध में कठिनाई होती है। ये ही दो तत्त्व वाक्य में प्रधान होते भी हैं। अतः आपत्तिपूर्ण हैं।

प्रस्तुत उदाहरण श्लोक में मन्दाक्रान्ता छन्द है। लक्षण "मन्दाक्रान्ता मभनतयुगं गद्वयं वेददिग्भिः" के अनुसार चतुर्थ तथा दशम पर यति होनी चाहिए थी किन्तु यहाँ प्रथम चरण में चतुर्थ पर यति रहने से धातुपद विछिन्न होता है, द्वितीय और तृतीय में संज्ञा पद, अत एव यति एक वर्ण आगे खिसक जाती है। इसी से दोष सम्भव था। चतुर्थ पाद में दशम स्थान की यति भी भंग हो जाती है। किन्तु सर्वत्र स्वरसन्धि होने के कारण ही दोष नहीं हुआ।

वाक्यमिति ।..।

शोभामिति ।..।

कार्याकार्येति च नामभागमुल्लङ्घ्य विच्छेदश्रव्यता च परस्य यणादेशेन 'किंचिन्नाचा'इति 'नृप' इति च स्वरसंधाने विच्छेदोऽत एव श्रव्यत्वमपि। तदेतद्व्याचष्टे—अत्रेति। 'मन्दाक्रान्ता मभनतयुगं गद्वयं वेददिग्भिः' इति चतुर्थदशमयोर्यतिराम्नाता। पञ्चमस्थान इति। प्रथमतृतीययोर्द्वितीये तु षष्ठे यतिकरणादिति बोद्धव्यम्। ननु पदच्छेदे स्वरसंधानपठितिविरामः सोल्लेखो लक्ष्यते, न तु चतुष्पादे तथास्तीति कथं श्रव्यत्वमत आह—लुप्त इति। संधौ विकारो यत्वयलोपादिकं कार्यं, तथा च पदान्ते सति पदच्छेद एवायमिकारोऽवतिष्ठत इत्यर्थः॥

(१५) अशरीरत्वदोषगुण

अशरीरं क्रियाहीनं क्रियापेक्षा न यत्र तु।
यत्रास्त्यादेरपेक्षा वा न दोषस्तत्र तद्यथा॥ १२५॥

यथा—

'कियन्मात्रं जलं विप्र जानुदघ्नं नराधिप।
तथापीयमवस्था ते नहि सर्वे भवादृशाः॥ १६८॥'

अत्र त्रिषु पादेषु पदानि क्रियापदं नापेक्षन्ते। सापेक्षं चासमर्थं भवति। चतुर्थे तु नहीत्यादिभिः सन्तीत्यपेक्षते न चैतावतामीषामसामर्थ्यं भवति। यदाह—'यत्रान्यत क्रियापदं नास्ति, तत्रास्ति भवतीति पदं प्रथमपुरुषे प्रयुज्यते' इति॥

क्रियारहित वाक्य में अशरीरत्व दोष कहा जाता है, किन्तु जहाँ पर क्रिया की अपेक्षा नहीं होती, अथवा जहां केवल 'अस्ति' आदि क्रियाओं की ही अपेक्षा होती है, वहाँ पर दोष नहीं होता॥ १२५॥

जैसे—"हे ब्राह्मण, कितना पानी है?" "महाराज, घुटने तक"। "फिर भी आपकी यह दशा है?" "सभी आप जैसे तो नहीं"॥ १६८॥

यहाँ तीन चरणों में क्रियापदों की आवश्यकता नहीं समझी जाती। वस्तुतः असमर्थ वह होता है जिसे कोई अपेक्षा होती है। चतुर्थ पाद में 'न हि' आदि पदों द्वारा 'सन्ति' की आवश्यकता समझी जाती है, किन्तु इतने से ही इनकी असमर्थता नहीं सिद्ध होती है। जैसा कहा गया है कि "जहां अलग से क्रियापद नहीं होता है, वहां 'अस्ति' 'भवति' सदृश क्रियापद प्रथमपुरुष में प्रयुक्त होते हैं।

स्व० भा०—यह छन्द एक प्रश्नोत्तर है। राजा को देखने के लिए कोई ब्राह्मण छद्मवेष में लकड़हारा का रूप बनाकर जा रहा था। एक स्थान पर वह नदी पार करने लगा कि राजा दूसरी ओर दिखाई पड़ गए। उन्हीं के प्रश्नोत्तर रूप में यह छन्द है। इसमें प्रथम या तृतीय पद राजा के और द्वितीय तथा चतुर्थ ब्राह्मण के हैं।

अशरीरमिति। प्रधानाविमर्शो हि दूषणमित्युक्तं तदुपात्तानामेव पदार्थानां प्रधानगर्भीकरणे तत्प्रतिबन्धेऽवश्यविधेयमन्यं प्रति गुणीभावे वा समाधीयते। अत एव विशेषाद् गुणत्वम्। तथा हि—'क्रियन्मात्रं' 'जानुदघ्नम्' इत्यनयोः परिमितम्। क्रिया प्रधानगर्भभूता। 'नहि सर्वे भवादृशाः' इत्यत्र तु सत्ताक्रियायाः सकलपदार्थाव्यभिचाराद् 'अपेक्ष्यते' इति सिद्धिः। तदिदमाचार्यमतेनाह—यत्रान्यदिति। भवन्ती वर्तमाना। तदेतद्वाक्यं क्रियाप्रधानमिति ददर्श 'स प्रधानं विशेष्यमात्रं तु वाक्यार्थं' इति परमार्थः। तेन 'राधा रहःसाक्षिणाम्' इत्यादावावश्यकविधेयसाक्षिभावादिगुणतया राधासंबन्धादीनां वैवक्षिकप्राधान्यानामपि प्रधानत्वविमर्शो न दोष इत्युक्तं भवति॥

(१६) शैथिल्यदोषगुण

श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यं शिथिलं तद्विपर्ययः।
गौडीयैरिष्यते तत्तु बन्धप्राशस्त्यगौरवात्॥ १२६॥

यथा—

'लीलाविलोलललना ललितालकलालसाः।
विलुप्तमालतीमाला जलकालानिला ववुः॥ १६९॥'

अत्र शैथिल्यदोषेऽपि बन्धप्राशस्त्येन गौडैरादृतत्वाद् गुणत्वम्॥

जिस वाक्य में शिथिलता छू तक नहीं जाती है उस वाक्य को श्लिष्ट तथा उससे विपरीत को शिथिल कहते हैं। पद रचना में सौष्ठव लाने के लिये महत्त्वशाली होने से गौडीयरीति की कविता करने वालों को यह पसन्द है॥ १२६॥

जैसे—अपनी अठखेलियों से सुन्दरियों को चञ्चल बनाता हुआ, सुन्दर कुन्तलों के प्रति लालसा रखनेवाला अथवा सुन्दर कुन्तलों को लहराता हुआ, मालती के पुष्पों को लुप्त करता हुआ वर्षाकालीन पवन वह रहा था॥ १६९॥

यहां पर शैथिल्य दोष होने पर भी रचना में उत्कृष्टता लाने के कारण गौड़ी रीति के कवियों को प्रिय होने से गुणता है।

स्व० भा०—यहां दिया गया शैथिल्यदोष का लक्षण स्वतन्त्र और स्पष्ट नहीं है। वस्तुतः अल्पप्राण वर्णों का—वर्गों के प्रथम, तृतीय, पञ्चम तथा अन्तस्थों का प्रयोग करने से शिथिलता आ जाती है, वाणी में सुघटन का अभाव हो जाता है। अतः दोष हो जाता है। किन्तु एक कवि-सम्प्रदाय को अभीष्ट होने से इसे दोष नहीं कहना चाहिए।

श्लिष्टमिति। पारुष्यशैथिल्याभ्यां विना कृतं श्लिष्टमित्युक्तं तस्य विपर्ययो विपरीतं वाक्यं शिथिलं भवति। परुषमल्पप्राणाक्षरोत्तरं वेत्यर्थः। एवंविधमपि चैतदनुप्राससौष्ठवात्पदानामेकताप्रतिभासे समाधीयत उद्भटानुप्रासतया च कान्तिप्राधान्ये गौडीयरीतिप्राधान्येन गुणत्वमासादयति तदिदमुक्तम्—बन्धप्राशस्त्यगौरवादिति। गौडीयैर्गौडीयरीतिगोचरहेतुवाक्प्रकर्षशालिभिः॥ लीलेति। अत्र दन्त्यवर्णमयत्वेनाल्पप्राणाक्षरोत्तरतायामपि पदैकताप्रतिभासानुप्रासयोरुद्रेकः कान्तिप्रकर्षोऽवसेयः॥

(१७) विषमदोषगुण

न दोषः क्वापि वैषम्येऽप्यर्थालंकारकारणात् ।
पौरस्त्यैरादृतत्वाच्च शब्दाडम्बरतोऽपि वा ॥ १२७ ॥

यथा—

'चन्दनप्रणयोद्गन्धिर्मन्दो मलयमारुतः ।
स्पर्धते रुद्धमद्धैर्यो वररामाननानिलैः ॥ १७० ॥'

अत्र सत्यपि वैषम्यदोषे शब्दालंकारगुणादर्थालंकारगुणात्पौरस्त्यैरादृतत्वाच्च गुणत्वम् ॥

अर्थालङ्कार के कारण, प्राच्यों के द्वारा आदृत होने से अथवा शब्दाडम्बर के कारण वैषम्य होने पर भी कहीं-कहीं दोष नहीं होता ॥ १२७ ॥

जैसे—(यह वही) चन्दन से होकर आने के कारण सुगन्धित, मन्द-मन्द चलता हुआ मलयाचल का वायु है जिसे रोककर परमसुन्दरियों के मुख की वायु स्पर्धा करती है ॥ १७० ॥

यहां पर शब्द वैषम्य दोष होने पर भी शब्दालङ्कार होने के कारण, अर्थालङ्कार होने के कारण तथा प्राच्यमनीषियों को पसन्द होने के कारण गुण है ।

स्व० भा०—प्रस्तुत श्लोक में 'मलयमारुत' कोमल है, 'वररामामुखानिलैः' भी कोमल ही है, वहीं पर शौर्यप्रकाशन से 'स्पर्धते' में स्फुटत्व है, इसी प्रकार 'रुद्धमद्धैर्य' में भी । अतः विभिन्न प्रकार के गुणों का समावेश होने से समता न होने के कारण वैषम्य दोष है, किन्तु शब्द, अर्थ आदि के अलङ्कारों के आ जाने से सौन्दर्य गायब नहीं हुआ ।

न दोष इति । अर्थालंकारकारणादर्थालंकाररूपम् । यत्र हि शब्दस्यार्थोऽन्यथान्यथारूपं भजते तत्रावश्यं तदनुयायिना पदसंदर्भेण भिन्नरूपेण भाव्यम् । एवमपि छायावैरूप्यं वैरस्यमेवावहतीत्याशङ्क्य 'शब्दाडम्बर' इत्युक्तम् । आडम्बर उद्भटता । तस्याप्येकरीत्यनिर्वाहो दूषणमित्यत्र 'पौरस्त्यैः' इत्युक्तम् । शरावत्याः प्राग्देशभवाः पौरस्त्यास्तदीयहेवाकप्राचुर्यभाज एव हि खण्डरीतयः । चन्दनेति । अत्र यद्यपि मलयानिल एक एव वाक्यार्थस्तथापि चन्दनप्रणयेन प्रवृद्धसौरभे मन्द इत्याभ्यां शृङ्गाराङ्गताप्रतीतावुन्मिश्रः संदर्भः । मलयमारुत इति कोमलः, वररामामुखानिलैरित्यपि तथा, तत्राप्यारभटीप्रकाशने स्पर्धत इति स्फुटम् । एवं रुद्धमद्धैर्य इति । तदेवं समताविपर्यासेऽपि विशेषणानामर्थानां भिन्नभिन्नरसानुप्रवेशो पृथगर्थालंकाराः प्रकाशन्ते । अस्ति चात्र शब्दाडम्बरवशादेव छायारूपाप्रतिभासः । लाटीया च रीतिः ॥

(१८) कठोरतागुणदोष

कठोरमपि बध्नन्ति दीप्तमित्यपरे पुनः ।
तेषां मतेन तस्यापि दूषणं नैव विद्यते ॥ १२८ ॥

यथा—

'न्यच्क्षेण पक्षः क्षपितः क्षत्रियाणां क्षणादयम् ।'

अत्र कठोरत्वेऽपि दीप्तत्वाद् गुणत्वम् ॥

दूसरे सहृदय कठोरत्व को भी रसदीप्ति मानते हैं। उनके मतानुसार कठोरता में भी कोई दोष नहीं होता ॥ १२८ ॥

जैसे—एक ही क्षण में यह क्षत्रियों का पूरा का पूरा पक्ष ही विनष्ट कर दिया गया। यहां कठोरता होने पर भी भावना का उत्कर्ष होने के कारण गुणत्व है।

स्व० भा०—सुकुमारता न होनेपर कठोरता होती है। ऐसे स्थलों पर प्रस्फुटवर्णों का प्रयोग अधिक होता है। इस प्रकार के वर्णों से भी रसविशेष के पुष्ट होने से पौरस्त्य लोग इसमें भी गुणत्व का ही आधान करते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में 'क्षकार' का प्रचुर प्रयोग भावों को उद्दीप्त करता है।

कठोरमिति। सुकुमारताविपर्यासः कठोरः संदर्भः प्रस्फुटतरवर्णप्रधानमिति यावत्। सोऽयं दीप्तरसानुप्रवेशादौचित्येन गुणत्वं भजत इति व्यक्तम्। अपरे पौरस्त्याः। न्यक्षेण सामस्त्येन ॥

(१९) प्रसादहीनत्वगुणदोष

अविद्वदङ्गनाबालप्रसिद्धार्थं प्रसादवत्।
विपर्ययोऽस्याप्रसन्नं चित्रादौ तन्न दुष्यति ॥ १२९ ॥

यथा—

'याश्रिता पावनतया यातनाच्छिदनीचया।
याचनीया धिया मायायामायासं स्तुता श्रिया ॥ १७१ ॥'

अत्राप्रसाददोषेऽपि चित्रत्वाद् गुणत्वम् ॥

अल्पज्ञ, स्त्री तथा बालकों को भी जिसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है वह वाक्य प्रसादगुण से युक्त कहा जाता हैं। उसका उलटा अप्रसन्न—प्रसादगुणहीन—कहा जाता है। पर चित्रादि काव्य में दोष नहीं होता ॥ १२९ ॥

जैसे—पवित्रता के कारण जिसका अवलम्ब लिया जाता हैं, जो (नरक आदि में) कष्टों का विनाश करती है, श्री के द्वारा भी जिसकी स्तुति की गई, उच्च बुद्धि के द्वारा अविद्या का विस्तार समाप्त करने के लिए उसी की प्रार्थना करनी चाहिए ॥ १७१ ॥

यद्यपि इस छन्द में अप्रसाद दोष है—अर्थ सरलता से प्रकट नहीं होता—तथापि चित्रकाव्य होने के कारण इसमें गुण ही हुआ।

स्व० भा०—इस छन्द से अष्टदलकमलबन्ध बनता है। इसे द्वितीय परिच्छेद के २८४ वें छन्द के प्रसङ्ग में देखना चाहिये।

अविद्वदिति। विपर्ययः प्रत्यनीकभूतं वाक्यम्। आदिग्रहणाद्यमकश्लेषप्रहेलिकाप्रकरणानि। या देवी पवित्रत्वेनाश्रिता। अनीचया तुङ्गया बुद्ध्या मायायामस्य अविद्याविस्तारस्यायासं ग्लानिं विच्छेदं याचनीया प्रार्थनीया। यतो यातनं नरकानुभवनीयं दुःखं छिनत्ति। श्रियापि स्तुतेति। अष्टदलकमलबन्धोऽयम्। तदिह तथा वरा(?)संनिवेशस्य चमत्कारकारित्वेन प्रसादोऽपि सहृदयश्लाघाविषयो गुणतामध्यास्त इति ॥

(२०) नेयार्थत्वदोषगुण

अध्याहारादिगम्यार्थं नेयार्थं प्रागुदाहृतम्।
स गम्यते प्रसिद्धश्चेन्न तद्दोषवदिष्यते ॥ १३० ॥

यथा—

'मां भवन्तमनलः पवनो वा वारणो मदकलः परशुर्वा।
वाहिनीजलभरः कुलिशं वा स्वस्ति तेऽस्तु लतया सह वृक्ष ॥ १७२ ॥'

अत्र दहत्वित्यादीनामध्याहार्यतया नेयत्वेऽप्यतिप्रसिद्ध्या प्रतीयमानत्वाद् गुणत्वम् ॥

अध्याहार आदि के द्वारा जिस वाक्य का अर्थ समझा जाता है, वहाँ, पहले ही, नेयार्थत्वदोष कहा जा चुका है। यदि उसका अर्थ अत्यन्त विख्यात होने से सरलता से समझ में आ जावे तो वह वाक्य दोषयुक्त नहीं कहा जायेगा ॥ १३० ॥

जैसे आपको न तो अग्नि (जलावे), न वायु (झकोरे), न मदमत्त हाथी ही (तोड़े), न नदियों की बाढ़ आपको (डुबोये), न वज्र ही (गिरे) आप पर। हे लता के साथ रहने वाले वृक्ष तुम्हारा कल्याण हो ॥ १७२ ॥

यहाँ पर 'दहतु' आदि का अध्याहार होने से नेयार्थत्व दोष होने पर भी अत्यधिक प्रसिद्ध होने के कारण अर्थ प्रतीत हो जाने से गुणत्व ही है।

स्व० भा०—वामन ने काव्यालंकारसूत्र में (५।१।१४) यह छन्द "लिङ्गाध्याहारौ" सूत्र के प्रकरण में प्रयुक्त किया है। यहां क्रियाओं का अध्याहार है। वाक्य पूर्ण न होने पर अर्थपूर्ति के लिये अपेक्षित पदों का ग्रहण अध्याहार कहलाता है। यहां क्रियाओं के अभाव में अर्थ पूर्ण न होता अतः नेयार्थत्व दोष है, किन्तु ये अध्याहृत पद इतने विख्यात हैं कि इनके ग्रहण के लिए विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता और अर्थावबोध सरलता से हो जाता है।

अध्याहारेति। असंपूर्णं वाक्यं नेयार्थमित्युक्तं तस्यैवंरूपता झटिति श्रुतार्थापत्तिप्रादुर्भावपरिह्लवकसंधानात्समाधीयते। तथा हि—'मा भवन्तमनलः' इत्यादौ वृत्तसमभिव्याहारेण दहनादीनां योग्यतया शीघ्रमेव धाक्षीदित्यादिक्रियान्वयोऽवसीयते। स्वस्तिवचनेन चामङ्गलप्रस्तावनिरासात्तथाभूतक्रियानुपादानं वक्त्रक्षमतया गुण इति ॥

(२१) ग्राम्यदोषगुण

असभ्यार्थं मतं ग्राम्यं तद्ग्राम्योक्त्यैव दुष्यति।
विदग्धोक्तौ तु तस्याहुर्गुणवत्त्वं मनीषिणः ॥ १३१ ॥

यथा—

'कामं कन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निर्दयः।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्ट्या सोऽयमस्मास्वनुग्रहः ॥ १७३ ॥'

अत्र ग्राम्यत्वेऽपि ग्राम्यार्थस्य विदग्धोक्त्या तिरस्कृतत्वाद् गुणत्वम् ॥

सज्जनों के समाज में जिसका अर्थ प्रशस्त नहीं माना जाता, उस वाक्य को ग्राम्य कहते हैं। इस प्रकार का वाक्य किसी ग्रामीण द्वारा कहे जाने पर दोषपूर्ण होता है। विद्वानों के द्वारा उसी के कहे जाने पर इसमें मनीषियों ने गुणयुक्तता मानी है ॥ १३१ ॥

जैसे—हे सुन्दर नयनों वाली, यह चाण्डाल कामदेव मुझ पर अत्यन्त क्रूर है। हम पर उसकी यही कृपा समझो कि भाग्य से वह तुम से विद्वेष नहीं करता ॥ १७३ ॥

इस छन्द में ग्राम्यता होने पर भी ग्राम्य अर्थ का कथन एक विद्वान् के द्वारा किए जाने से दब गया है। अतः यहां गुणत्व है।

स्व० भा०—यह श्लोक दण्डी के काव्यादर्श (१।६४) में भी प्राप्त होता है। इसी प्रसंग में दण्डी ने भी यह स्वीकार किया है कि एक ही बात का कथन ग्राम्य तथा विदग्ध के करने पर स्वरूप में बहुत अन्तर आ जाता है। उन्होंने इसी आशय का एक श्लोक दिया है जिसमें एक ग्राम्य के द्वारा कहलाने पर फूहड़पना आ गया है—

कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते॥ १।६३॥

असभ्यार्थमिति। रसस्यादीप्तिः कान्तिविपर्ययो वचनापराधेन दूषणतामध्यास्ते, स समाधीयतेऽत्र ग्राम्योक्तिपरिहारेणैव। अत एवोक्तिसमर्पितच्छायाविशेषयोगे गुणत्वलाभः। सहृदयसभायां न साधुरसभ्यः। वैदग्ध्यविधुरं ग्राम्यम्॥

(२२) असमासत्वदोषगुण

ओजः समासभूयस्त्वं तद्दीप्तार्थेषु वध्यते।
विपर्ययोऽस्याः समस्तं तद्दीप्तं चेन्न दोषभाक्॥ १३२॥

यथा—

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्॥ १७४॥'

अत्रासमस्तत्वेऽपि प्रौढबन्धत्वाद् गुणत्वम्॥

अत्यधिक समस्त पदों का होना ओज है। वह दीप्त अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसके विपरीत असमासत्व दोष है। यदि समस्त पद दीप्त हो तो दोष का भागी नहीं बनता॥ १३२॥

जैसे—पाण्डवों की सेवा में अपने भुज-बल पर घमण्ड करने वाला जो कोई भी शस्त्र धारण करने वाला हो, अथवा पाँचाल के खानदान का कोई भी बच्चा, वयस्क अथवा गर्भ में ही पड़ा हुआ हो, जो जो लोग इस कर्म के साक्षी रहे हैं अथवा मेरे रण में विचरण करने पर जो जो मेरे विरोधी हैं मैं उनको बतला देना चाहता हूँ कि क्रोध से अन्धा मैं स्वयं यहाँ उपस्थित हूँ और उनके लिये तो मैं संसार के काल का भी काल हूँ।

यहाँ समास न होने पर भी बन्ध में प्रौढता होने से गुण ही है।

स्व० भा०—प्रायः देखा जाता है कि जहाँ समस्त पद और परुष या कठोर वर्ण रहते हैं उस श्लोक में ओज का प्राचुर्य होता है। किन्तु ऐसे भी स्थल हैं जहाँ समास न होने पर भी ओज प्रचुर मात्रा में होता है। ऐसे स्थलों पर दोष नहीं होता क्योंकि लक्ष्य तो ओजो-विधान है, न कि समस्तता।

ओज इति। दीप्तरसानुप्रविष्टार्थप्रतिपादकसंदर्भौचित्येन समासभूयस्त्वमोजः। अस्य विपर्ययो दीप्तेरप्रत्यूहादेव समाधीयते। तदिदमुक्तम्—'दीप्तार्थं वध्यते यत्र तद्दीप्तं चेन्न दुष्यति' इति। सुगममुदाहरणम्। व्यूढः प्रौढः॥

(२३) अनिर्व्यूढत्वदोषगुण

समस्तमसमस्तं वा न निर्वहति यद्वचः।

तदनिर्व्यूढमस्यापि न दोषः क्वापि तद्यथा ॥ १३३ ॥

यथा—

'प्रसीद चण्डि त्यज मन्युमञ्जसा जनस्तवायं पुरतः कृताञ्जलिः ।
किमर्थमुत्कम्पितपीवरस्तनद्वयं त्वया लुप्तविलासमास्यते ॥ १७५ ॥'

अत्रासमस्तरीत्यनिर्वाहादनिर्व्यूढत्वेऽपि रसान्तरपरिग्रहेण रीत्यन्तरपरिग्रहाद् गुणत्वम् ॥

समास से युक्त अथवा समास से रहित किसी भी प्रकार का ग्रहण करके जिस वाक्य में आदि से अन्त तक निर्वाह नहीं किया जाता, वहाँ अनिर्व्यूढत्व दोष होता है किन्तु उसको भी कहीं कहीं दोष नहीं मानते । जैसे ॥ १३३ ॥

'हे क्रोधने, शीघ्र ही क्रोध छोड़ दो, यह व्यक्ति तुम्हारे सामने हाथ जोड़ता है । भला क्यों तुमने (क्रोध के कारण) काँप रहे विशाल उरोजद्वय पर लेप आदि शृङ्गार विधान नहीं किये ? ॥ १७५ ॥

यहाँ पर समासविहीन रीति ग्रहण की गई किन्तु उसका भी अन्त तक निर्वाह नहीं हो सका अतः अनिर्व्यूढत्व दोष है । किन्तु अनिर्व्यूढता होने पर भी दूसरे रस का ग्रहण करने के कारण उसके लिए समुचित दूसरी रीति का ग्रहण करने पर गुण ही हुआ ।

स्व० भा०—यहाँ पर पहले तो मानिनी को मनाने का शृङ्गार भाव प्रारम्भ कर समासहीन रीति का ग्रहण किया गया था, किन्तु बाद में रोषभाव का वर्णन प्रारम्भ करके तदुचित समासपूर्ण शैली का ग्रहण किया गया । असमस्त शैली का प्रारम्भ करने के बाद अन्त तक उसी का ग्रहण अपेक्षित था । ऐसा न करने से अनिर्व्यूढ़ता आई । किन्तु जिस प्रकार शृङ्गार के लिए समासहीन पदावली अपेक्षित है, उसी प्रकार रौद्र आदि के लिये समासभूयस्त्व अपेक्षित हैं । अतः रीति का निर्वाह न होने पर भी शैली के रसानुगुण होने से दोष खटकता नहीं ।

समस्तमिति । उपक्रान्तरीतेरनिर्वाहे मधुररसपर्यन्ता प्रतीतिः स्खलतीति दूषणताबीजमुक्तम् । तथाभूतरसानुगुणव्यभिचार्यनुप्रवेशव्यञ्जनौचित्यादुपक्रमनिर्वाहः सर्वस्वायमानो गुणतामासादयति । तथा हि—प्रसीदेत्यादौ प्रणयकेलिकुपितकामिनीप्रसादनायां शृङ्गारविरोधिसमासव्यतिकरेण रीतेरप्यक्रमे रोषलक्षणभावानुभावभूः स्तनकम्पवर्णनायां समासोऽनुप्रविष्टः इति व्यक्तः पूर्वरीतेरनिर्वाहः । रसान्तरं प्रकृतविजातीयरससंबद्धो व्यभिचारी भावः ॥

(२४) अलंकारहीनत्वदोषगुण

अनलंकारमित्याहुरलंकारोज्झितं वचः ।
पूर्वोत्तरानुसंधाने तस्य साधुत्वमिष्यते ॥ १३४ ॥

यथा—

'निशम्य ताः शेषगवीरभिधातुमधोक्षजः ।
शिष्याय बृहतां पत्युः प्रस्तावमदिशद्दृशा ॥ १७६ ॥'

अस्यानलंकारत्वेऽपि पूर्वापरानुसंधानप्रयोजनभूतत्वाद्गुणत्वम् ॥

अलंकार से रहित वाणी को अनलंकार कहा गया है। किन्तु पूर्व तथा उत्तर वाक्यों का समन्वय करने से उससे भी गुणत्व अपेक्षित होता हैं ॥ १३४ ॥

जैसे—अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करने वाले श्रीकृष्ण ने शेषावतार बलराम की वाणी सुनकर बृहस्पति के शिष्य उद्धव जी से नेत्रों के संकेत से बोलने का प्रस्ताव किया ॥ १७६ ॥

इस श्लोक में अलंकार न होने पर भी पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध का समन्वय उद्देश्य होने से गुणत्व है।

स्व० भा०—कहीं कहीं किसी वार्तालाप के प्रसङ्ग में पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती वृत्तान्तों को जोड़ने के लिए बीच में किसी वाक्य का समावेश होता है। इसका उद्देश्य मात्र संयोजन होने से सीधे से बात कह दी जाती है। वहाँ चमत्कार का अभाव होता हैं। जहाँ कहीं भी ऐसे स्थल होते हैं, वहाँ ऐसे छन्दों का स्वतन्त्र अस्तित्व न होने से दोषभाव नहीं होता यह प्रसंग शिशुपालवध का है, जहाँ कृष्ण के समक्ष बलराम ने अपना मत व्यक्त कर दिया था कि शिशुपाल हन्तव्य है, पुनः कृष्ण के निर्देश से बाद में उद्धव की बातें होंगी। इन दोनों को जोड़ने का काम यह छन्द करता है, अतः इसको गुणदोष पृथक् विवेचनीय नहीं।

अनलंकारमिति। अनुत्कृष्टाप्रविष्टविशेषणवद्वाक्यं निरलंकारः पूर्वोत्तरवाक्यसंगतिकरणप्रयोजनकतया न दोषः। कथं तथाभूतस्य काव्यत्वमित्यपि न वाच्यम्। अनुगतेन वक्रीभावेन तत्समर्थनात्। व्यक्तमुदाहरणम् ॥

वाक्यार्थदोषगुण तथा (१) अपार्थदोषगुण

सूत्रकार एव वाक्यार्थदोषगुणीभावविवेचनं संगमयति—

वाक्याश्रयाणां दोषाणां गुणीभावोऽयमीरितः।
अथ वाक्यार्थदोषाणामदोषः कथ्यतेऽधुना ॥ १३५ ॥
समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थं प्रचक्षते।
तन्मत्तोन्मत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति ॥ १३६ ॥

यथा—

'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणामुपशान्तये श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियो रेखैव सान्यादृशी
चेतः स्वास्थ्यमुपेहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥ १७७ ॥'

अत्र समुदायार्थशून्यत्वेनापार्थस्याप्युन्मत्तवचनत्वाद् गुणत्वम्।

यह वाक्य पर आश्रित दोषों का—वाक्यदोषों का—गुणभाव प्राप्त करना कह दिया गया। इसके बाद वाक्यार्थ दोषों की दोषहीनता अब कही जा रही है। जो महावाक्य अपने पद समूहों के समवेत अर्थों से हीन हो जाता है उसे अपार्थ दोष से युक्त कहा जाता है। यह शराबी, पागल तथा बच्चों की बातों के अतिरिक्त दूसरी जगहों पर दोष होता है ॥ १३५-३६ ॥

जैसे—"कहां यह अपकर्म और कहां वह निर्मल चन्द्रवंश ? यदि वह फिर दिखाई पड़ जाती। क्रोध में भी कमनीय लगने वाला उसका मुख समस्त दोषों को शान्ति करने वाला सुना गया है।" "भला शुद्ध बुद्धिवाले निष्पाप पुण्यात्मा लोग क्या कहेंगे ?" वह तो बनावट ही दूसरे

प्रकार की है। अरे चित्त स्वस्थ होगा। पता नहीं कौन सौभाग्यशाली युवक उसके अधरों का पान करेगा ? ॥ १७७ ॥

यहां समस्त वाक्य समुदायों में एकार्थता न होने के कारण अपार्थत्व दोष में भी एक उन्मत्त का कथन होने से गुणता हुई।

स्व० भा०—इसमें वस्तुतः पद और वाक्य तो सार्थक होते हैं किन्तु सम्मिलित रूप से उनमें महावाक्यता अथवा एकवाक्यता नहीं होती है। इसमें सभी वाक्यों का एक सम्मिलित अर्थ नहीं होता है। किन्तु यह दोष तभी होता है जब कि कोई स्वस्थचित्त वाला व्यक्ति इसका प्रयोग करे। मदहोश, पागल, बच्चे आदि तो ऐसी बातें कहा ही करते हैं जिनका कोई समवेत अर्थ नहीं होता। उनसे ऐसी आशा भी नहीं की जाती है कि वे परस्पर सम्बद्ध वाक्य बोलें भी। अतएव अत्यन्त मनोवैज्ञानिक आधार पर इन दोषों का विभाजन किया गया है। यहां का लक्षणवाक्य दण्डी के काव्यादर्श (३।१२८) में अक्षरशः मिलता है। इन्हीं के अनुसार—इदमः स्वस्थचित्तानामभिधानमनिन्दितम्। इतरत्र कविः को वा प्रयुञ्जीतैवमादिकम् (३।१३०)। यह उदाहरण का श्लोक विक्रमोर्वशीयम् के चतुर्थ अङ्क का कहा जाता है जिसे उर्वशी के वियोग में विक्षिप्त पुरूरवा कहता है। किन्तु यह श्लोक विक्रमोर्वशीयम् की सभी प्रतियों में नहीं मिलता है।

वाक्याश्रयाणामिति। सत्तादिवचनान्यनुक्रियमाणानि चमत्कारमर्पयन्ति। अत एव छायालंकारप्रादुर्भावाद् गुणः। अनित्यदोषत्व चानुकरणादन्यदपि गुणीभवनबीजमुन्नेयमित्युदाहरणेन व्यञ्जयन्नाह—कायमिति। अत्र श्रुतिशालिनो नायकस्य वासनापरिपाकवशाद्विप्रलम्भावेशेऽपि प्रथमं प्रादुर्भावः—'क्काकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्' इति। तदेवं शान्तरसानुयायिनमन्तरमेव बाधित्वा चित्तानुरञ्जकप्रकृतरसान्यभिचारिणा औत्सुक्यस्य प्रादुर्भावः—'भूयोऽपि दृश्येत सा' इति। एवं 'दोषाणामुपशान्तये श्रुतम्' इत्याद्यौचित्यादीनां पूर्वपूर्वप्रादुर्भूतानामुत्तरोत्तरभाविभिश्चिन्ताप्रभृतिभिरपवादे प्रकृतवासना प्रौढिरवसेया। उन्मत्तवचनत्वादिति। रसाविष्टचेतसस्तदुत्कलिकाप्रायाणां भावानामव्यवस्थायां कीर्तनमुन्मादः॥

(२-३) अप्रयोजनत्व तथा व्यर्थत्वदोष

यदप्रयोजनं यच्च गतार्थं व्यर्थमेव यत्।
तस्यापि क्वापि निर्दोषः प्रयोगो दृश्यते यथा॥ १३७॥

यथा—

'गीता विदुरवाक्यानि धर्माः शान्तनवेरिताः।
न श्रुता भारते येन तस्य जन्म निरर्थकम्॥ १७८॥'

अत्र गीताविदुरवाक्यादीनां कथायामप्रयोजकत्वेऽपीतिहासव्याजेन चतुर्वर्गप्रतिपादनस्यारम्भ एव प्रतिज्ञानाद् गुणत्वम्। तदिदमप्रयोजनम्॥

यदप्रयोजनमिति। प्रबन्धार्थपोषानाधायकवाक्यप्रयोजनम्। अर्थलाभप्रतिपादकतया कृतकरं व्यर्थम्। एवकारो भिन्नक्रमस्तच्छब्दानन्तरं द्रष्टव्यः। दृश्यत इत्यनेन तत्र तत्र प्रकृतसंगतौ सत्यां दोषाभावोऽवसेय इति दर्शितम्। यद्यपि भगवद्गीतायां मोक्षाधिकारिणामस्त्येव प्रकृतशान्तरसपरिपोषकत्वम्, तथापि तदन्तर्गतानां भूयसामाहत्य नास्ति। भीष्मविदुरवाक्यानां तु धर्माधिकारे प्रकृतानां व्यक्त एव निष्प्रयोजनप्रस्तावः। सोऽयं

यथा समाधीयते तद्विवृणोति—अत्रेति । इतिहासरूपे प्रबन्धे सत्यपि शान्तस्य वाक्यार्थभावेन बहूनामितिहासानां त्रिवर्गाधिकारित्वाच्चतुर्वर्गप्रतिपादनमेव महर्षेरभिमतम्, धर्मादित्रितयस्य च प्रासङ्गिकतया न पूर्ववदस्यार्थैकताविरोधः । तदिदमुक्तम्—व्याजेनेति । एवं च व्युत्पादयितव्यविषयजिज्ञासोपादाने धर्मार्थप्रवृत्तये वाक्यमिदं सफलतामासादयद् गुण एव भवति ॥

एवं गतार्थमपि यथा—

'हृत्कण्ठवक्त्रश्रोत्रेषु कस्य नावस्थितं तव ।
श्रीखण्डहारकर्पूरदन्तपत्रप्रभं यशः ॥ १७९ ॥'

अत्रैकेनैवोपमानेन शौक्ल्यप्रतीतौ शेषोपमानपादानां व्यर्थत्वेऽपि यशसः स्मर्यमाणत्वगीयमानत्वस्तूयमानत्वश्रूयमाणत्वैर्हृदयादिषु श्रीखण्डादिवदनस्थानस्य प्रतीयमानत्वाद् गुणत्वम् ॥

जो अप्रयोजन तथा अर्थहीन व्यर्थत्व दोष होता है उसका भी कहीं-कहीं दोषरहित प्रयोग देखा जाता है ॥ १३७ ॥

जैसे—जिसने महाभारत ग्रन्थ में गीता, विदुरवाक्य तथा भीष्म द्वारा कहे गए धर्म नहीं सुने उसका जन्म किसी काम का नहीं ॥ १७८ ॥

यहां पर गीता, विदुरवाक्य आदि के कथा में प्रयोजक न होने पर भी इतिहास के बहाने चतुर्वर्ग का प्रतिपादन प्रारम्भ से ही हो जाने से गुणत्व है ।

इसी प्रकार से अर्थहीनत्व भी होता है—

जैसे—कोई प्रशंसक कहता है कि हे महाराज, चन्दन, हार, कपूर तथा दन्तपत्र की भांति धवलकीर्ति किसके हृदय, कण्ठ, मुख तथा कान में स्थित नहीं रही ॥ १७९ ॥

यहाँ पर एक ही उपमान के प्रयोग से शुक्लता की प्रतीति होने से शेष उपमानों का ग्रहण निरर्थक होने पर भी स्मरण किए जाने से, गाये जाने से, स्तुति किए जाने से, तथा सुने जाने से वक्षस्थल आदि पर चन्दन आदि की भांति अनुचित स्थान पर स्थित अर्थ के प्रतीत होने से गुणत्व है ।

स्व० भा०—वस्तुतः केवल एक श्रीखण्डरूप उपमान के ही रहने पर भी यश की शुद्धता ज्ञात हो जाती है । पुनः अन्य उपमानों का ग्रहण आवश्यक नहीं था । बाद में भी उपमानों का ग्रहण तो पुनरुक्त सा हो जाता है । उचित स्थान न होने पर भी उनको स्थान दिया जाता है, किन्तु जहाँ ऐसे प्रयोग करने पर शोभा की हानि नहीं होती, वहां दोषता नहीं होती । चन्दन, हार, कपूर तथा दन्तपत्र क्रमशः हृदय, कण्ठ, मुख तथा कान में शोभित होते हैं । यदि धवलत्व मात्र अपेक्षित होता तब तो केवल एक ही उपमान का ग्रहण पर्याप्त था किन्तु यश के हृदय से स्मरण किये जाने से, कण्ठ से गाये जाने से, मुख से कहे जाने से तथा कानों से सुने जाने से, इन-इन स्थानों पर सुशोभित होने वाले पदार्थों की भांति वह उत्कृष्ट हो रहा है, अतः गुणत्व आ गया ।

एवं गतार्थमपीति । श्रीखण्डेनैवोपमाने यशसः शुद्धत्वमवगतं श्लेषोपमानपदानि केवलकृतकराणीति व्यर्थत्वप्रसङ्गे स्मरणादिविशेषविवक्षया तिरस्क्रियते, यथासंख्यादिभङ्गिसौभाग्येन च गुणीभाव इति ॥

(४) एकार्थदोषगुण

अविशेषेण पूर्वोक्तं यदि भूयोऽपि कीर्त्यते ।
तदेकार्थं रसाक्षिप्तचेतसां तन्न दुष्यति ॥ १३८ ॥

यथा—

'असारं संसारं परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं
निरालोकं लोकं मरणशरणं बान्धवजनम् ।
अदर्पं कन्दर्पं जननयननिर्माणमफलं
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः ॥ १८० ॥

'असारं संसारम्' इत्युक्त्वा 'परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं निरालोकं लोकम्' 'जगज्जीर्णारण्यम्' इति यदुक्तम्, तस्य विशेषानभिधायकत्वेऽपि रसाक्षिप्तेन वक्त्राभिहितत्वाद् गुणत्वम् ॥

बिना किसी विशेषता के ही यदि पहले कहा गया अर्थ फिर से कहा जाता है तो एकार्थत्व दोष होता है, किन्तु वक्ता का चित्त भावावेश में होने पर उसकी वाणी को दूषित नहीं करता ॥ १३८ ॥

जैसे—सम्पूर्ण जगत को निःसार करने के लिए, त्रिलोकी के उत्कृष्ट पदार्थों का अपहरण करने के लिए, लोक को प्रकाशहीन बनाने को सभी हितैषियों की मृत्यु के वश में भेजने को, कामदेव का घमण्ड समाप्त करने को, लोगों के नेत्रों की सृष्टि ही निष्फल करने को, सारे संसार को उजाड़ वन बनाने को कैसे सन्नद्ध हो गए ॥ १८० ॥

'संसार निःसार हो गया' इतना कहने के बाद 'परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं, निरालोकं लोकम्' 'जगज्जीर्णारण्यम्' आदि जो कहा गया उसका विशेष अर्थ का अभिधान न करने पर भी भावाविष्ट वक्ता के द्वारा कथन होने से गुणत्व ही है ।

स्व० भा०—यहाँ जितने भी वाक्य हैं, उनके अभिधेय अर्थों में भिन्नता होने पर भी तात्पर्य एक ही है । अतः एकार्थता हुई । उसी बात को फिर से कहने पर कोई नवीनता नहीं आई, अपितु दोष ही हुआ । किन्तु इस प्रकार का कथन यदि किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा होता है जो भावविभोर है तो दोष नहीं होगा, क्योंकि अत्यधिक भावाविष्ट अवस्था में मनुष्य को उक्ति पुनरुक्ति का ख्याल नहीं रहता । स्वाभाविकता के कारण ही यहां दोष का परिहार अभीष्ट है । भामह ने अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से कह दिया है कि—

कथमाक्षिप्तचित्तः सन्नुक्तमेवाभिधास्यते । भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि ।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः ॥ काव्यालंकार ४।१३–१४ ॥

भोज के लक्षण की प्रथम पंक्ति काव्यादर्श (३।१३५) के सदृश है ।

अविशेषेणेति । पूर्वोक्तपूर्वोक्ताभिन्नतात्पर्यकमविशेषेण तात्पर्यावृत्तिप्रयोजनमन्तरेण तन्मयीभवनं चेतस आक्षेपः । 'असारं संसारम्' इत्यनेन स्थावरजङ्गमप्रपञ्चस्य निःसारतां प्रतिपाद्य 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्धि रत्नं प्रचक्षते' इति । 'परिमुषितरत्नम्' इत्यत्रापि तावानेव तात्पर्यार्थः । एवं 'निरालोकं लोकं', 'जगज्जीर्णारण्यम्' इत्यत्रापि द्रष्टव्यम् । सुगममन्यत् ॥

(५) संदिग्धत्वदोषगुण

संशयायैव संदिग्धं यदि जातु प्रयुज्यते ।
स्यादलंकार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा ॥ १३९ ॥

'कुत्तो लम्भइ पन्थिअ सत्थरअं एत्थ गामणिघरम्मि ।
उण्णअपओहरे पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ॥ १८१ ॥

[कुतो लभ्यते पथिक स्रस्तरकमत्र ग्रामणीगृहे ।
उन्नतपयोधरान्प्रेक्ष्य यदि वससि तदा वस ॥]

अत्र केनापि पथिकयूना प्रावृडारम्भे ग्रामणीवधूः पीनोन्नतस्तनी सत्थरअमिति स्रस्तरकव्याजेन शस्तरतं याचिता । तं प्रत्याचक्षाणेव यथोक्तं ब्रूते—'कुतोऽत्र ग्रामणीगृहे स्रस्तरकः, कुतो वा शस्तं रतम् । उन्नतौ पयोधरौ मम हृदये नभसि वा पयोधरान्दृष्ट्वा यदि वससि तदा वस' इति तदेतस्य गोपनाय द्व्यर्थैरेव पदैः प्रयुक्तमिति संदिग्धस्याप्यस्य गुणत्वम् ॥

यदि अनिश्चय का भाव उत्पन्न करने के लिए ही संदिग्धत्व का प्रयोग हुआ हो तो वहां यह अलंकार ही होगा, दोष नहीं ॥ १३९ ॥

जैसे—अरे पथिक, ग्रामप्रधान के घर में यहाँ बिछौना अथवा आनन्दप्रद रति कहाँ प्राप्त हो सकती है । हाँ, यदि तुम इन उठे हुये मेघों या उरोजों को देखकर रहना चाहो, तो रह जाओ ॥ १८१॥

यहाँ पर ऐसा (दिखाया गया है कि) कोई युवा पथिक वर्षा का प्रारम्भ हो जाने से ग्रामप्रधान की वधू से जिसके उरोज खूब बड़े-बड़े तथा उभरे हुये थे—स्रस्तर आदि—कहकर—बिछौना के बहाने आनन्दप्रद रति की याचना करता है । उसे उत्तर देती हुई वह वधू उपर्युक्त ढंग से कहती है—'इस ग्रामप्रधान के घर में बिछौना कहाँ, अथवा आनन्ददायी रति कहाँ ? मेरे वक्षस्थल पर उठे हुए उरोजों को और आकाश में छाये हुये मेघों को देखकर बसना चाहो तो बस रहो ।" इसी बात को छिपाने के लिए दो अर्थों वाले पदों का प्रयोग किया गया है । अतः सन्दिग्धता होने पर भी गुणशालिता है ।

स्व० भा०—दण्डी ने भोज की लक्षण कारिका सा ही प्रयोग अपने काव्यादर्श में भी किया है । प्रथम पंक्ति के प्रथम चरण में ही किञ्चित् पाठान्तर है । दण्डीमें "ईदृशं संशयायैव यदि जातु प्रयुज्यते ॥" ३।१४१ ॥ पाठ है ।

संशयायैवेति । मिश्रो विरुद्धार्थवाक्यं संशयापादनेन दुष्यतीत्युक्तम् । यदा तु संदेह एव तात्पर्यमवधार्यते तदा स एव रञ्जकतयालंकारतामारोहतीति कथनं गुणीभाव इति, तदिदमुक्तम्—स्यादलंकार एवेति । कुतो लभ्यते पथिक स्रस्तरः शस्तरतं चात्र ग्रामणीर्ग्रामप्रधानम् । उन्नतपयोधरान्मेघान् पयोधरौ स्तनौ वा दृष्ट्वा यदि वससि तद्वस । अत्र प्रष्टुः संदेहजनयत्वेन निभृतानुरागप्रकाशनं पथिकविषये प्रतीयते ॥ द्व्यर्थैरिति । तदुक्तम्—'द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु' इति ॥

(६) अपक्रमत्वदोषगुण

वाक्ये प्रबन्धे चार्थानां पौर्वापर्यविपर्ययः ।
दोषः सोपक्रमो नाम चित्रहेतौ न दुष्यति ॥ १४० ॥

यथा—

'पश्चात्पर्यस्य किरणानुदीर्णं चन्द्रमण्डलम्।
प्रागेव हरिणाक्षीणामुदीर्णो रागसागरः॥ १८२॥

अत्र पौर्वापर्यविपर्ययादपक्रमदोषस्य चन्द्रोदयं प्रति रागोद्दीपनप्रकर्षप्रकाशनत्वाददोषः॥

वाक्य तथा प्रवन्ध में अर्थों के पौर्वापर्य में क्रमहीनता आनेपर जो दोष होता है, उसे अपक्रम कहते हैं, किन्तु कोई विचित्रता लाने के लिए होने पर क्रमहीनता दोष नहीं उत्पन्न करती॥ १४०॥

जैसे—अपनी किरणों को फैलाकर चन्द्रमण्डल तो बाद में निकला, किन्तु इसके निकलने के पहले ही मृगनयनी सुन्दरियों का प्रेमसिन्धु उमड़ पड़ा॥ १८२॥

यहाँ पौर्वापर्य में हीनता होने से अपक्रमत्व दोष हुआ, किन्तु चन्द्रोदय द्वारा प्रेमोद्दीपन की चरमसीमा का प्रकाशन होने से दोषत्व नहीं रहा।

स्व० भा०—यहाँ एक वाक्य में पौर्वापर्यविपर्यय का उदाहरण प्रस्तुत है। प्रवन्धगत का उदाहरण अन्यत्र दर्शनीय है। यथाक्रम किसी काम के चलते रहने पर कोई विशिष्टता नहीं होती। जब कोई बात असामान्य हो जाती है, तभी विचित्रता आती है। चन्द्रोदय हो जाने पर यदि कामिनियों का काम भड़का होता तव तो कोई आश्चर्य न होता, किन्तु यहाँ तो उसके पूर्व ही सब कुछ हो गया। यही विचित्रता है। इस विचित्रता से चमत्कार होने के कारण. यहाँ दोष न होकर गुण ही हुआ।

वाक्य इति। अर्थानां कार्यकारणभूतानां तेषामेव पौर्वापर्यनियमाद्य इति पूर्वार्धेऽध्याहार्यम्। चित्रहेताविति प्रसिद्धरूपविपर्यासेन हेतुवचनद्वारा प्रकृतवाक्यार्थपरिपोषाधानं चित्रहेतुः। पर्यस्य विस्तार्य चन्द्रोदयरागोद्दीपनयोः सत्यपि हेतुहेतुमद्भावेन पौर्वापर्ये प्रथमं रागसागरः पश्चाच्चन्द्रमण्डलमुदीर्णमिति विपर्यासप्रतीतिसमसमयमुद्दीपनविभावनानुसंधानाद् हिमांशोरतिशीघ्रकारिताप्रकाशनात् प्रकृतश्शृङ्गाररसो दीप्यते। एवं कुलकादिरूपं प्रबन्धान्तर्गतवाक्येष्वपि गुणत्वमवसेयम्॥

(७) खिन्नत्वदोषगुण

यस्मिन्रीतेरनिर्वाहः खिन्नं तदभिधीयते।
न दोषस्तस्य तु क्वापि यत्र च्छाया न हीयते॥ १४१॥

यथा—

'अभिनववधूरोषस्वादुः करीषतनूनपा-
दसरलजनाश्लेषक्रूरस्तुषारसमीरणः।
गलितविभवस्याज्ञेवाद्य द्युतिर्मसृणा रवे-
र्विरहिवनितावक्त्रक्लैव्यं बिभर्ति निशाकरः॥ १८३॥'

अत्रोपमानानि सामान्यवचनैः समस्यन्त इति प्रक्रान्तरीतेरनिर्वाहेऽपि समासव्याख्यापरत्वेनैव इवशब्दतद्धितयोः प्रयोगे प्रत्युत च्छायोत्कर्ष इति गुणत्वम्॥

जब किसी वाक्य में प्रारम्भ की हुई परम्परा का निर्वाह नहीं होता है, तब वहाँ खिन्नत्व नामक दोष कहा जाता है। किन्तु जहाँ पर सौन्दर्य कम नहीं होता है वहां वह दोष नहीं होता है ॥ १४१ ॥

जैसे—(इस शरद् में) करसी की आग नवविवाहिता के कोप सी सुहावनी लगती है, ठण्डी वायु तो कुटिलजनों के आलिङ्गन सा कठोर लगती है, सूर्य की किरणें किसी गरीब हो गए व्यक्ति के आदेश की भांति निष्प्रभाव हो गई हैं, और चन्द्रमा भी विरहिणी नायिका के मुख की मलिनता धारण कर रहा है ॥ १८३ ॥

यहाँ पर "उपमानो का सामान्य वाचक पदों के साथ समास होता है" इस प्रकार प्रारम्भ की गई रीति का निर्वाह न होने पर भी समास के व्याख्यापरक होने से ही 'इव' शब्द तथा तद्धित का प्रयोग (होने पर यहां दोष नहीं हुआ) अपितु सौन्दर्य में वृद्धि ही होने से गुणता आ गई है।

स्व० भा०—उपमा को मम्मट आदि आचार्यों ने लुप्ता भी माना है। लुप्ता के भी समासगा और तद्धितगा दो भेद हैं। यहाँ पर समासगा उपमा का प्रयोग प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों मे है जहां कोई वाचक स्पष्ट नहीं है। तृतीय चरण में इसी समासगा रीति का निर्वाह न करके 'इव' वाचक प्रयुक्त हुआ है। अतः यहां तो समासगा का पहले प्रयोग हुआ फिर भङ्ग हुआ और फिर प्रयोग ग्रहण हुआ। अतः दोष है। जहां पर उपमा समासगा होती है वहां उपमान तथा सामान्य—सादृश्य—का वाचकपद दोनों का एक साथ समास कर दिया जाता है। (द्रष्टव्य अष्टाध्यायी २।१।५५ ॥) तद्धित के 'वत्' 'कल्पप्' आदि प्रत्यय तथा वाचक 'इव' आदि तो समास की व्याख्या के रूप में ही आते हैं।

यस्मिन्निति। वाक्यार्थस्य धर्मिणो यदलंकारभङ्ग्या प्रक्रमस्थया निर्वहणाभावः खेदः। स तु पूर्वालंकारविश्रान्तौ प्रतीतेरस्खलने न दोषः। गुणत्वं च तस्य भङ्ग्यन्तरैरपि प्रकृतालंकारे ध्वननात्। तथा हि—'अभिनववधूरोषस्वादु असरलजनाश्लेष इव क्रूरः' इत्युपमानानि सामान्यवचनैः समस्यन्त इति समासद्वयेनोपमामुपक्रम्य मलिनविभवस्याज्ञेवेति समासत्यागाद्विरहिवनितावक्त्रक्लैव्यं विभर्तीति चान्तरधर्मारोपेण चोपमात्यागास्स्यपि रीतेरनिर्वाहे उपमायामेव पर्यवसानं समाधानहेतुः। गुणत्वहेतुमाह—व्याख्यापरत्वेनेति। गलितविभावाज्ञामसृणेति समासे कर्तव्ये योऽयमिवशब्दप्रयोगः स इवार्थे पूर्वौ समासौ बोधयति। क्लैव्यं विभर्तीति सामान्यालंकारे कथमन्यधर्ममन्यो वहतीति प्रतिसंधानसमसमयं वक्त्रक्लैव्यमस्येत्यन्तर्गतोपमाप्रकटीभावे उपमासमासपदयोरपि सा प्रतीयते इति सेयं कविचातुरीप्रतीयमानच्छायामेव पुष्णाति। तदिदमुक्तम्—प्रस्तुतेति ॥

(८) अतिमात्रत्वदोषगुण

लोकातीत इवार्थे यः सोऽतिमात्र इहेष्यते।
वार्तादौ तेन तुष्यन्ति विदग्धा नेतरे जनाः ॥ १४२ ॥
तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि विद्यते।
कान्तं जगति तत्कान्तं लौकिकार्थानुयायि यत् ॥ १४३ ॥
लौकिकार्थमतिक्रम्य प्रस्थानं यत्प्रवर्तते।
तदत्युक्तिरिति प्रोक्तं गौडानां मनसो मुदे ॥ १४४ ॥

यथा—

'देवधिष्ण्यमिवाराध्यमद्य प्रभृति नो गृहम् ।
युष्मत्पादरजःपातधौतनिःशेषकल्मषम् ॥ १८४ ॥

अत्रातिमात्राख्ये दोषेऽपि वार्ताभिधानेऽभिधेयस्य कान्तिगुणस्याभ्यनुज्ञानाद् गुणत्वम् ।

यथा वा—

'अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा ।
इदमेवंविधं भावि भवत्याः स्तनजृम्भणम् ॥ १८५ ॥

अत्रातिमात्रत्वेऽपि वर्णनार्थत्वाद् गुणत्वम् । अथानतिमात्रं कीदृक् । उच्यते—

वार्ते तावद्यथा—

'गृहाणि नाम तान्येव तपोराशिर्भवादृशः ।
संभावयन्ति यान्येवं पावनैः पादपांसुभिः ॥ १८६ ॥'

अथ वर्णनायां यथा—

'अनयोरनवद्याङ्गि स्तनयोर्जृम्भमाणयोः ।
अवकाशो न पर्याप्तस्तव बाहुलतान्तरे ॥ १८७ ॥'

जो वाक्य अर्थ में लोक की मान्यता का अतिक्रमण कर जाता है, 'उसको काव्य में अतिमात्र कहा जाता है । इससे बातचीत में विद्वान् लोग ही प्रसन्न होते हैं, अन्य लोग नहीं । यह अतिमात्रता वार्तालाप आदि तथा वर्णन के प्रसङ्गों में भी होती है । वस्तुतः एक सुन्दर वस्तु संसार में तभी सुन्दर कही जाती है जब कि वह लोकप्रसिद्ध अर्थों का अनुगमन करती है । लोकस्वीकृत अर्थ का उल्लंघन करके जो परम्परा प्रवृत्त होतीं है उसे अत्युक्ति कहा जाता है । यह गौड़ों के मनको प्रसन्नता देती है ॥ १४२-१४४ ॥

जैसे—आपकी चरणधूलि के गिरने से इस जनका समस्त कालुष्य धुल गया है । अतः मेरा घर आज से देवागार की भांति पूजनीय हो गया है ॥ १८४ ॥

यहां अतिमात्रत्व दोष होने पर भी बात कहने से अभिधेय कान्ति गुण प्रकट हो जाता है । अतः यहां गुणत्व है ।

अथवा

जैसे—सुन्दरि, विधाता ने विना सोचे समझे ही आकाश को इतना छोटा बना दिया, जब कि तुम्हारे उरोजों का विस्तार इस प्रकार से इतना अधिक होने वाला था ॥ १८५ ॥

यहां अतिमात्रत्व होने पर भी वर्णन का उद्देश्य होने से गुणत्व ही है । (अब प्रश्न यह है कि यदि अतिमात्रत्व दोष इस प्रकार का होता है) तो अनतिमात्रत्व या हीनमात्रत्व दोष कैसा होता है—वह कहाँ होगा ? उसी का उत्तर दे रहे हैं । वार्ता—लोकव्यवहार—में अनतिमात्रत्व वहाँ होता है जैसे—

जैसे—वस्तुतः वे ही घर-घर हैं जिनको आप जैसे तपस्या के निधान महापुरुष अपनी पवित्र चरणधूलि से प्रशस्त किया करते हैं ॥ १८६ ॥

फिर प्रशंसा में भी यही बात है, जैसे—हे सर्वाङ्गसुन्दरि, (वस्तुतः) तुम्हारे इन बढ़ रहे

दोनों उरोजों के लिये तुम्हारी दोनों लतासदृश भुजाओं के बीच पर्याप्त जगह नहीं छूटी है। अर्थात् इन बढते हुये उरोजों की अपेक्षा तुम्हारा वक्षस्थल अत्यन्त संकरा है।

स्व० भा०—भोज के उदाहरण के चारो श्लोक काव्यादर्श (१।९०॥, १।९१॥, १।८६॥, १।८७॥) में मिलते हैं। लक्षण कारिकाओं में केवल कुछ पदों की हेरफेर है। जैसे भोज के १।१४२ के लिये—

लोकातीत इवात्यर्थमध्यारोप्य विवक्षितः। योऽर्थस्तेनातितुष्यन्ति विदग्धा नेतरे जनाः॥
इदमत्युक्तिरित्युक्तमेतद् गौडोपलालितम्। प्रथानं प्राक्प्रणीतं तु सारमन्यस्य वर्त्मनः॥
काव्यादर्श १।८९,९२॥

लोकातीत इति। 'अनामये प्रियालापे वार्तं वार्ता च कीर्त्यते। वर्णनास्वपि' इत्यादिपदविवरणं दृश्यते। कान्तमित्यभिसंबन्धः। लौकिकार्थानुयायि यज्जगति लोके कान्तमुच्यते तथाभूतमतिक्रम्य यत्कवीनां प्रस्थानं प्रवर्तते तदपि गौडानां मनसो मुदे प्रोक्तम्। शब्दाडम्बरात्मकगौडरीतिप्रियाणां विदग्धकामज्ञापकं सङ्गीभवतीति श्लोकार्थः। धिष्ण्यं गृहम्। ननु प्रियालापवर्णनयोरेवंविधा एव लोके काव्ये च वचनसंदर्भा इति नास्त्यतिमात्रतानतिमात्रतयोर्भेद इति पृच्छति— अथेति। सुगममन्यत्॥

(९) परुषत्वदोषगुण

परुषं निष्ठुरार्थं तु यदतीव विगर्हितम्।
विरुद्धलक्षणाद्यासु तदुक्तिषु न दुष्यति॥ १४५॥

यथा—

'हालाहलं विषं भुङ्क्ष्व सखि मा तत्र विश्वसीः।
यद्वा न दह्यसे काष्ठैः स्वल्पैस्त्वमिति मे मतिः॥ १८८॥'

अत्र पारुष्येऽपि विरुद्धलक्षणयार्थान्तरस्य लक्षितत्वाद् गुणत्वम्॥

अर्थ अत्यधिक कठोर होने के कारण परुषत्व दोष माना जाता है। (सहृदयों ने) उसकी अत्यन्त निन्दा भी की है। वह विपरीतलक्षणा आदि से युक्त उक्तियों में दोष नहीं करता॥१४५॥

जैसे—कोई सखी एक नायिका को किसी से मनफेर लेने के लिये कहती है कि "हे सखि, तुम हलाहल विष भले ही पीलो किन्तु उस (अधम) में विश्वास मत करो। अथवा जहाँ तक मैं समझती हूँ क्या तुम थोड़ी सी लकड़ी से जल नहीं सकतीं?"॥ १८८॥

यहां पर अर्थ में अत्यन्त कठोरता होने पर भी विरुद्धलक्षणा के द्वारा दूसरे ही अर्थ का प्रत्यायन होने से गुणत्व ही हैं।

स्व० भा०—किसी से विष खाकर मर जाने के लिये, अथवा थोड़ी सी लकड़ी के साथ जल मरने के लिए स्पष्ट शब्दों में कहने से अधिक कठोरता अर्थ में क्या हो सकती है। किन्तु यह तो अभिधेय अर्थ हुआ। लक्ष्य अर्थ इससे भिन्न हो रहा है यहां तक कि भिन्नता विपरीतता में परिवर्तित हो जाती है। उसका लक्ष्य अर्थ यह हुआ कि नायकविशेष से प्रेम करना, उसका विश्वास रखना हलाहल विष के सदृश अथवा काष्ठ के साथ जलने के सदृश घातक है। अतः उसे प्रेम करना व्यर्थ है। अभिधेय अर्थ देखने से 'विषं भुङ्क्ष्व' आदि पद विधिवाचक लगते हैं किन्तु इनका अर्थ लक्षणा से निषेधवाचक हो जाता है। अतः यहां अर्थ में कठोरता थी अवश्य, किन्तु शान्त हो गई। ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्य ऐसे स्थलों में व्यञ्जना नाम की शब्दशक्ति मानते हैं, न कि लक्षणा।

परुषमिति। विरुद्धलक्षणा लौकिकी तस्या हि झटित्यभिधानाविनाभावादपरुषार्थप्रतीतेरभिधानतः पारुष्यं न दोषो लक्षणापरिग्रहेण च गुणत्वम्। तदाहुः—'अभिधेयाविनाभावप्रतीतिर्लक्षणेति या। सैषा काव्ये दग्धवक्त्रा जीवितं वृत्तिरिष्यते॥' इति।

(१०) विरसत्वदोषगुण

अप्रस्तुतरसं प्राहुर्विरसं वस्तु सूरयः।
अप्राधान्ये तदेष्टव्यं शिष्टैः स्याद्रसवस्तुनोः॥ १४६॥

यथा—

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन्केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण।
आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शांभवो वः शराग्निः॥ १८९॥'

अत्र करुणे शृङ्गारस्याप्रकृतत्वेऽपि शंभुप्रभाववर्णनाङ्गभूतत्वेन द्वयोरप्यप्राधान्याद्वैरस्येन गुणत्वम्॥

जिसमें रस न विद्यमान हो उस उक्ति को विद्वानों ने 'विरस' कहा हैं। यह विरसत्वदोषगुण (रसहीनत्व दशा में नहीं) अपितु एक ही रस और वस्तु के प्रधान न रहने पर भी सहृदयों को मानना चाहिये॥ १४६॥

(त्रिपुरवध के समय निकली) भगवान् शिव की शलाका की वह अग्नि आपके पापों को जला डाले जो रंगे हाथों पकड़ लिये गए कामी की भांति नयनकमलों में आंसू भरे हुई त्रिपुर की युवतियों द्वारा हाथ लगने पर झटक दिया जाता है, वस्त्रों की छोर पकड़ने पर कसकर पीटा जाता है, बाल पकड़ते समय दुतकार दिया जाता है, चरणों पर गिरने पर भय तथा जल्दी के कारण देखा भी नहीं जाता तथा लिपट जाने की चेष्टा करने पर झकझोर दिया जाता है॥ १८९॥

यहां पर करुण में शृङ्गार का समावेश समुचित न होने पर भी शिव के प्रभाव के वर्णन का अङ्ग हो जाने से दोनों रसों के गौण हो जाने से विरसता नहीं हो पाई और गुणत्व हो गया।

स्व० भा०—शृङ्गार तथा करुण ये दोनों रस परस्पर विरोधी हैं। अतः एक ही श्लोक में दोनों का समावेश करना अनुचित है। किन्तु जब वे दोनों ही अप्रधान रूप से—अङ्गभावसे—किसी अन्य रस के साथ आ जाते हैं तब दोषत्व नहीं होता है। प्रस्तुत प्रसंग में ही त्रिपुर का वध करते ससय करुण प्रसंग उपस्थित था क्योंकि उस समय उसकी युवतियों का रोना स्वाभाविक था। इसके साथ ही जो कामुक का औपम्य निरूपित किया गया है उससे संभोगशृङ्गार की सृष्टि हो रही है। दोष होना चाहिये था, किन्तु यहां शिव का पराक्रम वर्णन अभीष्ट है। करुण और शृङ्गार दोनों ही उसकी प्रधानता में आ जाते हैं। अतः इन विरोधी रसों की गौणता हो जाने पर दोष नहीं रहा।

अप्रस्तुतेति। अप्राधान्य इत्युपलक्षणं बाध्यत्वेऽपीति च बोद्धव्यम्। रसवस्तुनोः परस्परविरोधिरसव्यञ्जकयोः। यद्वा मिथोविरोधिरसरूपयोरेव वस्तुनः। तदाह—'बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामविमुक्तता' इति॥

(११) हीनोपमत्वदोषगुण

हीनं यत्रोपमानं स्यादुपमेयं गुणाधिकम् ।
हीनोपमं तदस्याहुः कवयः क्वाप्यदुष्टताम् ॥ १४७ ॥

यथा—

'ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता ॥ १६० ॥'

अत्रोपमानस्य हीनतायामपि रागातिशयहेतुत्वाद् गुणत्वम् ॥

जहां पर उपमान (जाति अथवा प्रमाण में) अपकृष्ट हो और उपमेय गुणों में अधिक हो, उसको हीनोपमत्व दोष कहते हैं । कवियों ने उसको भी कहीं-कहीं निर्दोष कहा है ॥ १४७ ॥

जैसे—उसके बाद कुमुदिनियों के स्वामी, कान्ता के कपोल सदृश दीप्तिमान्, नेत्रों को आनन्द देने वाले चन्द्रमा द्वारा पूर्व दिशा सुशोभित कर दी गई ॥ १९० ॥

यहाँ पर उपमान के अपकृष्ट होने पर भी उसके द्वारा अत्यधिक प्रेम की वृद्धि की जाने से गुण ही हुआ ।

स्व० भा०—सामान्यतः चन्द्रमा उपमान तथा कामिनीकपोल उपमेय के रूप में प्रयुक्त होते हैं । क्योंकि चन्द्रमा कपोल से अतिशयगुणशाली है । किन्तु यहाँ उसे कपोल के सदृश कहा गया हैं अतः उपमान की हीनता और उपमेय की उत्कृष्टता स्वतः सिद्ध हो गई । यद्यपि यह व्यवहार दोष है, तथापि चन्द्रमा उद्दीपन का कार्य तो करता ही है, उसमें बाधा नहीं पड़ी । अतः दोष न होकर गुणत्व सुरक्षित रह गया ।

हीनमिति । जातिप्रमाणाभ्यामपकृष्टं हीनं चन्द्रापेक्षया कामिनीकपोलस्यापकर्षं आसमनस्तुल्यतामुद्दीपनस्य प्रतिपाद्यमानः प्रकृतशृङ्गारप्रकर्षमर्पयिष्यतीति गुणत्वम् । एवमधिकोपमेऽपि ॥

(१२) अधिकौपम्यदोष

यत्रोपमानमुत्कृष्टमुपमेयं निकृष्यते ।
ज्ञेयं तदधिकौपम्यमस्यापि क्वाप्यदोषता ॥ १४८ ॥

यथा—

'कान्त्या चन्द्रमसं धाम्ना सूर्यं धैर्येण चार्णवम् ।
राजन्ननुकरोषि त्वं सौभाग्येनापि मन्मथम् ॥ १६१ ॥'

अस्याधिकौपम्येऽपि राज्ञो लोकपालांशत्वेन शिष्टैरादृतत्वाद् गुणत्वम् ॥'

जहां पर उपमान उत्कृष्ट तथा उपमेय निकृष्ट वर्णित हो, उसे अधिकौपम्यदोष समझना चाहिये । इसकी भी कहीं-कहीं निर्दोषता होती है ॥ १४८ ॥

जैसे—हे महाराज, आप कान्ति में चन्द्रमा का, प्रताप में सूर्य का धैर्य में समुद्र का तथा सौन्दर्य में कामदेव का अनुकरण करते हैं ॥ १९१ ॥ (द्रष्टव्य काव्यादर्श २।५०)

इस छन्द में अधिकौपम्य दोष होने पर भी राजा के लोकपालों का अंश होने से सज्जनों को अभिमत होने के कारण गुणत्व है ।

स्व० भा०—उपमान उपमेय की अपेक्षा तो उत्कृष्ट होता ही है, अतः यह स्वतः सिद्ध है कि

उपमेय उपमान की अपेक्षा अवर होगा। यहाँ उपमान की उत्कृष्टता तथा उपमेय की अपकृष्टता बताने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि यहां दोनों में साक्षात् औपम्यभाव प्रकट नहीं किया जाता है। यहां राजा को तत्तत् पदार्थों का अनुकरण करते बताया गया है न कि पूर्णतः सदृश। दोष का निराकरण इस तथ्य से हो जाता है कि शास्त्रीय विरोध नहीं उत्पन्न हुआ। राजा को आठ लोकपालों का प्रतिनिधि माना जाता है, अतः यदि उसे उसका अनुकर्त्ता कहा गया तो दोष नहीं हुआ। मनु के अनुसार—

"अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः"

उपमानस्य वैधर्म्याद्भवेदसदृशोपमम् ।
तस्याभ्यनुज्ञामिच्छन्ति व्यतिरेकोपमादिषु ॥ १४९ ॥

यथा—

'प्रहितः प्रधनाय माधवानहमाकारयितुं महीभुजा ।
न परेषु महौजसश्छलादपकुर्वन्ति मलिम्लुचा इव ॥ १९२ ॥'

अस्यासदृशोपमत्वेऽपि व्यतिरेकोपपादकत्वाद् गुणत्वम् ॥

(१३) असदृशोपमत्वदोषगुण

उपमान का अन्वय से सादृश्याभाव होने से असदृशोपमत्व दोष होता है। व्यतिरेक, उपमा आदि में उसकी भी निर्दोषता की कविगण इच्छा करते हैं ॥ १४९ ॥

जैसे—शिशुपाल का दूत कहता है (शिशु० १६।५२) कि तुम्हारे पक्ष के यदुवंशियों को ललकारने के लिए राजा के द्वारा मैं भेजा गया हूँ। पराक्रमी लोग चोरों की भांति कपट के द्वारा शत्रुओं का अहित नहीं करते ॥ १९२ ॥

यहां पर उपमा में सादृश्य न होने पर भी व्यतिरेक—आधिक्य का उपपादन—होने से गुणत्व है।

स्व० भा०—कहने का अभिप्राय यह है कि महातेजस्वी तथा मलिम्लुच—चोरकट—का औपम्य समानकोटिक नहीं है, अतः दोष तो हुआ, किन्तु चोर की अपेक्षा महौजस् की उत्कृष्टता का निरूपण होने से यहां गुणत्व ही हुआ, दोष अधिक खटका नहीं। यहां उपमेय की उत्कृष्टता प्रदर्शित होने से व्यतिरेक अलंकार है।

उपमानस्येति। उपमानेन वैधर्म्यमन्वयेन सादृश्याभावात्। व्यतिरेकोपमादीत्यादिग्रहणाद् व्यतिरेकदृष्टान्तोक्त्यादिपरिग्रहः ॥

(१४) अप्रसिद्धोपमत्वदोष

यस्योपमानं लोकेषु न प्रसिद्धं तदिष्यते ।
अप्रसिद्धोपमं नाम तत्क्वचिन्नैव दुष्यति ॥ १५० ॥

यथा—

'उद्गर्भहूणरमणीरमणोपमर्दभुग्नोन्नतस्तननिवेशनिभं हिमांशोः ।
बिम्बं कठोरबिसकाण्डकडारगौरैर्विष्णोः पदं प्रथममग्रकरैर्व्यनक्ति ॥१९३॥'

अस्यां अप्रसिद्धोपमत्वेन दूषणत्वेऽपि द्वयोरपि शृङ्गारोद्दीपकत्वसाम्याद् गुणत्वम् ॥

ऊपर की ओर उठे हुये मध्यभागवाले, अथवा गर्भिणी हूणसुन्दरियों के प्रिय द्वारा मसले जाने से झुक कर नीचे हो गये उरोजों के अग्रभाग के घेरे की भांति चन्द्रमा का मण्डल कठोर मृणाल-तन्तुओं की भांति शुद्ध एवं गौर किरणों के अग्रभाग से सर्वप्रथम विष्णुपद—स्वर्गलोक अथवा अन्तरिक्ष को ही प्रकाशित कर रहा है ॥ १९३ ॥

यहाँ उपमाओं के प्रसिद्ध न होने से दोष होने पर भी दोनों में शृङ्गार की उद्दीपकता की समानता होने से गुणत्व है।

स्व० भा०—चन्द्रमा की उपमा गर्भिणी हूण नारी के ढले हुये श्यामाग्रभाग वाले उरोजों के अग्रभाग से दी जा सकती है, किन्तु यह लोकप्रसिद्ध उपमान नहीं है। यहाँ अप्रसिद्धोपमत्वदोष सिद्ध होता है, किन्तु चमकते हुये स्तन और चन्द्रमा दोनों ही उद्दीपक हैं, अतः शृङ्गाररस में सहायक होने से दोष नहीं हुआ। (द्रष्टव्य वामनकाव्या० ४।२।२॥)

यस्योपमानमिति। लोकप्रसिद्धमेव कविभिरुपमाने कान्तं भवति तेन यत्र लोके प्रसिद्धं तेन सहोपमावर्णने संभवदप्यप्रसिद्धोपमत्वं रसानुप्रवेशेन गुणी भवति। उद्गर्भत्वेन स्तनाग्रश्यामिका तया लाञ्छनानुकरणमभिलपितम् ॥

(१५) निरलंकारत्वदोषगुण

निरलंकारमित्याहुरलंकारोज्झितं वचः।
अर्थौर्जित्येषु तस्यापि क्वचिन्निर्दोषता मता ॥ १५१ ॥

यथा—

'याच्ञां दैन्यपराभवप्रणयिनीं नेक्ष्वाकवः शिक्षिताः
सेवासंवलितः कदा रघुकुले मौलौ निबद्धोऽञ्जलिः।
सर्वं तद्विहितं तथाप्युदधिना नैवोपरोधः कृतः
पाणिः संप्रति मे हठात्किमपरं स्प्रष्टुं धनुर्वाञ्छति ॥ १९४ ॥
अत्र निरलंकारत्वेऽपि अर्थौर्जित्याद् गुणत्वम् ॥

अलंकारहीन उक्ति को निरलंकार कहते हैं। अर्थ में औजित्य आदि प्रकट होने पर कहीं-कहीं उसकी भी दोषहीनता मानी गई है ॥ १५१ ॥

जैसे—दीनता तथा पराजय से सम्पर्क रखने वाली याचना तो इक्ष्वाकुवंशवालों को सिखाई ही नहीं गई है, रघुवंशी ने कभी भी दासभाव से पूर्ण अञ्जली सिर पर भला कब बांधी ? हाय, यह सब भी किया गया उस पर भी समुद्र ने बात नहीं मानी, दया नहीं की। अब तो मेरा हाथ विवश होकर बस धनुष को ही छूना चाहता है, अन्य कामों से क्या लाभ ? ॥ १९४ ॥

यहां पर अलंकार न रहने पर भी अर्थ में औजित्य होने से गुणशालिता है।

निरलंकारमिति। दैन्यपराभवप्रणयिनीमित्याद्युक्तपुष्टिविशेषणयोगादस्तिशब्देऽस्पष्टे वक्रतार्थे तु नास्ति वक्रत्वं चालंकार इति। यद्यपि वाक्यार्थो निरलंकार इव भासते, तथापि विशेषतोऽलंकाराध्यवसायेऽपि सामान्येन वक्रता प्रकाशत एव। नहि लौकिकशास्त्रीयवचनार्थवैपरीत्यमिह प्रतीयते। तदिदमुक्तमर्थौजित्यादिति ॥

अस्ति हि वयं याचामह इत्युक्ते याच्ञा च भिक्षाकरानालक्षिता(?)इत्युक्तौ नायकप्रकर्षाभिव्यञ्जको विशेष इत्याह—

(१६) अश्लीलदोषगुण

असभ्यार्थं यदश्लीलं तदर्थान्तरवाचि वा।
तस्येह दृश्यते भूम्ना प्रयोगो नापि दुष्यति ॥ १५२ ॥

यथा—

'अद्यापि तत्कनककुण्डलघृष्टगण्डमास्यं स्मरामि विपरीतरताभियोगे।
आन्दोलनश्रमजलस्फुटघर्मबिन्दुमुक्ताफलप्रकरविच्छुरितं प्रियायाः ॥१६५॥'

अत्राश्लीलार्थेऽपि कविभिरविगीतत्वाद् गुणत्वम् ॥

सभ्यता से रहित अर्थ वाला जो अश्लीलत्व अथवा दूसरे अर्थ का वाचक दोष है, काव्य में ऐसा देखा जाता है कि प्रायः उसका भी प्रयोग दोषपूर्ण नहीं होता ॥ १५२ ॥

जैसे—विपरीत रतिक्रिया में संलग्न होने पर उसके स्वर्णकुण्डल से रगड़ खाते हुये कपोल वाला और झटापट के परिश्रम से निकली हुई बड़ी-बड़ी मोती के दोनों के समूह की भांति एकत्र हुई पसीने की बूँदों से भरा हुआ प्रियतमा का मुख मुझे आज भी याद है ॥ १९५ ॥

यहां (पुरुषायित रति का वर्णन होने से) अर्थ के अश्लील होने पर भी कवियों द्वारा निन्दनीय न होने से गुणशालिता है।

असभ्यार्थमिति। क्वचित्प्राथमिक एव पदार्थसंसर्गोऽश्लीलः। क्वचित्तु न तस्मिंस्तथाभूतेऽपि संसर्गान्तरमिति यदश्लीलमर्थान्तरवाचि वेत्युक्तम्। कविभिरविगीतत्वादिति। अविपरीताद्विपरीतं रतमुत्कृष्यत इति शास्त्रकारैराम्नानात्तस्य शृङ्गारोद्दीपनतया कविभिरादृतत्वादित्यर्थः ॥

(१७) विरुद्धत्वदोषगुण

देशोऽद्रिवनराष्ट्रादिः कालो रात्रिंदिवर्तवः।
नृत्यगीतप्रभृतयः कलाः कामार्थसंश्रयाः ॥ १५३ ॥
चराचराणां भूतानां प्रवृत्तिर्लोकसंज्ञिता।
हेतुविद्यात्मको न्यायः सस्मृतिः श्रुतिरागमः ॥ १५४ ॥
तेषु तेष्वयथारूढं यदि किंचित्प्रवर्तते।
कवेः प्रमादाद् देशादिविरोधीत्येतदुच्यते ॥ १५५ ॥
विरोधः सकलेऽप्येव कदाचित्कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥ १५६ ॥

पर्वत, वन, राष्ट्र आदि देश हैं। रात्रि, दिन, ऋतु (आदि) काल हैं। काम तथा अर्थ पर आश्रित नृत्य, गीत आदि कला हैं। जंगम तथा स्थावर पदार्थों के व्यवहार लोक नाम से ख्यात हैं। तर्कशास्त्र पर आधारित विद्या न्याय है। स्मृति आदि ग्रन्थों के साथ, शैवागम आदि शास्त्र

वेद हैं—श्रुति हैं। इन इन में जो जैसा नहीं होता है वैसा वैसा होता हुआ यदि कुछ कवि की असावधानी से कहा जाता है, वह सब देश आदि का विरोधी दोष कहा जाता है। कभी-कभी कवि की निपुणता से इन सब में विद्यमान विरोध दोषों के रूप को छोड़कर—कूद कर—गुणों की पंक्ति में समाविष्ट हो जाता है॥ १५३–१५६॥

स्व० भा०—ये पंक्तियाँ दण्डी के काव्यादर्श (३।१६२–६४ तथा १७९) में भी हैं।

(१७ क) देशविरुद्धदोषगुण

तत्र देशविरुद्धस्य गुणीभावो यथा—

'तस्य राज्ञः प्रभावेण तदुद्यानानि जज्ञिरे।
आर्द्रांशुकप्रवालानामास्पदं सुरशाखिनाम्॥ १६६॥'

अत्र देशविरुद्धत्वेऽपि तस्य राज्ञः प्रभावेणेति कारणोपन्यासाद् गुणत्वम्॥

इनमें से देशविरुद्धता का गुण होना (प्रदर्शित) है।

जैसे—इस राजा के प्रताप से उसके उपवन भींगे वस्त्रों से संयुक्त प्रवालपूर्ण कल्पवृक्षों के आश्रय हो गए॥ १९६॥

यहां देशविरुद्ध होने पर भी (क्योंकि कल्पवृक्ष स्वर्ग में ही होता है न कि पृथ्वी पर) उस राजा के प्रभाव का प्रदर्शन करने से, कारण का निर्देश होने से, गुणयुक्तता ही रही।

देशोऽद्रीति। आदिपदेन द्वीपादिपरिग्रहः। कामार्थसंश्रयाः, अर्थसंश्रयाः प्रवृत्तयोऽवस्थाविशेषाः। हेतुविद्या आन्वीक्षिकी। अयथारूढं अप्रसिद्धम्॥

(१७ ख) कालविरुद्धदोषगुण

कालविरुद्धस्य यथा—

राज्ञां विनाशपिशुनश्चचार स्वरमारुतः।
चुम्बन्कदम्बकुसुमैः सह सप्तच्छदोद्गमान्॥ १६७॥'

अत्र कालविरुद्धत्वेऽपि राज्ञां विनाशपिशुन इत्यनिष्टसूचकोत्पातरूपत्वाद् गुणत्वम्॥

कालविरुद्धत्व का उदाहरण,

जैसे—(राजा के द्वारा विजयप्रयाण प्रारम्भ करते ही) शत्रु राजाओं के विनाश की सूचना देने वाली कदम्ब के पुष्पों के साथ छितवन के पुष्पों का भी चुम्बन करती हुई प्रचण्ड वायु बहने लगी॥ १९७॥

यहां देश-विरोध होने पर भी (क्योंकि कदम्ब तथा सप्तपर्ण के फूलने का समय एक नहीं है) 'राजाओं के विनाश का सूचक' यह कहकर अनिष्ट के सूचक उत्पात का निरूपण होने से गुणत्व है (क्योंकि "अकाले फलपुष्पाणामुदये देशविद्रवः" के अनुसार उचित है।)

कालविरुद्धस्येति। उपघात उत्पातः॥

(१७ ग) लोकविरुद्धत्वगुण

लोकविरुद्धस्य यथा—

'ऐन्दवादर्चिषः कामी शिशिरं हव्यवाहनम्।
अबलाविरहक्लेशविह्वलो गणयत्यलम्॥ १९८॥'

अत्र लोकविरुद्धत्वेऽपि कामिभिस्तथा संवेद्यमानत्वाद् गुणत्वम् ॥

लोकविरुद्धत्व की दोषता का गुणरूपत्व (होता है)।

जैसे—प्रेयसी के वियोगजन्य कष्ट से व्याकुल यह कामी तो अग्नि को चन्द्रमा की किरणों से भी शीतल समझता है। अथवा चन्द्रमा की किरणों से निकलने वाली शीतलता को अग्नि समझता है ॥ १९८ ॥

अथवा चन्द्रमा से स्फुलिङ्ग झड़ता हुआ तथा अग्नि को शीतल समझता है।

यहां (चन्द्रमा की किरणों से भी अधिक शीतलता अग्नि में निरूपित करने से अथवा चन्द्रमा की किरणों से प्राप्त शीतलता को भी अग्नि सदृश वर्णित करने से) लोकव्यवहार का विरोध होने पर भी कामियों को इसी प्रकार की अनुभूतियाँ होने से गुण ही है।

स्व० भा०—जयदेव ने भी लिखा है, लाटानुप्रास के उदाहरण में—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥

उदाहरण श्लोक १९६-१९८ के लिए द्रष्टव्य काव्यादर्श (३।१८०, १८१, १८२)

(१७ घ) युक्तिविरुद्धत्वदोषगुण

युक्तिविरुद्धस्य यथा—

'स संकोचश्चन्द्रादिव कुमुदराशेरशरणः
स सूर्यात्कोकानां विरह इह लुप्तप्रतिविधिः ।
गुणेभ्यस्ते खेदप्रशमनकरेभ्योऽपि यदयं
खलानामुद्वेगस्तदिदममृतादेव मरणम् ॥ १९९ ॥'

अत्र युक्तिविरुद्धत्वेऽपि छेकोक्त्या संभाव्यमानोपमया तथाप्रतीतेः गुणत्वम् ।

युक्तिविरुद्धत्व दोष के गुणीभाव का उदाहरण—

कोई व्यक्ति किसी राजा की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि महाराज, समस्त चिन्ताओं को शान्त कर देने वाले आपके गुणों से जो दुष्टों को होनेवाली विह्वलता है, वह तो चन्द्रमा को देखने से हठात् होने वाला कुमुदसमुदायों का संकुचन है, सूर्य के कारण चक्रवाकों को होने वाले अप्रतीकार्य वियोग के सदृश हैं, अमृत से ही मरण है ॥ १९९ ॥

अर्थात् न ये बातें होंगी और न आपके गुणों से किसी को क्लेश होगा।

यहां युक्ति विरोध है (क्योंकि चन्द्रदर्शन से कुमुदिनी संकुचित नहीं होती, सूर्य से चक्रवाक वियुक्त नहीं होते, अमृत से मृत्यु नहीं होती) फिर भी चतुराई पूर्ण कथन के द्वारा हो रही उपमा के कारण युक्ति विरोध न प्रतीत होने से गुणशालिता है।

स संकोच इति । यदि चन्द्रादिभ्यः कुमुदसंकोचादयो भवेयुस्तदा भवद्गुणेभ्यः खलानामुद्वेग उपमीयेत न तु तथा संभवति तेनायमलौकिकत्वादाश्चर्यमर्पयतीति वाक्यार्थपरिपोषात्तथोपन्यासो गुण एवेति ॥

(१७ ङ) औचित्यविरुद्धगुणदोष

औचित्यविरुद्धस्य यथा—

'तेनाथ नाथ दुरुदाहरणातपेन
सौम्यापि नाम परुषत्वमभिप्रपन्ना ।

जज्वाल तीक्ष्णविशदाः सहसोद्गिरन्ती
वार्ग्विपस्तपनकान्तशिलेव सीता ॥ २०० ॥'

अत्र स्त्रीत्वादौचित्यविरोधेऽपि तत्समयोचितत्वाद् गुणत्वम् ॥

औचित्यविरुद्ध की गुणता ऐसे स्थल पर होती है।

जैसे—हे स्वामिन्, इसके बाद उसकी उस कठोरवाणी की गर्मी से अत्यन्त मृदुल होने पर भी सीता कठोरता को प्राप्त हो गई और एकाएक अत्यन्त उग्रता से भरी हुई बातों की चिनगारी छोड़ती हुई वह सूर्यकान्तमणि की भांति धधक उठी ॥ २०० ॥

यहां स्त्री होने के कारण औचित्य का विरोध होने पर भी उस समय के उचित होने से गुणत्व आ गया है।

स्व० भा०—गर्मी पाकर कोई चीज पिघलती है किन्तु सीता को कठोर होते बताया गया है, साथ ही एक नारी का कठोर होना, जिसका सहज गुण ही कोमलता है, भी अखरने की बात है। किन्तु अपमान के अवसरों पर नारी का दृढ़ और कठोर हो जाना भी स्वाभाविक है, अतः औचित्य का विरोध होते हुये भी नहीं हो पाया।

(१७ च) वचनविरुद्धदोषगुण

वचनविरुद्धस्य यथा—

'परदाराभिलाषो मे कथमार्यस्य युज्यते।
पिबामि तरलं तस्याः कदा नु रदनच्छदम् ॥ २०१ ॥'

अत्र वचनविरोधेऽपि वक्तुस्तथाविधावस्थत्वाद् गुणत्वम् ॥

वचनविरुद्धत्व दोष की गुणत्व-प्राप्ति—

जैसे—मेरे जैसे सज्जन व्यक्ति के लिए पराई स्त्री की इच्छा करना कैसे उचित है? हाय, उसके चञ्चल अधरों को कब पी सकूँगा? ॥ २०१ ॥

यहां पर अपने द्वारा उक्त बात का ही विरोध होने पर भी वक्ता की वही अवस्था होने से गुणत्व है।

स्व० भा०—स्वयं कही हुई बात का स्वयं ही विरोध कर जाना वचन-विरोध है। इसी उदाहरण में पूर्वार्ध में अपनी ही सज्जनता का वर्णन करके उत्तरार्ध में कामुकता प्रकट की गई है। अतः विरोध है, किन्तु एक प्रेमविक्षिप्त के द्वारा यह बात कही गई है, अतः औचित्य है।

यह श्लोक काव्यादर्श (३।१३४) में भी है। वहीं दण्डी ने अपना मत व्यक्त किया है कि—

अस्ति काचिदवस्था सा साभिषङ्गस्य चेतसः।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थापि भारती ॥ ३।१३३ ॥

वचनविरुद्धस्येति। अष्टमी कामावस्था ॥

(१७ छ) धर्मविरोधदोषगुण

धर्मविरोधस्य यथा—

'पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां पत्नी पाञ्चालकन्यका।
सतीनामग्रणीस्त्वासीद्दैवो हि विधिरीदृशः ॥ २०२ ॥'

अत्र धर्मविरोधेऽपि दैवो विधिरित्यनेनाभिहितत्वाददोषः ॥

धर्मविरुद्धता होने पर भी (गुणत्व का उदाहरण)—

पांच पाण्डवों की पत्नी होते हुए भी द्रौपदी सतियों में अग्रगण्य थी। दैवी विधान इसी प्रकार का हुआ भी करता है॥ २०२॥

यहां पर धर्मविरोध होने पर भी "दैवी विधि' यह शब्द कहने से दोषत्व नहीं हुआ।

स्व० भा०—वस्तुतः एक से अधिक पतियों को रखने वाली स्त्री सती नहीं हो सकती, फिर उनमें अग्रणी होने की तो बात ही क्या। किन्तु यहां यही निर्दिष्ट है। अनौचित्य अथवा विरोध होने पर भी दैवी विधि का उल्लेख कर देने से दुष्टता समाप्त हो गई। एक ऋषि के वचन से द्रौपदी पांच पतियों की पत्नी बनी थी। (द्रष्टव्य काव्यादर्श ३।१८५)

धर्मविरोधस्येति। दैवो हीति। सिद्धादेशाच्च सतीत्वं पाञ्चालकन्यकायाः। तिरस्कृतमित्यत एव वा पञ्चधा विवचित इत्यागमः॥

(१७ ज) अर्थशास्त्रविरुद्धदोषगुण

अर्थशास्त्रविरुद्धस्य यथा—

'नीतिरापदि यद्गम्यः परस्तन्मानिनो ह्रिये।
विधुर्विधुंतुदस्येव पूर्णस्तस्योत्सवाय सः॥ २०३॥'

अत्रापन्नः शत्रुरभियातव्य इति नीतिः, तच्च मानिनो ह्रिये भवतीतिविरुद्धमपि उद्धतपुरुषभाषितत्वान्न दुष्यतीति गुणत्वम्।

अर्थशास्त्र विरुद्ध बात भी गुणाधायक कैसे होती है, इसका उदाहरण है—

यह नीति है कि जब शत्रु विपत्ति में हो तभी उसपर आक्रमण किया जाये, किन्तु इससे मानियों को लज्जा होती है जिस प्रकार राहु के लिए पूर्णिमा का चन्द्र आनन्ददायक होता है, उसी प्रकार एक वीर के लिए पूर्णावस्था का शत्रु अच्छा पड़ता है॥ २०३॥

'यहां पर विपत्तिग्रस्त शत्रु पर अभियान करना चाहिए' यह नीति है, और यह मानियों के लिए लज्जास्पद होता है, इस प्रकार से विरुद्धता होने पर भी एक उद्दण्ड व्यक्ति के द्वारा कहे जाने से यहां दोष नहीं आता, यही इसकी गुणता है।

अर्थशास्त्रेति। उद्धतपुरुषभाषितत्वादिति। पूर्वपक्षतया सिद्धान्तोपोद्घातत्वादित्यर्थः॥

(१७ झ) कामशास्त्रविरुद्धतादोषगुण

कामशास्त्रविरुद्धस्य यथा—

'दोलातिप्रेरणत्रस्तवधूजनमुखोद्गतम्।
कामिनां लयवैषम्याद् गेयं रागमवर्धयत्॥ २०४॥'

अत्र त्रासतो लयवैषम्येण गेयस्य रागहेतुत्वेऽपि कामिनीमुखोद्गीर्णत्वाद्रागविवर्धनत्वेन गुणत्वम्॥

झूले के वेग से डोलने के कारण भयभीत कामिनियों के मुख से निकला हुआ गान लय में विषमता होने पर भी कामियों में राग बढ़ा रहा है॥ २०४॥

यहां भय के कारण लयहीन गीत के भी रागवृद्धि का कारण बनने पर कामिनियों के मुख से निकलने के कारण राग बढ़ाने से गुणशालिता है।

स्व० भा०—वात यह है कि लयहीन गीत आनन्द की वृद्धि नहीं करता, किन्तु गाने वाली हैं युवतियां—प्रेमिकायें—और सुनने वाले हैं प्रेमीगण, अतः आनन्द संगत है और उचित भी है। यही उदाहरण श्लोक काव्यादर्श—(३।१८२) में मिलता है।

कामशास्त्रेति। लयवैपम्यादिति गीतस्य कलाप्रकथनात्तस्य च विपमलयस्यारञ्जकत्वात्कथं रागवर्धनमिति दूपणं दोलागतागलत्रस्तकामिनीगीतप्रभावोक्तेश्चमत्कारित्वात्तिरोधीयत इति गुणभावं च नीयते। भावान्तरालवर्ती कामो लयः॥

(उपसंहार)

इत्थं गुणाश्च दोपाश्च काव्ये दोपगुणाश्च ये।
आख्यातास्ते स्फुटं संप्रत्यलंकारान्प्रचक्ष्महे॥ १५७॥

इस प्रकार काव्य में जो गुण, दोप और दोपगुण होते हैं, वे स्पष्ट कहे जा चुके, अब अलंकार कहे जायेंगे॥ १५७॥

ननु गुणैरेव शब्दार्थयोः सनाथीकरणे किमलंकारविवेचनप्रयासेनेत्यत आह—

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः॥ १५८॥

अरे, युवती के रूप की भांति शुद्ध गुणों से ही युक्त रहने पर भी काव्य सुन्दर लगता है, किन्तु लगातार अथवा खूब मिलते-जुलते सुन्दर अलंकारों की विशिष्ट रचना से वह और भी अधिक रोचक हो जाया करता है॥ १५८॥

युवतेरिति। अङ्गेत्याक्षेपसंबोधने। अलंकारसाहित्यबुद्धिसंगतिः प्रणयः॥

विकल्पो विशेपस्तर्हि किमुत्तरसिद्धौ पूर्वेणेति न्यायेन त्यज्यन्तां गुणा इत्यत आह—

यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्धमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥ १५९॥

सुन्दरी के जवानी से गठे हुए शरीर की भांति वाणी यदि गुणों से रहित हो जाती है तो लोगों को प्रिय लगने वाले अलंकार भी निःसन्देह असुन्दरता का आश्रय लेते है—अर्थात् वे स्वयं सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर पाते॥ १५९॥

यदि भवतीति। विवृतमेतत्॥

ते चालंकारा यथास्थानं निवेश्यमाना एव सहृदयरञ्जनक्षमा इति कवीञ्शिक्षयति—

दीर्घापाङ्गं नयनयुगलं भूपयत्यञ्जनश्री-
स्तुङ्गाभोगौ प्रभवति कुचावर्चितुं हारयष्टिः।
मध्ये क्षामे वपुषि लभते स्थानकूर्पासलक्ष्मीः
श्रोणीविम्बे गुरुणि रशनादाम शोभां विभर्ति॥१६०॥

कज्जल की छटा दीर्घ अपाङ्गों वाले दोनों नेत्रों को सुशोभित करती है। हारलता अत्युन्नत एवं विशाल दोनों कुचों को सजाने में समर्थ होती है। शरीर के मध्य में—कटि में—अत्यन्त पतली कमर में कूर्पास की समुचित शोभा होती है और विस्तृत नितम्बफलकों पर करधनी की माला शोभा धारण करती है ॥ १६० ॥

इस प्रकार महाराजाधिराज भोजदेव द्वारा लिखित सरस्वतीकण्ठाभरण नामक साहित्यशास्त्र के ग्रन्थ में गुणविवेचन नाम का प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ।

दीर्घेति। तेन शब्दादिविषयविभागेनालंकारविवेचनं सप्रयोजनमेवेति तात्पर्यार्थः। शेषमतिरोहितम् ॥

इति श्रीमिश्ररत्नेश्वरविरचिते रत्नदर्पणनाम्नि सरस्वतीकण्ठाभरण-
विवरणे गुणविवेचनो नाम प्रथमः परिच्छेदः।

द्वितीयः परिच्छेदः

क्षेत्रमध्यं विशालाक्षी यस्याधिवसति प्रिया ।
अविमुक्तप्रतिष्ठाय तस्मै कामद्रुहे नमः ॥
आद्यं स्फुरतु वाग्देव्याः कण्ठाभरणकौतुकम् ।
मयि प्रह्वमनोवृत्तौ तन्वाने रत्नदर्पणम् ॥

एवं दोषगुणेषु निर्णीतेष्वलङ्काराः प्राप्तावसरास्तत्रालंकारसामान्यलक्षणमाद्यपरिच्छेदे तद्विभागं दर्शयन्परिच्छेदत्रयं संगमयति—

अपनी योजना—'निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम् । रसान्वितं कविः···" के अनुसार भोजराज ने निर्दोषता तथा गुणवत्ता का निरूपण प्रथम परिच्छेद से कर दिया था । अब क्रमप्राप्त अलंकारों का वर्णन समुचित है । अतः द्वितीय परिच्छेद में शब्दालङ्कार, तृतीय में अर्थालङ्कार तथा चतुर्थ में उभयालंकार का सोदाहरण विवेचन है । प्रधान, वाह्य अथवा उल्लेख में प्रथम होने से शब्दालङ्कारों का ही निरूपण प्रारम्भ किया जा रहा है । उसी का उपक्रम है ।

(त्रिविध अलंकार)

शब्दार्थोभयसंज्ञाभिरलंकारान्कवीश्वराः ।
बाह्यानाभ्यन्तरान्बाह्याभ्यन्तरांश्चानुशासति ॥ १ ॥

शब्द, अर्थ तथा उभय नामों से संयुक्त अलंकारों (शब्दालंकार, अर्थालङ्कार, उभयालंकार या शब्दार्थालङ्कार) को कविश्रेष्ठों ने वाह्य, आभ्यन्तर तथा बाह्याभ्यन्तर कहा है ॥ १ ॥

स्व० भा०—सामान्यतः सभी पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती आचार्यों ने शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का ही उल्लेख किया है । मम्मट आदि ने पुनरुक्तवदाभास की गणना उभयालंकार में की है । उन लोगों ने इनकी बाह्यता, आभ्यन्तरता तथा बाह्याभ्यन्तरत्व का निरूपण नहीं किया है । भोज ने सम्भवतः इनकी बाह्यता आदि की प्रेरणा भामह से ही पाई थी । क्योंकि भामह ने कहा था कि दो प्रकार के अलङ्कारवादी हैं—अर्थालङ्कारवादी और शब्दालङ्कारवादी—

रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यैर्बहुधोदितः । न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥
रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे । सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी । शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥१।१३–१५॥

यहां यह स्पष्ट है कि भोज की मान्यता भामह के द्वारा चर्चित द्वितीय मत से भिन्न है क्योंकि इनके अनुसार शब्दालङ्कार बाह्य हैं, न कि अर्थालङ्कार । ऐसा प्रतीत होता है कि भोज ने ये नाम अलङ्कारों की प्रतीतिक्रम के आधार पर रखे, जब कि पूर्ववर्ती आचार्य ने प्राधान्य अथवा गौणता के क्रम से । अतः मतभेद स्वाभाविक है ।

शब्दार्थोभयसंज्ञाभिरिति) इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । मध्यमपदलोपी समासः । तेन शब्दालंकारार्थालंकारोभयालंकारसंज्ञाभिरित्यर्थः । गुणप्रस्तावे बाह्यत्वादिकं विवृतं शब्दोऽवच्छेदकतया प्रथमप्रतिसंधेयभावेन च शरीरस्थानीयो बाह्यस्ततस्तदाश्रया अलंकारा अपि बाह्याः । अर्थो विच्छेद्यतया पश्चादनुसंधेयतया चात्मतुल्य आभ्यन्तरस्तेन तदाश्रया अलंकारा अप्याभ्यन्तराः । एतेन बाह्याभ्यन्तरा व्याख्याताः । आश्रयाश्रयिभावश्च यथातथोक्त-

मेव। उभयालंकारेषु योगस्य प्रायिकत्वमाश्रित्य कवीश्वराणामनुशासनमुक्तम्। एतद्विवेचयिष्यते चतुर्थारम्भे ॥

(शब्दालंकार)

शब्दालंकारसामान्यलक्षणमाह—

ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलंकर्तुमिह क्षमाः।
शब्दालंकारसंज्ञास्ते ज्ञेया जात्यादयो बुधैः ॥ २ ॥

काव्य में जो अपनी विशिष्ट उत्पत्ति (स्वरूप आदि) के द्वारा शब्द को अलंकृत करने में समर्थ हैं उन जाति आदि को विद्वान् लोग शब्दालंकार के नाम से जानते हैं।

ये व्युत्पत्तीति। विशिष्टा उत्पत्तिर्व्युत्पत्तिर्लोपागमविकारादिप्रपञ्चः। अत एव हि संस्कृतादिजातयो व्यवतिष्ठन्ते। आदिग्रहणाद् गुरुलघुसंनिवेशादयो गत्याद्यवच्छेदाश्रयोविंशतिरूपात्ताः। बाह्यकङ्कणादिसाम्यादियं संज्ञा प्रवृत्तेत्याह—शब्दालंकारसंज्ञा इति ॥

(शब्दालंकार के २४ भेद)

जातिर्गती रीतिवृत्तिच्छायामुद्रोक्तियुक्तयः।
भणितिर्गुम्फना शय्या पठितिर्यमकानि च ॥ ३ ॥
श्लेषानुप्रासचित्राणि वाकोवाक्यं प्रहेलिका।
गूढप्रश्नोत्तराध्येयश्रव्यप्रेक्ष्याभिनीतयः ॥ ४ ॥
चतुर्विंशतिरित्युक्ताः शब्दालंकारजातयः।
अथासां लक्षणं सम्यक्सोदाहरणमुच्यते ॥ ५ ॥

(१) जाति, (२) गति, (३) रीति, (४) वृत्ति, (५) छाया, (६) मुद्रा, (७) उक्ति, (८) युक्ति, (९) भणिति, (१०) गुम्फना, (११) शय्या, (१२) पठिति, (१३) यमक, (१४) श्लेष, (१५) अनुप्रास, ((१६) चित्र, १७) वाकोवाक्य, (१८) प्रहेलिका, (१९) गूढ, (२०) प्रश्नोत्तर, (२१) अध्येय, (२२) श्रव्य, (२३) प्रेक्ष्य, (२४) अभिनीति ये शब्दालङ्कारों के २४ प्रकार कहे गये है। अब उदाहरण सहित इनके लक्षण भलीभांति कहे जाते हैं ॥ ३–५ ॥

स्व० भा०—भोज द्वारा चौबीस शब्दालंकारों का उल्लेख स्वयं में एक आश्चर्य हैं। आचार्य भरत ने केवल एक शब्दालंकार—यमक—ही माना था। भामह ने इसमें अनुप्रास को भी जोड़कर संख्या दो की। वामन भी दो ही पर टिके रहे। आचार्य दण्डी ने माधुर्य गुण के प्रसङ्ग में अनुप्रास तथा यमक का, अर्थालंकारों के बीच में ही अप्रत्याशित रूप से श्लेष का और अन्त में चित्रालंकार का निरूपण किया है। इस प्रकार संख्या में वृद्धि होती है।

श्लेष की उभयनिष्ठता का प्रतिपादन करते हुए, रुद्रट ने कहा था—

वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।
शब्दस्यालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु ॥ २।१३ ॥

भोज के परवर्तियों ने भी ५–६ अलंकार शब्दाश्रित माने हैं, किन्तु इन्होंने जिस रीति से २४ अलंकारों को एक साथ एकत्रित कर उनको शब्दनिष्ठ घोषित किया, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। वस्तुतः ये सभी शब्दसापेक्ष ही हैं—उसी पर आश्रित हैं।

ते च प्रतिविशेषं वचयन्ते—

शब्दालंकारजातयः शब्दालंकारसामान्यानि ॥

स्वरूपस्थितौ रूपान्तरगवेषणमनुचितम्। अतो जातेः प्राधान्यात्प्रथमं लक्षणमित्याह—

(१) जाति अलंकार

तत्र संस्कृतमित्यादिर्भारती जातिरिष्यते।
सा त्वौचित्यादिभिर्वाचामलंकाराय जायते ॥ ६ ॥

इनमें से संस्कृत आदि वाणी जाति के रूप में अपेक्षित है। वह जाति औचित्य आदि के द्वारा वाणी का अलंकार हो जाया करती है ॥ ६ ॥

तत्रेति। संस्कृतमिति भावप्रधानो निर्देशः। भारतीग्रहणं स्पष्टार्थम्। नन्ववश्यं शब्देन संस्कृताद्यन्यतमेन भवितव्यम्। तत्कोऽत्र कवेः शक्तिव्युत्पत्त्योरंशो येनालंकारता स्यादित्यत आह—सेति। औचित्याकृष्ट एवालंकारः। अस्ति च संस्कृतादेरपि तथाभाव इति भावः ॥

यद्यप्यर्थौचिती पूर्वं दर्शयितुमुचिता तथापि प्राधान्यमावेदयितुं पृथक्त्वौचितीमाह—

संस्कृतेनैव केऽप्याहुः प्राकृतेनैव केचन।
साधारण्यादिभिः केचित्केचन म्लेच्छभाषया ॥ ७ ॥

कुछ लोगों ने केवल संस्कृत के द्वारा, कुछ ने केवल प्राकृत के द्वारा, कुछ ने समान रूप से सब के द्वारा और कुछ ने म्लेच्छ भाषा द्वारा हुई काव्यरचना स्वीकार की है ॥ ७ ॥

स्व० भा०—भोज ने इन कारिकाओं में जाति की परिभाषा तथा कवियों की भाषाविषयक मान्यता का उल्लेख किया है। इनके पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती आचार्यों ने अलंकार-प्रसङ्ग में जाति शब्द का ग्रहण अवश्य किया है किन्तु सर्वत्र अर्थ अपने-अपने प्रकार का है। भोज के अर्थ में तो शायद ही किसी ने प्रयोग किया हो। दण्डी ने भाषा के आधार पर अवश्य ही वाङ्मय का विवेचन किया है, किन्तु उन्होंने भी इनको अलंकार के अन्तर्गत नहीं रखा।

तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा। अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम् ॥
संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः। तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतमयः ॥

काव्या० १।३२-३३ ॥(१)

भोजराज ने इन भाषाजातियों का उल्लेख औचित्य के आधार पर किया था। यह औचित्य कई प्रकार से होता है। इनमें से सर्वप्रथम विषयौचित्य का निरूपण कर रहे हैं—

(विषयौचित्य)

विषयौचितीमाह—

न म्लेच्छितव्यं यज्ञादौ स्त्रीषु नाप्राकृतं वदेत्।
संकीर्णं नाभिजातेषु नाप्रबुद्धेषु संस्कृतम् ॥ ८ ॥

---

(१) वाग्भट ने भी चार प्रकार की भाषाओं में काव्यरचना स्वीकार की है। जैसे—
संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम्। इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य काव्यताम् ॥
संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा शब्दशास्त्रेषु निश्चिता। प्राकृतं तज्जतत्तुल्यदेश्यादिकमनेकधा ॥
अपभ्रंशस्तु तच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्। यद्भूतैरुच्यते किञ्चित्तद्भौतिकमिति स्मृतम् ॥

वाग्भ० २।१-३॥

यज्ञ आदि में म्लेच्छभाषा अथवा अपशब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिये। स्त्रियों में प्राकृत के अतिरिक्त अन्य भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये। शुद्ध जन्मवाले उच्चवर्ग के लोगों में संकीर्ण—मिली-जुली भाषा का प्रयोग नहीं होना चाहिये और जो विद्वान् नहीं हैं उनमें संस्कृत का प्रयोग नहीं होना चाहिए ॥ ८ ॥

न म्लेच्छितव्यमित्यादि। म्लेच्छनमपशब्दः। प्राकृतं संस्कृतभवनम्। अभिजातः शुद्धान्वयः ॥

(वक्त्रौचित्य)

अथ के संस्कृताद्युचितवक्तार इत्यत आह—

देवाद्याः संस्कृतं प्राहुः प्राकृतं किन्नरादयः।
पैशाचाद्यं पिशाचाद्या मागधं हीनजातयः ॥ ९ ॥

देव आदि संस्कृत बोलते हैं, प्राकृत को किन्नर आदि, पैशाच आदि को पिशाचादि तथा मागधी को निम्नकोटि के लोग ॥ ९ ॥

देवाद्या इति। आदिग्रहणेन ऋषिभूमिपतिप्रभृतयः ॥

(वाच्यौचित्य)

वाच्यौचितीं दर्शयति—

संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः प्राकृतेनैव वापरः।
शक्यो रचयितुं कश्चिदपभ्रंशेन जायते ॥ १० ॥

संस्कृत के ही द्वारा कोई विषय और कोई प्राकृत के द्वारा ही तथा कोई अपभ्रंश के ही द्वारा रचा जा सकता है ॥ १० ॥

संस्कृतेनैवेति। यथा हि—देवतास्तुत्यादौ संस्कृतं प्रगल्भते न तथा प्राकृतादि। यथा च सूक्ष्मवस्तुस्वरूपोट्टङ्कने प्राकृतस्य सौष्ठवं न तथा संस्कृतादेरित्यादि ॥

पैशाच्या शौरसेन्यान्यो मागध्यान्यो निबध्यते।
द्वित्राभिः कोऽपि भाषाभिः सर्वाभिरपि कश्चन ॥ ११ ॥

पैशाची, शौरसेनी तथा मागधी आदि के द्वारा भी कोई कोई विषय, कोई विषय दो, तीन भाषाओं के द्वारा और कोई सभी भाषाओं के द्वारा भी निबद्ध होता है ॥ ११ ॥

पैशाच्येति। द्वित्राभिः कोऽपि काव्यसमस्याभेदस्यार्थः। सर्वाभिः कश्चन प्रकरणादेरर्थः ॥

विषयौचित्यमेव क्वचिद्विशेषे कान्तिप्रकर्षमर्पयन्तमाह—

नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया।
कथां गोष्ठीषु कथयँल्लोके बहुमतो भवेत् ॥ १२ ॥

पूर्णतः संस्कृत के ही द्वारा नहीं और पूर्णतः देशभाषा के भी माध्यम से नहीं अर्थात् यथावसर विभिन्न भाषाओं का प्रयोग करके समवयस्कों के समुदाय में कथायें कहता हुआ व्यक्ति अत्यधिक सम्मान का भाजन हो सकता है ॥ १२ ॥

नात्यन्तमिति। समानबुद्धिशीलवयसां विनोदार्थमासनबन्धो गोष्ठी ॥

(देशौचित्य)

देशौचितीमाह—

शृण्वन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः।

अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः ॥ १३ ॥

लाट देश के रहने वाले लाटी भाषा का प्रयोग करते हैं, संस्कृत द्रोही प्राकृत का अथवा संस्कृत के द्वेषी लाटदेश के लोग प्राकृतभाषा को ही मनोज्ञ समझते हैं, गुर्जर प्रदेश के लोग अपनी अपभ्रंश भाषा से ही सन्तुष्ट होते हैं, दूसरों से नहीं ॥ १३ ॥

शृण्वन्तीति । लटभं मनोज्ञम् । स्वेन गुर्जरजातीयेन ॥

ब्रह्मन्विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया ।
गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती ॥ १४ ॥

हे महोदय, मैं आपको सूचित करता हूँ कि अपने अधिकार का परित्याग न करने के लिए या तो गौड़ देश के कवि गाथा को—प्राकृत छन्दरचना छोड़—देंगे अथवा वाणी ही दूसरी होगी, अर्थात् गौड़ देश के लोग प्राकृत को किसी दशा में काव्यभाषा नहीं स्वीकार कर सकते ॥ १४ ॥

ब्रह्मन्निति । ब्रह्मन्नित्यादिना निन्दार्थानुवादेन गौडेषु प्राकृतानौचित्यं राजशेखरेण व्यञ्जितम् ॥

(समयौचित्य)

समयौचितीं दर्शयति—

केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः ।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः ॥ १५ ॥

आढ्यराज शालिवाहन के शासनकाल में कौन प्राकृतभाषी न थे ? और श्रीसाहसाङ्क विक्रमादित्य के समय में कौन लोग संस्कृतभाषी नहीं थे ॥ १५ ॥

स्व० भा०—इस प्रकार सातवीं कारिका से लेकर पन्द्रहवीं तक विभिन्न औचित्यों का निरूपण हो गया । जब ये भाषायें उचित पात्र, विषय, देश, काल आदि के अनुसार ही प्रयुक्त होती हैं, तो इनमें विशेष छटा आ जाती है और जैसे ही ये विपरीत पड़ते हैं वहां अनौचित्य छा जाता है जिससे अलंकार के स्थान पर दोषत्व की सम्भावना अधिक हो जाती है ।

दण्डी ने इन भाषाओं का मात्र विवरणात्मक परिचय दिया है । उनके अनुसार—

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः । सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥
शौरसेनी च गौडी च लाटी चान्या च तादृशी । याति प्राकृतमित्येव व्यवहारेषु सन्निधिम् ॥
आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः । शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥
काव्याद० १।३४-३६ ॥

दशरूपककार के मतानुसार भी—

पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् । लिङ्गिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित् ॥
स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः सौरसेन्यधमेषु च । पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा ॥
यद्देशं नीचपात्रं यत्तद्देशं तस्य भाषितम् । कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः ॥
दशरू० २।६४-६६ ॥

परवर्तियों में आचार्य विश्वनाथ कविराज ने इन प्राकृतों के प्रयोग से सम्बद्ध अत्यन्त स्पष्ट निर्देश दिया है—

पुरुषाणामनीचानां संस्कृतं स्यात्कृतात्मनाम् ॥ १५८ ॥
सौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम् । आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्रीं प्रयोजयेत् ॥

अत्रोक्ता मागधी भाषा राजान्तःपुरचारिणाम् । चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठानां चार्धमागधी ॥
प्राच्यां विदूषकादीनां धूर्तानां स्यादवन्तिजा । योधनागरिकादीनां दाक्षिणात्या हि दीव्यताम् ॥
शबराणां शकादीनां शाबरीं सम्प्रयोजयेत् । बाह्लीकभाषोदीच्यानां द्राविडी द्राविडादिषु ॥
आभीरेषु तथाभीरी चाण्डाली पुक्कसादिषु । आभीरी शाबरी चापि काष्ठपात्रोपजीविषु ॥
तथैवाङ्गारकारादौ पैशाची स्यात् पिशाचवाक् । चेटीनामप्यनीचानामपि स्यात् सौरसेनिका ॥
बालानां षण्ढकानां च नीचग्रहविचारिणाम् । उन्मत्तानामातुराणां सैव स्यात् संस्कृतं क्वचित् ॥
ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्योपद्रुतस्य च । भिक्षुवल्कधरादीनां प्राकृतं सम्प्रयोजयेत् ॥
संस्कृतं संप्रयोक्तव्यं लिङ्गिनीषूत्तमासु च । देवीमन्त्रिसुतावेश्यास्वपि कैश्चित्तथोदितम् ॥
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाविपर्ययः । योषित् सखीबालवेश्याकितवाप्सरसां तथा ॥
वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृतं चान्तरान्तरा ॥ ६।१५८–१६९ ॥

केऽभूवन्निति । आढ्यराजः शालिवाहनः । साहसाङ्को विक्रमादित्यः । ग्रन्थकृत्पूर्वजतया श्रीपदम ॥

ता इमाः परस्परसंकीर्णाः षडेव संस्कृतादिभाषा भवन्तीति सामान्यविभागमेतद्गिर-वनप्रयोजनं चोपसंहरति—

गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतमधुराः प्राकृतधुराः
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसरचनं भूतवचनम् ।
विदग्धानामिष्टे मगधमथुरावासिभणिति-
निबद्धा यस्तेषां स इह कविराजो विजयते ॥ १६ ॥

देवों की वाणी संस्कृत श्रवण के योग्य है । प्राकृत भाषायें तो स्वभाव से ही मधुर हैं । अपभ्रंश भी अत्यन्त शानदार है । पैशाची भाषा की रचना रसयुक्त होती है । मगध तथा मथुरा–सूरसेन प्रदेश–में रहने वालों की भाषायें मागधी तथा सौरसेनी भी विद्वानों को मान्य हैं । जो इन भाषाओं से रचना करने वाला है वही साहित्य में सर्वश्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

गिर इति । दिव्याः संस्कृताः । भूतवचनं पैशाचम् । मथुरावासिभणितिः शौरसेनी । तेषामिति । तच्च भूतवचनं स चापभ्रंशस्ताश्च दिव्याद्या इति 'नपुंसकमनपुंसकेन' इत्येक-शेषः । पाङ्क्तिकं बहुवचनम् । प्रतिभार्थप्राणानां जीवद्वर्णनानिपुणो हि कविः, स एव हि सर्वपथीनताद्युक्तिसिद्धिसंपन्नः कविराजः, अत एव विजयते सकललोकशास्त्रवचननिर्मा-तृभ्यः प्रकर्षेण वर्तत इति ॥

(षोढा जाति)

संस्कृतादिषु यथायोगं शुद्धादिभेदेन जातिः षोढा भिद्यत इत्याह—

शुद्धा साधारणी मिश्रा संकीर्णा नान्यगामिनी ।
अपभ्रष्टेति साचार्यैर्जातिः षोढा निगद्यते ॥ १७ ॥

आचार्यों ने जाति को (१) शुद्धा (२) साधारणी (३) मिश्रा (४) संकीर्णा (५) अन-न्यगामिनी (६) अपभ्रष्टा छः प्रकार का कहा है ॥ १७ ॥

शुद्धा साधारणीति । इह भाषारूपविषयभेदेन भिन्नाः संस्कारा यानधिकृत्य पाणिनि-वररुचि-प्रभृतीनामनुशासनानि व्यवतिष्ठन्ते । तत्रैक एव संस्कारः प्रत्यभिज्ञायते सा

शुद्धा। संस्कारान्तराग्रहणात्। यत्र तु लक्षणसंभेदेन नानासंस्कारसंपातः क्षीरनीरवत्सा साधारणी। रूपसाधारण्यान्नरसिंहवद्भाषाभेदव्यवस्थितभागद्वयात्मिका मिश्रा। रूपमिश्रणात्तिलतण्डुलन्यायेन संकीर्णा। विजातीयवस्त्वन्तरव्यतिरेक एव लोके संकीर्णव्यवहारात्। या पुनः प्रकृतिभावेनापि भाषान्तरसंपर्कं न सहते सानन्यगामिनी। संस्कारसंभेदेन वा प्रकृतिभावेन वा नान्यं गच्छति यतोऽपशब्दरूपा सापभ्रष्टा॥

१. (शुद्धा संस्कृत जाति)

तासूत्तमपात्रप्रयोज्या संस्कृतजातिः शुद्धा यथा—

'उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्या पदानि रचयन्त्याः।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन॥ १॥'

इन छः प्रकारों में उत्तमपात्र के द्वारा प्रयुक्त होने वाली संस्कृत जाति की शुद्धा का उदाहरण इस प्रकार है—

(राजा दुष्यन्त विरहविदग्धा शकुन्तला को प्रणयपत्र लिखते देखकर उसकी दशा का वर्णन कर रहे हैं)—श्लोक की रचना करती हुई इस शकुन्तला का ऊपर उठी हुई भ्रूलता से संयुक्त मुखमण्डल अपने रोमाञ्चित कपोल द्वारा मेरे प्रति इसका प्रेमभाव व्यक्त कर रहा है॥ १॥

तासूत्तमेति। पात्रलक्षणमुत्तमादिभेदश्च पञ्चमे वक्ष्यते। उन्नमितैकेति। पदानि प्रकृतानङ्गलेखोचितानि निर्व्याजप्रेमगर्भाणि। अत एवावापोद्वापप्रतिसंधाननिमग्नमानसायाश्चिन्तानुभावरूपं भ्रूलताविरेचितमिवासीत्। हस्ततलनिहितैककपोलायास्ताद्दक्पुलकितैककपोलदर्शनादतिमानात्मा शृङ्गारः सुप्रबुद्ध इव तत्कालं नायकस्यापीति मिथोऽनुबन्धलक्षणापूर्वानुरागकक्षामधिरूढा रतिरेव काव्यसर्वस्वायते। अत्र च कस्यचित्पदस्य भाषान्तरसाधारण्येऽपि भूयसामुदाहरणत्वम्। एवमन्यत्रापि॥

(शुद्धा प्राकृत जाति)

मध्यमपात्रप्रयोज्या प्राकृतजातिः शुद्धा यथा—

'तुज्झ ण जाणे हिअअं मम उण मअणो दिआ अ रत्तिं अ।
णिक्किव तवेइ वलिअं तुह जुत्तमनोरहाइं अङ्गाइं॥ २॥'

[तव न जाने हृदयं मम पुनर्मदनो दिवा च रात्रिं च।
निष्कृप तपति बलतिस्त्वयि युक्तमनोरथान्यङ्गानि॥]

मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त होने पर प्राकृत जाति होती है, उसके शुद्धाभेद का उदाहरण यह है।

(शकुन्तला प्रेमपत्र में लिखती है—मैं तुम्हारी बात नहीं जानती, किन्तु हे निर्दय, कामदेव तो दिन और रात निरन्तर मेरे हृदय को अत्यन्त सन्तप्त कर रहा है। मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग तो तुम में ही अपनी कामनायें जोड़ बैठे हैं॥ २॥

तुज्झेति। वलिअं बलवत्कृतमभिमुखम्॥

(शुद्धा मागधी जाति)

हीनपात्रप्रयोज्या मागधिका यथा—

'शद माणशमंशभालके कुम्भशहश्श वशाहि शंचिदे।
अणिशं च पिआमि शोणिदे वलिशशदे शमले हुवीअदि॥ ३॥'

[शतं मानुषमांसभारकाः कुम्भसहस्रं वसाभिः संचितम्।
अनिशं च पिबामि शोणितं वर्षशतं समरो भविष्यति॥]

निम्न पात्रों द्वारा प्रयुक्त होने वाली मागधी जाति की शुद्धा का उदाहरण—मनुष्य के मांस से भरे हुए सौ तथा चर्बी से भरे हुये हजारों घड़े मैंने एकत्र कर लिये हैं। मैं निरन्तर रक्त पी रहा हूँ। (अच्छा हो कि) सैकड़ों वर्षों तक युद्ध चलता रहे॥ ३॥

स्व० भा०—यहाँ मांस आदि की प्राप्ति होने से अनवरत युद्ध चलते रहने की कामना पात्र की हीनता द्योतित करती है।

शद माणुशेति। शतं मानुषमांसभरं कुम्भसहस्रं वसाभिः संचितम्। अनिशं च पिबामि शोणितं वर्षशतं समरो भविष्यति॥' अत्र मांसादिलाभहेतुतया समराशंसनं बीभत्समुन्मुद्रयद्धीनपत्रतां द्रढयति॥

नात्युत्तमपात्रप्रयोज्या पैशाची शुद्धा यथा—

'पनमत पनअपकुप्पितगोलीचलनग्गलग्गपडिबिम्बम्।
दससु नहदप्पनेसु एआदसतनुधलं लुद्दम्॥ ४॥'
[प्रणमत प्रणयप्रकुपितगौरीचरणाग्रलग्नप्रतिबिम्बम्।
दशसु नखदर्पणेष्वेकादशतनुधरं रुद्रम्॥]

(शुद्धा पैशाची जाति)

जो अत्युत्तम पात्र नहीं हैं, उनके द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली शुद्धा पैशाची का उदाहरण—उन एकादश शरीर धारण करने वाले रुद्र को प्रणाम करो जिनका मान की हुई गौरी के चरणों पर गिरने से अग्रभाग में पड़ रहा प्रतिबिम्ब इस प्रकार सुशोभित होता है मानों वह नखरूपी दस दर्पणों में पड़ी हुई छाया हो। अथवा उन रुद्र को प्रणाम करो जिनके मान की हुई पार्वती को मनाते समय चरणों पर गिरने से उनके दस नखदर्पणों में पड़ते हुए प्रतिबिम्बों से ऐसा लगता हैं मानों वह (भयभीत होकर एक साथ ही) एकादश शरीरों को धारण करके (दस नखों के १० प्रतिबिम्ब + १ बिम्ब = ११) ही उनके चरणों पर पड़ रहे हों॥ ४॥

स्व० भा०—जो उत्तम से अपकृष्ट तथा मध्यम से उत्कृष्ट हो उसको 'नात्युत्तम' पात्र कहते हैं।

नात्युत्तमेति। उत्तमादपकृष्टं मध्यमादुत्कृष्टं नात्युत्तमम्। 'प्रणमत प्रणयप्रकुपितगौरीचरणाग्रलग्नप्रतिबिम्बम्। दशसु नखदर्पणेष्वेकादशतनुधरं रुद्रम्॥' एवं नाम देवीकोपे भगवतः प्रणयकातरता येन युगपदिव सर्वाभिरपि मूर्तिभिः प्रणमतीति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा॥

नातिमध्यमपात्रप्रयोज्या शौरसेनी शुद्धा यथा—

'तुं सि मए चूअङ्कुर दिण्णो कामस्स गहिदधणुस्स।
जुवइमणमोहणसहो पञ्चब्भहिओ सरो होहि॥ ५॥'
[त्वमसि मया चूताङ्कुर दत्तः कामस्य गृहीतधनुषः।
युवतिमनोमोहनसहः पञ्चाभ्यधिकः शरो भव॥]

(शौरसेनी शुद्धा जाति)

नाति मध्यमपात्र के द्वारा प्रयोग की जाने वाली शौरसेनी शुद्धा जाति का उदाहरण—हे आम्रमञ्जरी, धनुष धारण किये हुए कामदेव के लिए हम तुम्हें प्रदान कर रही हैं। तुम उनके युवतियों के मन को मोहने में समर्थ पांचों बाणों में सर्वोत्कृष्ट बनो॥ ५॥

स्व० भा०—हीन पात्र से उत्कृष्ट तथा मध्यम से अपकृष्ट को नातिमध्यम कहते हैं। यहाँ शाकुन्तल में मधुकरिका तथा परभृतिका दो दासियों की मदनपूजा का वृत्तान्त वर्णित है। ये दासियाँ अत्यन्त अपकृष्ट कोटि की नहीं हैं।

नातिमध्यमेति। हीनादुत्कृष्टं मध्यमादपकृष्टं नातिमध्यमम्। तुं लाति। कामस्य। कामायेत्यर्थः। चतुर्थ्याः 'सम्बन्धसामान्यविवक्षायां षष्ठी' इति सूत्रात् षष्ठी ॥

नातिहीनपात्रप्रयोज्योऽपभ्रंशः शुद्धो यथा—

'लइ वप्पुल पिअ दुद्धं कत्तो अम्हाणहुं छासि।
पुत्तहुमत्थे हत्थो जइ दहि जम्मेवि जअ आसि ॥ ६ ॥'

[गृहाणानुकम्प्य पिब दुग्धं कुतोऽस्माकं तक्रम्।
पुत्रकमस्तके हस्तो यदि दधि जन्मन्यपि जातमासीत् ॥]

प्रायिकं चैतत्। तेन कवेरभिप्रायशक्त्यादिभ्यः सर्वा अपि सर्वप्रयोज्या भवन्ति। ता इमाः शुद्धाः षडेव ॥

(अपभ्रंश शुद्धा जाति)

नातिहीन पात्रों के द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले अपभ्रंश की शुद्धा जाति का उदाहरण—लो, कृपाकरके दूध पियो, हमारे दही कहाँ हैं? पुत्र के सिर पर हाथ रखकर (सौगन्ध खा रही हूँ) जन्म भर में भला कहीं दही हुआ है ? ॥ ६ ॥

यह एक सामान्य नियम है। अतः कवि के उद्देश्य तथा रचना क्षमता आदि के कारण ये सभी प्रकार सबके प्रयोग के योग्य हो जाया करते हैं। तो यह शुद्धा छः ही हैं।

स्व० भा०—हीन से किञ्चित् उत्कृष्ट तथा मध्यम से अपकृष्ट को नातिहीन कहते हैं। उसके द्वारा अपभ्रंश का प्रयोग किया जाता है।

यह एक सामान्य नियम है। अर्थात् उत्तम, मध्यम, हीन आदि पात्रों को इन्हीं भाषाओं का निर्दिष्ट क्रम में प्रयोग करना चाहिये। कवियों को चाहिए कि जब इन पात्रों से कोई बात करानी हो, तब यथोचित क्रम के ही अनुसार भाषाओं का उपयोग करना चाहिये। किन्तु यदि कवि का उद्देश्य कुछ दूसरा ही है, अथवा उसकी कवित्व शक्ति प्रखर है, तो वह इस क्रम का उल्लङ्घन करके भी रचना कर सकता है। वहाँ दोष नहीं समझा जायेगा। व्यतिक्रम के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। भवभूति के 'मालतीमाधव' में सूत्रधार स्वयं ही परिचय कराता हुआ प्रयोजन की भिन्नता का निर्देश करते हुये अपनी भिन्न २ भूमिकाओं में संस्कृत तथा प्राकृत का प्रयोग करता है। कवि शूद्रक अपने 'मृच्छकटिकम्' में अपनी व्युत्पत्ति शक्ति के द्वारा मध्यमपात्र विट से संस्कृत भाषा में बात कराते हैं। इसी प्रकार प्रबन्ध काव्यों में जो संस्कृत में ही होते हैं, विभिन्न स्तर के पात्र भी संस्कृत का ही प्रयोग करते हैं। खण्ड तथा परकथा में जो कि प्राकृत भाषा में होती हैं, उत्तमपात्र भी प्राकृत में ही वार्तालाप करते हैं। 'बृहत्कथा में जो कि पैशाची भाषा में थी, सभी पात्र उत्कृष्टतापकृष्टता का भाव छोड़कर पैशाची का ही प्रयोग करते हैं। यह सब कवि की प्रतिभा के कारण संभव हो सका। सर्वत्र रोचकता तथा सरसता विद्यमान है।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में स्त्री तथा पुरुष की तीन प्रकृतियाँ तथा संकीर्ण इस प्रकार चार प्रकृतियों का उल्लेख किया है—

समासतस्तु प्रकृतिस्त्रिविधा परिकीर्तिता। स्त्रीणां च पुरुषाणां च उत्तमा मध्यमाधमाः ॥ २ ॥
प्रेष्या चैव हि विज्ञेया संकीर्णा प्रकृतावपि ॥ १४ ॥
नपुंसकश्च विज्ञेयः संकीर्णोऽधम एव च। शकाराश्च विटश्चैव ये चान्येऽप्येवमादयः ॥ १५ ॥
अध्याय ३४ ॥

किन पात्रों को कौन सी भाषा का प्रयोग करना चाहिये, आदि विषयों का उल्लेख इसी परिच्छेद में दशरूपककार तथा विश्वनाथ के भी शब्दों में किया जा चुका है।
आचार्य भरत ने—

अतिभाषार्यभाषा च जातिभाषा तथैव च। तथा योन्यन्तरी चैव भाषा नाट्ये प्रकीर्तिताः ॥१७।२६॥
कहकर इनकी सामान्यता सिद्ध की है और विशेष अवस्थाओं में कहा है—
एषामेव तु सर्वेषां नायकानां प्रयोगतः। कारणव्यपदेशेन प्राकृतं संप्रयोजयेत् ॥ १७।३२ ॥

नातिहीनेति। हीनात्किंचिदुत्कृष्टं मध्यमादपकृष्टं नातिहीनम्। लइ वप्पुलेति। लइ गृहाण। वप्पुलेत्यनुकम्पासंबोधने। पिव दुग्धम्। कुतोऽस्माकं छासिपदाभिधेयं तक्रम्। पुत्तहुमत्थे इति शपथः, पुत्रस्य मस्तकेनाहं शपे यदि तक्रस्य व्यापकं दधि जन्मन्यपि जातमासीदिति व्यापकानुपलब्धिः प्रयुक्ता॥

ननु प्राकृतादिपूत्तमादिपात्रव्यतिकरदर्शनात्कथमेषा व्यवस्था घटत इत्यत आह—प्रायिकमिति। यत्र प्रकृतिनिर्वहणोचितविशेषाभिसंधानेन कविरन्यथा प्रवर्तते। यथा मालत्यां संस्कृतमाश्रित्य 'एषोऽस्मि भोः कार्यवशात्प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी संवृत्तः' इत्यादि। यत्र वा कवेर्व्युत्पत्तिकृतो भाषाविपर्यासः शक्त्या तिरस्क्रियते। यथा मृच्छकटिके विटस्य मध्यमपात्रस्यापि संस्कृतोक्तिः। यत्र वा प्रबन्धौचितीपरवशाः संस्कृतादिजातयो विपर्यस्यन्ते। यथा सर्गबन्धादौ मध्यमादेरपि संस्कृतमेव, खण्डकथापरकथादौ उत्तमादेरपि प्राकृतमेव, बृहत्कथादौ पैशाचमेव, वस्तुबन्धादावपभ्रंश एवेति, तत्र संधिसंध्यङ्गघटनासौष्ठवेन रसः पुष्यतीति भरतमुनिप्रभृतीनामतिप्रकाश एव पन्थाः॥

साधारण्यादयः पुनरनन्ताः। तासु मध्यमपात्रभूमिकास्थोत्तमपात्रप्रयोज्या संस्कृतप्राकृतयोः साधारणी यथा—

'सरले साहसरागं परिहर रम्भोरु मुञ्च संरम्भम्।
विरसं विरहायासं सोढुं तव चित्तमसहं मे ॥ ७ ॥'

(२) साधारणी जाति

साधारणी आदि तो असंख्य हैं। इन असंख्यभेद में मध्ममपात्र की भूमिका में स्थित उत्तमपात्र के द्वारा प्रयोग की हुई संस्कृत तथा प्राकृत इन दोनों की साधारणी जाति का उदाहरण दिया जा रहा है। जैसे (मालतीमाधवम् के षष्ठ अङ्क में मध्यमपात्र लवङ्गिका की भूमिका में स्थित उत्तमपात्र माधव अपनी प्रेयसी से कहता है) हे सरलस्वभाव वाली, (मरणरूप) कठोर कर्म की इच्छा छोड़ो, हे कदलीस्तम्भ सदृश जघनोवाली, मरण का प्रयास छोड़ो। मेरा चित्त तुम्हारी दुःखद विरहवेदना को सहने में असमर्थ है ॥ ७ ॥

स्व॰ भा॰—जहाँ पर एकाधिक भाषाओं के शब्द एक साथ नीरक्षीरवत् मिलकर एक सामान्य अपेक्षित रूप धारण किये रह जाते हैं, वहां साधारणी जाति होती है। इसके शब्द एक श्लोक में मिली हुई सभी भाषाओं के व्याकरण के नियमों से साधे जा सकते हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में ही माधव उत्तम पुरुष होने के नाते संस्कृत का प्रयोग करता, किन्तु लवङ्गिका की भूमिका में प्राकृत का प्रयोग भी अपेक्षित था। कवि भवभूति ने अपनी निपुणता से वहां ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो संस्कृत तथा प्राकृत दोनों कहे जा सकते हैं। पाणिनि तथा वररुचि दोनों द्वारा बनाये गये संस्कृत तथा प्राकृत के नियम लग सकते हैं। यहां साधारण्य पद का अर्थ समानता है। यहां संस्कृत तथा प्राकृत के पद नीरक्षीर की भांति एकरूप होते हैं। उनमें दुग्ध क-

रङ्ग तथा जल का द्रवत्व दोनों है। रुद्रट आदि आलंकारिकों ने इसे भाषा-श्लेष का नाम दिया है जिनका उदाहरण भट्टिकाव्य जैसे ग्रन्थों में प्रचुर रूप से मिलता है।

साधारणी के भेदों की असंख्यता आधिक्य का बोधक है। संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, पैशाची, मागधी और अपभ्रंश में संस्कृत से शेष पांचों में एक-एक के साथ साधारण्य करने से पांच भेद होते हैं, प्राकृत से शेष में से एक-एक के साथ साधारण्य करने से चार भेद, शौरसेनी से प्रारम्भ करने पर तीन, पैशाची से दो तथा मागधी से एक, इस प्रकार सब मिलाकर पन्द्रह भेद हुए। इनमें एक तथा द्विविकल्प दोनों का समावेश हो जाता है जिनमें संस्कृत के साथ होने वाले प्रथम तथा प्राकृत आदि के साथ होने वाले द्वितीय कोटि में आते हैं। तीन-तीन भाषाओं का योग होने पर बीस भेद होते है। जैसे—१ सं. प्रा. मा, २. स प्रा. पै., ३. सं. प्रा. शौ, ४ सं. प्रा. अ. ५. प्रा. मा. पै. ६, प्रा. मा. शौ. ७, प्रा. मा. अ. ८. मा. पै. शौ. ९ मा. पै. अ. १०. पै. शौ. अ, ११. सं. मा. पै. १९. सं. मा. शौ., १३. सं. मा. अ., १४. प्रा. पै. शौ., १५. प्रा. पै. अ. १६. प्रा. शौ. अ. १७. सं. पै. शौ., १८. सं. पै. अ., १९, प्रा. शौ. अ., २०. सं. शौ. अ.॥ चार-चार का योग होने पर पन्द्रहभेद पुनः होंगे। जैसे—१-सं. प्रा. मा. पै. २. सं. प्रा. मा. शौ., ३. सं. प्रा. मा. अ., ४. प्रा. मा. पै. शौ, ५. प्रा. मा. पै. अ., ६. मा. पै. शौ. अ., ७. सं. मा. पै. शौ., ८. सं. मा. पै. अ., ९. सं. पै. शौ. अ., १०. प्रा. पै. शौ. अ., ११ सं प्रा शौ अ., १२. सं. मा. शौ अ., १३. सं. प्रा. पै. शौ, १४. सं प्रा. पै अ, १५. प्रा मा, शौ. अ.॥ पांच-पांच भाषाओं का योग होने पर छः भेद होगे। जैसे—१. सं प्रा. मा. पै शौ, २. सं. प्रा. मा. पै. अ., ३. सं. मा. पै. शौ अ, ४, सं प्रा० पै० शौ० अ०, ५. सं० प्रा० मा० शौ० अ०, ३. प्रा० मा० पै० शौ० अ॥ इसी प्रकार छः का योग होने पर केवल एक भेद होगा। इद रूपों में सब मिलाकर (५+१०+२०+१५+६+१=५७) सत्तावन भेद हुये। इनका मिश्रा आदि के साथ और भी उपभेद हो सकता है, किन्तु यहाँ मात्र दिशा का दर्शन कराया जा रहा है।

शाधारण्येति। संस्कृतस्य प्राकृतादिसाधारण्ये पञ्च प्रकाराः, प्राकृतस्य शौरसेन्यादि-साधारणे चत्वारः, शौरसेन्याः पैशाच्यादिसाधारण्ये त्रयः, पैशाच्या मागध्यादिसाधारण्ये द्वौ, मागध्या अपभ्रंशसाधारण्ये एक इति। द्विविकल्पे पञ्चदश प्रभेदाः, त्रिविकल्पे विंशतिः, चतुर्विकल्पे पञ्चदश, पञ्चविकल्पे षट्, षड्विकल्पे एकः, इति सर्वमिलने सप्तपञ्चाशत्प्रकारा साधारणी। एवं मिश्रादावपि लोष्टप्रस्तावक्रमेण वहवो भेदा इति तावदुदाहरणे ग्रन्थगौरवं स्यादिति दिङ्मात्रमुदाहरति—तास्विति। संभिन्नसंस्कारा भाषाप्रयोगे हि प्रयोक्तृप्रकृति-संभेदे भवति। न च प्रकृतिसंभेदस्तात्त्विकः स्वभावसंकरप्रसङ्गात्। अत उक्तं मध्यमपात्र-भूमिकास्थेति। भूमिका वर्णिका। मध्यमपात्रप्रकृत्युचितो रागाद्यभिनयस्तत्र तिष्ठति तत्प-रिग्रहेण त्रिचतुर(?)गवस्सामाजिकानां सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिविलक्षणप्रतिपत्ति-पदवीमवतरतीति मध्यमपात्रभूमिकास्थम्, उपलक्षणं चेदम्। उत्तमभूमिकास्थमध्यमप्रयो-ज्यापीयमेव। एवमुत्तरत्र। तव विरहायासं सोढुं मम चित्तमसहमिति योजना॥

नात्युत्तमभूमिकास्थोत्तमपात्रप्रयोज्या संस्कृतपैशाची साधारणी यथा—

'चम्पककलिकाकोमलकान्तिकलापाथ दीपिताङ्गो।
नृत्यति गजपतिगमना चपलायतलोचना लपितुम्॥ ८॥'

एवं संस्कृतापभ्रंशादि[illegible]धारण्यः प्राकृतादिभाषान्तरसाधारण्यश्च द्रष्टव्याः॥

नात्युत्तमभूमिका में स्थित उत्तमपात्र के द्वारा प्रयोज्य संस्कृत तथा पैशाची का भी साधारण्य होता है।

जैसे—चम्पा की कली की भांति मनोरम छटाओं से संयुक्त, चमकती हुई, गजराज के सदृश मस्त चाल वाली, चञ्चल और विशाल नयनों वाली कामोन्मत्ता प्रेयसी बोलना चाहती है ॥ ८ ॥

इसी प्रकार संस्कृत तथा अपभ्रंश आदि का साधारण्य और प्राकृत आदि तथा अन्य भाषाओं का भी साधारण्य देखना चाहिए।

स्व० भा०—यहां श्लोक में संस्कृत तथा पैशाची का साधारण्य है। यह श्लोक रुद्रट के काव्यालंकार में भी उद्धृत है, किन्तु वहां पाठान्तर है। उसके अनुसार श्लोक यों है—

चम्पककलिकाकोमलकान्तिकपोलाथ दीपितानङ्गी।
इच्छति गजपतिगमना चपलायतलोचना लपितुम् ॥ ४।१९ ॥

भोज द्वारा उद्धृत श्लोक की अपेक्षा यह पाठ अर्थ की दृष्टि से अधिक मनोरम है। वस्तुतः उत्तमपात्र होने के कारण संस्कृत तथा नात्युत्तमभूमिका होने से पैशाची का प्रयोग होना था, किन्तु कवि ने अपनी प्रतिभा से दोनों का समन्वय एक साथ कर दिया है। रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में कई भाषागत साधारण्यों के ऐसे भी उदाहरण दिये हैं जो संस्कृत में भी हैं और उनको प्राकृत आदि जैसा भी पढ़कर पुनः संस्कृत छाया भी दी जा सकती है। (द्रष्टव्य चतुर्थ अध्याय, काव्यालंकार)

नात्युत्तमेति। अनङ्गस्येयमानङ्गी ॥

(३) मिश्रा जाति

वक्तृविषयौचित्यादिप्रयोज्या मिश्रा यथा—

'जयति जनताभिवाञ्छितफलप्रदः कल्पपादपो गिरिशः।
जअइ अ तमल्लिअन्ती गिरितनआ पणइकप्पलआ ॥ ९ ॥'
[जयति च तमालीयमाना गिरितनया प्रणयिकल्पलता।]

एवं भाषान्तराणामपि मिश्रीभावो द्रष्टव्यः ॥

वक्ता और विषय के औचित्यादि से प्रयुक्त होने पर मिश्रा जाति होती है। उसका उदाहरण ऐसे है।

जैसे—लोगों को अभीष्ट फल देने वाले कल्पवृक्ष भगवान् शङ्कर सर्वोत्कृष्ट हैं और उन्हीं में लीन हो रही—सिमटी हुई-सी, प्रेमियों के लिये कल्पलता भगवती गौरी भी सर्वोत्कृष्ट ही हैं ॥९॥

इसी प्रकार अन्य भाषाओं का भी मिश्रितरूप देखना चाहिए।

स्व० भा०—यहां पर उदाहृत श्लोक का पूर्वार्ध संस्कृत में तथा उत्तरार्ध प्राकृत में है। अतः दो भाषाओं का मिश्रण हो जाने से यहां मिश्रा जाति है। साधारणी तथा मिश्रा जातियों में अन्तर यही है कि प्रथम में एकाधिक भाषाओं का मिश्रण नीरक्षीरवत् हो जाता है, दोनों का अथवा सबका समन्वय एक ही रूप में हो जाता है। जब कि इसमें भाषायें नृसिंहन्यायवत् आती हैं अर्थात् नृसिंह की भांति पूर्वार्ध दूसरा तथा उत्तरार्ध दूसरा ही होता है। इनकी भाषायें स्पष्ट रूप में पृथक् होती हैं।

इस प्रकार की परिस्थिति प्रायः उत्तम आदि विभिन्न वक्ताओं द्वारा एक ही समस्या की पूर्ति करते समय, भिन्न-भिन्न भाषाओं द्वारा वर्णनोचित विषय का एक साथ उपक्रम करने पर अथवा अपनी कवित्व-शक्ति के प्रदर्शन के लिए कवि ही अनेक भाषाओं का प्रयोग करने लगता है तभी यह मिश्रता भी अलंकार की कोटि में आ जाती है।

वक्तृविषयेति। यदोत्तमादिषु नानावक्तृभिरेका काव्यसमस्या क्रियते, भिन्नभाषोचित-

वर्णनीयविषयं वा काव्यमेकमुपक्रम्यते, यदा वा शक्तिनिरूपणाय कवेरेव नानाभाषामयं काव्यमारब्धं स्यात्, तदा कथं नालंकारपदवीमध्यास्ते। अत आह—मिश्रेति। तमह्नि- अन्ती तमालीयमाना॥

(४) संकीर्णा जाति

दुर्विदग्धादिपात्रप्रयोज्या संकीर्णा यथा—

'अकटगुमटी चन्द्रज्योत्स्ना कलं किल कोइलो
लवइ अ मुहुर्याम्यो वायुर्निवाअर वाइ अ।
अवि सखि अला रक्ताशोकस्तवापि मनोमुदे
न कज न कजं मानेनाद्य प्रियं प्रतिजाहुदा॥ १०॥'

सोऽयं संस्कृतमहाराष्ट्रापभ्रंशयोगस्तिलतण्डुलवत्संकीर्णा जातिः। एवं प्राकृतापभ्रंशसंकरोऽपि द्रष्टव्यः॥

दुर्विदग्ध आदि पात्रों के द्वारा प्रयुक्त होने वाली संकीर्णा जाति का उदाहरण—अद्भुत सौन्दर्यमयी यह चन्द्रिका है, कोयल भी कर्णप्रिय ध्वनियां कर रही हैं, उस पर भी यह दक्षिण दिशा का निर्वञ्चक पवन भी बह रहा है। हे सखि, तुम्हारे मन को प्रसन्न करने के लिए ('मनोनुदे' पाठ होने पर मनको प्रेरित अथवा व्याकुल करने के लिए) रक्त अशोक भी आ गया है। आज (ऐसी उद्दीपनों की राशि रहने पर तो) मान नहीं करना चाहिये, अरे मान का क्या प्रयोजन? अतः हम तो प्रियतमों के पास जा रही हैं॥ १०॥

यहाँ संस्कृत महाराष्ट्री तथा अपभ्रंश भाषाओं का योग तिलतण्डुलवत् होने से संकीर्ण जाति है। इसी प्रकार प्राकृत और अपभ्रंश का भी संकर देखना चाहिए।

स्व० भा०—जहाँ पर एकाधिक भाषायें परस्पर तिलतण्डुल के समान मिली होती हैं वहाँ संकीर्णा जाति होती है। साधारणी में भाषाओं का मेल नीरक्षीरवत्, मिश्रा में नृसिंहवत् तथा इसमें तिलतण्डुलवत् होता। अर्थात् इसमें न तो सभी भाषाओं का एक ही रूप होता है, न मिश्रा की भांति छन्दों के पूर्वार्ध का रूप ही भिन्न होता है, अपितु इसमें तो विभिन्न भाषाओं के पद छन्द में इस ढङ्ग से एक साथ रखे जाते हैं कि स्पष्टतः यह झलक मिल जाती है कि कौन सी भाषा के ये शब्द हैं। कहीं संस्कृत, कहीं प्राकृत, कहीं अपभ्रंश, कहीं शौरसेनी आदि भाषाओं के पद जहाँ तहाँ चमकते रहते हैं।

यहाँ उदाहृत श्लोक में ही 'चन्द्रज्योत्स्ना' 'कलम्', 'याम्यः', 'वायुः' आदि पद संस्कृत के 'अकटगुमटी', 'कोइलो',, 'लवइ' आदि पद महाराष्ट्री देशी के तथा 'न कज न कजं',, 'जाहुदा' आदि अपभ्रंश के पद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

इनका इस प्रकार का प्रयोग तब होता है जब कोई नागरभाव को प्राप्त व्यक्ति नागर की भूमिका में रहे, अथवा समस्यापूर्ति आदि के पूर्ववर्णित प्रसङ्ग उपस्थित हो जायें। ये उदाहरण मात्र निदर्शन के रूप में हैं। इसी प्रकार के प्रयोग और भी हो सकते हैं।

दुर्विदग्धादीति। नागरकभावमवाप्तस्तद्भूमिकामवलम्बमानो दुर्विदग्धः। आदिपदात्पूर्वोक्ताः समस्यादयः। अकटमाश्चर्यम्। गुमटी मनोज्ञा। आस्फालितखड्गस्येव स्फुरणे लवइ इति महाराष्ट्रदेशी। तथा च प्रयोगः—'लवइ अ विज्जूसणोहरी' इत्याराध्याः। अन्ये तु लपतीत्यर्थमाहुः। एवं च कलशब्दः पुष्यतीति। याम्यो दक्षिणः। निवाअर निर्वञ्चको वारकशून्यो वा इदावारक इति। अला आगतः। यदिह मानो न क्रियेत ज्योत्स्ना-

दयो मनोमुदमेवाधास्यन्तीति प्ररोचना। यदा तु 'मनोनुदे' इति पाठोऽपिशब्देन नायकसाधारणमुत्कण्ठाकारित्वमुक्तं चन्द्रज्योत्स्नादीनामिति। अतो नक्तजनकजन्मार्थो नार्थ ईर्ष्यारोपलक्षणेन प्रतिकूलभावावलम्बिना मानेन तस्मात्प्रियमेव प्रतिजाहुदा यामः, यदामनन्ति स्वयं वा तत्र गमनमिति॥

(५) अनन्यगामिनी असाधारणी जाति

क्रीडागोष्ठीविनोदाद्यर्थानन्यगामिन्यसाधारणी यथा—

'भीष्मप्रोक्तानि वाक्यानि विद्वद्वक्त्रेषु शेरते।
गोसे तिविञ्छिरिञ्छोली तल्लं तूहे विवल्लिदा॥ ११॥'

अत्र पूर्वार्धपदानि संस्कृत एव, उत्तरार्धपदानि प्राकृत एव। सेयमसाधारण्यनन्यगामिनी च जातिरुच्यते। भाषान्तराणां पुनरसाधारण्यं नास्ति॥

(साहित्यिक) खिलवाड़, काव्यसमस्या, गोष्ठी आदि में कौतूहल के लिए अथवा समय व्यतीत करने के लिए (इसी प्रकार) अन्य प्रयोजनों की सिद्धि के लिए अनन्यगामिनी साधारणी जाति होती है। उसका उदाहरण है।

जैसे—भीष्म द्वारा कहे गए वाक्य विद्वानों के मुख में अत्यन्त सुशोभित होते हैं जिस प्रकार कि प्रातःकाल पवित्र तालाब में कमलों की परागपंक्ति फैली हुई सुशोभित होती है॥ ११॥

यहां पूर्वार्ध के पद संस्कृत में ही तथा उत्तरार्ध के पद प्राकृत में ही होते हैं। यह साधारणी जाति से भिन्न अनन्यगामिनी जाति कही जाती है। दूसरी भाषाओं में असामान्यता नहीं रहती।

स्व० भा०—यह श्लोक अनन्यगामिनी का उदाहरण है। अनन्यगामिनी में पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध में क्रमशः संस्कृत तथा प्राकृत के ही पद होते हैं, यह प्रतिबन्ध है। इससे दोनों खण्डों की पृथकता तथा स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है। अन्य भाषाओं का प्रयोग होने पर उनके पदों के परस्पर मिल जाने की सम्भावना रहती है। यहां पार्थक्य विवक्षित होता है जिससे दो अत्यन्त भिन्न भाषाओं का मेल होता है। इसको अनन्यगामिनी कहते भी इसीलिए हैं क्योंकि यह संस्कृत तथा प्राकृत से ही क्रमशः पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के प्रयोग में रहती है और इसके पद परस्पर मिलते नहीं। इसे असाधारणी इसलिए कहते हैं क्योंकि भाषा के पदों में असमानता होती है। साधारणी जाति में निर्दिष्ट भाषायें अपने व्याकरण के अनुसार होती हैं, उनमें संस्कार सम्भव होता है, किन्तु अनन्यगामिनी के पद उत्तरार्ध में देशी होते हैं। व्याकरणहीन होने से ही व्युत्पत्ति आदि का अभाव होने से इनका देशी नाम चरितार्थ होता है। प्रस्तुत उदाहरण में ही पूर्वार्ध संस्कृत में है और उत्तरार्ध प्राकृत के देशी में। मिश्रा में पौर्वापर्य का क्रम नहीं होता है तथा उनमें अन्य भाषाओं का भी समन्वय सम्भव है।

क्रीडेति। काव्यसमस्या क्रीडा, उक्तपूर्वा गोष्ठी, तत्र विनोदो मनोनुकूलेन समयातिवाहनम्। आदिपदं पूर्ववत्। ननु मा भूत्प्रकृतिभावेन भाषान्तरसंभेदः संस्कारसंपाते तु भविष्यति, तथा च कथं साधारणीतो भिद्यत इत्यत आह—असाधारणी चेति। गोसे प्रभाते, तविञ्छिरिञ्छोली कमलरजःपङ्क्तिः। तल्लमल्पसरः। तूहं तीर्थम्। विवल्लिदा प्रसारिता। नात्र पूर्वोत्तरार्धयोरैकमत्यमुदाहरणत्वात्। आराध्यास्तु यथा सरस्तीरे कमलरजःपङ्क्तिः प्रसृता शोभते तथा विद्वद्वक्त्रेषु भीष्मवाक्यानीत्युपमाकल्पनया कथंचिदेकवाक्यतामाहुः। अत्र पूर्वार्धपदानीति। न भीष्मादयोऽनभिधानादिति भाषान्तरस्थानि-

भावस्य प्रतिषेधात्। एवं वाचस्पतिविशिष्टरसवशप्रचेतसपोताद्यो द्रष्टव्याः। प्राकृत एवेति। महाराष्ट्रदेशीयत्वाद्देशीपदानां च स्थानिभावासंभवात्। भाषान्तराणां पुनरिति। सिद्धिर्महाराष्ट्रीतः, सिद्धिः शौरसेनीतः, इत्युपक्रम्यानुशासनात्तद्भवरूपतैव स्फुटा। तत्स-मानां तु साधारण्यमेवेति ॥

(६) अपभ्रष्टा जाति

अपभ्रष्टा यथा—

'मुद्धे गहणअं गेण्हउ तं धरि मुद्दं णिए हत्थे।
णिच्छअउ सुन्दरि तुह उवरि मम सुरअप्पहा अत्थि ॥ १२ ॥'
[मुग्ध ग्रहणकं गृहाण त्वं धारय मुद्रां निजे हस्ते।
निश्चयः सुन्दरि तवोपरि मम सुरतस्पृहास्ति ॥]

सेयमपशब्दप्रयोगतोऽपभ्रष्टाप्यविद्वद्भिः श्रोत्रियाद्यैः प्रयुज्यत इत्यपभ्रष्टा जातिः। अस्या अपि चानुकरण साधुत्वमिष्यते ॥

अपभ्रष्टा का उदाहरण—

हे सुन्दरि, अपना रतमूल्य ले लो। इस अँगूठी को अपने हाथ में धारण करो। हे रूपसी, निश्चित ही तुमसे मेरी रमण की अभिलाषा है ॥ १२ ॥

यहां अपशब्दों का प्रयोग होने से अपभ्रष्ट होने पर भी गँवारों द्वारा, वैदिकों द्वारा (इसी प्रकार) अन्यों के द्वारा भी प्रयोग में लाई जाने वाली अपभ्रष्टा जाति होती है। इसका भी अनुकरण करने पर साधुत्व सिद्ध होता है।

स्व० भा०—अविद्वान् लोग अपनी बुद्धिहीनता के कारण, वैदिक लोक वेदों में जहां तहां ऐसे शब्दों के आने के कारण, बालक लोग अज्ञान आदि के कारण इसी प्रकार अन्य लोग भी अपभ्रष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं जिससे अश्लीलत्व आदि दोष आ जाते हैं। ऐसी दशाओं में होने वाले प्रयोगों को अपभ्रष्ट कहते हैं। उदाहृत श्लोक में ही 'रतमूल्य', 'सुरतस्पृहा' आदि का प्रयोग पदों की अपभ्रष्टता ही सूचित करता है। अतः यहां अपभ्रष्टता भाषा तथा कथन रीति दोनों कारणों से है। वस्तुतः दोष होने से ऐसे प्रसङ्गों को अलंकार नहीं कहना चाहिए तथापि अनुकरण की अवस्था में ये दोष नहीं रह जाते।

अपभ्रष्टेति। अत्र तवोपरि सुरतस्पृहास्तीत्यादिकापशब्दबहुलत्वेनापभ्रष्टा स्पष्टैव। सा तु कथमलंकार इत्यत आह—सेयमिति। श्रोत्रियश्छान्दसः। आद्यपदेन बालादयः। सर्व एव हि लौकिकः पदार्थोऽभिनयकक्षामधिरूढः परित्यज्य ग्राम्यमभिमुखीभूतो विभावा-दिषु कथं नालंकारस्तदिदमुक्तं प्रयोगत इति। न चापशब्दानां दोषत्वमेवेति वाच्यम्। अनुकरणे तु सर्वेषामिति दोषसामान्यावलम्बिना गुणीभावेनास्य विषयीकृतत्वादिति ॥

(ख) गति अलंकार

नानावच्छिन्नजातिः काव्यशरीरे निविशत इति तदवच्छेदरूपां गतिमनन्तरं लक्षयति—

पद्यं गद्यं च मिश्रं च काव्यं यत्सा गतिः स्मृता।
अर्थौचित्यादिभिः सापि वागलंकार इष्यते ॥ १८ ॥

पद्य, गद्य तथा मिश्र (भेदात्मक जो) काव्य है (उसमें एक पद से दूसरे पद तक होनेवाली

पढ़ाई) को गति के नाम से याद किया जाता है। यह गति भी अर्थौचित्य आदि के द्वारा शब्दालंकार के रूप में अभीष्ट है ॥ १८ ॥

स्व० भा०—छन्द के नियमों से संयुक्त रचना को पद्य तथा छन्द सम्बन्धी यति, मात्रा आदि के नियमों से रहित रचना को गद्य कहते हैं। जहां गद्य तथा पद्य दोनों पूर्व अथवा उत्तर क्रम से, न कि एक ही वाक्य में, आते हैं उसको मिश्र कहते हैं। वर्णनीय विषयों के औचित्य के आधार पर इनका विभाजन होता है। इसको अलंकार इसलिए कहते हैं क्योंकि इसके कारण विषय पर असर पड़ता है।

अन्य आलंकारिकों ने भी इन तीनों भेदों को स्वीकार किया है, किन्तु गतिनाम का अलंकार नहीं माना है। दण्डी ने इसे काव्य का तीन प्रकार का भेद स्वीकार किया है।

गद्यं पद्य च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम् ॥ काव्यादर्श १।१४ ॥

पद्यमिति। पठितेः पदात्पदान्तसंचारो गतिः। सा केनचिदौचित्योपनिपातिना संदर्भपरिमाणेन नियम्यते। ततस्तदप्युपचारेण गतिः। पठितिपरिमाणं च काव्यं समाश्रयत इति तदपि गतिस्तच्च पद्यादिभेदेन त्रिविधमिति संक्षेपः। अत एव गद्यबन्धे तु कैश्चिद्वृत्तमाश्रितं वृत्तं वर्तनमियत्तेति यावदिति। सर्वनामशब्दा हि कदाचिदुद्देश्यस्य लिङ्गमाश्रयन्ते कदाचित्प्रतिनिर्देश्यस्येति काव्ये यत्सा गतिरित्युक्तम्। तत्र पद्यं चतुष्पदीति न लक्षणमुल्लालमात्रादौ द्विपदपञ्चपदादिशरीरे तदभावात्। 'अपादः पदसंतानो गद्यमित्यपि न। अपादत्वं ह्यप्रत्यभिज्ञायमानवृत्तभागत्वं, विवक्षातश्चतुष्पदीव्यतिरिक्तत्वं वा। आद्ये वृत्तिगन्धिपद्यं न स्यात्। द्वितीये त्वतिप्रसङ्गः। तस्माच्छन्दोनियमवती काव्यम्, अतथाभूता तु गद्यमिति विभागः। गद्यपद्यात्मकं काव्यं मिश्रम्। तदस्या गतेरलंकारत्वमुपपादयति—अर्थौचित्यादिभिरिति ॥

तत्राथौंचितीमाह—

कश्चिद्गद्येन पद्येन कश्चिन्मिश्रेण शक्यते ।
कवितुं कश्चन द्वाभ्यां काव्येऽर्थः कश्चन त्रिभिः ॥ १९ ॥

वामन ने केवल दो प्रकार गद्य तथा पद्य माना था। उनके अनुसार "काव्यं गद्यं पद्यं च" (१।३।१२) वाग्भट ने विभाजन करते समय परिभाषा भी दे दी है—

छन्दोनिबद्धमच्छन्द इति तद्वाङ्मयं द्विधा।
पद्यमाद्यं तदन्यच्च गद्यं मिश्रं च तद्द्वयम् ॥ वाग्भटालंकार २।४ ॥

कोई गद्य द्वारा, कोई पद्य द्वारा तथा कोई दोनों के मिश्रण से काव्य का विषय बन पाता है। कोई-कोई वर्ण्य विषय तो काव्य में दो-दो के द्वारा और कोई तीनों के द्वारा कवित्वमय बनाया जाता है ॥ १९ ॥

स्व० भा०—भोजराज के मतानुसार कुछ विषय ऐसे हैं जिनका गद्यात्मक वर्णन ही उचित होता है और कुछ का पद्यात्मक ही। कुछ विषय ऐसे अवश्य होते हैं जिनका वर्णन दोनों के मिश्रित रूप से होना अच्छा रहता है अर्थात् कुछ अंश गद्य में हो और कुछ पद्य में। कुछ ऐसे भी हैं जिनका निरूपण गद्य तथा पद्य दोनों से पृथक्-पृथक् भी हो सकता है और कुछ तो ऐसे हैं जिनका निरूपण तीनों प्रकार से हो सकता है। उदाहरणार्थ घनघोर वन का वर्णन गद्य में ही उचित होता है। वह पद्य में उतना सुन्दर वर्णित नहीं हो सकता। बाणभट्ट का विन्ध्याटवीवर्णन इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार अत्यन्त सरस प्रसङ्गों में तथा काव्यशास्त्रता के निर्वाह

में पद्य गद्य की अपेक्षा अधिक सक्षम होगा। कथा तथा आख्यायिका गद्य में और चम्पू आदि मिश्र के लिए उचित है।

कश्चिद्द्वयेनेति। यथा छटवीवर्णनादौ गद्यं प्रगल्भते तथा न पद्यम्, यथा च काव्यशास्त्रतानिर्वहणोचितेऽर्थे पद्यमुत्सहते न तथा गद्यमित्यादि। एवं कथाख्यायिकादौ गद्यमेव, चम्पूप्रभृतौ मिश्रमेवेत्यादिपदोपात्तबन्धौचिती द्रष्टव्या॥

आस्तां तावदर्थाद्यौचित्यगवेषणं स्वरूपेणैव पद्यादिकं परिस्फुरत्कविप्रतिभाविशेषावेदनेन सहृदयावर्जकमवसीयते। कथमन्यथा क्वचिदेव कस्यचित्सौष्ठवमित्याह—

यादृग्गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धेऽपि तादृशः।
गत्यां गत्यामियं देवी विचित्रा हि सरस्वती॥ २०॥

बाण जितने सक्षम गद्यरचना में हैं उतने ही पद्यरचना में भी। ("पद्यबन्धे न तादृश" पाठ होनें पर अर्थ होगा—"उतना पद्यरचना में नहीं।") यह देवी सरस्वती तो प्रत्येक गति पद्य, गद्य तथा मिश्र में विचित्र ही प्रकार की होती है। अर्थात् प्रत्येक गतिभेद में वाणी का स्वरूप भिन्न-भिन्न हुआ करता है॥ २०॥

स्व० भा०—यहां कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक गति में स्वरूपभिन्नता होती है। जो कवि एक प्रकार में पूर्ण सफल है, वह दूसरे में भी वैसा ही हो ऐसा निश्चित नहीं है। कुछ ही भाग्यशाली प्राक्तन संस्कार समन्वित कवि ऐसी क्षमता से संयुक्त होते हैं जो सभी गतिभेदों में समानरूप से दक्ष हों। किन्तु यह क्षमता बड़ी मुश्किल से कुछ ही कवियों में आ पाती है।

यादृगिति। गत्यां गत्यामिति। पद्ये गद्ये मिश्रे चेत्यर्थः। विचित्रा अव्यवस्थितसिद्धिका॥

प्रयोगव्यवस्थामुपपादयति—

यथामति यथाशक्ति यथौचित्यं यथारुचि।
कवेः पात्रस्य चैतस्याः प्रयोग उपपद्यते॥ २१॥

इस गति का प्रयोग कवि तथा पात्र की व्युत्पत्ति, प्रतिभा, औचित्य तथा रुचि के अनुसार होने पर अधिक उत्कृष्ट हो जाता है॥ २१॥

स्व० भा०—गति में उत्कृष्टता तब आती है जब कवि में व्युत्पत्ति प्रचुर होती है। कवि की प्रतिभा के कारण भी इसमें निखार आता है। इनके अतिरिक्त पात्र के अनुकूल गति होने पर उत्कृष्टता और भी बढ़ जाती है। कवि तथा पात्र दोनों की रुचि में समता होने पर भी गति उत्कृष्ट हो जाती है। उपर्युक्त छन्द में गति तथा शक्ति कवि के लिये, औचित्य पात्र के लिए तथा रुचि दोनों के लिए प्रयुक्त है।

यथामतीति। मतिर्व्युत्पत्तिः। युक्तायुक्तविवेक इति यावत्। शक्तिः कवित्वबीजभूतः प्राक्तनः संस्कारः। औचित्यं दर्शितमेव। रुचिर्मनोनुकूलताप्रतिसंधानम्। कवेः पात्रस्येति यथायोगम्। तथा हि शक्तिव्युत्पत्ती कवेरेव। औचित्यं पात्रस्यैव। रुचिरुभयोरपीति॥

गति के भेद

स चायं संदर्भविच्छेदो गुरुलघुसंनिवेशेनैव शोभत इति तमाश्रित्य विभागमाह—

द्रुता विलम्बिता मध्या साथ द्रुतविलम्बिता।
द्रुतमध्या च विज्ञेया तथा मध्यविलम्बिता॥ २२॥

यह गति द्रुता, विलम्बिता, मध्या, द्रुतविलम्बिता, द्रुतमध्या तथा मध्यविलम्बिता के (रूप में) समझी जानी चाहिये ॥ २२ ॥

द्रुतेति। आद्यास्तिस्रः शुद्धाः। आसामेव मिथोऽव्यतिकरेणोत्तरास्तिस्रः संकीर्णाः ॥ कथमेषां व्यवस्थेत्यत आह—

सा लघूनां गुरूणां च बाहुल्याल्पत्वमिश्रणैः।
पद्ये गद्ये च मिश्रे च षट्प्रकारोपजायते ॥ २३ ॥

यह गति लघु तथा गुरु के बहुल तथा अल्पमिश्रणों से पद्य, गद्य तथा मिश्र में छः प्रकार की हो जाया करती है ॥ २३ ॥

स्व भा०—यहां गति के प्रकार निरूपित किये गये हैं। गति के भेदोपभेद गुरु तथा लघु वर्णों के सन्निवेश से बनते हैं। तत्काल लघु के बाद गुरु के निवेश का क्रम स्थापित रखने पर गति में तीव्रता आ जाती है जब कि अनेक गुरु तथा लघु भिन्न गति का निर्माण करते हैं।

इन छः भेदों में प्रथम तीन शुद्ध भेद हैं तथा शेष तीन इन्हीं के संयोग से बने हैं। यहां एक तथ्य और सामने आता है कि गद्य, पद्य आदि गति के भेद नहीं हैं, अपितु इन पर आधारित पढ़ने का क्रम गति है और उसके अनुसार भेदोपभेद का निरूपण होता है।

सा लघूनामिति। बाहुल्यमल्पत्वं मिश्रणं च तुल्यवत्प्रतिभानम्। न गद्यादिकमेव गतिः किंतु तदाधारः पठितिसंचार इति व्यनक्ति—पद्ये गद्ये च मिश्रे चेति ॥

पद्य के भेद

तत्र वृत्तं च जातिं च पद्यमाहुरथो पृथक्।
समं चार्धसमं चैतद्विषमं च प्रचक्षते ॥ २४ ॥

इसमें अलग से पद्य को वृत्त तथा जाति (दो प्रकार का) कहा गया है। इसे भी सम, अर्धसम तथा विषम (तीन प्रकार का) कहा जाता है ॥ २४ ॥

स्व० भा०—पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि जिस रचना में यति, मात्रा, लय आदि पर ध्यान दिया जाता है जिसमें इनकी अपेक्षा होती है, उसे पद्य कहते हैं। पद्यों में भी कुछ वार्णिक होते हैं और कुछ मात्रिक। जिसमें यति आदि वर्णों के आधार पर होती है, जिसमें किसी कार्य में वर्णों को गिना जाता है, उसे वार्णिक वृत्त कहते हैं। संस्कृत के अधिकांश छन्द स्रग्धरा, इन्द्रवज्रा, आदि वृत्त ही हैं। जिनमें मात्राओं के अनुसार यति आदि होती है उसे मात्रिक या जाति कहते हैं जैसे अनुष्टुप्, आर्या आदि। इनमें भी समवृत्त वे हैं जिनके प्रत्येक चरण में एक ही यति आदि का क्रम लगता है। जैसे स्रग्धरा आदि छन्द। अर्धसम में प्रथम तथा तृतीय और द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में रूपात्मक समानता होती है। जैसे पुष्पिताग्रा छन्द। विषम में चारों चरणों में गति, यति आदि असमान होते हैं जैसे वैतालीय में।

काव्य का गद्यपद्यात्मक भेद और पुनः उनका उपभेद संस्कृत के आलंकारिकों में बहुत समय से चला आ रहा है। पद्य के विषय में दण्डी ने लिखा था—

"पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा" १।११ ॥

छन्दोमञ्जरी का रचयिता भी दण्डी से प्रभावित लगता है। उनके अनुसार भी—

"पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा। वृत्तमक्षरसंख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत् ॥ ११ ॥

दण्डीने पद्य के भेद 'मुक्तक', 'कुलक', कोष', 'संघात' आदि रूपों में किया है—

मुक्तकं कुलकं कोषं सङ्घात इति तादृशः । सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः ॥
काव्या० १।१३ ॥

वामन ने "पद्यमनेकभेदम्" १।३।२६ ॥ कहकर व्याख्या दी है—"पद्यं खल्वनेकेन समार्ध-समविषमादिना भेदेन भिन्नं भवति" (वहीं) । इससे स्पष्ट है कि भोज के पूर्व इस प्रकार के विभाजन की परम्परा थी ।

आचार्य भामह ने कई आधारों पर होने वाले भेदोपभेदों का निरूपण एक साथ ही किया है । उन्होंने छन्दआत्मकता के आधार पर गद्य तथा पद्य, भाषा के आधार पर संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश, विषय के आधार पर ख्यातवृत्त, कल्पितवस्तु, कलाश्रित तथा शास्त्राश्रित, स्वरूपविधान के आधार पर महाकाव्य, रूपक, आख्यायिका, कथा तथा मुक्तक भेद किये हैं । उन्हीं के शब्दों में—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा । संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥
वृत्तं देवादिचरितशंसि चोत्पाद्यवस्तु च । कलाशास्त्राश्रयं चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः ॥
सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे । अनिबद्धं च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते ॥

विश्वनाथ ने ध्वनिभेदों का निरूपण करने के पश्चात् पुनः इन्द्रियों की ग्रहणीयता के आधार पर ये भेद किये हैं ।

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम् । दृश्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥
छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् । द्वाभ्यां तु युग्मकं सांदानितकं त्रिभिरिष्यते ॥
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम् । सर्गबन्धो महाकाव्यम्……… ॥ सा०द०६।३।१५ ॥

तत्रेति । वर्णनियतं छन्दोवृत्तम् । मात्रानियतं जातिः । समप्रस्तावं समम् । प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च तुल्यप्रस्तावमर्धसमम् । उभयबहिरर्धं विषमम् ॥

गद्य के भेद

गद्यमुत्कलिकाप्रायं पद्यगन्धीति च द्विधा ।
द्विधैव गद्यपद्यादिभेदान्मिश्रमपीष्यते ॥ २५ ॥

गद्य उत्कलिकाप्राय तथा पद्यगन्धी इन दो प्रकारों का है । मिश्र भी गद्यपद्य आदि भेद से दो ही प्रकार का कहा गया है ॥ २५ ॥

स्व० भा०—दण्डी ने गद्य की परिभाषा तथा भेदों का निरूपण यों किया है—
अपादः पदसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा । इति तस्य प्रभेदौ द्वौ……… ॥ काव्यादर्श १।२३॥
वामन के काव्यालंकारसूत्र में 'गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायं च ॥ २२ ॥ तल्लक्षणान्याह—पद्यभागवद्वृत्तगंधि ॥ २३ ॥ पद्यस्य भागा पद्यभागास्तद्वत् वृत्तगन्धि । यथा—पातालतालुतलवासिषु दानवेषु इति । अत्र हि वसन्ततिलकाख्यस्य वृत्तस्य भागः प्रत्यभिज्ञायते । अनाविद्धललितपदं चूर्णम् ॥ २४ ॥ ………विपरीतमुत्कलिकाप्रायम् ॥ २५ ॥ १।३

आचार्य विश्वनाथ ने गद्य के चार भेदों को स्वीकार किया है ।
वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च ॥ ६।३३० ।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम् । आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम् ॥ ६।३३१ ॥
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम् । सा० द० ३३२ ॥

स्पष्ट है कि गद्य के भेद का आधार समास है। वृत्तगन्धि वस्तुतः शुद्धगद्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह तो छन्द का ही अंश होता है।

भोज ने केवल दो भेदों को स्वीकार करने के बाद शेष भेदों का प्रत्याख्यान भी किया है। इसीलिये अग्रिम कारिका की भूमिका है।

गद्यमिति। उत्कलिका कल्लोलस्तत्प्रायम्। उच्चावचमिव प्रतिभासमानमित्यर्थः। यथा—'सलीलकरकमलतालिकातरलवलयावलीकम्' इति। वृत्तगन्धि प्रतिभातवृत्तैकदेशम्। तदेतदल्पाख्यायामुत्पन्नेन समासान्तेन व्यञ्जितम्। तदयमर्थः—सामान्यतः पद्यादिभेदेन गतिस्त्रिधा। तत्रापि जात्यादिभेदेन षट्प्रकाराः। तेऽपि द्रुतादिभेदेन षट्त्रिंशदिति॥

अन्यभेदनिरास

ननु ललितादयो गद्यभेदाः कैश्चिदलंकारकारैः परिसंख्यातास्ते कस्मान्नोच्यन्त इत्यत आह—

ललितं निष्ठुरं चूर्णमाविद्धं चेति योऽपरः।
विशेषः स तु गद्यस्य रीतिवृत्त्योर्भविष्यति॥ २६॥

ललित, निष्ठुर, चूर्ण तथा आविद्ध ये जो गद्य के अन्य विशेष भेद भी स्वीकार किए गये हैं वे (स्वतन्त्र भेद नहीं हैं, क्योंकि इनका अन्तर्भाव) रीति तथा वृत्ति में हो जाता है॥ २६॥

स्व० भा०—भोज गद्य में अन्यभेद नहीं स्वीकार करते। वह शेषों का अन्तर्भाव रीति अथवा वृत्तियों में यथास्थान कर देते हैं। रत्नेश्वर ने इनके अन्तर्भाव का निरूपण किया है—ललितं कैशिक्यादौ, निष्ठुरमारभट्यादौ, चूर्णं वैदर्भ्यादौ आविद्धं गौडीयाप्रभृतौ यथायथमन्तर्भवति इति नोक्तभेदाः परिसंख्यातः इत्यर्थः।

इस प्रकार गति के सब मिलाकर छत्तीस भेद हो जाते हैं। प्रथम तो गद्य, पद्य तथा मिश्र ये तीन भेद हुए। ये भी वृत्त तथा जाति से संयुक्त होते हैं तब छः भेद होते हैं। इन भेदों में से भी प्रत्येक के द्रुता, विलम्बिता, मध्या, द्रुतविलम्बिता, द्रुतमध्या तथा मध्यविलम्बिता ये छः छः भेद होने से सब मिलाकर (६×६=३६) छत्तीस भेद हुये।

ललितमिति। सुकुमारसंदर्भं ललितम्। यथा—'कमलिनीवनसंचरणव्यतिकरलग्ननलिननालकण्टके वने क्वचिन्निर्भरं पदमादधाति' इति। प्रस्फुटसंदर्भं निष्ठुरम्। यथा—'उत्तम्भितकुटिलकुन्तलकलापः श्मशानवाटमवतरति' इति। अनुल्लिखितसमासं चूर्णम्। यथा—'अभ्यासो हि कर्मणः कौशलमादधाति। न खलु संनिपातमात्रेणोदबिन्दुरपि ग्रावणि निम्नतामादधाति' इति। उद्भटसमासमाविद्धम्। यथा—'कुलिशशिखरखरतरस्वरप्रचयप्रचण्डचपेटपाटितमत्तमातङ्गमदच्छटाच्छुरितचारुकेसरभारभासुरमुखे केसरिणि' इति। रीतिवृत्त्योरिति विषयसप्तमी। तथा ललितं कैशिक्यादौ, निष्ठुरमारभट्यादौ, चूर्णं वैदर्भ्यादौ, आविद्धं गौडीयाप्रभृतौ, यथायथमन्तर्भवतीति नोक्तभेदाः परिसंख्याता इत्यर्थः॥

उक्तप्रकारेषु किंचिदुदाहरति—

तत्र पद्यभेदेषु समवृत्ते द्रुता गतिर्यथा—

'आद्य विजहीहि दृढोपगूहनं त्यज नवसंगमभीरु बल्लभम्।
अरुणकरोद्गम एष वर्तते वरतनु संप्रवदन्ति कुक्कुटाः॥ १२॥

सेयं समवृत्ते लघुसंयुक्ताक्षरभूयस्त्वाद् द्रुता गतिः॥

इनमें से पद्य के भेदों में से समवृत्त में द्रुतागति का उदाहरण—

अरी ! प्रिय का प्रगाढ़ आलिङ्गन छोड़ दे । अरे नवीन समागम से डरने वाली प्रियतम को छोड़ । अब सूर्य का उदय हो रहा है । सुन्दरि ! मुर्गे बोल रहे हैं ॥ १३ ॥

यहाँ समवृत्त में लघु का बाहुल्य तथा संयुक्ताक्षरों के प्रेम से द्रुतागति है ।

स्व० भा०—प्रस्तुत श्लोक में मालती नामक वृत्त हैं । इसके चारो चरण समान हैं जिनमें १२–१२ वर्ण हैं । इसका लक्षण है—"भवति नजावथ मालती जरौ ।" यहाँ प्रत्येक पाद में ८ लघु तथा ४ गुरु हैं (गुरु वर्णों के आधिक्य से पढ़ने में आरोह अधिक होता है और फलतः समय भी अधिक अपेक्षित होता है । अतः गति द्रुत नहीं हो पाती है । यहाँ पर लघु वर्णों का ही आधिक्य होने से गति में तेजी है ।

तत्रेति । नवसंगमभीर्विति संबोधनम् । भीरुशब्दादूङ्, तस्मात्संबोधनह्रस्वे रूपम् । गर्भगृहस्था नालोकयति चेत्तदाह—संप्रवदन्तीति । अत्र प्रतिपादमष्टौ लघवश्चत्वारो गुरव इति लघुबाहुल्ये संयोगाक्षराणामुद्रेके च ताललयवदतिव्यक्त एव द्रुतभावः ॥

समवृत्ते विलम्बिता यथा—

'प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः ।
पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः ॥ १४ ॥

सेयं स्थाने स्थाने गुर्वक्षरयोगाद्विलम्बिता गतिः ।

समवृत्त में विलम्बिता का उदाहरण है—

(इस ग्रन्थ) के कारणभूत, महान् ऐश्वर्यशाली मुनि कणाद को प्रणाम करने के बाद अतिशय उत्कर्ष देनेवाले पदार्थधर्म के संग्रह के विषय में कहता हूं ॥ १४ ॥

यहाँ पर स्थान-स्थान पर गुरु अक्षरों की योजना होने से विलम्बिता गति हुई ।

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण में 'प्रमाणिका' नामक समवृत्त है जिसमें ४, ४ पर यति होती है और प्रत्येक पाद में ८–८ वर्ण होते हैं । इसका लक्षण है—"प्रमाणिका जरौ लगौ" । यहां गुरु वर्ण इस क्रम से एक के बाद एक रखे गये हैं कि आरोह के आधिक्य से विलम्ब अधिक हो जाता है । अत एव यहां विलम्बिता गति है ।

प्रणम्येति । अत्र यद्यपि पादचतुष्टये गुरुलघूनां समसंख्यत्वमेव, तथापि संयोगाक्षरैरन्तरान्तरा पठितिदीर्घाभावोन्मेषपादारोहप्राधान्ये विलम्बिता । एवं व्युत्क्रमेण समानिकायामपि विलम्बितैव यथा—'मीनजालघटितानि सूर्यरश्मिबोधितानि । मत्तषट्पदाकुलानि पश्य भीरु पङ्कजानि ॥' इति ।

तदिदमाह—सेयमिति । तेन विभागसूत्रे गुरुलघुमिश्रणमेवंरूपमपि बोद्धव्यमिति ॥

तत्रैव मध्या यथा—

'आसीद् दैत्यो हयग्रीवः सुहृद्वेश्मसु यस्य ताः ।
वदन्ति स्म बलं बाह्वोः सितच्छत्रस्मिताः श्रियः ॥ १५ ॥'

सेयं नातिलघ्वक्षरत्वान्मध्या गतिः ॥

इसी वृत्त में ही मध्यागति का उदाहरण है—

हयग्रीव नाम का एक दैत्य था, जिसकी भुजाओं का पराक्रम उसके मित्रों के घरों में श्वेतछत्र की छटा-सी धवल मुसकान वाली सम्पत्तियाँ ही कहा करती थीं ॥ १५ ॥

प्रस्तुत श्लोक में अत्यधिक लघु अक्षरों के न होने से यहां मध्यागति है ।

स्व० भा०—इस उदाहरण में अनुष्टुप् वृत्त है। उसका लक्षण है—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघुपंचमम्। द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

वैसे भी इसमें प्रत्येक चरण में ८-८ वर्ण होते हैं। प्रस्तुत छन्द में अधिक लघु वर्ण नहीं हैं और गुरु वर्णों का भी संनिवेश इस क्रम से है कि यहाँ पढ़ने पर गति न तो अधिक तीव्र ही है और न मन्द ही, अर्थात् मध्यम कोटि की है। इसका अनुभव तो पढ़ने से तथा पूर्व भेदों के उदाहरणों की तुलना से भी होता है।

आसीदिति। अत्र यद्यपि गुरवो बहवस्तथापि न द्रुतिर्न विलम्बनं पठितेरित्यनुभवसाक्षिकोऽयमर्थस्तदेतदाह—नातिलघ्वक्षरेति॥

द्रुतविलम्बिता यथा—

'अवतु वः सवितुस्तुरगावली स्फुरितमध्यगतारुणनायका।
समवलङ्घिततुङ्गपयोधरा मरकतैकलतेव नभःश्रियः॥ १६॥'

सेयं द्रुताया विलम्बितायाश्च गतेरन्तरानुप्रवेशाद् द्रुतविलम्बिता गतिः।

द्रुतविलम्बिता का उदाहरण—

बीच में चमकती हुई लालमणि से संयुक्त तथा अत्युन्नत उरोजों का सम्यक् लङ्घन करनेवाली, आकाशलक्ष्मी की मरकत की एकमात्र माला की भांति बीच में स्थित रथवाहक अरुण से चमकती हुई, ऊँचे-ऊंचे बादलों का भी अतिक्रमण कर जाने वाली सूर्य की तुरगावली आपकी रक्षा करे॥ १६॥

द्रुता तथा विलम्बिता दोनों गतियों के इस छन्द के भीतर समाहित हो जाने से द्रुतविलम्बिता गति है।

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण में द्रुतविलम्बित छन्द भी है। इसका लक्षण है—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।" इसमें प्रत्येक चरण में १२-१२ वर्ण होते हैं। यहां ध्यान देने पर स्पष्ट हो जायेगा कि प्रथमतः लघु वर्णों को एक साथ रख देने से द्रुति आ जाती है और बाद में गुरुवर्णों का सन्निवेश होने से अवरोध उत्पन्न हो जाता है। अतः पढ़ने में द्रुति तथा विलम्ब दोनों का भाव होने से द्रुतविलम्बिता गति है।

अवतु वा इति। अरुणो गरुडाग्रज शोणश्च। नायको नेता हारमध्यमणिश्च। पयोधरा मेघाः स्तनौ च। तदेतस्मिन् द्रुतविलम्बिताख्ये वृत्ते समाख्यैव रूपं बोधयतीति॥

द्रुतमध्या यथा—

'अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः॥ १७॥'

सेयं द्रुताया मध्यायाश्च गतेरन्तरानुप्रवेशाद् द्रुतमध्या गतिः।

द्रुतमध्या का उदाहरण—

(राजा दशरथ ने) घोड़े के अत्यन्त निकट ही उड़ रहे सुन्दर बर्हों वाले मयूर को अपने शरों का लक्ष्य नहीं बनाया क्योंकि उनके मन में (उसे देखने से) विभिन्न प्रकार की मालाओं से गुथे हुए, मैथुन कर्म के समय ढीले पड़ गये बन्धनोवाले प्रेयसी के केशकलापों की सहसा याद आ गई॥ १७॥

द्रुत तथा मध्या दोनों गतियों में परस्पर प्रविष्ट हो जाने से प्रस्तुत श्लोक से द्रुतमध्या गति है।

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण में मालिनी वृत्त है जिसका लक्षण है—"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः"। यह १५ वर्णों के पदवाला छन्द है। इस छन्द में प्रथम लघुवर्णों के विन्यास के कारण द्रुतिभाव है। बाद में गुरु तथा लघु का सन्निवेश मध्या की स्थिति उत्पन्न करता है। अतः यहां द्रुतमध्या है।

अपि तुरगेति। उत्पन्नाचिर्भवद्बर्हगतोज्ज्वलविचित्रकोमलमयूरस्तत्कालमव्याजप्रेम-निर्यन्त्रणकण्ठग्रहविलुलितप्रियाकेशपाशवासनाविकासहेतुः सर्वस्वायमानः कथं बाणल-वयतां सहत इति च्विप्रत्ययेन व्यज्यत इति। अत्र पादचतुष्केऽपि प्रथमं द्रुता पश्चान्मध्या च भागशः प्रत्यभिज्ञायत इत्याह—सेयमिति॥

मध्यविलम्बिता यथा—

'दुन्दुभयो दिवि दध्वनुरुच्चैरुच्चकराः कपयश्च ववल्गुः।
सिद्धनिकायकराब्जविमुक्तं माल्यमथाङ्गदमूर्ध्नि पपात॥ १८॥'

सेयं मध्यायाश्च विलम्बितायाश्च गतेरन्तरानुप्रवेशान्मध्यविलम्बिता गतिः॥

मध्यविलम्बिता वहां होती है जैसे—

आकाश में जोर-जोर से दुन्दुभियाँ बज उठीं, हाथ उठा-उठाकर बन्दर भी चिल्लाने लगे, सिद्धसमूहों के करकमलों से छूटी माला अङ्गद के मस्तक पर गिरी॥ १८॥

यह मध्या तथा विलम्बिता गतियों के एक दूसरे में समा जाने से मध्यविलम्बिता गति का उदाहरण है।

स्व० भा०—यहाँ दोधक छन्द है। उसका लक्षण—"दोधकमिच्छति भत्रितयाद्गौ।" इसके एक चरण में १२ वर्ण होते हैं जिनके प्रथमार्ध में गुरु तथा लघु का कुछ विरल सन्निवेश होने से मध्यता आ जाती है तथा द्वितीयार्ध में प्रायः गुरुवर्ण तथा संयुक्ताक्षर होने से पढ़ने में विलम्ब होता है। अतः लक्षण के अनुसार ही उदाहरण भी है।

समवृत्तों में द्रुता आदि भेदों का निरूपण करने के पश्चात् भोजराज अन्य उदाहरणों तथा लक्षणों के प्रति उदासीनता व्यक्त कर रहे हैं। यद्यपि उनके लक्षण तथा उदाहरण का यहां समुचित स्थान है, और वे काव्य में दृष्टिगोचर भी होते हैं तथापि ग्रन्थ-गौरव से बचने के लिये मात्रिक छन्दों तथा गद्य और मिश्र काव्यों का उदाहरण पाठकों पर छोड़ देते हैं।

(जैसे समवृत्तों में विलम्बिता आदि भेदों के उदाहरण दिये गए हैं) उसी प्रकार अर्धसम तथा विषम का मात्रिक छन्दों—जातियों में तथा गद्य और मिश्र काव्यों में लघु और गुरु से मिले हुये वर्णों के सन्निवेश को विशेष रूप से अधिकता के आधार पर द्रुत आदि गतियों की खोज करनी चाहिये। (अब आगे केवल दिशानिर्देश के लिये कुछ के उदाहरण दिये जायेंगे।)

दुन्दुभय इति। अत्रापि प्रतिपादं पूर्वं मध्या ततो विलम्बिता च खण्डशः प्रतिभासत इति दर्शयति—सेयमिति।

एवमर्धसमविषमयोर्मात्राच्छन्दःसु गद्यमिश्रयोर्लघुगुरुसम्मिश्रवर्णविन्यासवि-शेषभूयस्त्वेन द्रुतादिगतयो गवेषणीयाः॥

एवमिति।

इमामेव व्यवस्थामर्धसमादिष्वप्यतिदिश्यत इति दिङ्मात्रमुदाहरति—

तत्र विषमवृत्तच्छन्दसि द्रुता यथा—

'अथ वासवस्य वचनेन रुचिरवदनस्त्रिलोचनम्।
क्लान्तिरहितमभिराधयितुं विधिवत्तपांसि विदधे धनंजयः॥ १६ ॥'

इनमें से विषमवृत्त छन्द में द्रुता का उदाहरण—

इसके बाद इन्द्र के कहने से प्रसन्नमुख अर्जुन निरलसभाव से नियमपूर्वक भगवान् शङ्कर की आराधना के लिए तपस्या करने लगे ॥ १९ ॥

स्व० भा०—इस छन्द में उद्‌गता नाम का विषमवृत्त है। उसका लक्षण है—

प्रथमे सजौ यदि सलौ च, नसजगुरुकाण्यनन्तरम्।
यद्यथ भनजलगाः स्युरथो, सजसा जगौ च भवतीयमुद्‌गता॥

इसके चारों चरणों में असमानता है। अतः विषमता हुई। गणों की अपेक्षा होने से यह वृत्त है और सर्वत्र लघुवर्णों का ही आधिक्य होने से पढ़ने में द्रुति भी है। यह श्लोक किरात (१२।१) का है।

अर्धसमच्छन्दसि विलम्बिता यथा—

'विहितां प्रियया मनःप्रियामथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम्।
उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदरः॥ २६ ॥

अर्धसम छन्द में विलम्बिता का उदाहरण—

अपनी प्रिया द्रौपदी के द्वारा कही गई और मन को प्रिय लगने वाली बातों को महत्त्वपूर्ण समझ कर भीम ने राजा युधिष्ठिर से तर्कयुक्त एवं ओज से भरे हुये वचन कहना शुरु किया ॥२०॥

स्व० भा०—यह छन्द किरात (२।१) का है जिसमें वियोगिनी नामक अर्धसम वृत्त है। इसके प्रथम तथा तृतीय और द्वितीय तथा चतुर्थ चरण समान हैं। इसका लक्षण है—'विषमे ससजा गुरुः समे, सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी।' इसमें लघुवर्णों का भी सन्निवेश ऐसी रीति से है कि उनको भी पढ़ने पर गति अत्यन्त मन्द ही रहती है। फिर गुरुवर्णों के पढ़ते समय तो कहना ही क्या?

उत्कलिकाप्रायगद्ये द्रुता मध्या च यथा—

'व्यपगतघनपटलममलजलनिधिसदृशमम्बरतलं विलोक्यते।
अञ्जनचूर्णपुञ्जश्यामं शार्वरं तमः स्त्यायते॥ २१ ॥'

उत्कलिकाप्रायगद्य में द्रुता तथा मध्या का उदाहरण।

"मेघाडम्बर से हीन आकाशतल निर्मल सिन्धु की भांति दृष्टिगोचर होता है।"

"कज्जल के चूर्ण की राशि की भांति काला काला रात्रि का अन्धकार बढ़ रहा है॥ २१ ॥

स्व० भा०—जिस प्रकार एक जलाशय में लहरें उठती हैं और उसका जल कहीं ऊँचा कहीं नीचा दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार जिस गद्यखण्ड में लघु और गुरु के सन्निवेश से आरोह तथा अवरोह का क्रम दृष्टिगत हो वहाँ उत्कालिकाप्रायगद्य होता है। यहाँ उद्धरण के प्रथम खण्ड में लगभग २० वर्णों का लघु होना तथा अन्त में कुछ गुरुवर्णों का आना उसमें द्रुति उत्पन्न करता है। द्वितीय खण्ड में लघु तथा गुरुका सन्निवेश इस प्रकार का है कि उसमें न तो

अधिक द्रुति ही है और न तो अधिक विलम्बित्व ही । अतः इन्हें गद्यखण्ड होने से तथा तरंग सी गति होने से उत्कलिकाप्राय मानना उचित ही है।

उत्कलिकाप्रायेति । उच्चावचभावेन प्रतिभासमानमुत्कलिका । यथा—'सलीलकरकमलतालिकातरलयावलीकम्' इति । तथैव तदपि प्रकृतोदाहरणमिति व्यक्तम् । 'पाताल-' इत्यादौ वसन्ततिलकाभाग इव, 'हर इव' इत्यादावार्याभाग इति प्रतिभातीति ॥

पद्यगन्धिगद्ये वृत्तगन्धौ मध्या, जातिगन्धौ द्रुता यथा—

'पातालतालुतलवासिषु दानवेषु ।'

'हर इव जितमन्मथो गुह इवाप्रतिहतशक्तिः ॥ २२ ॥' इति ।

अब पद्यगन्धि गद्य में वृत्तगन्धि की मध्या गति तथा जातिगन्धि की द्रुता गति का उदाहरण है।—जैसे—

"पाताल के मुखभाग में वसने वाले दानवों में "तथा" शंकर की भांति काम को जीतनेवाला और कुमार की भाँति अनवरुद्ध पराक्रम वाला"॥ २२ ॥

स्व० भा०—यहाँ दिये गये दोनों उद्धरण पद्यगन्धि गद्य के उदाहरण हैं। पद्य वृत्त तथा जाति दो प्रकार का होता है। अतः पद्यगन्धि का उदाहरण देते समय दोनों का ही उदाहरण देना समीचीन भी है। यहाँ प्रथम उद्धरण वसन्ततिलका जैसे वार्णिक छन्द का एक चरण सा लगता है। वसन्ततिलका का लक्षण है—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः" और यह लक्षण यहाँ स्पष्ट ही घट जाता है। इसी प्रकार दूसरा भी आर्या-सदृश मात्रिक छन्द अर्थात् जाति का एक अंश सा लगता है, यद्यपि है गद्य ही। अतः यहाँ जातिगन्धता है। आर्या का लक्षण है—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥

।।।। ।।S। S ।। ।S।।।। S S

यहाँ—हर इव जितमन्मथो गुह इवाप्रतिहत शक्तिः = ११ + १३ = २४

यहाँ पूर्वार्ध होने पर ३० तथा उत्तरार्ध होने पर २७ मात्रायें होनी चाहिये थी, किन्तु केवल २४ ही होने से इसकी पूर्वार्धता तथा उत्तरार्धता नहीं सिद्ध होती हैं। किन्तु संभव है ९ प्रकार की आर्याओं में से किसी एक विशेष प्रकार का हो, अन्यथा तो यह आर्या का भाग न होने पर भी आर्या के भाग सा दीखता ही है अथवा प्रथम और तृतीय चरण एक साथ हो सकता है।

आगे मिश्र भेद का उदाहरण दिया जायेगा। किन्तु मिश्र भी दो प्रकार का होता है एक तो वह जिसके प्रथम भाग में गद्य हो और बाद में पद्य दूसरा भेद तब होता है जब कि पहले पद्य हो बाद में गद्य। यहाँ प्रथम प्रकार का उदाहरण पहले दिया जा रहा है।—

वृत्तगन्धौ मध्या, जातिगन्धाविति । 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य' (७।१।७४) इति पुंवद्भावेन नुम्न भवति ॥

गद्यादौ मिश्रे गद्यपद्ययोर्द्रुतमध्या यथा—

'हन्त, पुण्यवानस्मि, यदहमतर्कितोपनतदर्शनोल्लसितनयनयानया—
अविरलमिव दाम्ना पौण्डरीकेण नद्धः
स्नपित इव च दुग्धस्रोतसां निर्झरेण ।
कवलित इव कृत्स्नश्चक्षुषा स्फारितेन
प्रसभममृतवर्षेणैव सान्द्रेण सिक्तः ॥ २३ ॥'

गद्य से प्रारम्भ होने वाले मिश्र में गद्य तथा पद्य दोनों में द्रुतमध्या का उदाहरण है—
(मालती के द्वारा देखे जाने पर माधव स्वगत ही कहता है) अरे, मैं तो बहुत ही पुण्यशाली हूँ, क्योंकि मैं अप्रत्याशितरूप से दर्शन हो जाने से विस्फारित नेत्रों वाली इस मालती के द्वारा देखा क्या गया हूँ (बल्कि इसके नेत्रों के मुझ पर पड़ने से मुझे ऐसा लगता है कि) मानों इसके द्वारा श्वेत कमलों की माला से कसकर जकड़ दिया गया होऊँ, मानों दूध की धार के प्रवाह से नहला दिया गया होऊँ, फैले हुये नेत्रों से मानों पूर्णतः निगल लिया गया होऊँ और हठाद् सघन अमृतवृष्टि द्वारा भिगो दिया गया होऊँ ॥ २३ ॥

स्व० भा०—गद्य तथा पद्य दोनों को मिलाकर एक वाक्य पूरा होने से यहाँ मिश्र भाव है। गद्यखण्ड में लघु तथा गुरु का विन्यास इस क्रम से हो गया है कि प्रथमार्ध में द्रुति तथा उत्तरार्ध में समभाव-मध्यमता—है अतः यहाँ भी द्रुतमध्यभाव सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार छन्द में भी मालिनी होने के कारण प्रत्येक चरण का प्रथमार्ध लघुवर्णों से संयुक्त होने के कारण द्रुतभाव से युक्त है और उत्तरार्ध संयुक्ताक्षर और गुरु से संयुक्त होने के कारण न अधिक अवरुद्ध ही है और न तो अधिक द्रुत ही अतः मध्यम कोटि का होने से मध्या है।

हन्तेति। आश्चर्यस्तिमितस्य हन्तेत्येव वागनुभावस्ततोऽभिमानोन्मेषे पुण्यवानस्मीति अनन्तरं लोकोत्तरविभाववर्णनात्वरितस्य यदहमित्यादिगद्यपर्यवसान एवाविरलमित्यादि-वृत्तमाविरासीदिति। मध्ये विच्छेदकारणानुपपत्तौ गद्यपद्याभ्यामेकवाक्यम् ॥

पद्यादौ मिश्रे द्रुतविलम्बिता यथा—

> 'असौ विद्याधारः शिशुरपि विनिर्गत्य भवना-
> दिहायातः संप्रत्यविकलशरच्चन्द्रमधुरः।
> यदालोकस्थाने भवति पुरमुन्मादतरलैः
> कटाक्षैर्नारीणां कुवलयितवातायनमिव ॥ २४ ॥

अत्र बालसुहृदा मकरन्देन सह विद्यामान्वीक्षिकीमधीते। स एष माधवो नाम इति ॥

पद्य से प्रारम्भ होने वाले मिश्रभेद का द्रुतविलम्बित (वहाँ होता है) जैसे—
(नगर में आये हुये माधव को देखकर कामन्दकी कहती है कि) यह विद्या का आधार, शरत्कालीन पूर्णचन्द्र की भांति मुखमण्डल वाला माधव बच्चा ही होने पर भी घर से निकल कर यहाँ इस समय आया है। इसे देखने के स्थानों पर खड़ी हुई नारियों के उन्माद से विह्वल कटाक्षों के कारण पूरा नगर ऐसे लगता है मानों उसके गवाक्ष नीले नीले कमलों से भर दिये गये हों। (अर्थात् स्त्रियाँ इसे देखने की उत्कट कामना से दौड़ कर झरोखों से झांकती हैं। उनके कजरारे नयन नीलकमल से सुशोभित होते हैं)॥ २४ ॥

यहाँ अपने लड़कपन से ही साथ रहने वाले मकरन्द के साथ आन्वीक्षिकी विद्या-न्यायशास्त्र का अध्ययन करते हैं। यही वह माधव हैं।

स्व० भा०—यहाँ शिखरिणी छन्द के बाद गद्यांश आया है। अतः मिश्र का यह द्वितीय प्रकार हुआ। छन्द में प्रथमगति तक तो द्रुतभाव है और आगे ऐसा वर्णों का क्रम है कि विल-म्बित हो जाती है। यही दशा गद्यखण्ड में भी 'अत्र से सह' तक द्रुति तथा शेष में अवरोध है। अतएव यहाँ द्रुतविलम्बित भाव है।

असाविति। दूतीकल्पे कयाचित्प्रच्छन्नप्रार्थनीयया 'आसंभोगमुन्नयेद्' इत्याम्नातम्।

तदिहोत्प्रेक्षामनोहरग्राम्यमालोकनमुक्तम् । तेनैकस्मिन्वर्णनीयवस्तुनि वृत्तप्रपञ्चेनोक्ते प्रकृतसंगतिमात्रं गद्येन कृतवतीति युक्तेयमानुपूर्वी वाक्यैकवाक्यता चेति ॥

(३) रीति अलंकार

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः ।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥ २७ ॥

विदर्भ आदि देशों में उत्पन्न होने वाले लोगों के द्वारा बनाया गया रास्ता काव्य में मार्ग इस नाम से स्मृत है । 'रीङ्' गतौ अर्थात् गत्यर्थक रीङ् धातु से निष्पन्न होने के कारण रीति भी कही जाती है । (अर्थात् जिसे पूर्ववर्ती लोग मार्ग कहते थे उसे ही रीति कहते हैं । इस रीति की व्युत्पत्ति "रीङ् गतौ" धातु से है ।)

स्व० भा०—रीति का काव्य में विशेष महत्त्व है । वामन ने इसको काव्य की आत्मा कहा और एक नवीन रीति सम्प्रदाय की स्थापना की । इनके पूर्ववर्तियों में 'दण्डी' ने सर्वप्रथम दो रीतियों को स्वीकार करके उनका स्पष्ट विवेचन प्रारम्भ किया । उन्होंने अन्य मार्गों को स्वीकृत करते हुए भी दो को ही प्रमुख माना है ।

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् । तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ ॥ १।४० ॥
इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात् । तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रति कविस्थिताः ॥१।१०१॥

दण्डी के पूर्ववर्ती भामह ने भी वैदर्भी तथा गौडी को मार्ग की ही संज्ञा दी है ।—

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे । तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम् ॥
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक् । गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥
ननु आश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते । कामं तथास्तु प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते ॥
अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् । गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ॥
१।३१–३३,३५ ॥

इस प्रकार कुछ आलंकारिक इसे मार्ग और कुछ रीति कहते हैं । चूंकि इसी पदरचना के द्वारा ही कविगण दुनियाभर की खोज करते हैं अतः इसे मार्ग कहते हैं । रीतिपद का अर्थ है—'रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यनयेति"—अर्थात् जिसके द्वारा परम्परया चला जाता है, उसे रीति कहते हैं । रीति पद मार्ग का पर्याय है । भोज ने दोनों की एकार्थता की ओर संकेत करते हुये रीति की व्युत्पत्ति दी है ।

भोजराज केवल व्युत्पत्तिगत अर्थ देकर शान्त हो रहे हैं, किन्तु इनके पूर्ववर्ती आचार्यों में इस पद को लेकर अधिक चर्चा हुई है । भामह की ऊपर उद्धृत पंक्तियों से स्पष्ट है कि वह अभेदवादी हैं । उनकी दृष्टि में उनके समय में चलने वाला वैदर्भी तथा गौड़ी रीतियों की सत्ता तथा महत्ता का विवाद निःसार था । वह शब्द तथा अर्थ की वक्रता को सौन्दर्य का मूल कारण मानते थे, न कि रीतियों को । उन्हीं के शब्दों में—

'न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम् । वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः ॥
१।३६ ॥

भामह की दृष्टि में प्रथम तो वैदर्भी, गौडी जैसा भेद करना ही अनुचित है और यदि किया भी जाता है तो मात्र पदप्रयोग होने से अनिवार्यतः सौन्दर्याधायक नहीं हो सकता ।

दण्डी ने रीति को गुण का आधार माना है और गुणों को रीतियों का प्राण कहा है—

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः । एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥ १।४२॥

वामन ने तो रीति को ही काव्य का प्राण कहा है और गुणात्मक पदरचना को रीति। अर्थात् इनके यहाँ पदरचना ही रीति है जिसका प्राण गुण है। इस प्रकार दण्डी तथा वामन के मतों में एक बात समान है कि दोनों ही गुण के आधार पर रीति की स्थिति स्वीकार करते हैं, न कि रीति के आधार पर गुण।

आनन्दवर्धन भी रीति को गुणाश्रित ही मानते हैं, किन्तु रीतियों का स्वरूप-निर्धारण समास करते हैं नकि गुण, इस प्रकार का भी एक मत वह प्रस्तुत करते हैं—

असमासा, समासेन मध्यमेन च भूषिता। तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता॥ कैश्चिद्
गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन्, व्यनक्ति सा। रसान्, ॥ ३।५–६॥

इसी प्रसङ्ग में उन्होंने गुण तथा सङ्घटना के सम्बन्ध-विषयक अनेक मत दिये हैं।

वस्तुतः यह रुद्रट हैं जिन्होंने समस्तता तथा असमस्तता के आधार पर रीतियों का विभाजन किया है—

नाम्नां वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासभेदेन। वृत्तेः समासवत्यास्तत्र स्यू रीतयस्तिस्रः॥
पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः। लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र॥
वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव॥ २।३,४,६॥

राजशेखर ने 'वचनविन्यासक्रमो रीतिः' कहा है। किन्तु भोज द्वारा दिये गये विभिन्न रीतियों के लक्षणों से स्पष्ट होता है कि वह रीति में समास, गुण तथा कर्णप्रियता इन तीनों को समवेत रूप से आवश्यक मानते हैं। इनके मत की सबसे बड़ी विशेषता तो यही है कि यह रीति को शब्दालंकार मानते हैं, न कि अङ्गसंस्थामात्र। विश्वनाथ ने पदसङ्घटना को ही रीति माना है और उसका काव्य में वही महत्त्व स्वीकार किया है जो एक रमणी के शरीर में गठन का होता है।

वैदर्भादीनिति। गुणवत्पदरचना रीतिः। गुणाः श्लेषादयः काव्याव्यभिचारिणो नव। तेषामन्योन्यमीलनक्षमतया पानकरस इव, गुडमरिचादीनां खाडव इव मधुराम्लादीनां यत्संमूर्च्छनरूपावस्थान्तरगमनं तत्संस्कारादेव हि लोकशास्त्रपदरचनातः काव्यरूपा च रचना व्यावर्तते। अत एव सृग्यते कविभिरासंसारमिति मार्गपदेनोच्यते। वैदर्भादयो विदर्भादिदेशप्रभवास्तैः कृतमुखहेवाकगोचरतया प्रकटितो न तु तत्तद्देशैः काव्यस्य किंचिदुपक्रियते॥ पन्था इति। प्रतिष्ठन्ते हि महाकविपदवीलाभार्थिन इति। ईदृशमेव। रीतिलक्षणमानन्दवर्धनादीनामपि मतम्। एतदुपलक्षणतया सूत्रं व्याख्यातम्। कथं पुनरुक्तमुपमादे रीतिपदं प्रवृत्तमित्यत आह—रीङ् गताविति। रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यनयेति करणसाधनोऽयं रीतिशब्दो मार्गपर्याय इत्यर्थः॥

रीति के छः भेद

एवं सिद्धे सामान्यलक्षणे विभागमाह—

वैदर्भी साथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते॥ २८॥

यह रीति (१), वैदर्भी, (२) पाञ्चाली, (३) गौडीया, (४) आवन्तिका, (५) लाटीया, (६) मागधी इन छः प्रकारों की कही जाती है॥ २८॥

स्व० भा०—भामह वैदर्भी, गौडी आदि रीतियों का तथा उनकी उच्चावचता का प्रपञ्च नहीं चाहते। दण्डी वैदर्भी तथा गौडी दो ही मार्गों को स्वीकार करते हैं, इसका भी निरूपण

किया जा चुका है। वामन ने केवल तीन रीतियाँ मानी हैं—"सा त्रिधा—वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति" ॥ १।२।९ ॥ रुद्रट का मत देखा ही जा चुका है कि वह वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी रीतियाँ मानते हैं। विश्वनाथ के भी शब्दों में—

......सा पुनः स्याच्चतुर्विधा। वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा ॥ ९।१-२ ॥

जब कि वाग्भट जोर देकर कहते हैं कि—

द्वे एव रीती गौडीया वैदर्भी चेति सान्तरे ॥ ४।१४९ ॥

अन्य आलंकारिकों ने अधिक से अधिक चार रीतियाँ मानी थीं, किन्तु भोज ने उनकी संख्या छः कर दी।

इन रीतियों के नाम देश-विदेश के आधार पर हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि इनकी उत्पत्ति इन्हीं देशों में होती है, अपितु इस प्रकार की रचना का प्रारम्भ वहीं से हुआ और प्रायः उन-उन देशों में इन्हीं प्रकार की रचनाओं की प्रधानता होगी। वामन ने काव्यालंकारसूत्र में इस विषय पर पूर्व तथा उत्तर दोनों पक्षों को रखा है।

"किं पुनर्देशवशाद् द्रव्यवद् गुणोत्पत्तिः काव्यानाम्, येनायं देशविशेषव्यपदेशः। नैवम्। यदाह—

विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या ॥ १० ॥

विदर्भगौडपाञ्चालेषु देशेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वात् तद्देशसमाख्या। न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम्।

काव्यालंकारसूत्र १।२।१० के आसपास

यायावरीय राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' के तृतीय अध्याय में काव्यपुरुषोत्पत्ति प्रसङ्ग में बड़ी विचित्र कथा प्रवृत्ति, वृत्ति तथा रीतियों के विषय में दी है। उनके अनुसार सरस्वती के शास्त्रार्थनिर्णयार्थ ब्रह्मलोक चली जाने पर उनका पुत्र काव्यपुरुष बिलखता हुआ उन्हें चारों दिशाओं में खोजने के लिए चल पड़ा। भगवती उमा ने उसे प्रेम-बन्धन में बाँधकर शान्त करने के लिए साहित्य वधू की सृष्टि की और उसे उसके पीछे ऋषियों के साथ दौड़ा दिया। उसने विभिन्न दिशाओं में वहां के प्रचलित परिधान, नृत्य तथा वाणी द्वारा उसको रिझाने की कोशिश की। वह काव्य पुरुष अन्त में जाकर वैदर्भी रीति की उसकी स्तुति से प्रसन्न हुआ। राजशेखर के रीति से सम्बद्ध वाक्य आगे उद्धृत किये जा रहे हैं—

"अथ सर्वे प्रथमं प्राचीं दिशं शिश्रियुर्यत्राङ्गवङ्गसुह्मब्रह्मपुण्ड्राद्याः जनपदाः।... तथाविधकल्पयापि तया यदाऽवशम्वदीकृतः समासवदनुप्रासवद्योगवृत्तिपरम्परागर्भं जगाद सा गौडीया रीतिः।...ततश्च स पाञ्चालान्प्रत्युच्चचाल यत्र पाञ्चाल-शूरसेन-हस्तिनापुर-काश्मीरवाहीक-वाह्लीक वाह्लवेयादयो जनपदाः।...तथाविधकल्पयापि तया यदीपद्वशम्वदीकृत ईषदसमासं ईषदनुप्रासमुपचारगर्भंच जगाद सा पाञ्चाली रीतिः।...ततश्च सा दक्षिणां दिशमाससाद यत्र मलयमेकलकुन्तलकेरलपालमञ्जरमहाराष्ट्रवङ्गकलिङ्गादयो जनपदाः।...यदत्यर्थं च स तया वशम्वदीकृतः स्थानानुप्रासवदसमासं योगवृत्तिगर्भं च जगाद सा वैदर्भी रीतिः।..."

इस पूरे प्रसङ्ग से वामन के मत की पुष्टि होने के साथ ही दो बातें और स्पष्ट होती हैं। १—गौडी की अपेक्षा पाञ्चाली और पाञ्चाली की भी अपेक्षा वैदर्भी में आकृष्ट करने की क्षमता अधिक है। अतः उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हैं। २—अवन्ती आदि देशों की ओर जाने पर प्रवृत्ति तथा वृत्ति का तो उल्लेख है किन्तु रीति का नहीं। जिससे देशों की अनेकता होने पर भी उनकी रीतियों का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है।

(१) वैदर्भी रीति

वक्ष्यमाणरीत्या वैदर्भीप्राधान्यमभिप्रेत्याह—

तत्रासमासा निःशेषश्लेषादिगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥ २९ ॥

इन रीतियों में से समास रहित, श्लेष आदि सम्पूर्ण गुणों से समन्वित तथा वीणा की ध्वनि की भाँति श्रुतसुखद रीति वैदर्भी कही जाती है ॥ २९ ॥

स्व० भा०—वैदर्भी रीति में सभी गुण होते हैं। दण्डी ने सभी गुणों की संभावना केवल वैदर्भी में ही की है (१।४१-४२)। वामन ने "समग्रगुणोपेता वैदर्भी" १।२।११॥ कहा है।

वामन ने जो प्रमाण वाक्य इस प्रसंग में अपने ग्रन्थ में दिया है उससे यहाँ का कथन बहुत कुछ मिलता है। वामन का उद्धरण—"अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता" ही भोज की परिभाषा से कुछ भिन्न है। उत्तरार्ध (लगभग) समान है। इसी के विषय में वामन कुछ पंक्तियाँ दूसरों की उद्धृत करते हैं—"तामेतामेवं कवयः स्तुवन्ति सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने। अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥" आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में भी भोज सी स्पष्टता दृष्टिगोचर होती है।—इनके अनुसार—माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैं रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥ सा० द० ९।२,३ ॥

विश्वनाथ कुछ समास हो जाने पर भी वैदर्भी रीति मान लेते हैं, किन्तु रुद्रट तो धातुओं के उपसर्गों को छोड़कर शेष को नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि—

आख्यातान्युपसर्गैः संसृज्यन्ते कदाचिदर्थाय ।
वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव ॥ काव्यालं० २।६ ॥

संस्कृत के वाल्मीकि, व्यास, कालिदास सदृश महाकवियों ने वैदर्भी रीति की कवितायें की हैं। इसके विषय में यह प्रसिद्धि है कि—

वाल्मीकेरजिरप्रकाशितगुणा, व्यासेन लीलायिता ।
वैदर्भी कविता स्वयं वृतवती श्रीकालिदासं वरम् ॥

श्रीहर्ष के द्वारा दमयन्ती के लिये लिखे गये छन्द की योजना आधुनिक आलोचक गण वैदर्भी रीति से भी करते हैं। वह छन्द इस प्रकार है—

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥ नै० ३।११६॥

तत्रेति। असमासा अनुल्लिखितसमासा। निःशेषश्लेषादीति। श्लेषादयो नव गुणास्तैर्गुम्फिता। मिथोमिलनेन संमूर्च्छितैरनुपलभ्यमानान्यतमसात्रकैरपि परस्परविभक्तस्वरूपभावेन सहृदयहृदयसंवादगोचरैरारब्धा। एवं विपञ्चीस्वरसौभाग्या। विपञ्ची वाग्रूपा सरस्वती विम्बप्रतिबिम्बभावेन द्विविधा। प्रतिबिम्बाधिष्ठानतया दार्वादियन्त्रमपि विपञ्चीत्युच्यते। तदीयाः स्वरास्तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्थानक्रमवैपरीत्यानुमेयशरीराः प्रतिबिम्बभावाः षड्जातयस्तेषु श्रुतसंमूर्च्छनरूपेष्वपि मिथोविभक्ताः श्रुतयः श्रोत्ररञ्जकस्वरावस्थामापन्नाः समस्तगान्धर्वविलासाधिकाः प्रकाशन्ते। अत एव वीणैव प्रधानं समस्तस्य स्वरजातस्य तत्रैव श्रुतिमण्डलोन्मेषादिति ॥

(२) पाञ्चाली रीति

यदा तु पानकादिन्यायेन कश्चिदंश उदितो भवति तदा रीत्यन्तरमुत्तिष्ठतीत्याह—

समस्तपञ्चषपदामोजःकान्तिविवर्जिताम् ।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः ॥ ३० ॥

जिस पदसंघटना में पाँच-छः पदों का समास हुआ हो, जो ओज तथा कान्ति गुणों से विशेष रूप से हीन हो किन्तु मधुर एवं कोमल हो उसे कवि लोग पाञ्चाली के नाम से जानते हैं ॥ ३० ॥

स्व० भा०—आचार्य विश्वनाथ भी भोज के लक्षण से मिलता-जुलता ही लक्षण देते हैं—

···वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः । समस्तपञ्चपदो बन्धः ·पाञ्चालिका मतः ॥ सा० द० ९।४ ॥

रुद्रट महोदय पाञ्चाली में पाँच-छः पदों का समास न स्वीकार कर केवल दो-तीन पदों का ही समास स्वीकार करते हैं तथा पाँच-छः पदों का समास लाटीया के लिये मानते हैं । यथा—

द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत् ।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया ॥ काव्यालं० २।५॥

पाञ्चाली रीति के विषय में यह सामान्य मान्यता है कि—

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते । शीलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि ॥

समस्तेति । ओजःकान्तिविवर्जिताम् ओजःकान्त्योर्विशेषेण वर्जिताम् । न्यग्भूतौजःकान्तिगुणामिति यावत् । यतस्तत्प्रतिद्वन्द्विनोर्माधुर्यसौकुमार्ययोस्तत्रोद्भवस्तदेतदाह—मधुरां सुकुमारां चेति । अत एवौजःप्रकाशकः षडधिकेषु पदेषु समासो न क्रियते ॥

(३) गौडीया रीति

समस्तात्युद्भटपदामोजःकान्तिगुणान्विताम् ।
गौडीयेति विजानन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ॥ ३१ ॥

अत्यधिक आडम्बरयुक्त पदों का जिसमें समास हो, तथा जिसमें ओज तथा कान्ति नामक गुण विशेष रूप से विद्यमान हों उस रीति को रीतिज्ञ लोग गौडीया के नाम से जानते हैं ॥ ३१ ॥

स्व० भा०—दण्डी ने गौडी को वैदर्भी के विपरीत गुणों वाली रीति माना है । उन्होंने वैदर्भी में दस गुण स्वीकार किया है तथा गौडी को उसके विपरीत कहा है ।

एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि । काव्याद० ॥ १।४२ ॥

वामन प्रथम तो—"ओजःकान्तिमयी गौडीया ॥ १२ ॥ ओजः कान्तिश्च विद्येते यस्यां सा ओजःकान्तिमयी गौडीया नाम रीतिः । माधुर्यसौकुमार्ययोरभावात् समासबहुला अत्युल्बणपदा च ।" कहते हैं (काव्या० सू० १।२॥) और पुनः उन्हीं पंक्तियों को उद्धृत करते हैं जिन्हें भोज ने अपने यहां परिभाषा के रूप में स्वीकार किया है । रुद्रट ने इसी रीति में यथाशक्ति समस्त पदों का सन्निवेश स्वीकार किया है ।

विश्वनाथ ने—ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ॥ समासबहुला गौडी··· ॥९।३-४ ॥

कहकर किसी पुरुषोत्तम नामक आचार्य की मति व्यक्त किया है—

बहुतरसमासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौडीया । रीतिरनुप्रासमहिमपरतन्त्रा स्तोकवाक्या च ॥

भोज द्वारा प्रयुक्त 'अत्युद्भटपदा' का अर्थ 'सुमहाप्राणाक्षरा'—अर्थात् महाप्राण, वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ आदि वर्णों से युक्त पद—ही लगता है।

समस्तेति। अत्युद्भटानि सोल्लेखसमासानि यस्मादोजःकान्त्योरुद्भवे न्यग्भूतगुणसप्तकेयं रीतिः॥

(४) आवन्तिका रीति

अन्तराले तु पाञ्चालीवैदर्भ्योर्यावतिष्ठते।
सावन्तिका समस्तैः स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः॥ ३२॥

पांचाली तथा वैदर्भी रीतियों के मध्य में जो अवस्थित रहती है तथा जो दो-तीन या तीन-चार पदों के समास से युक्त होती है वह आवन्तिका रीति है॥ ३२॥

स्व० भा०—यह रीति भोज की अपनी उद्भावना है। जो चार रीतियों को मानने वाले आलंकारिकों का समुदाय है, वह इस रीति के स्थल में लाटी को मानते हैं।

विश्वनाथ द्वारा दिये गए लाटी के लक्षण से यह बात पूर्णतः सिद्ध हो जाती है—

लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योन्तरे स्थिता।

वैदर्भी तथा पाञ्चाली के मध्य में स्थित होने का अभिप्राय यह है कि इसमें दोनों के कुछ कुछ गुण विद्यमान रहते हैं। यह न तो पूर्णतः यही है, न वही अपितु दोनों के मध्य में स्थित है। अर्थात् इसमें माधुर्य तथा सौकुमार्य गुण पाञ्चाली के रहते हैं तथा समास की अल्पता तथा समासरहिता वैदर्भी में होती है और पाञ्चाली में पांच-छः पदों का भी समास होता है। अतः समास की दृष्टि से दोनों के बीच का अर्थात् दो-तीन अथवा तीन-चार पदों का समास प्राप्त होता है। यही बात कारिका की दूसरी पंक्ति में स्पष्ट है। इसी प्रकार वैदर्भी में दस गुण होते हैं और पाञ्चाली में विशेष कर माधुर्य तथा सुकुमारता। अतः गुण की दृष्टि से दो-एक और गुणों का योग भी अपेक्षित है।

अन्तराल इति। माधुर्यसौकुमार्ययोः। किंचिदुद्भवेन निमीलनाङ्गप्राधान्येन वान्तरालकल्पना तां व्यनक्ति—द्वित्रैरिति। द्वे त्रीणि वा त्रीणि चत्वारि वेति वार्थे बहुव्रीहिः॥

(५-६) लाटीया तथा मागधी रीतियाँ

समस्तरीतिव्यामिश्रा लाटीया रीतिरुच्यते।
पूर्वरीतेरनिर्वाहे खण्डरीतिस्तु मागधी॥ ३३॥

जिसमें प्रायः सभी रीतियाँ मिली रहती हैं वह लाटीया रीति कही जाती है। पहले प्रारब्ध की गई रीति का निर्वाह न करने से जब वह रीति खण्डित हो जाती है (और दूसरी रीति का ग्रहण किया जाता है) तब मागधी होती है॥ ३३॥

स्व० भा०—जिस रचना में प्रायः सभी रीतियों के लक्षण मिलते हों उसे लाटी रीति कहते हैं। जैसे कहीं पर वैदर्भी जैसी समास-हीनता, कहीं गौडी जैसी ओजस्विता, कहीं पांचाली जैसा माधुर्य आदि तिलतण्डुलन्याय से मिला हुआ दिखाई दे वहाँ लाटी रीति होगी। इसी प्रकार जब एक रीति के अनुसार रचना प्रारम्भ की गई हो और बाद में उसे छोड़कर किसी दूसरी रीति का ग्रहण किया जाये तब मागधी रीति होती है। इन दोनों में अन्तर यही है कि लाटी में एक से अधिक तथा मागधी में केवल दो ही रीतियों के गुणों का समावेश होता है। यहां यह शङ्का हो सकती है कि एक रीति को छोड़कर दूसरी रीति को ग्रहण करते समय अरीतिमत्त्व दोष हो जायेगा, किन्तु ऐसी वास्तविकता नहीं है। वस्तुतः जैसे विभिन्न वर्णों के पुष्पों को गूँथ कर

एक अलौकिक स्वरूप वाली मनोहर माला बन जाती है उसी प्रकार सबका सम्मिलित रूप एक अलौकिक छटा उत्पन्न करता है। मागधी खण्डरीति अवश्य होती है किन्तु उसमें सन्दर्भ का सौन्दर्य रहता ही है। उससे रस आदि की अनुभूति में अवरोध नहीं पैदा होता।

इन सभी रीतियों के विषय में प्रायः सभी आलंकारिकों में ऐकमत्य नहीं है। पहले चर्चित प्रसङ्गों में इनका उल्लेख किया जा चुका है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कुछ रीतियों के विषय में अन्य आचार्यों के भी मतों का उल्लेख किया है—

जैसे—"मृदुपदसमाससुभगा युक्तैर्वर्णैर्न चातिभूयिष्ठा।
उचितविशेषणपूरितवस्तुन्यासा भवेल्लाटी॥

अन्ये त्वाहुः—

गौडी डम्बरबद्धा स्याद् वैदर्भी ललितक्रमा। पाञ्चाली मिश्रभावेन लाटी तु मृदुभिः पदैः॥"

सा० द० पृ० ६६२

वस्तुतः रीतियाँ अनेक हैं, किन्तु प्रमुख यही हैं। भोज का निरूपण सबसे अधिक है।

समस्तेति। यद्यप्युपक्रान्तरीत्यनिर्वाहोऽत्राप्यस्ति तथापि तिलतण्डुलवद्यावद्विभक्तरीतिसंवलनस्य कविसंरम्भगोचरस्योत्तररीतेः पृथग्भावः। पूर्वरीतेरिति। एकां रीतिमुपक्रम्य यदन्यया संदर्भनिर्वहणमसावन्य एव प्रकारः। न चानिर्वाहो दोषश्छायावैरूप्याभावात्। रीतिखण्डनेऽपि हि संदर्भसौभाग्यसंपत्तिः शक्तिमेवाविष्करोति॥

(१) वैदर्भी का उदाहरण

तासु वैदर्भी यथा—

'मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः॥ २५॥'

सेयमसमस्तपदा समग्रश्लेषादिगुणवती वैदर्भी रीतिः॥

इनमें से वैदर्भी का उदाहरण—

जैसे—(मेना तपस्या से उमा को विरत करती हुई कहती हैं) कि हे पुत्रि, अभीष्ट देवगण तो अपने घर में ही हैं। अरी, कहाँ (कठोर) तपस्या और कहां तुम्हारा (कोमल) शरीर। कोमल शिरस का कुसुम भौंरे का चरणनिक्षेप तो सह सकता है, किन्तु पक्षी का नहीं॥ २५॥

तो यहाँ समास न होने से श्लेष आदि सभी गुणों से युक्त होने से वैदर्भी रीति है।

मनीषिता इति। अत्र दीर्घसमासाभावे कथमोज इति कस्यचित्कुदेश्यमपरीतिमध्यकरणम् एवेत्यपास्तम्। एतेन गुणनवकस्य समकक्षतया सम्भेदः क्षण इति। असमस्तपदेत्यनुल्लेखसमासपदेत्यर्थः। समग्रा नव। गुणवतीति नित्ययोगे मतुप्॥

(२) पाञ्चाली का उदाहरण

पाञ्चाली यथा—

'गात्राभिघातदलिताङ्गदजर्जराणां
गण्डस्थलीलुलितकुण्डलताडितानाम्।
क्षोभस्फुटन्मुकुटकोटिविघट्टितानां
नादोऽभवज्झणझणामुखरो मणीनाम्॥ २६॥'

सेयमोजःकान्त्यभावादाश्लिष्टश्लथपुराणच्छायामाधुर्यसौकुमार्यवती समस्तपञ्चषपदा पाञ्चाली रीतिः॥

(विपरीत रति के समय हुई झटापटी में टकराने से मणियों से निकलने वाली ध्वनि का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि) शरीर की टक्कर से दब जाने के कारण जर्जर हो गया है बाजूबन्द जिनका उन मणियों की कपोल पर लुढक रहे कुण्डलों की टक्कर से तथा क्षोभ में फूट रहे मुकुट के अग्रभाग से रगड़ जाने से झनझन करती हुई आवाज होने लगी ॥ २६ ॥

यहाँ पर ओज तथा कान्ति गुण के न होने से तथा किञ्चित् शैथिल्य, पुराने बहुवर्णित सौन्दर्य, माधुर्य तथा सुकुमारता से विशेषरूप से संयुक्त होने से पाँच-छः पदों के समास वाली पाञ्चाली रीति है।

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण में पाञ्चाली रीति है, क्योंकि लक्षण के अनुसार इसके प्रथम तथा तृतीय चरणों में छः और द्वितीय में पांच पदों का समास है। इसके अतिरिक्त समास होने-पर भी शृङ्गार का वर्णन होने से यहाँ माधुर्य और सौकुमार्य गुण तो है, किन्तु ओज और कान्ति नहीं है।

गात्राभिघातेति। अत्राद्यतृतीययोः षड् द्वितीये च पञ्च पदानि समस्तानि। ओजःकान्त्यभावादिति। ईषदर्थे नञ्। अत एव माधुर्यसौकुमार्ययोरुन्मेषः। श्लिष्टा प्राप्ता यथासंख्यमोजःकान्तिनिमीलनलब्धप्रादुर्भावा श्लथा पुराणी च च्छाया ययेति विग्रहः॥

(३) गौडीया रीति का उदाहरण

गौडीया यथा—

'यस्यावस्कन्दलीलाचलितबलपरिस्पन्दखर्वीकृतोर्वी-
संरम्भोत्तम्भनायोन्नमितभरनमत्कन्धरासंधिरासीत्।
शेषो विस्फारफुल्लस्फुटपृथुलफणाफूत्कृताग्निस्फुलिङ्ग-
स्फूर्जत्संदोहसंदेहितविकटशिखामण्डलीरत्नखण्डः ॥ २७ ॥'

सेयमोजःकान्तिमती समस्तोद्भटभूरिपदा च गौडीया रीतिः॥

गौडी रीति वहाँ होती है।

जैसे—(कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा करते हुये कहता है कि यह वही महाराज हैं) जिनके आक्रमण करने के लिये बड़े आराम से निकली हुई सेना के चलने से डगमगा उठी पृथ्वी को गिरने से बचाने के लिये शेषनाग ने जब प्रयास किया तो उठाये हुये भार के कारण उनका भी कन्धा झुक गया और अत्यधिक फूली हुई, बड़ी-बड़ी तथा चौड़ी-चौड़ी फनों की फुफकार से निकलती हुई अग्नि की चिनगारियों के बढ़ रहे समूहों से शेषनाग के भयङ्कर फणमण्डलों के अग्रभाग पर चमकते हुये रत्नखण्डों का सन्देह होने लगा ॥ २७ ॥

ओज तथा कान्ति से समन्वित और अत्यधिक प्रौढियुक्त समस्तपदों वाली गौडीया रीति है।

स्व० भा०—यही उदाहरण के छन्द में अनेक पदों का समास स्पष्ट ही है। रणप्रयाण के प्रसङ्ग का वर्णन तथा सेना के चलने पर पृथ्वी का डगमगाना, शेष के कन्धों का भी भारावनत हो जाना और गर्मागर्म फुफकार छोड़ना राजा के पराक्रम का और सैन्याधिक्य का सूचक है। इससे ओज छा गया है। कान्ति भी दर्शनीय ही है। अतः यहाँ गौडीया रीति समुचित ही है।

यस्येति। अवस्कन्दो धाटकः॥ समस्तोद्भटभूरिपदेति। उद्भटता प्रौढिप्रकर्षः॥

(४) आवन्तिका रीति

आवन्तिका यथा—

'एतानि निःसहतनोरसमञ्जसानि
शून्यं मनः पिशुनयन्ति पदानि तस्याः।

एते च मार्गतरवः प्रथयन्ति ताप-
मालम्बितोज्झितपरिग्लपितैः प्रवालैः ॥ २८ ॥'

सेयं समस्तद्वित्रिचतुष्पदा वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरालवर्तिन्यावन्तिकानाम रीतिः।

आवन्तिका का उदाहरण—

ये अस्पष्ट पद उस उस कृशाङ्गी के मन की शून्यता बताते हैं और ये मार्ग के वृक्ष छूने से मुरझा गए पत्तों को गिरा-गिरा कर उसके शरीर की सन्तप्तता को प्रकट करते हैं ॥ २८ ॥

यहाँ दो, तीन, चार पदों का समास हुआ है, अतः वैदर्भी और पाञ्चाली दोनों के बीच की आवन्तिका नाम की रीति है।

स्व० भा०—यहाँ निःसहतनोः' 'असमञ्जसानि' 'मार्गतरवः' में दो-दो 'आलम्बितोज्झितपरिग्लपितैः' में तीन पदों का समास है। माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणों का हल्का सा उन्मेष हुआ ही है। इस प्रकार पाञ्चाली का अंश दृष्टिगोचर होता है। शेष पदों में समास न होने से वैदर्भी का भी स्वरूप आ ही गया है। अतः यहाँ दोनों की मध्यवर्तिनी आवन्तिका रीति है।

एतानीति। 'निःसहतनोरसमञ्जसानि' 'मार्गतरवः' इति द्वे द्वे पदे, 'आलम्बित-' इत्यादौ त्रीणि पदानि समस्तानि। माधुर्यसौकुमार्ययोर्मनागुन्मेषः पाञ्चालीभागः। इतरेषां समकक्षता वैदर्भीभागः। अनयोः संभेदेनान्तरालकल्पना व्यक्तैव ॥

(५) लाटीया का उदाहरण

लाटीया यथा—

'अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीना-
मुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम्।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन्
कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि ॥ २९ ॥'

सेयं समस्तरीतिमिश्रा लाटीया नाम रीतिः ॥

लाटीया वहां होती है,

जैसे—(अर्थ के लिए द्रष्टव्य—प्रथम परिच्छेद का १०० वां श्लोक)

यहां सभी रीतियां मिली हैं, अतः लाटीया नाम की रीति है।

स्व० भा०—यहां 'मुद्राभञ्जनः' में दो पदों का समास होने से आवन्तिका रीति है। 'उदयगिरि' आदि में पांच पदों का समास होने से पाञ्चाली है तथा प्रौढि का प्रकर्ष होने से गौडीया है। इसी प्रकार 'अयम्', 'उदयति' आदि असमस्त पदों के कारण वैदर्भी भी ज्ञात होती है। अनेक रीतियों का समावेश होने से निःसन्देह यहां लाटीया रीति है।

अयमिति। मुद्राभञ्जन इति द्वाभ्यां समस्ताभ्यामावन्ती। उदयगिरीत्यादिना पञ्चकेन पाञ्चाली। प्रौढिप्रकर्षेण गौडीया। अयमुदयतीत्याद्यसमासेन वैदर्भी च प्रत्यभिज्ञायत इति पूर्वोक्तसमस्तरीतिसंभेद इति ॥

(६) मागधी रीति का उदाहरण

मागधी यथा—

'करिकवलनशिष्टैः शाकशाखाग्रपत्त्रै-
रुरुणसरणयोऽमी सर्वतो भीषयन्ते।

चलितशबरसेनादत्तगोशृङ्गचण्ड-
ध्वनिचकितवराहव्याकुला विन्ध्यपादाः ॥ ३० ॥'

सेयमारब्धरीतेरनिर्वाहात्खण्डरीतिर्मागधी ।

मागधी वहां होती है,

जैसे—चल उठी शबरों की सेना के द्वारा बजाए गये गोशृङ्ग की ऊँची ध्वनियों से आश्चर्य में पड़े हुये शूकरों से अस्त-व्यस्त हो गये, लाल-लाल फैले हुये, हाथियों के खाने से बचे हुये वृक्षों अथवा शाक नामक वृक्षों की शाखाओं के अग्रभाग में लगे हुए पत्तों से युक्त ये विन्ध्य के निकटवर्ती भाग सभी ओर डरा रहे हैं ॥ ३० ॥

यहां यहीं प्रारम्भ की गई रीति को न निभाने से रीति के खण्डित हो जाने से मागधी रीति है।

स्व० भा०—प्रस्तुत छन्द में आवन्ती रीति प्रथम दो चरणों में प्रारम्भ की गई, किन्तु अन्तिम दो चरणों में, पूर्वरीति का परित्याग करके, गौडीया रीति अपनाई गई। रीति का आद्योपान्त निर्वाह न करने पर भी सौन्दर्य की हानि नहीं होती है। अतः यहां रीति है मागधी।

करिकवलनेति । अत्र पूर्वार्धे यथोक्तामावन्तीमुपक्रम्य चरमार्धे गौडीयापरिग्रहादुपक्रान्तरीतेरनिर्वाहः खण्डनम्, तथापि च न च्छायावैरूप्यमिति कविशक्तिव्यञ्जकत्वादलंकारभाव इति । शाको वृक्षविशेषः ॥

(घ) वृत्ति अलंकार

या विकासेऽथ विक्षेपे संकोचे विस्तरे तथा ।
चेतसो वर्तयित्री स्यात्सा वृत्तिः सापि षड्विधा ॥ ३४ ॥

जो चित्त के विकास, विक्षेप, संकोच तथा विस्तार की (दशाओं) में वर्तमान रहती है, वह वृत्ति है। वह भी छ प्रकार की होती है ॥ ३४ ॥

स्व० भा०—टीकाकार रत्नेश्वर ने चित्त की इन चारों दशाओं को गुणों के आधार पर स्वीकार किया है। उनके अनुसार 'सत्त्वाविर्भावो विकासः । ......विकासात् प्रच्युतमप्राप्तगुणान्तरप्रादुर्भावं विक्षिप्तं चित्तमुच्यते । तत्रोचितविभावादिवैचित्र्यादाविर्भवद्रजोगुणस्य चेतसो विक्षेपप्रच्युतिदशायां रौद्ररसोन्मेषः ।...... न्यग्भूतरजोगुणस्य प्रबुद्धतमसश्चेतसोऽवस्थाविशेषः स संकोचः......यदा तु सत्त्वतमोनिमीलनेन केवलरजःप्रतिष्ठं चेतस्तदा बहुमुखव्यापारोन्मेषाद्विस्तराख्यामवस्थामासादयति"। इस प्रकार इन चार अवस्थाओं में चार मूल रस और प्रत्येक से एक-एक उत्पन्न रसों का आविर्भाव होता है। इनमें वृत्तियां बहुत सहायक होती हैं।

भरत ने भी 'भारती सात्त्वती चैव कैशिकीयारभटी तथा" (६।२४) चार ही वृत्तियां मानी हैं। यही चार वृत्तियां प्रायः सभी नाट्यविवेचकों को मान्य हैं। भोज ने छः वृत्तियां मानी हैं और इनको अलंकार कहा है, वह भी शब्दाश्रित। आर्थीवृत्तियों का निरूपण पञ्चम परिच्छेद में होगा।

या विकास इति । वृत्तिर्वर्तनं रसविषयो व्यापारः काव्यस्य रसप्रवणत्वात् । स च व्यापारः सत्त्वाद्युद्रेकलक्षणो जन्मान्तरानुभवभावितवासनासमुत्थः परिपूर्णभविष्यद्रसास्वादसर्वस्वायमानचित्तावस्थनिदानभूतोऽर्थगतः पञ्चमेऽभिधास्यते । शब्दगतः पुनरत्र संगतः संदर्भस्य रसप्रकाशकारणेषु प्रधानत्वात् । यदाह—

'कविवागभिनेयश्च तदुपायो द्विधेष्यते । वस्तुशक्तिमहिम्ना तु प्रथमोऽत्र विशिष्यते ॥'

वर्ततेऽनया चित्तमिति करणसाधनोऽयं वृत्तिशब्द इति वर्तयित्रीत्यनेन प्रयोजकव्या-

पारप्रधानेन दर्शितम्। तत्र विषयवैचित्र्याद्विकासाद्याश्चतस्रश्चित्तावस्थाः। विषयो हि दीप्तमसृणमध्यमभेदेन त्रिविधः। विभावाद्युपधानमहिम्ना तन्मयीभवनयोग्यं हि चेतः कदाचिद्विकसति। सत्त्वाविर्भावो विकासः। न्यग्भूतरजस्तमोगुणं हि चेतः सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिमासादयति। ततः सत्त्वभागप्रतिष्ठितः शृङ्गारस्तदाभासोऽपि तामेव भूमिकामालम्बते। अत एव शुक्तिरजतवद्भावोदयेऽपि दोपमहिम्नैव काव्यमहिम्ना तद्व्यञ्जनात्। तत्समानभूमिकया हास्यो रसः प्रादुर्भवतीत्यभिसंधायाह—'शृङ्गारादि भवेद्धास्यम्' इति भरतमुनिः। तेन विकासभूमिकौ शृङ्गारहास्यौ। विकासात्प्रच्युतमप्राप्तगुणान्तरप्रादुर्भावं विक्षिप्तं चित्तमुच्यते। तत्रोचितविभावादिवैचित्र्यादाविर्भवद्रजोगुणस्य चेतसो विक्षेपप्रच्युतिदशायां रौद्ररसोन्मेषः। अत एव समानभूमिकया 'रौद्राच्च करुणो रसः' इत्याह। यदा तु सत्त्वतमोनिमीलनेन केवलरजःप्रतिष्ठं चेतस्तदा बहुमुखव्यापारोन्मेषाद्विस्तराख्यामवस्थामासादयति। तद्भूमिको वीररसस्तदवस्थामेवास्थायाद्भुतोऽपि प्रथत इति 'वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः' इत्युक्तम्। न्यग्भूतरजोगुणस्य प्रबुद्धतमसश्चेतसोऽवस्थाविशेषः ससंकोचस्तमालम्ब्य वीभत्सः प्रादुरास्ते तदेकभूमिकश्च भयानक इति 'बीभत्साच्च भयानकः' इत्याह॥

वृत्तियों के छः प्रकार

तेऽमी चत्वारश्चित्तावस्थाविशेषाः कथमविशेषणादेव संदर्भाद्भवन्तीत्याशङ्क्य विभागेनोत्तरमाह—

> कैशिक्यारभटी चैव भारती सात्वती परा।
> मध्यमारभटी चैव तथा मध्यमकैशिकी॥ ३५॥

(१) कैशिकी, (२) आरभटी, (३) भारती, (४) सात्त्वती, (५) मध्यमारभटी तथा (६) मध्यमकैशिकी (ये छः प्रकार की वृत्तियां हैं।)

स्व० भा०—इनमें से प्रथम चार तो शुद्ध वृत्तियां हैं तथा शेष दो पूर्ववर्णितों के ही संकर हैं।

कैशिक्येति। शुद्धिसंकराभ्यां रीतिवदत्रापि षट् प्रकाराः॥

वृत्तियों की परिभाषा

> सुकुमारार्थसंदर्भा कैशिकी तासु कथ्यते।
> या तु प्रौढार्थसंदर्भा वृत्तिरारभटीति सा॥ ३६॥
> कोमलप्रौढसंदर्भा कोमलार्थाथ भारती।
> प्रौढार्थां कोमलप्रौढसंदर्भां सात्वतीं विदुः॥ ३७॥
> कोमले प्रौढसंदर्भा त्वर्थे मध्यमकैशिकी।
> प्रौढार्था कोमले बन्धे मध्यमारभटीष्यते॥ ३८॥

चित्त में द्रुति उत्पन्न करने वाले अर्थों तथा संदर्भों से संयुक्त वृत्ति को कैशिकी कहते हैं। जिसके अर्थ और सन्दर्भ से चित्त में दीप्ति होती है वह आरभटी वृत्ति है। जिसका सन्दर्भ कोमल तथा प्रौढ़ हो और अर्थ भी कोमल ही हो वह भारती है। प्रौढ अर्थ तथा कोमल और प्रौढ सन्दर्भों

वाली वृत्ति सात्त्वती नाम से जानी जाती है। कोमल अर्थ में प्रौढ सन्दर्भ वाली वृत्ति मध्यम कैशिकी है और कोमल बन्ध होने पर प्रौढ अर्थ होने से मध्यमारभटी अभीष्ट है ॥ ३५-३८ ॥

स्व० भा०—यहां प्रयुक्त सुकुमारता, सन्दर्भ, प्रौढ, कोमल आदि पदों का अर्थ विशेष रूप से ज्ञातव्य है। सुकुमारता नामक गुण का पहले वर्णन किया जा चुका है। सन्दर्भ वर्णयोजना का नाम है। सुकुमारता से चित्त में द्रुति होती है अतः चित्त का विकास होता है और सत्त्वगुण का उद्रेक होता है। सत्त्व के उद्रेक से शृङ्गार, शृङ्गाराभास तथा शृङ्गार का विकार हास्य उत्पन्न होता है। चित्त में दीप्ति का भाव पैदा करने वाला तत्त्व प्रौढता है। इससे वीर तथा अद्भुत रसों की प्रतीति रजस् का उद्रेक होने से होती है। इसी प्रकार कोमलता कर्णप्रिय एवं मृदु वर्णों का प्रयोग है।

सुकुमारेति। चित्तद्रुतिकारित्वं सौकुमार्यं सुकुमारावर्थसंदर्भौ यस्यामिति विग्रहः, एवं प्रौढार्थसंदर्भेत्यपि। चित्तदीप्तिविधायिता प्रौढिः। अर्थसौकुमार्यादिना विशेष्यमाणसंदर्भः सुकुमारत्वादिः शब्दालंकारतां प्रयोजयति। कोमलप्रौढो मध्यमः। प्रकारान्तरविरहाच्च मध्यमभारत्यादयो न संभवन्ति ॥

(अ) कैशिकी का उदाहरण

तत्र कैशिकी यथा—

'शशिरुचिषु दलेषु नागवल्ल्या विचकिलदामनि चन्दने च हृद्ये।
कुवलयिनि पुराणसीधुपात्रे तरलदृशामपतन्दृशः प्रिये च ॥ ३१ ॥'

सेयमर्थस्य च संदर्भस्य च सौकुमार्यात्कैशिकी नाम वृत्तिः ॥

चञ्चलाक्षी प्रेयसियों की दृष्टि चन्द्रधवलताम्बूल पत्रों पर, पुनः मल्लिका की माला पर, फिर मनोहर चन्दन पर, उसके बाद नीलोत्पलों के सदृश पुराने मधुपात्र पर और सबसे बाद अपने प्राणेश्वर पर पड़ी ॥ ३१ ॥

यहां अर्थ तथा रचनाबन्ध की सुकुमारता के कारण कैशिकी नाम की वृत्ति है।

स्व० भा०—यहां अर्थ की सुकुमारता बतलाई गई है। है भी क्योंकि नायिका के क्रमशः इन पदार्थों पर दृष्टिपात करने का उद्देश्य व्यक्त होने पर चित्त को आर्द्र कर देता है। इसकी दृष्टि सर्वप्रथम ताम्बूल दल पर पड़ने से चुम्बन, तदनन्तर मल्लिका की माला पर पड़ने से मान के समय मनौती करने पर माल्यालंकृत केशपाश का ग्रहण, उसके पश्चात् सम्पूर्ण अङ्ग के आह्लादक चन्दन पर पड़ने से प्रगाढपरिरम्भ, उसके भी बाद समस्त मान और ईर्ष्या आदि की समाप्ति पर पूर्णतः रतिबन्ध हेतु उत्कण्ठितों का मधुपात्र पर तथा सबसे अन्त में समस्त सुखदाता प्राणवल्लभ पर पड़कर प्रेमातिशय रूप अर्थ को प्रकट करता है। अनुद्धतभाव होने से सर्वत्र कोमलता है। इसी प्रकार प्रथम, तृतीय, पञ्चम तथा रेफ और शकार वर्णों का विशेष प्रयोग होने से बन्ध में भी सुकुमारता ही है।

शशिरुचिष्विति। नियमितादिषु मुग्धाङ्गनाचुम्बनरसोत्सुकानामतिमनोज्ञाधररागसमर्पकेषु नागलतादलेषु, ततो मानपरिग्रहे वलितकादिचुम्बनविशेषार्थिनीनां कचग्रहसौभाग्यसुन्दरे मल्लिकादाम्नि, ततः सर्वाङ्गीणाश्लेषसौभाग्यार्थकचन्दनरसेऽनन्तरमीर्ष्यारोपवासनानिःशेषकेलियन्त्रणरतोत्कण्ठितानां सीधुपात्रे, ततः सर्वोपकरणजीवितसर्वस्वे प्रियतमे समकचतयैव दृष्टयः पेतुरिति। 'कुवलयिनि' इति युक्तः पाठः। 'कुवलयित—' इति पाठे विशेषणाङ्गप्राधान्यविवक्षायां समासे गुणीभावस्यानुचितत्वात्। सेयं कैशिकी मसृणे शृङ्गारादौ विनियुज्यत इति ॥

(आ) आरभटी का उदाहरण

आरभटी यथा—

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥३२॥'

सेयं प्रौढार्थसंदर्भारभटी नाम वृत्तिः ॥

आरभटी का उदाहरण जैसे कि—

(अर्थ के लिए द्रष्टव्य प्रथम परिच्छेद का १७४ वां छन्द ।

यहां अर्थ तथा वर्णयोजना के प्रौढ होने से आरभटी वृत्ति है ।

स्व० भा०—यहां पर रौद्र भाव होने से प्रौढ़ि स्पष्ट है । अर्थ में प्रौढ़ता क्रोध के कारण आ ही गई है । इसी प्रकार चतुर्थ वर्ण तथा संयुक्ताक्षरों के प्रयोग से बन्ध में भी प्रौढ़ता दृष्टिगत होती है ।

यो य इति । ओजःप्रधानतया प्रौढः संदर्भः । यस्मादियमारभटी दीप्ते रौद्रादौ विनियुक्ता, तेन युक्तं शब्दार्थयोः प्रौढत्वमिति ॥

(इ) भारतीवृत्ति का उदाहरण

भारती यथा—

'उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते भरमुरगपतौ पाणिनैकेन कृत्वा
धृत्वा चान्येन वासो विगलितकबरीभारमंसे वहन्त्याः ।
भूयस्तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतिना शौरिणा वः
शय्यामालिङ्ग्य नीतं वपुरलसलसद्बाहु लक्ष्म्याः पुनातु ॥ ३३ ॥'

सेयमतिसुकुमारार्थं नातिसुकुमारसंदर्भा भारती नाम वृत्तिः ॥

जैसे—रति कर्म समाप्त होने पर उठते समय शेषनाग पर एक हाथ टेककर सारा शरीर का भार डालते हुये लक्ष्मी दूसरे हाथ से अपना वस्त्र संभालने लगीं । शिथिल होकर उसके केशपाश कंधों पर बिखर गये थे । किन्तु उसी समय और भी अधिक छटा को देखकर दुगुने रतिप्रेम से विष्णु द्वारा शय्या पर आलिङ्गन करके शिथिल भुजाओं वाला, शय्या पर गिरा दिया गया लक्ष्मी का शरीर आप लोगों को पवित्र करे ॥ ३३ ॥

यहां अत्यन्त सुकुमारता अर्थ में है और रचनाबन्ध के अत्यधिक सुकुमार न होने पर भी भारती नाम की वृत्ति है ।

स्व० भा०—शृङ्गार स्वभावतः सुकुमार होता है, उसमें भी कर्मप्रसक्ति का वर्णन होने से वह और भी बढ़ गया है । तृतीय चरण में समास हो जाने से अत्यधिक सुकुमारता नहीं रह गई, किन्तु प्रायः रेफ, हकार आदि वर्णों के सन्निवेश से सन्दर्भ में कोमलता बनी ही रह गई है ।

उत्तिष्ठन्त्या इति । सर्वाङ्गीणाश्लेषसमुत्सुके प्रियतमे बहिर्व्यावर्तनमन्तरनुवर्तनं च मुग्धाङ्गनाजातिरिति न्यायेन नीवीबन्धकेशपाशसंयमार्थिन्या निर्भरकेलिखेदेन भुजलतालसं लसत्येव न तु व्यापारयितुमपि शक्येति तात्कालिकोऽतिपोषः । अत्र मसृणेऽपि रसे

वृत्त्यौचित्येन संदर्भस्य प्रौढिरुचितैव। दीर्घसमासो हि शृङ्गारादौ निषिद्धो न तु प्रौढिः। रेफहकाराद्विवर्णनिवेशात्तु कोमलता संदर्भस्येति। एवमुत्तरोदाहरणेष्वपि विशेषः स्वयमूहनीय इति॥

(ई) सात्त्वती वृत्ति का उदाहरण

सात्त्वती यथा—

'वन्द्यौ द्वावपि तावनायचरितप्राप्तप्रतापोदयौ
भीमो भीमपराक्रमः स च मुनिर्भास्वत्कुठारायुधः।
एकेनामृतवद्विदार्य करजैः पीतान्यसृग्भि द्विपा-
मन्येनापि हताहितास्रसरसि स्नातं क्रुधः शान्तये॥ ३४॥'

सेयं प्रौढार्था नातिप्रौढसंदर्भा सात्त्वती नाम वृत्तिः॥

आर्यों के लिए अनुचित आचरण करने से अपने प्रताप को बढ़ाने वाले—उग्र बलशाली भीम तथा चमकते हुये परशुवाले तपस्वी (परशुराम)—दोनों ही वन्दनीय हैं। एक ने नाखूनों से ही (शरीर को) फाड़कर अमृत की भांति शत्रुओं का रक्त पी लिया तथा दूसरे ने भी मारे हुये शत्रुओं के रक्त के सरोवर में क्रोध की शान्ति के लिये स्नान किया॥ ३४॥

अर्थ में प्रौढि तथा वर्णयोजना में अत्यधिक प्रौढ़ता न होने से यहां सात्त्वती नाम की वृत्ति है।

(उ) मध्यमकैशिकी का उदाहरणं

मध्यमकैशिकी यथा—

'किं द्वारि दैवहतके सहकारकेण संवर्धितेन विषपादप एष पापः।
अस्मिन्मनागपि विकासविकारभाजि भीमा भवन्ति मदनज्वरसंनिपाताः॥३४॥'

सेयं सुकुमारेऽर्थे प्रौढसंदर्भा मध्यमकैशिकी नाम वृत्तिः॥

(एक विरहिणी कहती है कि)—

दुर्भाग्य के मारे द्वार पर लगाकर बढ़ाये गये रसाल तरु से क्या लाभ? अरे इस समय तो यह पापी पेड़ जहर का पेड़ हो गया है। जैसे ही इसमें तनिक भी पुष्पों के फूलने का विकार आने लगता है वैसे ही (मुझ विरहिणी) के शरीर में कामज्वर के कारण हो गया सन्निपात और भी उग्र होने लग जाता है॥ ३५॥

यहां सुकुमार अर्थ में प्रौढ़ वर्ण रचना होने से मध्यम कैशिकी नाम की वृत्ति है।

(ऊ) मध्यमारभटी का उदाहरण

मध्यमारभटी यथा—

'त्वं नागराज बहुमस्य नितम्बभागं भोगेन गाढमुपवेष्टय मन्दराद्रेः।
सोढाऽविषह्यवृषवाहनयोगलीलापर्यङ्कबन्धनविधेस्तव कोऽतिभारः॥ ३६॥'

सेयं प्रौढेऽर्थे सुकुमारसंदर्भा मध्यमारभटी नाम वृत्तिः॥

हे नागराज वासुकि, तुम इस मन्दराचल के अतिविस्तृत शृङ्खला को अपने शरीर से कस कर बांध लो—लपेट लो। तुमने तो भगवान शङ्कर की योगलीला की पर्यङ्कबन्धन की असह्य विधि को भी सहा है। तुम्हारे लिये यह कोई बड़ी भारी चीज नहीं॥ ३६॥

प्रौढ़ अर्थ में सुकुमार वर्णयोजना वाली मध्यमारभटी नाम की वृत्ति है।

(५) छाया अलंकार

अन्योक्तीनामनुकृतिश्छाया सापीह षड्विधा ।
लोकच्छेकार्भकोन्मत्तपोटामत्तोक्तिभेदतः ॥ ३९ ॥

दूसरों के कथनों का अनुकरण करना छायालंकार है। वह भी यहां (१) लोक की उक्ति की छाया, (२) छेक की उक्ति की छाया, (३) अर्भक की उक्ति की छाया, (४) उन्मत्त की उक्ति की छाया, (५) पोटा की उक्ति की छाया तथा (६) मत्त की उक्ति की छाया के भेद से छः प्रकार की है॥ ३९ ॥

स्व० भा०—वस्तुतः यह कोई अलंकार नहीं है, विशेषकर शब्द का, क्योंकि ये शब्द कहे जाने के बाद अनुकृति के अवसर पर चमत्कार उत्पन्न करते हैं। फिर भी भोजराज ने इनको शब्दालंकार इसलिये माना है क्योंकि अनुवर्ता अनुकार्य के शब्दों को कहता है और उसके अनुकरण से भी चमत्कार का अनुभव होता है। ये छः भेद अनुकार्य के आधार पर किये गये हैं। अर्थात् जब सामान्य लोक की उक्ति की अनुकृति होती है तब लोकोक्ति छाया और इसी प्रकार छेक, अर्भक आदि की अनुकृति होने पर विशेष प्रकार की छायायें उनके ही नाम से हुआ करती हैं।

अन्योक्तीनामिति। लोके बिम्बप्रतिबिम्बयोः प्रतिबिम्बं चमत्कारितया प्रसिद्धम्। अत एव 'अन्त्यात्प्रेचयं ज्यायः' इत्याह। शब्दालंकारकाण्डे वाक्यानुकरणमेव प्रतिबिम्बवाचिना छायापदेन गुणवृत्तेनाख्यायते। तदेतदनुकरणमनुकार्यभेदादेव षोढा व्यवतिष्ठत इत्याह—छेकेति। छेकादीनां लोकविशेषाणामेव शोभाकारित्वेन पृथगुपादानेऽर्थात्तदितरानेकविचित्रतत्तदनुकार्यपरो लोकशब्दः। छेका विदग्धाः। 'पोटा स्त्रीपुंसलक्षणा'। सहजकेलिरिति प्रसिद्धा पोटा। भुजिष्या दासीत्यन्ये। अत्र केचिदन्यच्छायायोनिजमपि काव्यं छायालंकारव्यवहारभूमिमाहुः॥

प्रकृतिपरिणामः, परपुरप्रवेशः, खण्डसंघात्यम्, चूलिका, परिमल इति पञ्च योनिजकाव्यभेदाः। तत्र किंचिद्विकृतार्थः प्रकृतिपरिणामः। यथा—

'धुअमेहं महुअराणुव्वणसमअहियओ णअविमुक्काओ।
णहया अवसाहाओ णिअ अव्वाण वयडि गआओ दिसाओ॥'

यथा च—

'सिसिरपडिरोहमुक्कपरिहुत्तम्पअ अवलिअक्कम्।
हरइ अरया अलिअं वित्थरदि दिसाहिं कट्टिअं वणहअलम्॥'

अत्राकाशदिशां विस्तारभणनं मनाग्विकृतमुपलक्ष्यत इति प्रकृतिपरिणामनामायं योनिजकाव्यभेदः॥

भाषामात्रभिन्नः परपुरप्रवेशः। यथा—

'देवाधिपो वा भुजगाधिपो वा धराधिपो वा यदि हैहयः स्याम्।
संदर्शनं ते गुणकीर्तनं ते सेवाञ्जलिं ते तदहं विदध्याम्॥'

यथा च—

'सविमो अणज्जुणमिअं अमहिन्दमवासुइअ अप्पाणम्।
सेडं जालदंसण गुणकहासुत इजणूपज्जत्तम्॥'

अत्र भाषामात्रं भिन्नमिति परपुरप्रवेशनामायं योनिजकाव्यभेदः॥

विकीर्णमसमाहारः खण्डसंघात्यम् । यथा—

'द्वित्राण्यम्बुजिनीदलानि सरसासुत्सङ्गमध्यासते
मौलौ किंशुकशाखिनश्चतुरानाविभ्रते कोरकान् ।
गर्भग्रन्थिषु पञ्चषाः सुमनसो वध्नन्ति चूतद्रुमाः
संप्राप्ताः प्रकटीभवन्ति कुररीकण्ठेषु कूजोर्मयः ॥'

अत्र काव्यचतुष्कादुच्छिद्य पादचतुष्टयं ग्रथितमिति खण्डसंघात्यनामायं योनिजकाव्यभेदः ॥

तावन्तमर्थमुपादायाधिको वापश्चूलिका । यथा—

'कमलमनम्भसि तत्र च कुवलयमेतानि कनकलतिकायाम् ।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥'

यथा च—

'उभौ रम्भास्तम्भावुपरि विपरीतौ कमलयो-
स्तदूर्ध्वं रत्नाश्मस्थलमपि दुरूहं किमपि यत् ।
ततः कुम्भौ पश्चाद्बिसकिसलये कन्दलमथो
तदन्विन्दाविन्दीवरमधुकराः किं पुनरिदम् ॥'

अत्र स्थाने स्थानेऽधिकावापस्य प्रत्यभिज्ञानाच्चूलिकानामायं योनिजकाव्यभेदः ॥

बन्धच्छायामात्रसंवादी यथा—

'अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते ।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥'

यथा च—

'यात्राप्रसङ्गादुपवीणयन्ती तस्यां महाकालमविप्रतिष्ठम् ।
कृशाङ्गि वीणागुणसारणासु चिरात्कलाभ्यासफलं लभेथाः ॥'

अत्र संदर्भच्छायामात्रमनुकृतमिति परिमलनामायं योनिजकाव्यभेदः ॥

(अ) लोकोक्तिच्छाया

तासु लोकोक्तिच्छाया यथा—

'शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
मासानेतान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ ३७ ॥'

सेयं लोचने मीलयित्वेति लोकोक्तेरनुकृतिर्लोकोक्तिच्छाया ॥

इन छः प्रकार की छायाओं में लोकोक्ति छाया का उदाहरण—

(यक्ष अपनी प्रेयसी को सन्देश कहता है कि हे प्रिये) भगवान् विष्णु के शेषशय्या से उठते ही मेरा शाप समाप्त हो रहा है । तुम आंख मूँदकर ये चार महीने बिता लो । फिर तो हम दोनों विरहकाल में बढ़ने वाली अपनी उन उन मनः कामनाओं को पूर्णचन्द्र की चन्द्रिका से रम्य रात्रियों में पूरी तरह देख लेंगे ॥ ३७ ॥

यहां पर 'लोचने मीलयित्वा' यह पद लोक की उक्ति की अनुकृति है, अतः यहां लोकोक्ति छाया है ।

स्व० भा०—यहां छन्द में दो लोकोक्तियां "आंख मूंदकर" तथा "चार महीने वर्षा के" प्रयुक्त हुई हैं। लोक में प्रचलित ये उक्तियां कालिदास द्वारा ज्यों की त्यों संस्कृत में उतार दी गई हैं।

शापान्त इति। लोचने मीलयित्वेत्यनेन लोकोक्त्यनुकारेण नयननिमीलनवदाशुभाविता समागमसमयस्य प्रतिपाद्यते। तथा च—सुकुमारतरकान्ताजीविताध्यवसायाभिप्रायः प्रवासविप्रलम्भाविष्टचेतसः प्रकाशितो भवतीति। उपलक्षणं चैतत्। वर्षाकाले चतुरो मासानित्यपि लोकोक्तिरेव॥

(आ) छेकोक्तिच्छाया

छेकोक्तिच्छाया यथा—

'यो हि दीर्घासिताक्षस्य विलासललितभ्रुणः।
कान्तामुखस्यावशगस्तस्मै नृपशवे नमः॥ ३८॥'

सेयं तस्मै नृपशवे नम इति विदग्धोक्तेरनुकृतिश्छेकोक्तिच्छाया॥

छेकोक्ति छाया वहां होती है—

जैसे—जो बड़े-बड़े तथा कजरारे नयनों वाले हावभाव से सुन्दर भौंहों वाले सुन्दरी के मुख के वश में नहीं हुआ उस नरपशु को नमस्कार है॥ ३८॥

यहां पर "तस्मै नृपशवे नमः" इस विदग्ध की उक्ति का अनुकरण होने से छेकोक्तिच्छाया नाम का अलंकार है।

स्व० भा०—छेक का अर्थ विदग्ध होता है। विदग्ध की बातें चतुराई से भरी होती हैं, जिसके कारण कोई कटु बात भी सौम्य ढंग से सामने आती हैं। यहां का विदग्ध रसिक है। वह ऐसी बात कह रहा है जो किसी ग्राम्य पुरुष के मुख से निकल कर अभद्र हो जाती। जिसे एक प्राकृत पुरुष अभिधा में धिक्कारता, उसे ही व्यंग्य करके विदग्ध सौम्य बनाये दे रहा है। उसके द्वारा नृपशु को किये गये 'नमस्कार' में सारा तिरस्कार समाहित है। यहां उसी की उक्ति का अनुकरण होने से छेकोक्ति छाया नामक अलंकार है।

यो हीति। कान्तामुखमेव, जीवितसर्वस्वमभिमन्यमानस्तत्रालंप्रत्ययशालिनः पशूनिव प्रति श्रृङ्गारी विदग्धः॥

(इ) अर्भकोक्तिच्छाया

अर्भकोक्तिच्छाया यथा—

'किं स स्वर्गतरुः कोऽपि यस्य पुष्पं निशाकरः।
ते वृक्षाः कीदृशा मातर्येषां मुक्ताफलं फलम्॥ ३९॥'

सेयमव्युत्पन्नशिशुजनोक्तेरनुकृतिरर्भकोक्तिच्छाया॥

अर्भकोक्तिच्छाया (वहां होती है) जहां पर किसी अबोध शिशु की उक्ति का अनुकरण किया जाता है।

जैसे—(कोई शिशु अपनी माता से पूछ रहा है कि) हे मां, क्या वह कोई स्वर्ग का वृक्ष है, जिसका फूल चन्द्रमा है। वे वृक्ष किस प्रकार के होते हैं जिनके फल मोती के दाने हैं॥ ३९॥

यह एक अबोध शिशु की उक्ति का अनुकरण है, अतः यहां अर्भकोक्तिच्छाया है।

किं स इति। नूनं त्रिजगद्वर्तिसकलार्थिसार्थकीकरणविख्यातकीर्तेः पारिजातप्रमुखस्य कस्यचिदेकः स्तबकः सुधाभिराह्लादयन्नयमेव लोके दृश्यत इत्यादि॥

(ई) उन्मत्तोक्तिच्छाया

उन्मत्तोक्तिच्छाया यथा—

'दृष्टः कथं सुतनु किं कुरुते किमस्म-
द्वार्तां स पृच्छति शृणोति निवेद्यमानाम्।
आस्तां किमस्य कथया कथयाशु ताव-
दत्रागमिष्यति न वा खलु सोऽभिमानी ॥ ४० ॥'

सेयमसमञ्जसाया उन्मत्तोक्तेरनुकृतिरुन्मत्तोक्तिच्छाया ॥

उन्मत्तोक्तिच्छाया (वहां होती है) जहां कोई प्रेम में पागल व्यक्ति के कथन की अनुकृति होती है)।

जैसे—(कोई प्रेमदिवानी अपनी सखी से पूछती है) हे सुन्दरि, उसे तुमने कैसे देखा ? वह क्या कर रहा था ? क्या मेरे विषय में भी कोई बात पूछ रहा था ? अथवा क्या कहने पर मेरे विषय की बातों को सुनता तो है न ? अथवा रहने दो इन बातों से क्या लाभ ? बताओ कि कभी वह अभिमानी यहां आयेगा भी अथवा नहीं ? ॥ ४० ॥

यहां पर अनिश्चय में पड़ी हुई पगली की उक्ति का अनुकरण होने से उन्मत्तोक्तिच्छाया है। (क्योंकि विरहिणी स्वयं ही तो अपने प्रिय के विषय में पूछताछ प्रारम्भ करती है और स्वयं ही उत्तरार्ध में बाध कर देती है। अतः वहां उसकी उन्मत्तता स्पष्ट ही है।)

दृष्ट इति। कथमित्यादिना तदेकतानतामाविष्कृत्य सहसैवास्तामित्यादिना संप्रहाणम्, कथय तावदित्यादिना च पुनरादानमसमञ्जसम् ॥

(उ) पोटोक्तिच्छाया

पोटोक्तिच्छाया यथा—

'तिलकमसहास्मि सोढुं घनसारेणातिसारदोषो मे।
लम्भयति च दौर्बल्यं कुङ्कुमरागो ममाङ्गानि ॥ ४१ ॥'

सेयमुत्तमपदारोपितनीचयुवत्युक्तेरनुकृतिः पोटोक्तिच्छाया ॥

पोटोक्तिच्छाया (अलंकार वहां होता है, जहां पर किसी पोटा की उक्ति का अनुकरण हो)

जैसे—(कोई नीच युवती किसी अभिजात वर्ग की उक्ति का अनुकरण करती हुई कहती है—) अरे मैं तिलक का लगाना भी नहीं सह सकती, कपूर से तो मुझे और भी अधिक पसीना आने लगता है अथवा उससे मुझे पेचिश हो जाती है। कुङ्कुमराग भी मेरे अङ्गों में दुर्बलता ला रहा है ॥ ४१ ॥

यहां उत्तम पद पर स्थित युवती की उक्ति का नीचयुवती के द्वारा अनुकृति करने से पोटोक्तिच्छाया है।

स्व० भा०—पोटा शब्द के मरदानी स्त्री, उभयलिङ्गी हिजड़ा, नौकरानी आदि अर्थ होते हैं। यहां पर अन्तिम अर्थ ही अभीष्ट है।

उत्तमपदस्थानीययुवतिमनुकुर्वाणा उत्तमपदारोपितनीचयुवतिः ॥

(ऊ) मत्तोक्तिच्छाया

मत्तोक्तिच्छाया यथा—

'पि पि प्रिय स स स्वयं मु मु मुखासवं देहि मे
त त त्यज दु दु द्रुतं भ भ भ भाजनं काञ्चनम्।

इति स्खलितजल्पितं मदवशात्कुरङ्गीदृशः
प्रगे हसितहेतवे सहचरीभिरध्यैयत ॥ ४२ ॥'

सेयं स्खलन्त्या मत्तोक्तेरनुकृतिर्मत्तोक्तिच्छाया ॥

जैसे—कोई मदपान करने के कारण मदहोश हो रही स्त्री कहती है कि, "हे प्रिय, तुम स्वयं ही मुझे अपने मुख की मदिरा प्रदान करो, शीघ्र ही इस सोने के पात्र को फेंक दो।" मद के कारण मृगनयनी के अस्फुट रूप से कहे गए शब्दों का प्रातः काल हंसी के लिए सखियाँ ध्यान दिलाती रहीं ॥ ४२ ॥

यहाँ स्खलित हो रहे पदों का उच्चारण करती हुई मदमत्ता का अनुकरण होने से मत्तोक्तिच्छाया है।

पि पि प्रियेति। अव्यक्तवृत्तिरूपं स्खलितजल्पितम् ॥

(६) मुद्रालंकार, तथा उसके छः भेद

साभिप्रायस्य वाक्ये यद्वचसो विनिवेशनम्।
मुद्रां तां मुत्प्रदायित्वात्काव्यमुद्राविदो विदुः ॥ ४० ॥
सास्मिन्पदस्य वाक्यस्य विभक्तेर्वचनस्य च।
समुच्चयस्य संवृत्या षोढा न्यासेन जायते ॥ ४१ ॥

वाक्य में विशेष प्रयोजन से किसी पद का जो सन्निवेश किया जाता है, उसे आनन्द देने के कारण, काव्यानन्द को जानने वाले विद्वान् मुद्रा नाम से जानते हैं। काव्य में वही पद, वाक्य, विभक्ति, वचन, समुच्चय तथा संवृति के सन्निवेश से छः प्रकार का हो जाता है ॥ ४०-४१ ॥

स्व० भा०—कुछ अन्य आलंकारिकों ने भी मुद्रालंकार माना है, किन्तु उनके मुद्रालंकार भोज से भिन्न हैं। जयदेव ने मुद्रालंकार की परिभाषा यों दी है—

सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः। नितम्बगुर्वी तरुणी दृग्युग्मविपुला च सा ॥ ५।१३९ ॥

साभिप्राय विशेषण तथा विशेष्य होने पर क्रमशः परिकर तथा परिकराङ्कुर अलंकार होते हैं (द्रष्टव्य चन्द्रा० ५।६२।६३) किन्तु भोज के मुद्रालंकार में विशेषण और विशेष्य के अतिरिक्त पदों में भी होता है।

साभिप्रायेति। यद्यपि संपूर्णमेव काव्यं वक्त्रभिप्रायप्रतिच्छन्दकभूतम्, उक्तं च—'वक्त्रभिप्रायं सूचयेयुः' इति, तथापि नास्मिन्नितरसाधारणतया वाक्यार्थगोचरमभिप्रायमावेदयत्येव काव्यसनाथीकरणक्षमवक्त्रभिप्रायविशेषप्रतिरूपक एकदेशनिवेशो दृश्यते। अत एवाङ्गुलीयादिमुद्रेव मुद्रेत्युच्यते। निरुक्तिमाह—मुत्प्रदायित्वादिति। मुद्युपपदे रातेर्दानकर्मणः के रूपम्। मुद्रैव पदादिप्रकारयध्वनिव्यवहारभूमिरन्येषाम् ॥

सास्मिन्निति। पदं प्रातिपदिकं कृत्तद्धितसमासरूपम्। विभक्तिवचनयोः सामान्यविशेषभावेऽपि पृथक्पृथगभिप्रायव्यञ्जकतया निर्देशः। आस्तामित्यादिवचनसंकोचः संवृतिः ॥

(अ) पदमुद्रा का उदाहरण

तासु पदमुद्रा यथा—

'निर्माल्यं नयनश्रियः कुवलयं वक्त्रस्य दासः शशी
भ्रूयुग्मस्य सनाभिमन्मथधनुर्ज्योत्स्ना स्मितस्याञ्चलः।

संगीतस्य च मत्तकोकिलरुतान्युच्छिष्टमेणीदृशः
सर्वाङ्गीणमहो विधेः परिणतं विज्ञानचित्रं चिरात् ॥ ४३ ॥'

अत्र निर्माल्यं, दासः, सनाभि, अञ्चलः, उच्छिष्टमिति पदानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयेण मुत्प्रदायिनां साभिप्रायनिवेशादियं पदमुद्रा ॥

इनमें से पद मुद्रा का उदाहरण—

नीलकमल तो उस मृगनयनी की नेत्रच्छटा का निर्माल्य है, चन्द्रमा उसके मुख का दास है, कामदेव का धनुप उसकी दोनों भौंहों का सहोदर है, चाँदनी उसकी मुस्कान का आँचल है, मत्तकोकिल के शब्द उसके संगीत की जूठन हैं। आश्चर्य है कि, कुछ ही समय में विधाता की ज्ञानपूर्ण विचित्र रचना पूर्णतः परिवर्तित हो गयी है ॥ ४३ ॥

यहाँ निर्माल्य, दास, सनाभि, अञ्चल, उच्छिष्ट इन आनन्ददायी पदों का गौणवृत्ति के माध्यम से एक प्रयोजनविशेप से छन्द में सन्निवेश करने से पदमुद्रा है।

स्व० भा०—एक पद के भिन्न रूपों में कई अर्थ हो सकते हैं। उसका जो साक्षात् संकेतित अर्थ प्रकट होता है, उसे वाच्य, अभिधेय अथवा मुख्य अर्थ कहते हैं। यह अर्थ अभिधा व्यापार द्वारा प्रकट होता है; किन्तु उसी से मिलता-जुलता—न तो पूर्णतः वही अथवा न तो पूर्णतः भिन्न-अर्थ प्रकट होता है उसे लक्ष्य कहते हैं। इसमें मुख्यार्थ बाध होने पर भी तद्योग होता ही है। चूंकि यह अर्थ मुख्यार्थ नहीं होता है अतः उसे प्रकट कराने वाली वृत्ति भी गौण ही होती। ध्वनिवादी आचार्य व्यञ्जना, ध्वनन, अथवा व्यापृति नाम का व्यापार स्वीकार किया है जो मुख्यार्थ से सर्वथा विपरीत अर्थ भी प्रकट करा सकता है।

प्रस्तुत प्रसंग में ही स्पष्ट है कि निर्माल्य, आदि पदों का मुख्य अर्थ वहाँ नहीं है, उनका सम्बन्ध भी वहाँ नहीं अपेक्षित है जो वस्तुतः है किन्तु उन अमुख्य अर्थों तथा सम्बन्धों को यहाँ प्रकट किया गया है। इन अर्थ को प्रकट कराने वाली वृत्ति लक्षणा है जो गौण है। इस प्रकार लक्षणा द्वारा प्रकट अर्थ अत्यन्त मनोरम होने से इन पदों का प्रयोग किया गया है। इन पदों के प्रयोग से ही यह अवस्था उत्पन्न हो सकी है, अतः यहां पदमुद्रा है।

गौणवृत्तिव्यपाश्रयेणेति। निर्माल्यादिपदानामत्यन्ततिरस्कृतवाच्यानामतिविच्छायत्वादिलक्षणाद्वारेण लावण्यविशेषध्वननात्सहृदयहृदयावर्जकानां निवेशो दृश्यते।

एवम्—

'ताला जाअन्ति गुणा जाला ते सहिँअएहिँ धेप्पन्ति।
रविकिरणाणुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ ॥'

तथा—

'अमृतममृतं चन्द्रश्चन्द्रस्तथाम्बुजमम्बुजं
रतिरपि रतिः कामः कामो मधूनि मधून्यपि।'

इत्यादावर्थान्तरसंक्रमणादिना तत्प्रकाश्यो ध्वनिरनुसंधेयः ॥

(आ) वाक्यमुद्रा

वाक्यमुद्रा यथा—

'यत्स्वच्छे सलिलात्मनि प्रतिफलद्देवे त्रियामापतौ
पीयूषाकृति पर्यवस्यति किल ज्योत्स्नेति तत्त्वान्तरम्।
निग्मं धाम चिरं चकास्ति दिवि यत्तत्रास्ति दिव्यः पुमान्
यं विज्ञातवतां त्रुटन्ति निखिला भूयो भवग्रन्थयः ॥ ४४ ॥'

अत्र 'तत्रास्ति दिव्यः पुमान्' इत्यादेर्वाक्यान्तरस्य पूर्ववाक्योपकारित्वेन मुत्प्रदायकस्याभिप्रायपूर्वनिवेशादियं वाक्यमुद्रा ॥

वाक्य मुद्रा वहाँ होती है।—

जैसे—जो अमृतात्मक स्वरूप वाला निर्मल एवं जलात्मक चन्द्रदेव में ज्योत्स्ना रूप एक दूसरे तत्त्व के रूप में परिणत हो जाता है, जो द्यु लोक में प्रखर प्रकाश के रूप में चिरकाल तक चमकता रहता है, उसमें निःसंदेह कोई दिव्य पुरुष हैं जिसे जानने वालों के सम्पूर्ण भवबन्धन टूट जाते हैं ॥ ४४ ॥

इस उदाहरण में 'तत्रास्ति दिव्यः पुमान्' आदि आनन्ददायी दूसरे वाच्य के पूर्ववाक्य के उपकारक के रूप में एक विशेष प्रयोजन से सन्निविष्ट हो जाने से यहां वाक्यमुद्रा है।

स्व० भा०—प्रस्तुत छन्द में एक प्रकाशक देव के विभिन्न तेजों के रूप में चमकने का निरूपण करते समय कवि को 'य एष आदित्यपथं व्याप्य पुरुषो दीप्यते' आदि उपनिषद् वाक्यों के अर्थ का सन्निवेश अभीष्ट है। कवि जहाँ एक ओर देव की विलक्षण शक्ति का ज्ञान कराता है, वहीं उपनिषद् के संदर्भों की ओर अध्येता का ध्यान आकृष्ट करके एक विशेष प्रकार का संदर्भजन्य चमत्कार प्रकट करना चाहता है। अतः प्रयोजन विशेष से इस वाक्य को छन्द में स्थान देने से मुद्रालंकार है।

यस्स्वच्छ इति। आदित्यकला एव प्रतिफलिताश्चन्द्रव्यपदेशं लभन्त इत्यागमः। तदाह—

'सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशम्।
दलयन्ति दर्पणोदरविहता इव मन्दिरस्यान्तः ॥' इति।

पूर्ववाक्योपकारित्वेनेति। देवे पीयूषाकृति तत्त्वान्तरं तिग्मं धाम चकास्तीति च यदगाधतया तर्कितमिति किलशब्दकटाक्षितमभिधानम्। तत्र किं संबन्धमित्याकाङ्क्षाविपूरकं तत्रास्तीत्यादि वाक्यम्। तथा हि—'य एष आदित्यपथं व्याप्य दीप्यते' इत्याद्युपनिषदर्थनिवेशनमभिप्रायपूर्वकमाभासते। एतेनान्येऽपि वाक्यप्रकाश्यप्रकाराः परिगृहीता बोद्धव्याः। पूर्वं वाक्येऽन्तर्भावितद्वित्वमवसेयमिति ॥

(इ) विभक्तिमुद्रा

विभक्तिमुद्रा यथा—

'श्रियः प्रदुग्धे विपदो रुणद्धि यशांसि सूते मलिनं प्रमार्ष्टि।
संस्कारशौचेन परं पुनीते शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः ॥ ४५ ॥

अत्र प्रदुग्धे, रुणद्धि, सूते, प्रमार्ष्टि, पुनीते, इति तिङ्विभक्तीनां 'दुहिपच्योबहुलं सकर्मकयोरुपसंख्यानम्' (३।१।८७ वा०), 'रुधादिभ्यः श्नम्' (३।१।७८) इत्यादिभिर्विशेषलक्षणयोगैः परस्मैपदात्मनेपदपर्यायेण निवेशो दृश्यते। श्रियः, विपदः, यशांसि, मलिनं संस्कारशौचेन, इति च सुब्विभक्तीनाम् 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (६।४।७७) इत्यादिविशेषलक्षणवतीनामविकृतविकृतानां मङ्गलामङ्गलार्थपरत्वेन मङ्गलाद्यर्थानामभिप्रायतः प्रयोगो लक्ष्यते। तेनेयं विभक्तिमुद्रा भवति ॥

विभक्तिमुद्रा का उदाहरण—

सम्पत्तियों को प्रकट करती है, (दूसरों की) विपत्तियों को रोकती है, कीर्ति को जन्म-

देती है, कालुष्य को दूर करती है और अपनी संस्कार की शुद्धता से दूसरे को भी पवित्र करती है, (इस प्रकार) विमल बुद्धि तो (साक्षात्) कामधेनु है ॥ ४५ ॥

यहां पर 'प्रदुग्धे', 'रुणद्धि', 'सूते', 'प्रमार्ष्टि', 'पुनीते', इन तिङ् विभक्ति वाले पदों का 'दुह्' तथा पच् इन दो सकर्मक धातुओं से (कर्मकर्तृप्रकरण में) विकल्प से यक्, आदि हो" तथा 'रुध आदि धातुओं से श्नम् हो' आदि विशेष लक्षणों को लगाकर क्रमशः परस्मैपद तथा आत्मनेपद के स्थान पर प्रयोग किया गया दृष्टिगोचर होता है। 'श्रेयः', 'विपदः', 'यशांसि', 'मलिनं', 'संस्कारशौचेन' इन सुप् विभक्ति वाले पदों का "अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ" अर्थात् स्वर परे रहते, श्नुप्रत्ययान्त इकार तथा उकारान्त धातुओं और भ्रू के इकार तथा उकार का 'इयङ्' और 'उवङ्' आदेश हो जाता है" आदि विशेष नियमों से बने हुए, अविकृत तथा विकृत पदों का जिनका अभिप्राय कल्याणपरक तथा अकल्याणपरक दोनों हैं, केवल कल्याणपरक अर्थों के अभिप्राय से प्रयोग किया गया है। इसलिये यहां विभक्तिमुद्रा नामक अलंकार है।

स्व० भा०—विभक्तिमुद्रा के उदाहरण में प्रदुग्धे आदि क्रियाओं का प्रयोग एक विशेष अभिप्राय से हुआ है। इनमें प्रथम तथा तृतीय क्रियायें आत्मनेपद तथा द्वितीय और चतुर्थ परस्मैपदों के रूप में प्रयुक्त हुई हैं। इनके दूसरे रूप सामान्यतः परस्मैपद तथा आत्मनेपद में होते हैं। यहां इनका अपने विपरीत पदों पर प्रयोग प्रयोजनविशेष से हुआ है। 'दुहि' धातु का प्रयोग 'दुहिपच्यो०' आदि सूत्रों से कर्मकर्तृप्रक्रिया के अन्तर्गत सुकरता का बोध कराने के लिये हुआ है। यदि यह विशिष्ट प्रयोग न होता तो सुकरता का अर्थ यहां प्रकट नहीं होता। इसी प्रकार 'रुध्' धातु का 'श्नम्' प्रत्यय के योग से परस्मैपदीय रूप सिद्ध किया गया है। इसका परस्मैपदीय प्रयोग होने पर ही दूसरे को विपत्ति के अवरोध का फल मिल सकता है अन्यथा नहीं। इसी ढंग से 'सूते', 'प्रमार्ष्टि' पुनीते धातुओं के क्रमशः आत्मनेपदीय तथा परस्मैपदीय प्रयोग भी विशिष्ट अभिप्राय व्यक्त करते हैं।

'श्रियः', 'विपदः', 'यशांसि', 'मलिनं' तथा 'संस्कारशौचेन' पद भी 'सुप्' प्रत्ययान्त हैं। ये क्रमशः मङ्गल तथा अमङ्गल अर्थों के वाचक हैं। इनमें से 'श्रियः' पद की—'श्री' के द्वितीया बहुवचन रूप की—सिद्धि के लिये 'अचिश्नु०" आदि सूत्र द्वारा 'इयङ' आदेश करके मूलरूप में विकार उत्पन्न करना पड़ा, 'विपदः' पद में विकार नहीं हुआ, किन्तु 'जस्' के सकार का रुत्व और विसर्ग करने से प्रत्यय विकृत करना पड़ा, 'यशांसि' में प्रकृति तथा प्रत्यय दोनों में विकार हुआ, इसी प्रकार 'मलिनं' और 'संस्कारशौचेन' में भी अपेक्षित विकार उत्पन्न करके ये रूप बनाये गए। यद्यपि इन रूपों को बनाने में काफी प्रयास करना पड़ा, विशेष विकार लाने के लिये विशिष्ट सूत्रों का प्रयोग करना पड़ा, फिर भी यदि ये पद इस विभक्ति में न आते तो अपेक्षित अर्थ नहीं प्रकट हो सकता था। अतः अर्थविशेष की सिद्धि के लिये इन तिङ् तथा सुप् विभक्तियों का प्रयोग करने से विभक्तिमुद्रा हुई।

श्रिय इति। बुद्धिरूपा कामधेनुः श्रियः प्रथयतीयुक्ते न तथा प्रकर्षः, यथोक्ते तु विशिष्टः कवेरभिप्राय उन्नीयते। तथा हि—यथोदुम्बरः स लोहितं फलं पच्यत इति कर्मकर्तरि फलोदुम्बरयोरैकात्म्यमवसीयते तथेहापि श्रीरूपमात्मानं बुद्धिः प्रकाशयतीति। अत एव हि 'दुहिपच्योर्बहुलं सकर्मकयोः' (वा० ३।१।८७) इति बाह्यकर्मविशिष्टस्य कर्तुः कर्मवद्भावः शिष्यते। 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' (३।१।८९) इति यगभावोऽपि विशेषाभिप्रायनियत एव रुणद्धीत्यागमरूपः। सूते इति लुसः। प्रमार्ष्टीति वृद्धियोजकः। पुनीते इति स्वरूपेण विकृतश्च विकरणः। आत्मनेपदपरस्मैपदयोरेकान्तरितो निवेशः। श्रिय इति

प्रकृतिभागे इयङादेशो विकारो विभक्तावपि विकारः । विपद इति प्रकृतिरविकृता । विभक्तिस्तु रुत्वेन विकृता । यशांसीति द्वे अपि विकृते । मलिनमिति वैकल्पिकपरसवर्णविधौ द्वयमविकृतम् । संस्कारशौचेनेति प्रकृतिरविकृता । प्रत्ययस्त्विनादेशेन विकृतः । तथा श्रिय इति माङ्गल्यम्, विपद इति विपरीतमिति क्रमेण शुद्धा बुद्धिः कामधेनुरिति । मङ्गलपरम्परानिवेशनेनोपसंहारश्चित्रांशुकोज्ज्वल इव प्रतिभासमानो नु बिम्बमिव कामपि कान्तिमभिव्यञ्जयत्तूपलक्ष्यते । मङ्गलामङ्गलार्थपदपरत्वेनेति । मङ्गलामङ्गलेभ्यः पदेभ्यः परिवर्तित्वेनेत्यर्थः ॥

(ई) वचनमुद्रा

वचनमुद्रा यथा—

> 'विश्वंभरा भगवती भवतीमसूत
> राजा प्रजापतिसमो जनकः पिता ते ।
> तेषां वधूस्त्वमसि नन्दिनि पार्थिवानां
> येषां कुलेषु सविता च गुरुर्वयं च ॥ ४६ ॥'

अत्र वयमित्यात्मनि बहुवचनेन सविता चेति सवितर्येकवचनेन सवितुरप्यहं बहुमत इत्यभिप्रायो वक्तुरितीयं वचनमुद्रा ॥

वचनमुद्रा का उदाहरण—

(वसिष्ठजी सीता के पास सन्देश भेजते हैं कि) भगवती पृथ्वी ने तुमको जन्म दिया है, (वह तुम्हारी माता हैं) और प्रजापति के सदृश प्रभावशाली राजा जनक तुम्हारे पिता हैं । हे नन्दिनि, तुम उन राजाओं की पुत्रवधू हो जिनके कुल के पूज्य सूर्य हैं, और हम लोग हैं) ॥४६॥

यहां 'वयम्' बहुवचन पद का प्रयोग अपने लिये तथा 'सूर्य' इस एकवचन का प्रयोग सूर्य के लिए करके यह वक्ता कहना चाहता है कि वह सूर्य का भी पूज्य है इसलिये यहां वचनमुद्रा है ।

स्व० भा०—जब किसी पद का प्रयोग किसी वचनविशेष में किसी अभिप्राय की सिद्धि के लिये किया जाता हैं, तब वहां वचनमुद्रा होती है । प्रस्तुत प्रसंग में ही वसिष्ठ का अपने लिये बहुवचन 'वयम्' पद का प्रयोग उनके अहंभाव को प्रकट करता है । इस अहं के प्रदर्शन के लिये ही 'वयम्' का प्रयोग कवि को अभीष्ट था ।

विश्वंभरेति । अहंकारप्ररोहस्य पूर्वं गुणप्रयोजकत्वमुक्तम् । इह तु कवेरभिप्रायविशेषस्यालंकारघटकतेति विभागः ॥

(उ) समुच्चयमुद्रा

समुच्चयमुद्रा यथा—

> 'जातश्चायं मुखेन्दुस्ते भ्रुकुटिप्रणयी पुरः ।
> गतं च वसुदेवस्य कुलं नामावशेषताम् ॥ ४७ ॥'

अत्र 'आशंसायां भूतवच्च' (३।३।१३२) इति भूतवद्भावस्य हयग्रीवप्रभावातिशयशंसिनः समुच्चयद्वारेण निवेशादियं समुच्चयमुद्रा ॥

समुच्चयमुद्रा का उदाहरण—

(हयग्रीव की शुभकामना करता हुआ कोई कहता है कि) तुम्हारा यह मुखचन्द्र उसके समक्ष भौंहों का प्रेमी बना कि वसुदेव के कुल का केवल नाम भर शेष रहा ॥ ४७ ॥

यहां पर "अभिलाषा व्यक्त करने पर भूतकाल के भी प्रत्ययों का प्रयोग हो सकता है" इस सूत्र से भूतकाल की दशा वाले हयग्रीव के प्रताप का आधिक्य प्रकट करने वाले पदों का समुच्चय के द्वारा सन्निवेश करने से समुच्चयमुद्रा हुई।

स्व० भा०—समुच्चय का अर्थ होता है दो वाक्यों का संयोग। वाक्यों का संयोग करनेवाला अव्यय 'च' प्रायः प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत उदाहरण में प्रयुक्त 'च' अव्यय दोनों वाक्यों को जोड़ रहा है। दोनों वाक्यों में जो भविष्यत् के अर्थ में 'क्त' का प्रयोग हुआ है वह "आशंसायां भूतवच्च" सूत्र के अनुसार हैं। इस सूत्र का अर्थ है कि 'भविष्यत् काल में भूतकाल तथा वर्तमान काल के भी प्रत्यय हो सकते हैं। यहां हयग्रीव से वक्ता के कहने का अभिप्राय यही है कि आपने क्रोध से भौंहों को टेढ़ा किया नहीं कि वसु कुल समाप्त हुआ। अतः भ्रुकुटि को टेढ़ा करने का अवसर भी भविष्य में होगा और वसुदेव के कुल का विनाश भी किन्तु उक्त सूत्र के प्रभाव से यहां भूतकाल का वाचक 'क्त' प्रत्यय प्रयुक्त हुआ है।

अत्राशंसायामिति। गतमिति निष्ठाप्रत्ययेन भूतताद्योतनादाशंसाप्रतीतावपि कथं प्रक्रतपोपः हृत्यत उक्तम्—समुच्चयद्वारेणेति। तेन हि तुल्यकक्षताप्रतीतौ स्वं चेदङ्गीकृतरोपस्तदा सिद्धमेव समीहितमिति वक्तुरध्यवसायविशेषप्रतीतौ समुच्चय एव मुद्रापदवीमारोहतीति। शेषं सुबोधम्॥

(ऊ) संवृतिमुद्रा का उदाहरण

संवृतिमुद्रा यथा—

'मणिरत्नं प्रसेनस्य तथानार्येण विष्णुना।
लब्धं येनाद्ययोगेन तेन किं कीर्तितेन वः॥ ४८॥'

अत्र 'कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः', ततः 'किं तेन वः कीर्तितेन' इति साभिप्रायसंवृत्तिकरणादियं संवृतिमुद्रा॥

संवृतिमुद्रा का उदाहरण—

जैसे—जिस दुष्ट विष्णु के द्वारा प्रसेन का वह मणिरत्न ले लिया गया, आप लोगों को आज उसकी प्राप्ति अथवा कीर्तन से क्या लाभ? (अर्थात् वैसे दुष्ट का नाम ग्रहण करने से कोई लाभ नहीं)॥ ४८॥

यहां पर "चूंकि पापियों की चर्चा करने से भी अत्यन्त अमंगल होता है" अतः आपको उसके कीर्तन से क्या लाभ? (अर्थात् आप लोगों को उसका नाम भी नहीं लेना चाहिये) इस प्रकार के उद्देश्य विशेष के कारण मना करने से यहाँ संवृतिमुद्रा हुई।

स्व० भा०—किसी व्यक्ति की किसी बात को बन्द कराना संवृति है। यहां पर विष्णु की पूजा, अर्चा, नाम-संकीर्तन आदि को व्यर्थ बतलाया गया है। इस प्रकार की व्यर्थता का प्रतिपादन करके बात रोक दी गई है, अतः यहां संवृतिमुद्रा है।

(७) उक्ति अलंकार

विधिद्वारेण वा यत्र निषेधेनाथ वा पुनः।
प्रतीयते विशिष्टोऽर्थः सोक्तिरत्राभिधीयते॥ ४२॥
विधेरथ निषेधात्स्यादधिकाराद्विकल्पतः।
नियमात्परिसंख्याया उपाधेः सह षड्विधा॥ ४३॥

जहां पर किसी विध्यात्मक वाक्य अथवा निषेधात्मक वाक्य के द्वारा कोई विशेष अर्थ प्रतीत होता है, वहां काव्य में उस अलंकार को 'उक्ति' नाम से अभिहित किया जाता है। काव्य में यह उक्ति (१) विधि, (२) निषेध, (३) अधिकार, (४) विकल्प, (५) नियम और (६) परिसंख्या की उपाधि के कारण छः प्रकार की होती है।

स्व० भा०—जहां कोई कार्य पहले से न हो रहा हो उसे कराना 'विधि' है। किसी हो रहे कार्य को रोक देना निषेध है। किसी कार्य के फल से सम्बन्ध का द्योतन अधिकार है। दो समान स्तर के पदार्थों में एक का बाध करके दूसरे से सम्बन्ध करना विकल्प है। किसी से दूर हटने का विधान नियम है। विधि तथा निषेध से निषेध और विधि की प्राप्ति परिसंख्या है।

विधीति। उक्तिरभिधा। सा द्वयी भावाभावविषयत्वात्। तर्हि गोरपत्यमयं गौरित्यतः को भेदः इत्याशङ्क्य .विधिद्वारेण वेत्यादि। भावज्ञानं विधिरभावज्ञानं।निषेधः। लोके गृहीतव्युत्पत्तिबलेन भावाभावान्यतरसंवित्सरणिमारुह्य काव्यैकगोचरे रसाद्यात्मनि पर्यवस्यन्ती भवत्युक्तिरलंकार इति भावः॥

सोऽयं भावादिप्रपञ्चेन षोढा विधिः प्रथम इत्याह—

विधेरिति। उपाधिर्विशेषणम्। विध्यधिकारौ शुद्धभावभेदौ। निषेधनियमौ शुद्धप्रतिषेधभेदौ। विकल्पपरिसंख्ये संकीर्णभेदावपि। तत्राप्राप्तप्रापणो विधिः। प्रसक्तप्रतिषेधो निषेधः। क्रियाफलसंबन्धोऽधिकारः। तुल्यकक्षयोरेकबाधेनान्यसंबन्धो विकल्पः। व्यावृत्तिफलको विधिर्नियमः। शेषविधिनिषेधनान्तरीयकौ विशेषनिषेधविधी परिसंख्या॥

(१) विधि उक्ति का उदाहरण

तासु विध्युक्तिर्यथा—

'शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने'

अत्राप्राप्तौ प्रापणवचनं विधिः॥

इन भेदों में विधि नामक उक्ति का भेद वहां होता है जैसा (निम्नलिखित छन्द में)—

(कण्व जी शकुन्तला से कहते हैं कि) 'अपने बड़ों की सेवा करना, अपनी सौतों के साथ प्रिय सखी सा व्यवहार करना।'

यहां पर जो बात प्राप्त नहीं थी उसकी प्राप्ति का निर्देश होने से विधि है।

अप्राप्तौ प्रापणवचनमिति। अप्रवृत्तप्रवर्तनात्मको हि विधिः कथमितरापेक्षत्वे संगच्छते। अत एवोच्यते—'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इति॥

(२) निषेधोक्ति का उदाहरण

निषेधोक्तिर्यथा—

'भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।'

अत्र प्राप्तौ निवारणं निषेधः॥

निषेधोक्ति वहां होती है।

जैसे—'अपमानित होने पर भी क्रोधावेश में पति के प्रतिकूल मत जाना'

यहां एक कार्य के प्राप्त होने पर उसकी मनाही होने से निषेध नाम की उक्ति है)

प्राप्तौ निवारणमिति। रोषेण प्रसजत्प्रतीपाचरणान्निवार्यते॥

(३) अधिकारोक्ति का उदाहरण

अधिकारोक्तिर्यथा—

'भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी

यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥ ४९ ॥
अत्र विधिनिषेधज्ञानाद्विधिनिषेधयोग्यताधिकारः ॥

अधिकारोक्ति का उदाहरण—

जैसे—सेवकों के प्रति अत्यन्त निपुणता का व्यवहार करना, भोगों में घमण्डी मत होना। इस प्रकार से युवतियां गृहिणी का पद प्राप्त करती हैं। इसके विपरीत आचरण करने वाली तो कुल की वला होती हैं ॥ ४९ ॥

विधि तथा निषेध का ज्ञान होने से यहां विधि तथा निषेध की योग्यता का अधिकार है।

स्व० भा०—प्रथम विधि का अर्थात् कौन सा कार्य करना है इसका ज्ञान अपेक्षित है, तदनन्तर जो निषिद्ध है उसका। दोनों का ज्ञान होने के वाद यह स्पष्ट होता है कि किसी व्यक्ति को कौन कार्य करना चाहिये और कौन नहीं। ऐसे कार्यों के फल को प्राप्त करने की क्षमता ही अधिकार है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'शुश्रूषस्व' तथा 'भूयिष्ठं भव दक्षिणा' ये दो विधानतः प्राप्त कार्य हैं और 'मा स्म प्रतीपं गमः' तथा भोगेष्वनुत्सेकिनी ये दो निषिद्ध हैं। विहित कर्मों को करने से प्राप्त होने वाला फल होगा—गृहिणीपद की प्राप्ति और निषिद्ध क्रिया का फल होगा कुल की आधि बनना। अतः यह गृहिणीपद की प्राप्ति तथा कुल के लिए चिन्ता का विषय बनना अधिकार है।

विधिनिषेधज्ञानादिति। विहितनिषिद्धक्रियाज्ञानेन तत्फलसंवन्धयोग्यत्वमधिकारः। शुश्रूषस्वेति, भूयिष्ठं भव दक्षिणेति द्वे विहिते। मा स्म प्रतीपं गम इति, भोगेष्वनुत्सेकिनीति द्वे निषिद्धे। विधिनिषेधयोग्यता विधिनिषेधफलसंवन्धयोग्यत्वम्। गृहिणीपदप्राप्तिर्विहितक्रियाफलम्। कुलाधीभवनं तु निषिद्धक्रियाफलमिति ॥

(४) विकल्पोक्ति का उदाहरण

विकल्पोक्तिर्यथा—

'एको नेता क्षत्रियो वा द्विजो वा एका विद्याध्यात्मिकी वा त्रयी वा।
एका भार्या वंशजा वा प्रिया वा एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा ॥ ५० ॥'
सोऽयं जातिक्रियागुणद्रव्यावलम्बी चतुर्विधो विकल्प ॥

विकल्पोक्ति वहां होगी,

जैसे—एक ही नायक हो सकता है, वह चाहे क्षत्रिय हो या ब्राह्मण, एक ही विद्या (ग्राह्य है) वह आध्यात्मिकी हो अथवा वेद से सम्बद्ध, एक ही पत्नी (प्रशस्त है) वह चाहे सत्कुल में उत्पन्न हो चाहे प्रेयसी हो, एक ही मित्र हो सकता है वह चाहे राजा हो चाहे संन्यासी ॥ ५० ॥

यह विकल्प जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के आधार पर चार प्रकार का होता है।

स्व० भा०—किसी कार्य, वस्तु, गुण आदि का होना अथवा न होना ही विकल्प है। जहां पर कर्ता, गृहीता अथवा वक्ता को अनेक में से एक का ग्रहण करना पड़ता है तभी वैकल्पिकी स्थिति स्पष्ट हो पाती है। विकल्प की दशा करने तथा न करने दोनों की हो सकती है, किन्तु दिये हुये उदाहरण के अनुसार यथेच्छानुसार किसी एक को स्वीकार करना आवश्यक है। 'बहुलम्' अथवा विकल्प का रूप चार प्रकार का माना जाता है।

क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

वृत्ति में भोज ने विकल्पों का चार प्रकार निर्दिष्ट करके यह स्पष्ट किया है कि एक पद का

अर्थ द्रव्य, गुण, क्रिया अथवा जाति कोई भी हो सकता है। महाभाष्य में पतञ्जलि ने 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' कहा है।

रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में भोज से पहले ही स्वीकार किया था कि—

अर्थः पुनरभिधावान् प्रवर्तते यस्य वाचकः शब्दः।
तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरिति भेदाः॥ ७।१॥

भोजराज के परवर्तियों में मम्मट की पंक्ति—"संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा" अधिक प्रसिद्ध है।

सोऽयमिति। जात्यादय एव पदार्थास्ते च विकल्पन्ते। कुतो जात्यादिना तद्व्यवस्था। वाशब्दः पाक्षिकभावमाहेति भावाभावसंकरः॥

(५) नियमोक्ति का उदाहरण

नियमोक्तिर्यथा—

'विवादोऽपार्थ एवायं पार्थ एव धनुर्धरः।
यो न केवलमात्मीयैः परैरप्यभिनन्द्यते॥ ५१॥'

सोऽयमयोगान्ययोगात्यन्तायोगव्यवच्छेदलक्षणस्त्रिप्रकारो नियमः॥

नियमोक्ति वहां होती है,

जैसे—यह विवाद व्यर्थ ही है। अर्जुन ही धनुर्धर हैं। जो केवल अपने ही लोगों द्वारा नहीं अपितु अन्य लोगों के द्वारा भी अभिनन्दित ही होते हैं॥ ५१॥

यह नियमोक्ति अयोगव्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद तथा अत्यन्तायोगव्यवच्छेद नामों से तीन प्रकार की है।

स्व० भा०—किसी से अलग करने वाले विधान को नियम कहते हैं। यह पृथक्करण तीन प्रकार से होता है। कहीं तो पृथकता के वाचक पद का प्रयोग विशेषण के साथ होता है, कहीं विशेष्य के साथ तथा कहीं क्रिया के साथ होता है। ऐसी दशा में विशेषता के साथ आकर पृथक् करने वाला पद यह बात सिद्ध करता है कि विशेष्य में केवल वही गुण है अथवा वह गुण विशेष निश्चित ही उस विशेष्य में है। विशेष्य के साथ आकर वह यह स्पष्ट करता है कि व्यक्ति विशेष ही किसी गुणविशेष से सम्पन्न है, दूसरे नहीं हैं। क्रिया के साथ आने पर वह पद द्योतित करता है कि क्रियाविशेष निश्चित रूप से होती है, उसमें विकल्प नहीं होता। पारिभाषिक शब्दावली में इन्हें क्रमशः अयोगव्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद तथा अत्यन्तायोगव्यवच्छेद कहते हैं। योग का सामान्य अर्थ 'सम्बन्ध' है और व्यवच्छेद का 'पृथकता'। अतः अयोगव्यवच्छेद का स्पष्ट अर्थ हुआ 'वह अवस्था जिसमें सम्बन्धहीनता अथवा सम्बन्ध के अभाव की पृथकता हो। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि वह अवस्था जिसमें असम्बद्ध पदार्थ को पृथक् कर दिया जाये। जैसे "पार्थः धनुर्धरः एव" इस प्रकार के वाक्य से यही अर्थ निकलता है कि धनुर्धरत्व गुण ही अर्जुन में है, अन्य गुण नहीं। इस प्रकार जिन गुणों से सम्बन्ध नहीं है वे अलग हो गए, जो हैं वे ही नियमित हो गए। दूसरी अवस्था में प्रतिज्ञा होगी "पार्थ एव धनुर्धरः"। इसमें धनुर्धरत्व गुण के दूसरों से हो सकने वाले सम्बन्ध की व्यावृत्ति कर दी गई है। अर्थात् उन गुणों का सम्बन्ध पार्थ से ही है, दूसरे से नहीं। तीसरी अवस्था में जो सम्बन्ध नहीं है उसका पूर्णतः निषेध कर दिया जाता है। अर्थात् असम्बन्ध की पूर्णतः व्यावृत्ति हो जाती है।

प्रस्तुत उदाहरण में 'अपार्थ' विशेषण के बाद, 'पार्थ' विशेष्य के बाद 'एव' का प्रयोग व्यावर्तक के रूप में हुआ है। तीसरे वाक्य में 'केवलम्' पद अभिनन्दन क्रिया की न तो 'अयो-

गिता' का अथवा 'अन्ययोगिता' का ही व्यवच्छेद करता है, अपितु आत्यन्तिक अयोग का व्यवच्छेद करता है। प्रायः 'एव' पद का ही व्यवच्छेदक के रूप में प्रयोग होता आया है। उसके विषय में कहा गया है कि—'अयोगमन्ययोगं चात्यन्तायोगमेव च।

व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः ॥'

अपार्थ एवेति। विशेषणसंगत एवकारः केवलविशेषणयोगस्यासंभवे व्युत्पत्तिवशेन तदभावं व्यवच्छिन्दन्योगव्यावृत्ताववतिष्ठते। पार्थ एवेति विशेष्यसंगत एवशब्दस्तदन्यस्य धनुर्धरतारूपं विशेषणं व्यावर्तयन्नन्ययोगव्यवच्छेदद्योतको भवति। केवलमिति अभिनन्दनस्य नायोगं न वान्ययोगं व्यवच्छिनत्ति, किं तु तत्संबन्धं बोधयन्नात्यन्तिकमयोगमत्यन्तायोगव्यवच्छेदोऽभिधीयते ॥

परिसंख्योक्ति का उदाहरण

परिसंख्योक्तिर्यथा—

'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या वामेनाक्ष्णा न पश्यति।
काठिन्यमस्याः कुचयोः किमसद्यन्न रोचते ॥ ५२ ॥'

तदिदं विधिनिषेधाभ्यां शेषाभ्यनुज्ञानं परिसंख्येत्युच्यते ॥

परिसंख्योक्ति का उदाहरण—

जैसे—पाँच नख वाले पशु-पक्षियों में पांच भक्षणीय हैं। बायीं आंख से नहीं देख पाता है। इसके दोनों उरोजों में कठोरता है। असत् क्या है? जो इसको रुचिकर नहीं ॥ ५१ ॥

यहां विधि तथा निषेध वाक्यों से अवशिष्ट भाव का ज्ञान हो जाता है। अतः परिसंख्या कही जाती है।

स्व० भा०—मीमांसाशास्त्र में विधि, निषेध, परिसंख्या आदि विशिष्ट अर्थ रखते हैं, और इनका महत्त्व भी अपने ढंग से अधिक ही है। उन्हीं से मिलता-जुलता ही अर्थ यहां भी अभीष्ट है। विधि, निषेध आदि का यथास्थान विवेचन किया जा चुका है।

प्रस्तुत उदाहरण में परिसंख्या इसलिये है क्योंकि विधि तथा निषेधवाचक वाक्यों से शब्दशः अकथित अर्थ का परिज्ञान हो जाता है। इस प्रसंग में अवशिष्ट अर्थ का ज्ञान इस प्रकार होता है। पांच नाखून वाले प्राणियों में पांच ही भक्षणीय हैं, इसका अवशिष्ट अर्थ यह हुआ कि इनके अतिरिक्त अन्य अभक्ष्य हैं। बाईं आंख से नहीं देखता है, कहने का अर्थ यह हुआ कि दाहिनी आंख से देखता है। उरोजों में काठिन्य कहने का अर्थ हुआ कि यह बात उसकी वाणी आदि में नहीं है। इसी प्रकार अशोभन क्या है? यह प्रश्न होने पर 'जो इसको पसन्द नहीं' यह उत्तर इस बात को पुष्ट करता है कि इसके अतिरिक्त सब शोभन है। अतः जो अकथित अर्थ का ग्रहण है, वही परिसंख्या है।

काव्यशास्त्र में परिसंख्या नाम का एक अलंकार भी है। वहां पर इसका रूप विशेषत दर्शनीय है। 'नलचम्पू' आदि चम्पूग्रन्थों में इसके अनेक उत्कृष्ट निदर्शन उपलब्ध होते हैं।

पञ्च पञ्चेति। पञ्चनखेषु पञ्च भक्ष्या नान्ये। कुचयोरस्याः काठिन्यं न वचनादाविति विशेषविधी शेषनिषेधमनुजानीतः। वामेन न पश्यति दक्षिणेन तु पश्यत्येव। किमसदित्यशोभनम्? यदस्मै न रोचते इतरत्तु सदेवेति विशेषनिषेधौ शेषविध्यभ्यनुज्ञाविषयाविति ॥

(८) युक्ति अलंकार

अयुज्यमानस्य मिथःशब्दस्यार्थस्य वा पुनः।

योजना क्रियते यासौ युक्तिरित्युच्यते बुधैः ॥ ४४ ॥

(आपाततः) एक साथ अन्वित न हो रहे शब्द या अर्थ की फिर से जो योजना अर्थात् अपने अभिप्राय को प्रकट करने में सहायक पद का सन्निवेश—की जाती है उसे बुद्धिमान् लोग युक्ति कहते हैं ॥ ४४ ॥

अयुज्यमानस्येति । पूर्वं पदैकवाक्यता ततो वाक्यैकवाक्यत्वमनन्तरं प्रकरणैकवाक्यत्वमिति प्रबन्धनिर्वहणं यावत्कविव्यापारः । तत्र 'गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' इत्यादीनां लोके गृहीतव्युत्पत्तीनामेव यद्यपि काव्यानुप्रवेशस्तथापि भङ्गीभणितिरत्नाथान्येव काव्यपद्धतिमध्यासत इत्यग्रहतानामुपादेयत्वे यत्रापाततः परस्परमन्वयो न प्रतिभासते तत्रावश्यं कविना स्वाभिप्रायप्रतिच्छन्दकभूतविशेषनिवेशनेन विवक्षितवाक्यार्थप्रतीत्यस्खलनं विधेयम्, अत एव वैचित्र्यादलंकारता । तदिदमुक्तम्—अयुज्यमानस्येति । आपातत इति शेषः । योजना अन्वयौपयिकरञ्जकविशेषनिवेशनं तस्य विषयः । शब्दार्थौ शब्दः पदं वाक्यं प्रकरणं प्रबन्धः । अर्थः पदार्थो वाक्यार्थश्च ॥

विषयभेदात् षोढा युक्तिरित्याह—

पदं चैव पदार्थश्च वाक्यं वाक्यार्थ एव च ।
विषयोऽस्याः प्रकरणं प्रबन्धश्चाभिधीयते ॥ ४५ ॥

पद, पदार्थ, वाक्य, वाच्यार्थ, प्रकरण तथा प्रबन्ध (ये छः) युक्ति के विषय कहे जाते हैं ॥४५॥

स्व० भा०—सामान्यतः कवि ऐसे ही पदों का प्रयोग करता है जो परस्पर अन्वित होकर एकवाक्यता की सिद्धि कर सके । जब कहीं ऐसा उद्देश्य भग्न होने लगता है तब कवि अपनी प्रतिभा से ऐसी अन्वय को सिद्ध करने वाली पदावली का प्रयोग करता है जिससे एक स्पष्ट अर्थ का अवबोध हो जावे । कवि की यही योजना 'युक्ति' कही जाती है । यह असंगति कहीं पद के कारण, कहीं वाक्य के कारण, कहीं प्रकरण और कहीं प्रबन्ध के कारण होती है । इन चार प्रकारों को शब्दगत युक्ति के अन्तर्गत रखा जाता है । पदार्थ तथा वाक्यार्थगत योजना आर्थी योजना है ।

पदं चैवेति ॥

(१) पदयुक्ति

तत्र—

योगकारणपर्यायाङ्गाङ्गिभावपरम्पराः ।
पदयुक्तेर्निमित्तं स्युर्निरूढाः पदसिद्धये ॥ ४६ ॥

पदसिद्धि के लिये योगपरम्परा, कारणपरम्परा, पर्यायपरम्परा, तथा अङ्गाङ्गिभाव परम्परायें पदयुक्ति के कारण के रूप में निश्चित हैं ॥ ४६ ॥

स्व० भा०—पद समुदाय रूप वाक्य की एकदेशता की सिद्धि पदसिद्धि है । योग पद केवल अपना ही नहीं अपितु रूढ पदों का भी वाचक है । कारण का अर्थ यहां कार्यकारण दोनों है न कि केवल कारण ।

योगेति । योगेत्यादौ द्वन्द्वपरवर्ती परम्पराशब्दः प्रत्येकमन्वीयते । योगो योगरूढिः । कारणं कार्यकारणभावः । निरूढाः प्रमिताः । पदसिद्धये पदसमुदायात्मकवाक्यैकदेशतासिद्धये ॥

(२-६) पदार्थं आदि युक्तियाँ

यद्यपि पदानामर्थद्वारक एव संवन्धः, तथापि तदौपयिकविशेषः क्वचित्पदेष्वेव साक्षादवसीयते क्वचित्पदार्थेष्वित्यभिप्रेत्याह—

विरुद्धानां पदार्थानां जात्यादीनां परस्परम् ।
योजना येह तां युक्तिं पदार्थविषयां विदुः ॥ ४७ ॥
गर्भः सह निगर्भेण संवृत्तिः ससमुच्चया ।
हेतवो वाक्ययुक्तीनां क्रियतामेवमादयः ॥ ४८ ॥
यत्तदादेरुपादानं क्रियाभ्याससमुच्चयौ ।
क्रियासमभिहारश्च वाक्यार्थान्युज्यते मिथः ॥ ४९ ॥
यदश्रद्धेयशैलादिवर्णनाभ्युपपत्तये ।
वाक्यं सेह प्रकरणविषया युक्तिरिष्यते ॥ ५० ॥
प्रवन्धविषयाप्येवं युक्तिरुक्ता मनीषिभिः ।
उदाहरणमालासां रूपव्यक्त्यै निदर्श्यते ॥ ५१ ॥

जाति आदि परस्पर विरुद्ध पद के अर्थों की काव्य में जो योजना है—(अन्विति है) उसे पदार्थगत युक्ति कहते हैं । निगर्भ के साथ गर्भ, संवृत्ति, समुच्चय इसी प्रकार 'क्रियताम्' आदि वाक्ययुक्तिय के हेतु हैं । 'यत्–तद्' आदि का ग्रहण, क्रिया का अभ्यास और समुच्चय, तथा क्रिया का समभिहार वाक्यार्थों को परस्पर जोड़ देते हैं । उचित मात्रा से अधिक पर्वत आदि के वर्णन की संगति के लिए जो वाक्य होता है, वह काव्य में प्रकरणविषयक युक्ति के रूप में अभीष्ट है । मनीषियों ने इसी प्रकार प्रवन्धगत युक्ति के विषय में भी कहा है । स्वरूप की स्पष्टता के लिए इनके उदाहरणों का क्रमशः उल्लेख किया जा रहा है ॥ ४७–५१ ॥

स्व० भा०—यहां पर अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है । उनका सामान्य अर्थ समझ लेना हितकर होगा । यौगिक पद वे होते हैं जिनका व्युत्पत्तिगत अर्थ लिया जाता है और रूढ वे हैं जो एक स्वीकृत एवं लोक प्रचलित अर्थ में बँध गए हैं । किसी वाक्य में अनपेक्षित रूप से बीच में आ गया पद गर्भ है, उसका भी एक अंश निगर्भ कहा जाता है । किसी चलते प्रसङ्ग को बन्द करना-रोक देना—संवृत्ति है और विजातीय पदों का एक बार एक स्थान पर संग्रह करना समुच्चय है । समभिहार प्रकर्ष है । किसी क्रिया का द्वित्व 'अभ्यास' कहा जाता है ।

विरुद्धानामिति । एवं वाक्यवाक्यार्थयोरपि वाक्यमध्यवर्तिप्रकृतरसानुगुणरससमर्पकं वाक्यान्तरम् ॥

गर्भ इति । गर्भस्तस्यैकदेशभूतस्तथाभूतो निगर्भः । उक्तेरुपसंहारवचनं संवृत्तिः । तुल्यप्रधानभावानां युगपदेकार्थसंवन्धः । समुच्चयः । आदिपदादन्वाचयादयः ॥

यत्तदादेरिति । यत्तदोरुद्देश्यविधेयगामिनोरादिग्रहणादिदमेतदादीनां क्रियाणामावृत्तिरभ्यासः । विजातीयानामेकदैकत्र संवन्धः समुच्चयः । समभिहारो भृशत्वं प्रकर्ष इति यावत् ॥

यदिति । अतिमात्रतया प्रतिभासमानत्वमश्रद्धेयता ॥

तदेतासां युक्तीनामतिदुरूहत्वादाह—उदाहरणमेवेति ॥

(१) योगरूढि परम्परा निमित्तक पदयुक्ति का उदाहरण

तत्र योगरूढिपरम्परादिनिमित्ता पदयुक्तिर्यथा—

'प्राच्यां निर्जितजम्भजिद्‌द्विपशिरःसिन्दूरशोभं दिशि
प्रत्याख्यातहयाङ्गनास्यहुतभुग्ज्योतिः प्रतीच्यर्णवे ।
प्रातर्जातमदोन्मिषत्कमलिनीकिञ्जल्ककल्कोद्भटं
भानोः पूर्णनभःकटाहकुहरक्रोडं महः पातु वः ॥ ५३ ॥'

अत्र जम्भजिद्‌द्विप इति योगरूढिपरम्परा, हयाङ्गनास्यहुतभुगिति पर्यायपरम्परा, प्रातर्जातमदोन्मिषत्कमलिनीकिञ्जल्ककल्कोद्भटमिति हेतुपरम्परा, नभःकटाहकुहरक्रोडमित्यङ्गाङ्गिभावपरम्परा च परिस्फुरन्ती दृश्यते ॥

योगरूढ़ि की परम्परा आदि से सिद्ध होनेवाली पदयुक्ति वहाँ होती है।

जैसे—पूर्व दिशा में इन्द्र के हाथी ऐरावत के मस्तक के सिन्दूर की भी छटा को परास्त कर देने वाला, अस्तसिन्धु में वाडवाग्नि के भी प्रकाश को पिछाड़ देने में समर्थ, प्रभात वेला में उत्पन्न मद के कारण खिल रही कमलिनी के परागचूर्ण से अत्यन्त सुशोभित और आकाशरूपी कटाह के गहरे मध्यभाग को भर देने वाला, सूर्य का प्रकाश आप लोगों की रक्षा करे ॥ ५३ ॥

यहाँ पर 'जम्भजिद्‌द्विप' इसमें योगरूढ़ि परम्परा, 'हयाङ्गनास्यहुतभुग्' में पर्यायपरम्परा, 'प्रातर्जातमदोन्मिषत्कमलिनीकिञ्जल्ककल्कोद्भट' में हेतु परम्परा, 'नभःकटाहकुहरक्रोडम्' में अङ्गाङ्गिभाव परम्परा स्फुरित होती हुई दिखाई पड़ती है।

स्व० भा०—जम्भजित् पद कृदन्त होने के कारण यौगिक है। इसी प्रकार की बात 'जम्भजिद्‌द्विप' में भी है, क्योंकि इसमें समास हुआ है। ये दोनों पद मिलकर ऐरावत अर्थ में रूढ़ हैं। हयाङ्गना पद 'वडवा' का पर्याय है, और 'आस्य' मुख का पर्याय है। 'हुतभुक्' अग्नि का पर्याय है। इन समस्त पर्यायवाचक पदों की परम्परा 'वडवामुखानल' (वडवाग्नि) की प्रतीति कराती हैं। ऐसे ही मद की उन्मेष के प्रति, उन्मेष की 'कल्क' के प्रति और कल्क की उद्भटता के प्रति कारणता का भाव है। अतः यहाँ कार्यकारण-परम्परा है। 'नभःकटाहपद' अङ्गी है—प्रधान है। उसका अङ्ग-एकदेश-'कुहर' है और उसका भी अंश 'क्रोड' है। अतः यहाँ अङ्गाङ्गिपरम्परा है।

प्राच्यामिति। जम्भजित्पदं कृदन्तत्वाद्यौगिकम्। तथा जम्भजिद्-द्विप इत्यपि समासत्वात्। तदेतदुभयं योगेनातिप्रयुज्यमानं निरूढिद्वयेन विवक्षितैरावतरूपे वस्तुनि नियम्यते। हयाङ्गनेति वडवापर्यायः। आस्यमिति मुखपर्यायः। हुतभुगित्यनलपर्यायः। सेयं पदपरम्परापर्यायताप्रतिसंधानेनाभिमतवडवामुखानलप्रतीतिं करोति। मदस्य किञ्जल्कोन्मेषे तस्य कल्के तस्याप्युद्भटतायां हेतुभाव इति कार्यकारणपरम्परा। नभःकटाहोऽङ्गी। तस्याङ्गमेकदेशः कुहरं तस्यापि क्रोड इत्यङ्गाङ्गिपरम्परा च यथाभिमतपदैकवाक्यतानिदानमिति तदेतद् व्याचष्टे—अत्रेति। परिस्फुरन्ती कविशक्तिव्यञ्जकतया सहृदयहृदयेषु प्रतिफलति ॥

(२) विरुद्धजात्यादियोगनिमित्ता पदार्थयुक्ति

विरुद्धजात्यादियोगनिमित्ता पदार्थयुक्तिर्यथा—

'तन्नागेन्द्रकरोरुदोःकरिशिरःपीनस्तनांसं वपुः
स्त्रीपुंसाकृति यत्पितुस्तव मुखे रम्योग्रमीक्षामहे ।

वाराह्या इति नर्मणीभवदनः पश्यन्यदास्या मुखं
नाभिष्टौति हसन्न निन्दति तदा श्लिष्टोऽम्बया पातु वः ॥ ५४ ॥'

अत्र स्त्रीपुंसाकृतीति विरुद्धजातियोजना, नाभिष्टौति न निन्दतीति विरुद्ध-क्रियायोजना, रम्योग्रमिति विरुद्धगुणयोजना, मुखे वपुरीक्षामहे इति विरुद्ध-द्रव्ययोजना च लक्ष्यते ॥

विरुद्ध जाति आदि के योग के कारण होने वाली पदार्थयुक्ति का उदाहरण।

जैसे—मजाक करती हुई वाराही देवी गणेश को देखकरकहती हैं (कि माता-पिता के स्वरूप से पुत्र का स्वरूप मिलता है, यह बात सत्य है, क्योंकि) गजराज के शुण्ड के सदृश जघन तथा भुजाओं से संयुक्त, हाथी के मस्तक की भांति विशाल एवं विस्तृत उरोज तथा कंधे से संयुक्त जो तुम्हारे पिता की रमणीय तथा भयङ्कर स्त्रीपुरुषात्मिका देह है उसे हम तुम्हारे मुख में ही देख रहे हैं। वाराही के द्वारा चुटकी लिये जाने पर भी हँसते हुए गणेश जी जब उनके मुख की ओर ही ताकते रह जाते हैं, न तो उनकी प्रशंसा ही करते हैं और न निन्दा ही, तब अम्बा के द्वारा आलिंगित किए गये वह आपलोगों की रक्षा करें॥ ५४ ॥

यहाँ 'स्त्रीपुंसाकृति' इसमें विरुद्ध जाति की योजना, 'नाभिष्टौति न निन्दतीति' में विरुद्ध क्रिया की योजना, 'रम्योग्रम्' में विरुद्ध गुण की योजना, तथा 'मुखे वपुरीक्षामहे' में विरुद्धद्रव्य योजना लक्षित होती है।

स्व० भा०—पहले एक स्थान पर निरूपित किया जा चुका है कि पद का अर्थ चतुर्विध-जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य हुआ करता है। जब विरुद्ध जातियों, क्रियाओं, गुणों और द्रव्यों को एक वाक्य में रख दिया जाता है, उस समय पूर्ण असंगति की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। किन्तु कवि अपनी प्रतिभा से इनमें ऐसा सामञ्जस्य स्थापित करता है कि इनका प्रयोग चमत्कार-पूर्ण हो जाता है। प्रस्तुत उदाहरण में ही स्पष्ट है कि स्त्रीत्व तथा पुरुषत्व जातियाँ विरुद्ध हैं। न प्रशंसा ही करना और न निन्दा ही ये दोनों क्रियायें परस्पर विरुद्ध हैं। एक ही आकृति रम्य और उग्र सामान्यतः नहीं हो सकती। इसी प्रकार मुँह में शरीर का देखना भी विचित्र पदार्थों का ही संयोग है। किन्तु गणेश—जो करिवरवदन हैं—से विनोद के समय उनमें अर्धनारीश्वर शिव के और शिवा के भी गज से उपमित अङ्गों की तुलना करके कवि ने विचित्र सामञ्जस्य उप-स्थित किया है।

हस्तिशुण्ड के सदृश जघन पार्वती के पक्ष में और भुजायें शङ्कर के पक्ष में, करिकुम्भ की भांति पीन स्तन देवी के भाग में और स्कन्ध महादेव के भाग में वर्णित होकर अनुचित नहीं लगते। इनकी योजना एकदन्त, गजमुण्ड गणेश में घटित हो जाती है क्योंकि एक ही दाँत होने से एक ओर हाथी का तथा दूसरी हस्तिनी का भाव प्रकट होता है। करिकुम्भ होने से स्तन और स्कन्ध की योजना ठीक ही है। यह सब कविकौशल से हुआ है।

तन्नागेति। नागेन्द्रकरवदूरुः पार्वतीभागे, दोर्बाहुश्च देवभागे, करिकुम्भवत्पीनः स्तनो देवीभागे, अंसः स्कन्धश्च देवभागे, एवंविधस्त्वत्पितुरीश्वरस्य वपुस्त्वन्मुखे। एकविषाणतया करिकरिणीसमाहारात्मनि वीक्षामह इति वाराह्याः परिहासोक्तिः। वाराही वराहप्रकृति-भूतो मातृविशेषः। इभवदनो विनायकः। स्त्रीत्वपुंस्त्वयोः परस्परपरिहारेणोपलम्भाद्विरु-द्धयोरपि त्वत्पितुरित्यनेन स्तुति निन्दयोः प्रतिषेधेन रम्यताभीषणतयोर्भागव्यवस्थया मुखवपुषोः : सादृश्येनाभितोऽभिप्रायप्रतिबिम्बितेन योजना विहितेन तत्प्रतिपादकानां पदानामेकवाक्यतासिद्धिः। तदिदमाह—अत्रेति।

(३) वाक्ययुक्ति

वाक्यगर्भादिविषया वाक्ययुक्तिर्यथा—

'दिङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते
सिद्धा सा च वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत ।
विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो
यस्मादाविरभूत्कथाद्भुतमिदं यत्रैव चास्तं गतम् ॥ ५५ ॥'

अत्र वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यतेति वाक्यगर्भः । तत्रैव पश्यतेति वाक्यान्तरे भावाविष्कारवाचा निगर्भः । किमपरं रामाय तस्मै नम इति वाक्यसंवृत्तिः । यस्मादाविरभूत्कथाद्भुतमिदं यत्रैव चास्तं गतमिति वाक्यसमुच्चयः । सेयमेतेषां योजनाद्वाक्यविषया युक्तिर्भवति ॥

वाक्यगर्भ आदि से सम्बद्ध वाक्ययुक्ति वहाँ होती है, जैसे—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य प्रथम परिच्छेद का १६० वाँ छन्द)

यहाँ पर 'वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत' यह वाक्य बीच में आ गया है। यहीं पर 'पश्यत' यह पद आये वाक्य के भीतर आ गया है, और भावों को प्रकट करने के कारण निगर्भ है। यहीं पर 'किमपरं रामाय तस्मै नमः' में वाक्य संवृत्ति है। 'जहाँ से यह विचित्र कथा प्रारम्भ हुई उसी में समाहित भी हो गई' इसमें वाक्यसमुच्चय है। इन सभी (हेतुओं) की योजना होने से यहाँ वाक्यविषयक युक्ति है।

दिङ्मातेति । जातिक्रियेत्यादिना क्रमेण विरोधप्रसिद्धेर्गुणविरोधमुल्लङ्घ्य क्रियाविरोधो व्याख्यातः । आघातः सीमा । गर्भो विवृतपूर्वस्तत्रैवाश्चर्यरसाविष्टघस्य वक्तुः पश्यतेति वाक्यान्तरं निगर्भः । गर्भवाक्येन समर्प्यमाणप्रकृतरसान्वयिनि रसे प्रकर्षाधायको निगूढो गर्भो निगर्भ इत्युच्यते । तदिदं भावाविष्कारवाचीत्युक्तम् । विप्राय प्रतिपाद्यते संपन्ना तैरभुज्यत इत्यादि वक्तव्ये किमपरमित्यस्य संवृत्तित्वेन योजना । एवं हि कियदस्य महानुभावस्य तादृशाचरितं प्राप्यते तदिह मौनमेवोचितमिति भूयान्प्रकर्षोऽवसीयते । 'यस्मादाविरभूत्कथाद्भुतमिदं यत्रैव चास्तं गतम्' इति वाक्यद्वयस्य पूर्ववाक्यगततदर्थसमुच्चयवाचिना चकारेण योजना व्यक्तैव । एवमादय इति । तद्यथा—वीथ्यङ्गानि त्रयोदशप्रस्तावनापरिचेयानि । संध्यङ्गानि विलासाद्यानि चतुःषष्टिसंधयश्च रूपकावयवभूता मुखप्रतिमुखगर्भविमर्शनिर्वहणाख्याः पञ्च । प्रकृतरसावस्थारूपाणि च पञ्चैव । बीजबिन्दुपताकाप्रकरीकार्याणि तत्तत्प्रकरणप्रबन्धरूपवाक्यैकदेशयोजनान्यवगन्तव्यानि ॥

(४) वाक्यार्थयुक्ति

यत्तत्तदाद्युपादाननिमित्ता वाक्यार्थयुक्तिर्यथा—

'तिष्ठ द्वारि भवाङ्गणे व्रज बहिः सद्मेति वर्त्मेक्षते
शालामञ्च तमङ्गमञ्च वलभीमञ्चेति वेश्माञ्चति ।
दूतीं संदिश संदिशेति बहुशः संदिश्य सास्ते तथा
तल्पे कल्पमयीव निघृण यथा नान्तं निशा गच्छति ॥ ५६ ॥'

अत्र प्रथमपादे क्रियासमुच्चयः, द्वितीये क्रियाभ्यासः, तृतीये दूतीं संदिश

संदिशेति यावत्क्रियासमभिहारः। शेषे तु तथा सास्ते यथा निशान्तं न गच्छतीति यत्तदोरुपादानं वाक्यार्थयुक्तेर्हेतुः प्रतीयते। सेयमुक्तलक्षणा वाक्यार्थयुक्तिर्भवति ॥

'यत्–तत्' तदा आदि (यथा–तथा आदि) का ग्रहण करने से वाक्यार्थ युक्ति होती है।

जैसे—कोई दूती रूठे नायक की मनुहार करने जाती है और कहती है कि (समुचित समय पर आपके न पहुंचने से वह नायिका) द्वार पर खड़ी रहती है, वहाँ से आँगन में जाती है, घर से बाहर निकलती है, फिर रास्ते निहारती है। इसके बाद पुनः घर के भीतर जाती है, घर के एक अङ्ग अर्थात् अटारी पर चढ़कर देखती है, उसके बाद उससे भी ऊँची वलभी पर भी पहुँचती और फिर घर में लौट आती है।' 'दूती को आपलोग संदेश दीजिये' इस प्रकार के बहुत से सन्देश देकर, हे अकरुण, वह बेचारी शय्या पर इस प्रकार पड़ी रहती है, कि रात उसे कल्प के सदृश लम्बी लगती है, वह जल्दी बीतती ही नहीं ॥ ५६ ॥

उदाहरण के श्लोक में प्रथम चरण में क्रियाओं का समुच्चय है, द्वितीय चरण में क्रियाओं का अभ्यास है, तीसरे में 'दूतीं संदिश संदिश' इस अंश तक क्रिया का समभिहार है। शेष में तो 'तथा सास्ते यथा निशा अन्तं न गच्छति' इसमें 'यत्–तत्' का ग्रहण है। ये सब वाक्यार्थयुक्ति के कारण प्रतीत होते हैं। इस प्रकार यह पूर्वकथित लक्षणों से युक्त वाक्यार्थयुक्ति है।

स्व० भा०—वृत्ति में प्रयुक्त सभी पारिभाषिक पदों की व्याख्या इनके प्रसङ्ग में पहले दी जा चुकी है। उनका यहाँ स्पष्ट दर्शन भी हो रहा है। प्रथम पंक्ति में स्पष्ट है कि विभिन्न धातुओं का एकत्र ही संकलन हो गया है। केवल देखने से ही नहीं अपितु पाणिनि मुनि के व्याकरण के नियमों—'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' (३।४।३) तथा "समुच्चये सामान्यवचनस्य' (३।४।५) के अनुसार लट् अर्थ में लोट् का तथा अन्त में सामान्यार्थक धातु का यथाविधि प्रयोग भी हुआ है। द्वितीय चरण में 'अञ्च' क्रिया का अनेक बार किया गया प्रयोग अभ्यास को स्पष्ट ही कर रहा है। तृतीय चरण में द्विरुक्ति होने से समभिहार के कारण 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः (३।४।२) तथा 'यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन् (३।४।४) सूत्रों के अनुसार क्रियाओं के रूप भी हैं।

(५) प्रकरणविषया युक्ति

अश्रद्धेयपर्वतादिवर्णनोपपत्तिहेतुः प्रकरणविषया यथा—

'मुदे मुरारेरमरैः सुमेरोरानीय यस्योपचितस्य शृङ्गैः।
भवन्ति नोद्दामगिरां कवीनामुच्छ्रायसौन्दर्यगुणा मृषोद्याः ॥ ५७ ॥'

जिसमें विश्वास नहीं किया जा सकता इस प्रकार के (अतिशयोक्तिपूर्ण) पर्वत आदि के वर्णन की उपपत्ति के कारण प्रकरणविषयक युक्ति होती है।

जैसे—(शिशुपालवध में रैवतक के वर्णन के प्रसङ्ग में कहा गया है कि) कृष्ण की प्रसन्नता के लिए देवताओं ने सुमेरुपर्वत की चोटियों को ला लाकर रैवतक पर्वत की उच्चता तथा सुन्दरता को बढ़ा दिया था। रैवतक में हुई यह वृद्धि कवि की (अतिशयोक्ति पूर्ण) वाणी को झूठा नहीं बना रही थी ॥ ५७ ॥

स्व० भा०—माघ रैवतक का वर्णन अत्यन्त अत्युक्ति पूर्ण करते हैं और अन्त में सफाई पेश करते हैं कि उनकी वाणी असत्य नहीं है, उनका वर्णन अनुचित नहीं है क्योंकि देवताओं ने स्वयं श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिये विविध विधान किये थे। माघ का रैवतक वर्णन इतना अतिशयो-

क्तिपूर्ण है कि विश्वास नहीं होता। किन्तु अन्त में इस श्लोक को लिखकर अतिशयता को युक्तियुक्त कर दिया है।

(३) प्रबन्धविषयक युक्ति

प्रबन्धव्यापिवस्तूपपत्तेर्हेतुस्तु प्रबन्धविषया युक्तिर्भवति। सा यथा—

'धूमज्योतिःसलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः
संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु॥ ५८॥'

पूरी कथा अथवा ग्रन्थ भर में व्याप्त विषय की असङ्गति को दूर करने का कारण प्रबन्धविषयक युक्ति होती है। वह वहाँ होती है।

जैसे—(मेघों को देखकर उन्हें दूत के रूप में प्रयुक्त करने के लिये यक्ष युक्ति देता है) धूम, ज्योति, जल और वायु की ढेर बादल कहाँ? और कहाँ निपुण अवयवों वाले मनुष्यों से भेजे जाने वाले संदेश के विषय, किन्तु उत्कण्ठा के कारण इन बातों का विचार न करते हुये यक्ष मेघों से याचना करने ही लगा क्योंकि कामाकुल व्यक्ति जड़ और चेतन पदार्थों के स्वरूपनिर्णय में असमर्थ होते हैं॥ ५८॥

स्व० भा०—मेघदूत के इस श्लोक में पूर्वार्ध में कवि ने दौत्यकर्म करने वाले वर्तमान पात्र तथा दौत्य के विषय इन दोनों में असंगति दिखाई है। इससे तो मेघ का दौत्य भी असंगत ही सिद्ध होता और इस विषय पर, आगे पूरा शताधिक छन्दों का प्रबन्ध 'मेघदूतम्' लिखना अनुचित होता, किन्तु महाकवि कालिदास ने यह कहकर कि कामाकुल व्यक्ति पदार्थ के स्वरूप-निर्णय में अक्षम होता है, वह यह नहीं जान पाता कि कौन सी वस्तु जड़ है, कौन चेतन, किससे क्या काम हो सकता है, क्या नहीं, आदि, अपने प्रबन्ध का औचित्य सिद्ध किया है। जो व्यक्ति जिस काम को करने में असमर्थ हैं, उसे यदि वही करते दिखा दिया जाये तो वहाँ अनौचित्य ही होगा। कवि ने युक्ति देकर यह सिद्ध कर दिया है कि यक्ष ने जड़ मेघों द्वारा प्रेम का सन्देश भेजकर उचित ही किया था, अनुसित नहीं।

तिष्ठेति। उपस्थितिसमयसीमामतिक्रामति प्रियतमे तत्कालद्विगुणितोत्कण्ठातरलितान्तःकरणा कदाचित्प्रागिव गर्भगृहद्वारि तिष्ठति। ततस्तत्रानवलोकमाना गृहाङ्गणे भवति। तदनन्तरं वेश्मनो बहिर्व्रजति। सोऽयं विजातीयक्रियार्थनानाधातुगोचरः सर्वकालेषु 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' (३।४।३) इति लोटो हिरनुशिष्यते। अत एव दर्शनावच्छेदभूतद्वारावस्थानादिसामान्यवचनः 'समुच्चये सामान्यवचनस्य' (३।४।५) इत्यनुशासनान्नियतमितप्रयुक्तिरीक्षतिरनुप्रयुज्यते। नायकस्य सर्वथा हृदयवैशसं सर्वथैवाश्रद्दधाना दूरदूरतरदूरतमरथ्याभागावलोकनार्थिनी शालागृहमारोहति, ततस्तस्मादुच्चैस्तमङ्गम् अट्टालकम्, अनन्तरं तस्मादुच्चतरां वलभीमुपरितनकुटीमिति। अत एवाङ्गनक्रियैवात्रावृत्तेति 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः' (३।४।२) इत्यनुशिष्यते। अत एव च 'यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन्' (३।४।४) इति तस्यैव धातोरनुप्रयोगोऽपि। एवमप्यनागच्छति नायके दूतीव्यापारः शरणं यत्कुण्ठनायां स्वयं वा तत्र गमनमित्युपदिश्यते तेन तत्तदभिप्रायसंवर्धकसंदेशप्रकर्षः सोऽयमाभीक्ष्ण्यद्विरुक्त्या व्यज्यते। अत एव लोटः समभिव्याहारो विषयो न तु घनादिवदभिधेय इति पूर्वाचार्याः।

इतिशब्दादधिकं चतुर्थवाक्यानुप्रविष्टमिति यावच्छब्देनावच्छिनत्ति संदिश संदिशेति यावदिति दिक् ॥

(९) भणिति अलंकार तथा प्रकार

उक्तिप्रकारो भणितिः संभवेऽसंभवे च सा ।
विशेषसंवृत्त्याश्चर्यकल्पनासु च कल्प्यते ॥ ५२ ॥

उच्चारण क्रिया के एक प्रकार—भङ्गिमापूर्ण वचनों को भणिति कहते हैं। वह संभव, असंभव, विशेष, संवृत्ति, आश्चर्य और कल्पना में कल्पित की जाती है ॥ ५२ ॥

स्व० भा०—यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि आकांक्षा, योग्यता और संनिधि से युक्त कर्ता, क्रिया और कर्म आदि पदों का समुचय वाक्य हो सकता है, किन्तु काव्य नहीं। काव्य कहलाने के लिए उस वाक्य में रस, भङ्गिमा, औचित्य, ध्वनि, रीति, सौन्दर्य आदि नामों से विख्यात तत्त्व अवश्य हो। एक ही बात को अनेक प्रकार से कहा जा सकता है और इस कथन के प्रकार विशेष के कारण ही उसमें विभिन्न काव्यात्मक तत्त्वों का समावेश हो जाता है। सामान्य वाक्य तथा भणिति में अन्तर प्रदर्शित करने के लिए भोज ने भणिति को कथन का प्रकार घोषित किया है।

बाहर लोक में जो असम्भव हैं उसे होते हुए दिखाना संभवभणिति है, और सामान्य संभाव्य वस्तु का असम्भव-सा वर्णन असम्भवभणिति है। निषेधप्रसंग में विध्यात्मक तथा विधिप्रसङ्ग में निषेधात्मक जैसी वस्तुओं का कथन विशेषभणिति है। किसी के विषय में होने वाली चर्चा को उसी के अनुरूप बतलाना और आगे कहने की बात को बन्द सा कर देना संवृत्ति है। इसी प्रकार अप्रत्याशित रूप से अत्यन्त आश्चर्यमय रूप को प्रस्तुत करना आश्चर्यभणिति है। किसी पदार्थ के विषय में एक मान्यता न होने पर कल्पना द्वारा उसे वैसा ही वहां रख देना कल्पनाभणिति है। इन रूपों में भणिति भी छः प्रकार की होती है।

उक्तीति। उक्तिरभिधानमुच्चारणक्रिया लक्षणक्रिया सा सर्ववाक्यसाधारणी कथमलंकार इत्याशङ्क्य प्रकारपदम्। प्रकारो भङ्गीरूपता। लौकिकशास्त्रीयवचनातिगामी विशेषः। स एव कैश्चिदन्यास्मिनुसंदधानैरलंकारसामान्ये उक्तः। उक्तिरूपत्वाविशेषे कथमयमेव संगच्छतामित्यतो विभागप्रदर्शनव्याजेन विषयविशेषादेव तद्रूपतामुपपादयति—संभव इत्यादि। तत्र बहिरसंभाव्यमानस्यापि प्रतिभानिर्मितचित्रतुरगवत्प्रतीतिः संभवस्तामर्पयन्ती संभावनात्मिका भणितिः। सैव हि 'किंत्वस्ति काचिदपरापि पदानुपूर्वी यस्यां न किंचिदपि किंचिदिवावभाति' इति न्यायेन तत्तदर्थनिर्माणप्रवीणा 'यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते' इति न्यायेन तत्तदर्थनिर्माणप्रवीणा 'यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते' इति व्यवहारकारणं भवतीति तथाविध एव विषये शास्त्रप्रसिद्धप्रकारवैपरीत्येन बाधवर्णनमसंभावना। तदुच्यते—

'इह ते जअंति कइणो जअमिण मोजाणसअलपरिणामम्।
वाआसु ठिअं दीसइ आमोअ घणं व तुच्छं व॥'

अतएवेयं निषेधरूपा तज्जातीयव्यावृत्तो धर्मो विशेषस्तं क्वचिद्विदधाना कवेरभिप्रायविशेषमर्पयन्ती 'निषेधप्रसङ्गे विशेषभणितिर्विधिरूपा भवति' इति तामवलम्बमाना चमत्कारकारिणी विशेषे पर्यवस्यन्ती वर्णना पल्लवप्रसङ्गे संकोचमवगाहमाना विधौ निषेधरूपा पर्यवस्यति। अतर्कितोपनतं विस्मयजनकमाश्चर्यं तस्य निषेधे विधातव्ये यत्किंचिद्विधानं

तदाश्चर्यरूपतामन्तरेण काव्यकक्षामारोढुं न क्षमत इति नूनमनया विस्मयार्पणमेव सर्वं स्वभूतमवलम्बनीयमिति निषेधविधिप्रसङ्गे निषेधरूपा भणितिर्बहिरसंभाविनः क्वचिद् सतो विशेषस्योत्प्रेक्षाकल्पना। तामाश्रयन्ती विधाननिषेधमात्रेण चरितार्था किंचिद्विशेषं विदधातीति विधिनिषेधप्रसङ्गे सामान्यतः प्रतिषेधति। विशेषतश्च विधत्त इति निषेधविधिरूपा कल्पना भणितिः॥

(१) संभवभणिति

अत्र संभवभणितिर्यथा—

'सद्योद्रावितकेतकोदरदलस्रोतःश्रियं बिभ्रती
येयं मौक्तिकदामगुम्फनविधेर्योग्यच्छविः प्रागभूत्।
उत्सेक्या कलशीभिरञ्जलिपुटैः मेया मृणालाङ्कुरैः
पातव्या च शशिन्यमुग्धविभवे सा वर्तते चन्द्रिका॥ ५६॥'

अत्र ज्योत्स्नायाः सद्योद्रावितकेतकोदरदलस्रोतःसादृश्यादिसंभवादियं संभवभणितिर्विधिरूपा॥

इसमें संभवभणिति वहाँ होती है—

जैसे—विस्तृतवैभव वाले चन्द्रमा के निकलने पर ज्योत्स्ना बढ़ रही है। यह चन्द्रिका जो कि पहले मोती की माला गूँथने के लिये उपयुक्त छटा वाली थी, अब अभी-अभी निचोड़ी हुई केतकी की पंखुड़ियों से निकली हुई धारा की शोभा धारण कर रही है। यह घड़ों से सींची जा सकती है और अञ्जलियों से नापी जा सकती है और मृणालाङ्कुरों द्वारा पी भी जा सकती है॥ ५९॥

इस इलोक में चन्द्रिका के "अभी-अभी निचोड़े हुये केतकी के भीतर से प्रवाहित धारा' से साम्य दिखाने के कारण विधिरूप वाली भणिति है।

स्व० भा०—यहां अनेक असंभव बातों को संभव करके दिखलाया गया है, अतः संभवभणिति है। केतकी की पंखुड़ियों को निचोड़ना, उससे धार बहना और उसको कलशों में भरकर सींचना, उसके बाद करतल की अंजलियों से नापना, पुनः मृणालांकुरों द्वारा पिया जाना ये सब बातें बाहर असंभव हैं' किन्तु इन असंगत बातों को भी संभव चित्रित करने से यहाँ सम्भवभणिति है।

सद्य इति। केतकोदरदलानां द्रावणम्, ततः स्रोतोरूपता, ततस्तेनोपमितायाः बहलतरबहिर्भागस्य कलशीभिरुत्सेचनम्, अनन्तरं किंचिदल्पीभूतमध्यभागस्य करतलाञ्जलिपुटैर्मानम्, ततः शेषीभवतः सारभागस्य मृणालाङ्कुरैः पानमिति बहिरसंभाविन एव श्रियं बिभ्रतीति निदर्शनया योग्यपदेनोत्सेक्येत्यादिभिश्चमत्कारिणी संभावना जायते॥

(२) असंभवभणिति

असंभवभणितिर्यथा—

'क्व पेयं ज्योत्स्नाम्भो वदनबिसवल्लीसरणिभि-
र्मृणालीतन्तुभ्यः सिचयरचना कुत्र भवति।
क्व वा पारीमेयो बत बकुलदाम्नां परिमलः
कथं स्वप्नः साक्षात्कुवलयदृशं कल्पयतु ताम्॥ ६६॥'

अत्र ज्योत्स्नादीनां मृणालादिभिः पेयत्वादेरसंभवादियमसंभवभणितिर्निषेधरूपा॥

असंभवभणिति का उदाहरण,

जैसे—कोई मित्र अपने खिन्न प्रेमी युवक से कहता है कि जिस कमलनयनी को तुमने स्वप्न में देखा है वह भला सशरीर कैसे सामने आ सकती है ? भला मुखरूपी मृणालतन्तुओं से ज्योत्स्ना का जल कहीं पिया जा सकता है ? बिसतन्तुओं से वस्त्र की बुनाई कहाँ होती है ? कहीं पुरवे से बकुल की मालाओं का सौरभ नापा जा सकता है ? (अर्थात् जितना असंभव इन कर्मों का होना है, उतना ही तुम्हारी स्वप्नदृष्ट प्रेयसी की साक्षात् प्राप्ति भी) ॥ ६० ॥

यहां ज्योत्स्ना आदि का मृणाल आदि के द्वारा पान आदि असंभव होने से यह असंभव-भणिति है जिसका अर्थ निषेधात्मक है ।

स्व० भा०—असंभवभणिति निषेधरूपा है । यह निषेध अभिधा द्वारा वाच्य न होकर व्यंग्य है । जैसे लोक में किसी दुष्कर कार्य के विषय में लोग कहते हैं "भला यह कैसे हो सकता है ?" वहां कहने का तात्पर्य यही होता है कि उक्त कार्य नहीं हो सकता । यदि उदाहृत श्लोक का विषय स्पष्ट रूप से नञ् का प्रयोग करके प्रकट किया गया होता, तो चमत्कार न होता और चमत्कार न होने से काव्यता न होती ।

क्व पेयमिति । स्वप्नस्य साक्षात्कल्पने सामर्थ्यमसंभावितं तदेवमेवोच्यमानं तथा शोभामुन्मीलयतीति क्व पेयमित्यादि प्रतिवस्तुना निर्देशव्यङ्ग्यारक्तिसुपमाविस्तारं कुर्वाणा भवत्यसंभवभणितिः । पारी भाण्डभेदः ॥

(३) विशेषभणिति

विशेषभणितिर्यथा—

'रेवतीदशनोच्छिष्टपरिपूतपुटे दृशौ ।
वहन्हली मदक्षीबः पानगोष्ठ्यां पुनातु वः ॥ ६१ ॥

अत्र रेवतीदशनोच्छिष्टयोरपि हलिदृशोर्यत्पूतत्वं, मदक्षीबस्यापि हलिनो यत्पावनत्वमसौ विशेष इतीयं विशेषभणितिर्निषेधे विधिरूपा ॥'

विशेषभणिति का उदाहरण—

जैसे—पानगोष्ठी में प्रियतमा रेवती के द्वारा किये गए चुम्बनों से जूठे हो जाने से पवित्र पलकों के नयनों को धारण करने वाले मदमत्त बलराम जी आप लोगों को पुनीत करें ॥ ६१ ॥

यहां पर रेवती के चुम्बन से जूठे हो जाने पर भी बलराम के नेत्रों में जो पवित्रता दिखाई गई है, और मदमत्त होने पर भी बलराम की जो पवित्रता निरूपित है, यही विशेष बात है । अतः यहाँ जो विशेषभणिति है वह निषेध में भी विधिरूपता लिए हुये है ।

स्व० भा०—वस्तुतः जूठी चीज पवित्र नहीं होती, और शराबी पुनीत नहीं होता । यह भाव निषेधात्मक है, किन्तु उपर्युक्त पंक्तियों में नकार का प्रयोग बिना किये ही, इसे विध्यात्मक शब्दों में व्यक्त किया गया है । व्यंग्य से निषिद्ध पदार्थ की भी विहित योजना करने से यहाँ विशेष बात हो जाती है, अतः विशेषभणिति है । इससे देवता का लोकोत्तरचरित व्यक्त होता है ।

रेवतीति । दशनोच्छिष्टं चुम्बितम् । उच्छिष्टक्षीवयोर्न क्वचित्पूतत्वं वा इष्टचरमिति हलिनेत्रपुटहलिनोर्विधीयमानं देवताचरितस्य लोकोत्तरतां गमयतीति निषेधप्रसङ्गे विधि-रूपेयं भणितिः ॥

(४) संवृत्तिभणिति

संवृत्तिभणितिर्यथा—

'आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः ।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ॥ ६२ ॥'

अत्र प्रसिद्धवर्णनाप्रपञ्चविघेराभरणस्याभरणं वपुरित्यादिवाक्यैः संवरणादियं संवृत्तिभणितिर्विधौ निषेधरूपा ॥

संवृत्तिभणिति का उदाहरण—

(एक प्रेमी अपने मित्र से अपनी प्रेयसी के रूप का वर्णन करता है कि) हे मित्र, उसका शरीर तो अलंकार का भी अलंकार है, सजावटों की भी उत्कृष्ट सजावट है, उपमान की भी होड़ लेने वाला उपमान है ॥ ६२ ॥

इस श्लोक में "आभूषणों का भी भूषण, उसका शरीर है" आदि, वाक्यों द्वारा (कवि लोक द्वारा प्रयुक्त एवं) प्रख्यात वर्णनों के विस्तार को रोक दिया गया है, अतः यह संवृत्तिभणिति विधिरूप अर्थ में निषेधात्मिका है ।

स्व० भा०—प्रायः कविगण किसी रूपसी का वर्णन करते समय उसके विभिन्न अङ्गोपाङ्गों की तुलना विभिन्न विख्यात उपमानों से करते हैं । किन्तु यहां थोड़े में ही उसके रूपातिशय का निरूपण हो गया है । विभिन्न उपमानों द्वारा नायिका का वर्णन प्राप्त होने से विधिरूपता है, किन्तु वर्णन का उपसंहार कर देने से निषेधरूपता आ गई । अर्थात् उसके शरीर के समक्ष कोई अलंकार नहीं, सजावट नहीं आदि ।

आभरणस्येति । अत्र चन्द्रमुखी दुग्धधवलनयना बिम्बोष्ठी करिकुम्भस्तनीत्यादिकविसमयप्रसिद्धवर्णनाप्रपञ्चप्रसङ्गे यथोक्तरूपेण तस्य संकोचो निषेधस्तत्प्रतिष्ठाभणितिरलंकरणमेवानया क्रियत इति कान्तिविशेषं व्यञ्जयन्ती विधौ प्रसक्ते निषेधरूपा भवति ॥

(५) आश्चर्यभणिति

आश्चर्यभणितिर्यथा—

'ज्योतिर्भ्यस्तदिदं तमः समुदितं जातोऽयमद्भ्यः शिखी
पीयूषादिदमुच्छ्रितं विषमयं छायाप्रजन्मातपः ।
को नामास्य विधिः प्रशान्तिषु भवेद्गाढं द्रढीयानयं
ग्रन्थिर्येत्प्रियतोऽपि विप्रियमिदं सख्यः कृतं सान्त्वनैः ॥ ६३ ॥'

अत्र ज्योतिःप्रभृतिभ्यस्तमःप्रभृतीनामुत्पत्तेराश्चर्यरूपत्वादियमाश्चर्यभणितिर्निषेधविधौ विधिनिषेधरूपा ॥

आश्चर्यभणिति का उदाहरण—

(प्रिय के द्वारा अप्रिय आचरण करने पर नायिका को सखियाँ मनाती हैं, सान्त्वना देती हैं, किन्तु वह कहती है कि) यह तो प्रकाश से अन्धकार उत्पन्न हो गया है । जल से यह अग्नि पैदा हो गई है । अमृत से यह विष बाहर निकल पड़ा है । यह तो छाया से धूप का जन्म हुआ है । भला इसको शान्त करने में क्या उपाय हो सकते हैं ? निःसन्देह यह बड़ी दृढ गांठ है कि प्रिय से भी यह अप्रिय कर्म हो सकता है । हे सखियो, सांत्वना मत दो ॥ ६३ ॥

यहां पर ज्योति आदि जैसे पदार्थों से तम सदृश पदार्थों की उत्पत्ति निरूपित होने से अत्यन्त आश्चर्य है । यहां की आश्चर्यभणिति निषेध तथा विधि रूपिणी है जिससे क्रमशः विधि और निषेध प्रकट होता है ।

स्व० भा०—वृत्ति से स्पष्ट है कि विरुद्ध पदार्थों से विरुद्ध पदार्थों की उत्पत्ति से लोगों को आश्चर्य होता है। अतः उसी प्रकार का वर्णन होने से आश्चर्यभणिति है आश्चर्यजनक उत्पत्ति का क्रम वर्णित होने से असम्भावना के कारण निषेध हैं और अन्तिम चरण में 'कृतम्' आदि निषेधात्मक पदों का प्रयोग होने पर भी भाव विध्यात्मक हैं, फिर भी अभिधेय तो क्रमशः विधि और निषेधमय होने से, यहाँ निषेध के द्वारा विधि और विधि के द्वारा निषेध का निरूपण होने से आश्चर्यजनक उत्पत्तिक्रम के वर्णन से तो आश्चर्यभणिति ही है।

ज्योतिर्भ्य इति। प्रियो हि नाप्रियमाचरतीत्युत्सर्गसिद्धाप्रियानाचरणं दैवगत्या शठे संभाव्यमानमाश्चर्यमुन्मुद्रयत्सामान्यपरम्परया प्रेमाविष्टमन्तःकरणमावेदयति। यदि ज्योतिरादेस्तमःप्रभृतीनामुद्गमः स्यादपि प्रियादप्रियमिति सर्वथैव निषेधे विधातव्ये प्रत्यक्षपरिकल्पितस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात्प्रमेयविरोधसहमाना विधत्ते न निषेधति चेति निषेधविधिप्रसङ्गे विधिनिषेधरूपा भणितिर्भवति॥

(६) कल्पनाभणिति

कल्पनाभणितिर्यथा—

'द्रश्यं दृशां सहस्रैर्मनसामयुतैर्विभावनीयं च।
सुकृतशतकोटिभोग्यं किमपि वयः सुभ्रुवः स्वदते॥ ६४॥'

अत्र वयोरामणीयकातिशयस्य दृक्सहस्रादिभिरेवावलोकनीयत्वादियोग्यताकल्पनादियं कल्पनाभणितिर्विधिनिषेधे निषेधविधिरूपा॥

कल्पनाभणिति का उदाहरण—

(कवि किसी कामिनी की उभर रही जवानी के वर्णनप्रसङ्ग में उसकी कमनीयता का उल्लेख करता है कि—) उस सुन्दर भौंहों वाली की यह लोकातिशय सौन्दर्य वाली आयु तो हजार-हजार नेत्रों से देखने लायक है, दस हजार मनों द्वारा चिन्तनीय है, और सौ करोड़ पुण्य कर्मों के द्वारा ही भोग्य है। (उस नायिका की इस प्रकार की उम्र) अत्यन्त अच्छी लगती है॥ ६४॥

यहाँ आयु की सुन्दरता के आधिक्य की हजार नयनों आदि द्वारा ही देखने आदि की पात्रता की कल्पना करने से कल्पनाभणिति है जो विधि-निषेध में निषेध-विधि का विधान कराती है।

स्व० भा०—किसी के यौवन को देखने, सोचने तथा भोगने के लिये क्रमशः केवल दो, एक तथा थोड़े से भी नेत्र, मन और पुण्य पर्याप्त हैं, किन्तु रूपातिशय का वर्णन करने के लिये, उसकी असामान्यता निरूपित करने के लिए उसका निषेध करके हजार, दस हजार तथा सौ करोड़ नेत्र, मन और पुण्यों की योजना की गई है। अतः यही प्रथम विधान दृष्टिगोचर होता है, बाद में निषेध और इस विधि-निषेध प्रसङ्ग में निषेध की योजना द्वारा देखने को लालायित करने का विधान किया जा रहा है। वृत्ति में प्रयुक्त 'विधिनिषेध' 'निषेधविधिरूपा' का अर्थ यह नहीं है कि विधि और निषेध का क्रमशः निषेध तथा विध्यात्मक रूप प्रकट होता है, अपितु इसका अर्थ यह है कि विधि का निषेध करने पर निषेध की घटना द्वारा विधि की प्राप्ति हो रही है।

दृश्यमिति। यद्यपि द्वाभ्यामेकेनाल्पीयसा च नेत्राभ्यां मनसा सुकृतेन च वयसो यौवनस्य दृश्यत्वविभावनीयत्वभोग्यत्वानि प्रतीतिसुखमवतीर्णानि, तथापि जीवितसर्वस्वभूतायामितरकामिनीसाधारण्यमितरसाधारण्यमसहमानो दृगादिसामान्ये सहस्रत्वादिकं कल्प-

यन्साधारणधर्मनिषेधसरणिमारुह्य विशेषं विधत्ते। सेयं भणितिर्विधिनिषेधप्रसङ्गे निषेधघटकद्वारा विधिरूपा भवतीत्यास्तां विस्तरः॥

(१०) गुम्फना अलंकार

वाक्ये शब्दार्थयोः सम्यग्रचना गुम्फना स्मृता।
शब्दार्थक्रमपर्यायपदवाक्यकृता च सा॥ ५३॥

वाक्य में शब्द तथा अर्थ दोनों का भली भांति किया गया ग्रन्थन गुम्फना के नाम से याद किया जाता है। यह गुम्फना शब्द, अर्थ, क्रम, पर्याय, पद और वाक्य में होती है॥ ५३॥

स्व० भा०—गुम्फना भी भोज की अपनी ही कल्पना है। कारिका के उत्तरार्ध में यह व्यक्त किया गया है कि इनके कारण वह छः प्रकार की होती है।

वाक्य इति। एकार्थप्रतिपादनावच्छिन्नः शब्दसमुदायो वाक्यम्, तस्मिन्विषयभूते आनुपूर्व्येण ग्रन्थनं रचना, सा कथमतिप्रसक्ताप्यलंकार इत्यत आह—सम्यगिति। प्रकृतपरिपोषाधानलक्षणमौचित्यमापन्नेत्यर्थः। वाक्यत्वमर्थशब्दाभ्यां विशेषणविशेष्याभ्यां व्यवतिष्ठते। तेन द्वयोरेव गुम्फना समाप्यत इत्याशयेन शब्दार्थयोरित्युक्तम्। तत्र शब्दो द्विविधः—वाच्यः, उपाधिश्च। प्रतिपादकशब्दो द्विरूपः पदवाक्यभेदात्। पदं द्विधा—पर्यायभूतरूपम्, अतथारूपं च। तदेतद्विवक्षावैचित्र्यमङ्गीकृत्य विभजते—शब्द इति। अप्रतिपादकः शब्दः शब्दपदेनोक्तः। अर्थो वाच्यः। क्रमग्रहणमुपाध्युपलक्षणम्॥

(१) शब्दकृता गुम्फना

तासु शब्दकृता यथा—

'रामाभिषेके मदविह्वलायाः कराच्च्युतो हेमघटस्तरुण्याः।
सोपानमासाद्य चकार शब्दं ठंठंठठंठंठठठंठठंठः॥ ६५॥'

सेयं ठंठमित्यादेर्निरर्थकस्य श्लोकपादस्यार्थानुगुण्येन वाक्ये रहितत्वाच्छब्दरचना॥

इन भेदों में से शब्दकृता गुम्फना का उदाहरण—

राम के राज्याभिषेक के समय नहला रही अथवा सुन्दरी को स्नान कराते समय मदमत्त तरुणी के हाथ से छूटा हुआ स्वर्णकलश सीढ़ी पर पहुँच कर ठन्-ठन्-ठन्-ठन् शब्द करने लगा॥ ६५॥

उदाहरण में शब्द-रचना अथवा गुम्फना है, क्योंकि 'ठंठन्' आदि निरर्थक श्लोक का चरण अर्थगुण से हीन होने के कारण वाक्य में नहीं रह सकता था।

स्व० भा०—यहाँ पर शब्द का अर्थ ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति है। पद, वाक्य आदि आगे दिये गए हैं।

रामेति। राज्याभिषेकोत्सवजातहर्षायाः कराद्प्रच्युतस्य सोपानपरम्परासु स्खलतः काञ्चनकलशस्य भूभागप्राप्तिर्यावत्क्रमेणोच्चरन्ती शब्दमालानुकृतेति प्रकृतार्थानुगुण्यम्। एवं हि करच्युतमपि न संभावयतीति कोऽपि मदप्रकर्षो व्यज्यते॥

(२) अर्थकृता गुम्फना

अर्थकृता यथा—

'दिक्कालात्मसमैव यस्य विभुता यस्तत्र विद्योतते।
यत्रामुष्य सुधीभवन्ति किरणा राशिः स यासामभूत्।

यस्ततिपत्तशुषः स यस्य हविषे यस्तस्य जीवातवे
वोढा यद्गुणमेष मन्मथरिपोस्ताः पान्तु वो मूर्तयः ॥ ६६ ॥'

येयं व्योमादीनामष्टानामपि महेशमूर्तिलक्षणानामर्थानामुत्तरोत्तरसंकलनया रचितत्वादर्थरचना ॥

अर्थकृता गुम्फना का उदाहरण—

दिशा, काल तथा आत्मा के तुल्य जिसकी व्यापकता है, अर्थात् आकाश जो उस (आकाश) में विशेष रूप से चमकता है अर्थात् सूर्य, सूर्य की किरणें जहाँ शीतल होती हैं अर्थात् जल, और जलराशि से उत्पन्न हुआ अर्थात् चन्द्रमा, जो जल को भी समाप्त कर जाने वाला अर्थात् अग्नि, तथा यह अग्नि भी उषाकाल में जिसके हव्य प्रदान के लिये उपयोगी होता है अर्थात् यजमान, जो यजमान की भी प्राणरक्षा के लिये समर्थ है अर्थात् वायु, वायु भी जिसके गुण को धारण करता है अर्थात् पृथ्वी ये सभी भगवान् शिव की मूर्तियाँ आप लोगों की रक्षा करें।

यहाँ पर आकाश आदि आठ शिव की मूर्ति रूप अर्थों का एक के बाद दूसरे का संकलन करने से अर्थरचना है।

स्व० भा०—उदाहरण के श्लोक में एक के बाद दूसरे प्रतिपाद्य का निरूपण प्रशंसनीय है। यहां विधान अर्थों का है अतः अर्थगुम्फन नाम अवश्य हुआ, किन्तु अर्थ के शब्दाधीन होने से और उसी का प्रकरण भी होने से शब्दालंकारता हुई।

दिक्कालेति। दिक्कालास्मतुल्यं सर्वमूर्तसंयोगश्चायतालक्षणं विभुत्वमाकाशस्यैव तस्मिन्नर्थाक्षिप्ते यच्छब्दोऽयमुद्देश्यगामी निविशते तमुपजीव्य तच्छब्देन प्रतिनिर्देशो युक्तः। आकाशे विशेषेण चन्द्रतारादितेजोभिभवसामर्थ्यलक्षणेन द्योतते भगवानादित्य इति यच्छब्देन तमुद्दिश्योत्तरवाक्येऽदसा प्रतिनिर्दिष्टवान्। कर्णगत्या प्रतिफलिताः सूर्यकिरणाः सलिलमयेष्टाशिन्येव सुधाव्यपदेशं लभन्ते, तत्रैव यच्छब्दो निविष्टस्तदुपनीतमर्थमुत्तरस्तच्छब्दो विषयीकरोतीत्यादि—अपामेव राशेश्चन्द्रो जातस्तासां पित्तं वह्निस्तस्य सायंप्रातराहुतये यकमानः स वायुना जीवति। स पृथिवीगुणं गन्धं वहतीति पूर्वपूर्वसंकलनेनोत्तरवाक्यार्थरचना विहितेति। यद्यपि चार्थगुम्फे शब्दगुम्फो ध्रुवभावी, तथापि प्रथमानुसंधेयमर्थगुम्फनमेवात्र प्रधानमिति तेनैव व्यपदेशो युक्त इत्याशयवान्व्याचष्टे—यत्रेति। यदीयं श्रृङ्खला न प्रतिसंधीयते कथं परमेश्वरमूर्तयोऽष्टौ लभ्यन्त इति भावः॥

(३) क्रमकृत गुम्फना

क्रमकृता यथा—

'नीलाब्जानां नयनयुगलद्राघिमा दत्तपत्रः
कुम्भावेभौ कुचपरिकरः पूर्वपक्षीचकार।
भ्रूविभ्रान्तिर्मदनधनुषो विभ्रमानन्ववादी-
द्वक्त्रज्योत्स्नाशशधररुचं दूषयामास यस्याः ॥ ६७ ॥

अत्र पत्रप्रदानपूर्वपक्षोपन्यासानुवाददूषणोद्भावनानां बुधजनप्रसिद्धक्रमेण रचितत्वादियं क्रमरचना ॥

क्रमकृता गुम्फना का उदाहरण—

यह वह सुन्दरी है जिसकी दोनों नेत्रों की विशालता ने नीलकमलों से स्पर्धा का दस्तावेज लिखा है, चुनौती दी है। इसके उरोजों के विस्तार ने करिकुम्भ को पूर्वपक्ष बनाया है। उन्हें

प्रतिद्वन्द्विता की गद्दी पर बैठा दिया है। इसका भ्रूविलास कामदेव की धनुष की शोभा का अनुवाद करता है तथा मुख की चमक चन्द्रमा की कांति को भी सकलङ्क घोषित करती है॥ ६७॥

यहाँ पत्रप्रदान, पूर्वपक्ष की स्थापना, अनुवाद तथा दूषण की भावना को विद्वानों द्वारा अपेक्षित विख्यात क्रम में योजित करने से क्रमगुम्फना (क्रमरचना) है।

स्व० भा०—जिस प्रकार विद्वान् लोग कहीं शास्त्रार्थ आदि के प्रसङ्ग में पहले पत्र देकर सूचित करते हैं, उसके बाद पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष स्थिर करते हैं, एक दूसरे की बातों का उत्तर-प्रत्युत्तर देते हैं और परस्पर वाक्यों में दोषोद्भावना करते हैं, वही क्रम यहाँ निरूपित है। अतः एक सर्वमान्य, विख्यात क्रम में निरूपण होने से क्रमरचना है। इन सबका भाव यही है कि नायिका के नयन आदि ने नीलोत्पल आदि को परास्त कर दिया है।

नीलाब्जेति। पत्त्रदाने स्पर्धा व्यज्यते। सा च सादृश्यपर्यवसायिनीति प्रतीयमानोपमा। इभकुम्भपूर्वपत्तीकरणेन कुचाभोगस्य सिद्धान्तभावोऽवगम्यते। तथा च व्यतिरेको ध्वनितः। अनुवादेनाप्युपमा प्रतीयते दूषणेन व्यतिरेक इति प्रकृतपर्यवसाने समासोक्त्या यत्र दानादीनां विद्वद्वादिप्रसिद्धानां शब्दानभिधेय एव क्रम उपाधिभूतो प्रथित इत्युदाहरणव्याख्यानग्रन्थार्थः॥

(४) पर्यायकृतगुम्फना

पर्यायकृता यथा—

'कणइल्लि च्चिअ जाणइ कुन्तपलस्साइ कीरसंलवई।
पूसअभासं मुञ्चसु ण हु रे हं धवघाआडी॥ ६८॥'

[शुक्येव जानाति शुकप्रलपितानि कीरसंलापिनी।
कीरभाषां मुञ्च न खलु रेऽहं धृष्टशुकी॥]

सेयं शुकनामपर्यायाणामर्थानुगुण्येन रचितत्वात्पर्यायरचना॥

पर्यायकृत गुम्फना का उदाहरण—

(किसी विट ने शुकी की आवाज में ध्वनि करके प्रेयसी को चमत्कृत करना चाहा, किन्तु वह उलटे ही परिहास करती है कि) शुक से बातचीत करने वाली शुकी ही उसकी आवाज को जानती हैं। अरे तू इस शुक की बोली को छोड़, मैं वह धृष्टशुकी नहीं हूँ॥ ६८॥

यहाँ शुक के नाम के पर्यायवाची शब्दों की अर्थ के अनुसार रचना होने से पर्यायरचना हुई।

स्व० भा०—प्राकृत गाथा में प्रयुक्त कुन्त, कीर और पूस शब्द शुक के पर्याय हैं और कणइल्ली तथा वाआडी शब्द शुकी के। इनमें कीर पद तत्सम है, शेष देशी है। पुनरुक्ति दोष बचाने के लिये कवि ने इन पदों का प्रयोग करके अर्थ सिद्ध किया है। अतः यहां पर्यायगुम्फना है।

कणइल्लि चिअ इति। केनचिद्विटेन शुकभाषामनुकुर्वता प्रियायाः परिहास आरब्धः। सा तस्य दुर्विदग्धत्वमाकलयन्ती तदुचितमुत्तरमदात् शुकप्रलपितानि किल शुकी जानाति नान्या। न चाहं शुकी। ततो विफलस्तवायं प्रयास इत्यर्थः। अत्र कुन्त-कीर-पूस-शब्दाः शुकपर्यायाः। कणइल्ली-वाआडी-शब्दौ शुकीपर्यायौ। तत्रापि कीरशब्दस्तत्समः। अन्ये देशीरूपाः। तदेतेषां पर्यायाणां यथोक्तरूपानुगुणानामेकत्रवाक्ये गुम्फनमेव कविसंरम्भगोचर इति॥

(५) पदकृतागुम्फना

पदकृता यथा—

'लोललाङ्गूलवल्लीवलयितबकुलानोकहस्कन्धलोलै-
र्गोलाङ्गूलैर्नदद्भिः प्रतिरसितजरत्कन्दरामन्दिरेषु ।
खण्डेषूद्दण्डपिण्डीतगरतरलनाः प्रापिरे येन वेला-
मालम्ब्योत्तालतल्लस्फुटितपुटकिनीबन्धवो गन्धवाहाः ॥ ६६ ॥'

अत्र लाङ्गूलवल्लीवलयितबकुलैर्नदद्भिर्गोलाङ्गूलैः प्रतिरसितजरत्कन्दरामन्दिरेषु खण्डेषु उद्दण्डपिण्डीतगरतरलनाः पुटकिनीबन्धवो गन्धवाहा वेलामालम्ब्य येन प्रापिरे इत्यतोऽधिकानामपुष्टार्थानामपि पदानामनुप्रासाय छन्दः पूरणाय चार्थानुगुण्येन रचितत्वादियं पदरचना ॥

अपनी चञ्चल पूँछों की लताओं से बाँधकर बकुलवृक्ष की शाखाओं को हिलाने वाले लंगूरों के द्वारा की गई उच्च ध्वनियों से प्रतिध्वनित हो रही पुरानी गुफाओं के गृहों से संयुक्त भागों में ऊँचे-ऊँचे और सघन तगर के वृक्षों को भी हिलाने वाली तथा तरंगित हो रहे तालाब में खिली हुई कमलिनियों की हितैषी हवाओं को उन्होंने तट के किनारे पाया ॥ ६१ ॥

यहाँ पर छन्द में 'लांगूलवल्लीवलयितवकुलैर्नदद्भिर्गोलांगूलैः प्रतिरसितजरत्कन्दरामन्दिरेषु खण्डेषु उद्दण्डपिण्डीतगरतरलनाः पुटकिनीबन्धवो गन्धवाहा वेलामालम्ब्य येन प्रापिरे" इन पदों के अतिरिक्त (जो शेष पद हैं छन्द में) उनका अर्थ अपुष्ट होने पर भी उनकी अनुप्रास की सिद्धि तथा छन्दःपूर्ति में उपयोगिता होने से उनका सन्निवेश कर दिया गया है और पदकृतगुम्फना है।

स्व० भा०—वृत्ति में दिये गये पदों से भी वही अभिप्राय प्रकट होता है जो पूरे छन्द से होता है। अतः शेष पद—'अनोकहस्कन्धलोलैः' पद की कोई आवश्यकता नहीं थी, किन्तु इसके अभाव में न तो छन्द पूर्ण होता और न कवर्ण की आवृत्ति से अनुप्रास ही, अतः इन दोनों की सिद्धि के लिये इस पद की अर्थ के लिये विशेष उपयोगिता न होने पर भी गुम्फना की गई है।

लोललाङ्गूलवल्लीति । लाङ्गूलवल्लीवलयितेत्यादि यथोक्तवाक्यविरचनमात्रेणैव प्रयोजनपरिग्रहे सिद्धे यदधिकानां लोलवल्लीप्रभृतिपदानामावापस्तेन विना नोचितानुप्रासमिद्धिर्न च तया विना वृत्तौचिती समाप्यते। न वा तामन्तरेण लाङ्गूलादीनामभिमतास्ते ते विशेषाः प्रतीयन्त इति पल्लवप्रतिष्ठैव हि सरस्वती सहृदयानावर्जयतीति—'वाक्प्रतीतिमात्रार्थमुपात्तेषु पदेषु यः। उपस्कारः पदैरन्यैः पल्लवं तं प्रचक्षते॥ सपल्लवं तु यद्वाक्यं कविभ्यस्तन्न रोचते। प्रयुज्यते तथाभूतमुदीच्यैः कविगर्हितम् ॥' तदिदमाह—अत्रेत्यादि ।

(६) वाक्यकृतागुम्फना

वाक्यकृता यथा—

'पतिश्वशुरता ज्येष्ठे पतिदेवरतानुजे ।
मध्यमेषु च पाञ्चाल्यास्त्रितयं त्रितयं त्रिषु ॥ ७० ॥'

इह महतोऽर्थस्याल्पीयसा ग्रन्थेनाभिधानमिति व्युत्क्रमेणापि ग्रन्थलाघवाय वाक्यार्थो रचित इतीयं वाक्यरचना ॥

वाक्यकृतागुम्फना का उदाहरण—

पञ्चपतिका द्रौपदी अपने ज्येष्ठ पति में पतिश्वशुरता का तथा छोटे में पतिदेवरता का भाव

रखती थीं तथा बीच के तीन पतियों में तीन तीन—श्वशुर, पति तथा देवर—भाव ॥ ७० ॥

यहां बहुत अधिक अर्थ को छोटे से छन्द के द्वारा कह दिया गया है। यद्यपि यह कथन क्रमबद्ध नहीं है तथापि छन्द में लघुता लाने के लिये वाक्य का अर्थ इसी रूप में रखा गया इस प्रकार यहां वाक्यरचना है।

स्व० भा०—उदाहरण के श्लोक में ज्येष्ठ के बाद कनिष्ठ और फिर मध्यमों का ग्रहण है। इस प्रकार यहां क्रमभ्रंशता है, किन्तु विषय का प्रतिपादन इसी रूप में अपेक्षित होने से दोष नहीं हुआ।

वाक्येति। वाक्यरचना तु महावाक्य एव भवतीति। तथाहि। पतिश्वशुरतेत्यादिकमल्पाक्षरमेव वाक्यं महतोऽर्थराशेः समर्पकमिति भावयतां सहृदयानां कविस्वशक्तिरप्रत्यूहैव प्रकाशते। अत एव शक्तितिरस्काराद्‌ाद्यन्तावभिधाय मध्यमाभिधाने क्रमभ्रंशोऽपि तिरस्क्रियत इत्याह—अत्रेति ॥

(११) शय्या अलङ्कार

शय्येत्याहुः पदार्थानां घटनायां परस्परम्।
सा प्रक्रान्तेन कस्मिंश्चिदप्रक्रान्तेन कुत्रचित् ॥ ५४ ॥
अतिक्रान्तेन कुत्रापि पदार्थं वर्णयोः क्वचित्।
वाक्यार्थे वाक्ययोः क्वापि प्रकीर्णानां च दृश्यते ॥ ५५ ॥

पदार्थों—प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओं—की परस्पर योजना होने पर 'शय्या' अलंकार कहा जाता है। यह शय्या कहीं अप्रक्रान्त, कहीं अतिक्रान्त, कहीं एक पद की सिद्धि के लिये दो वर्णों की, कहीं एक वाक्य की सिद्धि के लिये दो वाक्यों की, और कहीं प्रकीर्ण दृष्टिगोचर होती है ॥ ५४–५५ ॥

स्व० भा०—शय्या का अभिधेय अर्थ होता है 'सेज'। यहां शय्या एक विशेष प्रकार का पदविन्यास कही जायेगी। कारिका में अनेक स्थितियों में शय्या होने का उल्लेख करके उसके भेदों की ओर संकेत किया गया है। इसके भेदों में प्रथम तीन तथा पंचम का सम्बन्ध तथा अपेक्षा लोकवृत्ति से है। चतुर्थ अर्थात् पदघटना पूर्णतः शब्दयोजना पर आधृत है और अन्तिम अनेक विधाओं का संग्रह।

शय्येति। किंचिदेकं वस्तु बुद्धौ समाधाय तदधिकारप्रबन्धरचनायामधिकस्यान्तरान्तरा प्रकृते योजना शय्या। पदार्थानां प्रस्तुताप्रस्तुतवस्तूनाम्। तच्च योजनीयं शब्दार्थभेदेन द्विविधम्। तत्र वस्तुवाक्ययोरेव योजना महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते। अर्थस्तु प्राकरणिकार्थोपयोगी तदनुयोगो चेति द्विविधः। द्वितीयोऽप्यतिक्रान्तोऽतथाभूतश्चेति पूर्ववद्विभागवाक्यं व्याख्येयम् ॥

अतीति। पदार्थं पदसिद्ध्यर्थम्, एवं वाक्यार्थमिति ॥

(१) प्रक्रान्तघटना

तासु प्रक्रान्तघटना यथा—

'स तथेति प्रतिज्ञाय विसृज्य कथमप्युमाम्।
ऋषीञ्ज्योतिर्मयान्सप्त सस्मार स्मरशासनः ॥ ७१ ॥'

सेयं सप्तर्षीणामागमनस्य प्रक्रान्तस्यैव घटना ॥

प्रक्रान्तघटना का उदाहरण—

भगवान् शिव ने "अच्छा ऐसा ही होगा" इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके किसी भाँति उमा को लौटाया और तेजस्वी सप्तर्पियों का (कार्यसिद्धि के लिये) स्मरण किया ॥ ७१ ॥

यहां सप्तर्पियों के आने का वृत्तान्त मूलकथा में आ नहीं रहा था, किन्तु उसका उल्लेख करने से यहाँ प्रक्रान्त घटना है।

स्व० भा०—प्रक्रान्त का अर्थ 'आरंभ किया हुआ' और 'व्यतीत' भी है। इन दोनों अर्थों में यह पद यहाँ संगत है। वस्तुतः शिव-पार्वती के विवाह के प्रसङ्ग में अथवा उनके जीवन के ही प्रसङ्ग में सप्तर्पियों का उल्लेख प्राप्त नहीं है। विवाह के प्रकरण में उपयोगिता समझ कर कवि ने उनकी कथा का प्रारम्भ किया है। दूसरे अर्थ में सप्तर्पियों की कथा अनपेक्षित होने से प्रसङ्ग से निकल चुकी थी, किन्तु उसका ग्रहण किया गया। अतः जहाँ किसी अवान्तर कथा का प्रारम्भ किया जाये, अथवा अनपेक्षित तत्त्व का समावेश कौशल से कर दिया जाये तब वहाँ प्रक्रान्तघटना नाम की शय्या होती है।

सेयं सप्तर्पीणामिति। गौरीपरिणयप्रापकतया प्रकरणसंगतसप्तर्षिवृत्तान्तः ॥

(२) अप्रक्रान्तघटना

अप्रक्रान्तघटना यथा—

'अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
निषादस्य च संवादमृषेः संवरणस्य च ॥ ७२ ॥'

सेयमप्रक्रान्तस्य निषादसंवरणसंवादस्य घटनादप्रक्रान्तघटना ॥

अप्रक्रान्तघटना का उदाहरण—

यहां पर भी निषाद तथा संवरण ऋषि के संवाद रूप इस पुरानी कथा का लोग उदाहरण देते हैं ॥ ७२ ॥

यहां अप्रक्रान्त निषाद तथा संवरण के संवाद की योजना करने से अप्रक्रान्तघटना है।

स्व० भा०—संवरण और निषाद के संवाद पूर्व तथा उत्तरवर्ती किसी भी प्रसङ्ग के लिये उपयोगी नहीं है, फिर भी इतिहास होने के कारण उसकी योजना की गई है। अतः अनपेक्षित होने पर भी उसकी उपेक्षा नहीं की गई है।

इयमप्रकान्तस्येति। संवरणनिषादसंवादस्य पूर्वापरप्रकरणानुपयोगेऽपीतिहासरूपेण संगतिः ॥

(३) अतिक्रान्तघटना

अतिक्रान्तघटना यथा—

'तस्य चक्रुश्चमत्कारं व्यतीतसमया अपि।
स्मितार्द्रमुकुलोद्भेदाः कदम्बवनराजयः ॥ ७३ ॥'

इयमतिक्रान्तस्यापि कदम्बवनराजीनामार्द्रमुकुलोद्भेदस्य विरहिमनश्चमत्कारकारिणो रामस्य स्मृतिद्वारेण घटनादतिक्रान्तघटना ॥

अतिक्रान्तघटना का उदाहरण—

(पुष्पित होने का) समय बीत जाने पर भी मुस्कान के सदृश आर्द्र कलियों को पुष्पित करके कदम्ब की वनाली ने उसे चमत्कृत कर दिया ॥ ७३ ॥

कदम्ब की वनाली के आर्द्र प्रस्फुटन का समय व्यतीत हो जाने पर भी वियोगियों के मन को चमत्कृत करने वाले राम की याद के कारण वैसा सम्भव होने से अतिक्रान्तघटना है।

स्व० भा०—पूर्वकाल में घटित हो गई किसी घटना अथवा बात को, जो प्रसङ्गतः प्राप्त नहीं है, जब किसी कारण सम्भव बतला दिया जाये तब अतिक्रान्त घटना होती है। प्रस्तुत उदाहरण में यही प्रदर्शित है। वस्तुतः कदम्बों के फूलने का समय निकल चुका था, किन्तु जब रामने उसे देखा तो उन्हें ऐसा लगा कि मानो वे खिल गये हों। उन्हें उनके फूलने के उस समय की याद आ गई जब उन्होंने उसे देखा था।

इयमतिक्रान्तस्यापीति। कदम्बकुसुमोद्भेदस्य प्रत्यक्षस्यैव विरहिजनतातङ्कदायित्वं संभवतीति कथमतीतस्य तद्भयस्येत्युक्तं 'स्मृतिद्वारेण' इति। संकल्पवशेन प्रत्यक्षायमाणस्येत्यर्थः। एवमनागतयोजनापि गुणादिना बोद्धव्या॥

(४) पदघटना

पदघटना यथा—

'छिन्नेन पतता वह्नौ यन्मुखेन हठात्कृते।
स्वेतिहेति हरेणोक्तेः स्वाहासीत्सैष रावणः॥ ७४॥'

इयं स्वेतिहेतिवर्णाभ्यां स्वाहेति पदस्य घटितत्वात्पदघटना॥

पदघटना का उदाहरण—

कटने के बाद अग्नि में गिर रहे मुख से रावण ने बड़े प्रयत्न से "स्वा" इतना ही कहा था, कि शंकर के द्वारा "हा! (एष रावणः" हाय, यह रावण है) ऐसा कहने से "स्वाहा' पद बन गया॥ ७४॥

यहाँ 'स्वा' तथा 'हा' इन दोनों वर्णों से स्वाहा पद के बन जाने से पदघटना हुई।

स्व० भा०—होम का कार्य स्वाहा पद के उच्चारण के साथ किया जाता है। रावण अपने शीर्षों को काट कर शिव के लिये होम कर दिया था, यह प्रसिद्धि है ही। कवि ने ,स्वाहापद दो वर्णों के योग से कैसे बना इसका चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है। एक पद की सिद्धि के लिये दो वर्णों का उपयोग होने से पदघटना है।

इयं स्वेति। स्वाहाकारप्रदानो होमस्तत्र सद्यश्छिन्नेन शिरसा प्राणशेषयोगात् पदार्धमात्रे निष्पादिते तदैव भूतकरुणासंतानशान्तात्मना परमेश्वरेण खेदाविष्कारवाची हाशब्दः प्रयुक्तस्तेनैव निरन्तरमुच्चरता स्वाहापदं सिद्धमिति॥

(५) वाक्यघटना

वाक्यघटना यथा—

'हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता।
विभावितैकदेशेन स्तेयं यदभियुज्यते॥ ७५॥'

इयं पूर्वशास्त्रनिबद्धस्योत्तरार्धस्य तदर्थाननुयायिनापि प्रस्तुतार्थाविरुद्धेन पूर्वार्धेनैकवाक्यतयैव घटितत्वाद्वाक्यघटना॥

वाक्यघटना का उदाहरण—

(हंस को देखकर पुरूरवा अपनी विक्षिप्तावस्था में कहता है) हे हंस, मेरी प्रियतमा को मुझे लौटा दो। उसकी चाल को तुमने चुराया है। जिसके पास चोरी गये पदार्थ का एक हिस्सा भी मिलता है, वह पूरे माल के लिये दोषी ठहराया जाता है॥ ७५॥

पहले की बातों से सम्बद्ध उत्तरार्ध उसके अर्थ का अनुगमन नहीं करता है फिर भी प्रस्तुत अर्थ का विरोध न करके पूर्वार्ध के साथ एकवाक्यता सम्पन्न होने से वाक्यघटना है।

स्व० भा०—राजा जिस दशा में हंस से याचना कर रहा है उसका भाव पूर्वार्ध में स्पष्ट है। उत्तरार्ध में याचना का भाव न होकर तर्कपूर्ण अभियोग है। अतः पूर्वार्ध का उत्तरार्ध अनुगमन नहीं करता है। यह तो तब होता जब कि दोनों अर्थों में एक ही अर्थ समाहित होता। अभियोग होने पर भी, अर्थों में एकरूपता न होने पर भी परस्पर विरोध नहीं है। उन दोनों को एक साथ मिलाकर अर्थ करने पर असंगति नहीं होती, एकवाक्यता की सिद्धि हो ही जाती है।

इयं पूर्वशास्त्रेत्यादि। सुगमम्॥

(६) प्रकीर्णघटना

प्रकीर्णघटना यथा—

'एक्कहिँ अच्छिहिँ सावणु अण्णहिँ भद्दवउ
माहउ महिअलसत्थरि गण्डत्थल सरउ।
अङ्गहिँ गिम्ह सुहच्छिइ तिलवण मग्गसिरु
मुद्धिहिँ मुहपङ्कअसरि आवासिउ सिसिरु॥ ७६॥'

[एकस्मिन्नक्ष्णि श्रावणोऽन्यस्मिन्भाद्रपदः
माधवो महीतलस्रस्तरे गण्डस्थले शरत्।
अङ्गे ग्रीष्मः सुखासिका तिलवने मार्गशीर्षः
मुग्धाया मुखपङ्कजसरसि आवासितः शिशिरः॥]

अत्र श्रावणादीनामयुगपद्भावित्वेन विप्रकीर्णानां घटनादियं प्रकीर्णघटना। प्रकीर्णशब्दश्चायं शेषवाची। तेनान्यासामपि प्रकीर्णघटनानामिहावकाशो भवति, तेन या इमा महाकविप्रबन्धेषु मुख्यगौणीलक्षणास्तद्भावापत्तिरुपचरिता लक्षितलक्षणेति शब्दवृत्तयस्ता अपीह श्रूयन्ते। यत्रादितः षट्स्वाधारवचनेषु मुग्धाया इति संबन्धिपदे च मुख्या। शेषयोर्द्वयोराधारवचनयोर्गौणी। श्रावणादिषु चतुर्षु मासवचनेषु लक्षणा। षट्स्वपि चाधेयवचनेषु वर्षादिषु लक्षिताभिहितेष्वपि युगपदसंभवत्सु श्रुतार्थापत्तिलभ्या तावद्भावापत्तिः। आवासित इति क्रियापदे चोपचरिताऽव्यक्तमेव प्रतीयते। लक्षितलक्षणापि चैतास्वेव व्याख्यानत उन्मिषति। तथाह्यावासितशब्दोऽयमभिमतप्रदेशनिवेशितमहापरिच्छदे महाराजादौ निरूढाभिधानशक्तिः। स उपचारेण श्रावणादिषु प्रयुज्यमानस्तेषामपि महत्त्वमभिलक्ष्य महापरिच्छदतां महारम्भत्वं च लक्षयन् प्रस्तुताया अपि प्रवृत्तेर्महान्तमनुबन्धं लक्षयति। ते च युगपल्लोचनादौ चानुपपद्यमानस्थितयः स्वशब्दशक्तितस्तत्र तत्र च निवेश्यमानाः स्वधर्मसंपदः प्रत्यासन्नायां तद्धर्मसंपदमुपलक्षयन्ति। असावसौ विरहवत्या अपि वियोगवेदनातिशयं लक्षयन्ती कमितरि स्नेहातिशयं लक्षयति। तत्र श्रावणो भाद्रपद इत्येताभ्यामवयवाभ्यां वर्षर्तुर्लक्ष्यते। स च लोचनयोरनुपपद्यमानस्थितिरपि विभक्तिश्रुत्या निवेशितः पयःपृषत्प्रवाहलक्षणायाः स्वधर्मसंपदः प्रत्यासन्नामविच्छिन्नाश्रुसंपदमुपलक्षय-

न्समागमोत्काया उत्कण्ठातिशयं लक्षयति। माधव इत्युत्तरावयवेन वसन्तो लक्ष्यते। सोऽपि महीतलस्रस्तरेऽनुपपद्यमानस्थितिः प्राग्वदेव शब्दशक्त्या निवेशितः कुसुमकिसलयमृणालकमलिनीदलादिकायाः स्वधर्मसंपदः समासन्नां शिशिरोपकरणसामग्रीमुपलक्षयन्कामवत्याः शरीरान्तस्तापं लक्षयति। शरदित्यनेन ऋतुविशेषोऽभिधीयते। सा गण्डयोरनुपपद्यमानस्थितिः प्रशंसावचनस्यापि स्थलशब्दस्यानुस्मरणशक्त्या समाकृष्यमाणकाशकुसुमहंसागमनकुमुदसरःप्रसादचन्द्रातपादिकायाः स्वधर्मसंपदः समासन्नं गण्डयोः पाण्डुभावं लक्षयन्मृगेक्षणाया विरहकार्श्यमुपलक्षयति। ग्रीष्म इत्यनेनापि ऋतुविशेष एवोच्यते। सोऽप्यङ्गनाङ्गेऽनुपपद्यमानः सूर्यांशुकार्कश्यप्रतप्तपांसुतापपरुषोष्मानिलत्वदावाग्निकालुष्यादेः स्वधर्मसंपदः समानानीकभूताभूतपूर्वानङ्गज्वरलिङ्गसंपदमुपयन्नष्टमीं कामावस्थामुपलक्षयति। मार्गशीर्ष इत्यनेन तु पूर्वावयवेन हेमन्तो लक्ष्यते। तेन च यथा हेमन्ते तिलवनं लूयते तथा तस्याः सुखासिका सांप्रतं लूयत इति लक्षितेनातिशायिनी मनःपीडोपलक्षिता भवति। का पुनः सुखासिका तिलवनयोः समानधर्मता येयं स्नेहनिर्भरता नाम। अभिसारिकाणां च प्रायेण तिलवनाब्जिनीखण्डयोरेव बहुमानप्रसिद्धिः।

यदित्थमाहुः—

'अत्तन्तहरमणिज्जं अम्हं गामस्स मण्डणीहूअम्।
लुअतिलवाडिसरिच्छं सिसिरेण कअं भिसिणिसण्डम्॥ ७१॥'

[अत्यन्तरमणीयमस्माकं ग्रामस्य मण्डनीभूतम्।
लूनतिलवाटीसदृशं शिशिरेण कृतमब्जिनीखण्डम्॥]

अत एवायमुत्तरवाक्ये कमलसरःशब्देनाब्जिनीखण्डमपि निर्दिशति। तद्यथा—

'मुद्धिहि मुहपङ्कअसरि आवासिउ सिसिरु'।

[मुग्धाया मुखपङ्कजसरसि आवासितः शिशिरः।]

तत्र शिशिर इत्यनेन ऋतुविशेषेण मुग्धामुखेऽपि पद्मसरसीव शब्दशक्त्या निवेशितेन कमलवनोपप्लवादेः स्वधर्मसंपदो लोकप्रतीतायाः प्रत्यासन्ना मुग्धामुखाम्भोरुहलोचनोत्पलस्मितकुसुमदशनकेसरादेश्छायापरिम्लानिर्लक्ष्यमाणा विप्रलम्भानुभावप्रकर्षमुपलक्षयति। शिशिरलक्ष्मीवर्णनप्रस्तावाच्च 'मुखमर्धं शरीरस्य सर्वं वा मुखमुच्यते' इति प्रस्थानप्राधान्यलक्षणया सर्वर्तुभ्यः शिशिर एव प्रधानमित्यपि लक्षितं भवति॥

प्रकीर्णघटना का उदाहरण—

इस मुग्धा की एक आँख में सावन और दूसरे में भादों है। पृथ्वी के बिछौने में वसन्त तथा कपोलों में शरद् है। इसके अङ्गों में ग्रीष्म तथा सुखाश्रय रूपी तिलवनों में अगहन तथा मुखरूपी पुष्करिणी में शिशिर ऋतु बसा दिया गया है॥ ७६॥

यहां पर एक साथ न होने वाले श्रावण (भाद्र) आदि बिखरे रहने वाले अर्थों को एक साथ संघटित कर देने से प्रकीर्णघटना है। यहाँ प्रकीर्ण शब्द का प्रयोग (उपर्युक्त सभी प्रकारों से) अवशिष्ट (संघटनों को व्यक्त करने) के लिए हुआ है। इससे अन्य बिखरी हुई घटनाओं के लिये भी यहाँ जगह है जिससे महाकवियों की रचनाओं में जो ये मुख्य, गौणी और लक्षणा हैं, उनके भी भाव यहाँ आ जाते हैं तथा जो (उपचारमिश्रित और) लक्षणलक्षणा ये शब्दवृत्तियाँ हैं वे भी यहाँ सुनी जाती हैं। यहाँ पर प्रारम्भ से लेकर छः आधारवाचक पदों में तथा 'मुग्धायाः' इस सम्बन्धवाचक पद में मुख्या वृत्ति हैं। शेष दो आधारवाचक पदों में गौणीवृत्ति है। श्रावण आदि चारो मासवाचक पदों में लक्षणा है। छहों आधेयवाचक पदों से वर्षा आदि के लक्षणा से प्रकट होने पर भी एक साथ सबकी सम्भावना न होने से उनकी सम्भावना की प्राप्ति श्रुतार्थापत्ति से होती है। "आवासितः" इस क्रियापद में उपचरिता स्पष्ट ही प्रतीत होती है। लक्षितलक्षणा भी इनमे ही व्याख्या करने से प्रकट होती है। जैसे कि—'आवासित' यह शब्द एक अभीष्ट प्रदेश पर अपने बहुसंख्यक परिचारकों को रख देनेवाले महाराजा आदि अर्थ को परम्परया अभिधा से प्रकट करता है। वह पद उपचारतः श्रावण आदि में प्रयुक्त होने पर उनमें भी महत्ता को लक्षित करके उसकी महाबलशालिता तथा साहसपूर्ण कर्म का कर्तृत्व भी लक्षित करता हुआ उपस्थित प्रवृत्ति में भी महती परम्परा प्रदर्शित करता है। वे पद एक साथ लोचन आदि में उपपन्न न होने से अपनी शब्दशक्ति से उन-उन स्थलों पर रखे जाने से अपनी धर्मसम्पत्तियों से सादृश्य के कारण उनकी धर्मसम्पत्तियों को लक्षित करते हैं। ये लक्षणायें विरहिणी की विरह-वेदना का आधिक्य लक्षित करती हुई प्रेमी में प्रेमाधिक्य को लक्षित करती हैं। इनमें से श्रावण और भाद्रपद इन दोनों (वर्षा के) अवयवों से वर्षाऋतु लक्षित होती है। वह दोनों नेत्रों में उपपन्न न होने पर भी विभक्ति-श्रुति द्वारा नियोजित किये जाने से जलबिन्दु तथा जलप्रवाह रूप अपने धर्मों को समानता से युक्त निरन्तर अश्रुराशि को प्रकट करता हुआ मिलने के लिये बेचैन नायिका की अतिशय उत्कण्ठा को लक्षित करता है। माधव इस उत्तरवर्ती अंग के द्वारा वसन्त लक्षित होता है। उसकी भी स्थिति पृथ्वीतल के विस्तरे पर अनुपपन्न है, किन्तु वह पूर्ववत् ही शब्दशक्ति के द्वारा निविष्ट किये जाने पर पुष्प, पल्लव, बिसतन्तु, कमलपत्र आदि अपने गुणों के सदृश शीतलता प्रदान करने वाले पदार्थों को लक्षित करता हुआ कामिनी के शरीर में विद्यमान सन्ताप को लक्षित करता है। शरद् इस पद से एक ऋतुविशेष ज्ञात होता है। उस पद की स्थिति दोनों कपोलों में उपपन्न नहीं है, किन्तु प्रशंसावाचक स्थल शब्द की याद से खिंचकर आ रहे काश के पुष्प, हंसों का आगमन, कुमुदिनी से भरे तालाबों का खिलना, ज्योत्स्ना आदि अपने गुणों से समान लगने वाले दोनों कपोलों के पीलेपन को प्रकट करता हुआ मृगनयनी की विरह-कालीन कृशता को लक्षित करता है। ग्रीष्म इस पद द्वारा भी एक विशेष ऋतु ही कहा जा रहा है। वह भी सुन्दरी के अङ्गों में अनुपपन्न होता हुआ सूर्य के किरणों की कर्कशता, धूल का तपने लगना, कठोर तथा गर्म वायु का चलना, दावाग्नि का लगना और कलुषता आदि अपने गुणों को समान रूप से मिल रहे विचित्र प्रकार के कामज्वर के लक्षणों को लक्षित करता हुआ आठवीं कामदशा को लक्षित करता है। मार्गशीर्ष इस पद के द्वारा (हेमन्त का) पूर्व अवयव होने से हेमन्तऋतु लक्षित होता है। इस पद द्वारा जैसे हेमन्त में तिलों का वन काटा जाता है उसी प्रकार नायिका का सुखदायी निवास भी इसी समय काटा जा रहा है इस लक्षित अर्थ के द्वारा अत्यधिक हो रही मन की पीड़ा लक्षित होती है। भला सुखासिका तथा तिलवन इन दोनों में ऐसे कौन से समान गुण हैं जिनके कारण यह स्नेहपूर्णता है? अभिसारिकाओं का प्रायः तिलवन और कमलिनीखण्ड से बहुत प्रेम होना प्रसिद्ध है। जैसे यहाँ इस प्रकार से कहा गया है कि—

अत्यन्त रमणीय, हमारे गाँव का अलंकार यह अब्जिनीखण्ड शिशिर ऋतु के द्वारा कटे हुए तिलवन के सदृश कर दिया गया है।

इसीलिए उदाहरण श्लोक के उत्तरार्ध में 'कमलसर' इस शब्द द्वारा 'अब्जिनीखण्ड' का भी निर्देश कवि कर रहा है। जैसे—मुग्धा के मुख-कमलरूपी सरोवर में शिशिर ने डेरा डाल दिया है।

वहाँ पर शिशिर इस ऋतु विशेष के द्वारा मुग्धा के मुख में भी पद्मसर की भांति शब्द शक्ति से निविष्ट किये गये कमल वन के विनाश आदि अपने गुणों को जो कि लोक-विख्यात हैं, समान रूप वाली मुग्धा के मुखकमल, नेत्रोत्पल, स्मित कुसुम, दशनकेसर आदि की कान्ति की क्षीणता लक्षित होकर विप्रलम्भ के अनुभावों का आधिक्य लक्षित किया जा रहा है। शिशिर ऋतु की शोभा के वर्णन का प्रसंग होने से, मुख तो शरीर का आधा है, अथवा सब कुछ मुख ही कहा जाता है।' इस प्रस्थान-प्राधान्य लक्षणा के द्वारा सभी ऋतुओं में शिशिर ही प्रधान है, यह भी तथ्य लक्षित होता है।

स्व० भा०—प्रकीर्ण घटना के प्रसङ्ग में भोज ने सर्वप्रथम यह स्पष्ट किया है विभिन्न देश और काल में संभव होने वाले पदार्थों को एक स्थान पर एक समय उपस्थित दिखलाया जाता है। प्रस्तुत उदाहरण में ही एक के बाद अथवा भिन्न-भिन्न समयों में होने वाली ऋतुओं को नायिका के शरीर में एक साथ उपस्थित चित्रित किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकीर्ण विषयों का भी समावेश प्रकीर्ण घटना में किया जा सकता है। विभिन्न विषयों के अतिरिक्त विभिन्न शब्दशक्तियों के द्वारा व्यक्त अर्थों का भी ग्रहण भोज को मान्य है। वह मुख्या, गौणी तथा लक्षणा इन तीन वृत्तियों को स्वीकार करते हैं। इनमें से जिससे शरीर में मुख की भांति प्रधान अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाता है उसे मुख्या कहते हैं। गुण के द्वारा जिसके अर्थ में व्यवधान पड़ता है उसे गौणी कहते हैं। यह गुणनिमित्ता तथा उपचार-निमित्ता दो प्रकार की होती है। जहाँ पर द्रव्यवाचक दो पदों का सामानाधिकरण्य अथवा वैयधिकरण्य द्वारा प्रयोग करने पर विशेषण तथा विशेष्य भाव की अन्यथा अनुपपत्ति होने से प्रतीयमान अथवा अभिधीयमान गुण के द्वारा सम्बन्ध होता है वह गुणनिमित्ता है। किन्तु जहाँ पर मुख्या अथवा गौणी वृत्ति से किसी दूसरे के विशेषण का दूसरे के लिये प्रयोग करने पर उपचरिता होती है। इसी प्रकार अपने अर्थ के सम्बन्ध से व्यवहित—अर्थात् 'सान्तरार्थनिष्ठ' व्यापार को लक्षणा कहते हैं। यह भी शुद्धा तथा लक्षितलक्षणा भेद से दो प्रकार की है। इनमें जिसका विषय अपने साक्षात् अर्थ के सम्बन्ध के बिना नहीं रह सकता है उसे शुद्धा कहते हैं। जिसमें पूर्व से स्वीकृत अर्थ ही लक्षित होता है उसे लक्षितलक्षणा कहते हैं। कुछ लोग लक्ष्यार्थ से व्यवहित अर्थ को प्रकट करनेवाली शक्ति को लक्षितलक्षणा कहते हैं। उदाहृत छन्द में ये वृत्तियाँ कैसे उपपन्न होती हैं, इसका विशद विवेचन भोज ने वृत्ति में दे दिया है, और वहाँ स्पष्ट भी है।

आश्चर्य है कि भोज ने यहाँ व्यञ्जना वृत्ति का उल्लेख नहीं किया, यद्यपि आचार्य आनन्दवर्धन उसकी स्थापना इनसे लगभग सौ वर्षों से भी पहले कर चुके थे और उस सम्प्रदाय का इनके समय तक प्रचार भी हो चुका था, क्योंकि इनसे कुछ समय बाद मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' जैसे ग्रन्थ की रचना की। वस्तुतः इनकी मुख्या वृत्ति अभिधा में तथा गौणी और शुद्धा लक्षणा लक्षणा में अन्तर्हित हो जाती है। जिसे यह लक्षित लक्षणा कहते हैं और उसकी परिभाषा 'लक्षणाव्यवहिता लक्षणा लक्षणलक्षण' स्वीकार करते हैं उसका अन्तर्भाव व्यञ्जना वृत्ति में होता है। लगता है कि भोज दर्शनशास्त्र के विभिन्न संप्रदायों के ग्रन्थों में निरूपित शब्दशक्ति के भेदों से अधिक तथा साहित्यशास्त्र में निरूपित भेदों से कम सम्बन्ध रखना चाहते थे।

अत्र श्रावणादीनामिति । प्रकीर्णं विकीर्णमनेकत्र प्रतीतमिति यावत् । तद्द्विविधम्—कालतः, देशतश्च । अत्र हि श्रावणादिमासर्तुषट्कस्य युगपदसंभवत एकत्र विरहिणीशरीरे युगपद्भावो निबद्धः, सगुणवृत्तिव्यपाश्रयेण श्रावणादिपदे प्रतिपाद्यमानः प्रवासविप्रलम्भप्रकर्षमावेदयतीति । एवं देशविकीर्णघटनाप्युदाहार्या । यथा—'अमृतममृतं चन्द्रश्चन्द्रस्तथाम्बुजमम्बुजं रतिरपि रतिः कामः कामो मधूनि मधून्यपि । इति न भजते वस्तुप्रायः परस्परसंकरं तदियमबला धत्ते भावान्कथं सकलात्मकान् ॥' यस्त्वत्र सिद्धादिभेदः कश्चिदुपवर्णितः स तथा न चमत्कारीति ग्रन्थगौरवभयादुपेक्षितोऽस्माभिः । तत्तदनेकासाधारणरूपाण्यपि प्रकीर्णानि प्रकीर्णपदेन ग्राह्याणि । तेषामनुक्तान्य (?) तया वोपग्रहोऽपि प्रयुज्यत इत्याह—प्रकीर्णशब्दश्चायमिति । व्याख्यानान्तरप्रयोजनमाह—तेनेति । शब्दस्यार्थप्रतिपादनशक्तिरभिधा । सा त्रिधा—मुख्या, गौणी, लक्षणा च । तासु मुखमिव प्रथमं यस्यामर्थः प्रतीयते सा मुख्या, तथाभूतार्था तद्भावापत्तिश्च । तत्रावान्तरार्थसंबन्धविषया तथाभूतार्था । यथा—'खात्मेन्दुवह्निपवनार्कमहीपयोभिरष्टाभिरेव तनुभिर्भवता समस्ते । व्याप्ते जगत्यपरमिच्छति योऽत्र वक्तुं कोऽन्यो गतत्रपतया सदृशोऽस्ति तेन ॥' सैवार्थान्तरस्वार्थसंबन्धविषया तद्भावापत्तिः । अतथाभूतस्य तथात्वापादनं हि सा । अत एव स्वतोऽन्यतो वा स्वार्थावच्छिन्नस्य साक्षादभिधानशक्तिरेव मुख्येत्याचार्याः । यथा—'कमला अणणसणीआ हंसा उड्डाविआण अपि उच्छा । केण वि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं वूढम् ॥ गुणव्यवहितार्था गौणी [सा द्विधा] गुणनिमित्ता उपचारनिमित्ता च । तत्र द्वयोर्द्रव्यवचनयोर्यत्र सामानाधिकरण्येन वैयधिकरण्येन वा प्रयोग विशेषणविशेष्यभावान्यथानुपपत्त्या प्रतीयमानाभिधीयमानगुणद्वारकसंबन्धो भवति सा गुणनिमित्ता । यथा—पडिवक्खमण्णुपुञ्जे लावण्णकुडे अणङ्गगअकुम्भे । पुरिससअहिअअभरिए कीस खलन्ती थणे वहसि ॥' मुख्यया गौण्या वान्यविशेषणस्यान्यत्र प्रयोग उपचरिता सापि गुणयोगमुपजीवन्ती गुणवृत्तिरेव । एतावांस्तु विशेषो यद्गुणनिमित्तायामभिधेयगुणयोगः, इह तु स्वाभिधेयविशेष्यगुणयोग इति । यथा—'परार्थे यः पीडामनुभवति निर्व्याजमधुरो यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः । न संप्राप्तो वृद्धिं सपदि भृशमक्षेत्रपतितः किमिक्षोर्दोषो यत्र पुनरगुणाया मरुभुवः ॥' स्वार्थसंबन्धव्यवहिता लक्षणा । तदुक्तम्—'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणेति या । सैषा विदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरिष्यते ॥' सा द्विधा—शुद्धा, लक्षितलक्षणा च । तत्र साक्षात्स्वार्थसंबन्ध्यविनाभूतविषया शुद्धा । यथा—'यत्तालीदलपाकपाण्डुवदनम्', 'अभिनवकरिदन्तच्छेदपाण्डुः कपोलः' इति । यया पूर्वपूर्वलक्षितमेव लक्ष्यते सा लक्षितलक्षणेति केचित् । यथा—'मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे', 'भीमो भीमपराक्रमः' इति । अत्र हि द्विरेफादिना शब्देन लक्षित एव भ्रमरप्रभृतिर्लक्ष्यते न तु कुररादिः । अन्ये तु लक्षणाव्यवहिता लक्षणा लक्षितलक्षणेत्याहुः । यथा—'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः । शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥' तद्भावापत्त्यादिविशेषसमभिव्याहारेण मुख्यादिशब्दास्तदितरतथाभूतस्वगोचरा इति पूर्ववद्व्याख्येयम् । क पुनः पदैकावृत्तिरित्यत आह—अत्रेति । 'एक्कहि अच्छिहिं अण्णहिं महिअलसत्थरे गण्डत्थले अङ्गहिं' इत्यादि पदाधारवचनाः । अत्र यद्यपि गण्डस्थलपदं गौणमेव, तथाप्यनादिप्रयोगयोगितया मुख्यकल्पमिति पदस्वाधारवचनेष्वित्युक्तम् । अङ्गादिपदानि च स्वार्थविशिष्टान्यपराण्येव प्रयुक्तानीति मुख्यैव वृत्तिः । एवं सुखधाय इति संबन्धिपदेऽपि । 'सुहच्छितिलवणे सुहपङ्कअसरि' इति द्वावाधारवचनौ शेषौ । अत्र तिलवनसरःपदयोः स्नेहनिर्भरत्वसरसत्वलक्षणगुणद्वारकैव सुखासिकामुखपङ्कजयोर्वृत्तिः । मुखपङ्कजसरसीत्यत्र यद्यपि पदद्वयं गौणं

तथापि पङ्कजपदस्य वृत्तिरभिधातुल्येति न कविसंरम्भगोचरस्तेन व्यवहारोऽयुक्तः। 'सावण भद्दवअ माहव-मग्गसिर' इति चत्वारो मासवचनाः। ते च स्वार्थसंबन्धव्यवहितं वर्षाप्रभृतिसमुदायं लक्षयन्तीति वक्ष्यमाणरीत्या वर्षादयः षडाधेयवचनास्ते च विरहवतीशरीरे युगपच्चासंभवदवस्थितयो जलादिसंपदादिस्वस्वप्रवृत्तिनिमित्ताध्यासेन प्रयुज्यमानास्तद्भावापत्तिरूपां वृत्तिमासादयन्ति। अस्याश्च विवर्तपरिणामाध्यासादयः षट्प्रकारा गौरवभिया न दर्शिताः। श्रुतार्थानुपपत्तिमूला कल्पना श्रुतार्थापत्तिः। राजादेरासिते आवासितशब्दो मुख्यवृत्त्यैव विशेषणतया रूढः। स स्वविशेषगुणव्यवहितेऽर्थान्तरे प्रयुक्तो गौणीवृत्तिमनुभवन् वसन्तादेरपि विशेषणतामासादयति। लक्षणाव्यवहिता लक्षणा लक्षितलक्षणा। सा कथमावासितेतिशब्दे संपद्यत इत्यह आह—स उपचारेणेति। कथंचित्सारूप्येण श्रावणादिषु प्रयोगादुपचारस्तमुपजीव्य प्रयुक्तः स्वार्थाविनाभूतं महत्त्वादिकं प्रकृतेषु लक्षणया संक्रामयतीति। आद्या लक्षणा तद्व्यवहितां द्वितीयामाह—प्रस्तुताया अपीति। आवासितस्यापि हि यथोक्तविशेषणस्य परदुर्गग्रहणादौ महाननुबन्धो दृष्टः। स इह प्रस्तुतायां विरहवतीसंतापलक्षणायां प्रवृत्तौ लक्ष्यत इत्येकलक्षणाव्यवधानेनेयं लक्षणा। एवं लक्षणाद्वयव्यवधानेनापि भवतीत्याह—ते चेति। श्रावणादयः स्वधर्मसंपदो निरन्तरवर्षणादेः स्वार्थाविनाभावेन लक्षितायाः प्रत्यासन्ना सदृशी तेषां लोचनादीनां धर्मसंपदश्रुप्रभावादिलक्षणा लक्ष्यत इति द्वितीया लक्षणा। तत्पुरःसरां तृतीयामाह—असावसाविति। एवं लक्षणात्रयपूर्वापि लक्षणा बोद्धव्येत्याह—क्रमितरीति। स्नेहप्रतीत्या तु विभावादिसंवलितया रसो व्यज्यते, न तु लक्ष्यत इत्यन्यत्र विस्तरः। कस्याः पुनः स्वधर्मसंपदः प्रत्यासन्ना का तद्धर्मसंपदित्यतो विवेचयति—तत्रेति। यदि श्रावणादिपदेषु समुदायलक्षणा न स्यात्तदा मासानुपक्रम्य ऋतुनामभिधाने प्रक्रमभेदो भवेत्। न भवेच्च तत्तदृतुप्रतीत ऋतुसंपत्प्रतीतिः क्वचिदिति युक्तैव समुदायलक्षणा। एताभ्यामिति। प्रत्येकं न तु पदद्वये लक्षणा संभवति। विभक्तिश्रुत्येति। सप्तमीप्रथमाविभक्तिभ्यामाधाराधेयभावः स्वशक्त्या प्रतिपाद्यते तदनुपपत्त्यार्थान्तरलक्षणा प्रादुर्भवति। एवं चैत्रवैशाखसमुदायात्मनो वसन्तस्योत्तरावयवो वैशाखस्तद्वाचकेऽपि माधवपदे समुदायलक्षणाद्वारेण लक्षणा भवति। प्रशंसावचनस्यापीति। गर्भीकृतसारूप्या हि व्याघ्रादय उपमेयवाचिभिः समस्यन्ते। तच्च सारूप्यं प्रकर्षलक्षणमेवेति प्रशंसापरत्वे स्थितेनाभिधेयप्रतीत्यसारूप्यं वा रूपान्तरं वा प्रत्येतुं न शक्यत इत्यभिधेयप्रतीत्यनुनिष्पादिनी घण्टानुस्वानसोदरा स्वधर्मसंपद्यथोक्ता प्रतीयते। स्वने किल शरदा काशकुसुमहंसादिका स्वसंपद्भिस्तायते। न मुखचन्द्रादिवत्सुखासिकातिलवनयोः सादृश्यप्रतीतिर्न च तदभिधीयमानं किंचिदत्रास्तीति पृच्छति—का पुनरिति। मा भूत्तथा प्रसिद्धिः कवेरभिप्रायारूढा तु प्रतीयत इत्युत्तरमाह—येयमिति। न स्नेहो नाम द्वयोरेकः कश्चिदस्ति न चानभिधीयमानमपि सादृश्यं शब्दसामान्यमाश्रयत इत्यतः प्रकारान्तरमाह—अभिसारिकाणां चेति। कथमेतदवगतमित्यत आह—वदित्थमिति। ननु कमलिनीशब्दस्यात्र बहुमानगोचरता प्रतिपादिता, न तु तिलवनस्येत्यत आह—अत एवेति। उपमानोपमेययोर्द्वयोरपि कामिनीबहुमानगोचरतां वितरन्ती शिशिरेण सांप्रतं तिलवाटिकालवनमपि वर्तत इत्यभिप्रैतीति भावः। 'मुखमर्धं शरीरस्य' इत्यादिन्यायेन मुखशब्दः प्राधान्यं लक्षयति, ततो मुखपङ्कजसरसि शिशिर इति तद्भावापत्त्या हेमन्तस्यापि ऋतुषु प्रथमतया प्राधान्यमेव द्योतितमिति। तदुक्तम्—'पडिकम्मदूइपेसणमाणग्गहणेसुभासुरपहुप्पन्तो। हेमन्तिओ सुहाअइ मलिणमिअङ्को वि कामिणीणयओसो॥'

(१२) पठिति अलंकार तथा उसके भेद

काकुस्वरपदच्छेदभेदाभिनयकान्तिभिः ।
पाठो योऽर्थविशेषाय पठितिः सेह षड्विधा ॥ ५६ ॥

सा काका यथा—

'यदि मे वल्लभा दूती तदाहमपि वल्लभा ।
यदि तस्याः प्रिया वाचस्तन्ममापि प्रिय प्रियाः ॥ ७८ ॥'

अत्रैकया काका विधिरन्यया निषेधः प्रतीयते ॥

काकु, स्वर, पदच्छेद, पदभेद, अभिनय तथा कान्ति के द्वारा जो पाठ अर्थ विशेष प्रकट करने में समर्थ होता है, उसे 'पठिति' अलंकार कहते हैं। वह काव्य में (उपर्युक्त कारणों से) छः प्रकार का होता है ॥ ५६ ॥

काकु से प्रकट होने वाली पठिति वहां होती हैं।

जैसे—(किसी शठ नायक के द्वारा दूती के साथ कामाचार करने पर उसकी प्रेमिका कहती है कि) यदि मेरी दूती, हे प्रिय, तुमको प्रिय है तो मैं भी प्रिया हूं। यदि उसकी शब्दावली आपको अच्छी लगती हैं, तो मेरी भी प्रिय हैं ॥ ७८ ॥

इस उदाहरण में एक काकु से विधि तथा दूसरी काकु से निषेध प्रकट होता है।

स्व० भा०—किसी एक अर्थ को प्रकट करने के लिए किया गया उच्चारण जब दूसरे अर्थ का ज्ञान कराने के लिये दूसरे ही ढंग से ग्रहण किया जाता है तब पठिति नाम का अलंकार होता हैं। यह दूसरा ढंग काकु आदि के द्वारा प्रकट होता है, अतः यही छः भेद है।

किसी पद अथवा वाक्य को पढ़ते समय उसके आरोह-अवरोह के क्रम तथा बलाघात में परिवर्तन लाना काकु है। ऐसा करने से एक वाक्य का अर्थ सर्वथा विपरीत भी हो जाया करता है। किसी विधिवाचक वाक्य निषेधात्मक और निषेधात्मक वाक्य से विधिवाचक अर्थ प्रकट होने लगता हैं। प्रस्तुत उदाहरण का हाँ जो अर्थ ऊपर दिया जा चुका है, किन्तु 'तदा ममापि' पर बलाघातपूर्वक पढ़ने से वाक्य प्रश्नवाचक हो जाता है जो निषेध प्रकट करता है। यही दशा उत्तरार्ध में भी चतुर्थ चरण में हैं। इसका दूसरा अर्थ होगा—यदि मेरी दूती तुम्हें प्रिय है तो मैं भला कैसे प्रिय हो सकती हूं, अर्थात् प्रिय नहीं हूंगी। यदि उसकी बातें अच्छी लगती हैं तब मेरी भी बातें कैसे अच्छी लग सकती हैं, अर्थात् अच्छी नहीं लगेंगी।"

काकुस्वरेति। किंचिदेकपरतया प्रवृत्तमुच्चारणमर्थान्तरविवक्षया यदन्यथा क्रियते सा पठितिः। अन्यथाकरणं च काकुप्रभृतिभिः षड्भिरिति। तत्र 'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।' सा द्विधा—विधिकाकुः, निषेधकाकुश्च। तयोर्निषेधे परोच्चारणान्यथाकरणेन विधिपर्यवसायिनी विधिकाकुः। यथा—'शल्यमपि स्खलदन्तः सोढुं शक्येत हलाहलदिग्धम्। धीरैर्न पुनरकारणकुपितखलालीककटुवचनम् ॥' एवं विधिपरोच्चारणान्यथाकरणेन निषेधव्यञ्जिका निषेधकाकुः। तामुदाहरति—यदीति। यदि दूती प्रिया तदाहमपि प्रियेत्यादि ऋजूक्त्या शठनायकविषया कृत्रिमा प्रीतिः प्रतीयते, काका तु तवैव नाहं प्रियेतीर्ष्यारोषः ॥

(२) स्वरपठिति

स्वरेण यथा—

'सुभ्रूस्त्वं कुपितेत्यपास्तमशनं त्यक्ता कथा योषितां
दूरादेव मयोज्झिताः सुरभयः स्रग्गन्धधूपादयः ।

रागं रागिणि मुञ्च मय्यवनते दृष्टे प्रसीदाधुना
सत्यं त्वद्विरहाद्भवन्ति दयिते सर्वा ममान्धा दिशः ॥ ७९ ॥'

अत्र दृष्टे इत्यत्र प्लुतस्वरकरणात्कुपितकान्ताप्रसादनपरमपीदं वाक्यमुत्कुपितदृष्टिप्रसादनतां प्रतिपद्यते ॥

स्वर के कारण संभाव्य अर्थान्तर से पठिति का उदाहरण—

सुन्दर भौंहों वाली तू मुझ पर क्रुद्ध हैं, यह जानते ही भोजन छोड़ दिया है, स्त्रियों की तो बात ही छोड़ दी हैं, मैंने माला, गन्ध धूप आदि सुगन्धित पदार्थों को भी दूर से ही त्याग दिया हैं। हे प्रेयसि, मुझ प्रेमी के तुम्हारे चरणों पर झुका हुआ दिखलाई पड़ जाने पर तो क्रोध छोड़ दो, अब तो प्रसन्न हो जाओ,। हे प्रिये, यह सत्य हैं कि तुम्हारे वियोग में मेरी सारी दिशायें अन्धकारमय हो गई हैं ॥ ७९ ॥

इस पद्य में 'दृष्टे' पद में प्लुत स्वर कर देने से कुपित प्रेयसी को प्रसन्न करने से सम्बद्ध होने पर भी यह वाक्य क्रुद्ध दृष्टि को प्रसन्न करने की बात से सम्बद्ध हो जाता है।

स्व० भा०—व्याकरण तथा शिक्षा ग्रन्थों में स्वरों का निरूपण किया गया है। स्वर ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत तीन प्रकार के होते हैं। पाणिनि के "ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः' सूत्र के अनुसार जिस स्वर के उच्चारण करने में उ, ऊ तथा ऊ३ के उच्चारण का समय अर्थात् एक, दो तथा तीन मात्रा काल लगता है उसे क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत कहते हैं। प्लुत का स्वरूप दूर से किसी को पुकारते समय आह्वान के शब्द के अन्तिम स्वर में देखा जा सकता है। पाणिनि के 'दूराद्धूते च' सूत्र से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत उदाहरण के तृतीय चरण में 'दृष्टे' पद का 'ए' दीर्घ है। इस अवस्था में निष्पन्न 'दृष्ट' पद सप्तमी एकवचन पुँल्लिंग का रूप है। किन्तु यदि इसी के उक्त स्वर को प्लुत मान लें तो यह सम्बोधन स्त्रीलिंग एकवचन का रूप 'दृष्टे' पद ग्रहण कर लेगा। पहले यह पद 'मयि' का विशेषण था, किन्तु दूसरी दशा में यह स्वयं विशेष्य हो जायेगा और इसका विशेषण 'सुभ्रू' आदि पद हो जायेंगे। अतः पहली अवस्था में जो पूरा अर्थ कुपित कान्ता को प्रसन्न करने से सम्बद्ध था, वह दूसरी स्थिति में दृष्टि को ही प्रसन्न करने से सम्बद्ध हो जायेगा। और उसका अर्थ होगा, "हे सुन्दर भौंहों से युक्त दृष्टि, तुम क्रुद्ध हो यह जानकर……" आदि।

स्वरों का महत्त्व वैदिक साहित्य में बहुत अधिक है और लौकिक साहित्य में काफी कम। किन्तु जहां कहीं उपर्युक्त सदृश प्रयोग आ जाते हैं, वहां अर्थभेद हो ही जाता है।

स्वराः प्लुतादय उदात्तादयश्च। नामीषां वेद इव काव्ये भूयान्प्रयोग इति किंचिदुदाहरति—सुभ्रूस्त्वमिति। चरणतलाग्रपतिते मयि दृष्टे सति त्वं प्रसीदेति दीर्घमात्रोच्चारणे कुपितकान्ताप्रसादपरत्वं, यथोक्तप्लुतकरणे तु दूराद्धानादौ तदनुशासनात्कुपितदृष्टिसंबोधनबुद्धिरुपजायते। अशनादयो हि द्वयोः साधारणा एवेति श्लेषोपादानमेवेति। एवं ह्रस्वस्य दीर्घकरणेन दीर्घस्य ह्रस्वकरणेनार्थान्तरप्रतीतिरवसेया। यथा—'विश्वामित्रो विश्वानरः' इति ऋषिराजर्षिविशेषौ प्रतीयेते तथा युवतीति संबोधनप्रतीतिः। एवमुदात्तादयोऽपि यथादर्शनमुत्प्रेक्षणीयाः ॥

(३) पदच्छेद पठिति

पदच्छेदेन यथा—

'सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन्मया विरहिता त्वया॥ ८०॥'

अत्र मया विरहितेत्येतावति पदच्छेदे पुरूरवसस्त्वयेत्येतावति तु पर्वतस्य वाक्यभेदो भवति॥

पदच्छेद अर्थात् वाक्य के एक पद को काटकर दूसरे के साथ रख देने से होने वाले अर्थान्तर का उदाहरण—

(पुरूरवा पर्वत से उर्वशी के विषय में पूछता है) हे सभी पर्वतों के स्वामी, क्या सम्पूर्ण सुन्दर अङ्गों वाली, मुझ से वियुक्त सुन्दरी को आपने इस मनोरम वन-खण्ड में देखा है॥ ८०॥

यहाँ पर "मया विरहिता" यह इतना पदच्छेद करने पर पुरूरवा से सम्बद्ध और "त्वया (विरहिता)" यह पदच्छेद करने पर पर्वत का वाक्य बनता है।

स्व० भा०—एक पद का सम्बन्ध एक पद को हटाकर दूसरे से कर देने के कारण अर्थ में अन्तर आ जाने से पदच्छेद पठिति होती है। उदाहृत छन्द में 'विरहिता' पद के साथ 'मया' को जोड़ देने से पूरे छन्द का अर्थ ऐसे प्रकट होता है मानो पुरूरवा कह रहे हों, और 'त्वया' को जोड़ देने से यह पर्वत द्वारा दिया गया उत्तर प्रतीत होता है। पुरूरवा से सम्बद्ध अर्थ ऊपर दिया जा चुका है। पर्वत से सम्बद्ध अर्थ होगा—'हे सभी राजाओं के महाराज (पुरूरवा जी), चारुसर्वाङ्गी, तुमसे वियुक्त प्रमदा को मैंने इस मनोरम वनभाग में देखा है।" यह अर्थान्तर केवल 'त्वया' और 'मया' पदों को एक स्थान से विच्छिन्न करके दूसरे से सम्बद्ध कर देने के कारण हुआ है।

शृङ्खला भङ्गः परिवर्तकः चूर्णमिति चत्वारश्छेदाः। तत्र पूर्वापरवर्णानामन्योन्यसंकलनया स्थितिः शृङ्खला। यथा—'कान्तारतरुतलासितमृगयुवरचितान्तरा—' इति पठितिः, तदा प्रियासंभोगभणितहर्षितलुब्धकप्रचुरच्छन्नमध्येति प्रतीयते। सेयमन्योन्यं वर्णसंकलनया शृङ्खलेत्युच्यते। एकस्य शब्दस्य मध्ये विच्छेदेन द्वैधीकरणमात्रं भङ्गः। तमुदाहरति—सर्वेति। मया विरहितेत्येतावति समुदाये मद्वियोगवती त्वया दृष्टेत्यष्टमकामावस्थाविष्टस्य पुरूरवसः पर्वतविषयं प्रश्नवाक्यं भवति। यदा तु मयेति विच्छिद्य पूर्ववाक्यसंबन्धि क्रियते तदा त्वया विरहिता सती मया दृष्टेति पर्वतस्योत्तरवाक्यं संपद्यते। वर्णान्तरकल्पना परिवर्तः। यथा—'कलिकामधुगर्हणा' इति। अत्र यथाश्रुतवर्णपरिग्रहे—'कलिकामधुनो गर्हणा निन्दा' इति प्रतीयते, यदा तु 'कलिकामधुग् अर्हणा' इति वर्णान्तरकल्पनया छेदः, तदा पूजैव 'कलौ कामधेनुः' इति पिण्डाक्षरविभागश्चूर्णम्। यथा—'पश्य सलिलं पयोधेर्दूरससुन्मुक्तशुक्तिमीनाक्रान्तम्' इति। अत्र यथाश्रुते दुःखेन रसनीयमुद्भ्रान्तशुक्तिकोपं मत्स्याङ्कितपर्यन्तमिति प्रतीयते, यदा तु दूरसमुन्मुक्तशुक्तिमीनाक्रान्तमिति पिण्डचूर्णनेन च्छेदः, तदात्यन्तहर्षयुक्तेति त्यक्तशोकेति च संबोधनद्वयं कृष्णस्य प्रतीयते॥

(४) पदभेद

पदभेदेन यथा—

'येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुराऽस्त्रीकृतो

यो गङ्गां च दधेऽन्धकक्षयकरो यो बर्हिपत्रप्रियः ।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
सोऽव्यादिष्टभुजङ्गहारवलयस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥ ८१ ॥'

अत्र येन ध्वस्तमनोभवेनेत्यादेर्येन ध्वस्तमनोऽभवेनेत्यादेश्च पदभेदादुमाधवो माधव इत्यर्थद्वयं प्रतीयते । तयोश्च द्वयोरपि प्राधान्येनोपपादनादङ्गाङ्गिभावेन प्रकृताप्रकृतरूपतया चानवस्थानात्परस्परमसंबन्धेनायं श्लेषः । पदभेदेन तु पाठे पर्यायतोऽर्थद्वयप्रतीतेरियं श्लेषोपसर्जना पदभेदपठितिः ॥

पद को ही भिन्न—टुकड़े-टुकड़े—कर देने से होने वाले अर्थान्तर के कारण होने वाली पठिति का उदाहरण—

कामदेव को विनष्ट कर देने वाले जिस देवता के द्वारा बलि को जीतने वाले नारायण का शरीर पहले (त्रिपुरदाह के प्रसङ्ग में) अपना अस्त्र बनाया गया, जिस अन्धकासुर के विनाशक ने गङ्गा को धारण किया, जिनको मयूर की सवारी करने वाले कार्तिकेय प्रिय हैं, देवता लोग जिसके शशिमत् , हर, आदि स्तवनीय नामों को कहा करते हैं, वही सांपों की माला का हार तथा कंगन पसन्द करने वाले, पार्वतीपति शङ्कर आपकी सदा रक्षा करें ॥ ८१ ॥

यहां पर 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि तथा 'येन ध्वस्तमनोऽभवेन' इत्यादि का पदभेद करने से उमाधव (शंकर) तथा माधव (कृष्ण) ये दो अर्थ प्रतीत होते हैं । इन दोनों अर्थों का प्रधान रूप से ग्रहण और अङ्गाङ्गिभाव से प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत रूप से स्थिति न होने से तथा परस्पर सम्बन्ध भी न होने से यह श्लेष नहीं है । पदभेद के द्वारा पाठ करने पर पर्यायता दोनों अर्थों की प्रतीति होने से, श्लेष का व्यवहार गौण होने से यहाँ पदभेदपठिति है ।

स्व० भा०—यहां पर पद का खण्ड करके दूसरा अर्थ प्रतीत कराने से पदभेदपठिति हुई । सम्पूर्ण पद्य का जो प्रथम अर्थ संभव था वह दिया जा चुका है । इसी का पदभेद करके दूसरा अर्थ इस प्रकार होगा तो कृष्ण से सम्बद्ध होगा—

संसार के बन्धनों से रहित जिसके द्वारा शकट का विनाश किया गया, जिसने बलि को जीता, जिसने (दैत्यों को मोहित करने के लिये) मोहिनी नारी का स्वरूप बनाया, जिसने अग—गोवर्धन पर्वत तथा पृथ्वी को धारण किया, जो अन्धकों का आश्रय है, जो मयूरपिच्छ से स्नेह रखता है, देवता लोग 'जिसके राहु के शिर के अपहारी' इस स्तवनीय नाम को कहा करते हैं, सर्पों के विनाशक गरुड जिसको प्रिय हैं तथा जो क—शब्दब्रह्म—में लीन हो गये हैं, जो सब कुछ दे सकते हैं वे भगवान् कृष्ण आप लोगों की रक्षा करें ॥ ८१ ॥

यह दूसरा अर्थ निकालते समय श्लेष का सहारा नहीं लिया गया है । श्लेष में श्लिष्यमाणों का परस्पर सम्बन्ध रहता है । यह सम्बन्ध भी रूपतात्पर्य, अङ्गाङ्गिभाव, उपमानोपमेयभाव आदि प्रकार का होता है । ऐसी बात यहां नहीं है । अतः यहाँ पठिति है ।

येनेति । ध्वस्तमनोभवेन दग्धकामेन बलिजितो नारायणस्य कायः पुरा त्रिपुरादाहव्यतिकरेऽस्त्रीकृतः शरतां नीतः, गङ्गां भागीरथीं दधे, अन्धको दैत्यविशेषस्तस्य क्षयो विनाशः, बर्हिपत्त्रो मयूरवाहनः कार्तिकेयः, शशिमच्चन्द्रकलाङ्कितं शिरो विश्वमोहच्छिदुरस्य हर इति स्तुत्यं च नाम, भुजङ्गा एव हारवलयानि यस्य, सर्वदा सर्वकालमिति उमाधवपक्षे । माधवपक्षे तु—येन ध्वस्तं विनाशितमनः शकटम्, अभवेन संसारबन्धरहितेन, बलिं जितवान्यः कायः स पूर्वं समुद्रमथनावसरेऽमृतगृहयालुदैत्यव्यामोहनाय

स्त्रीरूपतां नीतः, अगं गोवर्धनाख्यं गां पृथिवीमेकार्णवमग्नामुद्धृतवान्। अन्धका यदुविशेषास्तेषां क्षयो निवासः। बर्हिणो मयूरस्य पत्रं पिच्छं तत्प्रियः 'बर्हिपत्त्रकृतापीडम्' इति गोपालध्याने गौतमेनाभिधानात्। शशिनं मथ्नातीति क्विप्। शशिमद्राहुस्तस्य शिरोहर इति स्तुत्यं च नाम। भुजङ्गहा गरुडः स इष्टो यस्य। रवे शब्दब्रह्मणि लयो यस्य सः, तथा सर्वदो यावदभिमतप्रद इति। ननु विभिन्नरूपाणां शब्दानामुच्चारणे तन्त्रतया श्लेष एवायं न पठितिरित्यत आह—तयोश्चेति। श्लेषो हि श्लिष्यमाणयोः परस्परसंबन्धे भवति। स च संबन्धो रूपतात्पर्यसंबन्धो रूपतात्पर्यसंबन्धलक्षणो वा अङ्गाङ्गिभावो वा उपमानोपमेयभावो वा यथाग्रे वक्ष्यते। न चायमेकोऽन्त्राभिमतः किंत्वेकपरमेवोच्चारणे पदभेदेनार्थान्तरं गमयतीति पठितिरेवेयम्। एतेन समासोक्तिसमासोक्तिभ्यामपि भेद उक्तः। तत्किमुच्चारणतन्त्रता नास्त्येवेत्यत आह—श्लेषोपसर्जनेति। यत्र हि यस्य प्राधान्येन विवक्षा तत्र तेन व्यपदेशो युक्तः, अत एव विवक्षान्तरेण श्लेषव्यवहारोऽप्यत्र समर्थनीय एव॥

(५) अभिनयपठिति

अभिनयेन यथा—

'एद्दहमेत्तत्थणिआ एद्दहमेत्तेहिँ अच्छिवत्तेहिम्।
एद्दहमेत्तावत्था एद्दहमेत्तेहि दिअहेहिम्॥ ८२॥'
[एतावन्मात्रस्तनी एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्त्राभ्याम्।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः॥]

अत्र इयन्मात्रस्तनादीनां तथाभूतहस्ताभिनयैः सह पठनात्तथाविधार्थविशेषो गम्यते॥

अपदेशोऽप्यभिनयविशेष एव। यथा—

'इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्।'

इत्यात्मानमपदिश्य ब्रूते॥

अभिनय से भी अर्थविच्छेद की प्रतीति होने पर पठिति का उदाहरण—

इतने इतने बड़े स्तनों वाली, इतने बड़े-बड़े दो नयनकमलों वाली बस इतने ही दिनों में इस प्रकार की दशावाली हो गई॥ ८२॥

यहां श्लोक में "इतने से स्तनोंवाली" आदि का उसी प्रकार के हाथ के अभिनय के साथ पाठ करने से उसी प्रकार का अर्थविशेष प्रकट होता है।

अपदेश—अपनी ओर संकेत करना—भी एक अभिनय विशेष ही है।

जैसे—यहीं से (मुझ से ही) उस दैत्य को वैभव मिला है, अतः यहीं से अर्थात् मुझसे ही उसका क्षय नहीं होना चाहिये।

यहाँ पर (ब्रह्माजी ने) अपनी ओर संकेत करके कहा है।

स्व० भा०—जब किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा अवस्था की मात्रा आदि का ज्ञान कराने के लिये अनिश्चयवाचक विशेषणों का प्रयोग किया जाता है, तब हाथ द्वारा किये गये संकेतों के अनुसार ही उनकी मात्रा निर्धारित होती है। उपर्युक्त उदाहरण में ही 'इतने बड़े स्तनोवाली' कहते समय यदि अँगुलियों को संकुचित रखा गया तो छोटे-छोटे और यदि फैलाकर निर्देश

किया गया तो बड़े-बड़े स्तनों का बोध होता है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी देखा जा सकता है।

किसी प्रसङ्ग में लोग अपनी ओर संकेत करके अपना नाम न लेकर अथवा उत्तमपुरुष के सर्वनामों का प्रयोग न करके संकेतवाचक सर्वनामों का प्रयोग करते हैं। इस संकेतवाचक शब्द से भी एक अर्थविशेष—व्यक्तिविशेष—का ज्ञान होता है। इस दशा में भी अभिनय द्वारा अपना अर्थ प्रकट कराने की आवश्यकता होती है, अतः विद्वानों ने इसे भी अभिनय का एक प्रकार ही माना है।

अपदेश वाले प्रसङ्ग में ब्रह्माजी का देवताओं से तारकासुर के प्रसङ्ग में चर्चा करने पर अपने लिये (यहां से)—'इतः' पद का प्रयोग इसी प्रकार का है। वहां उनके 'इतः' का अर्थ अभिनय के कारण—अपनी ओर संकेत करने के कारण—'मत्तः' (मुझसे) का वाचक है।

एद्दहमेत्तेति। अत्र सर्वपदानामर्थान्तरसाधारणतया न तावदभिमतपरिमाणविशेषप्रतीतिरुपजायते, यावदुच्चारणसहकारिभूतप्रसारितकरद्वयकोपप्रस्तुतिभिदङ्गुलिप्रसारिताङ्गुलीगणनारूपाभिनयप्रतिसंधानं न भवति। तेनाभिनयपठितिरियम्, साक्षादिव वस्तुस्वरूपबोधिका क्रियाभिमुख्यनयनादभिनय इत्युच्यते। तदिदमाह—तथाभूतेत्यादि। अपदेशोऽपीति। आत्मनिर्देशिका क्रियापदेशः। अस्याभिनयविशेषत्वेऽपि कान्तिकरतया पृथगुपादानम्। यावच्च स्वरूपसमुच्चारणविशेषणं नानुसंधीयते न तावच्छ्रीप्राप्तिसमयोः कारणविशेषः प्रतीयत इति॥

(६) कान्तिपठिति

कान्त्या यथा—

'यस्यारिजातं नृपतेरपश्यदवलम्बनम्।
ययौ निर्झरसंभोगैरपश्यदबलं बनम्॥ ८३॥'

अत्रावलम्बनमबलं वनमिति पदे पदद्वये वा द्वितीयचतुर्थस्थानयोर्यौ वकारबकारौ तयोरन्तःस्थपवर्गाभ्यां पवर्गान्तःस्थाभ्यां च कान्तिमति पाठेऽर्थभेदो जायते॥

कान्ति—सौन्दर्य—की अपेक्षा के कारण होनेवाली पठिति का उदाहरण—

जिस राजा के शत्रुगण ने वन को ही सहारा देखा, वह केवल झरने का जल पी पी कर, बिना सोये, बिना खाये ही शिथिल होकर (वन में) चला गया॥ ८३॥

इस श्लोक में "अवलम्बनमबलं वनम्' इस पद अथवा दोनों पदों में द्वितीय तथा चतुर्थ स्थान पर स्थित जो वकार तथा बकार हैं वे दोनों (क्रमशः) अन्तःस्थ तथा पवर्ग और पवर्ग तथा अन्तःस्थ हैं। (ऐसी दशा में) कान्तियुक्त पाठ होने पर अर्थभेद उत्पन्न हो जाता है।

स्व० भा०—कान्ति का अर्थ छाया, सौन्दर्य आदि होता है। जब किसी वाक्य को पढ़ते समय किसी वर्ण के स्थान पर किसी दूसरे वर्ण का प्रयोग सुनाई पड़ जाता है और उससे कोई सुन्दर अथवा चमत्कारपूर्ण अर्थ व्यक्त हो जाता है, तब वहां कान्ति द्वारा उत्पन्न पठिति होती है। "कान्ति द्वारा" कहने का अभिप्राय है किसी सुन्दरता को अर्थ में लाने के लिये पाठ किसी विशेष प्रकार का होता है। यदि सौन्दर्य का आधान अपेक्षित न होता तो ऐसे पाठ की आवश्यकता न होती।

उदाहरण में द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों मे वकार तथा बकार वर्णों के स्थान में परिवर्तन कर

देने से अर्थभेद उत्पन्न हो गया है। वकार अन्तःस्थ वर्ण है तथा बकार पवर्ग का एक वर्ण है। 'अवलम्बनम्' तथा 'अवलं वनम्' में बकार तथा वकार क्रमशः द्वितीय तथा चतुर्थ और चतुर्थ तथा द्वितीय स्थान पर प्रयुक्त हैं। यदि सुनने में थोड़ा सा अन्तर हो जाये तो प्रथम पद को दूसरा तथा दूसरे को प्रथम समझना आसान है। दोनों पदों के भिन्नार्थक होने से परस्पर विपर्यय होने से अर्थभेद हो ही जायेगा। प्रथम पद का अर्थ है, सहारा, त्राण आदि, और दूसरे में 'अवलम्' का अर्थ है—बलहीन, शिथिल आदि तथा 'वन' का अर्थ है "जङ्गल"। इसी कारण यहां कान्ति नामक पठिति है। 'अपश्यत' पद का उत्तरार्ध में व्युत्पत्ति गत अर्थ है—बिना शयन किये, और बिना भोजन किये— (अप = नहीं, बिना, शी = शयन, अत् = खाना, भोजन, अशन)।

यमक तथा कान्ति पठिति में अन्तर यह है कि प्रथम में आवृत्ति अपेक्षित होती है और यहाँ नहीं।

यस्यारिजातमिति। कान्तिश्छाया सा अप्रतिहतरूपा पदवद्वर्णेषु न संभवतीति श्रुतिरूपा गृह्यते। तथाहि। अवलम्बनमित्यत्र द्वितीयचतुर्थस्थानस्थयोर्वकारबकारयोः क्रमेणान्तःस्थपवर्गभावानुसंधानेऽवलम्बनमित्येकपदतायां त्राणहेतुमपश्यदित्यर्थः प्रतीयते। यदा तु द्वितीयेऽवलं वनमित्यत्र तयोरेव पवर्गान्तःस्वभावानुसंधानं भवति तदा वलं वनमिति च्छेदेन पदद्वयसंपत्तौ बलरहितं सद्वनमरण्यं ययावित्यर्थान्तरप्रतीतिरुपजायते। तदिदमुक्तम्—पदे पदद्वये वेति। अपश्यत् शयनभोजनशून्यम्। शयनं शीः, अदनं अत्, निर्झरसंभोगैः निर्झरजलमात्रोपभोगैरप्युगतं अत एव बलरहितम्। अत्र च यमकेन संघट्टिरस्य वोद्धव्या। आवृत्तिमादाय यमकमन्यथा भविष्यति॥

प्रकारान्तर से पठिति के अन्य भेद

अपरे पुनः पठितिमन्यथा कथयन्ति—

पदपादार्धभाषाणामन्यथाकरणेन यः।
पाठः पूर्वोक्तसूक्तस्य पठितिं तां प्रचक्षते॥ ५७॥

अन्य लोग पठिति को पुनः दूसरे प्रकार का कहते हैं—

पहले कहे गये प्रकारों का जो पाठ, पद, पादार्ध, भाषा आदि को अन्यथा करने से होता है उसे पठिति कहते हैं॥ ५७॥

स्व० भा०—यहां पर पठिति का प्रकारान्तर से और भी भेद कर रहे हैं। वे भेद पूर्वोक्त भेदों से भिन्न है। इस प्रकार पठिति के और भी भेद हो जाते हैं।

अपरे पुनरिति। अन्यथेत्यतः परमपि शब्दोऽध्याहार्यः। पादाद्यन्यथाकरणेनापि हि प्रकृतमुच्चारणमेव विधिप्यते। यदाह—पूर्वोक्तसूक्तस्येति। अत एव श्लोकान्यथाकरणेन पठितिर्न संभवति। तेन प्रागुक्तभेदैः सह द्वादशप्रकारा पठितिरिति तात्पर्यम्। यद्यपि च पादाद्यन्यथाकरणमपि पदभेदप्रकार एव तथापि न तत्र पूर्वोक्तत्यागः, इह तु तत्परित्यागेन पदान्तरकल्पनमित्येतावान्विशेषः॥

तत्र पदान्यथाकरणं द्विधा—प्रकृतितः, विभक्तितश्च।

तत्र प्रकृतितो यथा—

'असकलहसितत्वात्क्षालितानीव कान्त्या
मुकुलितनयनत्वाद्व्यक्तकर्णोत्पलानि।

पिबतु मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः ॥ ८४ ॥'

अत्र त्वयीत्यस्य स्थाने मयीति यदा पठ्यते, तदैतत्प्रार्थनावाक्यमप्यनुमतिवाक्यं भवति ॥

इनमें से पदान्यथाकरण दो प्रकार का है—प्रकृति से होनेवाला, विभक्ति से होनेवाला, यहाँ प्रकृति से होने वाला पठिति का उदाहरण—

तुम पर राज्य का भार डालकर महाराज कुन्तलेश्वर खुलकर न हँसने के कारण छटा से धुले हुए से, नेत्रों के अर्धनिमीलित रहने से स्पष्ट कर्णोत्पल वाले, मधु से सुवासित प्रेयसियों के मुखों का पान करें ॥ ८४ ॥

श्लोक में 'त्वयि' के स्थान पर यदि 'मयि' पढ़ा जाये तो यह प्रार्थना का वाक्य भी अनुमति का वाक्य हो जाता है।

विभक्तितो यथा—

'सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम्।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे नचिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥ ८५ ॥'

अत्र यदा पाण्डुसुतः सुयोधनमित्यस्य स्थाने 'पाण्डुसुतं सुयोधनः इति पठ्यते, तदैतदमङ्गलार्थमपि सुयोधने मङ्गलार्थं भवति ॥

विभक्ति के कारण पद के अन्यथाकरण का उदाहरण—

अपनी सेना के साथ अथवा अपनी ही सामर्थ्य से पाण्डुपुत्र शीघ्र ही युद्ध में दुर्योधन को उनके सेवकों, बन्धुओं, स्त्रियों, पुत्रों तथा भाइयों सहित मार देंगे ॥ ८५ ॥

यहां पर जब 'पाण्डुसुताः सुयोधनम्' इसके स्थान पर 'पाण्डुसुतं सुयोधनः' यह पढ़ा जाता है तब अमंगलार्थक होते हुये भी सुयोधन के लिये यह मङ्गलार्थक हो जाता है।

स्व० भा०—यहाँ पर दुवारा जो विभाग किया गया है उसमें भी पद का स्थान है किन्तु वहां के पदभेद तथा पदच्छेद से सम्बद्ध अन्यथाकरण तथा इसमें अन्तर यह है कि जहाँ इसमें पूर्वोक्त पद का परित्याग करके दूसरे पद की कल्पना अपेक्षित होती है, वहां प्रथम में केवल उसी पूर्वतः विद्यमान पद को भिन्न अथवा छिन्न करके अर्थान्तर प्रकट किया जाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में प्रकृतितः पदभेद करने का अभिप्राय यह है कि मूलपद ही परिवर्तित कर दिया जाता है, भले ही विभक्ति वही रहे, किन्तु विभक्तितः किए गये भेद में पद वही रहते हैं, केवल उनकी विभक्तियों में अन्तर करने से अर्थ में भी अन्तर हो जाता है। प्रथम सन्दर्भ में 'त्वयि' के स्थान पर 'मयि' कर देने से विभक्ति यद्यपि एक ही रही तथापि 'त्वदर्थे' के लिये—युष्मद् के लिये—मदर्थ-अस्मद् का प्रयोग करने से पूरा अर्थ ही बदल जाता है। इसी के कारण जहां मूलरूप में श्लोक का अर्थ प्रार्थनात्मक रहा वहीं यह परिवर्तन कर देने से भाव अनुमति का हो जाता है। दूसरे प्रसङ्ग में विभक्ति में परिवर्तन कर देने में जहां सुयोधन के पाण्डव द्वारा सेवक आदि के साथ मारे जाने का भाव था, वहीं उसका अर्थ उलट गया और वही पाण्डवों को भृत्यगण सहित परास्त करने में समर्थ हो गया। स्वयं के विनाश का प्रतिपादक होने से जहां पूर्व अर्थ उसके लिये अमङ्गलवाची था, वहीं वह उसके लिये विभक्ति का परिवर्तन कर देने से कल्याणकारी हो गया।

तत्र पदं विभक्त्यन्तं विशेषणविशेष्यभेदेन द्विधा क्रियते इत्याह—पदान्यथाकरणं द्विधेति ॥

पादान्यथाकरण का उदाहरण

पादान्यथाकरणेन यथा—

'एकान्ते विजने रात्रावन्तर्वेश्मनि साहसे।
न्यासापह्नवने चैव दिव्या संभवति क्रिया ॥ ८६ ॥'

अत्र तृतीयपादस्थाने 'तन्वङ्गी यदि लभ्येत' इति पाठो भवति, तदैतत्परीक्षौपयिकमपि कामौपयिकं भवति ॥

(एक छन्द के एक) पाद को परिवर्तित कर देने में होने वाली पठिति का उदाहरण—

एकान्त में, निर्जन में, रात्रि में, घर के भीतर, साहसपूर्ण कार्य में, धरोहर को छिपाने में (परीक्षण) की दिव्य क्रिया संभव होती है ॥ ८६ ॥

इस श्लोक में तृतीय चरण के स्थान पर 'तन्वङ्गी यदि लभ्येत' (कृशाङ्गी सुन्दरी यदि प्राप्त हो जाती) यह पाठ हो जाता है तो (यह छन्द जो कि) परीक्षण का उपाय व्यक्त कर रहा है, वह भी काम का उपाय बतानेवाला हो जाता है।

स्व० भा०—तृतीय चरण बदल देने से और उपर्युक्त पाद रख देने से उसका अर्थ होगा—"एकान्त में, निर्जन में, रात्रि में, घर में अथवा अभिसार रूप साहसपूर्ण कर्म में, यदि वह सुंदरी मिल जाती तो बड़ी दिव्य रतिक्रिया होती।" अतः तृतीय चरण के रूप में पहले से जो शब्दावली प्राप्त थी उसे हटा कर दूसरा चरण रख देने से अर्थ पूर्णतः परिवर्तित हो गया, क्योंकि अर्थ पूर्वरूप में परीक्षण से सम्बद्ध था। वही दूसरी दशा में कामोपभोग के उपाय से सम्बद्ध हो गया।

एकान्त इति। साहसे प्रच्छन्नाभिसारलक्षणे प्रकाशाप्रच्छन्नो गरीयानिति न्यायाद्। दिव्या स्वभोगसोदरा क्रियावल्लक्षणा ॥

अर्धान्यथाकरण

अर्धान्यथाकरणेन यथा—

'तत्तावदेव शशिनः स्फुरितं महीयो
यावन्न तिग्मरुचिमण्डलमभ्युदेति।
अभ्युद्यते सकलधामनिधौ तु तस्मि-
न्निन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः ॥ ८७ ॥'

अत्र यदा मध्यमपादयोः स्थाने 'यावन्न ताः किमपि गौरितरा हसन्ति। ताभिः पुनर्विहसिताननपङ्कजाभिः' इति पठ्यते, तदैतद्वीरार्थोक्तिरूपमपि शृङ्गारोक्तिरूपं संपद्यते ॥

आधा छन्द ही बदल देने से अर्थान्तर हो जाने का उदाहरण—

चन्द्रमा की कान्ति की चमकदमक तभी तक है जब तक कि सूर्यबिम्ब प्रकट नहीं होता। पूर्णतेजोराशि सूर्य के उदित होने पर तो चन्द्रमा और श्वेतमेघखण्ड में अन्तर ही क्या रह जाता है ? ॥ ८७ ॥

यहाँ जब बीच के दो पादों के स्थान पर "यावन्न ताः किमपि गौरितरा हसन्ति। ताभिः पुनर्विहसिताननपङ्कजाभिः' यह पढ़ा जाता है तब वह वीरार्थोक्ति रूप होने पर भी शृङ्गार की उक्ति हो जाती है।

स्व० भा०—बिना पद-परिवर्तन किये उदाहृत छन्द का अर्थ वीरभाव से परिपूर्ण है क्योंकि इसमें चन्द्रमा की अपेक्षा सूर्य की अत्यधिक क्षमता निरूपित है। किन्तु उसी में बीच में दो पादों के स्थान पर दूसरे दो पाद कि—"जब तक कि वे गौराङ्गियां तनिक भी हँसती नहीं। अन्यथा खिले हुये मुखकमलों वाली उन सुन्दरियों के सामने तो (चन्द्रमा ऐसा फीका पड़ जाता है कि) उसमें और श्वेतमेघखण्ड में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता—जोड़ देने से सूर्य के पराक्रम की तुलना समाप्त हो जाने से वीर-भाव समाप्त हो जाता है और अतीवगौराङ्गी के विहसने का प्रसङ्ग आ जाने से पूरा वातावरण ही श्रृङ्गार से ओतप्रोत हो जाता है।

यह छन्द कुल चार चरणों का है। इसका आधा दो चरण हुये। उन दोनों चरणों को बदल देने से—भले ही वे बीच के हों—अर्धान्यथाकरण का उदाहरण हुआ।

गौरितरेति। 'घरूप–'इत्यादिना पूर्वपदह्रस्वः॥

पादत्रय का अन्यथाकरण

पादत्रयस्य चान्यथाकरणेन यथा—

'त्यागेन युक्ता दिवमुत्पतन्ति त्यागेन हीना नरकं व्रजन्ति।
न त्यागिना दुष्करमस्ति किंचित्त्यागो हि सर्वव्यसनानि हन्ति॥ ८८॥'

अत्र तुरीयपादमेवोपादाय पादत्रयस्य चान्यथाकरणेन वक्ष्यमाणः पाठो भवति। तदैतत्त्यागप्रशंसार्थमपि त्यागनिन्दार्थं जायते। यथा—

'त्यागो हि सर्वव्यसनानि हन्तीत्यलीकमेतद् भुवि संप्रतीदम्।
जातानि सर्वव्यसनानि तस्यास्त्यागेन मे मुग्धविलोचनायाः॥ ८९॥'

तीनों चरणों को बदल देने से पादत्रयान्यथाकरण का उदाहरण—

त्याग से युक्त लोग स्वर्ग में उड़कर जाते हैं। त्यागहीन लोग नरक जाते हैं। त्यागियों के लिये कुछ भी कठिन नहीं है। वस्तुतः त्याग सभी कष्टों को समाप्त कर देता हैं॥ ८८॥

इसमें केवल चौथे चरण को ही लेकर तीन पादों को बदल देने से आगे कहा जाने वाला रूप होगा। ऐसी दशा में यह छन्द त्याग की प्रशंसा से युक्त होने पर भी त्याग की निन्दा का वाचक हो जाता है।

जैसे—त्याग सभी कष्टों को दूर कर देता है यह बात इस समय पृथ्वी पर असत्य है। क्योंकि उस सुनयना को छोड़ देने से ही मुझे सारे दुःख हो रहे हैं॥ ८९॥

एतेषां च पदाद्यन्यथाकरणानां परस्परसंकरोऽपि भवतीत्यावेदयति॥

भाषान्यथाकरण

भाषान्यथाकरणेन यथा—

'किं तादेण नरेन्दसेहरसिहालीढग्गपादेण मे
किं वा मे ससुरेण वासवसहासीहासणद्धासिणा।
ते देसा गिरिणो अ ते वणमही स ज्जेअ शे वल्लहा
कोसल्लातणअस्स जत्थ चलने वन्दामि णन्दामि अ॥ ९०॥'

अत्र यदि भाषान्तरेण पठ्यते तदैतच्छौरसेनीभाषया सीतावाक्यं संस्कृतभाषायां सुमन्त्रेण दशरथाय निवेदितम्। तद्यथा—

किं तातेन नरेन्द्रशेखरशिखालीढाग्रपादेन मे
किं वा मे श्वशुरेण वासवसभासिंहासनाध्यासिना ।
ते देशा गिरयश्च ते वनमही सा चैव मे वल्लभा
कौसल्यातनयस्य यत्र चरणौ वन्दामि नन्दामि च ॥ ९१ ॥'
सेयमेवंप्रकारा पठितिः ॥

भाषा को बदल देने से अर्थान्तर होने का उदाहरण—

जिनके चरणों का चुम्बन अन्य राजाओं के मस्तक का सर्वोच्च भाग किया करता है उन पूज्य पिता जी से मुझे क्या करना ? अथवा इन्द्र की सभा में सिंहासन पर बैठने वाले श्वशुर जी से भी मुझे क्या लेना-देना ? मुझे तो वे प्रदेश, वे पर्वत, वे जङ्गल और वह पृथ्वी ही प्रिय है जहां पर कि मैं राम के दोनों चरणों की पूजा कर सकूँ और प्रसन्न हो सकूँ ॥ ९० ॥

यही छन्द यदि दूसरी भाषा द्वारा पढ़ा जाता है तो शौरसेनी भाषा में होने से यह सीता की उक्ति है, जो संस्कृत में सुमन्त्र ने दशरथ जी से कही थी। जैसे कि—(पूर्वोक्त अर्थ ही) ॥९१॥

यह पठिति अलंकार इसी प्रकार का है।

स्व० भा०—द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ में ही भाषौचित्य आदि का विवेचन किया जा चुका है। प्रायः संस्कृत साहित्य में स्त्रीपात्रों द्वारा प्राकृतभाषा का—विशेषकर शौरसेनी का प्रयोग कराया जाता है और उत्तम पुरुष पात्रों द्वारा संस्कृत का। अतः इन दोनों भाषाओं में एक ही बात करने पर भी स्त्री और पुरुष के वक्तृत्व की भिन्नता का ज्ञान हो ही जाता है। पूर्व-मान्यता के आधार पर प्राकृत वाक्य स्त्री के मुख से तथा संस्कृतवाक्य उत्तम पुरुषों के मुख से ही निकल सकते हैं। अतः भाषा-परिवर्तन से एक ही बात दूसरे की हो सकती है। उपर्युक्त प्रसङ्ग से ही शौरसेनी में होने पर वह छन्द सीता द्वारा तथा संस्कृत में दशरथ से निवेदन करने पर सुमन्त्र द्वारा कहा गया प्रतीत हो जाता है।

भाषाभेदेन कथं स्त्रीपुंसवचनता गम्यत इत्यत आह—तदैतच्छौरसेनीति। विभागन्यूनतामाशङ्क्य यथोक्तप्रकारेण समाधानमभिसंधायाह—सेयमेवंप्रकारा पठितिरिति ॥

(१३) यमक अलंकार

विभिन्नार्थैकरूपाया या वृत्तिर्वर्णसंहतेः ।
अव्यपेतव्यपेतात्मा यमकं तन्निगद्यते ॥ ५८ ॥

उस वर्ण-समुदाय की आवृत्ति को जिसका अर्थ भिन्न-भिन्न हो किन्तु रूप में एकता हो—वर्णों का क्रम एक ही हो—यमक कहा जाता है। यह व्यपेतात्मक तथा अव्यपेतात्मक होता है ॥ ५८ ॥

स्व० भा०—शब्दालंकारों में यमक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह अलंकार आवृत्ति-मूलक है। अनुप्रास में वर्णों की आवृत्ति होती है, यमक में वर्णसंहति की। लाटानुप्रास में पदों की आवृत्ति होती अवश्य है किन्तु उन पदों का अर्थ एक ही होता है, भले उनके अभिप्राय में अन्तर हो। यमक में प्रत्येक आवृत्त पद का अर्थ भिन्न होता है। ऐसा भी सम्भव है कि वर्णों की आवृत्ति होने पर दूसरी आवृत्ति में उनका कोई अर्थ ही न हो, किन्तु अर्थ में समानता हो ही नहीं सकती। श्लेष में पद एक ही बार आता है किन्तु उसके अर्थ भिन्न-भिन्न हो जाया करते हैं

इसी भाव को लेकर अनेक आलंकारिकों ने यमक की परिभाषायें दी हैं। सामान्यतः भोज द्वारा दी गई परिभाषा भी उचित ही है।

यहां पर यमक का सर्वप्रथम अव्यपेत तथा व्यपेत रूप से दो भेद किया गया है। व्यपेत का सीधा सा अर्थ है व्यवहित, दूर-दूर आदि और अव्यपेत का "विना व्यवधान के "निकट-निकट" आदि। अतः इनका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। आवृत्त वर्णसमुदायों में जब वे सभी एक दूसरे के तत्काल बाद आते हैं, उनके वीच में परस्पर कोई विजातीय शब्द नहीं आता है, तब अव्यपेत यमक होता है, किन्तु जब इनके वीच में किसी अन्य पद का व्यवधान आ जाता है तब वहां व्यपेत यमक होता हैं।

अथावृत्त्युपजीविनोऽलंकारा लक्षयितव्याः। तेषां समग्रकाव्यपर्यन्तावृत्तिसमाश्रयणाद्यमकं प्रधानमित्याशयेनाह—विभिन्नेति। विभिन्नार्थेत्यर्थाभेदव्यतिरेकपरम्। तेन द्वयोरेकस्य वा निरर्थकत्वेऽपि यमकमुपगृहीतं भवति। एवमपि 'सरोरसः' इत्यादावतिप्रसङ्ग इत्यत उक्तम्—एकरूपेति। रूपमानुपूर्वी, विभिन्नार्था चासावेकरूपा चेति विग्रहः। विधिधवेत्यादावेकवर्णावृत्तावप्यावृत्तिसमुदाय एव यमकक्रममुल्लिखतीत्यभिसंधाय संहतेरित्युक्तम्। विभिन्नार्थैकरूपाया वर्णसंहतेर्या आवृत्तिः सा यमकमिति व्यवहितेनान्वयः॥

आवृत्तिर्द्विधा—अनावृत्ता व्यवहिताव्यवहिता चेति।

यमक के भेदोपभेद

> तदव्यपेतयमकं व्यपेतयमकं तथा।
> स्थानास्थानविभागाभ्यां पादभेदाच्च भिद्यते॥ ५९॥
> यत्र पादादिमध्यान्ताः स्थानं तेषूपकल्प्यते।
> यदव्यपेतमन्यद्वा तत्स्थानयमकं विदुः॥ ६०॥

इन अव्यपेत तथा व्यपेतयमक (दोनों के) स्थान, अस्थान तथा पाद के आधार पर भेद किये जाते हैं। इनमें से जहां पर पाद के आदि, मध्य तथा अन्त के स्थान कल्पित किये जाते हैं उसे स्थानयमक के नाम से जाना जाता है, वह चाहे अव्यपेत हो अथवा दूसरा (व्येपत)॥ ५९–६०॥

स्व० भा०—भरत मुनि ने नाटकाश्रित दस प्रकार का यमक माना था—
'एतद्दशविधं ज्ञेयं यमकं नाटकाश्रयम्॥ ना० शा० १७।६३॥ किन्तु उसके आधार का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। भामह ने भी पाँच प्रकार के यमकों का उल्लेख किया है, किन्तु वर्गीकरण का ठोस आधार नहीं दिया। दण्डी ने व्यपेतता तथा अव्यपेतता को आधार माना है, किन्तु उसके आगे परम्परा का अनुगमन करते गये हैं। रुद्रट ने प्रायः पादगत भेद का ही सहारा किया, भोज ने स्थान, अस्थान और पाद इन तीन आधारों पर वर्गीकरण किया है, वह अत्यन्त सूक्ष्म तथा युक्तिपूर्ण है।

इनके पूर्व वामन ने स्थान यमक तथा उसके लक्षण को स्पष्ट करने की चेष्टा की थी। भोज ने दण्डी तथा वामन दोनों का समन्वय करके भेद के आधार को और प्रकार को औचित्य प्रदान किया है। वामन ने स्थान-नियम तथा स्थान की परिभाषा स्पष्ट दी हैं—"स्वावृत्या सजातीयेन वा कात्स्न्यैकदेशाभ्यामनेकपादव्याप्तिः स्थाननियम इति।" (काव्या० सू० ॥४।१।१॥ की वृत्ति)

तथा '"पादाः पादस्यैकस्यानेकस्य चादिमध्यान्तभागाः स्थानानि ॥४।१।२॥ पदाः एकस्य च पादस्यादिमध्यान्तभागाः, अनेकस्य च पादस्य त एव स्थानानि ।" (वही)

इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जहां वर्णसमुदाय की आवृत्ति एक निश्चित स्थान—पाद के आदि, मध्य अथवा अन्त में अपेक्षित होती हैं वहाँ स्थान यमक होता है) जहाँ इसकी कोई अपेक्षा नहीं होती वहां अस्थान यमक होता है। इसी प्रकार जहां आवृत्ति, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आदि पादों में अपेक्षित होती है, वहां पाद यमक होता है। वस्तुतः ये तीनों भेद सर्वथा असम्बद्ध नहीं हैं। व्यपेत और अव्यपेत तथा स्थान और अस्थान तो एक दूसरे के विपरीत हैं, किन्तु इनके अन्य भेद जैसे स्थान और पाद अस्थान तथा पाद आदि सम्मिलित रूप से भी रह सकते हैं।

सामान्यतो विभजते—अव्यपेतेति। व्यवायो व्यवधानम्। तदेतदुभयमपि स्थानादिभेदेन त्रिधा भवतीति पूर्वोक्तानुवादपूर्वकमवान्तरविभागमाह—तदिति। पाद आदिमध्यान्ता अर्थादेतेषु विशेषतोऽनुल्लिखनादस्थानयमकमुक्तं भवति। एतदपि द्विधा ॥

पादगत भेद

चतुस्त्रिद्व्येकपादेषु यमकानां विकल्पनाः।
आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्यन्ताश्च सर्वतः ॥ ६१ ॥
अत्यन्तबहवस्तेषां भेदाः संभेदयोनयः।
सुकरा दुष्कराश्चैव दर्श्यन्ते तत्र केचन ॥ ६२ ॥

चार, तीन, दो तथा एक चरणों में विकल्प से यमक होते हैं। (ये यमक इन पादों के) आदि मध्य, अन्त, मध्यान्त, मध्यादि, आद्यन्त तथा आदिमध्यान्त सभी स्थानों पर होते हैं। भेदोपभेद के मिश्रण के कारण पूर्वोक्त भेदों के अनेक सरल तथा कठिन भेद हो सकते हैं। इनमें से कुछ प्रदर्शित किये जा रहे हैं ॥ ६१–६२ ॥

स्व० भा०—भोज की ६२ वी कारिका दण्डी की ही है। ६१ वीं में विषय एक होने पर भी पूर्वार्ध में शब्दों का क्रम बदल गया है। जैसे—

एकद्वित्रिचतुष्पाद-यमकानां विकल्पनाः।
आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्याद्यन्तसर्वतः ॥ काव्यादर्श ३।२॥

दण्डी तथा भोज दोनों आचार्यों ने 'विकल्पनाः' पद का प्रयोग किया है। इसका अर्थ है "विकल्प से होना।' अतः इस पूरे वाक्य का अभिप्राय यह हुआ कि प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पादों में अथवा एक-एक दो-दो, तीन-तीन तथा चारों पादों में भी यमक हो सकता है। इसी प्रकार प्रथम-द्वितीय, प्रथम-तृतीय, द्वितीय-तृतीय आदि पादक्रम से भी यमक संभव हैं।

यही दशा आदि, मध्य तथा अन्त के विषय में भी चरितार्थ है। ये तीनों भेद परस्पर मिल कर अनेक उपभेदों की सृष्टि करते हैं। इन भेदों के अतिरिक्त सजातीय तथा विजातीय पदों के यमक के आधार पर पुनः अनेक भेद किये जा सकते हैं। इस प्रकार यमकों के भेद निःसन्देह अत्यन्त अधिक हैं। 'अत्यन्तबहवः' इन दोनों आधिक्यवाचक पदों का प्रयोग करके आचार्यों ने बहुलता की ओर संकेत किया है।

स्थान-यमक के सभी भेद इस प्रकार गिने जा सकते हैं। प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ

पादों में पृथक्-पृथक् होने से एक पाद यमक के चार भेद हुये। द्विपाद यमक के छः भेद होते हैं—प्रथम-द्वितीय, प्रथम-तृतीय, प्रथम-चतुर्थ, द्वितीय-तृतीय, द्वितीय-चतुर्थ, तृतीय-चतुर्थ पादों में। त्रिपाद यमक के चार भेद सम्भव हैं—प्रथम-द्वितीय-तृतीय, प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ, प्रथमतृतीय-चतुर्थ, द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ पादों में। चारों पादों का एक ही भेद होता है। अतः उपर्युक्त रीति से सब मिलकर (४+६+४+१=१५) पन्द्रह प्रकार हुये। इन १५ भेदों में भी प्रत्येक के आदि, मध्य, अन्त, आदि-मध्य, मध्यान्त तथा आदि-मध्यान्त यमक होने से कुल (१५×७=१०५) एक सौ पाँच उपभेद हुये। इनके भी अन्त में अव्यपेत, व्यपेत तथा व्यपेताव्यपेत यमक भेद से तीन-तीन भेद हुये और कुल संख्या (१०५×३=३१५) तीन सौ पन्द्रह हुई।

ये तीन सौ पन्द्रह भेद केवल स्थान यमक के हुये। वस्तुतः स्थान की दृष्टि से प्रत्येक पाद प्रथम, द्वितीय, तृतीय अथवा चतुर्थ स्थान पर ही होता है और उनमें भी आदि, मध्य, अन्त आदि उपभेद ही होते हैं। अस्थान तथा पाद यमक के भेदोपभेद आगे यथास्थान निरूपित किये जायेंगे। दण्डी ने अन्य दो भेद नहीं किये हैं। उनके अनुसार ये ३१५ ही यमक के प्रकार हैं।

चतुरादिपादविकल्पेन विपयस्तो भिद्यत इत्याह—चतुरीति। आदिश्च मध्यश्चान्तश्चेति आदिमध्यान्तास्त्रयः शुद्धाः। मध्यान्तौ मध्यादी आद्यन्तौ आदिमध्यान्ताश्चेति मिलित्वा चत्वारः संकीर्णाः। सर्वत इति सार्वविभक्तिकस्तसिः॥

एवं पादविकल्पानामाद्यादिविकल्पानां च परस्परयोजनेऽन्येऽपि बहवः प्रकारा ग्रन्थगौरवकारिणो भवन्तीत्याह—अत्यन्तेति। न च कठोरनीरसत्वादवश्यवक्तव्या इत्याह—दुष्करा इति। शिष्यव्युत्पत्तये तु कतिपये दर्शनीया इत्याह—तत्र केचनेति॥

स्थानयमक के उदाहरण

तत्र चतुष्पादयमकेषु अव्यपेतमादियमकं यथा—

'राजीवराजीवशलोलभृङ्गं मुष्णन्तमुष्णं ततिभिस्तरूणाम्।
कान्तालकान्ता ललनाः सुराणां रक्षोभिरक्षोभितमुद्वहन्तम्॥ ९२॥

इनमें से चतुष्पाद यमक में अव्यपेत तथा आदि यमक का उदाहरण—

कमल-पक्तियों से बँधकर उड़ रहे चञ्चल भ्रमरों से संयुक्त, वृक्ष पंक्तियों से धूप की गर्मी को शान्त करनेवाले, राक्षसों के उपद्रवों से रहित, सुन्दर अलकावली से अलंकृत देवांगनाओं को धारण करते हुये (रैवतक पर्वत को भगवान् कृष्ण ने देखा) ॥ ९२॥

स्व० भा०—यहाँ उदाहरण में प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पादों में क्रमशः 'राजीव' 'मुष्णन्तं' 'कान्ताल' तथा 'रक्षोभिः' पदों की एक-एक बार आवृत्ति हुई है। चारों पादों में होने से चतुष्पाद यमक है। आवृत्त पदों के मध्य में किसी अन्य पद द्वारा व्यवधान न उपस्थित करने से अव्यपेत भेद है। ये सारी आवृत्तियाँ प्रत्येक पाद के आदि में हुई हैं अतः यह आदि यमक का उदाहरण है। सब एक साथ संभव होने से चतुष्पाद–अव्यपेत–पदादि यमक यहां हुआ।

राजीवराजी पद्मपङ्क्तिस्तद्वशा लोलाः सस्पृहा भृङ्गा यत्र तम्। यतस्ततिभिस्तरूणां पङ्क्तिभिरुष्णं धर्मं मुष्णन्तमपहरन्तम्। कान्तो मनोज्ञोऽलकान्तश्चूर्णकुन्तलच्छटा यासां ता। यस्माद्रक्षोभी राक्षसैरक्षोभितमधर्षितम्। अत्र प्रथमे पादे पूर्वं सार्थकमपरमनर्थकम्। द्वितीयादिषु द्वयमप्यनर्थकम्। एवमन्यत्रापि यथायथमवगन्तव्यम्॥

तदेव मध्ययमकं यथा—

'दधतमाकरिभिः करिभिः क्षतैः समवतारसमैरसमैस्तटैः।
विविधकामहिता महिताम्भसः स्फुटसरोजवना जवना नदीः॥ ९३॥'

उसी का (चतुष्पाद-अव्यपेत का) मध्य यमक का उदाहरण—

('किरातार्जुनीयम्' में हिमालय के वर्णन के प्रसङ्ग में कहा जा रहा है कि) हिमालय में बहुत सी नदियां हैं। इन नदियों के तट (रत्नों की) खान हैं। हाथियों ने खोद-खोद कर उन तटों को समतल बना दिया है, अतः घाट अत्यन्त अनुपम हो गये हैं। इन नदियों का जल अत्यन्त पवित्र है और अनेक कामों में उपयोगी है। इनमें खूब कमल खिले हैं और इनकी गति अत्यन्त तीव्र है॥ ९३॥

स्व० भा०—चारों पादों के बीच में क्रमशः 'करिभिः', 'रसमै', 'महिता', 'जवना' पदों की आवृत्ति है। अतः यह चतुष्पाद-अव्यपेत मध्य यमक का उदाहरण है।

आकरिभिः प्रशस्ताकरयुक्तैः करिभिः परिणतिक्रीडासक्तैः। विविधेभ्यः कामेभ्यो हिताः। महितं पूजितम्। जवना वेगवतीः॥

तदेवमन्त्ययमकं यथा—

'व्यथितसिन्धुमनीरशनैः शनैरमरलोकवधूजघनैर्घनैः।
फणवतामभितो विततं ततं दयितरम्यलताबकुलैः कुलैः॥ ९४॥'

इसी प्रकार उसी के अन्त्य यमक का उदाहरण—

हिमालय की नदियों का प्रवाह देवबालाओं के काञ्ची विभूषित, मोटे-मोटे जघनों से धीरे-धीरे क्षुब्ध होता रहता है। यह पर्वत उन सर्पों से चारों ओर व्याप्त है जिनकी प्रियतमायें मनोहर लतायें और पराग हैं॥ ९४॥

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण में प्रत्येक पद के अन्त में बिना किसी व्यवधान के पदों की आवृत्ति होने से चतुष्पाद-अव्यपेत अन्त्य यमक है।

अनीरशनैर्न निर्गता दूरीभूता रशनाः क्षुद्रघण्टिका येभ्यस्तैः काञ्चीगुणयुक्तैः। तेन रथपुटकर्कशरत्नादिरचनया सिन्धुव्यथापोपः। शनैर्मन्दम्। घनैर्मांसलैः। अभितो विततं सर्वतो विस्तीर्णम्। फणवतां कुलैस्ततं व्याप्तम्। लवङ्गबकुलमालतीसुरभिशीतलतया फणभृत्प्रियत्वम्॥

आदिमध्ययमकं यथा—

'घनाघनाभस्य महीमहीयसः सुरासुराणां दयितस्य तस्य सा।
धराधराकारगृहा गृहार्थिनो बभूव भूमेर्नगरी गरीयसी॥ ९५॥'

आदिमध्य यमक का उदाहरण—

मेघ के सदृश श्यामल कान्ति वाले, पृथ्वी के पूज्य, देवों तथा दैत्यों के प्रिय, गृह के इच्छुक उसकी नगरी पृथ्वी पर बहुत विशाल थी जिसके घर पर्वत के आकार के थे॥ ९५॥

स्व० भा०—चारों पदों के आदि तथा मध्य में वर्ण-समुदाय की आवृत्ति होने से आदिमध्य यमक है।

घनाघनो मेघस्तदाभः श्यामः। मही पृथिवी तस्यां महीयान् पूज्यः। धराधरः पर्वतस्तदाकारगृहाः॥

आद्यन्तयमकं यथा—

'द्रुतं द्रुतं वह्निसमागतं गतं महीमहीनद्युतिरोचितं चितम् ।
समं समन्तादपगोपुरं पुरं पुरैः परैरप्यनिराकृतं कृतम् ॥ ९६ ॥'

आद्यन्त यमक का उदाहरण—

पृथ्वी पर स्थित, स्वर्णिम गृहों से व्याप्त, तथा उत्कृष्ट द्युति से भास्वर, नगर अग्नि से युक्त होकर शीघ्र ही विलीन हो गया। जिसे शत्रुगण तथा दिव्यजन-देवता आदि भी अभिभूत नहीं कर सके थे, वही शहर गोपुर से भी हीन हो गया और चारों ओर समतल कर दिया गया ॥ ९६ ॥

वह्निसमागतं सद् द्रुतं विलीनमत एव द्रुतं शीघ्रं महीं गतं पृथिव्यां विस्तीर्य पतितम- हीनया द्युत्या रोचितं शोभितम् । चितं निबिडेन संनिवेशेन स्थापितम् । समन्तात्सर्वतः समं सलक्ष्मीकमस्थपुटं वा । परैः शत्रुभिः परैः श्रेष्ठैरनिराकृतं यदासीत्तदेव वह्निना हेम- मयं पुरमपगोपुरमपगतद्वारं महीं गतं च कृतमिति संबन्धः ॥

मध्यान्तयमकं यथा—

'उद् . य ते दयिते जघनं घनं स्तनवती नवतीर्थतनुस्तनुः ।
सुमनसामनसा सदृशौ दृशौ द्युकुरुमे कुरु मेऽभिमुखं मुखम् ॥ ९७ ॥'

मध्यान्त यमक का उदाहरण—

हे प्रिये तुम्हारे जघन स्थूल तथा विशाल हैं । तुम्हारे नव रजस्वल शरीर में उरोज उभर आये हैं । फूलों की गाड़ी के सदृश तुम्हारे ये दोनों नेत्र तो पृथ्वी तथा भूलोक के सौन्दर्य सिन्धु हैं। जरा, मेरी ओर अपना मुख तो करो ॥ ९७ ॥

स्व० भा०—यहां उदाहरण में प्रत्येक पाद के मध्य तथा अन्त में विजातीय पदों को अर्थात् एक स्थान पर एक प्रकार के, दूसरे स्थान पर दूसरे और इसी प्रकार विभिन्न स्थानों पर विभिन्न पदों की आवृत्ति है । अतः यहां मध्यान्त यमक है ।

उदय उद्भवो विस्तारवत्स्वरूपस्तद्युक्तमुदयि । घनं मांसलम् । नवेन तीर्थेन रजसा तनूकृता । 'स्त्रीरजःशास्त्रयोस्तीर्थम्' । सुमनसां कुसुमानामनः शकटं तेन सदृशौ । 'सुम- नसां मनसाम्' इति पाठे सुमनसः सहृदयास्तन्मनसा सदृशो संवादिन्यौ । द्यौश्च कुश्च द्युकू द्यावापृथिव्यौ तयोरुमा लवणाकरो लावण्यविश्रान्तिस्थानत्वात् ॥

आदिमध्यान्तयमकं यथा—

'सीमासी मानभूमिः फणिवलवलनोद्भाविराजीविराजी
हारी हारीतवद्भिः परिसरसरणावस्तमालैस्तमालैः ।
देवादेवाप्तरक्षःकृतभव भवतोऽग्रे न दीनो नदीनो
मुक्तामुक्ताच्छरत्नः सितरुचिरुचिरोल्लासमुद्रः समुद्रः ॥ ९८ ॥'

आदिमध्यान्त यमक का उदाहरण—

कोई कवि किसी की प्रशंसा में कह रहा है कि हे महाराज—सीमा में स्थित, अतिशय परि- माण अथवा पूजा का पात्र, सर्पसमूहों के उलटने-पलटने से उत्पन्न लहरों से सुशोभित, हारीत पक्षियों से भरे हुये, तटवर्ती भागों में असंख्य उगे हुये तमाल वृक्षों से वेष्टित, सुर तथा असुरों की रक्षा प्रदान करने से उत्कृष्टता को प्राप्त, मुक्ता तथा अन्य शुद्ध रत्नों से भरा हुआ, श्वेत

एवं मनोरम उच्छलित तरङ्गों वाला, नदियों का पति समुद्र क्या आपके समक्ष दीन नहीं है—अर्थात् है ॥ ९८ ॥

स्व० भा०—यहां प्रथम पाद में आदि में 'सीमा' मध्य में 'बल', तथा अन्त में 'विराजी' पदों की, ऐसे ही द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पादों में भी आदि, मध्य तथा अन्त में वर्ण-समुदायों की आवृत्ति हुई है। अतः यहां चारों पादों का आदि, मध्य तथा अन्त का यमक है।

आगे त्रिपाद यमक का उदाहरण दिया जा रहा है।

सीमा मर्यादा तस्यामासनशीलः। मानं परिमाणातिशयः मानः पूजा वा, तद्भूमिः। फणिवलं भुजङ्गसमुदायस्तस्य यद्वलनं तेनोद्भाविनी या राजी रेखा तया विराजनशीलः। हारीताः पक्षिविशेषास्तद्युक्तैः। परिसरसरणिस्तीरमार्गस्तत्रास्तमालैः क्षिप्तमालासन्निवेशैः। खण्डरूपतामापन्नैरिति यावत्। ईदृशैस्तमालैः हारी मनोहर इति संबन्धः। देवादेवाः देवासुरास्तैरमृतलाभेनान्तरवस्थानेन चाप्ता रक्षा यस्मात्स तथा कृतभवः संपादितोद्भवः। नदीनामिनः स्वामी समुद्रो भवतोऽग्रे न दीनः? काक्वा दीन एव। मुक्ताभिरमुक्तान्यच्छानि रत्नानि यत्र स तथा। सितरुचिश्चन्द्रस्तेन रुचिरा मनोहरा उल्लासमुद्रा वृद्धिकाष्ठा यस्य। तदेतेषामुदाहरणानां चतुर्ष्वपि पादेषु यथोक्तं यमकमस्तीति चतुष्पादयमकप्रपञ्चोऽयम् ॥

त्रिपादयमकेष्वव्यपेतमाद्यमकं यथा—

> 'विशदा विशदामत्तसारसे सारसे जले।
> कुरुते कुरुते नेयं हंसी मामन्तकामिषम् ॥ ९९ ॥'

नास्य चतुरः प्रयोग इति शेषभेदा नोदाह्रियन्ते ॥

त्रिपाद यमकों में अव्यपेत आदि यमक का उदाहरण—

जिसमें मदमत्त सारस प्रवेश करते हैं उस सरोवर के जल में यह श्वेतहंसी अपने निन्दनीय (उद्दीपक) शब्द से मुझ वियोगी को यम का भोज्य बनाये दे रही है ॥ ९९ ॥

इस त्रिपाद यमक के प्रयोग (सहृदयों) को विशेष आनन्द देने वाले तो होते हैं, किन्तु इनके निपुण प्रयोग नहीं होते हैं अतः इसके शेष भेदों का उदाहरण नहीं दिया जा रहा है।

स्व० भा०—प्रस्तुत छन्द में त्रिपाद यमक के अव्यपेत आदि यमक भेद का उदाहरण दिया गया है। यहां 'विशदा विशदा' 'सारसे सारसे' 'कुरुते कुरुते' पदों में यमक है। इनके बीच में कोई व्यवधान नहीं है अतः ये अव्यपेत हैं। तीनों पादों के प्रारम्भ में ही आवृत्ति है अतः आदि यमक है। तीन ही पादों में होने के कारण त्रिपादयमक सिद्ध ही है।

एवं त्रिपादयमकप्रपञ्चोऽपि भवतीत्याह—त्रिपादयमकेष्विति। विशदा धवला। विशन्त आमत्ताः सारसा यत्र तस्मिन्। सारसं सरःसंबन्धि। मन्मथोन्माथदायितया कुत्सितं रुतं कुरुतम्। मध्यान्तादीनि त्रिपादयमकानि किमिति नोदाहृतानीत्यत आह—नास्येति ॥

द्विपादयमकेष्वव्यपेतमादियमकं यथा—

> 'करोति सहकारस्य कलिकोत्कलिकोत्तरम्।
> मन्मनो मन्मनोऽप्येष मत्तकोकिलनिःस्वनः ॥ १०० ॥'

द्विपादयमकों में अव्यपेत तथा आदि यमक का उदाहरण—

आम्रमञ्जरी मेरे मन को अत्यधिक उत्कण्ठित किये दे रही है और उसी भांति मत्त कोकिल का यह अव्यक्त मधुररव भी ॥ १०० ॥

स्व० भा०—यहां केवल दो पादों में—द्वितीय तथा तृतीय में—क्रमशः 'कलिकोद, तथा 'मन्मनो' पदों की आवृत्ति हो रही है। चार चरणों के इस छन्द में केवल दो ही चरणों में अव्यवहित आवृत्तियों के कारण अव्यपेत आदि यमक है।

उत्कलिका उत्कण्ठा तदुत्तरं तटं कूलम्। मन्मनोऽव्यक्तमधुरः। मन्मनो मदीयं मनः॥

तदेव मध्ययमकं यथा—

'तुलयति स्म विलोचनतारकाः कुरबकस्तबकव्यतिषङ्गिणि।
गुणवदाश्रयलब्धगुणोदये मलिनिमालिनि माधवयोषिताम्॥ १०१॥'

उसी (अर्थात् द्विपादगत अव्यपेत यमक) के मध्यगत का उदाहरण—

श्वेत कुरवक कुसुम के गुच्छ पर आसक्त, भ्रमरों की कालिमा गुणवान आधार मिल जाने से और भी अधिक निखार आ जाने से श्रीकृष्ण की स्त्रियों के नेत्र की कनीनिका की समानता करने लगी थी॥ १०१॥

स्व० भा०—यहाँ पर उदाहरण में द्वितीय तथा चतुर्थ पादों के बीच में क्रमशः 'बक' तथा 'लिनि' वर्णसमूहों की आवृत्ति हुई है। अतः द्विपादगत अव्यपेत यमक के मध्यवर्ती भेद का निदर्शन है।

अलिनि यो मलिनिमा कज्जलाभत्वं स माधवयोषितां यादवस्त्रीणां विलोचनतारकास्तुलयति स्मेति संबन्धः॥

अन्तयमकं यथा—

'खण्डिताशंसया तेषां पराङ्मुखतया तया।
आविवेश कृपा केतूकृतोच्चैर्वानरं नरम्॥ १०२॥'

एवमादिमध्यान्यपि द्रष्टव्यानि। एकपादयमकेष्वव्यपेतमाद्यन्तयोरनुल्लेखीति नोदाह्रियते॥

अन्त यमक का उदाहरण—

उस कामना के भग्न हो जाने से उनके पराङ्मुख हो जाने के कारण अपनी-पताका में वानरश्रेष्ठ हनुमान को रखनेवाले मनुष्य (अर्जुन) में कृपा का प्रवेश हुआ॥ १०२॥

इसी प्रकार (द्विपाद यमक के) आदि तथा मध्य भेदों को भी समझ लेना चाहिए। एकपादगत यमकों में अव्यपेत के आद्यन्त भेदों का कवियों द्वारा (प्रचुर), उल्लेख नहीं किया गया, अतः उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं।

स्व० भा०—उदाहृत छन्द के द्वितीय तथा चतुर्थ पादों के अन्तिम पदों की आवृत्ति है। अतः द्विपादगत यमक के अव्यपेत प्रकार के अन्त्य भेद का यह उदाहरण है। इसके अतिरिक्त द्विपादगत अन्य भेदों का उदाहरण नहीं दिया जा रहा है। उसका कारण यह नहीं है कि वे भेद संभव ही नहीं हैं, अपितु महाकवियों ने इन उपभेदों का प्रचुर प्रयोग ही नहीं किया है।

खण्डितेति। केतूकृतो ध्वजतां नीतः। उच्चैर्वानरो हनूमान्। नरोऽर्जुनः॥ आद्यन्तयोरनुल्लेखीति। महाकविप्रयोगेषु विशेषशोभाकरतया प्रसिद्धेरभावोऽनुल्लेखो न त्वसंभव एव। एवं मध्ययमकं त्विस्यादौ बोद्धव्यम्॥

मध्ययमकं तु चतुर्थपाद एवोल्लसति। यथा—

'विलुलितालकसंहतिरामृशन्मृगदृशां श्रमवारि ललाटजम्।
तनुतरङ्गततीः सरसां दलत्कुवलयं वलयं मरुदाववौ॥ १०३॥'

मध्ययमक का उल्लेख तो चौथे चरण में ही किया जा रहा है।

जैसे—मृगनयनी सुन्दरियों के केशपाश को हिलाता हुआ, परिश्रम के कारण ललाट पर छा गई पसीने की बूँदों को सुखाता हुआ, तालावों में लघु लहरों को उत्पन्न करता हुआ और कमलों को खिलाता हुआ पवन वह चला ॥ १०३ ॥

स्व० भा०—शिशुपालवध के इस उदाहृत श्लोक में केवल चतुर्थ पाद के मध्य में ही 'वलयं' पद की आवृत्ति होने से मध्ययमक हुआ है।

आमर्शनं प्रोञ्छनम्। दलत्कुवलयमिति क्रियाविशेपणम्। तरङ्गाणामितस्ततो वलनेन प्रौढतरकुवलयकलिकास्फुटनजातिः ॥

एवमावृत्त्याधिक्येऽप्यव्यपेतमुदाहार्यम्। यथा—

'वियद्वियद्वृष्टिपरंपरं परं घनाघनाली रसितासिता सिता।
सरःसरस्यः स्वरसारसारसाः सभा सभा रात्रिरतारतारता ॥ १०४ ॥'

आवृत्ति के (दो से) अधिक होने पर भी अव्यपेत का उदाहरण दिया जा सकता है।

जैसे—पावस के वाद की ऋतु का वर्णन कवि कर रहा है। इस समय आकाश अत्यन्त उत्कृष्ट हो गया है और मेघों की परम्परा समाप्त हो गई है। शुभ्र मेघपंक्तियां अव केवल गर्जनों के सहारे रह गई हैं। तालाव और वावड़ी में सारसगण मनोरम ध्वनियां कर रहे हैं। सभायें अथवा जलसमुदाय निर्मल होकर चमक उठे हैं। कुछ कुछ मेघों के रह जाने से रात्रि में नक्षत्रों की चमक झलक नहीं पा रही है ॥ १०४ ॥

स्व० भा०—सामान्यतः किसी भी भिन्नार्थक वर्णसमुदाय की एक वार भी आवृत्ति हो जाने से यमक का लक्षण घटित हो जाता है। किन्तु जब उससे भी अधिक आवृत्तियाँ होती हैं तब भी यमक ही होता है। उदाहरणार्थ 'वियत्–वियद्', 'सरःसरः', 'घनाघना' और 'सभा-सभा' में केवल एक आवृत्ति हुई है। 'परं परं परं', 'सिता सिता सिता', 'रसा रसा रसा' तथा 'रता रता रता' में पदों की आवृत्ति अपेक्षित से भी अधिक हुई है। इस दशा में भी यहां यमक होगा ही।

आवृत्तिः सकृदावर्तनेनैव निर्वहति तत्किमसकृदावृत्तौ यमकं न भवतीत्यत आह—एवमिति। आवृत्तिसामान्यमधिकमनधिकं वा द्वयमप्यावृत्तिपदेनाभिमतमित्यर्थः। वियदाकाशम्। वियती अपगच्छन्ती वृष्टिपरंपरा यस्मात्तत्तथा। परमुत्कृष्टरमणीयम्। घनाघनाली मेघपङ्क्तिः। रसिते स्तनिते आसितावलम्बिता। सिता शुभ्रा। सरांसि च सरस्यश्च सरःसरस्यः। स्वरसारास्तत्कालोन्मिषितकूजितकान्तिप्रधानाः सारसाः पक्षिणो यत्र तास्तथाभूताः। सभा गृहरूपा जलसमुदायो वा। सभाः सदीप्तिः। ताराणां तारता निर्मलताप्रकर्षः किंचिद्घनरोधसद्भावादीषत्तारता यस्यां सा तथा ॥

आवृत्त्येकरूपतायामपि। तत्रादियमकं यथा—

'याम यामत्रयाधीनायामया मरणं निशा।
यामयाम धियास्वर्त्या मया मथितैव सा ॥ १०५ ॥'

आवृत्तियों के समरूप होने पर भी यमक होता है।। इनमें आदि यमक का उदाहरण—

(अपनी अत्यन्त सुकुमाराङ्गी प्रेयसी के विषय में एक प्रेमी कहता है कि) 'अच्छा हो कि मैं इस तीन याम के सदृश लम्बे यामों वाली रात्रि के द्वारा मार डाला जाऊँ, क्योंकि मेरे विचार से तो प्राणों को पीड़ित करने वाली इस रात्रि के द्वारा मेरी जीवितेश्वरी-जीवन का सर्वस्व-प्रेयसी अवश्य ही समाप्त कर दी गई होगी ॥ १०५ ॥

स्व० भा०—इस उदाहरण के पूर्व दिये गये उदाहरणों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न विजातीय अथवा परस्पर असदृश पदों की आवृत्ति प्रदर्शित की गई है। इस छन्द में यह स्पष्ट किया गया है कि यदि एक छन्द में एक ही वर्णराशि सभी स्थानों पर आवृत्त हो तो भी यमक होता है। जैसे—यहाँ पर 'याम' पद की ही आवृत्ति चारों पादों के आदि में हुई है। अतः इन स्थानों में एक ही पद की आवृत्ति होने पर भी यमक है।

आवृत्तीति। यज्जातीयमाद्यपादे पदमावृत्तं तज्जातीयमेव द्वितीयादिपादेष्वपि यथास्थानमावर्तत इति प्रकारान्तरमप्यावृत्तिपदेनैव संगृहीतमित्यर्थः। यामत्रयाधीनायामया प्रहरत्रयविश्रान्तियावद्दीर्घताप्रकारया निशा राज्या मरणं यामेति वियोगखिन्नस्य प्रार्थना किमेत्येवममङ्गलमाशास्यत इत्याह—यामिति। धिया बुद्ध्या यामयां जीवितसर्वस्वाभिमानगोचरतामनैपं सा अनया कल्पकोटिशतायमानयामया रजन्या असूनां प्राणानामार्तिः पीडा तया द्वारभूतया प्रायेण मथितैव भविष्यतीति सुकुमारतरकान्ताजीवितानध्यवसायोक्तिरियम्। अत्र यामेत्येव पदं पादचतुष्टयेऽप्यावृत्तम्। एवमुत्तरत्र॥

तथैव मध्ययमकं यथा—

'स्थिरायते यतेन्द्रियो न हीयते यतेभवान्।
अमायतेयतेऽप्यभूत्सुखाय तेऽयते क्षयम्॥ १०६॥'

इसी प्रकार (की आवृत्ति में एकरूपता होने पर ही) मध्ययमक का उदाहरण—

'हे स्थिर उत्तरकालीन विशुद्धि वाले योगिराज! आप जितेन्द्रिय हैं, अतः अपने संयम से आप च्युत नहीं हो रहे हैं। आपकी मायाशून्यता—अमायता—ही आपके इस अक्षय सुख का कारण है॥ १०६॥

स्व० भा०—इस श्लोक में मध्ययमक का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है जिसके प्रत्येक पाद के मध्य में 'यते' पद की आवृत्ति है। यह छन्द काव्यादर्श (३।३९) में है।

आयतिरुत्तरकालविशुद्धिः। यतेन्द्रियो विजितेन्द्रियग्रामः। एवंभूतो भवान्यतेर्न हीयते। यतितुल्य एव भवतीत्यर्थः। अपिशब्दो भिन्नक्रमः। अमायता मायाशून्यत्वं सापि तव इयते परिच्छेत्तुमशक्याय क्षयं विनाशमयतेऽगच्छते सुखायाभूत्॥

तदेवान्तयमकं यथा—

'भवादृशा नाथ न जानते नते रसं विरुद्धे खलु सन्नतेनते।
य एव दीनाः शिरसा नतेन ते चरन्त्यलं दैन्यरसेन तेन ते॥ १०७॥'

तदेतत्सर्वमप्यव्यवहितावृत्तेरव्यपेतयमकं भवति॥

इसी के अन्त यमक का उदाहरण—

हे प्रभो, आप जैसे लोगों को दूसरों के सामने झुकने का स्वाद नहीं ज्ञात है क्योंकि नमन और प्रभुत्व दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। जो दीन हैं वे सिर झुकाये सेवा करते हैं। आपको कभी दैन्यरस का अनुभव न करना पड़े॥ १०७॥

आवृत्तियों के मध्य में व्यवधान न होने से यह सब अव्यपेतयमक होता है।

स्व० भा०—अब तक अव्यपेत यमक के उदाहरण दिये गये हैं। अव्यपेत यमक वहाँ होता है जहाँ आवृत्त पदों के बीच किसी पद का व्यवधान नहीं होता है। इसके आगे भोज के द्वारा व्यपेतयमक का उदाहरण दिया जा रहा है।

नतेः कुपितकामिनीप्रसादरूपाया रसो विप्रलम्भपृष्ठभावी मधुरतरः संभोगः किमिति तादृशा रसं न जानते। यस्मात् सन्नता अवसादयोगित्वमिनता प्रभुता, एते द्वे विरुद्धे

नैकत्र संभवतः। नहि प्रभवो नमन्ति। एतदेव व्यतिरेकेण द्रढयति—य एवेति। ये दीनास्त एव नतेन शिरसा लक्षितास्तेन हेतुना दैन्यरसेनालमत्यन्तं चरन्ति व्यवहरन्तीति। अन्यपेतपदार्थं व्याचष्टे—तदेतत्सर्वमिह्वि॥

अथ चतुर्षु पादेषु व्यपेतमादियमकं यथा—

'काञ्चिप्रतोलीमनु कामिनीनां काञ्चिस्रवन्तीवनमातरिश्वा।
काञ्चिप्रभृत्याभरणोज्झितानां कांचिल्लुनीते सुरतश्रमार्तिम्॥ १०८॥'

अब चारो चरणों में व्यपेत आदि यमक का उदाहरण—

काञ्चीनगरी के राजमार्गों पर करधनी सदृश आभूषणों को भी त्याग देनेवाली प्रमदाओं के अपूर्व रतिखेद को जल से सुशोभित नदियों के जलकणों को लेकर आने वाली वायु दूर करती है॥ १०८॥

स्व० भा०—यहां चारो पादों में आदि में एक ही पद आया है। यहां व्यपेतयमक का उदाहरण है। इसमें पद एक साथ न आकर व्यवहित आये हैं। एक 'काञ्चि' पद से लेकर दूसरे 'काञ्चि'पद तक अनेक पदों का व्यवधान हो गया है। इन पदों के व्यवधान के कारण ही यहां व्यपेतयमक है। पदों के आदि में आने से आदियमक है।

क्रमप्राप्तं व्यपेतमुदाहर्तुंयमित्याह—अथेति। काञ्चिर्नगरी तस्याः प्रतोली राजरथ्या तामनु लक्षीकृत्य। केन पानीयेनाञ्चनशीला या स्रवन्ती नदी तद्वनमातरिश्वा वायुः। काञ्चिप्रभृतीनि मेखलाप्रमुखानि। कांचित्सर्वाङ्गीणालसभावसमर्पिकामत एव मेखलाप्रभृतिभूषणत्यागः। अत्र प्रतिपादं काञ्चीकाञ्चीत्यादि नैरन्तर्येणावर्तनेन व्यपेतम्, सान्तरत्वेन पुनरादिमध्ययमकमेव स्यादिति पादभेदेनैवास्य संभवः॥

तदेव मध्ययमकं यथा—

'मदनदारुण उत्थित उच्छिखो मधुमदारुणहूणमुखच्छविः।
तरुणिदारुण एष दिशः समं मम हृदारुणदास्रवणानलः॥ १०९॥'

उसी में (चारो पादों में) मध्ययमक का उदाहरण—

कामदेवरूपी काष्ठ से उठा हुआ, बड़ी-बड़ी लपटों वाला, मदिरा के मद से लाल हूँणों के मुख की भांति छटा वाला, तरुणी अथवा वृक्षों के लिये अत्यन्त भयङ्कर यह आम्रवन रूपी अग्नि मेरे हृदय के साथ सभी दिशाओं को भी अवरुद्ध किये दे रहा है॥ १०९॥

स्व० भा०—यहां चारो पादों में मध्य में 'दारुण' वर्णमाला आई है। चारो पादों में होने से यह चतुष्पाद हैं, मध्य में होने से मध्ययमक है और सबके दूर-दूर तथा अन्य पदों से व्यपहित होने के कारण व्यपेत है।

मदन एव दारु काष्ठ तत उत्थितः। शिखा मञ्जरीच्छटा ज्वाला च। स्वभावताम्रमेव मधुमदेन यद्द्विगुणमरुणं हूणमुखं तच्छविर्दारुणो भयंकरो मम हृदा समं दिशोऽरुणद्रुद्धवान्। आम्रवणमेव तापकारितयानलो वह्निः। अत्र यद्यपि प्रतिपादमपि व्यवायेन मध्ययमकं संभवति, तथापि न तथोल्लेखीति पूर्वापरसदृशमेवोदाहृतम्॥

अन्तयमकं यथा—

'तव प्रिया सच्चरिताप्रमत्त या विभूषणं धार्यमिहांशुमत्तया।
रतोत्सवामोदविशेषमत्तया न मे फलं किंचन कान्तिमत्तया॥ ११०॥'

अन्त यमक का उदाहरण—

(उपेक्षिता नायिका रूठकर नायक से कहती है,) हे सदाचरण में सावधान रहने वाले महोदय, आपकी वह सुन्दर चरित्रवाली प्रिया ही इस समय इस झलकते हुये अलंकारों को पहने, क्योंकि वह आपके साथ सुरतविहार करने के कारण आनन्द-मग्न है, मेरे जैसी उपेक्षिता के लिये इनका क्या उपयोग ॥ ११० ॥

स्व० भा०—इस श्लोक में 'मत्तया' वर्णसमुदाय प्रत्येक पद में व्यवहित रूप से अन्त में आया है। अतः यहां चतुष्पाद के अन्तयमक का व्यपेत भेद है।

सच्चरितप्रमत्तेति। सोल्लासं संबोधनद्वयम्। या तव प्रिया रतोत्सवामोदविशेषेण रतिकेलिहर्षप्रकर्षेण मत्ता तयेदमंशुमन्मणिकिरणकरम्बितं विभूषणधार्यम्। अर्हे कृत्यः। त्वया किमिति न धार्यमित्यत आह—न मे भूषणसंपाद्यया कान्त्या किंचन फलम्। 'कामिनां मण्डनश्रीर्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन' इति न्यायात्।

आदिमध्ययमकं यथा

'घना गिरीन्द्रविलङ्घनशालिना वनगता वनजद्युतिलोचना।
जनमता ददृशे जनकात्मजा तरुमृगेण तरुस्थलशायिनी॥ १११॥'

आदिमध्य यमक का उदाहरण—

मेघवर्ण पर्वतों का लङ्घन करके हनुमान् जी ने अशोकवाटिका में बैठी हुई, कमल सदृश कान्तिमय नेत्रों से युक्त, लोकविख्यात, वृक्षमूल में स्थित तथा व्रत के कारण भूमि पर सोने वाली सीता को देखा ॥ १११ ॥

स्व० भा०—यहां पर जो पदांश पादों के आदि में आया है, वही मध्य में भी आया है। इसके कारण पद की आवृत्ति हो गई है। व्यवहित स्थिति भी चारों पादों में है। प्रथम पाद में 'घन', द्वितीय में 'वन', तृतीय में 'जन' तथा चतुर्थ में 'तरु' की आवृत्तियां हैं। अतः यहां आदि-मध्य व्यपेत चतुष्पाद है।

अत्रापि सान्तरनिरन्तरप्रसङ्गे पादभेद एव संकरः। संकीर्णव्यपेतानि तु प्रतिपादमेव संभवन्तीत्युदाहरति—आदिमध्येति। घना गिरीन्द्रा माल्यवन्तमारभ्य सुवेलं यावद्गिरिपरम्परा। वनजं पद्मम्। जनानां मता संमता। तरुमृगः शाखामृगो हनूमान्। अत्र घनेत्यादिशब्दभागः पादचतुष्टयेऽपि गिरीन्द्रेत्याद्यनावृत्तव्यवहित एवादिमध्ययोरावर्तत इति॥

आद्यन्तयमकं यथा—

'विहगाः कदम्बसुरभाविह गाः कलयन्त्यनुक्षणमनेकलयम्।
भ्रमयन्नुपैति मुहुरभ्रमयं पवनश्च धूतनवनीपवनः॥ ११२॥

आद्यन्त यमक का उदाहरण—

कदम्ब के फूलों की गन्ध से युक्त इस रैवतक पर्वत पर पक्षीगण विविध स्वरों में कूजते हैं और नवकदम्ब वनों को कम्पित करने वाली वायु बारंबार मेघों को हिलाता हुआ विचरता रहता है॥ ११२॥

स्व० भा०—इस छन्द में भी चारो पादों में आदि तथा अन्त में क्रमशः 'विहगाः', 'कलयम्', 'भ्रमयन्' तथा 'पवनः' की आवृत्ति हुई हैं।

गाः कूजितानि कदम्बसौरभानीतवर्षर्तुपयोदाः कलयन्ति कलरूपतां नयन्ति। कूजितक्रियान्तरालकालो द्रुतमध्यविलम्बितात्मानेको लयः। अभ्रं मेघः। नीपः कदम्बः।

कदम्बवनधूननेन सर्वतः सौरभसंचारोपपत्तिः। अत्र विहगा इत्यादिकं प्रतिपादमाद्यन्तयोरनावृत्तवर्णपद्क्व्यवहितमेवावर्तते ॥

मध्यान्तयमकं यथा—

'मितमवददुदारं तां हनूमान्मुदारं
रघुवृषभसकाशं देवि यामि प्रकाशम्।
तव विदितविपादो दृष्टकृत्स्नामिषादः
श्रियमनिशमवन्तं पर्वतं माल्यवन्तम् ॥ ११३ ॥'

मध्यान्त यमक का उदाहरण—

"हे देवि सीते, आपके कष्टों को जानकर, सभी राक्षसों को देखते हुए रघुपुङ्गव के पास, निरन्तर शोभा की रक्षा करने वाले माल्यवान् पर्वत पर प्रकट रूप से शीघ्र ही मैं जाऊँगा', इस स्वल्पाक्षर तथा अर्थगौरवपूर्ण वाणी को हनुमान ने प्रसन्नतापूर्वक सीता से कहा ॥ ११३ ॥

स्व० भा०—यहां श्लोक में 'दारं', 'काशं', 'वादः' तथा 'वन्तं' पदांशों का प्रयोग पादों के मध्य में हुआ है और इनकी आवृत्ति अन्त में है अतः यहां चतुष्पाद व्यपेत मध्यान्त यमक है।

मितमल्पाक्षरमरमत्यर्थमुदारमल्पाक्षरव्यञ्जकं मुदा हर्षेण रघुवृषभो रामस्तस्य सकाशा वासभूमिस्तया पुरस्कृतः। आमिषादा राक्षसाः। अत्र दारमित्यादि प्रतिपादं मध्यान्तयोरेवानावृत्तवर्णपञ्चकव्यपेतमावर्तते ॥

आदिमध्यान्तयमकं यथा—

'समं स सैन्येन समन्ततः समं पुरंदरश्रीः पुरमुच्चगोपुरम्।
मदालसां तां प्रमदां सुसंमदां ययौ निधायाक्षययौवना ययौ ॥ ११४ ॥'

आदिमध्यान्त यमक का उदाहरण—

इन्द्र के सदृश शोभावाला वह मद से अलसाई अत्यन्त प्रसन्न उस अक्षययौवन वाली कामिनी को अश्वमेधीय घोड़े पर बैठाकर शोभा सम्पन्न एवं ऊँचे गोपुरवाले नगर को सेना के साथ चला गया ॥ ११४ ॥

स्व० भा०—इस छन्द के आदि, मध्य तथा अन्त में 'समं' प्रथम पाद में, द्वितीय पाद में आदि, मध्य तथा अन्त में 'पुरम्', तृतीय में 'मदा' तथा चतुर्थ में भी आदिमध्यान्त में 'ययौ' की आवृत्तियां होने से आदिमध्यान्त यमक है। व्यवहित होने से व्यपेत यमक है।

समं सह। समं सश्रीकम्। संमदो हर्षः। ययुरश्वमेधीयोऽश्वः। अत्र प्रतिपादं सममित्यादिकमादिमध्यान्तेषु यथोक्तानावृत्तवर्णव्यवहितमावर्तन्ते ॥

त्रिपादयमकेषु व्यपेतमादियमकं यथा—

'करेण ते रणेष्वन्तकरेण द्विषतां हताः।
करेणवः क्षरद्रक्ता भान्ति संध्याघना इव ॥ ११५ ॥

अस्यापि नातिप्रचुरः प्रयोग इति विशेषभेदा नोदाह्रियन्ते ॥

त्रिपाद यमकों में व्यपेत आदि यमक का उदाहरण—

हे महाराज, युद्धक्षेत्र में आपके शत्रुविनाशक हाथों द्वारा मारी गई शत्रु की हथिनियां रक्त क्षरण करते हुये ऐसी लग रही थीं मानो सन्ध्याकालीन मेघ हों ॥ ११५ ॥

इसका भी अत्यधिक प्रयोग नहीं होता है इसलिये इसके विशेषभेदों के उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं।

स्व० भा०—यहां छन्द में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पादों के प्रारम्भ में 'करेण' आया है। अतः यहां व्यपेत, त्रिपाद आदि यमक है। महाकवियों के समुदाय में इसका विशेष प्रचलन नहीं है। (द्रष्टव्य काव्यालंकार ३।२६)

द्विषतां शत्रूणामन्तकरेण विनाशकारिणा। करेण हस्तेन। करेणवो हस्तिनः। एवं द्वितीयादिपादगोचरं मध्यादिकं च किमिति नोदाहियत इत्यत आह—अस्यापीति॥

द्विपादयमकेषु व्यपेतमादियमकं यथा—

'मुदा रमणमन्वीतमुदारमणिभूषणाः।
मदभ्रमदृशः कर्तुमदभ्रजघनाः क्षमाः॥ ११६॥'

मध्ययमकं पुनरनुल्लेखीति परिह्रीयते॥

द्विपादयमकों में व्यपेत आदि यमक का उदाहरण—

उत्कृष्ट मणियों का अलंकार धारण करने वाली, मस्ती से कटाक्ष करती हुई और पृथुल जघनों से संयुक्त रमणियां अपने प्रियतमा को आनन्द से युक्त करने में समर्थ हैं॥ ११६॥

मध्ययमक भी प्रायः (महाकवियों द्वारा) अधिक उल्लिखित नही है। अतः उसे भी छोड़ दिया जा रहा है।

स्व० भा०—यहां प्रथम दो पादों में 'मुदा' की तथा अन्तिम दो पादों में 'मद' की आवृत्ति होने से द्विपाद यमक है।

रमणं वल्लभं मुदा हर्षेणान्वीतं संगतं कर्तुं क्षमा इत्यन्वयः। उदारमुत्कृष्टम्। मदेन भ्रमन्ती श्यामान्ता। अदभ्रं विपुलम्। अत्र यद्यपि चतुर्षु पादेषु यमकमस्ति, तथापि द्वयोर्द्वयोरेवावृत्तिः पर्यवस्यतीत्युदाहरणद्वयमिदं द्रष्टव्यम्। एवं प्रथमतृतीययोः प्रथमचतुर्थयोर्द्वितीयतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च व्यपेतमादियमकमवसेयम्। अनुल्लेखो व्याख्यात एव॥

अन्तयमकं यथा—

'इह मुहुर्मुदितैः कलभै रवः प्रतिदिशं क्रियते कलभैरवः।
स्फुरति चानुवनं चमरीचयः कनकरत्नभुवां च मरीचयः॥ ११७॥

अन्त यमक का उदाहरण—

इस रैवतक पर्वत पर सुप्रसन्न हाथियों के बच्चे हर दिशा में मधुर किन्तु भयङ्कर चीत्कार करते हैं। प्रत्येक वनभाग में चमरियों के समूह घूमते हैं और स्वर्णमयी भूमि की किरणें चमकती रहती हैं॥ ११७॥

स्व० भा०—इस श्लोक के प्रथम दो पादों के अन्त में 'कालभैरवः' तथा 'मरीचयः' की अन्तिम दो पादों के अन्त में, आवृत्ति होने से द्विपाद व्यपेत अन्तयमक है।

कलभाः करिशावकाः। रवः शब्दः। कलो मधुराव्यक्तः। भैरवो भयंकरः। अनुवनमिति वीप्सायामव्ययीभावः। चमरी चमरगवी। चयः समूहः। मरीचयः किरणाः। अत्रापि पूर्ववदेव द्विपादयमकं व्याख्येयमिति॥

एकपादयमकमिह शुद्धं न संभवति, तस्य स्थाने द्विपादयमकमेवोदाह्रियते। तदादियमकं यथा—

'मधुरेणदृशां मानं मधुरेण सुगन्धिना।
सहकारोद्गमेनैव शब्दशेषं करिष्यति॥ ११८॥'

इहापि मध्ययमकमनुल्लेखीति परिह्रियते।

यहां व्यपेतयमक के प्रकरण में, एकपादयमक शुद्ध रूप से सम्भव नहीं, अतः उसके स्थान पर द्विपादयमक का ही उदाहरण दिया जा रहा है। उसी के आदियमक का उदाहरण—मधुमास, सुगन्धमय सहकारपुष्प द्वारा ही कोमल मृगनयनियों का मान शब्दशेष-समाप्त-कर देगा ॥ ११८ ॥

यहां भी मध्ययमक का प्रचुर प्रयोग नहीं दृष्टिगोचर होता है, अतः उसे छोड़ा जा रहा है।

स्व० भा०—एकपादयमक के प्रसङ्ग में भोज का मत यह है कि व्यपेत दशा में आदि-मध्यान्तयमक संभव नहीं होगा, यदि होगा भी तो शुद्ध रूप से नहीं हो सकेगा। इसका कारण यह है कि एकपाद इतना छोटा होता है कि अव्यपेत रूप आ ही जाता है। पूर्ण व्यपेतता एकपाद में संभव नहीं। अतः उन्होंने द्विपादयमक में आदिस्थ भेद का उदाहरण दिया है।

एकपादयमकमिति। नैरन्तर्येणावृत्तावव्यपेतत्वम्। सान्तरत्वे त्वादिमध्यादिभावप्रसङ्ग इति शुद्धं न भवति तत्किमनुदाहरणीयमेवैतदित्यत आह—तस्येति। आवृत्तिरेकत्रैव संभवतीत्येकपादगोचरता। सा तु प्रतियोगितया द्वितीयमपेक्षत इति पादान्तरस्वीकार इति कथंचित्प्रकृतिगणनासमाधानमेतत्। मधुश्चैत्रः। अनेन पूर्वावयवेन वसन्तो लक्ष्यते। एणदृशां हरिणलोचनानाम्। मधुरेण मधुरास्वादेन। सहकारोद्गमेनैवेत्येवकारेणासताम-तीव तावद्विख्यातप्रभावातिशयाः पिकपञ्चमादयः। सहकारप्रथमोद्भेदमात्रेणैव तु मानिनी-मानग्रहवार्ता निरवशेषितेत्युद्दीपनताप्रकर्षो ध्वन्यते ॥

अन्तयमकं यथा—

'यस्याहुरतिगम्भीरगलदप्रतिमङ्गलम्।
स वः करोतु निःसङ्गमुदयं प्रति मङ्गलम् ॥ १·६ ॥'

अन्तयमक का उदाहरण—

जिसका कण्ठ अत्यन्त मांसल तथा अतुलनीय कहा गया है, वही भगवान शंकर आप लोगों की निर्बाध उन्नति के लिये कल्याण करें ॥ ११९ ॥

स्व० भा०—यहां सबके अन्त में 'मङ्गलम्' की आवृत्ति हुई है। अतः अन्तयमक है।

गम्भीरो मांसलः। गलः कण्ठः। मङ्गलं कल्याणम्। निःसङ्गमप्रत्यूहम्। उदयः संयत्तं प्रति ॥

एवमावृत्त्याधिक्येऽपि यथा—

'अवसितं हसितं प्रसितं मुदा विलसितं ह्रसितं स्मरभासितम्।
न समदाः प्रमदा हतसंमदाः पुरहितं विहितं न समीहितम् ॥ १२० ॥'

इसी प्रकार आवृत्तियों के अधिक होने पर भी यमक का उदाहरण—

लङ्का में प्रवृत्त हास्य चला गया, हर्ष से कामोद्दीपित शृङ्गारविलास समाप्त हो गया, स्त्रियाँ गर्वयुक्त नहीं रहीं, वे दर्पहीन हैं। अभीष्ट, नगर का हित भी नहीं किया गया ॥ १२० ॥

स्व० भा०—इस श्लोक में केवल एक ही बार आवृत्ति होने पर अर्थात् 'सितं सितं' इतना ही आने पर भी यमक सिद्ध हो जाता, किन्तु प्रथम पाद में 'सितं', द्वितीय पाद में भी 'सितं', तृतीय में 'मदाः' और चतुर्थ में 'हितं' का प्रयोग तीन-तीन बार हुआ है। ये आवृत्तियां अपेक्षा से अधिक हैं। यहां प्रत्येक पाद में भिन्न-भिन्न पदों की आवृत्ति है। संयोग से ही दूसरे पाद में भी समानता है। इस प्रकार यहां भी व्यपेतयमक है।

अवसितं समाप्तम्। मुदा प्रसितमनुबद्धम्। विलसितं ह्रसितं भ्रष्टम्। स्मरेण भासितं

शोभितम्। संमदो हर्षः। अत्र प्रतिपादं सितं सितमित्यादि द्वाभ्यामेव यमकं निर्व्यूढम्। तृतीयं तु सितमित्यादिकमाधिक्यमेव प्रयोजयति, तच्च सर्वमनावृत्ति व्यवहितमिति व्यपेतयमकमेव भवति ॥

आवृत्त्येकरूपतायामपि। तत्रादिमध्ययमकं यथा—

'सारयन्तमुरसा रमयन्ती सारभूतमुरुमारधरातम्।
सारसानुकृतसारसकाञ्चिः सा रसायनमसारमवैति ॥ १२१ ॥'

आवृत्ति में एकरूपता होने पर भी (अधिक आवृत्ति होने पर यमक होता है)। इसके आदिमध्ययमक का उदाहरण—

संकेतस्थान पर अपने को उपस्थित करने वाले तथा जगत्सारभूत सौन्दर्य-यौवन से भूषित उस प्रियतम को छाती से लगाकर आनन्दित करने वाली, सारस पक्षियों के शब्द का अनुकरण करने वाले शब्द से युक्त काञ्ची से विभूषित तथा विपुल सौन्दर्यभार धारण करने वाली सुन्दरी रसायन को भी नीरस समझती है ॥ १२१ ॥

स्व० भा०—प्रस्तुत श्लोक में चारो पादों में 'सार' वर्णसमुदाय आदि तथा मध्य में आवृत्त हुआ है। इसके पूर्ववर्ती छन्द में विजातीय पदों की आवृत्तियां प्रदर्शित की गई थीं, किन्तु इस श्लोक में केवल एक ही वर्णराशि सर्वत्र आवृत्त हुई हैं।

यही श्लोक व्यपेत आदिमध्ययमक के उदाहरण के रूप में दण्डी के काव्यादर्श (३।४५) में भी प्राप्त होता है।

सारयन्तमात्मसमीपमानयन्तम्। उरसा घनतरस्तनाढ्येन। सारभूतं जीवितसर्वस्वतामापन्नम्। उरुर्महान्। सार उत्कर्षः। अनुकृतसारसा सारसकूजितसंवादिनी। सारसा सशब्दा काञ्चिर्मेखला यस्याः सा तथा। सारसानुकृतेति 'जातिकालसुखादिभ्यः परा निष्ठा वक्तव्या' इति निष्ठायाः परनिपातः। रसायनं सर्वोपद्रवहरं भेषजम् ॥

मध्यान्तयमकं यथा—

'लीलास्मितेन शुचिना मृदुनोदितेन
व्यालोकितेन लघुना गुरुणा गतेन।
व्याजृम्भितेन जघनेन च दर्शितेन
सा हन्ति तेन गलितं मम जीवितेन ॥ १२२ ॥

आद्यन्तयमकमादिमध्यान्तयमकं चेहास्थानयमकत्वप्रसङ्गान्न संगच्छते। आदिमध्यान्तयमकानि च प्रथममेवोदाहृतानि ॥

मध्यान्तयमक का उदाहरण—

वह सुन्दरी अपनी शुद्ध विलासपूर्ण हँसी से, मधुरवाणी से, तीव्र कटाक्षपातों से, मन्दगमन से, जभाई से तथा जघनप्रदर्शन रूप कामविलास से मुझे पीड़ित कर रही है। अब तो मेरे प्राण गये ॥ १२२ ॥

आद्यन्तयमक तथा आदिमध्यान्तयमक, यहां आवृत्ति की एकरूपता के प्रसङ्ग में, अस्थानयमक हो जाते हैं, अतः उसकी योजना बन नहीं पाती। आदि मध्य और अन्तयमकों का तो पहले ही (स्पष्ट किया जा चुका है) और उनके उदाहरण भी दिये जा चुके हैं।

स्व० भा०—उदाहृत श्लोक में 'तेन' पद की आवृत्ति चारो पदों में मध्य तथा अन्त में हुई है। अतः यह व्यपेत चतुष्पाद मध्यान्त का उदाहरण है। इसके अतिरिक्त व्यपेत के अन्य दो

भेदों—आद्यन्त तथा आदिमध्यान्त में—एकरूप वर्णराशि की आवृत्ति होने पर उदाहरण का स्वरूप अस्थानयमक के जैसा हो जाता है। स्थिति स्पष्ट है कि जब एक रूप पद ही अथवा पदांश ही व्यपेत रूप से चारो चरणों के आदि और अन्त में अथवा आदिमध्यान्त में रहेगा तो एक पाद के अन्त की वर्णराजि वही होगी जो द्वितीय पाद के आदि की होगी। ऐसी दशा में आवृत्ति पादसंधियों में भी हो जायेगी, जब कि पादसंधि में आवृत्ति होना अस्थानयमक का लक्षण है। इसीलिये ग्रन्थकार ने वृत्ति में इस समस्या का उल्लेख कर दिया है और दूसरे प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। (द्रष्टव्य काव्यादर्श ३।४३॥)

शुचिना कान्तेन। मृदुना कोमलेन। उदितं भाषितम्। लघुना तरलेन। गुरुणा स्तनजघनभारालसेन। व्याजृम्भितेन प्रकटीभूतविस्तारप्रकर्षेण। अत्र तेन तेनेति मध्यान्तयोरावृत्तम्। इहेत्यावृत्त्येकरूपतायामेकस्यादावितरस्यान्ते वर्तमानमेकरूपसंधिपातित्वादस्थानयमकमेव भवति। एवमादिमध्यान्तयमकमपि नात्र संगच्छते तर्हि संधिविनाकृतमुदाह्रियतामित्यत आह—आदिमध्यान्तेति॥

आवृत्त्यकरूपतायामावृत्त्यांधिक्ये च मध्ययमकं यथा—

'सभासु राजन्नसुराहतैर्मुखैर्महीसुराणां वसुराजितैः स्तुताः।
न भासुरा यान्ति सुरान्न ते गुणाः प्रजासु रागात्मसु राशितां गताः ॥१२३॥'

तदेतत्सर्वमपि व्यवहितावृत्तेर्व्यपेतयमकं भवति॥

आवृत्ति की एकरूपता होने पर अपेक्षा से अधिक आवृत्तियों के होने पर भी मध्ययमक का उदाहरण—

सुरापान से होने वाले दोषों से रहित, आपके द्वारा किये गये धनदान की शोभा से समन्वित ब्राह्मणों के मुखों से सभाओं में प्रशंसित तथा स्नेहपूर्ण हृदय से युक्त प्रजाजनों में एकत्रित आपके गुणसमूह देवताओं को भी नहीं प्राप्त हैं॥ १२३॥

इन सभी में व्यवहित आवृत्ति होने से व्यपेतयमक होता है।

स्व० भा०—इस छन्द में 'सुरा' इसी वर्णसंहति की भिन्नार्थक अनेक आवृत्तियां हुई हैं। इस अवस्था में भी व्यपेतयमक है क्योंकि आवृत्त वर्णराशियों के बीच में अन्य पदों का व्यवधान पड़ गया है।

भोजराज ने स्थानयमक के व्यपेत और अव्यपेत भेदों के एक, दो, तीन अथवा चारों पादों में होने वाले आदि, मध्य, अन्त आदि यमकों का यथोचित उदाहरण दे देकर उनका स्वरूप स्पष्ट किया। आगे यमक के द्वितीय भेद अस्थान यमक का सोदाहरण निरूपण करने जा रहे हैं। जहां स्थान यमक में प्रथम, द्वितीय आदि पादों के आदि मध्य आदि स्थानों का ध्यान रखना पड़ता था, वहीं 'इस' भेद में स्थान को प्रमुख महत्व नहीं दिया जाता। प्रमुखता का अभिप्राय यह है कि छन्दों में कहीं न कहीं तो आवृत्त पदों का स्थान होगा ही, किन्तु इसमें स्थान को ध्यान में रखकर ही छन्दोरचमा नहीं करनी पड़ती। स्थानतत्त्व गौण होता है।

आवृत्त्याधिक्य इति। एकैकस्मिन्पादे तृतीयाद्यावृत्त्या पूर्वमाधिक्यं पादान्तराद्यावृत्तिसरूपतया सारूप्यं चोक्तम्। इह तु सरूपावृत्त्यैवाधिक्यं निरूप्यत इति संकरप्रकारोपलक्षणमिदम्। सभासु जनसमवायेषु। असुराहतैर्मदिरापात्रपराभूतैः। महीसुराणां ब्राह्मणानाम्। वसुना तेजसा राजितैः शोभितैः। भासुरा दीप्ताः। सुरान् देवान्। न न यान्ति निषेधद्वयेन यान्त्येवेत्यर्थः। रागोऽनुरागस्तत्प्रधान आत्मा यासां तासु प्रजासु राशितां पुञ्जतां गताः। व्यपेतमुपसंहरति—तदेतदिति॥

नादौ न मध्ये नान्ते यत्संधौ वा यत्प्रकाशते ।
अव्यपेतव्यपेतं तदस्थानयमकं विदुः ॥ ६३ ॥
पादे श्लोके च तत्प्रायः पादसंधौ च बध्यते ।
स्वभेदे चान्यभेदे च स्थूलं सूक्ष्मं च सूरिभिः ॥ ६४ ॥

अस्थानयमक तथा उसके भेद

जो न तो पाद के आदि में, न मध्य में, न अन्त में, अपितु कभी-कभी पादसंधियों में दिखाई पड़ा करता है वह अस्थानयमक होता है। वह भी अव्यपेत तथा व्यपेत (भेद से दो प्रकार का) जाना जाता है। यह अस्थान यमक विद्वान् कवियों के द्वारा पाद, श्लोक और पादसंधियों में सजातीय वर्णों के व्यवधान से, अन्य वर्णों के व्यवधान से, स्थूल रूप में तथा सूक्ष्म रूप में निबद्ध किया जाता है ॥ ६३-६४ ॥

स्व० भा०—स्थानयमक की निष्पत्ति के लिए वर्णसमुदायों का पाद के आदि, मध्य अथवा अन्त में आना आवश्यक था। अस्थानयमक में यह प्रतिबन्ध नहीं है। पहले कहा जा चुका है कि चतुष्पाद व्यपेत यमक के आद्यन्त तथा आदिमध्यान्त भेद करने पर स्वरूप अस्थानयमक जैसा हो जाता है। अस्थानयमक पादसंधि की दशा में प्रायः हो जाया करता है। यह भी व्यपेत तथा अव्यपेत दो प्रकार का होता है। उसके बाद स्वभेद, अन्यभेद, स्थूल तथा सूक्ष्म ये चार भेद पुनः होते हैं। पादसंधिगत दशा में ये चारो संभव हैं। स्थूल तथा सूक्ष्मभेद पाद और श्लोक दोनों उपभेदों में संभव है।

सजातीय पद की आवृत्ति स्वभेद, विजातीय पद की आवृत्ति अन्यभेद, अनेक वर्णों की एक साथ आवृत्ति स्थूल तथा अनधिकवर्णों की आवृत्ति को सूक्ष्म कहा जाता है। आगे यथावसर इनके उदाहरण दिये जा रहे हैं।

क्रमप्राप्तमस्थानयमकं लक्षयति—नादाविति। आदावेवेत्यादिनियमेन स्थानयमकमुक्तं तदभावे त्वस्थानयमकं भवति। तत्किमाद्यादिस्थानमिदं नाश्रयत एव। नेत्याह—संधौ वेति। संधौ पादसंदंशे एकस्यादिः परस्यान्त इति। नेदं स्थानयमकं तद्धि प्रतिपादं स्थाननियमेन निरूप्यत इत्युक्तप्रायम्। अव्यपेतव्यपेतमिति। द्वाभ्यामप्यन्वीयते। तत्प्रथमं पादश्लोकतया द्विविधमित्याह—पादे श्लोके चेति। पादसंधौ च यद्बध्यते तत्स्वभेदे चान्यभेदे च स्थूलं सूक्ष्मं चेति पूर्वेणापि संबध्यते। बहुवर्णावृत्ति स्थूलम्, अबहुवर्णावृत्ति सूक्ष्मम्॥

अत्र पादे स्थूलाव्यपेतं यथा—

'वीनां वृन्दं चैतत्कूटे समरुति सुतरुणि समरुति सुतरुणि।
चित्तं वा तेन क्रोडेऽस्मिन्सुरमणिगुणरुचि सुरमणि गुणरुचि ॥ १२४ ॥'

अत्र स्थूलेनैवावृत्तिद्वयेन श्लोकपादयोर्व्याप्तत्वादादिमध्यान्तता न संभवतीत्यस्थानयमकमिदं स्थूलाव्यपेतमुच्यते ॥

अस्थान यमक भेदों में पाद में स्थूल अव्यपेत का उदाहरण—

हे सुन्दरि, हवादार, सुन्दर वृक्षों से सुशोभित, यह पर्वतशृङ्ग है जिसपर पक्षियों की झुण्ड समान रूप से कलरव करती है। हे सुन्दरी रमणी, उसके कारण मेरा गुण का लोभी चित्त इस देवमणियों की माला से सुशोभित से इस क्रोड पर मुग्ध हो गया है ॥ १२४ ॥

यहां पर दो स्थूल आवृत्तियों के द्वारा श्लोक के दोनों पादों में व्याप्त हो जाने से आदि, मध्य तथा अन्त का भाव नहीं सम्भव होता है। इसलिये यह अस्थान यमक स्थूल अव्यपेत कहा जाता है।

स्व० भा०—इस श्लोक में प्रथम पाद के अन्त का पद 'समरुति' दूसरे पाद के आदि के पद 'सुतरुणि' को भी लेकर पूरा आठ वर्णों का समुदाय ही आवृत्त हो गया है। इसी प्रकार तृतीय चतुर्थ पाद में 'सुरमणि गुणरुचि' पद भी आवृत्त है। बहुत बड़े वर्णसमुदाय के आवृत्त होने के कारण स्थूलता है। इन वर्णों के तत्काल बाद ही इन्हीं वर्णों की आवृत्ति होने से अव्यपेतता है। चूँकि ये आवृत्तियाँ किसी स्थान की अपेक्षा नहीं रखतीं और एकपाद के अन्त से प्रारम्भ होकर आगे के पूरे पाद में भी व्याप्त हैं, अतः ये अस्थानयमक के अन्तर्गत हैं।

वीनां पक्षिणां वृन्दम्। कूटे शृङ्गे। समरुति मारुतसहिते। सुतरुणि शोभनवृक्षे। कूटविशेषणद्वयमिदम्। समरुति समानकूजिते। सुतरुणीति प्रियासंबोधनम्। वाशब्द इवार्थे। सुरमणीनां देवमणीनां गुणेन दाम्ना रोचते शोभत इति क्विप्। तस्मिन्क्रोडे। सुरमणीति संबोधनम्। गुणेषु रुचिर्यस्य तद्गुणरुचि चित्तम्। अत्र समरुति सुतरुणि सुरमणि गुणरुचीति द्वितीयचतुर्थपादयोर्वर्णाष्टकावृत्तिद्वयमिति पादव्यापकमव्यपेतमुच्यते॥

पाद एव सूक्ष्माऽव्यपेतं यथा—

'स्वस्थः शैले पश्यास्तेऽसौ रुरुरुरुरतिरतितनुतनु मतिमति।
लोको यद्वद्दैत्यानीकं गुरु गुरुमयि मयि तरितरि सतिसति॥ १२ ॥'

अत्र पुनः सूक्ष्मेणावृत्त्यष्टकेन श्लोकपादौ व्याप्ताविति अस्थानय-कमिदं सूक्ष्माऽव्यपेतमुच्यते॥

पाद में ही सूक्ष्म अव्यपेत का उदाहरण—

हे अतिकृशाङ्गी, हे ज्ञानवती, देखो यह रुरु नाम का स्वस्थ मृग पर्वत पर उसी प्रकार अत्यन्त प्रसन्न है जिस प्रकार कि हे शोभने, शुक्र और मय असुर सहित दैत्य सेना को मेरे द्वारा परास्त कर देने पर यह विपुल लोक प्रसन्न होता है॥ १२५॥

यहाँ भी पहले की ही भांति आठ सूक्ष्म आवृत्तियों से श्लोक के दोनों चरण व्याप्त हैं। अतः यह अस्थानयमक है जो सूक्ष्म अव्यपेत कहा जाता है।

स्व० भा०—यहाँ पर कम वर्णों की आवृत्ति है, अतः सूक्ष्मता है। पूरे पाद में आवृत्तियों के अव्यवहित रूप से होने के कारण अव्यपेत अस्थानयमक है।

रुरुर्बहुशृङ्गो मृगः। उरुरतिरुपचितप्रीतिः अतितनुरतिकृशा तनुर्यस्या इति संबोधनह्रस्वः। मतिमति मतिरुचितज्ञानं तद्वतीत्यपि संबोधनम्। पश्येति वाक्यार्थकर्मकम्। गुरु विपुलम्। गुरुः शुक्रः। मयो दैत्यविशेषः। तद्युक्तं तरितरि विजयमाने मयि सति। सतीति संबोधनम्। सती शोभना। यथा मयदैत्यानीकविजये लोकोऽयं सुखमास्ते तथासौ रुरुरिति वाक्यार्थोऽभिमतः। तदिदं वर्णद्वयावृत्त्या सूक्ष्मं न चान्योन्यव्यवहितमव्यवहितमित्यव्यपेतं च भवति। तदेतदेकस्मिन्नपि पादेऽनुक्तद्वयादिपादविकल्पेन च बोद्धव्यम्॥

श्लोके स्थूलाव्यपेतं यथा—

'नगजा न गजा दयिता दयिता विगतं विगतं ललितं ललितम् ।
प्रमदाप्रमदामहता महतामरणं मरणं समयात्समयात् ॥ १२६ ॥'

अत्रावृत्त्यष्टकेन श्लोकोऽपि व्याप्त इत्यस्थानयमकमिदं श्लोके स्थूलाव्यपेतमुच्यते ॥

श्लोक में स्थूल अव्यपेत का उदाहरण—

पर्वत में उत्पन्न प्रिय हाथी भी सुरक्षित न रह सके। पक्षियों का संचरण समाप्त हो गया। विलास नष्ट हो गये। सुन्दरियां रोग से अथवा पलायन से व्यथित की भांति हर्षहीन हो गई। समय के कारण शूरों का विना युद्ध का मरण उपस्थित हुआ ॥ १२६ ॥

यहां आठ आवृत्तियों से श्लोक भी व्याप्त हो गया है इसलिये अस्थानयमक है जो कि श्लोक में स्थूल अव्यपेत कहा जाता है।

नगजाः पर्वतजाः। दयिता वल्लभाः। एवंविधा अपि गजा हस्तिनो न दयिता न रक्षिताः। वीनां हंसप्रभृतीनां पक्षिणां गतं चङ्क्रमणं विगतमपगतम्। ललितं विलसितम्। ललितं भ्रष्टम्। प्रमदा कान्ता। अप्रमदा हर्षशून्या। आसश्चित्तव्यथारूपो रोगस्तेन हता। महतां प्रकर्षशालिनाम्। अरणं सङ्ग्रामवर्जितम्। मरणं विनाशः। समयाद्दैवात्। समयात्संगतमासीत् ॥

श्लोक एव सूक्ष्माव्यपेत यथा—

'विविधधववना नागगर्धद्धनाना-
विवततगगनानानामनवजज्जनाना।
रुरुशशललनाना नावबन्धुन्धुनाना
मम हि हिततनानानानन स्वस्वनाना ॥ १२७ ॥'

अत्र सूक्ष्मतराभिरष्टाविंशत्यावृत्तिभिः श्लोको व्याप्त इत्यस्थानयमकमिदं श्लोके सूक्ष्माव्यपेतमुच्यते ॥

श्लोक में ही सूक्ष्म अव्यपेत का उदाहरण—

कृष्ण बलराम से समुद्र तट का वर्णन करते हैं—इस तट पर अनेक प्रकार के धव के वन हैं। सांपों की इच्छा वाले एकत्र हुये बहुविध पक्षियों से यहां का आकाश व्याप्त है। कल्लोल परम्पराओं से युक्त तथा नमन शून्य है। इसपर अनेक लोग स्नान करते हैं। यह स्त्रीरूपा है। इस तट पर रुरु मृग तथा खरगोशों की कुदानें होती हैं। यह हम दोनों के शत्रुओं का नाश भी करती है। (फिर बलराम जी कहते हैं कि तब तो) यह मेरे हितों का विस्तार करती है और मुखशून्य जो आत्मा है उससे ही यह शब्दायमान है अथवा विना मुख के ही यह अपने शब्द करती है। यह प्राणयुक्त भी है ॥ १२७ ॥

इस छन्द में सूक्ष्मतर अट्ठाइस आवृत्तियों से श्लोक व्याप्त हैं। इसलिये यह अस्थानयमक श्लोक में सूक्ष्म अव्यपेत कहा जाता है।

स्व० भा०—जहां पर अल्पवर्णसंहति की आवृत्ति होती है वहां सूक्ष्मयमक होता है, अतः एक ही वर्ण की आवृत्ति होने पर तो सूक्ष्मतर यमक हुआ। इसीलिये वृत्ति में सूक्ष्मतर पद का प्रयोग किया गया है, उदाहृत श्लोक में आवृत्ति पूरे छन्द में व्याप्त हैं, अतः श्लोक अस्थान सूक्ष्मयमक हुआ। यह श्लोक वामन के काव्यालंकारसूत्र में भी यमक के प्रसङ्ग में प्रयुक्त हुआ है।

बलभद्रं प्रति कृष्णवाक्यं समुद्रतीरभूवर्णनपरम्। विविधानि धवानां तरुभेदानां वनानि यस्यां सा। नागेषु सर्वेषु गर्धेनाभिलापेण बुभुक्षया ऋद्धैः समृद्धैर्नानाविधैर्विभिः पक्षिभिर्विततं व्याप्तं गगनं यस्यां सा। अनामेन अनमनेन मज्जन्तो जना यस्यां सा। बहूदकेत्यर्थः। यद्वा अस्य विष्णोर्नाम निमज्जन्तः। तत्परा इति यावत्। तादृशा जना यस्यां सा। अविद्यमाना नरोऽर्वाचीना मनुष्या यस्यां सा। समासान्तविधेरनित्यत्वात् 'नद्यृतश्च' इति न कप्। यद्वा। अविद्यमान ओ विष्णुर्यस्यां सा। यद्वा। अनामनि विष्णुनामनि मज्जद्भ्यस्तत्परेभ्यो जातं नानं यस्यां सा। नं ज्ञानम्। तत्त्वज्ञानमिति यावत्। न नं अनं न अनं नानम्। रुरूणां शशानां च ललनं क्रीडनं यत्र सा। नौ आवयोरबन्धुं वैरिणं धुनाना नाशयन्ती हि निश्चितं मम हितं तनोति सा। अविद्यमानमाननं मुखं यस्य सः। मुखं विनैव जायमान इत्यर्थः। ईदृशो यः स्वस्वनः शब्दस्तत्र अनाः प्राणा यस्यां सा। उदकशब्दवतीत्यर्थः॥

विविधेति। विविधानि धववनानि यस्यां सा तथा। धवः विटूखदिरः। नागान् सर्पान् हस्तिनो वा गृध्यन्त्यभिलपन्तीति नागगर्धाः। अर्द्धा उपचिता नानावयो विचित्राः पक्षिणस्तैर्चिततं व्याप्तं गगनं यस्यां सा तथा। कल्लोलपरम्पराभिरनामं नमनशून्यम्। मज्जन्तः स्नान्तो जना यस्यां सा। अना स्वारूपा। रुरूणां शशानां च ललनमुत्फालो यस्यां सा तथाभूता। नौ आवयोरबन्धुं शत्रुं धुनाना क्षिपन्ती। हरिप्रबोधे बलभद्रस्य कृष्णं प्रत्युक्तिः। यस्मान्मम हिततना हितं तनोति। अनाननो मुखशून्यः यः स्व आत्मा तेन स्वनाना शब्दायमाना। शीले चानश्। 'अनित्यमागमशासनम्' इति मुगभावः। यदि वा अनाननो मुखं विना कृतः स्वकीयः स्वना यस्याः सा। अनितीत्यना प्राणयुक्ता। अन्तर्णीतेवार्थं चैतत्। वर्णद्वयपर्यन्तमावृत्तिः सूक्ष्मता। सैवैकवर्णगोचरा सूक्ष्मतरा॥

पादसंधावन्यभेदोच्छेदेन स्थूलं यथा—

'उपोढरागाप्यबला मदेन सा मदेनसा मन्युरसेन योजिता।
न योजितात्मानमनङ्गतापितां गतापि तापाय ममास नेयते॥ १२८॥'

अत्रान्तादिसंदंशादव्यपेतं प्रवर्तते। व्यपेतं तु पादसंधिषु निवर्तत इत्यस्थानयमकमिदं स्थूलावृत्तेः, संधिस्थूलाव्यपेतमुच्यते॥

पाद संधि में अन्यभेद का उच्छेद कर देने से स्थूल का उदाहरण—

मद्यपान अथवा यौवनमद से रति की अभिलाषिणी होकर भी वह अबला मेरे ही दोष से कुपित हो गई, अतः कामाकुल होकर भी उसने मेरे पास आना नहीं चाहा। क्या यही मेरे इस महान् सन्ताप का कारण नहीं है॥ १२८॥

यहां श्लोक में अन्त तथा आदि पदों के सम्बन्ध से अव्यपेत हो जाता है। व्यपेत यमक तो पादसन्धि में सम्पन्न होता है। अतः यहां स्थूल आवृत्ति होने से अस्थानयमक है। ('निवर्तते' पाठ होने पर अर्थ होगा कि "व्यपेत भाव पादों में सन्धि करने से समाप्त हो जाता है, अतः स्थूल आवृत्ति होने के कारण अस्थानयमक हुआ" यही पाठ शुद्ध भी लगता है)। सन्धिगत स्थूल आवृत्ति को अव्यपेत कहा जाता है।

स्व० भा०—प्रस्तुत पद्य में 'मदेन सा मदेनसा' तथा 'ङ्गतापितां गतापि ता' तथा 'न योजिता नयोजिता' में आवृत्तियां हैं। 'मदेन सा' तथा—'न योजिता' क्रमशः प्रथम तथा द्वितीय पादों के अन्तिम वर्णसमुदाय हैं जो द्वितीय तथा तृतीय पदों के आदि में पुनः आये हैं। पूरे चार-चार वर्णों की आवृत्ति होने से स्थूलयमक है। किसी विजातीय वर्ण का व्यवधान न होने से

अव्यपेत भाव भी है। केवल 'मदेन' और 'योजिता' पदों तथा इनके आवृत्त रूपों के मध्य में क्रमशः 'सा' तथा 'न' इन दो विजातीय वर्णों का व्यवधान मानने पर व्यपेतभाव की संभावना होती है। इसी प्रकार पूर्व की स्थिति मानने पर भी प्रत्येक पाद की पूर्ति होने पर अन्त में पढ़ते समय विराम होता है, एक अल्पकालिक यति होती है। यति का व्यवधान होने पर भी व्यपेत की स्थिति सिद्ध हो जाती है। किन्तु ये दोनों तर्क निर्मूल हो जाते हैं क्योंकि जब अनेक वर्णों की आवृत्ति एक साथ दृष्टिगोचर हो रही है, तब अल्पवर्णों की ही आवृत्ति करना अनुचित है। दूसरी बात यह है कि पादसंधि के समय पढ़ने में दिया जाने वाला विराम व्यवधान नहीं होता। वस्तुतः वर्णों का ही व्यवधान यहां स्वीकार्य है, पठिति का नहीं। अतः पादसंधियों में होने वाली स्थूल आवृत्ति सम्भव होने पर अव्यपेत ही रखनी चाहिये। इन दशाओं में जो अन्यभेद था—विजातीय वर्णों का व्यवधान था, उसका परित्याग कर दिया गया है। इस परित्याग के परिणामस्वरूप ही स्थूल यमक यहां सिद्ध हो सका।

आचार्य दण्डी ने ऐसी अवस्थाओं में सन्दष्टयमक माना है। इनके अनुसार—

सन्दष्टयमकस्थानमन्तादी पादयोर्द्वयोः।
उक्तान्तर्गतमप्येतत् स्वातन्त्र्येणात्र कीर्त्यते ॥ ३।५१ ॥

वस्तुतः इनका पादचतुष्टयगत व्यपेत आद्यन्त नामक यमक के ही रूप में है अन्तर्भूत हो जाता है तथापि प्राचीन आचार्यों के द्वारा इसका संदष्टनाम लिए जाने से दण्डी ने इसे भी अलग से गिना दिया है। रुद्रट ने संदष्टयमक स्वीकार किया है किन्तु भामह ने नहीं। (द्रष्टव्य काव्यालंकार २।१०॥)

पादसंधाविति। 'स्वभेदे चान्यभेदे च' इत्यत्र व्यपेताव्यपेतयोः स्वत्वमन्यत्वं च व्याख्येयं प्रकरणात्। तत्वे प्रसङ्गे च यथासंभवं सप्तमी योजनीया। मदेन प्राप्तरागापि तत एव मन्मथोन्मादेन तापिता उत्तापं गतापि यदात्मानमबला न योजितवती तन्नूनं मदेनसा मदीयदुरितेन भूयोऽपि मानरसं प्रापिता स्यात्। अत एवेयत्ते वक्तुमशक्याय संतापाय नासेति काक्वा तापप्रकर्षभणनम्। योजितेति। योजयतेर्गत्यर्थत्वमाश्रित्य कर्तरि क्तः। 'गत्यर्थाकर्मक-' इत्यादौ चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद्वा। अत्र प्रथमद्वितीययोस्तृतीयचतुर्थयोश्चान्तरतो विच्छिद्य पाठे क्रियमाणे संधिषु व्यपेतप्रसङ्गः स्यात्। निरन्तरपठितौ तु स निवर्तते। यथैव च वृत्तौचितीवशात्सौभाग्यमुन्मिषति, तेन व्यपेतबाधादव्यपेतपुरस्कारस्तदिदमाह—अत्रेत्यादि। संदंशः संधानम् ॥

अन्यभेदानुच्छेदन सूक्ष्मं यथा—

'मतां धुनानारमतामकामतामतापलब्धाग्रिमतानुलोमता।
मतावयत्युत्तमताविलोमतामताम्यतस्ते समता न वामता ॥ १२६ ॥'

अत्र व्यपेनानुच्छेदेनैव पादसंधिष्वव्यपेतमुत्पद्यते इत्यस्थानयमकमिदं सूक्ष्मावृत्तेः संधिसूक्ष्माव्यपेतमुच्यते ॥

अन्यभेद अर्थात् विजातीय व्यवधान का उच्छेद न करने पर भी होने वाला सूक्ष्म यमक—एक कवि किसी राजा की प्रशंसा करता है कि कभी भी ग्लानि को नहीं प्राप्त करने वाली आपकी बुद्धि में समता—सर्वभूतमैत्री ही मान्य है। विषमता आपको अभिमत नहीं। इस समता को अपकृष्टता—उत्तमभाव की विपरीतता—कभी नहीं प्राप्त हुई। यह क्लेशहीनता, श्रेष्ठता तथा अनुकूलता पा चुकी है। आत्मारामयोगी भी अकामता को छोड़कर स्पृहा करते हैं ॥ १२९ ॥

यहां व्यपेतता का विना परित्याग किये ही पादसंधियों में अव्यपेतता उत्पन्न हो जाती है। अतः सूक्ष्म आवृत्ति के कारण होने वाला अस्थानयमक है। यह संधिगत सूक्ष्म अव्यपेत कहा जाता है।

स्व० भा०—इस पद्य में 'मता' की अनेक आवृत्तियाँ हुई हैं। ये आवृत्तियाँ पाद के आदि मध्य और अन्त में हैं। आदि तथा मध्य आवृत्ति के बीच में विजातीय पदों का ग्रहण है उनका उच्छेद नहीं किया गया है। यही दशा मध्य तथा अन्त्य आवृत्तियों की भी है। ऐसी अवस्था में व्यपेतयमक हुआ। इस व्यपेत के होने पर भी पाद सन्धि के स्थानों पर—प्रथम पाद के अन्त तथा द्वितीय के आदि, द्वितीय के अन्त तथा तृतीय के आदि और तृतीय के अन्त तथा चतुर्थ के आदि में—'मता' का प्रयोग होने से व्यवधान समाप्त हो गया है। यहाँ पर व्यपेत के होने पर भी सन्धिगत अव्यपेतयमक और केवल दो वर्णों की संहति की आवृत्ति के कारण सूक्ष्मयमक है। संधिगतयमक अस्थानयमक होता है। अतः सब मिलाकर इस श्लोक में संधिसूक्ष्म अव्यपेत-यमक है।

मतां संमतामारमतां योगिनामकामतां वीतरागतां धुनानाधःकुर्वाणा। अतापो-ऽनायासस्तेन लब्धेऽग्रिमतानुलोमते श्रेष्ठतानुकूल्ये यया सा। अत एवोत्तमताया विलोम-तामतिरेकमयती न गच्छन्ती ईदृशी तवातास्यतः संसारखेदेनाबाध्यमानस्य मतौ समता न तु वामता वैपरीत्यमिति। अत्र प्रतिपादमादिमध्यान्तेषु व्यपेतयमकमुपलभ्यते। संधिषु च संदंशपाठादस्थानयमकव्यपेतं च। न च पूर्वोपलब्धं बाध्यते। न वा संधौ विरति-रिति प्रसङ्गः संगच्छते। तेन व्यपेतानुच्छेदकमेतदव्यपेतम्। अत्रापि वृत्तौचिती सर्वस्वायते॥

स्वभेदे पूर्वभेदानुच्छेदेन स्थूलं यथा—

'सतमाः सतमालो यः पारापारायतः स दावोऽदावः।
लोकालोकानुकृतिः सह्यः सह्ययमनभ्रकूटैः कूटैः॥ १३०॥'

अत्र विषमपादयोः समपादावन्तेऽवतिष्ठमानावादियमकाद्यन्तयमकयोरा-दिमध्यान्तयमकतामापादयतः। पारापारेति सह्यः सह्यः इत्यावृत्ती स्थले एवा-दिमध्ययमकव्यपदेशं च लभेते इत्यस्थानयमकमिदम्। स्वभेदे पूर्वभेदानुच्छेदि स्थूलाव्यपेतमुच्यते॥

स्वभेद में पूर्वभेद का त्याग न करने से होनेवाले स्थूल का उदाहरण—

"पारा नदी के पार जो अत्यन्त विस्तृत, तमालवृक्षों से परिपूर्ण, सघन होने से अन्धकारमय वन है वह दावाग्नि से रहित है।" "यही चक्रवाल नामक पर्वत के सदृश सह्य पर्वत है जो मेघ-खण्डों से रहित शृङ्गों से युक्त है"॥ १३०॥

इस श्लोक के विषम (अर्थात् प्रथम एवं तृतीय) पादों में (आदि में) तथा समपाद (द्वितीय और चतुर्थ) में (अन्त में स्थित क्रमशः आदियमक तथा आद्यन्तयमक है। यह सब) अन्त तथा आदि में आने वाली आवृत्तियों के कारण यहाँ आदि, मध्य और अन्त में यमक हो जाने से आदिमध्यान्तयमकता आती है। यहां 'पारापारा' तथा 'सह्यः सह्य' ये दोनों आवृत्तियां स्थूल ही हैं जो आदि और मध्ययमक का नाम ग्रहण करती हैं। अतः यहां अस्थानयमक है। यहां स्वभेद में भी पूर्वभेदों का परित्याग न करने वाला स्थूल अव्यपेत कहा जाता है।

स्व० भा०—इस श्लोक के चारो चरणों में यमक है। प्रथम में 'सतमा' 'सतमाः' की आवृत्ति

प्रारम्भ में हुई है। अतः उसमें आदियमक हैं। यही दशा तृतीय पाद में भी 'लोकालोका' में है। द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में 'पारापारा', 'दावोऽदावः' तथा 'सह्यः सह्य' और 'कूटैः कूटैः' में भी यमक है। प्रथम तथा तृतीय में जो आदियमक है, वह व्यवहित है। इसी प्रकार द्वितीय तथा चतुर्थ पादों में भी हो रहे आद्यन्तयमक एक दूसरे से काफी दूर पड़ते हैं। इसलिये ग्रन्थकार को इनमें व्यपेतता अभीष्ट है। इस व्यपेतता का उच्छेद न करने पर भी पूरे छन्द को ध्यान में रखकर विचार करने से द्वितीय तथा चतुर्थ पाद का आदियमक मध्ययमकता की कोटि में आ जाता है। मध्य में न होने पर भी, मध्य में सिद्ध हो जाने से अस्थानयमक हो गया। जहाँ-जहां आवृत्तियां हुई हैं, सर्वत्र दोनों में व्यवधान किसी भी पद का नहीं है। अतः अव्यपेत भेद हुआ। यहां स्वभेद में भी पूर्वभेद का उच्छेद न होने से स्थूल अव्यपेत है। वस्तुतः अव्यपेत में पूर्वभेद व्यपेत का अनुच्छेद करने से स्थूलभाव हुआ है।

सतमेति। तमोऽत्र गहनता तया सतमाः सान्धकारम्। पारा नाम नदी तस्याः पारे आयतो विस्तीर्णो दावो वनं तद्बहुलत्वाद्दावो वनवह्निप्रभावरहितो लोकालोकश्चक्रवाकाख्यः पर्वतस्तदनुकृतिस्तत्सदृशो यः सोऽयं सह्यनामा गिरिरभ्रकूटशून्यैः कूटैः शृङ्गैर्लक्षितः। हिशब्दो वाक्यालंकारे। अत्र प्रथमतृतीययोरादौ द्वितीयचतुर्थयोराद्यन्तयोर्व्यपेतयमकमेव वर्तते। तदनुच्छेदेनैव संदंशपाठादियमकयोराद्यन्तयमकयोश्चाव्यपेतादिमध्यान्तयमकता प्रकाशते। यतो द्वितीयचतुर्थपादयोरादिमध्यान्तयमकमेव मध्ययमकभूमिकामवगाहते। अत्रापि वृत्तौचिती गवेषणीया। तदेतद्विवरणे व्यक्तमेवेति॥

तदेव स्वान्यभेदोच्छेदि सूक्ष्मं यथा—

'सनाकवनितं नितम्बरुचिरं चिरं सुनिनदैर्नदैर्वृतममुम्।
महाफणवतोऽवतो रसपरा परास्तवसुधा सुधाधिवसति॥ १३१॥'

अत्र पादान्तादिषु व्यपेतं यदा मध्येष्वव्यपेतं तदुभयमपि पादान्तादसंहितायामव्यपेतमभिन्नजातीयं जायते। न च प्राचीनां मध्ययमकतां जहातीत्यस्थानयमकमिदं सूक्ष्मावृत्तेरन्यतो भेदेन स्वभेदानुच्छेदि सूक्ष्माव्यपेतमुच्यते। उभयमपि चैतदेवंविधेष्वेव छन्दःसु द्रष्टव्यम्॥

पादसंधि में ही अव्यपेत का स्वभेद तथा अन्य भेदों का उच्छेद करने वाले सूक्ष्म का उदाहरण सुररमणियों से संयुक्त, सुन्दर मध्यभागवाले, मधुर कलकल नादयुक्त नदों से घिरे हुये, इस हिमालय पर पाताल के रक्षक वासुकी को अत्यन्त प्रिय तथा समस्त स्वादों को फीका करने वाली सुधा का वास है॥ १३१॥

इस श्लोक में पाद के अन्त आदि स्थलों पर व्यपेत तथा मध्य में अव्यपेत है। यह दोनों ही जब पाद के अन्त तथा आदि को संदष्ट कर दिया जाता है, तब अभिन्नजातीय अव्यपेत हो जाता है। यह अव्यपेत अपनी पुरानी मध्ययमकता को छोड़ता नहीं। इस प्रकार यह अस्थानयमक सूक्ष्म आवृत्ति के कारण दूसरे से भिन्न होने से अपने भेद का उच्छेद न करने वाला सूक्ष्म अव्यपेत कहा जाता है। स्थूल तथा सूक्ष्म भाव के कारण संधियमक इसी प्रकार के छन्दों में देखना चाहिये।

स्व० भा०—उदाहरण के प्रथम पाद में 'नितं नितम्' अव्यपेत है। प्रथम तथा द्वितीय की संधि में विरतिपाठ होने पर 'चिरं चिरम्' में व्यपेत प्रतीत होता है। किन्तु इसे मिला देने पर

व्यपेत भाव समाप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त अव्यपेत तो मध्ययमक है ही। इस प्रकार यह पूरा का पूरा ही अव्यपेत हो जा रहा है।

सनाकेति। नाकवनिताः स्वर्गस्त्रियस्ताभिः सहितम्, यतो नितम्बे स्वच्छन्दविहरणोचिते रुचिरं मनोज्ञम्, सुनिनदैः शोभनशब्दैर्महाफणवान् वासुकिरवतो रसतो रसपरा रसनीयेषु श्रेष्ठा। परास्तवसुधा त्यक्तभूभागा। सुधा पीयूषम्। अत्र प्रतिनादं नितं नितमित्यादिकमव्यपेतम्। संधिषु च विरतिपाठे चिरं चिरमित्यादि व्यपेतं प्रतीयते। तत्र संदंशे क्रियमाणे व्यपेतं निवर्तते। अव्यपेतं तु मध्ययमकमवतिष्ठत एव। तत्सर्वमिदमव्यपेतमेव जायते। अत्रापि वृत्तौचिती पूर्ववदेव शरणमित्युपसंहारे दर्शयति—उभयमपि चैतदिति। स्थूलसूक्ष्मभावेन संधियमकमुभयम्॥

पादे स्थूलव्यपेत यथा—

'अखिद्यतासन्नमुदग्रतापं रविं दधानेऽप्यरविन्दधाने।
भृङ्गावलिर्यस्य तटे निपीतरसा नमत्तामरसा न मत्ता॥ १३२॥'

अत्र मा भूदव्यपेतप्रसङ्ग इत्येकमेवाक्षरं विहाय स्थूलावृत्तिद्वयेन श्लोकपादयोर्व्याप्तत्वादादिमध्यान्तता न सम्भवतीत्यस्थानयमकमिदं स्थूलव्यपेतमुच्यते॥

पाद में स्थूल व्यपेत का उदाहरण—

जिस पर्वत के तट पर आसन्न सूर्य के उदग्रताप धारण करने पर भी भ्रमरसमूहों को कष्ट नहीं हुआ क्योंकि कमलों के निधानभूत उस स्थान पर मकरन्द पान करके वे मस्त हो रहे थे और झुण्ड के झुण्ड बैठने से कमल झुकझुक जाते थे॥ १३२॥

इस श्लोक में कहीं अव्यपेत की प्राप्ति न हो जाये इसलिये एक ही अक्षर को छोड़कर स्थूल दो आवृत्तियों के द्वारा ही श्लोक के दोनों पाद व्याप्त कर लिये गए हैं जिससे आदिमध्यान्तता नहीं संभव हो पाती है। अतः यह अस्थानयमक है जहाँ स्थूलव्यपेत कहा जाता है।

स्व० भा०—वस्तुतः द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में क्रमशः "व्य" तथा 'म' को छोड़कर आवृत्त वर्णराशियों से ही बने हैं। बीच में एकएक वर्ण का व्यवधान देकर यहां अव्यपेतता सिद्ध की गई है। पांच-पांच वर्णराशियों की आवृत्ति होने से स्थूलता भी है। अतः स्थूलव्यपेतता तो सिद्ध हो चुकी। जहां तक यहां अस्थानपदता का प्रश्न है वह भी स्पष्ट ही है। यहां पादसंधि तो हैं नहीं। सीधे पाद में आये वर्णों के समूह की ही आवृत्ति है। इन वर्णसमूहों को न तो पाद का आदि कहा जा सकता हैं, न मध्य और न अन्त ही। स्थान निर्णय न हो पाने से यहां अस्थानयमकता भी सिद्ध होती है। यदि एक एक वर्णों का व्यवधान दोनों पदों में न दे दिया गया होता तो यहां व्यपेतयमक संभव न होता। उनके प्रयोग का उद्देश्य ही यह है कि दोनों खण्ड पृथक्-पृथक् हो जायें। अतः यहां अस्थान स्थूलव्यपेत का उदाहरण है।

अखिद्यतेति। यस्य गिरेस्तटे रविमादित्यमुदग्रतापं दधानेऽपि भृङ्गावलिर्भ्रमरमाला नाखिद्यत। यतोऽरविन्दधाने पद्मानां निधानभूते निपीतरसा आस्वादितमकरन्दा। अत एव मत्ता नमन्ति तामरसानि यस्याः सकाशात्सा तथा। भरनमितपद्मकुहरप्रवेशान्मधुरससेवया च भ्रमरमालया खेदो नाधिगतः। अत्र द्वितीयचतुर्थपादयोः 'रविं दधाने रविन्दधाने' इति, 'रसा नमत्ता रसा न मत्ता' इति द्वाभ्यामेव वृत्तिभ्यां व्याप्तत्वादाद्यादिविभागासंभवे अस्थानयमकमेवेदम्। व्यपेतं तु कथं भवतीत्यत आह—मा भूदिति॥

पाद एव सूक्ष्मव्यपेतं यथा—

'करेणुः प्रस्थितोऽनेको रेणुर्घण्टाः सहस्रशः ।
करेऽणुः शीकरो जज्ञे रेणुस्तेन शमं ययौ ॥ १३३ ॥'

अत्र विषमपादयोः करेणुः करेऽणुरित्यादावावृत्तम् । समपादयोस्तु रेणु· रेणुरिति । तत्तु स्वापेक्षया न मध्यमन्यापेक्षया नादिरित्यस्थानयमकमिदं सूक्ष्म· व्यपेतमुच्यते ॥

पाद में ही सूक्ष्मव्यपेत का उदाहरण—

अनेक हाथी चल पड़े और हजारों घण्टे बज उठे । स्थूल शुण्डों से छोटे-छोटे जल कण निकले और उनसे धूलि शान्त हो गई ॥ १३३ ॥

यहां विषम चरणों—प्रथम तथा तृतीय में 'करेणु' पद की 'करेऽणु' में आवृत्ति हुई है जब कि समपाद—द्वितीय तथा चतुर्थ—में 'रेणु' 'रेणु' पदों में । यह (दूसरी बार होने वाली) आवृत्ति अपनी दृष्टि में मध्यम नहीं है और दूसरों की अपेक्षा (करेणु आदि) आदि नहीं हैं । अतः यह अस्थानयमक है जो सूक्ष्मव्यपेत कहा जाता है ।

स्व० भा०—उदाहृत श्लोक में प्रथम तथा तृतीय पादों में 'करेणु' पद की आवृत्ति है तथा द्वितीय और चतुर्थ पादों में 'रेणु' पद की । सामान्यतः देखने से यहां स्थानयमक की प्रतीति होती है क्योंकि 'करेणुः' प्रथम तथा तृतीय पादों के आदि में आवृत्त हैं, तथा द्वितीय और चतुर्थ के आदि में 'रेणुः' । किन्तु केवल 'रेणु' पद का ग्रहण करने पर और प्रथम तथा तृतीय चरणों में आदि वर्ण ककार का परित्याग कर देने पर द्वितीय तथा चतुर्थ पाद के 'रेणु' पदों का स्थान मध्यम सिद्ध होता है । अपनी दृष्टि में वह चरण के आदि में आने से आदियमक है । कई दृष्टियों के सम्भव होने से उसका स्थान निर्णय संदिग्ध ही रह जाता है । अतः यहां अस्थानयमक समझना चाहिये । मात्र दो वर्णों की आवृत्ति होने से सूक्ष्मता तथा दूर-दूर होने से व्यपेतता सिद्ध ही है ।

करेति । करेणुर्हस्ती प्रस्थितश्चलितस्तेन घण्टा रेणुरशब्दायन्त । सहस्रश इति क्रिया· विशेषणम् । स्थूलहस्तेऽणुः सीत्कारविकीर्णतया परमाणुसाद् भूतः । तेन शीकरं । ननु विषमपादयोराद्यक्षरेण विनाकरणेन मध्ये समपादयोः पुनरादावेव रेणुरित्यावृत्तिरस्ति तत्कथमस्थानयमकमिदमित्यत आह—तत्त्विति । अन्तो वृत्तैरसंभावितत्वादादौ मध्ये वा सा वाच्या । न चेयमपि संभवति । रेणुरेणुरिति शब्दभागमपेक्ष्य प्रवृत्तायामावृत्तौ तद्विरहात् ॥

श्लोके स्थूलव्यपेतं यथा—

'जयन्ति ते सदा देहं नमस्यन्ति जयन्ति ते ।
भवान्यतो नमस्यन्ति सदादेहं भवान्यतः ॥ १३४ ॥'

अत्र स्थूलव्यपेतावृत्तिचतुष्टयेन श्लोकोऽपि व्याप्त इत्यादिमध्यान्ताभावाद· स्थानयमकमिदं स्थूलव्यपेतमुच्यते ॥

श्लोक में स्थूल व्यपेत का उदाहरण—

हे देवि जयन्ति, वे सर्वोत्कृष्ट हैं जो सदा तुम्हारे विग्रह को प्रणाम किया करते हैं, क्योंकि वे ही परमेश्वर से भेदरहित होकर श्रेयस्कर पदार्थों के ग्रहण की इच्छा से (सद् + आ + दा + ईहम्) संसारसरणि का उच्छेद करते हैं ॥ १३४ ॥

यहां पर स्थूल व्यपेत की चार आवृत्तियों द्वारा श्लोक ही व्याप्त कर लिया गया है, अतः आदि, मध्य और अन्त का अभाव होने से यहां अस्थानयमक है। यह स्थूल व्यपेत कहा जाता है।

स्व० भा०—प्रस्तुत श्लोक में 'जयन्ति ते' का प्रथम तथा द्वितीय पादों के आदि और अन्त में, 'सदादेहम्' का प्रथम तथा चतुर्थ पादों में अन्त और आदि में, 'नमस्यन्ति' का द्वितीय तथा तृतीय के आदि और अन्त में तथा 'भवान्यतः' का तृतीय और चतुर्थ पादों के आदि तथा अन्त में स्थूल आवर्तन हुआ है। अनेक वर्णों के पद होने से यहां स्थूलता है। व्यवहित होने से व्यपेतता भी है ही। सम्पूर्ण श्लोक का उत्तरार्ध केवल चार पदों से तथा पूर्वार्ध भी कुछ आवृत्तियों से इस प्रकार बंधा हुआ है कि आद्यन्तता आदि नहीं सिद्ध की जा सकती। स्थान निर्णय न हो पाने से यहां अस्थानयमकता है।

हे जयन्ति, ये तव देहं दुर्गातारादिरूपेण प्रपञ्चमानां मूर्तिं सदा नमस्यन्ति ते जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते। यतस्त एव भवान्संसारसरणिमस्यन्ति क्षिपन्ति। भ वास्परमेश्वरात् अन्यता भेदस्तेनोनमतः श्रेयस आदानं ग्रहणं यत्र तादृशी ईहा चेष्टा यत्रेति द्वयमसनक्रियाविशेषणम्। अत्र जयन्ति ते इति प्रथमद्वितीययोराद्यन्तौ सदादेहमिति प्रथमचतुर्थयोरन्तादी नमस्यन्तीति द्वितीयतृतीययोर्भवान्यत इति च तृतीयचतुर्थयोराद्यन्तौ च स्थूलावृत्त्या व्याप्ताविति अनावृत्तभागाभावाच्छ्लोके स्थूलव्यपेतमस्थानयमकमिदम्॥

श्लोके एव सूक्ष्मव्यपेतं यथा—

'यामानीतानीतायामा लोकाधाराधीरालोका।
सेनासन्नासन्ना सेनासारं हत्वाह त्वा सारम्॥ १३५॥'

अत्र यद्यपि यामायामेत्यादौ व्यपेतमाद्यन्तयमकं नीतानीतेत्यादौ च मध्ययमकमव्यपेतं विद्यते, तथापि मण्डूकप्लुत्या गतप्रत्यागतेर्यतेश्च नैतदुल्लिखति अपि तु श्लोकोऽपि द्वाभ्यां द्वाभ्यामक्षराभ्यां सूक्ष्मवृत्त्या व्याप्त इव लक्ष्यते। तेनास्थानयमकमिदमादिमध्यान्तानामभावात्सूक्ष्मावृत्तेः सूक्ष्मव्यपेतमुच्यते॥

श्लोक में ही सूक्ष्म व्यपेत का उदाहरण—

कोई दूत अपनी सेना का सन्देश राजा के कहता है कि "जो मनस्वियों द्वारा अधिष्ठित है (अत्यधिक विस्तार के कारण) जिसकी सीमा विस्तृत हो गई है, जो शत्रुओं को मनोव्यथा प्रदान करती है, जो निर्भय होकर अवलोकन करती है, सेनापति के साथ जो उत्साहित है वह सेना शत्रुसमुदाय को मारकर आप से सच-सच बात कह रही है"॥ १३५॥

यहां यद्यपि 'यामा' 'यामा' आदि में व्यपेत आद्यन्तयमक तथा 'नीता' 'नीता' आदि में मध्ययमक अव्यपेत है, फिर भी मण्डूकप्लुति न्याय से गतप्रत्यागति के कारण—पूर्वनिरूपित का पुनः ग्रहण होने से—तथा यति के कारण यह उचित नहीं लगता। बल्कि श्लोक ही दो-दो अक्षरों से सूक्ष्मरूप से व्याप्त सा दृष्टिगोचर होता है। इसलिये यह अस्थानयमक है जिसमें आदि, मध्य तथा अन्त भाव का अभाव है। यही सूक्ष्म आवृत्ति के कारण सूक्ष्मव्यपेत कहा जाता है।

स्व० भा०—यह श्लोक रुद्रट के काव्यालङ्कार (३।४७) में काञ्चीयमक के उदाहरण के रूप में दिया गया है। वहां भी परिस्थितियां तो भोज जैसी ही स्वीकार की गई हैं, किन्तु नाम भिन्न कर दिया गया है।

भोज के मतानुसार उद्धृत श्लोक में अस्थान सूक्ष्म व्यपेत है। वस्तुतः पूरे छन्द के चारों

चरणों के आदि-अन्त में व्यपेत तथा मध्य में अव्यपेतयमक है। किन्तु जो आदि-अन्त की आवृत्तियां हैं वे मण्डूकप्लुतिन्याय से हैं। अर्थात् जिस प्रकार एक मेढक अपनी जगह से कूदकर कहीं आगे छलांग लगा जाता है और बीच में पड़ने वाली चीजों को देखता भी नहीं, उसी प्रकार से एक वर्ण, पद, सूत्र अथवा नियम के एक प्रवृत्त होकर रुक जाने पर और व्यवधान देकर पुनः अप्रत्याशित रूप से उपस्थित हो जाने पर यह न्याय प्रवृत्त माना जाता है। यही गतप्रत्यागतत्व भी है। जो बात बीत गई है उसका पुनः ग्रहण करना गतप्रत्यागति है। अतः यदि इसी न्याय के अनुसार दोनों 'यामा' आदि को एक साथ रखा जाये तो मध्ययमकता भग्न हो जायेगी, साथ ही व्यपेत आद्यन्तता भी समाप्त हो जायेगी। ऐसी दशा में किसी का स्थान पूर्णतः निश्चित न होने से अस्थान यमकता ही सिद्ध होती है साथ ही मध्ययमक का अव्यपेतभाव भी नहीं रह पाता। यह जैसा है वैसा ही मानकर चलने से व्यपेतता ही सिद्ध होती है। जहां तक मध्ययमक में अव्यपेतता का प्रश्न है, वह भी समाहित हो जाता है, क्योंकि पठिति के कारण यति हो जाने से मध्यवर्ती दोनों अव्यपेत पदों में दूरी का भाव आ जाता है। इस उदाहरण में विद्युन्माला छन्द है जिसका लक्षण है—"मोमो गोगो विद्युन्माला" इसमें चार वर्णों पर यति होती है। ये यतियां प्रत्येक पाद में चारवर्णों के बाद होने पर मध्ययमक को समाप्त कर देती हैं। अतः यहां दो-दो वर्णों की आवृत्ति के कारण, बीच में यति पड़ने के कारण सूक्ष्म अव्यपेतयमक है।

यामेति। मानिभिरिता संगता। यद्वा यामेन प्रहरमात्रेणानीता प्रापिता। शत्रूक्षिप्ते-त्यर्थः। आनीतः प्रापित आयामो वृद्धिर्यस्याः सा तथा। पालनेन लोकानामाधिमीरयति क्षिपतीति लोकाधीराधीरैरप्राप्तसमरसंभ्रमैरालोक्यत इति धीरालोका। सह इना सेनान्या वर्तत इति सेना, असन्ना अवसादरहिता एवंभूता या सेना सा आसन्ना निकटवर्तिनी सती आरमरिसमूहं हत्वा स्वा स्वां सारं कार्यसिद्धिं आह ब्रवीति। ननु यामा यामा, लोकालोकेत्यादिकमाद्यन्तयोर्नीतानीतेत्यादिकं तु पदचतुष्टयस्यापि मध्य इति व्यपेतम्, आद्यन्तव्यपेतयमकं तु मध्ययमकमिति स्थानयमकमेवेदम्। संकरोऽपि न पृथग् यमकतां प्रयोजयतीत्यत आह—अत्र यद्यपीति। यामेत्यादिकमादावनुसंधाय वर्णचतुष्कव्यवधिना पादान्तेऽनुसंधीयमानं मण्डूकप्लुतिं प्रयोजयतीति न तथा सोल्लेखम्। यामानीतेत्यादि-स्थूलचतुष्कप्रत्यागतेन नीतायामेत्यादिनात्यन्तमुद्भटेन यमकच्छाया तिरोधीयत इति च न सोल्लेखम्। मध्यादिकमव्यपेतं सोल्लेखमित्यपि न वाच्यम्। यामानीतेत्यादिबन्ध-च्छायार्थकयतिकरणेनानुल्लेखत्वात्। श्लोकस्तु द्वाभ्यां द्वाभ्यामावृत्तिभ्यां व्याप्त इति समुदायसोल्लेखतैव। तदिदमुक्तं मण्डूकप्लुत्या गतप्रत्यागतेर्यतेश्चेति मध्ये यतिकृतो व्यवायो बोद्धव्यः। अत्रापि वृत्तौचित्यमनुसरणीयम्॥

पादसंधौ स्थूलव्यपेतं यथा—

'हठपीतमहाराष्ट्रीदशनच्छदपाटला।
पाटलाकलिकानेकैरकैका लिलिहेऽलिभिः॥ १३६॥'

अत्रापि प्राग्वदेव यतिविच्छेदात्पूर्वोत्तरार्धयोरसंहितायां पाटला पाटलेत्या-वृत्तेर्नाव्यपेतयमकत्वम्। न चैतत्पादयोरादावन्ते वा शक्यते वक्तुम्। अपि त्वेकस्यादावन्यस्य चान्त्यस्थाने यमकमिदं स्थूलावृत्तेः स्थूलव्यपेतमुच्यते। न चैतद्वाच्यमुपोढरागेत्यादौ काञ्चीयमकेऽप्ययं न्याय इति। तस्यैव तथाभूत-लक्षणत्वात्॥

पाद संधि में स्थूल व्यपेत का उदाहरण—

हठ पूर्वक पिये गए महाराष्ट्रीय सुन्दरी के अधरों के सदृश अरुणाभ एक ही गुलाब की कली का अनेक भ्रमरों ने चुम्बन किया ॥ १३६ ॥

यहाँ पर भी पहले की भाँति ही यति के कारण विच्छेद होने से छन्द के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध इन दोनों में संहिता संभव न होने से 'पाटला पाटला' इस प्रकार की आवृत्ति की अव्यपेतता नहीं सिद्ध होती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह पाद के आदि या अन्त में है। बल्कि एक के आदि में तथा दूसरे के अन्त्यस्थान में होने से यह यमक स्थूल आवृत्ति के कारण स्थूल-व्यपेत कहा जाता है। यहाँ यह नहीं कहना चाहिये कि 'उपोढराग' आदि काञ्चीयमक में भी यही नियम लगेगा, क्योंकि उसका तो वैसा ही लक्षण ही है।

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण में स्थूलता इसलिये हैं, क्योंकि 'पाटला' सदृश अनेक वर्णों का समुदाय आवृत्त हुआ है। यहाँ व्यपेतता है न कि अव्यपेतता। सामान्यतः छन्द की लिखावट देखने से तो दोनों पद नितान्त निकट हैं, किन्तु पढ़ने के ढङ्ग पर बने नियमों के अनुसार दोनों के मध्य में पृथक्कारी तत्त्व यति है। प्रथम 'पाटल' द्वितीय चरण के अन्त में आया है और द्वितीय 'पाटल' तीसरे के आदि में। यहां अनुष्टुप् छन्द है जिसमें आठ-आठ पर विराम—यति—है ही। अतः पूर्वार्ध के पादान्त में आये हुये पद के बाद यति आ ही जाती है। इसका व्यवधान पड़ जाने से यहां व्यपेतता हुई। एक ही छन्द के दो पादों में भी व्यवधान तो होता ही है।

कठिनाई इस बात की है कि उपर्युक्त यति का व्यवधान मानने पर तो काञ्चीयमक में भी एक पाद का अन्त्य अगले पाद के आदि से व्यवहित स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु भोजराज विशेष स्थिति में वहां व्यवधान नहीं मानते, क्योंकि काञ्चीयमक का लक्षण ही है कि उसमें एक पाद का अन्त्य ही अगले पाद के आदि के रूप में आता है रुद्रट ने इसको काञ्चीयमक कहा है और लक्षण दिया है—

मध्यान्यर्धार्धानि तु मध्यं कुर्वन्ति तत्र परिवृत्त्या।
आद्यन्तान्याद्यन्तं काञ्चीयमकं तथैकत्र ॥ काव्यालंकार ३।४४ ॥

दण्डी ने काञ्चीयमक को प्राचीनों द्वारा बतलाया गया संदष्ट यमक कहा है, जब कि उनके अनुसार यह पादचतुष्टयगत व्यपेत आद्यन्त यमक है। फिर भी प्राचीनों की ही बात को परम्परया स्वीकार करके आगे कहते हैं—

संदष्टयमकस्थानमन्तादी पादयोर्द्वयोः।
उक्तान्तर्गतमप्येतत् स्वातन्त्र्येणात्र कीर्त्यते ॥ ३।५१ ॥

इसका उदाहरण भी वह 'उपोढरागा०' आदि ही प्रस्तुत करते हैं।

हठेति। हठपानेन ताम्बूलरागो निःशेषितस्तेन प्राप्तपरभागसहजरागोन्मेषः। व्यवधायकशब्दाभावे कथमिदं व्यपेतमित्यत आह—अत्रापि प्राग्वदिति। ननूपोढरागेत्यादौ पूर्वोदाहृतेऽपि यतिविच्छेदादस्ति व्यवधानात्कोऽस्य विशेष इत्याशङ्क्याह—न चेति।

काञ्चीयमके एवाव्यपेतास्थानयमकभेदे सूक्ष्मव्यपेतं यथा—

'धराधराकारधरा धराभुजां भुजा महीं पातुमहीनविक्रमाः।
क्रमात्सहन्ते सहसा हतारयो रयोद्धुरा धानधुरावलम्बिनः ॥ १३७ ॥'

अत्रान्त्यपादे धुरा धुरेति सूक्ष्मव्यपेतं वर्तते।

काञ्चीयमक में ही अव्यपेत अस्थानयमक द्वारा व्यवधान करने पर सूक्ष्म व्यपेत का उदाहरण—

राजाओं की शेषनाग के सदृश आकार वाली मोटी-मोटी पौरुष पूर्ण, एकाएक शत्रुओं का संहार करने में सक्षम, वेगशालिनी, आश्रितों के लिये यान की धुरी की भांति सारयुक्त भुजायें ही इस पृथ्वी का पालन करने में समर्थ हैं ॥ १३७ ॥

यहाँ अन्तिम पाद में 'धुरा धुरा' में सूक्ष्म व्यपेत है।

स्व० भा०—इस श्लोक में कई प्रकार के यमक हैं। सर्वप्रथम तो पूर्वपूर्व पादों के अन्त्य वर्ण-समूहों के पर-पर पाद के आदि के रूप में आवृत्त होने से काञ्चीयमक है। 'धरा धरा' आदि पदों के बीच में अन्य वर्णों का व्यवधान न होने से अव्यपेतता भी है और सब का स्थान नियत न होने से अस्थानता भी। दो-दो वर्णों के 'धुरा' सदृश पदों की व्यवहित आवृत्ति के कारण सूक्ष्मव्यपेत भी है। दण्डी ने भी काव्यालंकार (३।७२) में इस श्लोक में अनेक भेदोपभेद यमकों के निर्दिष्ट किये हैं। काञ्ची यमक का क्रम चलने पर भी 'धरा-धरा' सदृश अव्यपेत तथा 'मही—मही' आदि अस्थानता होने पर भी यहां 'धुरा धुरा' में सूक्ष्मव्यपेत यमक है। इनके बीच बीच में 'यान' का व्यवधान है।

धराधरः शेषो महीं पातु सहत इत्यन्वयः ॥

स्वभेदान्यभेदयोः स्थूलं सूक्ष्मं च यथा—

'सालं वहन्ती सुरतापनीयं सालं तडिद्भासुरतापनीयम्।
रक्षोभरक्षोभरसत्रिकूटा लङ्काकलङ्काकलिकाद्रिकूटा ॥ १३८ ॥'

अत्र सालं सालमिति स्वभेदे सुरतापनीयं सुरतापनीयमिति स्थूलः। रक्षोभरक्षोभ लङ्काकलङ्केति अन्यभेदे कूटा कूटेति सूक्ष्मव्यपेते भेदो वर्तते। तदिदमस्थानयमकं स्थूलसूक्ष्ममुच्यते ॥

स्वभेद और अन्यभेद अर्थात् सजातीय तथा विजातीय पदों का व्यवधान होने पर भी स्थूल तथा सूक्ष्म का उदाहरण—

पूर्णतः देवताओं को सन्ताप देने वाले प्राकार को धारण करने वाली, विद्युच्छटा की भांति चमकते हुये सोने से बनी हुई, राक्षसगणों के द्वारा किये गये शब्दों से व्याप्त सुवेला वाली, निष्कलुष, कलिहीन, पर्वतशृङ्खलाओं को धारण करती हुई यह लङ्का है ॥ १३८ ॥

यहां 'सालम्', 'सालम्' इन समान वर्णों वाले पदों से व्यवहित 'सुरतापनीयम्' तथा 'सुरतापनीयं' में स्थूलता है। 'रक्षोभरक्षोभ' तथा 'लङ्काकलङ्का' में इन असमान अथवा विजातीय वर्णों का व्यवधान होने से 'कूटा कूटा' पदों में सूक्ष्म व्यपेत हुआ। तो यह अस्थानयमक है जो स्थूल और सूक्ष्म कहा जाता है।

स्व० भा०—जो वर्णसमुदाय एक बार प्रयुक्त हो चुका है वही जब बाद में पुनः आकर व्यवधान उपस्थित करता है, तब उसे स्वभेद-कहते हैं—अपने ही द्वारा किया गया भेद (व्यवधान) कहते हैं। यथा पूर्वार्ध में पूर्वप्रयुक्त 'सालम्' पद ही आकर बीच में प्रथम व्यवधान उपस्थित करता है। उसके पश्चात् 'सुरतापनीयम्' इस अनेक वर्णों के समुदाय की आवृत्ति होती है। इसी प्रकार जब दो भिन्न पदों की आवृत्ति होने से यमक तो सिद्ध होता है, किन्तु वे पद समान नहीं होते, भिन्न वर्णसमुदाय की आवृत्ति होती है, और इनका ही व्यवधान होता है तब अन्य-भेद—दूसरों के द्वारा, असमान के द्वारा किया गया व्यवधान कहते हैं। उत्तरार्ध में 'रक्षोभरक्षोभ' तथा 'लङ्काकलङ्काक' में 'रक्षोभ' तथा 'लङ्काक' वर्णराशि की आवृत्तियां हुई हैं। स्पष्ट है ये दोनों आवृत्तपद असमान हैं—दोनों स्थानों पर विजातीय वर्णों का प्रयोग हुआ है। इन्हीं के पास में

'कूटा' पद की आवृत्ति हुई है जिसके मध्य में 'लङ्काकलङ्काक' यह विजातीय वर्णसमुदाय व्यवधान उपस्थित करता है। पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दोनों का विवेचन करने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम में सूक्ष्म एवं सजातीय यमक के व्यवधान से स्थूलयमक हुआ है, और दूसरे में विजातीय स्थूल यमक के व्यवधान से सूक्ष्म व्यपेत यमक सिद्ध होता है। यहां आवृत्त वर्णों की आदिमध्यान्तता विशेष विचारणीय और महत्त्वपूर्ण नहीं, अतः अस्थानयमक ही है।

सालमिति। सालः प्राकारः। सुराणां तापनं संतापजननं तस्मै हितमलमत्यर्थं सा लङ्का। तपनीयं सुवर्णम्। तापनीयं च तद्धासुरं चेति कर्मधारयः। रक्षसां भरः समूहस्तस्य क्षोभः प्रकर्षजः कोलाहलः। त्रिकूटः सुवेलः। अकलङ्का दोषरहिता। अकलिकानि कलिरहितान्यद्रिकूटानि सुवेलशिखराणि यस्यां सा तथा॥

यत्सूक्ष्मं भागं बह्वावृत्ति तदपि स्थूलसूक्ष्ममेव। यथा—

'मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे॥ १३९॥'

जिस सूक्ष्म भाग की अनेक आवृत्तियाँ होती हैं, वह भी स्थूल-सूक्ष्म ही होता है।

जैसे—मधुर स्वर से गुञ्जार करने वाली भ्रमरियों की मेधा ऋतुराज के कारण खिल उठी; वे माधवीलता का मकरन्द पीने से उद्दीप्त हो गईं, और वे बारम्बार मन को उन्मन करने वाली ध्वनियों से निर्द्वन्द्व होकर गाने लगीं॥ १३९॥

स्व० भा०—यहां 'मधु' पद की अनेक आवृत्तियां हुई हैं जिनमें आद्यन्तता आदि नहीं स्थिर की जा सकती। अतः अस्थानयमक है। 'मधु' इस दो अक्षर के समुदाय की अनेक आवृत्तियां होने से सूक्ष्मता है। अन्तिम चरण में 'निभृत' की आवृत्ति होने से स्थूलता है। किन्तु 'मधु' जो कि सूक्ष्म है, की अनेक आवृत्तियां होने से ऐसा लगता है कि मानो एक बड़ा वर्णसमुदाय ही आवृत्त हो रहा हो और उसी से स्थूलता आ गई हो। यह श्लोक शिशुपालवध (६।२०) का है।

यत्सूक्ष्मं भागमिति। भागशो विविच्यमानं सूक्ष्ममेव, वृत्तिभूयस्तया तु स्थूलमिव प्रथत इति सूक्ष्मेक्षिकयाभिधानम्॥

पादयमक

स्थानास्थानविभागोऽयमव्यपेतव्यपेतयोः।
क्रमेणोक्तस्तयोरेव पादभेदोऽथ कथ्यते॥ ६५॥

यमक के अव्यपेत तथा व्यपेत भेदों के यथाक्रम स्थान और अस्थान भेदों को कहा जा चुका। अब उन्हीं दोनों—अव्यपेत तथा व्यपेत—का पादभेद कहा जा रहा है॥ ६५॥

क्रमप्राप्तमिदानीं पादयमकमुदाहियत इत्याह—स्थानास्थानेति॥

तत्र व्यपेतभेदेषु प्रथमपादयोरावृत्तिर्यथा—

'न मन्दयावर्जितमानसात्मया नमन्दयावर्जितमानसात्मया।
उरस्युपास्तीर्णपयोधरद्वयं मया समालिङ्ग्यत जीवितेश्वरः॥ १४०॥'

इस पादभेद के व्यपेतविभाग में प्रथम दो पादों की आवृत्ति का उदाहरण—

"मन्दबुद्धि वाली, एकत्रित मान वाली, दया से रहित मन तथा आत्मा वाली मैंने पैरों पर पड़ रहे प्राणेश्वर का उनके वक्षस्थल पर अपने दोनों उरोजों को सटा कर प्रगाढ़ आलिंगन नहीं किया, हाय॥ १४०॥" (काव्या० ३।५७)

स्व० भा०—यहां पर प्रथम पाद ही दूसरे पाद के रूप में आवृत्त हुआ है। मध्य में यति हो जाने से व्यपेतभाव स्वीकार किया गया है। इसमें पूरा पाद का पाद ही आवृत्त हो गया है, आद्यन्तता आदि की सिद्धि नहीं होती। अतः यह स्थानयमक नहीं है। यही स्थान तथा पादयमक का भेद भी है।

न मन्देति। मन्दया तत्कालोचितप्रतिपत्तिविधुरया आवर्जितो मान ईर्ष्यारोपलक्षणो यया सा तथा। सात्मा आत्मवती। अनयोः कर्मधारयः। नमन्पादान्ते लुठन्नपि दयावर्जितौ मानसात्मानौ यस्या इति बहुव्रीहेर्डाप्॥

तत्रैव द्वितीयतृतीययोर्यथा—

'दृश्यस्त्वयायं पुरतः पयस्वानानाकलाली रुचिरेण नेत्रा।
नानाकलाली रुचिरेणनेत्रा देवी यदस्मादजनि स्वयं श्रीः॥ १४१॥'

व्यपेत पादयमक में ही द्वितीय तथा तृतीय पादों की आवृत्ति का उदाहरण—

तुम्हारे जैसे मनोहर नायक को सामने स्वर्गतक लहराता हुआ वह समुद्र देखना चाहिये क्योंकि इससे अनेक कलाओं को जानने वाली, सुन्दर मृगसदृश नयनों वाली देवी लक्ष्मी स्वयं उत्पन्न हुई थीं॥ १४१॥

स्व० भा०—यहां पर द्वितीय पाद ही तृतीय पाद के रूप में आवृत्त हुआ है, अतः पादयमक है। यहां काञ्चीयमक सदृश अस्थानयमक की आशंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि उसमें एक पाद का अन्तिम वर्णसमुदाय ही अगले पाद का आदि वर्णसमुदाय होता है। इस उदाहरण में ऐसी बात नहीं है, अतः काञ्चीयमक का प्रसङ्ग समाप्त हो जाता है। यह तब होता जब कि द्वितीय पाद के अन्त का 'नेत्रा' पद तृतीय पाद के प्रारम्भ में भी आवृत्त होता।

आनाकं स्वर्गावधि ललनमुल्लासस्तच्छीलः रुचिरेण मनोहरेण नेत्रा नायकेन नानाकलानां चातुःषष्टिकीनामाली परम्परा। एणनेत्रा हरिणलोचना। द्वयमपि श्रीविशेषणम्॥

एवं तृतीयचतुर्थयोरपि यथा—

'स्मरानलो मानविवर्धितो यः स निर्वृतिं ते किमपाकरोति।
समं ततस्तामरसे क्षणेन समन्ततस्तामरसेक्षणे न॥ १४२॥'

इसी प्रकार तृतीय तथा चतुर्थ पादों की आवृत्ति का उदाहरण—

हे नीरस हृदय वाली, हे कमलनेत्रे, मान के द्वारा अत्यन्त बढ़ाया हुआ और प्रसन्नता से भरा हुआ यह कामाग्नि क्या तुम्हारे पूर्वानुभूत आनन्द की हानि नहीं करता? अर्थात् तुमने रतिसुख का अनुभव किया है, मान करके उसे छोड़ देना अथवा उसमें विलम्ब करना अनुचित है॥ १४२॥

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण के तृतीय चरण की ही चतुर्थ पाद के रूप में आवृत्ति हुई है। इनके अर्थ परस्पर भिन्न हैं।

अभी तक दिये गये उद्धरणों में व्यपेतता यतिभेद के कारण थी, पाद अत्यन्त समीपवर्ती ही थे। आगे भी व्यपेतयमक का ही उदाहरण है, किन्तु यहां व्यवधान पूरे पाद का ही है, केवल यति का नहीं।

समं समकालं क्षणेन ततो विस्तीर्णस्तामनुभवैकसाक्षिचिन्तानुवृत्तिलक्षणां निर्वृतिमरसे

इति सोपालम्भसंबोधनम् । समन्ततः सर्वतस्तामरसेक्षणे कमलनेत्रे न किमपाकरोतीति पूर्वेण संबन्धः ॥

व्यपेतभेदेषु प्रथमतृतीययोर्यथा—

'सभा सुराणामबला विभूषिता गुणैस्तवारोहि मृणालनिर्मलैः ।
स भासुराणामबला विभूषिता विहारयन्निर्विश संपदः पुराम् ॥ १४३ ॥'

व्यपेत भेदों में ही प्रथम तथा तृतीय पादों की आवृत्ति का उदाहरण—

कोई व्यक्ति एक राजा की प्रशंसा तथा उसके प्रति आशंसा कर रहा है। वह कहता है, हे राजन्, निसतन्तुओं के सदृश शुभ्र आपके गुण बलनामक दैत्य से रहित, विभु इन्द्र से समन्वित देवताओं की सभा में पहुँच गये हैं। अतः आप विभूषित सुन्दरियों के साथ विहार करते हुये, चमचमाती हुई नगरियों की सुखसम्पत्ति का भोग करें॥ १४३ ॥

स्व० भा०—यहां पर प्रथम पाद की तृतीय पाद के रूप में आवृत्ति निरूपित है। प्रथम तथा तृतीय पादों के मध्य में यतियों का तथा द्वितीय पाद का व्यवधान होने से इस यमक में व्यपेतता है। (द्रष्टव्य काव्यादर्श ३।५८॥)

अवला बलाख्येन दानवेन रहिता विभुना शक्रेणाध्यासिता सुराणां देवानां सभा मृणालनिर्मलैस्तव गुणैरारोहि यतः, अतः स त्वं पुरामबला विभूषिताः स्त्रियोऽलंकृता विहारयन् भासुराणां सतां संपदो निर्विशेत्याशंसा ॥

तत्रैव प्रथमचतुर्थयोर्यथा—

'कलं कमुक्तं तनुमध्यनामिकास्तनद्वयी च त्वदृते न हन्त्यतः ।
न याति भूतं गणने भवन्मुखे कलङ्कमुक्तं तनुमध्यनामिका ॥ १४४ ॥'

व्यपेतयमक में ही प्रथम तथा चतुर्थ की आवृत्ति का उदाहरण—

सुन्दरियों के मधुर वचन तथा कटि को (भार से) झुका देने वाले दोनों स्तन आपको छोड़कर किसको वश में नहीं कर लेते, अथवा व्यथित नहीं करते ? अतः कलङ्कहीन आपके सामने (जितेन्द्रियों) की गणना के प्रसङ्ग में अनामिका किसी दूसरे व्यक्ति पर जाती ही नहीं। अर्थात् इस गणना में आपका नाम कनिष्ठिका पर ही रह जाता है, और नाम आपके सदृश मिलते ही नहीं जिनकी गणना करते-करते अनामिका तक पहुँचा जा सके ॥ १४४ ॥

स्व० भा०—इस श्लोक के प्रथम तथा चतुर्थ पाद समान हैं। बीच में द्वितीय तथा तृतीय पदों का व्यवधान है। अतः यह पादव्यवहित पादव्यपेत का उदाहरण है। इस श्लोक के विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य है काव्यादर्श (३।५९॥)।

जो भाव प्रस्तुत श्लोक में व्यक्त किया गया है, वही कालिदास के विषय में प्रसिद्ध एक श्लोक में भी उपलब्ध होता है—

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावाद् अनामिका सार्थवती बभूव ॥

संस्कृत टीका का "निर्दोषो हि लोके ऊर्ध्वाङ्गुल्या निर्दिश्यते" अधिक सुन्दर नहीं प्रतीत होता।

कलं मधुराव्यक्तं उक्तं भाषितं तनोर्मध्यस्य भरेण नामिकास्तनद्वयी च त्वां विहाय कं नायकं हन्ति वशीकरोति। अतो जितेन्द्रियेषु प्रथमगणनीये त्वयि सति कलङ्कमुक्तं निर्दोषं तनुमधि शरीरमधिकृत्य भूतमनामिकाऽनामिकाङ्गुलिः न याति परस्य स्वसदृशस्याभावात्। निर्दोषो हि लोके ऊर्ध्वाङ्गुल्या निर्दिश्यते ॥

एवं द्वितीयचतुर्थयोरपि यथा—

'या बिभर्ति कलवल्लकीगुणस्वानमानमतिकालिमालया।
नात्र कान्तमुपगीतया तयास्वानमा नमति कालिमालया ॥ १४५ ॥'

इसी प्रकार द्वितीय तथा चतुर्थ पादों की आवृत्ति का उदाहरण—

यहां रैवतक पर्वत पर अत्यन्त कृष्णवर्ण की जो घूम रही भ्रमरपंक्ति है, वह वीणा के तारों की मीठी ध्वनि की समानता प्राप्त करती है। निकट ही गा रही भ्रमरावलि से सरलतापूर्वक आकृष्ट की जा सकने वाली कौन कामिनी अपने प्रियतम के समक्ष नत नहीं हो जाती ॥ १४५ ॥
(शिशुपा० ॥ ४।५७ ॥)

स्व० भा०—प्रस्तुत उद्धरण में द्वितीय तथा चतुर्थ पादों में परस्पर आवृत्ति है। अतः तृतीय पाद का व्यवधान उपस्थित होने से यहां व्यपेतता है।

वल्लकीगुणस्वानो वीणाशब्दस्तस्य मानं या बिभर्ति। कालिम्नः श्यामताया आलया कज्जलप्रभृतीनतीत्य वर्णप्रकर्षेण या स्थिता, तया गातुमुपक्रान्तया भ्रमरमालया हेतुभूतया का नामात्र पर्वतं कान्तं न नमति न प्रणमतीति न, न सुखेन आनम्यते इति अस्वानमा या प्रागासीत् साप्युद्दीपनप्रकर्षे निःशेपितमाना नमतीत्यर्थः ॥

समुद्ग का सभेद उदाहरण

अर्धाभ्यासः समुद्गः स्यात्तस्य भेदास्त्रयो मताः।
व्यपेतश्चाव्यपेतश्च उभयात्मा च सूरिभिः ॥ ६६ ॥

अर्धाभ्यास समुद्ग होता है। विद्वानों के द्वारा उस समुद्ग के व्यपेत, अव्यपेत तथा उभयात्मक (व्यपेताव्यपेत) तीन भेद माने गये हैं ॥ ६६ ॥

स्व० भा०—पूरे आधे श्लोक के ही दुवारा उच्चरित होने पर समुद्गयमक होता है। यमक का यह भेद प्राचीन आलंकारिकों को पूर्णतः ज्ञात था। दण्डी ने अपने काव्यादर्श में जो समुद्ग की परिभाषा तथा भेद का उल्लेख किया है, वह भोज के विवेचन से प्रायः मिलता-जुलता है। जैसे—

अर्धाभ्यासः समुद्गः स्यादस्य भेदास्त्रयो मताः।
पादाभ्यासोऽप्यनेकात्मा व्यज्यते स निदर्शनैः ॥ काव्यादर्श ३।५४ ॥

रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में भी कहा है—

अर्धं पुनरावृत्तं जनयति यमकं समुद्गकं नाम। ३।१९॥

समुद्गक अथवा समुद्ग में भी पादयमक की भांति पादों की ही आवृत्ति होती है, किन्तु दोनों में अन्तर है। पादयमक में एक पाद की ही किसी दूसरे पाद के रूप में आवृत्ति होती है, किन्तु इसमें चार चरणों वाले श्लोक में पूरे दो पादों की शेष दो पादों के रूप में आवृत्ति अपेक्षित होती है। इसमें भी अधिक से अधिक यही छूट रहती है कि आवृत्त पाद पूर्व अथवा पश्चात् कहीं भी हो सकते हैं। वस्तुतः पूरे श्लोक के दो पादों की आवृत्ति होने से अन्य पाद निष्पन्न होते हैं। इस प्रकार एक ढंग से आधा श्लोक ही आवृत्त होता है।

तेषु व्यपेतो यथा—

'अनेकपादभ्रमदभ्रसालं मान्ये दृशाभीरुपतत्त्रिकूटम्।
अनेकपादभ्रमदभ्रसालं मान्ये दृशा भीरु पतत्त्रिकूटम् ॥ १४६ ॥'

समुद्ग के तीन भेदों में से व्यपेत का उदाहरण—

बहुत से पर्यन्तप्रदेशों में घुमड़ रहे मेघ ही हैं प्राकार जिसके, मान्य तथा इस प्रकार मनोहर एवं भयरहित पक्षिसमूह रहते हैं जहां पर, उस हाथियों के उत्कट दानवारि को धारण करने वाले साल वृक्षों से भरे हुये त्रिकूट पर्वत पर, हे मान्ये, हे भीरु, अपनी निगाहें डालो ॥ १४६ ॥

स्व० भा०—उद्धृत श्लोक में पूर्वार्ध ही उत्तरार्ध के रूप में रख दिया गया है। यहां प्रथम तथा तृतीय और द्वितीय तथा चतुर्थ की आवृत्तियां हैं। इस क्रम से प्रथम और तृतीय के बीच द्वितीय पाद का तथा द्वितीय और चतुर्थ के बीच तृतीय पाद का व्यवधान है। अतः व्यपेतता है। आधे छन्द का अभ्यास—दुबारा कथन—होने से अर्धाभ्यास है, और अर्धाभ्यास के कारण समुद्ग है।

अनेकेषु प्रत्यन्तपर्वतेषु भ्रमन्त्यभ्राणि मेघा एव सालो वरणः प्राकारः, मान्याः पूजार्हा ईदृशी यथादृश्यं तथैव मनोहारिणोऽभीरवो भयरहिताः पतत्त्रिकूटाः पक्षिसङ्घा यत्र, अनेकपा हस्तिनस्तेषामदभ्र उत्कटो मदस्तं भरन्ति धारयन्तीति मूलविभुजादित्वात्कप्रत्यये अनेकपादभ्रमदभ्राः साला वृक्षा यत्र। मान्ये भीर्विति संबोधनद्वयम्। मानः शृङ्गारभावस्तदर्हा दृशा त्रिकूटं पर्वतमालोकयेति ॥

अव्यपेतो यथा—

'घनं विदार्योर्जुनबाणपूगं घनं विदार्यार्जुनबाणपूगम्।
ससार बाणोऽयुगलोचनस्य ससारबाणोऽयुगलोचनस्य ॥ १४७ ॥'

अव्यपेत का उदाहरण—

ज्ञानगम्य—न कि चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय—त्रिलोचन भगवान् शिव का सारपूर्ण, सरसर शब्द कर रहा बाण अर्जुन के असंख्य बाणसमूहों को काटकर (निर्बाध रूप से) सघन लगे हुये विदारी, अर्जुन, बाण तथा पूगीफल के वृक्षों को विदीर्ण कर प्रविष्ट हो गया ॥ १४७ ॥

(किरात० ॥ १५।५० ॥)

स्व० भा०—यहां भी समुद्गक है क्योंकि चार चरणों वाला श्लोक केवल दो चरणों अर्थात् आधे श्लोक की आवृत्ति कर देने से ही बन गया है। द्वितीय पाद प्रथमपाद का ही अभ्यास है और चतुर्थपाद तृतीय का। यद्यपि प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ पादों के बीच में यति का व्यवधान है, और इस मान्यता के अनुसार यहां व्यपेत भाव ही होना चाहिये, तथापि जहां पादों की चर्चा चल रही हो वहां यति का प्रसंग न होने से तथा यति का व्यवधान विवक्षित न होने से अथवा अन्य पादों की तुलना में सर्वाधिक निकट होने से यहां अव्यपेतता ही अभीष्ट है। व्याकरण जैसे गहनशास्त्र में भी विवक्षा का प्राधान्य-मान्य होता है।

विदारी कन्दभेदः, अर्जुनः ककुभः, बाणो गुल्मविशेषः, पूगो गुवाकः। वृक्षद्वन्द्वत्वात्पाक्षिक एकवद्भावः। अर्जुनः पार्थस्तस्य बाणपूगं शरसमूहस्तं विदार्य भित्त्वा। अयुगलोचनस्त्रिनेत्रः किरातस्वरूपधरस्तस्य ससार गतः सारबाण उत्कृष्टशब्दस्तेन सहितोऽयुगद्वितीयः, अलोचनस्य दुर्ज्ञानस्य ॥

व्यपेताव्यपेतो यथा—

'कलापिनां चारुतयोपयान्ति वृन्दानि लापोढघनागमानाम्।
वृन्दानिलापोढघनागमानां कलापिनां चारुतयोऽपयान्ति ॥ १४८ ॥'

पादत्रयाभ्यासस्तु नातिसुन्दर इति तद्भेदा नोदाह्रियन्ते ॥

व्यपेताव्यपेत का उदाहरण—

अपने आलापों से मेघों को बुला लेने वाले कलापी मयूरों के समूह सुन्दरता से युक्त हो रहे हैं और वात्याचक्र से जिनका निरन्तर आगमन अवरुद्ध हो गया है उन हंसों के कर्णप्रिय शब्द दूर होते जा रहे हैं ॥ १४८ ॥ (काव्याद० ॥ ३.५६ ॥)

तीन चरणों का अभ्यास अधिक सुन्दर नहीं होता अतः उसके भेदों का उदाहरण नहीं दिया जा रहा है ।

स्व० भा०—उदाहृत छन्द में व्यपेतापेत यमक समुद्गक है । प्रथम तथा चतुर्थ चरण जो कि परस्पर आवृत्त हैं, द्वितीय तथा तृतीय पदों के व्यवधान से आये हैं । अतः यहां व्यपेतता है। द्वितीय तथा तृतीय चरणों की परस्पर आवृत्ति भी है तथा दोनों के बीच में किसी पाद का व्यवधान नहीं, अतः अव्यपेतता है । इस श्लोक में 'कलापी' का अर्थ मयूर ग्रहण करने पर, पूर्वार्ध में, सारा अर्थ वर्षावाचक हो जाता है और उत्तरार्ध में उसकी आवृत्ति होने पर उसका व्युत्पत्तिगत अर्थ हंस हो जाता है । जब पूर्वार्ध के 'कलापी' पद का अर्थ 'हंस' ग्रहण किया जाता है उस समय उत्तरार्ध का पद मयूरवाचक हो जाता है और सम्पूर्ण अर्थ शरद्वाचक हो जाता है।

जिस प्रकार एकपादाभ्यास, द्विपादाभ्यास आदि करके पादयमक के विभिन्न उदाहरण दिये गये, उसी प्रकार त्रिपादाभ्यास भी सम्भव हो सकता है । पादत्रयाभ्यास का उदाहरण दण्डी ने अपने काव्यादर्श में दिया है जहां प्रथम, द्वितीय, तृतीय, प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ, द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ आदि के उदाहरण उपलब्ध होते हैं । किन्तु इस दशा में अर्थसौन्दर्य, भोज के मत में, नहीं रहता । इसीलिये उन्होंने उदाहरण नहीं दिया । भामह भी अत्यन्त क्लिष्ट यमक के विरोधी थे। उनके अनुसार—

प्रतीतशब्दमोजस्वि सुश्लिष्टपदसंधि च ।
प्रसादि स्वभिधानं च यमकं कृतिनां मतम् ॥
नानाधात्वर्थगम्भीरा यमकव्यपदेशिनी ।
प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे ॥
काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत् ।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः ॥ काव्यालंकार २।१८–२०॥

केवल दर्शनार्थ काव्यादर्श से पादत्रयाभ्यास श्लोक का उदाहरण दिया जा रहा है ।

प्रभावतोनाम न वासवस्य प्रभावतो नामन वा सवस्य ।
प्रभावतो नाम नवासवस्य विच्छित्तिरासीत् त्वयि विष्टपस्य ॥ ३.६३ ॥

के पानीये लपनशीला हंसास्तेषां वृन्दानि चारुतया मनोज्ञभावेनोपयान्ति संगच्छन्ते । लापेन परस्परसंलापमात्रेणोढः प्राप्तो घनो निरन्तर आगम आगमनं येषाम् । वृन्दानिलो वात्या तेनापोढो निराकृतो घनागमो मेघदुर्दिनं कलापिनो मयूरा आरुतयः समन्ततः केकायितानि अपयान्ति तिरोभवन्ति । एकश्लोके पादत्रयाभ्यासस्यासंभवाच्छ्लोकान्तरे च तथा सौन्दर्याभावात्पादत्रयाभ्यासो न चिन्तनीय इत्यत आह—पादत्रयेति ॥

एकाकारचतुष्पादं महायमकमुच्यते ।
श्लोकाभ्यासश्च तत्राद्यं पुनरभ्यासमर्हति ॥ ६७ ॥

चारो पादों का एक आकार होने पर महायमक कहा जाता है। इसमें श्लोकाभ्यास भी होता है और आद्य अर्थात् श्लोक के आद्यखण्ड का ही पुनः अभ्यास अपेक्षित होता है ॥ ६७ ॥

स्व० भा०—पादत्रययमक के पश्चात् चतुष्पादयमक का क्रम आता है। जब चारो पाद एक ही समान होता है अर्थात् चारो पादों में परस्पर एक ही पाद का अभ्यास होता है तब उसे महायमक कहते हैं। कहीं-कहीं तो यहीं एक श्लोक पूरा का पूरा ही अभ्यस्त हो जाता है। प्रथम श्लोक ही पुनः ज्यों का त्यों उतार दिया जाता है और अर्थ भिन्न-भिन्न होता है, उसे श्लोकाभ्यास कहते हैं। दण्डी के अनुसार भी—

एकाकारचतुष्पादं तन्महायमकाह्वयम्।
तत्रापि दृश्यतेऽभ्यासः सा परा यमकक्रिया ॥ काव्यादर्श ३।७०॥

इदानीं क्रमप्राप्तं महायमकं लक्षयन्नाह—एकाकारेति। द्विविधमेकाकारं भवति। एकमावृत्तिचतुष्केण, अपरमावृत्त्यष्टकेन। तदिदमुक्तमाद्यं पुनरनावृत्तमिति। प्रतिपादमवान्तरावृत्तिभेदेनैवाष्टकनिर्वाहात् ॥

तत्राव्यपेतभेदे महायमकं यथा—

'सभासमानासहसापरागात्सभासमाना सहसा परागात्।
सभासमाना सहसापरागात्सभासमाना सहसापरागात् ॥ १४९ ॥'

इसमें अव्यपेत भेद में महायमक का उदाहरण—

कान्ति, सम्मान, शत्रुप्रणाश तथा मुस्कान से युक्त चित्त की कलुषता को समाप्त कर देने वाली, सुशोभित हो रहे लोगों से विराजमान, मार्गशीर्ष मास के कारण धूल बिखेरती हुई, कान्ति में एकरूप लोगों से सुशोभित, शत्रुओं को मारने वालों के साथ विद्यमान अनुपम सभा इसी पर्वत से एकाएक चली गई ॥ १४९ ॥

स्व० भा०—इस श्लोक के चारो पाद समान हैं अतः यहां महायमक हुआ। सभी चरण यति के अतिरिक्त और किसी भी वर्ण आदि से व्यवहित नहीं है, अतः अव्यपेतता भी हुई।

भासः कान्तिः, मानश्चित्तसमुन्नतिः पूजा वा, आसः शत्रुविधूननम्, हसः स्मेरता, एतैः सह वर्तते इति सभासमानासहसा यतोऽपरागं चित्तकालुष्यमत्ति। भासमानैः शोभमानैः सह वर्तते सभासमाना। सहसा मार्गशीर्षेण हेतुना प्रावृड्विच्छेदप्रादुर्भूतान् परागान् रजःकणानतति प्राप्नोतीति परागात्। भा कान्तिस्तया समानाः सरूपास्तैः सह वर्तत इति सभासमाना। षोऽन्तकर्मणि। स्यन्ति परानिति साः, तैः सह वर्तत इति सहसा। एवंभूता असमाना अनुपमा सभा जनसमवायोऽपरागादपरस्मात्पर्वतात् सहसा शीघ्रं परागात्परागतेति ॥

व्यपेतभेदे द्वितीयं महायमकं यथा—

'प्रव्रणमदभ्रमदचलद्विपराजितमूढविमलमहिततरङ्गं
विरसं सदातिमिश्रितमच्युतधाम प्रतीतशाखिचरितवनम्।
प्रवणमदभ्रमदचलद्विपराजितविमूढविमलमहिततरङ्गं
विरस मदातिमिश्रितमच्युतधामप्रतीतशाखिचरितवनम् ॥ १५० ॥'

व्यपेतभेद में दूसरा महायमक—

अतिप्रकृष्ट जल वाले, अत्यन्त दर्प से चल रहे पक्षियों से पराजित अबोध अवस्था वाले, पक्षियों को पूर्णतः धारण करने वाले, सर्पों से व्याप्त लहरों वाले, पृथ्वी—रसा—से असम्पृक्त, सर्वदा

तिमि नामक महामत्स्य से भरे हुये, भगवान् विष्णु के निवासभूत, प्रख्यात वडवाग्नि से दग्ध जल वाले, मद के कारण मत्त तथा निरन्तर मदजल को टपका रहे, भ्रमण करते हुए मैनाक आदि पर्वत तथा करि, मकर आदि से सुशोभित, निर्मल जलतरङ्गों को पूजने वाले, रसहीन अथवा क्षारीय सुन्दर-सुन्दर विशेष प्रकार के पक्षियों से शोभित, जिनकी छटा घटी नहीं है तथा जिससे तटवर्ती वनों में मयूर घूमा करते हैं उस इस समुद्र को (देखो) ॥ १५० ॥

स्व० भा०—यहाँ पर प्रथम दो पंक्तियों का उत्तरार्ध में क्रमशः अभ्यास है। इससे समान लगने वाले पदों में अन्य पदों का व्यवधान हो जाता है। जैसे इसी श्लोक में प्रथम, तृतीय और द्वितीय तथा चतुर्थ के बीच में दूसरे तथा तीसरे पादों का व्यवधान है। अतः यहां व्यवहितयमक हुआ। यह भी महायमक ही हुआ।

प्रवणं प्रकृष्टतरवनम्। 'प्रनिरन्तःशर—' इत्यादिना णत्वम्। अदभ्रेण महता मदेन दर्पेण चलन्तो ये वयः पक्षिणस्तैः पराजिता मूढवयोबालाः पक्षिणो यत्र तम्, अलमत्यर्थं पूर्वोक्तरूपानमूढान् वीन् पक्षिणो मलते धारयतीति वा। अहिततरङ्गं भुजङ्गव्याप्तावर्तस्थानम्। विरसमतलस्पर्शतया भूभागरहितम्। सदा सर्वकालं तिमिभिर्महामत्स्यैः श्रितमाश्रितम्। अच्युतस्य भगवतो नारायणस्य धाम विश्रान्तिस्थानम्। प्रतीतः प्रख्यातः शिखी वडवानलस्तेन चरितवनं भक्षितजलोत्पीडमिति प्रथमः श्लोकार्थः। प्रवणमदाः मदायत्तदर्पाः सततनिस्यन्दमानमदजलाश्च भ्रमन्तो ये मैनाकप्रभृतयोऽचला द्विपाः करिमकराश्च तैः शोभितम्। ऊढा विमला स्वभावनिर्मला महिताः पूजितास्तरङ्गा येन तम्। विरसं क्षारम्। सतीभिः शोभनाभिरातिभिः पक्षिविशेषैर्मिश्रितं करम्बितम्। न च्युतं धाम तेजो यस्य तम्। प्रतीताः प्रत्यागताः शिखिनो मयूरास्तैश्चरितवनं भ्रान्ततीरकाननं समुद्रं पश्येति वाक्यान्तरवर्तिक्रियया संबन्ध इति द्वितीयः श्लोकार्थः॥

अव्यपेतभेदे आद्यस्य पुनरभ्यासो यथा—

'समान यासमानया स मानया समानया।
समानयासमानया समानयासमानया॥ १५१ ॥'

अव्यपेत भेद में आद्य का फिर से अभ्यास होने पर उदाहरण—

एक व्यक्ति अपने मित्र से कहता है कि हे मित्र, सुख-दुःख दोनों में समान रहनेवाली, मान किये हुई, अनुपम सौन्दर्यवाली, इस नायिका से मुझे मिला दो। यह शोभा तथा बुद्धि से हीन नहीं है॥ १५१॥

स्व० भा०—यह भी महायमक का एक प्रकार ही है। इसमें अव्यपेतता तो स्पष्ट ही है। चारों पादों में कोई व्यवधान नहीं। यति का व्यवधान अपेक्षित और विवक्षित ही नहीं है। अव्यपेत महायमक सामान्य तथा इसमें अन्तर केवल इतना है कि प्रथम में चारो पाद समान होते हैं जब कि इसमें चारो पाद समान होते ही हैं, साथ ही प्रथम पाद का प्रथम खण्ड ही शेष पूरे श्लोक में आवृत्त होता रहता है। प्रस्तुत प्रसंग में ही उद्धृत श्लोक में प्रथम पाद का आद्य-खण्ड 'समानया' ही की आवृत्ति शेष पूरे छन्द में हुई है।

भोज ने श्लोकाभ्यास का उदाहरण नहीं दिया है। दण्डी के अनुसार इसके लक्षण और उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

श्लोकद्वयं तु युक्तार्थं श्लोकाभ्यासः स्मृतो यथा॥
विनायकेन भवता वृत्तोपचितबाहुना। स्वमित्रोद्धारिणा भीता पृथ्वी यमतुलाश्रिता॥

विनायकेन भवता वृत्तोपचितबाहुना। स्वमित्रोद्धारिणाभीता पृथ्वीयमतुलाश्रिता ॥
काव्यादर्श ३।६८-६९ ॥

भोज ने यमक प्रसंग में प्रतिलोम यमक का उल्लेख नहीं किया है। दण्डी ने उसका भी लक्षण तथा उदाहरण दिया है। इनके अनुसार पाद, अर्ध तथा पूर्ण श्लोक प्रतिलोम के अन्तर्गत आ सकता है। पाद को सीधा पढ़कर उलटा पढ़ने लगने से आगे का पाद बन जाता है और उसका भी अर्थ सम्बद्ध प्रसंग में उचित ही बैठता है। दण्डी के अनुसार—

आवृत्तिः प्रातिलोम्येन पादार्धश्लोकगोचरा।
यमकं प्रतिलोमत्वात् प्रतिलोममिति स्मृतम् ॥
यामताश कृतायासा सायाता कृशता मया।
रमणारकता तेऽस्तु स्तुतेऽताकरणामर ॥
नादिनोमदना धीः स्वा न मे काचन कामिता।
तामिका न च कामेन स्वाधीना दमनोदिना ॥
यानमानयमाराविकशोनानजनाशना।
यामुदारशताधीनामायामायमनादिसा ॥
सा दिनामयमायामा नाधीता शरदामुया।
नाशनाजनना शोकविरामाय न पानया ॥ काव्यादर्श ३।७३-७७ ॥

भारवि, माघ, घटकर्पर, दैवज्ञ सूर्य कवि तथा वासुदेव भट्टतिरि ने अपने काव्यग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के यमकों का प्रयोग किया है। संस्कृत साहित्य में अनेक यमक काव्य लिखे गये हैं। इन ग्रन्थों की संख्या अगणित है।

समानेति। हे समान सखे, यासमानया अविनयवतीनां धुरि गणनीयया अनया समानया समानो यासः प्रयत्नो मान ईर्ष्यारोपस्तौ समानौ यस्यास्तया, तथा समानया चित्तानुस्मृतिसारूप्यं भजमानया पूजासहितया असमानया अनुपमया स त्वं मा मां समानय संगमयेति मन्मथोन्मादाविष्टस्य कस्यचिद्वयस्यस्य प्रार्थना ॥

(१४) श्लेषालंकार

एकरूपेण वाक्येन द्वयोर्भणनमर्थयोः।
तन्त्रेण यत्स शब्दज्ञैः श्लेष इत्यभिशब्दितः ॥ ६८ ॥

एक ही रूप वाले वाक्य द्वारा, अनेक सम्बन्धों के एक रूप में होने से, जो दो अर्थों का कथन होता है वह शब्दज्ञों के द्वारा श्लेष कहा जाता है ॥ ६८ ॥

बन्धावृत्तिसामान्याद्यमकानन्तरं श्लेषं लक्षयति—एकरूपेणेति। अर्थभेदेन शब्दा भिद्यन्त इति नये कथमेकेन वाक्येन द्वयोरुक्तिरित्यत आह—तन्त्रेणेति। श्लेषो हि संभेदलक्षणः। स चात्र भिन्नानामपि शब्दानामुच्चारणसाम्येन प्रवर्तते। अनेकसंबन्धानामैकरूप्येण वर्तनं तन्त्रमित्युच्यते ॥

प्रकृतिप्रत्ययोत्थौ द्वौ विभक्तिवचनाश्रयौ।
पदभाषोद्भवौ चेति शब्दश्लेषा भवन्ति षट् ॥ ६९ ॥

दो प्रकृति तथा प्रत्यय से उत्पन्न होने वाले, दो विभक्ति तथा वचन पर आश्रित और दो पद तथा भाषा से उद्भूत इस प्रकार (सब मिलाकर) शब्द श्लेष छः प्रकार के होते हैं ॥ ६९ ॥

स्व० भा०—यमक में समानरूप वाले वर्णसमुदायों की आवृत्ति होती है और प्रत्येक आवृत्त वर्णराशि का एक भिन्न अर्थ अपेक्षित होता है, किन्तु श्लेप में पदों अथवा वर्णसमुदायों की आवृत्ति नहीं होती है, पद अथवा वाक्य एक रूप होता है अर्थात् वह एक ही बार प्रयुक्त होता है, किन्तु उसके अर्थ एकाधिक हुआ करते हैं। यहां कारिका में विद्यमान 'एकरूप' का अर्थ समान रूप न होकर एक ही बार होने वाला प्रयोग अथवा एकमात्र आवृत्ति अधिक समीचीन है। समानरूपता कहने पर पद अथवा वाक्य की आवृत्ति का बोध होता है, जब कि श्लेप में आवृत्ति अपेक्षित ही नहीं होती। आवृत्ति होने पर तो यमक हो जायेगा।

दण्डी की भी परिभाषा इसी बात की ओर संकेत करती है—

"श्लिष्टमिष्टमनेकार्थानेकरूपान्वितं वचः" काव्यादर्श २।३१०॥

और रुद्रट और भी अधिक स्पष्ट हैं—

वक्तुं समर्थमर्थं सुश्लिष्टाक्लिष्टविविधपदसंधि।
युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयेत स श्लेपः॥ काव्यालंकार ४।१॥

कुछ आलंकारिकों ने श्लेप का अभङ्ग तथा सभङ्ग पद भेद किया है। किन्तु प्राचीन आलंकारिकों ने दूसरे ही प्रकार का श्लेप भेद किया है। रुद्रट ने श्लेप के आठ भेदों का नाम गिनाया है—

वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम्।
अत्रायं मतिमद्भिर्विधीयमानोऽष्टधा भवति॥ ४।२॥

भोज ने वर्ण और लिङ्ग श्लेप को इन्हीं में अन्तर्भूत कर दिया है।

द्वयोरिति संख्या न विवक्षिता, त्रिप्रभृतीनामपि श्लेपसंभवात्। विभागवाक्ये विभक्तीनां साक्षादुपादानात्प्रत्ययपदं तदन्यपरं, विशेषशोभाकरत्वं च विशेषोपादानप्रयोजनम्॥

तेषु प्रकृतिश्लेषो यथा—

'आत्मनश्च परेषां च प्रतापस्तव कीर्तिनुत्।
भयकृद्भूपते बाहुर्द्विषां च सुहृदां च ते॥ १५२॥'

अत्र कीर्तिनुदित्यत्र नौति-नुदत्योर्भयकृदित्यत्र करोति-कृन्तत्योः प्रकृत्योः क्विपि तुल्यं रूपमिति प्रकृतिश्लेषोऽयम्॥

इन भेदों में से प्रकृति श्लेप का उदाहरण—

कोई कवि राजा की प्रशंसा कर रहा है कि, हे महाराज, आपका प्रताप अपने यश का विस्तार करता है तथा शत्रुओं की कीर्ति का विनाश। हे राजन्, आपकी भुजा आपके शत्रु तथा मित्र दोनों के लिये भयकृत् है—शत्रुओं के लिये भयङ्कर है और मित्रों के भय को नष्ट करने वाली॥ १५२॥

यहां 'कीर्तिनुत्' इसमें (नुत् का) विस्तार करना तथा नष्ट करना, और 'भयकृत्' इसमें ('कृत्' का) करना तथा उच्छेद करना अर्थों में दोनों मूलशब्दों में क्विप्प्रत्यय लगाने से एक ही जैसा रूप बनता है। इस प्रकार यह प्रकृति श्लेष है।

स्व० भा०—इस श्लोक में 'भयकृत्' तथा 'कीर्तिनुत्' पदों का प्रयोग है। इनके दो-दो अर्थ भयोत्पादक तथा भयनाशक और कीर्तिविस्तारक तथा कीर्तिनाशक हैं। 'कृत्' रूप 'कृती छेदने' तथा 'डुकृञ् करणे' दोनों धातुओं से क्विप् प्रत्यय लगाने पर बनता है। इसी प्रकार 'नुत्' रूप भी 'णुद् प्रेरणे' तथा 'णु स्तुतौ' दोनों धातुओं से भी क्विप् प्रत्यय लगने से बनता है। इन दोनों का

अर्थ पूर्णतः भिन्न है तथा रूप एक ही है। मूलधातु–प्रकृति–में एकरूपता होने पर दो भिन्न-भिन्न अर्थ एक ही बार प्रयुक्त पद से निष्पन्न हो रहे हैं, अतः यहाँ प्रकृतिश्लेष है।

आत्मनः कीर्तिं नौति स्तौति। परेषां शत्रूणां च नुदति क्षिपति। द्विषां भयं करोति जनयति। सुहृदां च भिनत्तीति धातुरूपप्रकृतिभेदादेवार्थभेदः क्विप्प्रत्ययस्य साधारण्यात्॥

लिङ्गश्लेषोऽपि प्रकृतिश्लेष एव। स यथा—

'कुवलयदलद्युतासौ दृशा च वपुषा च कं न दर्शयते।
अधरीकृतप्रवालश्रियाङ्घ्रिणास्येन च नतभ्रूः॥ १५३॥'

अत्र दृग्वपुषोरास्यचरणयोश्च कुवलयदलद्युतेत्यधरीकृतप्रवालश्रियेति च लिङ्गभेदेऽपि तुल्यरूपे विशेषणे इति लिङ्गश्लेषोऽयम्॥

लिङ्ग श्लेष भी प्रकृति श्लेष ही है। उसका उदाहरण—

यह लम्बी भौंहों वाली सुन्दरी नीलकमल सदृश कान्ति वाले नेत्र तथा पृथ्वीमण्डल को भी अभिभूत करने वाली छटा से युक्त शरीर से युक्त मूँगे की भी अरुणिमा को तिरस्कृत करने वाले चरणों तथा मूँगे के सदृश सौन्दर्यवाले अधरों से युक्त मुख से संयुक्त होकर अपने को देखने के लिए किस-किस को बलात् प्रेरित नहीं करती। अर्थात् सबको प्रेरित करती है॥ १५३॥

यहाँ पर नेत्र तथा शरीर इन दोनों और मुख तथा चरण इन दोनों के 'कुवलयदलद्युता' तथा 'अधरीकृतप्रवालश्रिया' से लिङ्ग-भेद होने पर भी विशेषण के समरूप होने से यह लिङ्ग श्लेष है।

स्व० भा०—उदाहरण में 'दृश्' नेत्रवाचक स्त्री लिङ्ग तथा 'वपुष्' शरीर वाचक नपुंसक लिङ्ग के पद हैं। इसी प्रकार चरण और मुख के वाचक 'अङ्घ्रि' तथा 'आस्यम्' इन पुल्लिंग और नपुंसक लिङ्ग पदों का प्रयोग है। उनका विशेषण 'कुवलयदलद्युता' है जो स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग दोनों में तृतीया एक वचन में निष्पन्न होता है। 'अधरीकृतप्रवालश्रिया' विशेषण का भी रूप पुल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग में तृतीया एकवचन में यही होगा। विशेष्यों में लिङ्गभेद होने पर भी विशेषणों का रूप एक ही है। यह दोनों ओर संगत भी बैठता है। इसीलिये प्राचीन अन्य आलंकारिकों ने इसमें लिङ्ग श्लेष स्वीकार किया है। भोज इसको भी प्रकृति भेद के अन्तर्गत ही रखते हैं। वस्तुतः 'भयकृत्' आदि पदों की भांति इन विशेषणों का भी एक ही रूप बनता है। अतः इसको भी प्रकृति श्लेष ही स्वीकार करना अनुपयुक्त न होगा। भोज प्रकृति का अर्थ धातु तक ही सीमित नहीं रखते, अपितु नाम, आदि से भी निष्पन्न पदों को इसी के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं।

ननु 'वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम्' इति कैश्चित्परिसंख्यातम्, ततश्चाष्टधा श्लेषो भविष्यतीत्यत आह—लिङ्गश्लेषोऽपीति। तदिदमुदाहरणीयमित्याह—स यथेति। दर्शयत इत्यात्मनेपदेन तटस्थमपि कं न हठाद्दर्शनाय प्रेरयतीति व्यज्यते। अधरीकृता जिताधरत्वमापादिता च। ननु च कुवलयदलद्युतेति अधरीकृतप्रवालश्रियेति च प्रकृतिभागो न भिद्यते, तत्कथमयं प्रकृतिश्लेष इति। नैतत्। आविष्टलिङ्गद्वयसंनिधानादनाविष्टलिङ्गं विशेषणमवश्यमुभयलिङ्गग्राहि वाच्यम्। पञ्चकप्रातिपदिकार्थपक्षे विभक्त्योरितिकैव तथा च लिङ्गभेद इति विभिन्ने विशेषणप्रकृती मिथःसंश्लिष्टे इति। अत्रेत्यादि॥

प्रत्ययश्लेषः सोद्भेदो निरुद्भेदश्च । तयोराद्यो यथा—

'तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ ।
जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ ॥ १५४ ॥'

अत्र हारिणाविति इनिणिनिप्रत्यययोरेकरूपत्वाद्विनापि हारेणेति च मत्वर्थीयोद्भेदात्सोद्भेदप्रत्ययश्लेपोऽयम् ॥

प्रत्ययश्लेष सोद्भेद तथा निरुद्भेद दो प्रकार का होता है। इन दोनों में से प्रथम अर्थात् सोद्भेद का उदाहरण—

उस सुन्दरी के हार के विना भी स्वभावतः (मनो) हारी दोनों स्तन किसमें आश्चर्य नहीं उत्पन्न करते ॥ १५४ ॥

इस श्लोक में 'हारिणौ' यह पद 'इनि' तथा 'णिनि' इन दोनों प्रत्ययों के लगने से एक ही रूप में निष्पन्न होता है। 'विनापि हारेण' इन पदों के प्रयोग द्वारा मत्वर्थीय उद्भेद होने से यह सोद्भेद श्लेष का उदाहरण है।

स्व० भा०—'इनि' तथा 'णिनि' ये दोनों प्रत्यय हैं जो क्रमशः मत्वर्थ में—संयुक्त के अर्थ में तथा ताच्छील्य अथवा आवश्यकार्थ प्रतिपादन के लिये लगते हैं। हार में 'इनि' लगने से भी हारिन् बनता है जिसका अर्थ होता है हार से संयुक्त तथा हृ धातु से णिनि लगने पर भी 'हारिन्' बनता है जिसका अर्थ होता है हरण करने वाला। इन दोनों प्रत्ययों के लगने से रूप तो समान बनता है किन्तु अर्थ में अन्तर हो जाता है, प्रस्तुत प्रसंग में 'इनि' प्रत्ययान्त 'हारिणौ' का अर्थ हार से युक्त अथवा हार धारण करने वाला होगा और 'णिनि' प्रत्ययान्त का अर्थ होगा 'मन को हरने वाला'।

'विनापि' इस वाक्य में स्थित पद के द्वारा 'हारिन्' का इनि प्रत्ययान्त अर्थ छिपा न रहकर उद्भासित हो उठता है। अतः एक ओर इसका अर्थ होता है कि 'हार के विना भी हारयुक्त पयोधर किसको आश्चर्यचकित नहीं करते ?' दूसरी ओर हार के विना भी मनोहर हैं। यह भी अर्थ प्रकट हो रहा है। इस रूप में विरोधाभास अथवा विभावना कुछ भी केवल इन प्रत्ययों के कारण ही उत्पन्न होकर आश्चर्य पैदा करते हैं। प्रत्ययों के कारण दो अर्थ होने से यहाँ प्रत्यय श्लेष है।

तद्वाक्यस्थशब्दान्तरप्रकाशितः सोद्भेदः, अतथाभूतो निरुद्भेदः। मत्वर्थीये निप्रत्यये हारवन्तौ हारिणौ। आवश्यकार्थणिनिप्रत्यये सहृदयानां मनो हरत इति हारिणौ। आनन्दघनरसचर्वणारूपो विस्मयोऽद्भुतं च। अपिशब्देन विरोधद्योतकेन हारहीनयोरपि हारसंबन्धो विस्मयरसार्पक इति मत्वर्थीयोन्मुद्रणात्सोद्भेदः। प्रत्ययश्लेपस्तु कथं भवतीत्यत आह—इनिणिनिप्रत्यययोरिति ॥

द्वितीयो यथा—

'त्वदुद्धूतामयस्थानरूढव्रणकिणाकृतिः ।
विभाति हरिणीभूता शशिनो लाञ्छनच्छविः ॥ १५५ ॥'

अत्र हरिणीभूतेति च्वेर्ङीपश्च तुल्यरूपतायां तदुद्भेदो नास्तीत्यनुद्भेदः प्रत्ययश्लेषोऽयम् ॥

द्वितीय अर्थात् निरुद्भेद प्रत्यय श्लेप का उदाहरण—

तुम्हारे रोग के स्थान पर निकले हुये घाव के चिह्न के आकार वाली चन्द्रमा के कलङ्क की छटा ऐसी सुशोभित हो रही है मानो हरिणी हो ॥ १५५ ॥

यहाँ पर 'हरिणीभूता' यह पद 'च्वि' तथा ङीप् दोनों से समान रूप से बनता है। यहाँ पर इसका उद्भेद नहीं है, अतः अनुद्भेद प्रत्यय श्लेष है।

स्व० भा०—इस श्लोक में प्रयुक्त 'हरिणीभूता' पद की सिद्धि दो प्रत्ययों में होती है। एक तो 'अभूततद्भावे च्वि' से च्वि प्रत्यय लगाकर बनता है। उसका अर्थ होगा कि जो हरित अथवा हरिण नहीं था वह हो गया है। अतः इस सन्दर्भ में इसका अर्थ होगा कि व्रणरूढ़ि स्थान सदृश हरा-हरा हो गया, अथवा हरिण के सदृश हो गया। ङीप् प्रत्ययान्त रूप 'हरित' के तकार को नकार आदेश "वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः" सूत्र से करने पर बनता है। इसका अर्थ हरे रङ्ग वाली होगा। इस प्रकार यहाँ दोनों रूपों से बना पद अर्थ प्रत्यायन करा रहा है। यह पद ङ्यन्त है अथवा च्विप्रत्यययुक्त इसका अन्तर बताने वाला कोई उद्भेदक पद वाक्य में नहीं है।

व्रणरूढिस्थानं श्यामं भवतीति लाञ्छनच्छायाभूता कीदृशी हरिणी हरिता। 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति ङीपि नादेशे च रूपम्। सेयं प्रतीयमानगुणनोत्प्रेक्षा। अहरिणरूपापि व्यवहारारूढहरिणतामापन्नेति च्विप्रत्यये च हरिणीभूते रूपम्। अत्र ङीपश्च्वेर्वा न किंचिद्भेदकं निबद्धमिति निरुद्भेदः प्रत्ययश्लेषोऽयम्। हरितहरिणरूपे प्रकृती अपि संभिन्ने एव। संकरस्यादूषणत्वात्। एवं पूर्वोदाहरणेऽपि॥

विभक्तिश्लेषो द्विधा—भिन्नजातीययोः, अभिन्नजातीययोश्च। तयोराद्यो यथा—

> 'विषं निजगले येन बभ्रे च भुजगप्रभुः।
> देहे येनाङ्गजो दध्रे जाया च स जयत्यजः॥ १५६॥'

अत्र येन विषं निजगले, भुजगराजश्च निजगले बभ्रे, अङ्गजो देहे, जाया च दध्रे इति तिङ्सुब्विभक्त्योः लिडात्मनेपदप्रथमपुरुषैकवचनसप्तम्येकवचनान्तयोर् एकरूपत्वाद्भिन्नार्थकत्वाद्भिन्नजातीयसुप्तिङ्विभक्तिश्लेषोऽयम्॥

विभक्ति श्लेष दो प्रकार का होता है—दो भिन्न जातीय विभक्तियों में तथा दो अभिन्न जातीय विभक्तियों में। इनमें से आद्य अर्थात् भिन्न जातीय का उदाहरण—

जिसने विष को निगल लिया, और अपने गले में सर्पराज वासुकि को धारण किया, जिसने कामदेव को जलाया और अपने शरीर में अपनी पत्नी को भी धारण किया वह स्वयंभू अनादि शिव सर्वोत्कृष्ट हैं॥ १५६॥

यहाँ पर 'येन विषं निजगले, भुजगराजश्च निजगले बभ्रे, अङ्गजो देहे, जाया च दध्रे' इन तिङ् तथा सुप् विभक्तियों के रूपों के तथा लिट् लकार के आत्मनेपदीय प्रथम पुरुष एक वचन और सप्तमी के एकवचनान्त रूपों के एक रूप होने से तथा उनके अर्थों में भिन्नता होने से भिन्न जाति वाले सुप् तथा तिङ् विभक्ति का यहाँ श्लेष है।

स्व० भा०—उदाहृत श्लोक में प्रयुक्त 'निजगले' तथा 'देहे' दो पद हैं जो क्रिया तथा संज्ञा दोनों रूपों में स्वानुकूल विभक्तियों का ग्रहण करके बन सकते हैं। तिङ् तथा सुप् ये दो भिन्न-भिन्न विभक्तियाँ हैं जो धातु तथा नाम में लगती हैं। 'देहे' पद 'दह्' धातु का कर्म में लिट् लकार का आत्मनेपदीय प्रथम पुरुष का एक वचन का रूप है। इसी प्रकार 'निजगले' 'गिल्' धातु का रूप है। इनका क्रियार्थ है 'निगला' तथा 'जलाया'। 'निजगले' और 'देहे' दोनों सुबन्त पद हैं जो सप्तमी एक वचन के 'गल' तथा 'देह' के रूप हैं। चूँकि दोनों विभक्तियाँ सुप् 'और तिङ्' परस्पर भिन्न हैं और दोनों ही एक ही पद में समान रूप से आकर भिन्नार्थ प्रकट करती हैं, अतः यहाँ पर भिन्न जातीय विभक्ति श्लेष है।

निजगल इति गिरतेः कर्मणि लिटि रूपम् । येन विषं कालकूटाख्यं निगीर्णम्, निजे च गले कण्ठे भुजगराजो धृतः। देह इति दहतेस्तत्रैव [कर्मणि लिटि] रूपम् । अङ्गजः कामो येन दग्धः, निजे च देहे शरीरे जाया पार्वती धृता स जयतीति । विवरणग्रन्थः सुबोध एव ॥

द्वितीयो यथा—

'त्वमेव धातुः पूर्वोऽसि त्वमेव प्रत्ययः परः ।
अनाख्यातं न ते किंचिन्नाथ केनोपमीयसे ॥ १५७ ॥'

अत्र धातुरिति प्रथमान्तस्य षष्ठ्यन्तस्य चैकरूपत्वाद्भिन्नार्थकत्वाच्चाभिन्नजातीयसुब्विभक्तिश्लेषोऽयम् ॥

द्वितीय भेद अर्थात् अभिन्नजातीय श्लेप का उदाहरण—

तुम्हीं ब्रह्मा से भी पहले के हो और तुम्हीं परवर्ती विश्व के परमकारण हो। आपको कुछ भी अज्ञात नहीं है। अतः हे महाराज, आपकी उपमा किससे दी जाये ॥ १५७ ॥

इसी श्लोक का दूसरा भी श्लेपजन्य अर्थ है—

तुम्हीं पूर्ववर्ती क्रियापद हो और तुम्हीं बाद में लगने वाले प्रत्यय भी। आपके लिये कुछ भी आख्यात (क्रिया) से हीन नहीं है, अतः आपकी उपमा किससे दी जाये ॥ १५७ ॥

इस श्लोक में 'धातुः' पद प्रथमान्त तथा षष्ठ्यन्त दोनों है जो कि एक रूप है। इस एकरूपता तथा भिन्नार्थकता के कारण अभिन्न जातीय सुप् विभक्ति श्लेष है।

स्व० भा०—उदाहरण में प्रयुक्त धातु पद दो विभक्तियों में हो सकता है। एक तो 'धातु' प्रातिपदिक में 'सु' विभक्ति लगाकर प्रथमा एकवचन पुल्लिंग का रूप तथा दूसरा 'धातृ' में ङस्, षष्ठी एकवचन की विभक्ति लगाकर। दोनों दशाओं में भी सुप् विभक्तियाँ ही लगती हैं। यहां कोई भी विजातीय विभक्ति नहीं है, क्योंकि दोनों ही सुप् हैं। फिर भी एक ही पद इन दो विभक्तियों के लगने पर भी रूप परिवर्तन नहीं होने देता अपितु भिन्न-भिन्न अर्थ प्रदान करता है। इन्हीं कारणों से यहां अभिन्नजातीय विभक्ति श्लेप है।

धातुर्जगन्निर्मातुरपि पूर्वं इत्यनेनानादित्वमुक्तम् । परः प्रत्ययः कारणत्रयरूपं न किंचिदनाख्यातम् । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु प्रसिद्धावदानत्वात् । द्वितीयस्याभावाच्च केनचिदुपमानम् । अर्थान्तरे तु धातुः क्रियावचनशब्दरूपः पूर्व एव प्रकृतित्वात्ततः परः प्रत्ययः तिङादिः । अतः सर्वमाख्यातमेव पदं निष्पद्यते। तेन च कथं तिङन्तेनोपमानमस्ति भिन्नार्थत्वाच्चेति शब्दभेददृढीकरणार्थमुक्तम् । एवं तिङामपि संभेद उदाहरणीयः। यथा—

'माद्यन्तु नाम कवयस्तथापि विदितश्रमाः ।
वेद विद्या पतिर्वाचामहं वाचोरिवान्तरम् ॥'

अत्र वेदेति प्रथमोत्तमयोः पुरुषयोरेकवचने श्लिष्येते ॥

वचनश्लेषो द्विधा—सोद्भेदः, निरुद्भेदश्च । तयोः सोद्भेदो यथा—

'प्राज्यप्रभावः प्रभवो धर्मस्यास्तरजस्तमाः ।
मुक्तात्मा नः शिवं नेमिरन्येऽपि ददतां जिनाः ॥ १५८ ॥'

अत्र नेमिरित्यन्येऽपीति एकवचनबहुवचनाभ्यां ददतामित्यत्र तिङन्ते

प्राज्यप्रभावः प्रभव इत्यादिषु च सुबन्तेष्वेकवचनबहुवचनयोरुद्भेद इत्ययं सोद्भेदो नाम वचनश्लेषः ॥

वचन श्लेष दो प्रकार का होता है—सोद्भेद तथा निरुद्भेद। इन दोनों में से सोद्भेद का उदाहरण—

अर्थ के लिये द्रष्टव्य प्रथम परिच्छेद का १६३ वां श्लोक ॥ १५८ ॥

यहां पर 'नेमिः' तथा 'अन्येऽपि' इन एकवचन तथा बहुवचन के द्वारा 'ददताम्' इस तिङन्त में तथा 'प्राज्यप्रभावः प्रभवः' इत्यादि सुबन्तों में एकवचन तथा बहुवचन का उद्भेद हो जाता है। अतः यह सोद्भेद नामक वचन श्लेष है।

निरुद्भेदो यथा—

'तनुत्वरमणी यस्य मध्यस्य च भुजस्य च।
अभवन्नितरां तस्या वलयः कान्तिवृद्धये ॥ १५९ ॥'

अत्राभवन्निति वलय इति पदयोस्तिङन्तसुबन्तयोरेकवचनबहुवचने अनुद्भिन्ने एव श्लिष्येते इत्ययं निरुद्भेदो नाम वचनश्लेषः ॥

निरुद्भेद का उदाहरण—

क्षीणता के कारण मनोहर उसकी कमर तथा भुजा की कान्तिवृद्धि के लिये उसकी त्रिवलियां तथा कङ्कण अत्यधिक सहायक हुये ॥ १५९ ॥

यहां पर 'अभवन्' तथा 'वलय' इन दोनों तिङन्त तथा सुबन्त पदों में एकवचन तथा बहुवचन उद्भिन्न न होकर ही श्लिष्ट हो रहे हैं। अतः यहां निरुद्भेद नामक वचन श्लेष है।

उदाहरण में प्रयुक्त 'नेमिः' एक वचन में है तथा 'अन्येऽपि बहुवचन में। यह 'ददताम्' क्रिया के साथ अन्वय होने पर स्पष्ट हो जाता है। अतः एक वचनान्त और बहुवचनान्त पदों के पृथक् वचन का ज्ञान 'ददताम्' क्रिया के कारण हो जाता है। इसलिये यहां सोद्भेद श्लेष है। उसी श्लोक के उत्तरार्ध में 'पुण्यप्रभावं' एकवचनान्त है तथा 'प्रभवः' बहुवचनान्त इसका ज्ञान दोनों पदों के साथ रहने से हो जाता है यद्यपि साथ-साथ रहने के कारण 'प्रभवः' एकवचन भी प्रतीत हो जाता है।

दूसरे श्लोक में प्रयुक्त 'अभवन्' या 'अभवत्' तथा 'वलयः' के वचन को स्पष्ट करने वाला कोई दूसरा शब्द वाक्य में नहीं है। यदि 'वलयः' को 'वलि' का बहुवचन रूप माना जाये और उसका अर्थ 'उदर की रेखा' माना जाये तो भी 'अभवन्' रूप बहुवचन में प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार बहुवचन कर्ता का बहुवचन की क्रिया से अन्वय हो जाता है। यदि 'वलयः' का अर्थ 'कङ्कण' लिया जाये और इसे प्रथमा का एकवचनान्त रूप माना जाये तो भी 'अभवत्' रूप मिल जाता है क्योंकि ऐसी दशा में यह समझा जायेगा कि "ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्" नियम के अनुसार तकार का नकार आदेश होकर 'अभवन्' हो गया 'नितरां' परे रहते। अतः यहां पर 'वलय' का वचन किसी एक पद से स्पष्ट नहीं हो पाता। श्लेष के माहात्म्य से यह दोष नहीं रहता।

एकवचनबहुवचनाभ्यां विशेषणेषु संबन्धयोग्यताक्षेपात्तिङ्वचनेषु सुब्वचनेषु च यथायथमर्थद्वयोन्मीलनाच्छब्दरूपद्वयोद्भेदः। एकवचनेन वलयः कङ्कणं बहुवचनेन च मध्यरेखा इति सुबन्तपदे। एतदौचित्ये तिङन्तपदे चाभवन्निति वचनद्वयलाभः। न चानयोः किंचिदुद्भेदकं निबद्धमिति निरुद्भेदोऽयम्। तदेतदाह—अत्रेत्यादि ॥

पदश्लेषो यथा—

'अरिमेदः पलाशश्च बाहुः कल्पद्रुमश्च ते ।
बालेवोद्यानमालेयं सालकाननशोभिनी ॥ १६० ॥'

अत्र प्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानां पृथगभिधानादभिधानमालोक्तानि प्रातिपदिकान्येव पदशब्देनोच्यन्ते । तेन पूर्वार्धे शत्रुमेदोमांसादस्ते बाहुरित्यर्थेनारिमेदपलाशाख्यवृक्षनाम्नी श्लिष्येते । उत्तरार्धे च सालानां काननेन शोभत इत्येवंशीलेयमुद्यानमालेव द्व्यर्थेन सालकाननेन शोभत इत्येवशीला बालेत्युपमानार्थः श्लिष्यते । स एष पदश्लेषो नाम शब्दश्लेषः ॥

पदश्लेष का उदाहरण—

(हे महाराज) आपकी भुजा शत्रुओं के मेदा तथा मांस को खा जाने वाली और मित्रों के लिये मनोवाञ्छित फल देने वाली अतः अरिमेद, पलाश आदि वृक्षों के सदृश है । यह उद्यानमाला बाला की भांति सालकानन शोभिनी है अर्थात् जिस प्रकार वह सुन्दरी सुन्दर कुन्तल युक्त मुख से सुशोभित होती है उसी प्रकार यह वनराजि भी साल के वन से शोभित है ॥ १६० ॥

इस श्लेप प्रकरण में प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन से सम्बद्ध श्लेपों का अलग से निरूपण हो जाने से यहाँ नाममाला में बताये गये प्रातिपदिक ही पदशब्द से कहे जा रहे हैं । इससे पूर्वार्ध में शत्रु के मेदा, और मांस को खाने वाली आपकी भुजा है इस अर्थ के साथ अरिमेद तथा पलाश नामक वृक्षों के नाम भी श्लिष्ट हो जाते हैं ।

उत्तरार्ध में 'सालानां काननेन शोभते' इस प्रकार का यह उद्यानमाला की भांति 'सालकेन आननेन शोभते' इस प्रकार की सुन्दरी, यह सब उपमानार्थ दो अर्थ होने के कारण श्लिष्ट हो रहा है । यह ही पदश्लेप है जो शब्द श्लेप भी कहा जाता है ।

स्व० भा०—इस उदाहरण के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध परस्पर असम्बद्ध हैं । दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है । वृत्ति में प्रथम इस बात का निरूपण किया गया है कि पदश्लेप पूर्वोक्त भेदों से भिन्न है । यहाँ पदशब्द से मात्र प्रातिपदिक ग्रहण करना चाहिये पारिभाषिक रूप से 'सुप्तिङन्तं पदम्' के अनुसार नहीं, क्योंकि सुबन्त तथा तिङन्त का, प्रकृति और प्रत्यय का, पृथक् भेद के रूप में निरूपण किया जा चुका है । प्रातिपदिक की परिभाषा है—"अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" है । इसके अनुसार धातु अर्थात् प्रकृतिगत, प्रत्ययगत आदि का निरास हो जाता है । विभक्ति और वचन भी प्रातिपदिक में लगते हैं, अतः पद तथा इनका भेद भी स्पष्ट हो जाता है । अन्त में यह भी निरूपण है कि पद का अर्थ कोई पारिभाषिक न लेकर, सामान्य शब्द अर्थ में स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है ।

अरीणां मेदः शरीरधातुभेदः, पलं मांसमश्नाति यः स तथा, चकार उत्तरवाक्यापेक्षया । अरिमेदो विट्खदिरः, पलाशः किंशुकः, सालास्तरुविशेषास्तेषां काननम्, अलकाश्चूर्णकुन्तलास्तत्सहितमाननं च । पूर्वोत्तरार्धयोर्नैकवाक्यत्वमुदाहरणत्वात् । ननु विभक्त्यन्ताद्यान्यत्पदं तत्र पूर्वभागेन प्रकृतिश्लेप उत्तरभागेन च प्रत्ययश्लेप उद्दिष्ट एव, तत्कोऽन्यः पदश्लेप आह—अत्रेति । प्रकृतिप्रत्ययभावविवक्षाविरहे नाममालोक्तानि प्रातिपदिकान्येवावशिष्यन्त इत्यर्थः ॥

वर्णश्लेषोऽपि पदश्लेष एव । स यथा—

'त्वमेव देव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् ।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः ॥ १६१ ॥'

अत्र त्वमेव पातालमित्यकारः पाश्चात्ये, त्वं च अमरमरुद्भूमिरिति चकारः पौरस्त्येऽक्षरे श्लिष्टः पातालं चामरे इति च पदं रचयति । सोऽयं पदश्लेष एव वर्णश्लेष इत्युच्यते ॥

वर्णश्लेष भी पदश्लेष ही है । उसका उदाहरण—

हे देव तुम्हीं पाताल अथवा पूर्णरूप से रक्षक (पाता + अलम्) हो, तुम्हीं मनोरथों के अवलम्ब और दिशाओं के मिलनस्थल हो । तुम देवताओं तथा मरुतों के स्थल स्वर्ग तथा विवह, प्रवह आदि स्थल हो और तुम्हीं चामरों से निकलने वाली वायु के एकमात्र पात्र हो । अतः एक ही होने पर भी तुम तीनों लोकमय हो ॥ १६१ ॥

यहाँ 'त्वमेव पातालम्' इसमें अकार पिछले में, और 'त्वं च अमरमरुद्भूमिः' इसमें चकार सामने वाले (अगले) वर्ण में श्लिष्ट होकर 'पातालम्' तथा 'चामरम्' इत्यादि पद की रचना करते हैं । वही यह पदश्लेप ही वर्णश्लेष कहा जाता है ।

स्व० भा०—भोजराज वर्णश्लेष का पदश्लेष में अन्तर्भाव कर रहे हैं । उनके अनुसार जहाँ वर्णश्लेष दूसरे आचार्य मानते हैं वहाँ भी पदश्लेष ही है, क्योंकि ये वर्ण या तो अपने पूर्ववर्ती पदों में मिल जाते हैं अथवा परवर्ती, और एक नये ही पद की प्रतीति करा कर दूसरा अर्थ प्रकट कराते हैं । इसका अभिप्राय यह हुआ कि जहां वर्ण स्वतन्त्र रूप से अर्थावबोधन में असमर्थ होता है, वह जब कभी अर्थ प्रकट करता है तब पदके साथ अवश्य ही लगकर पद बन जाता है । जब पद रूप में ही अर्थ का ज्ञान कराना है तब अलग से एक वर्णश्लेष मानना अनुचित है ।

उदाहरण के लिये प्रायः वर्णश्लेष के उदाहरण प्रसङ्ग में उद्धृत होने वाले छन्द 'त्वमेव'० आदि देखे जा सकते हैं । 'पातालम्' के 'पाता + अलं' = पातालम् रूप में 'अलम्' का अकार अपने पिछले अर्थात् पूर्ववर्ती अकार में समाहित होकर पातालम् पद की सृष्टि करता है । इसी से 'अधोलोक' तथा खण्डार्थ या समङ्ग अर्थ करने पर रक्षक वाला अर्थ निकलता है । 'चामरमरुद्भूमि' पद में भी चवर्ण अपने अगले वर्ण अकार में मिलकर 'चामर' पद निष्पन्न करता है और उसका 'चँवर' अर्थ प्राप्त होता है । दोनों दशाओं में वर्ण पद के रूप में ही अर्थ प्रकट कराता है । अतः उसका भी पदश्लेष में अन्तर्भाव हो जाता है ।

रुद्रट ने काव्यालंकार में वर्णश्लेष का लक्षण और उदाहरण निम्नलिखित दिया है ।

यत्र विभक्तिप्रत्ययवर्णवशादैकरूप्यमापतति ।
वर्णानां विविधानां वर्णश्लेषः स विज्ञेयः ॥ ४।३॥
साधौ विधावपतविपराद्दावास्थितं विपादमितः ।
आयासि दानवत्त्वं तद्वर्ग्य पामकुर्वाणः ॥ ४।४॥

'अलंकारः शङ्काकरनरकपालं परिजनो
विशीर्णाङ्गो भृङ्गी वसु च वृष एको बहुवयाः ।
अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो-
र्विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी ॥'

इति वर्णश्लेषः काश्मीरकैः पृथगुदाहृतः । अत आह—वर्णश्लेपोऽपीति । अवयवाभेदे समुदायसंभवादवयवभेदे च समुदायभेदध्रौव्यात्पदश्लेषव्यवस्थितौ तत्रैवास्यान्तर्भावो

युक्त इति भावः। अलमत्यर्थं पाता रक्षिता, आशानां निबन्धनं मनोरथसफलीकरणबीजं, आशानां दिशां संश्लेषस्थानम्, चामरमरुद्भूमिः स्वर्लोकोऽमराणामिन्द्रादीनां भूमिरमरावत्यादिर्मरुतां च विवहादीनां भूमिर्वैमानिकपथश्चामरमरुद्भूमिश्चामरमरुतामाश्रयश्च। कथमत्र वर्णश्लेष इत्यत आह—अत्रेत्यादि। 'पतिचण्डिभ्यामालञ्' इति पतेरालञ्प्रत्यये पातालमिति रूपसिद्धावाकार एव मध्यवर्तिवर्णः, तत्रैव पुनरेकदेशप्रतिसंधाने पातालमित्याकारश्च प्रतीयते। अत्र च 'एकः पूर्वपरयोः' इति वचनादाकार एव श्रूयते तेनोत्तरः पौरस्त्येन संभिन्नः। एवं चकारस्योत्तरसंभेदो व्याख्येयः॥

भाषाश्लेषो यथा—

'कुरु लालसभूलेहे महिमोहहरे तुहारिविच्छिन्ने।
हरिणारिसारदेहे वरे वरं हर उमे भावम्॥ १६२॥'

अत्र—

'ध्यानानीतां च रुद्राणीं कान्तां च पुरतः स्थिताम्।
रणेच्छुः कश्चिदानर्चे दिव्यप्राकृतया गिरा॥ १६३॥'

तत्र रुद्राणीपक्षे—हे उमे, हरे भवे वरं श्रेष्ठं भावं कुरु। किंभूते। लालसभूलेहे लालसभूः कामस्तं लेढि यस्तस्मिन्। तथा महिम्ना प्रभावेणोहं वितर्कमपहरति यस्तस्मिन्महिमोहहरे। महेश्वरसंनिधौ हि सर्वज्ञानाभिभव इति श्रूयते। अतएव तोहन्ति अर्दयन्ति तुहा अरयस्तैर्विच्छिन्ने विरहिते। अपरमप्यरीणां विच्छेदकारणमाह—हरिणारिसारदेहे हरिणारिः सिंहस्तस्य सारो बलं स देहे यस्य तस्मिन्। वरे परिणेतरीति। उमाया एव वा इमानि संबोधनविशेषणानि। कान्तापक्षे तु—हे कान्ते, तव योऽयं हरिनार्याः श्रियाः सार उत्कृष्टो देहस्तत्र यद्वरं श्रेष्ठं विलोचनाननस्तनजघनादि तन्मे भावमभिलाषं हरतु। कामान्पूरयत्वित्यर्थः। किंभूते देहे। कुटिलालसभ्रूलेखे महिमोहहरे गृहे हारिणि विच्छिन्ने च तनुमध्यत्वादिभिरिति॥

भाषा श्लेष का उदाहरण—

कोई भक्त पार्वती से कहता है, 'हे उमे, पार्वति, तुम इच्छा से उत्पन्न होने वाले काम के नाशक, अपने महत्त्व से सभी वितर्कों को हरने वाले, पीडकशत्रुओं से रहित, हरिण के शत्रु सिंह के सदृश बलिष्ठ देहधारी अपने पति शिव के प्रति श्रेष्ठभाव करो॥

महाश्रीप्राकृत में इस श्लोक को स्वीकार करने से संभाव्य अर्थ—

प्रेमी अपनी प्रेयसी से कहता है, "हे प्रियतमे, तुम्हारी इच्छा से पृथ्वीभर के प्राणियों को अपनी ओर आकृष्ट करने वाले, सभी प्राणियों को मुग्ध कर लेने वाले मोह के गृह स्वरूप, हार से सुशोभित, स्फुट अङ्गों वाले तथा विष्णुपत्नी लक्ष्मी के प्रशंसनीय अंगों की भांति सुन्दर अवयवों वाले तुम्हारे कमनीय कलेवर मेरे भावों का अपने में आहरण करे। अर्थात् मेरे समस्त कामनाओं को पूर्ण करे॥ १६२॥

इसमें—

ध्यान से प्रत्यक्ष हो गई पार्वती तथा सामने खड़ी हुई प्रेयसी दोनों का रणप्रयाण करने के इच्छुक किसी व्यक्ति ने संस्कृत तथा प्राकृत वाणी द्वारा (एक ही छन्द से) प्रार्थना की॥ १६३॥

इनमें रुद्राणी के पक्ष में—हे उमे, हर में—शंकर में वर—श्रेष्ठ भाव को करो। किस प्रकार के (शिव में)? लालसभूलेहे—लालसभूः कामदेव उसे भी चाट जाता है जो उसमें। तथा महिम्ना—प्रभाव से ऊह-तर्क-वितर्क का अपहरण करता है जो उस महिमोहहरे (महिमा+ऊह+हरे)। भगवान् शिव की सन्निधि में निश्चित ही सभी ज्ञानों का तिरोभाव हो जाता है ऐसा सुना जाता है। इसीलिये जो तोहन करते हैं—अर्दन करते हैं वे तुहा—अरिगण हैं—उनसे विच्छिन्न—रहित में। शत्रुओं के विच्छेद का दूसरा भी कारण कहा है—हरिणारिसारदेहे—हरिण का शत्रु सिंह उसका सार—बल—वह है देह में जिसके उसमें। वरे—परिणेता में—पति में। अथवा इन सभी (सप्तम्यन्त पदों को) उमा का ही संबोधनरूप विशेषण समझा जा सकता है। अर्थात् हे इन विशेषणों से युक्त उमे, मेरे प्रति सुंदर भाव करो। कान्तापक्षीय अर्थ लेने में तो—हे कामिनि, तुम्हारा यह जो विष्णुपत्नी श्री का सार-उत्कृष्ट देह है उसमें जो वर-श्रेष्ठ नेत्र, मुख, उरोज, जघन आदि है, वह मेरे भाव—अभिलाषा को हो। कामनाओं को पूरा करे यह अभिप्राय है। किस प्रकार की देह में। टेढ़े-मेढ़े, अलसाये हुये सुंदर भ्रूलेखा वाले। पृथ्वी भर को मुग्ध कर आकृष्ट कर लेनेवाले (सौन्दर्य) के निधान, हारिणि—हार धारण करने वाले, विच्छिन्ने—स्फुट अवयव वाले, क्षीणकटि आदि के कारण।

स्व० भा०—यहां पर भाषा श्लेष है। यहां ऐसी रीति से एक भाषा में एक बात कही गई है कि वर्णों में विना विशेष परिवर्तन किये भी दूसरी भाषा में बने हुये छन्द का सा भिन्न अर्थ निकल रहा है। उपर्युक्त श्लोक संस्कृत तथा महाराष्ट्री-प्राकृत दोनों के परस्पर समान पदों से बना है। दोनों भाषाओं में अर्थ लेने से दो पृथक्-पृथक् अर्थ निष्पन्न हो जाते हैं।

दिव्या संस्कृता। प्राकृता महाराष्ट्री। भावश्चेतसो लयः। लालस इच्छा तस्माद्भवतीति लालसभूः संकल्पयोनित्वात्कामस्तं लेढीति कर्मण्यण्। ऊहस्तर्कः संशयपृष्ठभावी विपरीत-प्रत्ययविशेषः। कथं तं हरतीत्यत आह—महेश्वरसंनिधाविति। संनिधिः साक्षात्काररूपः। सर्वज्ञानानि संस्कारप्रवर्तकानि। 'तुहिर् अर्दने' तोहतीति इगुपधत्वात्कप्रत्यये तुहा अरयः। ते द्विधा—आन्तराः, बाह्याश्च। आन्तरा मदमानादयः षट्, बाह्याः चेत्रापहार-कादयः। तत्र पूर्वावच्छेदे च हरिणारिसारदेहत्वं हेतुरुक्तः। हरिणारिसार इव सारो यस्ये-त्युत्तरपदलोपे हरिणारिसारो देहो यस्येति विग्रहवाक्यमवसेयम्। यथाश्रुत्यर्थकथनमात्र-मुपाया एधेत्यत्र लालसभूलेह इत्यच्प्रत्यये व्याख्येयम्। तुशब्दस्तवार्थे। 'तुतुवतुहतुब्भ-तुज्झा ङसः' इति सूत्रात्। हरिनारी लक्ष्मीस्तस्याः सकाशात् सारः प्रकर्षशाली देहः। 'पञ्चमी' इति योगविभागात्समासः। कुरुलाश्चूर्णकुन्तलाः। महीशब्देन भूगोलवर्तिनः प्राणिनोऽभिमतास्तेषां मोहगृह इति व्याख्येयम्। विच्छिन्नो विभक्तावयवः॥

यथा वा—

'रुचिरञ्जितारिहेतिं जननमितं सामकायमकलङ्कम्।
सन्तममितं च मानय कमलासनमभिविराजन्तम्॥ १६४॥'

'भूतसंस्कृतभाषाभ्यां द्विर्नमस्कृत्य माधवम्।
जगाम समरं कोऽपि कस्य श्रेयसि तत्परः॥ १६५॥'

तत्र भूतभाषायां यथा—

रुचिरं मनोहरं जितारिहेतिं भग्नसपत्नायुधं जनैर्नमितं श्यामकायमकलङ्कं

शान्तं शान्तरूपं अमितमनन्तम् । चः समुच्चये । कमलासनं ब्रह्माणमभिलक्षीकृत्य विराजन्तं शोभमानं मानय पूजयेति ॥

संस्कृतभाषायां यथा—

रुचिभी रञ्जिता अरिहेतयश्चक्रदीप्तयो येन तम् , जननैर्दशभिरवतारैर्मितं परिच्छिन्नम् , सामानि कायति गायति यः स सामकायस्तम् , न विद्यते कला यस्य सोऽकलस्तम् , कं सन्तं ब्रह्माणं अं विष्णुमितं गतम् , अभिविराजं गरुत्मन्तमभि तं प्रसिद्धं कमलासनं श्रिया संसक्तं मा मां नय प्रापयेति ॥

अथवा जैसे (भूतभाषा—पैशाची—और संस्कृत का श्लेष) दर्शनीय हैं।

(पैशाचीगत अर्थ) मनोहर, शत्रुओं के शस्त्रों को नष्ट कर देने वाले, लोगों के द्वारा प्रणम्य, श्यामल शरीर, निष्कलङ्क, शान्तरूप और अनन्त ब्रह्मा को लक्ष्य कर शोभित हो रहे भगवान् विष्णु को पूजो अर्थात् वे पूज्य हैं।

संस्कृतनिष्ठ अर्थ—अपनी कांति से चक्र की किरणों को भी शोभित करने वाले, दश अवतारों से युक्त, सामगान करने वाले, अखण्ड, कशब्दाभिधेय ब्रह्मा तथा विष्णुभाव को प्राप्त पक्षिराज गरुड के साथ रहने वाले उन लक्ष्मीनिधान विष्णु के पास मुझे ले चलो ॥ १६४ ॥

पैशाची तथा संस्कृत दोनों भाषाओं द्वारा भगवान् विष्णु को दो बार प्रणाम करके लड़ने के लिये गया। भला कल्याण से किसकी तृप्ति होती है ॥ १६५ ॥

इन दोनों में भूतभाषा में (इस गाथा का यह अर्थ होगा)—रुचिरम्—मनोहर को, जितारिहेतिम्—शत्रुओं के शस्त्रास्त्रों को नष्ट करने वाले, लोगों द्वारा प्रणम्य, श्यामलशरीर वाले, कलङ्कहीन, शान्त—शान्तरूपवाले, अमित—अनन्त को। च का प्रयोग समुच्चय के लिये हुआ है। कमलासनम्—ब्रह्मा को लक्ष्य करके, विराजन्तम्—शोभमान—सुशोभित हो रहे (विष्णु को) मानय—पूजो।

संस्कृत भाषा में इस छन्द का अर्थ—

कान्ति में रंग दी गई हैं—अरिहेतयः—चक्र की दीप्तियां जिसके द्वारा, उसको, जपने—दश अवतारों से मित—परिच्छिन्न, साम का कायन—गायन जो करता है, वह है सामकाय, उसको, न ही है कला—खण्ड—जिसका वह है अकल—निष्कल, उसको, कं सन्तं ब्रह्माणं—'क' के रूप में विराजमान ब्रह्मा तथा अम्—विष्णु को इतम्—प्राप्त, अभिविराजम्—पक्षिराज गरुड के प्रति (उन्मुख), तथा उस प्रसिद्ध कमलासन—लक्ष्मी से संयुक्त के पास मुझे ले चलो, उन्हें प्राप्त कराओ।

स्व० भा०—यह दूसरा उदाहरण भोज ने केवल इसलिये दिया है कि लोगों में कहीं यह भ्रम न रहे कि केवल संस्कृत तथा महाराष्ट्री में ही भाषा श्लेष होता है। विभिन्न भाषाओं का पृथक्-पृथक् भाषाओं से श्लेष सम्भव है। रुद्रट ने अपने काव्यालंकार के चतुर्थ अध्याय में १०-२४ कारिकाओं तक भाषाश्लेष के अनेक उदाहरण दिये हैं।

एवं पैशाचादिभिरपि संस्कृतस्य प्राकृतादेश्च परस्परसंभेदनाच्छ्लेपो गवेषणीय इत्याशयवानाह— यथा वेति। अकलङ्कं दोषरहितं मानयेति धात्वर्थस्य भाव्यत्वेनान्वयात्पूजां कुर्वित्यर्थः। ब्रह्माणमभिलक्षीकृत्येति। रुचय आत्मीयाः। अरा विद्यन्ते यस्य तदरि चक्रम्। हेतयः किरणाः। जननं जन्म। सामानि कायति कीर्तयतीति 'अपवाद विषये क्वचिदुत्सर्गः प्रवर्तते' इति कर्मण्यण्। कला अवयवाः प्रसिद्धाः। वीनां पक्षिणां राजा गरुडस्तमभि इतं गतम्। कमला लक्ष्मीस्तस्या आसनमधिष्ठानं मा मां नयेति ॥

(१५) अनुप्रास अलंकार

आवृत्तिर्या तु वर्णानां नातिदूरान्तरस्थिता ।
अलंकारः स विद्वद्भिरनुप्रासः प्रदर्श्यते ॥ ७० ॥

अत्यधिक दूरी पर न होने वाली अर्थात् कम दूरी पर होने वाली जो वर्णों की आवृत्ति है, विद्वानों के द्वारा वही के रूप में अनुप्रास अलंकार प्रदर्शित की जाती है ॥ ७० ॥

स्व० भा०—यमक में सार्थक अथवा भिन्नार्थक पदों की और पादों की यथासम्भव आवृत्तियां अपेक्षित थीं। अनुप्रास में वर्णों की आवृत्ति प्रधान होती है। ये वर्ण जितने ही निकट होते हैं उतना ही अधिक सौन्दर्य दृष्टिगत होता है।

अनुद्भटावृत्तेर्भिन्नादुद्भटावृत्तिमनुप्रासं पूर्वं लक्षयति—आवृत्तिरिति। वर्णानामिति वचनमतन्त्रम्। 'सारः सारस्वती मूर्तिः' इत्यादावेकवर्णावृत्तेरप्यनुप्रासत्वात्। तेन यमकव्यतिरिक्ता वर्णावृत्तिरनुप्रास इति लक्षणमुक्तं भवति। न च श्लेषेऽतिप्रसङ्गः। तन्त्राभ्यां विशेषात्। पूर्वजातिप्रतिबिम्बनेन बन्धच्छायार्थकतयानुप्रासोऽलंकारपदवीमध्यास्ते। न च निर्निमित्तमेव प्रतिबिम्बनमत आह—नातिदूरेति। अस्ति कश्चिदुच्चारणस्य ज्ञानस्य वा विशेषो यः शीघ्रमेव संस्कारमुद्बोधयतीति तद्वती वर्णावृत्तिरभिप्रेता। अत एव प्राचीनवर्णजात्यनुगतः सहृदयावर्जकतया प्रकृष्टश्च वर्णानामनुप्रास इति काश्मीरिका निरुक्तिः॥

अनुप्रास के भेद तथा श्रुत्यनुप्रास

श्रुतिभिर्वृत्तिभिर्वर्णैः पदैर्नामद्विरुक्तिभिः ।
लाटानामुक्तिभिश्चायं षट्प्रकारः प्रकाशते ॥ ७१ ॥
प्रायेण श्रुत्यनुप्रासस्तेष्वनुप्रासनायकः ।
सनाथैव हि वैदर्भी भाति तेन विचित्रिता ॥ ७२ ॥
निवेशयति वाग्देवी प्रतिभानवतः कवेः ।
पुण्यैरमुमनुप्रासं ससमाधिनि चेतसि ॥ ७३ ॥

श्रुतियों से, वृत्तियों से, वर्णों से, पदों से, नाम की द्विरुक्तियों से, लाटदेशीय लोगों की उक्ति से यह अनुप्रास छः प्रकार का प्रकाशित होता है। इन छः प्रकारों में मुख्यतया श्रुत्यनुप्रास ही उनका नायक है। उसके कारण ही चित्रविचित्र रूप पाकर वैदर्भी रीति सनाथ सी सुशोभित होती है। बड़े सत्कर्मों के फलस्वरूप ही भगवती सरस्वती किसी प्रतिभाशाली कवि के सुसंयत मन में इस अनुप्रास का प्रवेश कराती है ॥ ७१-७३ ॥

स्व० भा०—यहां भोज के कहने का अभिप्राय यह है कि अनुप्रास छः प्रकार का है—श्रुत्यनुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, वर्णानुप्रास, पदानुप्रास, नामोक्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास। इनमें से श्रुत्यनुप्रास का प्रयोग वैदर्भीरीति में अधिक शोभा उत्पन्न करता है।

एवं स्थिते सामान्यलक्षणविभागमाह—श्रुतिभिरिति। आवृत्तिर्द्विधा—वर्णमालावलम्बिनी, समुदायगोचरा च। आद्यापि द्विधा—सामान्यतः, रूपतश्च। सामान्यमपि द्विधा—स्थानतः, व्यापारतश्च। तत्र स्थानं कण्ठादिलक्षणं सैव श्रुतिः। श्रूयते हि तयाभि-

व्यक्तो वर्णव्यापारोऽभिव्यञ्जनरूपः, स एव रसविषये वर्तनं वृत्तिरुच्यते। श्रुतिभिरित्यादौ इत्थंभूतलक्षणे तृतीया॥

प्रायेणेति। श्रुत्यनुप्रासो हि श्लेषघटकः। श्लेषश्च गुणान्तरसमकक्षतयावतिष्ठमानो वैदर्भीं प्रयोजयति। अनुप्रासान्तरं तु प्रौढिं वा माधुर्यं वा प्रकर्षयतीति न तथानुकूल्यम्। कविशक्तिवशात्तु क्वचित्तदपि प्रयोजयतीति प्रायपदेन सूचितम्। स्थितिप्रयोजको लोके नाथ इत्युच्यते, तेषु नायक इत्येव वक्तव्ये पुनरनुप्रासपदमनुप्रासान्तरसाधारण्येनैव शब्दालंकारत्वं दर्शयितुमिति समाधेयम्। विचित्रिता आलेख्यमिव लेखया चमत्कारकारित्वमानीता॥

कथं पुनरस्यानुप्रासस्य पृथक्प्रयत्नानुसंधेयस्यापि रसप्रकाशसामग्र्यामन्तर्भाव इत्यत आह—निवेशयतीति। अक्लिष्टपदवाक्यार्थस्फुरणं प्रतिभानम्। तदेव कथमित्यत आह—ससमाधिनीति। पुण्यैरिति। तेन रसवत्त्वव्यवस्थितस्य कवेरहंपूर्विकाकृष्टोऽनुप्रासो न पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्य इति तात्पर्यम्। ग्राम्यादिभेदोऽग्रे विवरिष्यते॥

स त्रिधा—ग्राम्यः, नागरः, उपनागरश्च। तेषु ग्राम्यश्चतुर्धा—मसृणः, वर्णमसृणः, वर्णोत्कटः, वर्णानुत्कटश्च।

तेषां मसृणो यथा—

'एष राजा यदा लक्ष्मीं प्राप्तवान्ब्राह्मणप्रियः।
तदा प्रभृति धर्मस्य लोकेऽस्मिन्नुत्सवोऽभवत्॥ १६६॥'

अत्र स्थानतः समानश्रुतीनां मूर्धन्यतालव्यदन्त्यौष्ठ्यकण्ठ्यवर्णानां प्रथमतृतीयपादयोर्निरन्तरा द्वितीयचतुर्थयोश्च सान्तरा पट इव स्रग्दाम्नीव वा वर्णप्रदानान्मसृणैवावृत्तिः। सोऽयं श्रुत्यनुप्रासो मसृण इत्युच्यते॥

यह श्रुत्यनुप्रास तीन प्रकार का होता है—ग्राम्य, नागर तथा उपनागर। इनमें से ग्राम्य भी चार प्रकार का है—मसृण, वर्णमसृण, वर्णोत्कट तथा वर्णानुत्कट।

इनमें मसृण वहां होता है।

जैसे—जब से इस ब्राह्मणप्रेमी राजा ने समृद्धि अथवा राजवैभव प्राप्त किया है, तब से ही इस लोक में धर्म का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ॥ १६६॥

यहां पर स्थान के कारण समान सुनाई पड़ने वाले मूर्धन्य, तालव्य, दन्त्य, ओष्ठ्य तथा कण्ठ्य वर्णों की प्रथम तथा तृतीय पादों में लगातार तथा द्वितीय और चतुर्थ पादों में व्यवहित रूप से वस्त्र में अथवा पुष्पमाला में की भांति वर्ण रखने से आवृत्ति मसृण ही है। वही यह श्रुत्यनुप्रास मसृण कहा जाता हैं।

स्व॰ भा॰—श्रुत्यनुप्रास श्रवण के आधार पर निश्चित होता है। मुख के भीतर उच्चारण के अनेक वागवयव हैं जिनको स्थान कहा जाता है। जब कहीं एक श्लोक अथवा पाद में एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले अनेक वर्ण थोड़ी-थोड़ी दूरी पर सुनाई पड़ते हैं तब श्रुत्यनुप्रास होता है। एक ही पद से प्रतीत हो रहे अर्थात् अत्यन्त निकटवर्ती पदों में एक स्थान के वर्णों का सुनाई पड़ना मसृण है। रूप में सजातीयता होने पर भी अर्थात् देखने में जब वर्ण एक ही स्थान से उत्पन्न प्रतीत होते हैं और अपने सौन्दर्य से मसृण को भी तिरोहित कर देते हैं तब वर्णमसृण होता है।

प्रस्तुत श्लोक में ही 'एष राजा' में षकार तथा रेफ मूर्धन्य है, 'राजा यदा' के 'ज' तथा 'य'

तालव्य हैं, 'यदा लक्ष्मीन्' में 'द्' तथा 'ल्' दन्त्य हैं। इन वर्णों के बीच में किसी विजातीय वर्ण का व्यवधान नहीं है अतः ये निरन्तर हैं। प्रथम पाद में तो यही स्थिति है। इसी प्रकार तृतीय पाद में भी तकार तथा दकार, दन्त्य हैं, पकारमकार ओष्ठ्य हैं तथा तकार दकार दोनों दन्त्य हैं। ये भी अव्यवहित ही हैं। इसी प्रकार द्वितीय और चतुर्थ पादों में भी देखा जाता है। अतः यहां मसृण श्रुत्यनुप्रास है।

एकपदप्रतिभासमात्रानुमेयो मसृणः। रूपसाजात्येऽपि मसृणतान्यग्भूतो वर्णमसृणः। उद्भटरूपसाजात्यानुविद्धो वर्णोत्कटः। अनुद्भटसाजात्यानुरोधेन किंचिदभिभूतमसृणभावो वर्णानुत्कटः। एप राजेत्यादावुदाहरणे पकाररेफौ मूर्धन्यौ, जकारयकारौ तालव्यौ, दकारलकारौ दन्त्याविति प्रथमपादे। तकारदकारौ दन्त्यौ, पकारभकारावोष्ठ्यौ, तकारधकारौ दन्त्याविति तृतीयपादे च निरन्तरं द्वितीयपादे रेफणकारौ मूर्धन्यौ। चतुर्थपादे लकारसकारौ दन्त्यावित्यादि। विना क्रमेण सान्तरमावर्तनं नवरूपसाजात्यं क्वचिदुल्लिखतीति मसृण एवायम् ॥

वर्णमसृणो यथा—

'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥ १६७ ॥'

अत्र दन्त्यौ मूर्धन्यावोष्ठ्यौ डलयोरैक्येन दन्त्यपञ्चकं मूर्धन्य इत्यादिना क्रमेण यद्यपि पूर्ववत्स्थानतः समानश्रुतितया मसृणवावृत्तिः, तथापि चित्रपट इव माल्यग्रथन इव वा याऽयं क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः, पयोधरः, वलीः, स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः, इति नानावर्णात्मकः सूत्रान्तरस्येव पुष्पान्तरस्येव वा स्थानभेदेन मसृण एव निवेशस्तेनैष श्रुत्यनुप्रासो वर्णमसृण इत्युच्यते ॥

वर्णमसृण वहाँ होता है जैसे—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य प्रथम परिच्छेद का ७८ वाँ उदाहरण)

यहाँ पर दो दन्त्य, दो मूर्धन्य, दो ओष्ठ्य, डकार तथा लकार को एक मानने से, पाँच दन्त्य, मूर्धन्य इत्यादि क्रम से यद्यपि पहले की भांति स्थान से समान श्रुति होने के कारण आवृत्ति मसृण ही है, तथापि चित्रपट की भांति अथवा माला के गुम्फन की भांति जो यह 'क्षणं', 'पक्ष्मसु' ताडिताधराः, पयोधरः, वलीः, स्खलिताः, प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः' आदि अनेक प्रकार के वर्णों का वस्त्र में दूसरे प्रकार के सूत्रों अथवा माला में दूसरे प्रकार के पुष्प की भांति उच्चारण के स्थान में भेद होने के कारण इनका सन्निवेश मसृण ही है, इसलिये यह श्रुत्यनुप्रास वर्णमसृण कहा जाता है।

स्व० भा०—जब निरन्तर अथवा अल्प सान्तर क्रम से सजातीय वर्णों का विन्यास होता है तब मसृण होता है, और जब इनके बीच-बीच में ऐसे वर्ण आते रहते हैं जिनसे मसृण की शोभा दब सी जाती है, इन वर्णों का सौन्दर्य विशेष चामत्कारिक होता है, तब वर्णमसृण होता है। यथा, उपर्युक्त उदाहरण में थकार तथा तकार दो दन्त्य हैं, षकार और णकार दो मूर्धन्य हैं, पकार तथा मकार ओष्ठ्य हैं। 'ताडिताधराः' में डकार के स्थान पर लकार मानने से 'पक्ष्मसु' के सकार से लेकर आगे धकार तक पांच दन्त्य वर्ण पड़ते हैं और उनसे भी आगे रेफ आता है जो कि मूर्धन्य है। यह क्रम प्रथम पाद में है। द्वितीय पाद में धकार तथा सकार और नकार

तथा तकार दन्त्य हैं। इसी प्रकार इनका क्रम सान्तर—व्यवहित—तथा निरन्तर—अव्यवहित हैं। यह सब दशायें मसृण की ही हैं। किन्तु बीच-बीच में आये हुये पयोधर, वली, स्खलित आदि विभिन्न स्थान से उच्चरित वर्णों के आने से शोभा और भी बढ़ गई हैं। अतः यहां वर्णमसृण है। इसमें समान श्रुति भी नहीं क्षत होती हैं और सौन्दर्य भी बना रहता है। जिस प्रकार एक रंग के वस्त्र अथवा एक रंग के फूल की माला में दूसरे रंग का धागा और फूल लगा देने से उनकी श्रीवृद्धि ही होती है, उसी प्रकार की दशा यहां भी है।

अत्र चित्रतन्तुमयः पटः। एकजातीयकुसुमग्रथनात्प्राक् स्थिता इत्यादि। अत्र थकारतकारौ दन्त्यौ, पकारणकारौ मूर्धन्यौ, पकारमकारावोष्ठ्यौ। ताडितेत्यत्र डकारे लकारकल्पनया सनतलधाः पञ्च दन्त्याश्च रेफो मूर्धन्य इति प्रथमपादे। द्वितीयपादे च धकारसकारौ नकारतकारौ दन्त्यावित्यादिना क्रमेण सान्तरा निरन्तरा च श्रुतित एव वर्णावृत्तिः पूर्ववदुपलभ्यते। किंतु तकारादीनां रूपतोऽपि स्थाने स्थाने पूर्वमसृणतान्यग्भूतैवावृत्तिस्तेनायं वर्णमसृणः। श्रुतिसाजात्यं च न क्वचिद्विघटते। अत्रैव निदर्शनद्वयम्॥

वर्णोत्कटो यथा—

'विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलदृष्टिः प्रविलुप्तचन्दनम्।
बबन्ध बालारुणबभ्रुवल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति॥ १६८॥'

अत्र सर्वं पूर्ववत्। किंतु तृतीयपादे बबन्ध बालारुणबभ्रुवल्कलमिति वर्णाधिक्ययोगः। सोऽयं वर्णोत्कटो नाम श्रुत्यनुप्रासः॥

वर्णोत्कट का उदाहरण—

दृढ़प्रतिज्ञावाली तथा चञ्चलाक्षी पार्वती ने अपने (वक्षस्थल) के चन्दन को पोंछने वाले हार को छोड़ दिया। प्रातःकालीन सूर्य के सदृश अरुण और उरोजों की ऊँचाई के कारण छिन्न-भिन्न हो गये वल्कलों को बाँधा॥ १६८॥

यहां सब कुछ पहले जैसा ही है। किन्तु तृतीय चरण में 'बबन्ध बालारुणबभ्रुवल्कलं' में वर्णों का योग अधिक है। वही यह वर्णोत्कट नामक श्रुत्यनुप्रास है।

स्व० भा०—वृत्ति में 'अत्र सर्वं पूर्ववत्' कहने का अभिप्राय यह है कि इस श्लोक में भी वे गुण विद्यमान हैं जो पूर्ववर्ती दोनों श्रुत्यनुप्रासों के बताये गए हैं। हकारद्वय कण्ठ्य, मकारद्वय ओष्ठ्य, चकार तथा यकार तालव्य आदि हैं, अतः मसृणता सिद्ध है। हकार आदि में सजातीयता होने पर भी सकार, नकार, लकार आदि दन्त्य वर्णों के सन्निवेश से वर्णमसृणता भी है। किन्तु तृतीय पाद में 'बवयोरभेदः' करने से 'ब' वर्ण का योग अधिक हो गया है। अतः उत्कटता आ गई है। इसी को वर्णोत्कट कहते हैं।

विमुच्येति। हारोचितसंनिवेशयोरपि स्तनयोरनुचितवल्कलबन्धसंभावने हेतुरहार्यनिश्चयेति। अत एव सा मां कोऽपि वारयेदिति कातरताप्रादुर्भावादितस्ततो विलोलदृष्टिः। अत्र हकारमकारावोष्ठ्यौ, चकारयकारौ तालव्यावित्यादिना क्रमेण मसृणा हकारादीनां रूपसाजात्येऽपि मसृणताप्राधान्याद्वर्णमसृणा चावृत्तिरित्याह—अत्र सर्वमिति। वर्णोत्कटत्वं व्याचष्टे—वर्णाधिक्यप्रयोग इति। उद्भटं हि रूपसाजात्यं वर्णोत्कटत्वम्। तच्च सरूपवर्णावृत्त्याधिक्येनेत्यर्थः॥

वर्णानुत्कटो यथा—

'ततः प्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे ललाटिकाचन्दनधूसरालका।

न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं तुषारसंघातशिलातलेष्वपि ॥ १६६ ॥'

अत्र दन्त्यवर्णप्रायतयातिमसृणत्वे शिलातलेष्विति दन्त्यवर्णाभ्यामेव वर्णस्तोमो दत्तः । सोऽयं वर्णानुत्कटो नाम श्रुत्यनुप्रासः । तेऽमी चत्वारोऽप्यतिप्रसिद्धतया ग्राम्या उच्यन्ते ॥

वर्णानुत्कट का उदाहरण—

उसी समय से उत्कट अभिलाषा वाली पार्वती अपने पिता के घर में रहकर शीतलता के लिये अपने मस्तक में चन्दन लगाती थी, जिनके कणों से उसके काकपक्ष धूसरित हो जाते थे। उसमें सन्ताप इतना बढ़ गया था कि बेचारी को हिमराशि के खण्डों पर भी शांति नहीं मिल पाती थी ॥ १६९ ॥

इस श्लोक में दन्त्यवर्णों की अधिकता होने से अतिमसृणता है फिर भी 'शिलातलेषु' इस पद में दो दन्त्य वर्णों (दो लकारों) के द्वारा ही वर्णसमूह दिया गया है। वही यह वर्णानुत्कट नाम का श्रुत्यनुप्रास है। ये चारो ही अत्यधिक प्रसिद्ध होने के कारण ग्राम्य कहे जाते हैं।

स्व० भा०—प्रस्तुत श्लोक में तवर्ग तथा दन्त्यवर्णों का प्राचुर्य है। इससे मसृणता अधिक बढ़ गई है। किन्तु 'शिलातले' इस पद में दो ही लकारों ने आकर पदगुच्छ को सुंदर बना दिया है। लकार की संख्या केवल दो ही होने से सौन्दर्य आया तो किन्तु विशेष उत्कटता नहीं आई। अतः यहां वर्ण की अनुत्कटता—अनाधिक्य—मानी गयी है।

भोज ने श्रुत्यनुप्रास के ग्राम्य आदि भेद प्रसिद्धि के आधार पर माना है, यह बात वृत्ति से ज्ञात होती है। ग्राम्यवर्ग अधिक है अतः उनमें प्रचलित किसी बात का विख्यात होना स्वाभाविक ही है। जो बात अधिक लोगों में व्याप्त होती है, उसे ही तो विख्यात कहा जाता है।

ततः प्रभृतीति। तापोद्रेकाद्दत्तं दत्तमेव चन्दनमाश्यानभावेन रेणुभिरलकच्छटासु विशीर्यत इति द्वितीयकामावेशो ध्वनितः। अत्र तकारनकारौ दकारनकारावित्यादिना क्रमेण श्लोकसमाप्ति यावद्बहवो दन्त्याः। तेनैकश्रुतिव्याप्तस्य संदर्भस्य मसृणतायामतिशयः। शिलातलेति रूपसाजात्येन लकारावुद्भूतश्रुतिकौ। न चाधिकावृत्तिरत्रास्तीत्यनुत्कटता। न च श्रुतेरुद्भवेऽपि मसृणता न प्रकृष्यत इति वर्णानुत्कटोऽयम्। ग्राम्यत्वं व्याचष्टे—तेऽमी चत्वारोऽपीति। श्रुतिसाजात्यस्य शब्दानुशासनेऽपि प्रसिद्धेरतिप्रसिद्धत्वम् ॥

ग्राम्यवैपरीत्येन नातिप्रसिद्धो नागरः। यथोच्यते—

> एकत्वबुद्धिर्भेदेऽपि तत्त्वेऽप्येकत्वनिह्नवः।
> यस्य वर्णस्य तं प्राहुरनुप्रासस्य जीवितम् ॥ ७४ ॥

तत्र भेदेऽप्येकत्वबुद्ध्या समानस्थानयोर्यथा—

> 'हरेर्लाङ्गलघर्माशुर्व्योम्नि दीर्घेण रंहसा।
> बलिबन्धनघोरोऽङ्घ्रिग्रंहःसङ्घं निहन्तु वः ॥ १७० ॥'

अत्र हकारस्य तुल्यस्य तुल्यस्थानेन घकारेण सह भेदेऽप्येकत्वबुद्धेस्तुल्यश्रुतित्वामति भेदेऽप्येकत्वबुद्ध्या नागरानुप्रासोऽयम् ॥

ग्राम्य के विपरीत होने से जो अधिक प्रसिद्ध नहीं है वह नागर है। जैसे कि कहा जाता

है—जिस वर्ण के भिन्न होने पर भी एकता का ज्ञान हो तथा एकत्व होने पर भी एकत्व छिप जाये अथवा अत्यन्त तिरस्कृत हो जाये तो उसे अनुप्रास का प्राण कहा गया है ॥ ७४ ॥

इनमें से भेद होने पर भी समान उच्चारण स्थान वाले दो वर्णों की एकत्व बुद्धि होने का उदाहरण—

बड़ी शीघ्रता से आकाश में सूर्य को भी लांघ जाने वाला तथा बलिबन्धन के कारण भयङ्कर लगने वाला भगवान् का चरण आप लोगों के भय अथवा पापसमूह का विनाश करें ॥ १७० ॥

यहां पर तुल्य उच्चारण स्थान वाले हकार का तुल्यस्थान वाले घकार के साथ भेद होने पर भी एकत्व बुद्धि होने से एक जैसा उच्चारण सुनाई पड़ता है। अतः भेद होने पर भी एकत्वबुद्धि के कारण यह नागर अनुप्रास है।

स्व० भा०—उदाहृत छन्द में हकार तथा घकार दो वर्णों को पढ़ते समय प्रायः दोनों का उच्चारण एक सा सुनाई पड़ता है। 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार हकार तथा घकार का उच्चारण स्थान कण्ठ ही होने से समान है, एक है, किन्तु ये दोनों वर्ण परस्पर भिन्न है। एक कवर्ग का है दूसरा ऊष्म है। वास्तविक रूप से दोनों ध्वनियाँ पृथक्-पृथक् हैं अतः दोनों में भेद हैं। समान ही उच्चारण स्थान हैं और इनको उपर्युक्त श्लोक में पढ़ने पर दोनों परस्पर समान ध्वनियों के जैसे मालूम पड़ते हैं। इसलिये यहां एक प्रकार का नागर अनुप्रास हुआ।

ग्राम्यवैपरीत्येनेति। ग्राम्यविरुद्धस्वभावो हि लोके नागर इत्युच्यते। अतिप्रसिद्धेरभावो विरोधस्तेनालंकारसमयोपजीविपद्यप्रसिद्धिरनतिप्रसिद्धिरित्युक्तं भवति। एतदेव पूर्वाचार्यमतेन विशदयति—यथोच्यत इति। एकश्रुतिकतया भानं हि श्रुतिसाजात्यमभिमतम्। श्रुतिश्च वास्तवी प्रतिपादनमात्रारूढा वेति न कश्चिद्विशेषः। ततो भेदेऽप्येकत्वबुद्ध्यानुप्राससिद्धिः। तत्त्वे एकत्वे। आपाततः साजात्यानवभासेऽपि सहृदयप्रणिधानेनावभासनं श्रुत्यनुप्रासप्रयोजकमेव। अनुप्रासस्य। अनुप्रासवतः संदर्भस्येत्यर्थः। विजातीययोरेकजात्यप्रतिबिम्बनं द्विधा भवति स्थानसाम्ये तदसाम्ये च। तयोराद्यमुदाहरति—तत्रेति। दीर्घेण रंहसेति, घोरोऽङ्घ्रिरिति, रंहःसङ्घमिति, घकारहकाराणां स्थानसाम्येऽपि वैजात्यमस्त्येव। तथा पठितौ तुल्यवच्छ्रुतिः प्रतिभातीति सहृदयहृदयसाक्षिकोऽयमर्थः ॥

तथैवासमानस्थानयोर्यथा—

'उच्छलन्मत्स्यपुच्छाग्रदण्डपाताहताम्भसि।
जगदुद्यानमम्भोधावुन्ममज्ज ममज्ज च ॥ १७१ ॥'

अत्रोच्छलन्मत्स्यपुच्छाग्रेत्यत्र त्स्यच्छकारयोरिव त्स्यकारस्यापि तुल्यश्रुतित्वमित्यसमानस्थानत्वेन भेदेऽप्येकत्वबुद्ध्या नागरानुप्रासोऽयम् ॥

उसी प्रकार भिन्न उच्चारण स्थान वाले दो वर्णों की (तुल्यश्रुति का) उदाहरण—

उछलती हुई मछली की पूँछ के अग्रभाग रूप दण्ड के गिरने से आहत जल वाले महासिन्धु में यह विश्ववनी कभी उतराती रही, कभी डूबती रही ॥ १७१ ॥

यहां पर 'उच्छलन्मत्स्यपुच्छाग्र' इसमें 'त्स्य' तथा 'च्छ' इन दोनों में 'त्स्य' की भी ध्वनि में समता है, इसलिये उच्चारण स्थान एक न होने से दोनों में अन्तर होने पर भी एकता की बुद्धि बनने से यह नागरअनुप्रास का निदर्शन है।

स्व० भा०—उदाहृत श्लोक में 'त्स्य' तथा 'च्छ' का प्रयोग हुआ है। स्पष्ट है कि दोनों वर्ण भिन्नस्थानीय हैं, अर्थात् दोनों के उच्चारण स्थान भिन्न-भिन्न हैं। 'त्स्य' में तकार तथा सकार

दन्त्य हैं—लृतुलसानां दन्ताः—के अनुसार। "इचुयशानां तालु" के अनुसार 'च्छ' के दोनों वर्ण चकार तथा छकार तालव्य हैं। दन्त्य और तालव्य में अन्तर है ही। किन्तु जब छन्द को पढ़ा जाता है, तब इन दोनों वर्ण समुदायों की ध्वनि समान लगती है, सुनने में। अतः उच्चारण स्थान में भेद होने पर भी पढ़ने में एक-सा प्रतीत होने वाले वर्णों के कारण इस श्लोक में नागर अनुप्रास है।

अत्र स्त्यच्छकारयोरिति। चछौ तालव्यौ, तसौ दन्त्याविति स्थानभेदः प्रकाश एव। तथापि पिण्डीभूतायां च स्तम्बीभूतमध्यपतितौ तसौ समानश्रुतिकाविति पठितौ सौभाग्यसमर्पयतः। तेनायमसमानस्थानयोरेकत्वबुद्ध्या नागरानुप्रास इति॥

तत्त्वेऽप्येकत्वनिह्नवेन डकारवकारयकाराणां यथा—

'क्रोडे मा डिम्भमादाय चण्डि पीडय वक्षसा।
कर्णे ब्रूहि वयस्याया युवा यदयमुच्यते॥ १७२॥'

अत्र डकारादीनामीषत्स्पृष्टतादिभिरेकत्वेऽपि भेदावभास इति तत्त्वेऽप्येकत्वनिह्नवेन नागरानुप्रासोऽयम्॥

वैसा होने पर भी (एकत्व होने पर भी) जब एकता को छिपा करके, डकार, वकार तथा यकार के रहते भी इनके तिरस्कार का उदाहरण—

एक सखी हंसी में अपनी सखी नायिका से कहती है कि, बच्चे को गोद में लेकर, हे क्रोधने, अपने वक्षस्थल से उसे दबाओ मत। अरे, अपनी सखी के कान में वह बात कह भी दो न, जो इस युवक से कहना शेष है॥ १७२॥

यहां पर डकार आदि का ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले वर्णों के साथ एकता होने पर भी भेद की प्रतीति होती है, अतः एकत्व होने पर भी उसके छिपाने के कारण यहां नागर अनुप्रास है।

स्व० भा०—उपर्युक्त छन्द में डकार की तथा उत्तरार्ध में यकार और वकार की अनेक आवृत्तियां हैं। डकार से इन वर्णों की असमानता स्पष्ट ही है। डकार मूर्धन्य वर्ण है—ऋटुरषाणां मूर्धा—तथा यकार, वकार का क्रमशः तालु तथा ओष्ठ उच्चारण स्थान हैं। इनकी एकता केवल एक कारण से है कि ये वर्ण अल्पप्राण हैं। डकार स्पृष्ट है तथा यकार वकार दोनों ईषत्स्पृष्ट। अतः प्रयत्न में लगभग समान होने पर, प्राणता की दृष्टि से एकत्व है, किन्तु उच्चारण स्थान की दृष्टि से भेद प्रकट ही है। अतः यहां एकत्व को दबा दिया गया है। सम्भवतः भोज को य, व, की ईषत्स्पृष्टता अभीष्ट है। अल्पप्राणता की अभिव्यक्ति "आदिभिः" से कर दिया है।

तत्त्वेऽपीति। द्रुतादौ वृत्तिमात्रं भिद्यते, न तु रूपमिति महाभाष्यकारोक्तदिशा येषामेकस्थानत्वेऽपीषत्स्पृष्टतरत्वादिकृता भेदप्रथा ते डकारादयः। कतिपयेऽस्य विषयास्तानुद्दिश्य क्रमेणोदाहरति—क्रोड इत्यादौ। अङ्कगतस्य बालकस्य वक्षसा पीडनं संक्रान्तकमालिङ्गनमामनन्ति। अनेन किल प्रच्छन्नप्रियगोचरो गाढालिङ्गनमनोरथः प्रकटितो भवति। कर्णयोरुपांशु यदभिधीयते तेन तुल्यमिदमिति विदग्धसहचरीपरिहासोक्तिरियम्। अत्र च क्रोडडिम्भेत्यादौ डकारवकारयकाराणामीषत्स्पृष्टतरत्वादिभेदः श्रुतिसाजात्यं च सुप्रसिद्धमेवेति॥

तथैव ढकारवकारलकाराणां यथा—

'नवोढे त्वं कुचाढ्यापि नोपगूढाय ढौकसे।

वहन्बाहुलते ह्रीणो वरः पुलकलञ्छिते ॥ १७३ ॥'

अत्र ढकारादीनामीषत्स्पृष्टतादिभिरेकत्वेऽपि भेदावभास इति तत्त्वेऽप्येकत्वनिह्नवेन नागरानुप्रासोऽयम् ॥

इसी प्रकार से ढकार, वकार तथा लकार की एकता होने पर भी (एकत्व के निह्नवन का उदाहरण)—

हे नववधु, स्तनवती होने पर भी तू आलिङ्गन के लिये क्यों नहीं जाती ? अथवा क्या तुम आलिंगित नहीं होती हो ? क्योंकि प्रियस्पर्श के कारण रोमाञ्चित तुम्हारी दोनों भुजलताओं को धारण करता हुआ वर अत्यन्त लजा रहा है ॥ १७३ ॥

यहां पर ढकार आदि की ईषत्स्पृष्टता आदि के कारण एकत्व होने पर भी भेदावभास हो ही रहा है। अतः यहां एकता होने पर भी इसको छिपा देने से नागर अनुप्रास है।

स्व० भा०—यहाँ पर भी सारी स्थितियां पूर्वश्लोकानुसार ही हैं। केवल एक बात दोनों स्थानों पर यही खटक रही है कि य, व, र, ल तो ईषत्स्पृष्ट हैं, किन्तु डकार और ढकार नहीं। व्याकरण ग्रन्थों से 'स्पृष्टं स्पर्शानाम्' 'ईषत्स्पृष्टमन्तस्थानाम्' आदि व्यवस्था है। इसके अनुसार दोनों में एकता नहीं है। कहा नहीं जा सकता है कि भोज ने इनको भी ईषत्स्पृष्ट कैसे माना है। संभव है भोज के समय में ढकार, डकार आदि की ईषत्स्पृष्टता ही स्वीकृत हुई हो, शायद इसके विषय में कुछ ज्ञान भोज के व्याकरणशास्त्र पर लिखे गये "सरस्वतीकण्ठाभरणम्" (व्याकरण) आदि ग्रन्थों से हो। हाँ, जहांतक अल्पप्राणता का प्रश्न है, सब में यह समानता है।

ढकारवकारलकाराणामिति। वकारोदाहरणं दत्तमपि वर्णान्तरसरलतया पुनर्दीयते। उपगूढमालिङ्गनम्। अपिशब्दो भिन्नक्रमः। उपगूढाथापि न ढौकसे। दूरे पततः कचग्रहादिकेलिषु प्रवृत्तिर्लङ्घनेन सर्वाङ्गीणः पुलकोद्भेदो बहिर्व्यावर्तनमन्तरनुवर्तनं च मुग्धाङ्गनाजातिः। अत्रापि ढकारादीनामीषत्स्पृष्टतादिभेदः सुबोध एव ॥

उपनागर

उभयगुणयोगान्नात्यप्रसिद्ध उपनागरः। यथोच्यते—

डलयोरैक्यमित्यादिवाक्यैर्यस्यानुमीयते।
समानश्रुतितान्योन्यं सोऽनुप्रासः प्रशस्यते ॥ ७५ ॥

दोनों गुणों के (अतिप्रसिद्धि तथा नातिप्रसिद्धि के) मिलने से बहुत अधिक अप्रसिद्ध न रहने वाला उपनागर है।

जैसा कि कहा जाता है—डकार और लकार वर्णों की एकता आदि वाक्यों द्वारा जिसमें प्रतीत होती है वह वर्णों की परस्पर एक सी श्रुति वाला अनुप्रास प्रशस्त होता है ॥ ७५ ॥

स डलयारैक्येन यथा—

'शयने यस्य शेषाहिः सनीडे बडवानलः।
महासाहसिनामग्र्यं तमीडे जडशायिनम् ॥ १७४ ॥'

सोऽयमुपनागरः श्रुत्यनुप्रासः ॥

डकार तथा लकार की एकता से होने वाले अनुप्रास का उदाहरण—

जिस विष्णु की जलमयी शय्या में ही शेषनाग हैं, वडवाग्नि भी है, उन साहसियों के अग्रणी जलशायी की मैं वन्दना करता हूँ ॥ १७४ ॥

यह उपनागर नाम का श्रुत्यनुप्रास है।

स्व० भा०—इस छन्द में डकार तथा लकार की भिन्नश्रुति स्पष्ट ही है, किन्तु इनमें ऐक्य मान लेने पर अनुप्रास की सिद्धि हो जाती है। बार-बार सुनने से इनकी एकश्रुति प्रतीत होने लगती है। 'जडशायिनम्' के डकार के स्थान पर लकार था, किन्तु डकार कल्पना होने से वर्णावृत्ति के कारण श्रुत्यनुप्रास होता है।

उभयगुणयोगादिति। प्रसिद्ध्यप्रसिद्धी द्वौ गुणौ। अत्र प्रत्यक्षानुमानरूपोपायभेदादविरोधः। तदेतदन्यमतेन विवृणोति—डलयोरैक्यमिति। सनीडः समीपं जलमज्जनशेषाहिवडवानलानामनर्थनिदानतया प्रख्यातानामपि सेवया महासाहसिकानामग्र्यता। अत्र डकारलकारयोर्भिन्नश्रुतिता प्रत्यक्षत एव। श्रुतिसाम्यं पुनरनुमानात्प्रतीयते। एवमुत्तरोदाहरणेष्वपि बोद्धव्यम्॥

नणयोरैक्येन यथा—

'बाणैः क्षुण्णेषु सैन्येषु त्वया देव रणाङ्गणे।
हतशेषाः श्रयन्तीमे शून्यारण्यानि विद्विषः॥ १७५॥'

अत्र क्षुण्णेषु सैन्येषु शून्यारण्यानीति नकारणकारयोः स्वल्प श्रुतित्वमेकत्वं भासत इति उपनागरोऽयं श्रुत्यनुप्रासः॥

नकार तथा णकार की एकत्वकल्पना करने से (संभव श्रुत्यनुप्रास) का उदाहरण—

हे महाराज, रणभूमि में आपके द्वारा बाणों से सेना को मार डालने पर जो शत्रुओं में शेष रहे वे ये निर्जन वन का आश्रय ले रहे हैं॥ १७५॥

यहाँ 'क्षुण्णेपु सैन्येपु' तथा 'शून्यारण्यानि' में नकार तथा णकार को लगभग समानता सी अथवा एकता सी प्रतीति होती है। अतः यह उपनागर नामक श्रुत्यनुप्रास है।

स्व० भा०—'क्षुण्णेपु सैन्येपु' तथा 'शून्यारण्यानि' में णकार तथा नकार वर्ण हैं। पढ़ते समय इनकी उच्चारण ध्वनियां बहुत-कुछ मिलती जुलती प्रतीत होने लगती हैं। एक सी ध्वनि का श्रवण होने से ऐसा लगता है मानों दोनों एकस्थानीय अर्थात् सजातीय हों। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये वृत्ति में 'स्वल्पश्रुतित्वम् एकत्वम्' वा कहा गया है। प्रथम स्थल अर्थात् 'क्षुण्णेपु सैन्येपु' में नकार णकार की भांति तथा 'शून्यारण्यानि' में णकार नकार की भांति समझा जायेगा, क्योंकि पूर्ववर्ती ध्वनियों का संस्कार तथा प्रभाव आगे वाले पर पड़ता है।

क्षुण्णेपु सैन्येष्विति। ग्रन्थिमहिम्ना नकारणकारयोः साम्यप्रतिभासः। रणाङ्गण इति। मध्यवर्तिनां संयोगेन साम्योन्मुद्रणम्। अङ्गणशब्दोऽधिकरणल्युडन्तः। पृषोदरादित्वाण्णत्वव्युत्पादनमनार्षम्। एवं शून्यारण्यानीत्यत्र व्याख्येयम्। आद्यन्तव्याख्यानमुपलक्षणमवसेयम्॥

रलयोरैक्येन यथा—

'विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः॥ १७६॥'

अत्र करीरनीलैरिति रेफलकारयोरैक्येन तुल्यश्रुत्या चतुर्ष्वपि पादेष्वनुप्रासनिर्वहणामत्युपनागरोऽयं श्रुत्यनुप्रासः॥

रकार तथा लकार की एकता से (निष्पन्न श्रुति-अनुप्रास का) उदाहरण—

गरुड़ के बड़े भाई अरुण के द्वारा दूसरे ही (अरुणवर्ण) रंग में रंगे हुये सूर्य के रथ के घोड़े,

रैवतक पर्वत पर बाँस के करीलों के समान श्यामलवर्ण वाली मरकतमणियों की चारो ओर चमकती हुई कान्ति से पुनः अपनी वास्तविक कान्ति को प्राप्त कर लेते हैं ॥ १७६ ॥

यहाँ 'करीरनीलैः' में रेफ तथा लकार की एकता से समान श्रुति के कारण चारो चरणों में अनुप्रास का निर्वाह हो जाता है। अतः यहाँ उपनागर श्रुत्यनुप्रास है।

स्व० भा०—उपर्युक्त श्लोक के प्रथम तीन चरणों में रेफ की बहुलता है। चतुर्थ में भी लकार की जगह रकार कर देने से पूर्ण छन्द के चारो चरणों में अनुप्रास हो जाता है।

निरन्तररेफग्रथनालीढस्येव लकारस्य श्रुतिसाजात्यसुल्लिखतीति तदिदमाह—अत्र करीरनीलैरिति। एतदनुप्रासलिद्ध्या चतुर्ष्वपि पादेषु रेफानुप्रासनिर्वहणमपि कविशक्ति-व्युत्पत्तिव्यञ्जकमुपपन्नं भवतीत्याह—चतुर्ष्वपीति ॥

दन्त्यतालव्यानामैक्येन यथा—

'विद्यास्यन्दो वाग्विदां यः प्रसन्नः पुण्यां वाचं देवतां तां नमामः।
यां ब्रह्माणश्चिन्तयन्ते विशोकाः सा नो देयात्सूनृता सूनृतानि ॥ १७७ ॥'

अत्र दन्त्यतालव्यानामैक्येन तुल्यश्रुतिनेत्युपनागरोऽयं श्रुत्यनुप्रासः। सर्वेऽपि चानुप्रासाः प्रायेण विसदृशवर्णान्तरिता एव स्वदन्ते इत्यौष्ठ्यकण्ठ्या-दीनामिहानुप्रवेशो भवति ॥

दन्त्य तथा तालव्य वर्णों में ऐक्य करने से (संभव अनुप्रास का उदाहरण)—

शब्दज्ञों का जो प्रसन्न विद्या प्रवाह है, उस शुभ देवी वाणी को हम प्रणाम करते हैं। जिसे शोकहीन होकर ब्रह्म लोग सोचा करते हैं वही सूनृता देवी हमें सुख प्रदान करे ॥ १७७ ॥

यहाँ दन्त्य तथा तालव्य वर्णों को एकस्थानीय मान लेने से समान श्रुति होने के कारण यह उपनागर श्रुत्यनुप्रास है। सभी अनुप्रास प्रायः भिन्न रूप वाले वर्णों से व्यवहित होकर ही आनंद देते हैं इसीलिये यहां छन्द में तथा अनुप्रासों के प्रसङ्ग में औष्ठ्य कण्ठ्य आदि वर्णों को बीच बीच में रख दिया गया है।

स्व० भा०—उदाहृत श्लोक में अनेक दन्त्य तथा तालव्य वर्ण स, न, द, त आदि तथा श आदि प्रयुक्त हुये हैं। इस रूप में पृथक् रूप में इनको मानने से अनुप्रास उतना अच्छा नहीं जम पाता है जितना इसको एक मानने से।

भोज के मतानुसार जब वर्णों की आवृत्ति व्यवहित रूप से हुआ करती है तभी आनन्द आता है। कभी-कभी एक अथवा दो वर्णों का ही पूरा छन्द होने पर चमत्कार अवश्य प्रतीत होता है किन्तु एकरसता के कारण वह आह्लाद नहीं मिलता है जो मिलना चाहिये। भारवि, माघ आदि कवियों ने इस प्रकार के प्रयोग किये हैं, जो कठिन हो गया है।

विद्यास्यन्दः सारस्वतप्रवाहः सैव वाग्देवता शब्दब्रह्मरूपा तच्चिन्तया परब्रह्माधिग-मनिःश्रेणीभूतया शोकस्य इष्टहानिजखेदस्य विच्छेदः। अत्र स्यन्दः प्रसन्न इति दन्त्यौ सकारौ, ब्रह्माणश्चेतयन्तो विशोका इत्यादेशानादेशौ शकारौ तालव्यौ, पुनरन्ते सा सूनृ-तानीति त्रयो दन्त्याः, सर्वेषां संभूय पाठे तुल्यश्रुतितैव प्रतिभासत इति। ननु सजाती-यानां निरन्तरमावापे कर्तव्ये किमिति विजातीयव्यवहितैरावृत्तिरुदाह्रियत इत्यत आह—सर्वेऽपीति ॥

यथा ज्योत्स्ना चन्द्रमसं यथा लावण्यमङ्गनाम् ।
अनुप्रासस्तथा काव्यमलंकर्तुमयं क्षमः ॥ ७६ ॥
अनुप्रासः कविगिरां पदवर्णमयोऽपि यः ।
सोऽप्यनेन स्तवकितः श्रियं कामपि पुष्यति ॥ ७७ ॥

जिस प्रकार चन्द्रिका चन्द्रमा को, जैसे सौन्दर्य किसी स्त्री को सुन्दर बनाने में समर्थ होते हैं, इसी प्रकार यह अनुप्रास भी काव्य को अलङ्कृत करने में समर्थ होता है। कवियों की वाणी का जो पद या वर्णमय अनुप्रास होता है, वह भी इस (श्रुत्यनुप्रास) से गुम्फित होकर एक अपूर्व शोभा को पुष्ट करता है ॥ ७६-७७ ॥

श्लेषनिर्वाहकतया श्रुत्यनुप्रासोऽलंकार इत्युक्तम्, तच्च संदर्भव्यापकतयैव निर्वहतीत्याह—यथेति। ज्योत्स्नालावण्ययोः सर्वाङ्गीणाश्लेषसुभगयोरेवालंकारताप्रसिद्धिः॥

नन्वेवमनुप्रासान्तरविषयेऽपि श्रुत्यनुप्रासः प्रसक्तस्तत्र च किमनेन करिष्यत इत्यत आह—अनुप्रासः कविगिरामिति। उक्तं हि—'न घटनामन्तरेण काव्यभावः। न च काव्यमपहाय वर्णानुप्रासादीनामात्मलाभः' इति॥

वृत्त्यनुप्रास

मुहुरावर्त्यमानेषु यः स्ववर्ग्येषु वर्तते ।
काव्यव्यापी स संदर्भो वृत्तिरित्यभिधीयते ॥ ७८ ॥
कार्णाटी कौन्तली कौङ्की कौङ्कणी वाणवासिका ।
द्राविडी माथुरी मात्सी मागधी ताम्रलिप्तिका ॥ ७९ ॥
औण्ड्रीति विद्वद्भिः सा द्वादशविधेष्यते ।
अथ लक्षणमेतासां सोदाहरणमुच्यते ॥ ८० ॥

बार-बार आवृत्त हो रहे अपने वर्ग के वर्णों में जो काव्यव्यापी सन्दर्भ विद्यमान होता है, उसे वृत्ति, वृत्त्यनुप्रास कहते हैं। वह कार्णाटी, कौन्तली, कौङ्की, कौङ्कणी, वाणवासिका, द्राविडी, माथुरी, मात्सी, मागधी, ताम्रलिप्तिका, औंड्री तथा पौण्ड्री इन बारह प्रकारों का विद्वानों द्वारा माना गया है। अब इसके बाद इनका लक्षण उदाहरण सहित कहा जाता है ॥ ७८-८० ॥

स्व० भा०—ग्रन्थकार के मतानुसार समानवर्गीय वर्णों की आवृत्ति से वृत्त्यनुप्रास होता है। सामान्यतः कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग ये पांच ही वर्ग नाम से विख्यात हैं, किन्तु समूह में होने के कारण अन्तःस्थ तथा ऊष्म भी वर्ग कहे जा सकते हैं। जब समवर्गीय वर्णों की आवृत्ति होती है, तब वृत्त्यनुप्रास होता है।

यहां वृत्त्यनुप्रास के बारह प्रकार गिनाये गए हैं। आचार्य रुद्रट ने भी कुछ भेद किये हैं किन्तु वे इन भेदों से भिन्न हैं।

रीति के नामों की भांति इनके भी नामों के विषय में यही कहा जा सकता है कि इन-इन देशों में इनका प्रचलन हुआ होगा अथवा वहाँ पर लोग प्रायः इस विशेष प्रकार का वर्णविन्यास प्रधानरूप से करते होंगे, किन्तु यह बात नहीं कही जा सकती कि ये प्रवृत्तियां इन्हीं देशों में

मिलती हैं। अन्य नाम तो प्रसिद्ध ही हैं। केवल वाणवास ही विशेष प्रसिद्ध देश नहीं है। यह दक्षिणापथ में एक देश है।

स्ववर्ग्येष्विति। स्वशब्द आत्मीयवचनः। स्ववर्गे भवाः स्ववर्ग्याः कचटतपान्तःस्थोष्मोपलक्षिताः सप्तवर्गाः। स्ववर्ग्येषु वर्तत इत्यर्थकथनम्। माणिक्यस्तबकितहारलतावदन्योन्यालम्बेन परभागलाभ इत्यभिप्रायतया च काव्यव्यापकेनैव संदर्भेण निरूप्यमाणा वर्ण्या वृत्तिर्वृत्त्यनुप्रास इति पर्यवसितोऽर्थः॥

वर्णानुप्रासाद्भेदो वक्ष्यते—कर्णाटादिप्रभवकविहेवाकगोचराः कार्णाटीप्रभृतयो न तु वृत्तीनां देशैः कश्चिदुपकारः। वणवासनामा दक्षिणापथे रत्नाभगवतीचिह्नितो देशः। [असधातोरिति। विधिमिति इति परायणम्॥]

तासु कवर्गानुप्रासवती कार्णाटी यथा—

'कान्ते कुटिलमालोक्य कर्णकण्डूयनेन किम्।
कामं कथय कल्याणि किंकरः करवाणि किम्॥ १७८॥'

इनमें से कवर्गानुप्रास से युक्त कार्णाटी का उदाहरण—

हे सुन्दरि, तिरछे ताक कर कान खुजलाने का क्या प्रयोजन है? अरे भद्रे, स्पष्ट कहो, मैं तो तुम्हारा आज्ञापालक हूँ, क्या करूँ?॥ १७८॥

चवर्गानुप्रासवती कौन्तली यथा—

'ज्वलज्जटिलदीप्ताचिरञ्जनोच्चयचारवः।
चम्पकेषु चकोराक्षि चञ्चरीकाश्चकासति॥ १७९॥'

चवर्ग के अनुप्रास वाली कौन्तली का उदाहरण—

प्रज्वलित लपटों से युक्त तीव्र अग्नि से उत्पन्न कज्जलराशि की भांति सुन्दर-सुन्दर भ्रमर, हे चकोरनयने, चम्पक के फूलों पर सुशोभित होते हैं॥ १७९॥

अवहित्थप्रस्तावे कर्णकण्डूयितमोट्टायिताख्यः शृङ्गारभावजो विकारः॥

टवर्गानुप्रासवती कौङ्की यथा—

'कुम्भकूटाट्टकुट्टाककुटिलोत्कटपाणिरुट्।
हरिः करटिपेटेन न द्रष्टुमपि चेष्ट्यते॥ १८०॥'

टवर्गीय वर्णों की आवृत्ति से होने वाली कौङ्की का उदाहरण—

कुम्भाग्र रूपी अट्टालिका को कूट डालने वाली टेढ़ी तथा कठोर भुजाओं को क्रोध से भर देने वाला सिंह हस्तिसमुदाय के द्वारा देखा भी नहीं जा पा रहा है॥ १८०॥

कुम्भकूटं कुम्भाग्रं तदेव अट्टोऽट्टालकः। 'रुष् हिंसायाम्'। यथोक्तेन पाणिना रुषतीति क्विप्। पेटः समूहः॥

तवर्गानुप्रासवती कौङ्कणी यथा—

'मधुर्मधूनि गान्धर्वमन्दिरे मदिरेक्षणा।
इन्दुरिन्दीवरं दाम काममानन्दयन्ति नः॥ १८१॥'

तवर्ग की अनुप्रास वाली कौङ्कणी का उदाहरण—

वसन्त, मदिरा, संगीत, सुन्दर गृह, मादकनयनों वाली सुन्दरी, चन्द्रमा, कमल की माला ये हमको पूर्णतः आनन्दित करते हैं॥ १८१॥

मधुर्वसन्तः। गान्धर्वं गीतम्। अत्र धकारदकारानुप्रासैरासमाप्ति निर्वहणम्॥

पवर्गानुप्रासवती बाणवासिका यथा—

'प्रिया प्रगल्भा ताम्बूलं परिस्रुत्फुल्लमुत्पलम् ।
पृषत्काः पञ्चबाणस्य पञ्चमः पञ्चमध्वनिः ॥ १८२ ॥'

पवर्ग की अनुप्रासवाली बाणवासिका का उदाहरण—

अल्हड़ प्रियतमा, पान, मदिरा, फूला हुआ कमल, कामदेव के बाण तथा पञ्चम स्वर विशेष से संयुक्त राग (आवर्षक हैं ।) ॥ १८२ ॥

परिस्रुत् मदिरा । पृषत्का बाणाः । पञ्चमः स्वरविशेषस्तद्भूयिष्ठो ध्वनिः पञ्चमध्वनिः ॥

अन्तःस्थानुप्रासवती द्राविडी यथा—

'प्रियालवलीतालतमालैलावनावली ।
भाति पत्रलहिन्तालकृतपुण्ड्रा वधूरिव ॥ १८३ ॥'

अन्तःस्थ वर्णों के अनुप्रास वाली द्राविडी का उदाहरण—

प्रियंगु, लवली, ताड, तमाल तथा एला की वनराजि पत्रल, हिन्ताल तथा तिलक के वृक्षों से युक्त होकर सुन्दर और मनोहर अलकावलियों, सुन्दर ताल लय आदि से तथा पत्ररचना और तिलक लगाई हुई वधू की भांति सुशोभित होती है ॥ १८३ ॥

पत्रलाः सान्द्रपत्राः । सिध्मादेराकृतिगणत्वाल्लच् । पुण्ड्रं तिलकः । अत्र लकारवकारानुप्रासाभ्यां संदर्भनिर्वाहः ॥

ऊष्मानुप्रासवती माथुरी यथा—

'पुष्णती पुष्पधनुषं मुष्णती प्लोषविप्रुषः ।
मिषन्ती निर्निमेषेण चक्षुषा मानुषी न सा ॥ १८४ ॥'

ऊष्म वर्णों की अनुप्रासवाली माथुरी वृत्ति का उदाहरण—

काम को पुष्ट करती हुई, विरहाग्नि के स्फुलिङ्गों को शान्त करती हुई, एकटक नयनों से देखती हुई वह मनुष्यकुलवाली नहीं है ॥ १८४ ॥

प्लोषो विरहदाहस्तस्य विप्रुषस्तीक्ष्णा भागाः । तेऽमी सप्त शुद्धा एव वृत्त्यनुप्रासाः ॥

द्वित्रिवर्गानुप्रासवती मात्सी यथा—

'कोकिलालापवाचालो मामेति मलयानिलः ।
उच्छलच्छीकराच्छाच्छनिर्झराम्भःकणोक्षितः ॥ १८५ ॥'

दो तीन वर्गों के वर्णों की अनुप्रासवाली मात्सीवृत्ति का उदाहरण—

कोयलों की आवाज से मुखरित तथा उछलते हुये जलकणों से युक्त, निर्मल करने की जलबिन्दुओं से धुला हुआ सुगन्धित पवन मेरे पास आ रहा है ॥ १८५ ॥

स्व० भा०—इससे पहले के छन्दों में एक-एक वर्ग के वर्णों की आवृत्ति होने से उनका रूप तो स्पष्ट ही था । यहाँ से संकरवृत्तियाँ प्रारम्भ हो रही हैं जिनमें एकाधिक वृत्तियों का मिश्रण है । इसी उदाहृत छन्द में कवर्गीय, पवर्गीय तथा चवर्गीय वर्णों की आवृत्ति होने से तीन वर्गों के वर्णों की आवृत्ति है, अतः यहाँ मात्सी वृत्ति है ।

संकीर्णाः पुनरन्ये पञ्च भवन्ति । तत्र संकरो द्विधा—विजातीयसंवलनम्, मिथः संभेदेन संयोगरूपता च । कोकिलालापेत्यादौ कवर्गान्तःस्थचवर्गानुप्रासाः स्फुटा एव । संयोगस्तु विद्यमानोऽपि न विवक्षितः ॥

द्वाभ्यां विदर्भितैकवर्ग्या मागधी यथा—

'अघौघं नो नृसिंहस्य घनाघनघनध्वनिः ।
हन्याद्धुरुघुरावोरः सुदीर्घो घोरघर्घरः ॥ १८६ ॥'

जब दो भिन्न वर्गीय वर्णों के अनुप्रासों में एक वर्ग के वर्णों का प्रारम्भ किया गया अनुप्रास विदर्भित कर दिया जाता है तब मागधी होती है। उसका उदाहरण—

नृसिंह की मेघ के सदृश गम्भीर घुरघुराहट तथा घर्घर की भयङ्कर ध्वनि हमारे पापपुञ्ज का नाश करे ॥ १८६ ॥

स्व० भा०—यहाँ पर प्रथम कवर्गीय वर्णों की आवृत्ति होने से एकवर्गीय अनुप्रास था, उसके बीच-बीच में तवर्ग तथा अन्तःस्थ वर्णों ने आकर वैदर्भी को गुण उपस्थित किया है। घकार कवर्गीय है जो आदि से अन्त तक व्याप्त है। बीच-बीच में य, व, र, ये अन्तःस्थ वर्ण हैं और न, द, ध ये तवर्ग। विदर्भित होने का अर्थ है वैदर्भी रीति की छटा ला देना। वैदर्भी ओजोहीन रीति है। महाप्राण चतुर्थ वर्ण का अधिक प्रयोग तथा हनन रूप कठोर विषय ओजस्वी होना चाहिये, किन्तु बीच में अन्य दो वर्गों के वर्णों ने आकर माधुर्य आदि पैदा कर दिया है।

विदर्भितः स्वान्तरायेण वैदर्भीप्रपञ्चशोभामानीतः। घुरुघुरेत्यव्यक्तानुकरणम्। अत्रा-समाप्ति कवर्गानुप्रासस्तवर्गान्तःस्थानुप्रासाभ्यां विदर्भितः। एवमन्यत्रापि वैदर्भी गवेषणीया ॥

स्वान्त्यसंयोगिवर्ग्या ताम्रलिप्तिका यथा—

'शिञ्जानमञ्जुमञ्जीराश्चारुकाञ्चनकाञ्चयः ।
कङ्कणाङ्कभुजा भान्ति जितानङ्ग तवाङ्गनाः ॥ १८७ ॥'

अपने वर्ग के अन्तिम वर्णों के संयोग से होनेवाली ताम्रलिप्तिका का उदाहरण—

हे अपने रूप से कामदेव को जीत लेनेवाले, तुम्हारी सुन्दरियाँ अपने मधुर नूपुरों को छमकाती हुई, मनोहर सोने की करधनी पहने हुई, हाथ में कंगन को डाले हुई अत्यन्त दमक उठी हैं ॥ १८७ ॥

स्व० भा०—इस छन्द में पूर्वार्धं में चवर्ग के वर्णों के साथ उसी वर्ग का अन्तिम वर्ण ञकार संयुक्त हुआ है। उत्तरार्ध के कवर्गीय वर्ण के साथ उसी वर्ग का पञ्चम ङकार आया है।

संयोगो द्विविधः—सजातीयेन, अन्येन च। आद्यस्त्रिविधः—स्ववर्ग्यान्तसरूपतदन्य-संयोगभेदात्। एते यथाक्रमं वृत्तित्रयं प्रयोजयन्तीत्याह—स्वान्त्येत्यादि। शिञ्जाना मधुरं शब्दायमानाः। मञ्जीरा नूपुराः। अत्र पूर्वार्धे स्वान्त्यसंयोगिनौ चवर्गौ, उत्तरार्धे तु कवर्गाविति ॥

सरूपसंयोगिग्रथितौण्ड्री यथा—

'सन्नतापल्लवोल्लासी चित्तवि(वृ)त्तहरो नृणाम् ।
मज्जतीज्जलसज्जासु नदीषु मलयानिलः ॥ १८८ ॥'

समान रूप वाले संयुक्ताक्षरों से गुंथी हुई औण्ड्री का उदाहरण—

सुन्दर लताओं के पत्तों को उल्लसित करता हुआ, लोगों की मनोवृत्ति अथवा चित्तरूपी धन को आकृष्ट करने वाला दक्षिणी पवन, निचुल लताओं से भरी हुई नदियों में मज्जन कर रहा है ॥ १८८ ॥

स्व० भा०—यहाँ प्रथम पाद में संयुक्ताक्षर 'ल्ल' की द्वितीय में 'त्त' की, तथा तृतीय में 'ज्ज' की आवृत्ति हुई है। ल् का रूप ल् के, त् का त् के, तथा ज् का ज् के समान है। इन परस्पर समान रूप के वर्णों का संयुक्ताक्षर आवृत्त हुआ है। इसी प्रकार के सरूप संयोगियों का ग्रथन यहाँ छन्द में दृष्टिगोचर होता है, अतः यहाँ औण्ड्रीवृत्ति है।

सन्तः कमनीया लतानां पल्लवास्तदुल्लासनमात्रप्रवीणतया तीव्रताव्यतिरेकः। अत एव नृणां विदग्धमिथुनानां चित्तमेव सर्वस्वभूतं वित्तं हरतीति। इज्जला निचुलास्तैः सज्जाः सन्नद्धाः। निचुलनिकुञ्जसन्नद्धनदीमज्जनेन शीतलत्वमुन्मीलितम्॥

असरूपसंयोगग्रथिता पौण्ड्री यथा—

'अस्तमस्तकपर्यस्तसमस्तार्कांशुसंस्तरा।
पीनस्तनस्थिता ताम्रकम्रवस्त्रेव वारुणी॥ १८६॥'

विभिन्न रूप वाले वर्णों के संयुक्ताक्षरों से गुथी हुई पौण्ड्री का उदाहरण—

अस्ताचल के शिखर पर फैले हुये सम्पूर्ण सूर्य किरणरूपी सौन्दर्य को धारण की हुई पश्चिम दिशा अपने विशालकुचों पर लाल-लाल वस्त्र डाले हुई सुन्दरी सी लगती है॥ १८९॥

स्व० भा०—इस छन्द में सकार, रेफ, मकार आदि विभिन्न वर्ण संयुक्ताक्षर के रूप में प्रयुक्त हुये हैं, अतः असरूपसंयोगिग्रथन होने से पौण्ड्री है।

अस्तोऽस्ताचलः। कम्रं कमनीयम्॥

अकठोराक्षरादानं नातिनिर्वहणैषिणः।
अशैथिल्यं च सत्कर्तुं वृत्त्यनुप्रासमीशते॥ ८१॥
क्वचिदस्ति क्वचिन्नास्ति क्वचिदस्ति न चास्ति च।
वर्णानुप्रास एषां तु सर्वतोऽस्तीति भिद्यते॥ ८२॥

अत्यधिक निर्वाह की इच्छा न रखने वाले कविगण कठोर अक्षरों के ग्रहण का परित्याग अथवा कोमल वर्णों का ग्रहण तथा शिथिलता के परित्याग या श्लिष्टता का सत्कार करने के लिये वृत्त्यनुप्रास का विधान किये हैं। वर्णानुप्रास कहीं होता है, कहीं नहीं होता है, कहीं होता भी है और नहीं भी होता है, किन्तु यह तो सर्वत्र होता ही है। इसी रूप में यह उससे भिन्न होता है॥ ८१-८२॥

स्व० भा०—जब कठोर वर्णों का ग्रहण होता है तब नीरसता आ जाती है और जब कोमल वर्णों का ही ग्रहण होता है तब शिथिलता आ जाती है। अतः कवि के समक्ष समस्या होती है कि दोनों में संतुलन कैसे स्थापित हो। ऐसी दशा में अकठोर अक्षरों का ग्रहण तथा शैथिल्य का परित्याग करने के लिये वृत्त्यनुप्रास का सहारा लेना पड़ता है। वृत्त्यनुप्रास पूरे सन्दर्भ भर में व्याप्त होता है, किन्तु वर्णानुप्राण की स्थिति वैकल्पिक होती है। वह कहीं हो सकता है, कहीं नहीं और कहीं दोनों स्थितियाँ होती हैं।

आगे भोज वृत्तियों का प्रकारान्तर से भेद बतलाने जा रहे हैं।

वृत्त्यनुप्रासरसिकस्य कवेः प्रसज्यमानं दोषमपाकर्तुं शिक्षामाह—अकठोरेति। रचयेद्यथागतिः स्यात्तत्रापि तदुक्तम्—'परुषाभिधायिवचनादनुकरणाच्चापरत्र नो परुषम्। रचयेद्यथागतिः स्यात्तत्रापि हादयो हेयाः॥' अतिनिर्वाहे व्यक्तमेव वैरस्यम्! तदुक्तम्—'सर्व एवानुप्रासाः प्रायेणे'-त्यादि। कोमलमात्रवर्ग्यनिर्वहणे तु शैथिल्यसंभावनमिति॥

नन्वनुप्रासाद् वृत्तीनां को विशेष इत्यत आह—क्वचिदिति। क्वचिद्वृत्तिभागो चरणाद्यात्मके भवत्येव। क्वचित्पुनरंशभेदेन भवति न भवति च। तावतैव तस्यालंकारत्वम्। वृत्तिशरीरव्यापकतया निरूप्यमाणस्तु वर्ग्यान्तोऽन्य एव। अयं वर्णानुप्रासाद्वृत्त्यनुप्रास इत्यर्थः॥

अन्ये पुनरन्यथा वृत्तिं व्याचक्षते—

स्पर्शादीनामसंबन्धः संबन्धो वापि यो मिथः।
स्फुटादिबन्धसंसिद्ध्यै सेह वृत्तिर्निगद्यते ॥ ८३ ॥

दूसरे लोग फिर से वृत्ति की दूसरे प्रकार से व्याख्या करते हैं—

स्फुट आदि बन्धों की सिद्धि के लिये जो व्यंजन आदि का परस्पर असंबन्ध अथवा संबन्ध होता है, वह यहाँ वृत्ति कहा जाता है॥ ८३॥

स्व० भा०—अब प्रकारान्तर से वृत्ति के संभव भेदों तथा उसकी परिभाषा का ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है। यह मान्यता उसकी अपनी नहीं है, क्योंकि उसने स्पष्ट ही कह दिया है "अन्ये पुनरन्यथा……आदि"।

कारिका में प्रयुक्त पद 'स्पर्श' पारिभाषिक है। पाँचो वर्गों के सभी वर्णों को—कवर्ग के आदिवर्ण 'क' से लेकर अन्तिम वर्ग पवर्ग के अन्तिम वर्ण 'म' तक—स्पर्श कहते हैं। 'स्पर्शादीनाम्' कहने का अभिप्राय है शेष अन्तःस्थ तथा ऊष्म वर्ण भी। ये वर्ण कहीं अनेक एक साथ रहते हैं कहीं अल्प। प्रथम को प्रस्फुट बन्ध कहते हैं और दूसरे को कोमल। दोनों के मिश्रण से उन्मिश्र बनता है।

अन्ये पुनरिति। वर्णानां वर्तनं वर्तनाधिष्ठानं च वर्तिपदेनाभिमतम्। आद्ये संघटनविघटनाभ्यां द्विधा। समस्तव्यस्तभेदेन संघटनविघटने द्विधा। काद्यो मावसानाः स्पर्शाः। आदिग्रहणादन्तःस्थोष्मणोः संघटनबहुलः संदर्भः प्रस्फुटः। विघटनबहुलः कोमलः। उभयबहुल उन्मिश्रः॥

वृत्ति के पुनः द्वादश भेद

काव्यव्यापी च संदर्भो वृत्तिरित्यभिधीयते।
सौकुमार्यमथ प्रौढिर्मध्यमत्वं च तद्गुणाः॥ ८४ ॥
गम्भीरौजस्विनी प्रौढा मधुरा निष्ठुरा श्लथा।
कठोरा कोमला मिश्रा परुषा ललितामिता॥ ८५ ॥
इति द्वादशधा भिन्ना कविभिः परिपठ्यते।
कारणं पुनरुत्पत्तेस्त एवासां विजानते॥ ८६ ॥

सम्पूर्ण काव्य भर में व्याप्त सन्दर्भ वृत्ति कहा जाता है। सुकुमारता, प्रौढ़ि तथा मध्यमता इनके गुण हैं। यह वृत्ति गम्भीरा, ओजस्विनी, प्रौढा, मधुरा, निष्ठुरा, श्लथा, कठोरा, कोमला, मिश्रा, परुषा, ललिता तथा अमिता इन बारह भेदों में कवियों द्वारा विभक्त पढ़ी जाती है। इनकी उत्पत्ति का कारण भी इनके गुण ही जाने जाते हैं॥ ८४–८६॥

स्व० भा०—इन वृत्तियों में से शैथिल्य, परुषत्व आदि दोष भी कहे जा सकते हैं। किन्तु

इनकी सदोषता का निवारण करने के लिये ही इनमें सुकुमारता प्रौढ़ि आदि गुणों का सन्निवेश माना गया है।

इस प्रकार से विभाजित वृत्तियों की संख्या भोज ने बारह गिनाई है, किन्तु रुद्रट ने केवल पाँच, हरि ने आठ तथा मम्मट आदि ने तीन। उद्भट ने भी अपने 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' में उपनागरिका, परुषा तथा कोमला इन तीन वृत्तियों को ही माना है। हरि के द्वारा निरूपित वृत्तियाँ ये हैं—

> महुरं परुषं कोमलमोजस्सिं निट्ठुरं च ललियम् च।
> गम्भीरं सामण्णं च भद्दभणिति उनायच्चा॥

रुद्रट के काव्यालंकार २।१९ पर संस्कृत टीका में यह छन्द मिलता है। रुद्रट ने स्वयं उपर्युक्त संख्या वाली कारिका में कहा है—

> मधुरा प्रौढा परुषा ललिता भद्रेति वृत्तयः पञ्च।
> वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थनामफलाः॥ काव्यालं० २।१९॥

यह स्पष्ट है कि जो भोज ने 'कारणं पुनरुत्पत्तेस्त एवासां विजानते' का अर्थ वही है जो रुद्रट की उपर्युक्त कारिका के उत्तरार्ध का। अर्थात् इन वृत्तियों का नाम अन्वर्थ ही रखा गया है, मधुरा नाम माधुर्य के कारण है, इसी प्रकार गम्भीरा भी गाम्भीर्य के कारण।

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि ने अपनी काव्यप्रकाश की व्याख्या के ४०५ वें पृष्ठ पर कहा है—"इन्हीं तीन प्रकार की 'वृत्तियों' को वामन ने तीन प्रकार की 'रीतियों' के रूप में, कुन्तक तथा दण्डी ने तीन प्रकार के 'मार्गों' के रूप में, और आनन्दवर्धनाचार्य ने तीन प्रकार की संघटना के रूप में माना है। सब जगह उनके लक्षण भी लगभग इसी प्रकार के दिये गये हैं। इसलिये उद्भट की 'वृत्तियाँ', वामन की 'रीतियाँ', दण्डी और कुन्तक के 'मार्ग' तथा आनन्दवर्धन की 'संघटना' एक ही भाव को व्यक्त करती हैं। उद्भट ने इन तीनों वृत्तियों में वर्ण के साम्य को अनुप्रास कहा है।"

किन्तु यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि भोज के मतानुसार रीति तथा वृत्ति दोनों पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। दोनों के आधार भिन्न-भिन्न हैं। प्रथमतः तो भोजने इन दोनों का विवेचन ही भिन्न-भिन्न स्थानों पर दो अलङ्कारों के रूप में किया है, दूसरे रीतियों का आधार गुण तथा समस्तता और असमस्तता को माना है, न कि वर्णविन्यास को।

द्वितीयं वृत्तिशब्दार्थमाह—काव्यव्यापी चेति। अत्रापि दोषप्रसङ्गापाकरणार्थमाह—सौकुमार्यमिति। अत एव [सौकुमार्यप्रौढिमध्यमत्वानि] गुणाः। शैथिल्यपरुषत्वे तु दोषावित्यर्थः॥

योगासंयोगयोः प्रतियोगिव्यवस्थाविरहात्कथं द्वादशप्रकारताव्यवस्थितिरित्याशयवानाह—कारणं पुनरिति॥

तासु गम्भीरा यथा—

> 'अप्फुन्दन्तेण णहं महिं च तडि उद्धमाइअदिसेण।
> दुन्दुभिगम्भीररवं दुण्दुहिअं अम्बुवाहेण॥ १६०॥'
> [आस्पन्दता नभो महीं च तडिदुध्मापितदिशा।
> दुन्दुभिगम्भीररवं दुन्दुभितमम्बुवाहेन॥]

सैषा प्रायस्तवर्गपवर्गयोस्तृतीयचतुर्थानां पकारफकारयोश्च स्वसंयोगबिन्दुयोगाभ्यां जायते॥

इनमें गम्भीरा का उदाहरण—

आकाश तथा पृथ्वी को व्याप्त कर देने वाला, विद्युत् से समस्त दिशाओं को पूरित करता हुआ मेघ दुन्दुभी के सदृश शब्द करता हुआ चारों ओर ढिंढोरा पीट रहा है ॥ १९० ॥

यह गम्भीरावृत्ति प्रायः तवर्ग तथा पवर्ग के तृतीय और चतुर्थ वर्णों के आपस में तथा पकार और फकार के परस्पर संयोग तथा बिन्दुयोग से होती है।

स्व० भा०—तवर्ग तथा पवर्ग के तृतीय और चतुर्थ वर्ण क्रमशः द, ध और ब, भ, हैं। इनके परस्पर संयुक्त होने से तथा प और फ के योग से सन्दर्भ में गम्भीरता होती है। प्राकृत छन्द के प्रथम पद में प, फ का संयोग है। 'उद्धमाई' में दकार तथा धकार का संयोग है 'दुं' 'दुं' में बिन्दुयोग है। अतः यहाँ पर गम्भीरावृत्ति है।

दूषणप्रतिपत्तिसौकर्यात्तत्प्रसिद्ध्यैव पृथगुदाह्रियत इत्याह—रास्विति। अप्फुन्दन्तेण व्याप्तवता। उद्धमाइअं व्याप्तम्। दुन्दुभिरन्तर्गतकांस्यभाजनो निःस्थानविशेषः। दुण्डुहिअं शब्दायितम्। दकारधकारौ तवर्गस्य बकारभकारौ पवर्गस्य तृतीयचतुर्थौ।

ओजस्विनी यथा—

'पत्ता अ सीभराहअधाउशिलाअलणिसण्णराइअजलअम्।
सज्झं ओज्झुरपहसिददरिमुहणिम्महिअवउलमइरामोदम् ॥ १९१ ॥'

[प्राप्ताश्च शीकराहतधातुशिलाजलनिषण्णराजितजलजम्।
सह्यं निर्झरप्रहसितदरीमुखनिर्मथितबकुलमदिरामोदम् ॥]

सेयं मूर्धन्यानां प्रथमचतुर्थपञ्चमद्वित्रैस्तदावृत्त्या च प्रायो जायते ॥

ओजस्विनीवृत्ति का उदाहरण—

निरन्तर जलकणों से सिंचित हो रहे गेरू आदि के शिलातल पर उपस्थित मेघों को रंगने वाला तथा स्वच्छ प्रपात रूपी हास से युक्त कन्दरा रूपी मुख से निकल रहे बकुल की सुगन्धि से मदिरा के मोद को तिरस्कृत करने वाला सह्य पर्वत तथा उसके भाग मिल गये ॥ १९१ ॥

यह ओजस्विनी वृत्ति मूर्धन्य वर्णों के, तथा प्रथम, चतुर्थ और पञ्चम के दो-तीन वर्णों के प्रयोग तथा इनकी आवृत्ति से उत्पन्न होती है।

स्व० भा०—प्रायः र, प, और ट, खर्ग के वर्ण ये मूर्धन्य व्यंजन तथा अन्य वर्गों के प्रथम, चतुर्थ और पञ्चम वर्णों का प्रयोग होने पर एक ऐसा स्वरप्रवाह होता है जिससे ओज टपकता है। ऐसी वर्णयोजना को ओजस्विनीवृत्ति कहते हैं।

उपर्युक्त प्राकृत छन्द में प, त, र, ण, म आदि स्पष्टरूप से द्रष्टव्य हैं।

सततशीकरसिच्यमानगैरिकशिलातललुण्ठनेन जलदानां रञ्जनम्। विशीर्य पतनेनात्यन्तधवला निर्झरा एव हासो यस्य तादृशेन दरीमुखेनान्तःप्ररूढबकुलकुसुमामोदनिःसरणरञ्जितजलधरप्रतिबिम्बभूतताम्रनयनोन्मुद्रणात्। हासबकुलामोदाभ्यां च क्षीबतारोपरूपा समासोक्तिर्ध्वन्यत इत्याराध्याः। ओज्झुरो निर्झरः। णिम्महिअं निःसृतम् ॥

प्रौढा यथा—

'कृत्वा पुंवत्पातमुच्चैर्भृगुभ्यां मूर्ध्नि प्राव्णां जर्जरा निर्झरौघाः।
कुर्वन्ति द्यामुत्पतन्तः स्मरार्तं स्वर्लोकस्त्रीगात्रनिर्वाणमत्र ॥ १९२ ॥'

सैषा प्रायेण मूर्धन्यानामन्तःस्थानां संयोगात्पूर्वगुरुत्वेन जायते ॥

प्रौढ़ा का उदाहरण—

इस पर्वत पर झरनों के प्रवाह पुरुषों की भांति ऊँचे तटविहीन शिखरों से बड़ी-बड़ी शिलाओं के ऊपर गिरकर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इसके बाद ऊपर की ओर उछल कर कामसन्तप्त आकाश स्थित अप्सराओं के अङ्गों की शांति करते हैं॥ १९२॥

यह प्रौढ़ा प्रायः मूर्धन्य वर्णों तथा अन्तःस्थ वर्णों के संयोग होने से पूर्ववर्ती गुरु वर्ण के कारण होती है।

स्व० भा०—काव्य में लघु गुरु आदि का विचार देने वाले पिङ्गलशास्त्र में संयुक्ताक्षर का पूर्ववर्ती वर्ण गुरु हो जाता है। अतः छन्द में जहां कहीं मूर्धन्य वर्णों का अन्तःस्थों के साथ अथवा दोनों का स्वतन्त्र रूप से संयुक्तत्व हो—संयोग हो—तब पूर्ववर्ती गुरुवर्ण के कारण प्रौढ़ता का प्रादुर्भाव होता है। प्रस्तुत उदाहरण में 'कुर्वन्ति में मूर्धन्य रेफ तथा अन्तःस्थ वकार का, 'स्मरार्त' में रेफद्वय का, 'स्वर्लोक' में अन्तःस्थ वकार तथा रेफ का, और निर्वाण में 'रेफ और वकार का संयोग हुआ है। अतः पूर्ववर्ती वर्णों में आने वाले संयोग के कारण गुरुत्व आ गया है। इसी से प्रौढ़ा वृत्ति यहां होगी।

केवल पांच ही वृत्ति मानने वाले रुद्रट ने प्रौढ़ा का लक्षण इस प्रकार दिया है—

अन्त्यटवर्गान्मुक्त्वा वर्ग्यर्यणा उपरि रेफसंयुक्ताः।
कपयुक्तश्च तकारः 'प्रौढायां कस्तयुक्तश्च॥ काव्यालंकार॥ २।२४॥

भृगवस्तटाः। भृगुपातस्य सुरस्त्रीसंगमः फलम्। अत्र कुर्वन्स्वर्लोकनिर्वर्त्येतेषु मूर्धन्यानामन्तःस्थसंयोगा उच्चैःशब्द इत्यादौ स्वभावगुरूणामपि पूर्वरूपसंयोगसन्निधौ छायाविशेषो भवतीत्याहुः केचित्॥

मधुरा यथा—

'किञ्जल्कसङ्गिशिञ्जान-भृङ्गलाञ्छितचम्पकः।
अयं मधुरुपैति त्वां चण्डि पङ्कजदन्तुरः॥ १९३॥'

सैषा प्रायोऽनुस्वारपुरोवर्तिस्पर्शतया जायते॥

मधुरा का उदाहरण—

पराग के प्रेमी गुञ्जार कर रहे भ्रमरों से कालीकृत चम्पक पुष्पों से भरा हुआ, कमलों से सुशोभित यह वसन्त तुम्हारे पास, हे क्रोधने, आ पहुँचा॥ १९३॥

यह मधुरावृत्ति प्रायः अनुस्वार के पूर्व व्यञ्जनों के—कादि मावसान वर्णों के—रहने पर होती है।

स्व० भा०—अनुस्वार का अभिप्राय यहां शुद्ध अनुस्वार तथा उसके स्थान पर हुये परसवर्ण आदि आदेश दोनों ग्राह्य हैं। प्रस्तुत छन्द में—विशेषकर पूर्वार्ध में—अनुस्वार के स्थान पर किसी न किसी अवस्था में हुये आदेश ही ञकार ङकार आदि आये हैं। अतः इनके पूर्ववर्ती वर्णों के कारण यहां माधुर्य मानना चाहिये।

रुद्रट के अनुसार मधुरा का लक्षण यह है—

निजवर्गान्त्यैर्वर्ग्याः संयुक्ता उपरि सन्ति मधुरायाम्।
तद्युक्तश्च लकारो रणौ च ह्रस्वस्वरान्तरितौ॥ २।२०॥

अनुस्वारपुरोवर्तीति। अनुस्वारस्वरूपतदादेशावनुस्वारपदेन गृह्येते। तेन शमितहासेत्यादावनुस्वाराभावेऽपि न लक्षणमुदाहरणम्॥

निष्ठुरा यथा—

'स्वाङ्गश्लिष्टाद्रिजन्मानं नेत्रार्चिःप्लुष्टमन्मथम् ।
स्तौमि त्र्यक्षं द्युषज्ज्येष्ठं दैत्यश्रेण्यर्चिताङ्घ्रिकम् ॥ १६४ ॥'

सैषा प्रायः संयोगभूयस्त्वेनोत्पद्यते ॥

निष्ठुरा का उदाहरण—

पार्वती को अपने अङ्गों से सटाये हुये, नेत्रों की अग्नि से कामदेव को भस्म कर देनेवाले, देवताओं में ज्येष्ठ तथा दैत्य-समुदाय द्वारा जिनके चरण पूजे जाते हैं उन भगवान् त्रिलोचन शिव की मैं स्तुति करता हूँ ॥ १९४ ॥

यह निष्ठुरा वृत्ति अधिक संयोगों से निष्पन्न होती है ।

स्वाङ्गेति । दिवि सीदन्तीति द्युषदो देवाः । सुषामादित्वात्पत्वम् । अत्रैकान्तरिताः संयोगाः संदर्भव्यापकाः प्रतीयन्ते । सोऽयमस्याः संयुज्यमानाविशेषेऽपि वृत्त्यन्तराद्विशेषो निष्ठुराद्वैपरीत्येन श्लेषोदाहरणं सुगमम् ॥

श्लथा यथा—

'दयितजनविरहविगलितनयनोदकपीतहरिणमदतिलकम् ।
वदनमपगतमृगमदशशिकरणिं वहति लोलदृशः ॥ १६५ ॥'

सेयं प्रायो व्यञ्जनानाम संयोगेन जन्यते ॥

श्लथा का उदाहरण—

प्रिय व्यक्ति के वियोग में निकल रहे अश्रुबिन्दुओं से धुले कस्तूरी के तिलक से संयुक्त चञ्चलाक्षी सुन्दरी का मुखमण्डल मृगमद से रहित चन्द्रमा का सादृश्य धारण कर रहा है ॥१९५॥

यह श्लथा वृत्ति अधिकतर व्यञ्जनों के असंयोग से अर्थात् संयुक्ताक्षरों के न रहने पर होती है ।

स्व० भा०—निष्ठुरा तथा श्लथा दोनों का लक्षण तथा उदाहरण स्पष्ट है, क्योंकि पूर्व में संयुक्ताक्षरों की अधिकता है तथा दूसरे के उदाहरण में उसका लगभग पूर्ण अभाव ।

करणिः सादृश्यम् ॥

कठोरा यथा—

'निसर्गनिर्गतानर्घघर्घरध्वनिहास्तिकम् ।
चक्रे चक्रं युधि क्रामन्नलर्कः कर्कशार्करुक् ॥ १६६ ॥'

सैषा प्रायः कण्ठ्यरेफादिसंयोगादुत्पद्यते ॥

कठोरावृत्ति का उदाहरण—

लड़ाई में स्वभावतः निकल रहे निरर्थक घर्घर ध्वनियों वाले हस्तिसमूहों का अतिक्रमण करता हुआ, कर्कश अर्क के रंग का कुत्ता चक्कर काटता रहा ॥ १९६ ॥

यह कठोरा वृत्ति प्रायः कण्ठ्य, रेफ आदि वर्णों के संयोग से उत्पन्न होती है ।

स्व० भा०—कवर्ग, हकार आदि कण्ठ्यवर्णों तथा रेफ का संयोग उपर्युक्त छन्द में दर्शनीय है । यह उदाहरण लक्षण से पूर्णतः संगत बैठता है ।

सैषा प्रायः कण्ठ्येति । कण्ठ्यरेफयोः क्वचिदन्यस्याप्यादिपदोपात्तस्य संयोगोऽवसेयः ॥

कोमला यथा—

'दारुणरणे रणन्तं करिदारणकारणं कृपाणं ते।
रमणकृते रणरणकी पश्यति तरुणीजनो दिव्यः ॥ १६७ ॥'

सेयं रेफणकाराद्यसंयुक्तकोमलवर्णविरचनया निष्पद्यते ॥

कोमला वृत्ति का उदाहरण—

कोई व्यक्ति किसी राजा से कहता है कि हे महाराज, "उस भयङ्कर युद्ध में आपकी कृपाण झनझनाहट कर रही थी, उसने अनेक हाथियों को भी विदीर्ण कर दिया था।" 'उत्कण्ठा से भरी हुई जवान देवाङ्गनायें रति के लिये देख रही हैं।"

(अथवा इन दोनों अर्थों को परस्पर सम्बद्ध मानने पर अर्थ होगा) भीषण रण में झनझना रही, हाथियों को विदीर्ण करनेवाली आपकी कृपाण को आश्चर्यचकित होकर तरुणी अप्सरायें अपने प्रिय के लिये देख रही हैं, चाह रही हैं ॥ १९७ ॥

यह कोमला वृत्ति र, ण, आदि संयोगरहित कोमल वर्णों से रचना करने पर सिद्ध होती है।

स्व० भा०—उपर्युक्त छन्द में रेफ तथा णकार का असंयुक्त रूप ही प्रायः प्रयुक्त हुआ है, अतः यह भी उदाहरण लक्षण के अनुसार ही है।

मिश्रा यथा—

'पिनष्टीव तरङ्गाग्रैरुदधिः फेनचन्दनम्।
तदादाय करैरिन्दुर्लिम्पतीव दिगङ्गनाः ॥ १६८ ॥'

सैषा प्रायः कठोराणामोष्ठ्यकण्ठ्यमूर्धन्यानां बाहुल्यादिभिरुपलभ्यते ॥

मिश्रा का उदाहरण—

समुद्र अपनी तरङ्गों से फेन रूपी चन्दन को मानो पीसता है और मानो उसे ही लेकर चन्द्रमा अपनी किरणों से दिग्वधुओं को लेप करता है ॥ १९८ ॥

यह मिश्रा वृत्ति प्रायः कठोर कहे जाने वाले ओष्ठ्य, कण्ठ्य और मूर्धन्य वर्णों के बाहुल्य आदि से तैयार होती है।

स्व० भा०—उदाहृत श्लोक में प, ट, र, आदि मूर्धन्य, प, फ, आदि ओष्ठ्य तथा ग, क आदि कण्ठ्य वर्णों के प्रयोग से मिश्रता स्पष्ट दर्शनीय है।

बाहुल्यादिभिरिति। बाहुल्याल्पत्वमिश्रणैः प्रादेशिकैरित्यर्थः ॥

परुषा यथा—

'जह्रे निर्ह्रादिह्लादोऽसौ कह्लाराह्लादितह्रदः।
प्रसह्य मह्या गर्ह्यत्वमर्हणार्हः शरन्मरुत् ॥ १६९ ॥'

सैषा प्रायेणोष्मणामन्तःस्थादिसंयोगैरवस्थाप्यते ॥

परुषा का उदाहरण—

वज्र की ध्वनि के सदृश शब्द करने वाला, सरोवरों में कमलों को विकसित करने वाला यह पूजा के योग्य शरत्कालीन वायु गर्हितता दबाकर पृथ्वी द्वारा बलात् हर लिया गया है ॥ १९९ ॥

यह परुषा वृत्ति प्रायः ऊष्म वर्णों के अन्तःस्थ आदि वर्णों के साथ संयुक्त होने पर संभव होती है।

ललिता यथा—

'द्राविडीनां ध्रुवं लीलारेचितभ्रूलते मुखे ।
आसज्य राज्यभारं स्वं सुखं स्वपिति मन्मथः ॥ २०० ॥'

सैषा प्रायेण दन्त्यौष्ठ्यतालव्यानां मध्येऽन्तःस्थादिसंयोगैः स्थाप्यते ॥

ललिता का उदाहरण—

द्रविड़ सुन्दरियों की सुन्दरता से तनी हुई भौहों वाले मुख पर, निश्चित रूप से अपने राज्य-भार को छोड़कर, कामदेव आराम से सो रहा है ॥ २०० ॥

यह ललिता वृत्ति प्रायः दन्त्य, ओष्ठ्य और तालव्यों के बीच में अन्तःस्थ आदि के संयोग से स्थापित की जाती है ।

स्व० भा०—उपर्युक्त दोनों श्लोकों में लक्षण के अनुसार उदाहरण स्पष्ट हैं । विशेष कठिनाई नहीं है । रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में इनका लक्षण यों दिया है—

सर्वैरुपरि सकारः सर्वे रेणोभयत्र संयुक्ताः ।
एकत्रापि हकारः परुषायां सर्वथा च शपौ ॥
ललितायां घथभरसा लघवो लश्चापरैरसंयुक्तः ॥ काव्यालंकार २।२६।२९

द्राविडीनामिति । किंचिदुन्नमनं रेचितम् । तेनाधिज्यकोदण्डक्रियाकारिभ्रूलतासनाथे दुःखराज्यभारारोपः । सुगममुदाहरणम् ॥

अमिता यथा—

'बकुलकलिकाललामनि कलकण्ठीकलकलाकुले काले ।
कलया कलावतोऽपि हि कलयति कलितास्त्रतां मदनः ॥ २०१ ॥'

सेयममितयोरेव ककारलकारबन्धयोरनुप्रासेन प्रसूयते ॥

अमिता का उदाहरण—

बकुल की कलियों से सुशोभित तथा सुन्दरकण्ठ वाली रमणी अथवा कोकिल के कर्णप्रिय शब्दों से उत्कण्ठित करने वाले समय में कामदेव चन्द्रमा की भी कला द्वारा कमनीय अस्त्र का काम लेता है ॥ २०१ ॥

यह अमिता वृत्ति असंख्य ही 'क' तथा 'ल' वर्णों से युक्त बन्धों के अनुप्रास से उत्पन्न होती हैं ।

स्व० भा०—अमिता में ककार तथा लकार से युक्त पदों के बहुत अधिक प्रयोग होते हैं। यह पढ़ने में भी अत्यन्त सुन्दर लगता है ।

इसके बाद भोज अन्यों के मत को मान्य नहीं करते और न इनकी पृथक सत्ता ही स्वीकार करते हैं । वह इनका अन्तर्भाव गुण अथवा वृत्तियों में यथास्थान कर देते हैं ।

**इति द्वादशधा वृत्तिः कैश्चिद्या कथितेह सा ।
न गुणेभ्यो न वृत्तिभ्यः पृथक्त्वेनावभासते ॥ ८७ ॥**

कुछ लोगों के द्वारा मान्य जो बारह प्रकार की वृत्ति यहाँ कही गई है, वह न तो गुणों से ही और न वृत्तियों से ही पृथक् रूप में अवभासित होती है ॥ ८७ ॥

स्व० भा०—भोज का मत यह है कि वस्तुतः इनके द्वारा गिनाई गई कार्णाटी आदि वृत्तियाँ

ही उचित हैं, ये वाद में गिनाई गई नहीं, क्योंकि इनमें कुछ का अन्तर्भाव सौकुमार्य आदि गुणों में हो जाता है और कुछ का भारती आदि वृत्तियों में।

तदेतत्सर्वेषां मतं दूषयति—न गुणेभ्य इति। समतासौकुमार्यादिगुणेषु भारतीप्रभृतिषु वृत्तिषु यथायथमन्तर्भावोऽवगन्तव्यः॥

श्रुत्यनुप्रासवर्णानुप्रासयोरपि दुष्कराः।
क्वचिद्भेदाः पृथक्कर्तुमस्यास्तेनेह नेष्यते॥ ८८॥

कहीं कहीं पर श्रुत्यनुप्रास तथा वर्णानुप्रास में भी प्रकार अलग किये जाने में कठिनाई है अतः वे यहां अभीष्ट नहीं हैं॥ ८८॥

श्रुत्यनुप्रासवर्णानुप्रासयोरिति। विषयसप्तमी। वर्णावृत्तेर्वृत्त्यनुप्राससाधारणत्वात्॥

वर्णानुप्रास

यथाम्रातकपुष्पादिस्रगादेर्वर्ण उच्यते।
वर्णावृत्तिस्तथा वाचां वर्णानुप्रास उच्यते॥ ८९॥
स तु स्तवकवान्स्थानी गर्भो विवृतसंवृतः।
गृहीतमुक्तः क्रमवान्विपर्यस्तोऽथ संपुटः॥ ९०॥
मिथुनं वेणिका चित्रो विचित्रश्चेति वर्ण्यते।
वर्णावृत्तिप्रयोगेभ्यस्तेभ्यस्तेभ्यो मनीषिभिः॥ ९१॥

जिस प्रकार आम्रातक (आमड़ा का फूल) के फूल आदि माला आदि के वर्ण कहे जाते हैं उसी प्रकार वर्णों की आवृत्ति काव्य में वर्णानुप्रास कही जाती है।

यह अनुप्रास का (१) स्तवकवान्, (२) स्थानी, (३) गर्भ, (४) विवृतसंवृत, (५) गृहीतमुक्त, (६) क्रमवान्, (७) विपर्यस्त, (८) संपुट, (९) मिथुन, (१०) वेणिका, (११) चित्र तथा (१२) विचित्र (बारह भेद) मनीषियों ने उन्हीं उन्हीं से मिलती जुलती वर्णों की आवृत्तियों के प्रयोग के कारण माना है॥ ८९–९१॥

स्व० भा०—यहां 'तेभ्यः तेभ्यः' आदि कहने का अभिप्राय यह है कि ऊपर जो नाम दिये गये हैं वे अन्वर्थ है। अर्थात् गुच्छे की भांति स्थान स्थान पर होने वाली आवृत्ति को स्तवकवान्, वेणी के सदृश ग्रथित वर्णों वाली को वेणिक आदि कहा जाता है।

ततो वर्णानुप्रासं विशेषयन्नाह—यथाम्रातकेति। स्रगादेर्वर्णस्थानीया वर्णावृत्तिर्वर्णानुप्रासः। तत्रोपमानभूतवर्णविवरणं समानजातीयकुसुमादिविरचितमालापटप्रभृतिषु यदन्तरान्तरा विजातीयाम्रातककुसुमादिसंनिवेशनं तद्वर्ण इत्युच्यते। तद्वत्या वाचा वर्णावृत्तिः। सैव वर्णानुप्रास इति सूत्रार्थः। स द्विधा—संयुक्तासंयुक्तवर्णनिरूप्यत्वात्। यथायथमेतदुभयप्रपञ्चनम्॥

स्तवकवदादयो द्वादश प्रकारास्तेषु क्वचित्क्वचित्संयोगावृत्तिः स्तबकवान्। अनुप्रासविन्यासादिति संयोगानुप्रासविन्यासतः॥

तेषु स्थाने स्थानेऽनुप्रासविन्यासतः स्तबकवान्यथा—

'यस्यावासीकृतहिमगिरेर्गुञ्जतां कुञ्जराणा-
माविश्चक्रे वनगजमदाघ्राणघोरायितानि।

दर्पोत्फुल्लस्फुरणविकटाकाण्डकण्डूलगण्ड-
स्वेच्छाकाषव्रणितसरलानोकहस्कन्धबन्धः ॥ २०२ ॥

अत्र गुञ्जतां कुञ्जराणामित्यादेर्वर्णस्तवकस्य स्थाने विन्यासादयं वर्णानुप्रासः स्तवकवानित्युच्यते ॥

(१) स्तवकवान् का उदाहरण

इन भेदों में स्थान स्थान पर अनुप्रास की योजना करने पर स्तवकवान् का उदाहरण—

· जिस आवास बनाये गये हिमालय पर्वत के चिग्घाड़ करते हुये हाथियों के उद्वेग के कारण फूल जाने से स्फुरण कर रहे भयङ्कर एवं अकस्मात् ही खुजला उठे कपोलों से अपनी इच्छा के अनुसार रगड़ देने से उधड़ गये सरल नाम के वृक्षों की डालों का गन्ध जंगली हाथियों को मद का अघ्राणन करा कर उनमें भयङ्करता पैदा कर दिया ॥ २०२ ॥

यहां पर (चिग्घाड़ रहे हाथियों के) गुञ्जतां कुञ्जराणाम् आदि वर्णगुच्छ का स्थान स्थान पर विन्यास होने से यह वर्णानुप्रास स्तवकवान् कहा जाता है।

स्व० भा०—इसमें वर्णों की आवृत्ति पूरे छन्द में न होकर जहां तहां होती है। अतः जहां भी इस प्रकार की बात दिखाई पड़ती है, ऐसा लगता है मानो कोई वर्णगुच्छ हो। इसीलिए इसे स्तवकवान् कहा भी जाता है ? प्रस्तुत छन्द में ही 'गुञ्जतां कुञ्जराणां' में 'ञ्ज' की आवृत्ति, 'काण्डकण्डूलगण्ड' में 'ण्ड' की आवृत्ति तथा 'स्कन्धगन्धः' में 'न्ध' की आवृत्ति और 'त्फुल्लस्फुर' में 'फु' की आवृत्ति है। ये आवृतियाँ किसी क्रम से न होकर जहां तहां गुच्छ के रूप में दृष्टिगोचर हो रही हैं, अतः यहां स्तवकवान् वर्णानुप्रास कहना चाहिये।

गुञ्जतां कुञ्जराणामकाण्डकण्डूलगण्डस्कन्धगन्ध इत्यत्रावृत्तिचतुष्केण स्तवकनिर्वाहः ॥

(२) स्थानी वर्णानुप्रास

नियतविवक्षितस्थानविशेषः स्थानी यथा—

'बाले मालेयमुच्चैर्न भवति गगनव्यापिनी नीरदानां
किं त्वं पक्ष्मान्तरालैर्मलिनयसि मुधावक्त्रमश्रुप्रवाहैः।
एषा प्रोद्वृत्तमत्तद्विपकटकषणक्षुण्णविन्ध्योपलाभा
दावाग्नेर्व्योमलग्ना मलिनयति दिशां मण्डलं धूमरेखा ॥ २०३ ॥'

अत्र प्रथमत्रिभागस्थानेषु बाले मालेयमित्यादिनियमेन वृत्तिः। सोऽयं वर्णानुप्रासः स्थानीत्युच्यते ॥

जिसमें अनुप्रास करने का स्थान विशेष निश्चित होता है, वह स्थानी है। जैसे—हे सुन्दरि, यह मेघों की माला नहीं है जो कि ऊँचे आकाश को व्याप्त किये जा रही है। तुम क्यों व्यर्थ में ही अपनी बरौनियों के भीतर से प्रवाहित अश्रुधाराओं से अपने मुख को मलिन किये जा रही हो ? अरे, यह तो उद्धत एवं मदमत्त हाथियों के कपोलों की रगड़ से खुदी हुई विन्ध्याचल की शिला के सदृश, आकाश तक उठ रही दावाग्नि की धूम रेखा है, जो कि पूर्ण दिङ्मण्डल को काला किये दे रही है ॥ २०३ ॥

यहां पर प्रथम तृतीय भाग स्थानों पर 'बाले मालेयम्' आदि की नियमतः वृत्ति है, अतः यही वर्णानुप्रास स्थानी कहा जाता है।

स्व० भा०—जिस प्रकार स्थानयमक में आदि, मध्य, अन्त्य आदि स्थान पादों में निश्चित होते थे, उसी प्रकार यहां भी श्लोक के चरणों में आदि, अन्त, प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि

स्थान अथवा भाग निश्चित होते हैं। इन निश्चित स्थानों पर ही इनकी आवृत्तियां होती हैं, अतएव इसे स्थानी कहा भी जाता है। प्रस्तुत छन्द में ही प्रथम पंक्ति में प्रथम तृतीयांश में 'वाले मालेयम्' आदि में 'ले' की आवृत्ति है। उसी के अन्तिम तृतीयांश में 'नी नीरदानाम्' आदि में 'नी' की आवृत्ति है। तृतीय पाद के 'प्रोद्वृत्तमत्त' में भी 'त्त' की आवृत्ति, चतुर्थ चरण में प्रारम्भ में ही 'न्न' की आवृत्ति आदि सब प्रथम तृतीयांश में है।

स्थानीति। श्लोकपादेऽपि प्रथमादिभागकल्पनया स्थाननियमविवक्षा। तथाहि—वाले मालेयमिति। प्रथमो भागो नीनी इति प्रतिभासारूढस्तृतीयादि प्रथमपादे। एवं पक्ष्मान्तरात्मलिनसुधांशुप्रभृतीनां द्वितीयादिपादेषु प्रथमादिभागकल्पनावसेया॥

(३) गर्भ वर्णानुप्रास

आवृत्तेर्वर्णान्तरायेण गर्भो यथा—

'कालं कपालमालाङ्कमेकमन्धकसूदनम्।
वन्दे वरदमीशानं शासनं पुष्पधन्वनः॥ २०४॥'

अत्र कालं कपालमालेति, अङ्कमेकमिति, वन्दे वरदमीशानं शासनमित्यादिषु पकाररेफककारगर्भाधानादयं वर्णानुप्रासो गर्भ इत्युच्यते॥

आवृत्तियों के बीच में किसी अन्य वर्ण का व्यवधान होने से गर्भ अनुप्रास होता है। जैसे—कालस्वरूप, कपाल की माला से अङ्कित, अद्वितीय, अन्धकासुर के विनाशक, वरदानी, कामदेव के नियन्त्रक भगवान् शिव की वन्दना करता हूँ॥ २०४॥

यहां पर 'कालं कपालमाला', 'अङ्कमेकम्', 'वन्दे वरदमीशानं शासनम्' आदि में प्, र्, क् आदि के बीच में आ जाने से यह वर्णानुप्रास गर्भ कहा जाता है।

स्व० भा०—उपर्युक्त श्लोक में आवृत्तियां पूर्णतः सम्भव होतीं किन्तु बीच-बीच में वर्णों के आ जाने से व्यवधान उपस्थित हो गया है। 'कालं कपालम्' में यदि 'कपालम्' में से 'प्' निकल जाता तो 'कालं' की पूर्ण आवृत्ति हो जाती। अतः यहां आवृत्ति के बीच में पकार का व्यवधान हो गया। 'अङ्कमेकम्' में भी 'ए' का व्यवधान आ गया है। 'ईशानं शासनम्' में भी नकार अथवा सकार का व्यवधान है। अतः आवृत्तियों के मध्य में किसी अन्य विजातीय वर्ण के आ जाने से गर्भ अनुप्रास हुआ।

कालं कालस्वरूपम्। एकमद्वितीयम्। कालं कपालेत्यत्र लकारावृत्तिः ककारेण व्यवधाने प्रकृते कपालेऽन्यत्र पकारो वर्णान्तरगर्भायमाण उपलक्ष्यते। एवं मालाङ्कमित्यादौ लकारादिगर्भीकरणमवसेयम्। विवृतसंवृतौ निगदेनैव व्याख्यातौ॥

(४) विवृतसंवृत वर्णानुप्रास

स्थाने स्थाने विकाससंकोचाभ्यां विवृतसंवृतो यथा—

'न मालतीदाम विमर्दयोग्यं न प्रेम नव्यं सहतेऽपराधान्।
म्लानापि न म्लायति केसरस्रग्देवी न खण्डप्रणया कथंचित्॥ २०५॥'

अत्र प्रथमपादे न मालतीदामेत्यादिभिर्विकासः, द्वितीयपादे प्रेमेत्याकारावृत्त्या संकोचः, तृतीयपादे म्लानापि न म्लायतीत्येताभ्यां च विकासः, चतुर्थे नेति संकोचः। सोऽयं वर्णानुप्रासो विवृतसंवृत इत्युच्यते॥

स्थान-स्थान पर विकास तथा संकोच करने से विवृतसंवृत अनुप्रास होता है, जैसे—मालती की माला मसलने के योग्य नहीं है, नव प्रेम अपराधों को नहीं सह सकता, बकुल की माला

मुरझा जाने पर भी मुरझाती नहीं। देवी भी कहीं, किसी प्रकार रुष्ट न हो जायें अथवा देवी भी किसी प्रकार रुष्ट नहीं हो सकतीं ॥ २०५ ॥

यहां पर प्रथम पाद में 'न मालतीदाम' इत्यादि के द्वारा विकास, द्वितीय चरण में 'प्रेम' इसमें आकृति की आवृत्ति की दृष्टि से संकोच है, तृतीय पाद में 'म्लानापि न म्लायति' इन दोनों के द्वारा विकास तथा चतुर्थ में 'न' का प्रयोग होने से संकोच है। इस प्रकार का यह वर्णानुप्रास विवृतसंवृत कहा जाता है।

स्व० भा०—यहां पर विवृत अथवा संवृत का अर्थ व्याकरणशास्त्र में प्रयुक्त पारिभाषिक नहीं है। इसका अभिप्राय है वर्णों की अधिक तथा स्वल्प आवृत्ति। जब एक वर्ण किसी चरण में अनेक बार आवृत्त होता है और दूसरे चरण में एक दो बार ही तब द्वितीय की अपेक्षा प्रथम विकसित अथवा विवृत होता है और प्रथम की तुलना में द्वितीय संवृत या संकुचित।

प्रस्तुत सन्दर्भ में ही 'न मालती दाम' में दो मकार हैं तथा दूसरे चरण के 'न प्रेम' आदि में केवल एक है, तृतीय चरण में 'म्लाना न म्लायति' में नकार दो बार तथा चतुर्थ में केवल एक बार आया है। पूर्व में विकास तथा पर में संकोच है। अतः यहां विवृतसंवृत वर्णानुप्रास है।

न मालतीदामेत्यादौ प्रथमपादे मकारावृत्तिर्द्वयेन विवरणम्, द्वितीयपादे सकृत्प्रयोगेण तस्यैव संवृतिः, तृतीयपादे नकारसकारयोरावृत्त्या विवृतिः, चतुर्थे नेति संवरणम्। तदिह भूयोविकास-किंचित्संकोच-किंचिद्विकास-सर्वथासंकोचपरिपाट्या संदर्भनिर्वहणं शोभाकरमिति व्याचष्टे—अत्रेति ॥

(५) गृहीतमुक्त वर्णानुप्रास

चक्रवालवद्धानोपादानाभ्यां गृहीतमुक्तो यथा—

'लोलल्लवङ्गलवलीवलया विकुञ्ज-कूजत्कपिञ्जलकुला मुकुलावनद्धाः।
अध्यूषिरे कनकचम्पकराजिकान्ता येनापरान्तविजये जलधेरुपान्तः ॥२०६॥'

अत्र चक्रवालक्रमः सुव्यक्त एव। सोऽयं वर्णानुप्रासो गृहीतमुक्त इत्युच्यते ॥

चक्रवाल की भांति परित्याग तथा ग्रहण के द्वारा गृहीतमुक्त भेद सिद्ध होता है।

जैसे—अपरान्त देश के विजय प्रसङ्ग में उन्होंने चञ्चल लवली तथा लवङ्ग लताओं से भरे हुये किनारों वाले, लताकुञ्जों में कूजन कर रहे पपीहों के समुदाय से युक्त, फूलों (कलियों) से लदे हुये, स्वर्णचम्पक की वीथियों से सुन्दर लग रहे समुद्र के तटवर्ती भागों में निवास किया ॥ २०६ ॥

यहां पर चक्रवाल का क्रम तो स्पष्ट ही है। अतः यही वर्णानुप्रास गृहीतमुक्त कहा जाता है।

स्व० भा०—चक्रवाल चकवा अथवा हंस नाम का पक्षी है। चकवा केवल अपने काम की चीजें चन्द्रमयूख, अथवा मृणाल तन्तु आदि ले लेता है और शेष को छोड़ देता है। हंस भी दूध भर लेकर जल छोड़ देता है। उसी प्रकार इसमें भी अपेक्षित वर्णों को केवल व्यञ्जनों को ले लिया जाता है और स्वरों को छोड़ दिया जाता है। उदाहरण के छन्द में ही 'वलीवलस्य' में यदि 'ई' को मुक्त कर दिया जाये तो आवृत्ति सिद्ध हो जाती है। 'लकुलामुकुला' 'कन' औ 'कान्त' 'रान्त' 'उपान्त' आदि में भी यथासम्मत समवर्णों का ग्रहण करने से चक्रवालता सिद्ध हो जाती है।

लोलदिति। कपिञ्जलो गौरतित्तिरिः। अपरान्तो देशविशेषः। पूर्ववलनेनोत्तरग्रहणं चक्रवालं व्यञ्जनमात्रवलनमभिप्रेतम्, तेन वली वलेत्यत्रापि चक्रवालसिद्धिः। एवमुत्तरत्र ॥

(६) क्रमवान् वर्णावृत्तिः

क्रमेण द्वित्राणां त्रिचतुराणां वर्णानामसंयोगस्वरवर्णानामावृत्तिः क्रमवान्यथा—

'नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेव तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविमोकमग्नौ ॥ २०७ ॥'

अत्र गुर्वी गुरुणा प्रयुक्तेति, वधूर्विधातृ इति, चकार चकोरेति, लज्जावती लाजविमोकमिति द्वयोस्त्रयाणां च स्वरसंयोगवर्णानां क्रमेणावृत्तिः, सोऽयं वर्णानुप्रासः क्रमवानित्युच्यते ॥

जहां क्रमशः दो तीन या तीन चार वर्णों की न कि संयुक्ताक्षर तथा स्वर की आवृत्ति हो उसे क्रमवान् कहते हैं ।

जैसे—विधाता की प्रतिमा सी, पृथुलनितम्बों वाली, मत्त चकोर सदृश नयनों वाली, लजाई हुई वधू ने अपने उस पूज्यजन द्वारा नियोजित किये जाने पर अग्नि में लाजा को डाला ॥२०७॥

यहां पर 'गुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता', 'वधूर्विधातृ', 'चकारचकोर', 'लज्जावती लाजविमोकम्' इनमें दो-दो और तीन-तीन स्वर से संयुक्त वर्णों की क्रमशः आवृत्ति है। अतः यही वर्णानुप्रास क्रमवान् कहा जाता है।

स्व० भा०—इसका अभिप्राय यह है कि जिस क्रम में स्वर और व्यंजन आये हैं उसी क्रम में वे यदि आगे भी आ जायें तो क्रमवान् वर्णानुप्रास होता है। जैसे 'गुर्वी गुरुणा' में गकार तथा रेफ, 'वधूर्विधातृ' में वकार तथा धकार, 'चकार चकोर' में च, क, र तथा 'लज्जावती लाजविमोकम्' में ल, ज तथा व' जिस क्रम से पूर्व पद में आये हैं उसी क्रम में उत्तरवर्ती पद में भी। अतः यह क्रमवान् वर्णानुप्रास का उदाहरण है। 'असंयोगस्वराणाम्' कहने का अर्थ यह है कि यहां दो तीन अथवा तीन चार वर्णों की क्रमशः आवृत्ति अपेक्षित है न कि संयुक्ताक्षर की अथवा स्वर की, किन्तु यदि कहीं यह भी हो जाता है तो कोई बात नहीं ।

क्रमेणेति । द्वावारभ्यैव क्रमसंभव ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो विरसायते। तेन पञ्चषाणामित्यादिनोक्तमसंयोगस्वराणामित्यविवक्षितसंयोगस्वराणाम् । गुरुणेत्यनुल्लङ्घनीयाज्ञता । तथा चलत्प्रयुक्त्या दुर्वहनितम्बभारालसाया अपि कथंचित्पदविन्यासेन कान्तिविशेषो ध्वन्यते। स्वभावताम्रयोरपि नेत्रयोस्तत्काले धूमाश्लेषाद् द्विगुणो राग इति उपमाने मत्तपदपोषः पूर्वार्धे द्वयोर्द्वयोरुत्तरार्धे त्रयाणामनुल्लङ्घितक्रमाणामेव व्यञ्जनानामावृत्तिरिति स्फुटं विवरणम् ॥

(७) विपर्यय वर्णानुप्रास

क्रमवतां विपर्ययोपन्यासाद्विपर्ययो यथा—

'प्रणवः प्रवणो यत्र प्रथमः प्रमथेषु यः ।
रणवान्वारणमुखः स वः पातु विनायकः ॥ २०८ ॥'

अत्र व्यस्तक्रमो व्यक्त एव । सोऽयं वर्णानुप्रासो विपर्यय इत्युच्यते ॥

क्रम से आये हुये वर्णों के क्रम में उलटफेर हो जाने से विपर्यय होता है।

जैसे—प्रणव अर्थात् तद्वाच्य परमेश्वर भी जिनके प्रति भक्त हैं, जो प्रमथगणों में प्रधान है, वही सुन्दर गजवदन गणेश आपलोगों की रक्षा करें ॥ २०८ ॥

यहां उलटा क्रम स्पष्ट ही है, अतः यह वर्णानुप्रास विपर्यय कहा जाता है।

स्व० भा०—इस श्लोक में प्रयुक्त पूर्ववर्ती पदों में वर्णों का जो क्रम है वह अगले पद में उलट गया है। अतः यहां क्रमवान् का उलटा विपर्यय वर्णानुप्रास हुआ। जैसे कि 'प्रणवः तथा 'प्रवणः' में केवल आदि वर्ण समुदाय 'प्र' को छोड़कर शेष का क्रम आगे पीछे हो गया है। यही दशा 'प्रथमः' तथा 'प्रमथः' में भी है। इसमें 'प्र' के क्रम में उलटफेर न होना इसलिये दोष नहीं है क्योंकि वह संयुक्ताक्षर है। क्रमवान् में जिस प्रकार संयुक्ताक्षर तथा स्वरों की आवृत्ति अनिवार्य नहीं थी, उसी तरह यहां भी। 'रणवान्' तथा 'वारण' में तो विपर्यय की चरम-सीमा ही है।

क्रमवतामुपक्रान्तकिंचित्क्रमाणामावृत्तौ तत्क्रमविपर्यासो व्युत्क्रमः॥

(७) संपुटवर्णानुप्रास

स्वाद्यवर्णवर्तिना स्वरेण सह पादमध्यान्तयोरनुप्रासः संपुटं यथा—

'स्थिरापायः कायः प्रणयिषु सुखं स्थैर्यविमुखं
महारोगो भोगः कुवलयदृशः सर्पसदृशः।
गृहावेशः क्लेशः प्रकृतिचपला श्रीरपि खला
यमः स्वैरी वैरी तदपि न हितं कर्म विहितम्॥ २०६॥'

तदेतल्लक्षणेनैव व्याख्यातम्। सोऽयं वर्णानुप्रासः संपुट इत्युच्यते॥

अपने से पूर्ववर्ती स्वर के साथ वर्ण की पाद के मध्य तथा अन्त में आवृत्ति होने से संपुट अनुप्रास होता है। जैसे—

शरीर का विनाश निश्चित है, प्रेमीजनों में विद्यमान सुख स्थिरता से हीन है, अस्थिर है, भोग घोर रोगों से युक्त हैं, पद्मनयनी सुन्दरियां तो विषधर जैसी हैं, घर में—गृहस्थी में प्रवेश करना ही कष्ट है। स्वभाव से चञ्चल लक्ष्मी भी खल है। स्वेच्छाचारी यमराज ही दुश्मन है फिर भी श्रेयस्कर कार्य नहीं किया॥ २०९॥

यह तो लक्षण से ही स्पष्ट है। यही वर्णानुप्रास संपुट कहा जाता है।

स्व० भा०—यहां छन्द में स्पष्ट ही दृष्टिगोचर हो रहा है कि प्रथम पाद के मध्य में आया हुआ अपने पूर्ववर्ती स्वर 'आ' के साथ 'यः' की आवृत्ति 'कायः' में हुई है। इसी प्रकार 'सुखं' का 'उखं' 'मुखं' में आवृत्त हुआ है। 'रोगो भोगः' में 'ओगः' 'कुवलयदृशः' तथा सर्पसदृशः में 'दृशः' 'गृहावेशः क्लेशः' में 'एशः', 'चपला श्रीरपि खला' में 'अला', 'स्वैरी वैरी' में 'ऐरी', 'हितं कर्म विहितम्' में 'इतम्' की आवृत्तियां पूर्वलक्षण के अनुसार ही हैं।

स्वाद्येति। आवर्तनीयो वर्णः स्वपदेनाभिमतस्तस्य पूर्वो यो वर्णस्तद्वर्तिना स्वरेण सह तस्यावृत्तिः। पादमध्यान्तयोरिति। मध्यसंश्लिष्टोपरितनभागवटितसमुद्गकतुल्यतया संपुटोऽनुप्रासः॥

(९) मिथुन वर्णानुप्रास

अन्तःपादमुपसंहारोपक्रमयोर्विवक्षितः सस्वरानुप्रासो मिथुनं यथा—

'त्यज मनसि सदाहे हे स्मर स्थानमस्मि-
न्ननु किरसि शरीरे रे किमिन्दो मयूखान्।
अपि परिहर वायो योगमङ्गैर्मदीयैः
प्रणयिनि समवेते ते भवन्तः सखायः॥ २१०॥'

तदेतन्निगदेनैव व्याख्यातम् । सोऽयं वर्णानुप्रासो मिथुनमित्युच्यते ॥

पाद के मध्यमें समाप्ति तथा प्रारम्भ में अपेक्षित स्वर सहित वर्ण की वृत्ति मिथुन-वर्णानुप्रास है। जैसे—हे कामदेव, तू इस सन्तप्त मन के बीच से अपना स्थान छोड़ दे। रे चन्द्र, तू भला इस देह पर अपनी किरणें क्यों डाल रहा है? हे वायु, अब तू भी मेरे अवयवों का सम्पर्क छोड़ दे। वस्तुतः आप सभी लोग प्रिय की सन्निधि में ही मित्रवत् आनन्ददायी होते हैं॥ २१० ॥

यह तो कथनमात्र से ही स्पष्ट है। यही वर्णानुप्रास मिथुन कहा जाता है।

स्व० भा०—मिथुन का अर्थ होता है जोड़ा, दो का साथ। किसी पाद में भीतर ही एक यति की समाप्ति का वर्ण स्वर सहित अगली यति के प्रारम्भ में आ जाता है तब दोनों का जोड़ा हो जाने से मिथुनानुप्रास होता है। उपर्युक्त छन्द में 'हे हे', 'रे रे', 'यो यो', 'ते ते' का प्रयोग क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पादों में हुआ है। इनमें से पहले पाद की प्रथम यति के उपसंहार का—अन्त का—सस्वर वर्ण है जिसकी आवृत्ति तत्काल उत्तरार्ध प्रारम्भ होते ही हो गई है। अतः यहाँ मिथुनवर्णानुप्रास है।

अन्तपादमिति । वृत्तौचितीवशाच्च द्विखण्डलब्धशोभाविशेषेषु पादेषु मिथुनसिद्धिरवसेया। तदिदमुक्तमुपक्रमोपसंहारयोरिति। मिथुनं द्वन्द्वम् ॥

(१०) वेणिका वर्णानुप्रास

आवाक्यपरिसमाप्तेर्वर्णानुप्रासनिर्वाहो वेणिका यथा—

'विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी ॥ २११ ॥'

तदेतन्नातिदुर्बोधम् । सोऽयं वर्णानुप्रासो वेणिकेत्युच्यते ॥

वाक्य के अन्त तक वर्णानुप्रास का निर्वाह करना वेणिका है। जैसे—

जब रुद्रगण भाग गये, सूर्य डोल उठा, इन्द्र का वज्र ध्वस्त हो गया, चन्द्रमा भी सशंकित हो उठा, वायु रुक गया, कुबेर ने वैरभाव त्याग दिया, विष्णु का अस्त्रशस्त्र कुण्ठित हो गया उस समय अपने पौरुष के नष्ट हो जाने से परवश और अत्यन्त क्रुद्ध महिषासुर को बिना रोक-टोक के मारती हुई, उदारमनस्का भगवती आप लोगों के दुःखों अथवा पापों को शान्त करें॥ २११ ॥

यह अधिक दुर्ज्ञेय नहीं है। यही वर्णानुप्रास वेणिक कहा जाता है।

स्व० भा०—जिस प्रकार सुन्दरियों की वेणी निरन्तर आदि से अन्त तक गुथी रहती है, उसी प्रकार श्लोक के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक जब विभिन्न वर्णों की आवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, तब वेणिक अनुप्रास होता है। इसी उदाहृत श्लोक के प्रथम पाद में व, द्र, त, ज्र, आदि वर्णों की,द्वितीय पाद में श, ङ्क, म, ति, रे, बे आदि की, तृतीय में कु, ण्ठ, म, प, प, घ्न आदि की तथा चतुर्थ में नि, घ्न, त, भ, वा आदि की आवृत्ति होने से अनुप्रास है। यह निर्वाह प्रत्येक पाद में आदि से अन्त तक हुआ है साथ ही श्लोक में भी प्रथम पाद से अन्तिम पाद तक हुआ है। यहाँ अनुप्रास के निर्वाह का अभिप्राय यह नहीं है कि एक ही वर्ण आवृत्त हो। वस्तुतः अपेक्षा वर्णावृत्ति की है, वह एक बार हुई हो अथवा अनेक बार, एक वर्ण की हुई हो अथवा अनेक वर्णों की।

विद्राण इति। उपघ्न आश्रयः। निघ्नः परवशः। अनुप्रासजातेरासमाप्तिनिर्वाहोऽभिमतः। व्यत्ययः पुनरन्या अन्या एवाभिमतास्तेन वृत्त्यनुप्रासाद्भेदः। अत एव वेणीतुल्यता। तत्र हि किल केशग्रथना निर्व्यूढैव भक्तिः पुनरन्यान्येति ॥

(११) चित्र वर्णानुप्रास

उक्तलक्षणेभ्योऽन्यश्चित्रो यथा—

'नीते निर्व्याजदीर्घामघवति मघवद्वज्रनिद्रानिदाने
निद्रां द्रागेव देवद्विषि मुषितरुषः संस्मरन्त्याः स्वभावम्।
देव्या दृग्भ्यस्तिसृभ्यस्त्रय इव गलिता राशयो रक्तताया
रक्षन्तु त्वां त्रिशूलक्षतिकुहररुषो लोहिताम्भःसमुद्राः ॥ २१२ ॥'

एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः ॥

ऊपर वर्णित वर्णानुप्रास के भेदों से भिन्न चित्रानुप्रास होता है। जैसे—

इन्द्र के वज्र को अकर्मण्य बना देने वाले पापी देवद्रोही राक्षस को शीघ्र ही निष्कारण ही दीर्घ निद्रा लाने पर, अपने क्रोध को रोककर, अपने शुद्ध निर्विकार स्वरूप का स्मरण करती हुई देवी के तीनों नेत्रों से रक्तिमा की तीन गली हुई राशियों से प्रतीत हो रहे त्रिशूल के प्रहार से छिद्रित हो गये रक्तजल से पूर्ण समुद्र तुम्हारी रक्षा करें ॥ २१२ ॥

इसी प्रकार दूसरे भी देखे जा सकते हैं।

स्व० भा०—प्रकृत उदाहरण में पूर्वोक्त स्तवकवान्, स्थानी, गर्भ, विवृतसंवृत, गृहीतमुक्त, क्रमवान्, विपर्यय, मिथुन, वेणिका आदि अनुप्रास नहीं हैं। न तो स्तवक की विवक्षा है, न विभागता की, न वर्णान्तराय की और न संकोचविकास की। इसी प्रकार पूर्वोक्त उपभेदों में से कोई भी लक्षण घटित नहीं हो रहा है। ऐसी स्थिति होने पर भी न, र, द, ग, घ, व, स, ल, ह, म आदि वर्णों की आवृत्ति होने से अनुप्रासता तो है ही।

उक्तलक्षणेभ्य इति। पूर्वोक्तवर्णानुप्रासेभ्य इति। तथाहि प्रकृतोदाहरणे स्थाने स्थाने स्तवकाविवक्षायां न स्तवकवान्, विभागपरिहारेण न स्थानी, वर्णान्तरायानुपपत्तौ न गर्भः, संकोचविकासाभावेन न विवृतसंवृतः, चक्रवालक्रमाभावेन न गृहीतमुक्तः। एवं क्रमविपर्यस्तमिथुनबहिर्भावोऽवगन्तव्यः। आसमाप्तिनिर्वहणाभावे वेणीभेदः स्फुट एव ॥

(१२) विचित्र वर्णानुप्रास

एकवर्णावृत्तेर्वृत्त्यनुप्रासस्य वर्णान्तरवैचित्र्येण विचित्रो यथा—

'चञ्चत्काञ्चनकाञ्च्यो लयवलच्चोलाञ्चलैर्वञ्चिता-
श्चारीसंचरणैकचारुचरणाः सिञ्चन्ति चित्तं मम।
लीलाचञ्चरचञ्चरीकरुचिभिश्चूलालकैश्चर्चिताः
किंचिच्चन्दनचन्द्रचम्पकरुचां चौर्यो मृगीलोचनाः ॥ २१३ ॥'

एक वर्ण की आवृत्ति वाले वृत्त्यनुप्रास के बीच में दूसरे वर्णों के आने से उत्पन्न विचित्रता के कारण विचित्र अनुप्रास होता है। जैसे—

झनझनाती हुई सोने की करधनियों वाली, लयपूर्वक घूम रहे वस्त्रांचलों से ठगने वाली अथवा लयपूर्वक फहर रहे वस्त्रांचलों से रहित, विशेष क्रम से चरण निक्षेप करनेके कारण सुन्दर

चालों वाली, हावभाव से मनोहर भ्रमर की कान्ति से संयुक्त चूड़ा एवं अलकों से सुसज्जित, कुछ-कुछ चन्दन, चन्द्रमा तथा चम्पा की कान्ति को चुराने वाली; हरिणनयनायें ये सुन्दरियाँ तो मेरे मन को सरस किये दे रही हैं ॥ २१३ ॥

स्व० भा०—यहाँ पूरे संदर्भ में केवल चकार वर्ण की आवृत्ति हुई है। यह वर्णावृत्ति बीच-बीच में ककार, वकार, सकार आदि वर्णों से व्यवहित होकर और भी अद्भुत आह्लाद उत्पन्न कर रही है। अतः एक ही वर्ण की सन्दर्भ-व्यापिनी किन्तु वर्णान्तरव्यवहित आवृत्ति होने से विचित्र अलंकार है।

एकवर्णावृत्तेरिति। वर्ग्यावृत्तौ हि कदाचिदेकवर्णावृत्तिरपि संदर्भव्यापिनी संभाव्यते। तस्यां प्रतीयमानायामेवान्तरान्तरा नानाजातीया वर्णावृत्तिश्चित्रशोभादायिनी विचित्रानुप्रास इत्युच्यते। तथा हि। प्रकृतोदाहरणे संदर्भसमाप्तिं यावदावर्तमाने एव चकारे काञ्चन काञ्चेति लयवलदित्यादिषु ककारलकाराद्यनुप्रासोत्कटभावे नव वर्णावृत्तेर्न्यग्भाव इव प्रकाशते। चारी संचरणप्रकारः। सा भौमी आकाशी च। चञ्चुरो मनोहरः। चञ्चरीको भ्रमरः॥

प्रकारान्तर से चित्र तथा विचित्र का निरूपण

अन्ये पुनरन्यथा चित्रविचित्रयोर्लक्षणं व्याचक्षते। तत्र यमकच्छायानुकारी चित्रः। स एव वर्णानुप्रासवान्विचित्र इति। तत्र चित्रो यथा—

'सर्वाशारुधि दग्धवीरुधि सदा सारङ्गबद्धक्रुधि
क्षामद्भमारुहि मन्दमुन्मधुलिहि स्वच्छन्दकन्दद्रुहि।
शुष्यत्स्रोतसि तप्तभूरिरजसि ज्वालायमानाम्भसि
ज्येष्ठे मासि खरार्कतेजसि कथं पान्थ व्रजञ्जीवसि॥ २१४॥'

दूसरे लोग फिर से दूसरे ही प्रकार से चित्र तथा विचित्र का लक्षण बताते हैं। उनके अनुसार यमक की शोभा का अनुकरण करने वाला चित्रानुप्रास होता है। वर्णानुप्रास से युक्त होकर वही विचित्र कहलाता है। इनमें से चित्र का उदाहरण—

सभी दिशाओं को व्याप्त कर रहे, लताओं को जलाये दे रहे, हमेशा मृगों पर रुष्ट, वृक्षों को सुखा देने वाले, भ्रमरों की गुञ्जार को शान्त कर देने वाले, कन्दमूलों के पूर्ण द्रोही, स्रोतों को सुखाये दे रहे, धूलि को अत्यधिक तपा देने वाले तथा जल में भी अग्नित्व-सा पैदा कर दे रहे ज्येष्ठ महीने के समय में सूर्य की किरणों के अत्यन्त प्रखर हो जाने पर अर्थात् घोर दुपहरिया में चलते हुये हे पथिक, भला जीवित कैसे हो?॥ २१४॥

स्व० भा०—स्पष्ट है कि उदाहरण में 'रुधि' रुधि, क्रुधि आदि, रुहि, लिहि, द्रुहि आदि, तसि, जसि, म्भसि आदि तथा मासि, तेजसि और जीवसि में यमक की-सी अनुवृत्ति दिखाई पड़ती है। यदि ये अनुवृत्तियाँ पूर्णतः वही होती जो यमक की होती हैं, तब तो यहां भी वही होता, किन्तु यहाँ वर्णसंहति में कुछ-कुछ समता है, अतः अनुप्रास हुआ। यमक का अनुकरण इसलिये हो रहा है क्योंकि पाद के मध्य, अन्त आदि में विभिन्नार्थक तथा प्रायः एक सी वर्ण-संहति की आवृत्ति हो रही है। यहाँ पर एक वर्ण की स्फुट प्रधानता नहीं है, यही विचित्र से इसका अन्तर है।

अन्ये पुनरिति। विभिन्नार्थैकरूपत्वं स्थानविभागालम्बनं व्यपेताव्यपेतभावश्च यमक-

च्छायावर्णानुप्रासवानिति अतिशायने मतुप्। सर्वाशारुधीत्यादौ विप्रभृतीनां विभिन्नार्थक-रूपाणां व्यपेतानामेव पादमध्यान्तयोरवस्थितिः। एवमव्यपेतमप्युन्नेयम्। नात्र वर्णानुप्रास उत्कट इति विचित्राद्भेदः॥

विचित्रो यथा—

'उद्यद्बर्हिषि दर्दुरारवपुषि प्रक्षीणपान्थायुषि
द्योतद्विप्लुषि चन्द्ररुङ्मुषि सखे हंसद्विषि प्रावृषि।
मा मुञ्चोच्चकुचान्तसंततगलद्बाष्पाकुलां बालिकां
काले कालकरालनीलजलदव्यालुप्तभास्वत्त्विषि॥ २१५॥'

विचित्र का उदाहरण—

जब मयूर चञ्चल हो उठते हैं, जब मेंढकों की आवाज पुष्ट हो जाती है, जब वियोगाकुलता के कारण बटोहियों की आयु क्षीण होने लगती है, जब चारों ओर बिजली कौंधने लगती है, चन्द्रमा की कान्ति छिप जाती है और हंसों से बैर ठानने वाली वर्षा ऋतु आ गई है, काल के सदृश भयङ्कर काले बादलों के द्वारा सूर्य की भी कान्ति को डस लेने वाले उस समय में हे मित्र, ऊँचे उरोजों के किनारे से व्याकुलतापूर्वक अश्रुधार बहाने वाली इस बालिका को, मुग्धा को, छोड़ कर मत जाओ॥ २१५॥

स्व० भा०—इस छन्द में भी चित्र की भांति 'र्हिषि', 'पुषि', 'युषि', 'प्लुषि', 'मुषि', 'द्विषि', 'वृषि' आदि में यमकता का आभास होता है, किन्तु अन्तिम दो चरणों में ककार तथा लकार वर्णों की आवृत्ति इसे चित्र से पृथक् कर रही है और विचित्र बनाये दे रही है।

अत एवोत्तरत्र स्फुटवर्णानुप्रासमुदाहरति॥

वर्णावृत्तिरनुप्रास इति यः कृतलक्षणः।
सोऽयं द्वादशधा भेदैः प्रविभज्य प्रदर्शितः॥ ९२॥

वर्णों की आवृत्ति अनुप्रास है इस प्रकार का जिसका पहले लक्षण दिया जा चुका है, वही यहाँ बारह-बारह भेदों में विभक्त करके दिखाया गया है॥ ९२॥

स्व० भा०—अभी तक जिन तीन अनुप्रासों का—श्रुति, वृत्ति तथा वर्ण का—निरूपण किया जा चुका है, उनमें वस्तुतः वर्णों की ही आवृत्ति अपेक्षित होती है, पदों की नहीं। अतः ये ही प्रधान रूप से वर्णों की आवृत्ति वाले अनुप्रास हुये। इनमें प्रत्येक के बारह-बारह भेद दिये गये हैं। कारिका में दिये गये बारह को प्रत्येक भेद के साथ जोड़ना चाहिये, जिनका सम्बन्ध वर्णों की आवृत्ति से है। इस प्रकार श्रुति, वृत्ति तथा वर्ण के अनुप्रासों के सब मिलाकर (१२ × ३ = ३६)—छत्तीस भेदों का निरूपण किया जा चुका है। आगे पद, नाम तथा लाटानुप्रास के लक्षण और उदाहरण दिये जायेंगे जो वर्णों की अपेक्षा पदों और वर्णसमुदायों पर आश्रित हैं।

तेऽमी शुद्धवर्णावृत्तिप्रकाराः षट्त्रिंशल्लक्षिताः, साम्प्रतं द्वादशतापन्नवर्णावृत्तयो लक्ष्यन्त इत्याह—वर्णावृत्तिरनुप्रास इति। द्वादशधेति वीप्सा द्रष्टव्या॥

(४) पदानुप्रास तथा उसके भेद

समग्रमसमग्रं वा यस्मिन्नावर्तते पदम् ।
पदाश्रयेण स प्रायः पदानुप्रास उच्यते ॥ ९३ ॥
विसर्गबिन्दुसंयोगस्वरस्थानाविवक्षया ।
अनिर्वाहाच्च स प्रायो यमकेभ्यो विभिद्यते ॥ ९४ ॥
मसृणो दन्तुरः श्लक्ष्णः संपुटं संपुटावली ।
खिन्नः स्तवकवान्स्थानी मिथुनं मिथुनावली ॥ ९५ ॥
गृहीतमुक्तनामान्यस्ततोऽन्यः पुनरुक्तिमान् ।
इति द्वादशभेदोऽयं मनीषिभिरिहेष्यते ॥ ९६ ॥

जिसमें पद पूरा का पूरा अथवा आंशिक रूप से आवृत्त हुआ करता है, उसे पद में ही प्रायः आश्रित रहने के कारण पदानुप्रास कहा जाता हैं। विसर्ग, अनुस्वार, संयोग, स्वर और स्थान की अपेक्षा न होने से तथा प्रारब्ध रीति का निर्वाह भी न करने से यह यमक से भिन्न होता हैं। (१) मसृण, (२) दन्तुर, (३) श्लक्ष्ण, (४) सम्पुट, (५) सम्पुटावली, (६) खिन्न, (७) स्तवकवान् , (८) स्थानी, (९) मिथुन, (१०) मिथुनावली, (११) इसके अतिरिक्त गृहीतमुक्त नामक तथा (१२) उससे भी भिन्न पुनरुक्तिमान् यह बारह प्रकार का भेद विद्वानों द्वारा यहाँ अपेक्षित समझा जाता है ॥ ९३-९६ ॥

स्व० भा०—पदानुप्रास तथा यमक दोनों में पद की आवृत्ति होती है, किन्तु दोनों में भेद है। अर्थ का अन्तर तो स्पष्ट ही है कि यमक में आवृत्त पदों का अर्थ भिन्न-भिन्न होता हैं तथा इसमें एक ही होता है। इसके अतिरिक्त भी यमक में विसर्ग, अनुस्वार, संयोग, स्वर, स्थान सब की आवृत्ति ज्यों की त्यों अपेक्षित होती है, किन्तु पदानुप्रास में नहीं। यही दोनों की आवृत्तियों का अन्तर है।

समग्रमिति । पदालम्बनोऽनुप्रासः पदानुप्रासस्तेन पदावयवमालालम्बनोऽपि पदालम्बन एव। तदिदमाह—पदाश्रयेणेति ॥

ननु यदि पदावृत्तिरभिन्नार्था तदा पुनरुक्तिरेव, भिन्नार्था चेद्यमकाच्च भिद्यत इत्यत आह—विसर्गेति । बिन्दुरनुस्वारः। स्थानं कण्ठादिकम्। वृत्तेः पादादियमकताभावो निर्वाहः प्रायोनिर्वाह इति योजना ॥

(१) मसृण का उदाहरण—

तेषु मसृणो यथा—

'सरणे वारणास्यस्य दशनेऽशनिसंनिभे ।
चकार वलयाकारं भुजं भुजगभीषणम् ॥ २१६ ॥'

सोऽयमसंयुक्तवर्णावृत्तेः पदानुप्रासो मसृण इत्युच्यते ॥

इनमें से मसृण का उदाहरण—

वज्रसदृश दाँतों के निकलने पर उन्होंने (गणेश ने) अपनी सर्प की भांति भयङ्कर भुजाओं को वलय के आकार का कर लिया अर्थात् लपेट लिया ॥ २१६ ॥

यहाँ पर असंयुक्त वर्णों की आवृत्ति होने से पदानुप्रास मसृण कहा जाता है।

स्व० भा०—'मसृण' का अर्थ कोमल है। अतः जहाँ वर्णों में संयोग नहीं होता है अर्थात् पदों की, या पदांशों की आवृत्ति तो होती है, किन्तु उनमें संयुक्ताक्षर नहीं होते हैं, तब मसृणता विशेष होती है। जहाँ पर वर्णों का संयोग होता है, वहाँ कुछ न कुछ कर्कशता अवश्य आ जाती है। यहाँ पर 'रणे' और 'रण', 'शने' और 'शनि', 'कार' और 'कारम्', 'भुजं तथा 'भुज' में पदांश तथा पदों की आवृत्ति होने से और कहीं भी संयुक्ताक्षरों का अभाव होने से मसृणता है।

वारणास्यो विनायकः। अत्र रणेरणेति शनेऽशनीति कारकारमिति भुजंभुजेति पदं तदेकदेशावृत्तिः स्फुटमुपलभ्यते। मसृणस्तु कथमित्यत आह—सोऽयमिति॥

(२) दन्तुर अनुप्रास

दन्तुरो यथा—

> 'स नैषधस्याधिपतेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः।
> अनूनसारं निषधान्नरेन्द्रात्पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यमेव॥ २१७॥

अत्र निषिद्धशत्रुरिति पदे संयोगाधिक्येन दन्तुरता। सोऽयं पदानुप्रासो दन्तुर इत्युच्यते॥

दन्तुर का उदाहरण—

शत्रुओं का प्रत्याख्यान कर देने वाले उसने नैषध के स्वामी की पुत्री में राजा निषध से तनिक भी कम शक्ति न रखने वाले पुत्र को उत्पन्न किया जिसको भी निषध ही कहा जाने लगा॥ २१७॥

यहाँ पर 'निषिद्धशत्रुः' इस पद में संयुक्ताक्षरों की अधिकता के कारण दन्तुरता—विषमता—आ गई है। यही पदानुप्रास दन्तुर कहा जाता है।

स्व० भा०—दन्तुर का अर्थ इस प्रसंग में होगा—विषम। इसी उदाहृत श्लोक में जहाँ सामान्य रूप से कम संयुक्ताक्षर हैं अथवा नहीं हैं, वहाँ समान रूप से सरलतापूर्वक प्रवाह सम है, किन्तु दो-दो संयुक्ताक्षरों—'द्ध' तथा 'त्र' ने आकर सरल गति को विषम बना दिया है।

स नैषधेत्यादौ निषधरूपो वर्णसमुदायः पदैकदेशतामापन्नः साधारण एव। तदत्र दन्तुरता कीदृशीत्यत आह—अत्र निषिद्धेति।

(३) श्लक्ष्ण तथा (४) संपुट

श्लक्ष्णो यथा—

> 'अप्येहि कान्ते वैदेहि देहि प्रतिवचो मम।
> अरविन्दाक्षि दाक्षिण्यमलंकारो हि योषिताम्॥ २१८॥'

अत्र स्वरेण सहावृत्तेः श्लक्ष्णता। सोऽयं पदानुप्रासः श्लक्ष्ण इत्युच्यते॥

संपुटं यथा—

> 'सदर्प इव कंदर्पस्तरला मादृशां मतिः।
> असार इव संसारः कुरुष्व मदनुग्रहम्॥ २१९॥'

अत्रेवशब्दस्यापवादत्वेनाप्यव्यवधायकत्वादनुप्रासोऽयं संपुट इत्युच्यते॥

श्लक्ष्ण का उदाहरण—

अरे, प्रिये सीते, आओ तो, मेरी बातों का उत्तर तो दो। ओ कमलनयने, निपुणता तो स्त्रियों का भूषण है ॥ २१८ ॥

यहाँ स्वर के साथ ही वर्णों की—पदांश की—आवृत्ति होने से श्लक्ष्णता है। अतः यह पदानुप्रास श्लक्ष्ण कहा जाता है।

संपुट का उदाहरण—

कामदेव घमण्डी-सा हो गया है। मेरी जैसी नायिकाओं की बुद्धि भी अस्थिर है। सारा संसार सुखहीन-सा है, अतः मुझ पर कृपा करो ॥ २१९ ॥

यहाँ अपवाद रूप से 'इव' शब्द का व्यवधान न मानने से यह अनुप्रास संपुट कहा जाता है।

स्व० भा०—श्लक्ष्ण के उदाहरण के रूप में दिये गये श्लोक में 'एहि', 'देहि' तथा 'दाक्षि' 'दाक्षि' पदांतों तथा पदों की समान स्वरों के साथ आवृत्ति हुई है। इस आवृत्ति के कारण एक विशेष प्रकार की स्निग्धता आ गई है। वस्तुतः श्लक्ष्ण का अर्थ भी होता है 'चिकना'।

संपुट के उदाहरण के श्लोक में 'दर्प' 'दर्प', 'सार' 'सार' पदांशों की आवृत्ति हुई है। एक रूप पद अथवा पदखण्ड की अव्यवहित आवृत्ति होने पर संपुटता होती है। यहाँ 'इव' पद द्वारा व्यवधान उपस्थित किया गया है, किन्तु अन्वय में अलग सिद्ध हो सकता है। अतः इसका व्यवधान अपवाद स्वरूप ही मानना चाहिये। 'इव' का व्यवधान समाप्त कर देने पर आवृत्त पदांशों में व्यवधान कुछ वर्णों का हो सकता है, किन्तु उन पदों का व्यवधान समाप्त हो जाता है, जो कि अपने अंश के रूप में आवृत्त वर्णों को धारण करते हैं। अतः यहाँ की आवृत्ति निरन्तर मानी जायेगी।

संपुटवदेकरूपस्यैव खण्डस्य निरन्तरमावर्तनं संपुटम्। तत्कथमिव कंसंशब्दैरन्तराये संपद्यत इत्यत आह—अत्रेवशब्दस्येति॥

(५) संपुटावली

संपुटावली यथा—

'करोति किं किरातोऽयं समाकृष्य शिलीमुखान्।
शिलीमुखान्समाकृष्य किङ्किरातः करोति यत् ॥ २२० ॥'

अत्र करोति करोतीत्येकं संपुटम्, किं किरातः किङ्किरात इति द्वितीयम्, समाकृष्य समाकृष्येति तृतीयम्, शिलीमुखाञ्छिलीमुखानिति चतुर्थम्। सोऽयं पदानुप्रासः संपुटावलीत्युच्यते ॥

संपुटावली का उदाहरण—

यह किरात जाति का व्यक्ति बाणों को खींचकर भला करता क्या है? यह वही करता है जो कामदेव किरात—अथवा अशोक वृक्ष, बाणों या भ्रमरों को खींचकर करता है ॥ २२० ॥

यहाँ 'करोति करोति' यह एक संपुट है, 'किं किरातः किङ्किरातः' यह दूसरा है, 'समाकृष्य समाकृष्य' यह तीसरा तथा 'शिलीमुखान् शिलीमुखान्' में चतुर्थ है। अतः यहाँ पदानुप्रास संपुटावली कहा जाता है।

स्व० भा०—स्पष्ट है। कई संपुटों के होने के कारण इसे संपुटावली कहा गया है, जैसा कि इस अलंकार के नाम तथा इसके उदाहरण दोनों से स्पष्ट है।

करोति किं किरातोऽयमित्यादौ मध्ये शिलीमुखान्छिलीमुखानिति प्रथमं संपुटम्। तस्य बहिरावरणभूतं समाकृष्य समाकृष्येति द्वितीयम्। तस्यापि [किं किरातः किङ्किरात इति तृतीयम्। तस्यापि करोतीति चतुर्थम्। तदेतद्विपरीतव्याख्यया व्यञ्जयन्नाह—अत्र करोतीत्यादि॥

(६) खिन्न

खिन्नो यथा—

'कुलजातिसमाकुलीकृतानां सुखदसुखाशयमूढचेतनानाम्।
अभवविभवलाभलोलुपानां भव भवबन्धविभेदनाय भूयः॥ २२१॥'

अत्र रीतेरनिर्वाहात्खिन्नता। सोऽयं पदानुप्रासः खिन्न इत्युच्यते॥

खिन्न का उदाहरण—

अपने कुल तथा जाति को अत्यन्त उद्विग्न कर देने वालों, सुखदायी विषयों में आसक्त चित्त वालों, भगवान् शिव अथवा सांसारिक वैभव की प्राप्ति के लिये अनिच्छुक, लोगों के सांसारिक पाशों को काटने के लिये आप कृपा करें॥ २२१॥

यहाँ पर एक निर्धारित रीति का पूर्णतः निर्वाह न करने से खिन्नता है। यहां वही पदानुप्रास खिन्न कहा जाता है।

स्व० भा०—यहां रीति का अर्थ वैदर्भी, गौडी आदि न होकर किसी एक प्रयोग-प्रकार का प्रारम्भ है। यहां प्रथम चरण में 'कुल' पद की आवृत्ति चार वर्णों के बाद 'कुली' के रूप में प्रारम्भ हुई थी। यही क्रम आगे भी रहना था कि प्रथम वर्णसमुदाय की चार के अन्तर पर आवृत्ति होनी चाहिये थी, किन्तु ऐसा हो नहीं रहा है। दूसरे पाद में 'सुख' और 'सुख' तृतीय में 'भव' और 'भव' में एक-एक वर्ण के अन्तर से आवृत्ति हुई है। चतुर्थ में 'भव' तथा 'भव' में एक भी वर्ण का व्यवधान नहीं है। अतः एक क्रम-विशेष से रचना प्रारम्भ करके बाद में भग्न कर दी गई, एक दूसरी रीति अपनाई गई, पुनः इस गृहीत रीति को छोड़कर आगे एक अन्य की परम्परा चलाई गई है। अतः एक निश्चित रीति का आदि से अन्त तक निर्वाह न होने के कारण 'खिन्न' नाम का अलङ्कार है।

'खिन्नता' नामक दोष यहां नहीं है, क्योंकि इसमें सौन्दर्य वर्णावृत्ति के कारण बना रहता है, जबकि प्रथम में खटकता है।

कुलेति। अत्र प्रथमपादे कुलेति अविवक्षितस्वरादिवर्णयुग्ममक्षरचतुष्टयव्यवधानेनं कुलीत्यावृत्तम्। द्वितीयतृतीयपादयोस्तु सुखदसुखेति अभवविभवेति चैकवर्णव्यवधानेनावृत्तिः। चतुर्थपादे तु भवभवेति। रीतिभङ्गो न च दोषः प्रतीत्यव्यवधानात्॥

(७) स्तवकवान्

स्तवकवान्यथा—

'भासयत्यपि भाषादौ कविवर्गे जगत्त्रयीम्।
के न यान्ति निबन्धारः कालिदासस्य दासताम्॥ २२२॥'

सोऽयं वर्णानुप्रासवत्पदानुप्रासोऽपि स्थाने स्थाने विनिवेशात्स्तबकवानित्युच्यते ॥

स्तबकवान् का उदाहरण—

कवियों के द्वारा प्राकृत आदि भाषाओं में तीनों लोकों को आभासित कर देने पर भी वे कवि कौन हैं जो कालिदास के गुलाम न हो गये हों ? ॥ २२२ ॥

वर्णानुप्रास की भांति पदानुप्रास में भी जगह-जगह पर वर्णों के सन्निवेश से यह स्तबकवान् कहा जाता है।

स्व० भा०—जिस प्रकार वर्णों की कहीं कहीं गुच्छवत् आवृत्ति होने से वर्णानुप्रास में स्तबकता उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार जहां-तहां पदों की आवृत्ति कर देने पर पदानुप्रास में भी स्तबकता आ जाती है। इसी छन्द में 'भास' 'भास' तथा 'दास' 'दास' ये पद हैं जिनकी आवृत्ति होने से गुच्छता उत्पन्न हो गई है।

वैचित्रीविशेषेणालंकारभावो भासयतीत्यादावाद्यन्तयोर्दूरान्तरितैवावृत्तिः। स्थाननियमस्तु न विवक्षितः। तदिदमुक्तम्—स्थाने स्थान इति ॥

(८) स्थानी

स्थानी यथा—

'परं जोण्हा उण्हा गरलसरिसो चन्दणरसो
खदक्खारो हारो मलअपवणा देहतवणा।
मुणाली बाणाली जलदि अ जलद्दा तणुलदा
वरिट्ठा जं दिट्ठा कमलणअणा सा सुवअणा ॥ २२३ ॥'

[परं ज्योत्स्ना उष्णा गरलसदृशश्चन्दनरसः
क्षतक्षारो हारो मलयपवना देहतपनाः।
मृणाली बाणाली ज्वलति च जलार्द्रा तनुलता
वरिष्ठा यद्दृष्टा कमलनयना सा सुवदना ॥]

सोऽयं पदानुप्रासः स्थाननियमात्स्थानीत्युच्यते ॥

स्थानी का उदाहरण—

जब से उस कमलनेत्रा, सुन्दर मुखवाली सुन्दरी को देखा है, तब से चन्द्रिका अत्यन्त उष्ण लगती है, चन्दन का द्रव विष के सदृश लगता है, मोती की माला जले पर नमक के समान अनुभूत होती है, मलयमारुत शरीर को तपाये दे रहा है, बिसतन्तु बाण से चुभते हैं और जल से भीगी होने पर भी देह जली जा रही है ॥ २२३ ॥

यह पद अनुप्रास स्थाननियम के कारण स्थानी कहा जाता है।

स्व० भा०—प्रस्तुत प्राकृत छन्द में वर्णावृत्ति निश्चित स्थानों पर सर्वत्र हुई, अतः यहां स्थानी पदानुप्रास है। 'ण्हा' 'ण्हा', 'रिसो रसो', 'खारो हारो', 'पवणा तवणा', 'मुणाली बाणाली', 'लदि' 'लद्दा' 'लदा', 'वरिट्ठ' दिट्ठा, तथा 'णअणा' और 'वअणा' में होने वाली आवृत्तियां प्रत्येक पाद में मध्य तथा अन्त में हुई हैं। आदि, मध्य और अन्त ये निश्चित स्थान हैं वहां आवृत्ति होने से स्थानी नाम चरितार्थ होता है।

जोण्हा उण्हा रिसो रसो इत्यादिका प्रतिपादं मध्यान्तस्थाननियमेनावृत्तिः। सतेऽर्पितः सारः। जलार्द्रा जलार्द्रे वस्त्रे॥

(९) मिथुन

मिथुनं यथा—

'पुरं पाराऽपारातटभुवि विहारः पुरवरं
ततः सिन्धुः सिन्धुः फणिपतिवनं पावनमतः।
तदग्रे तूदग्रो गिरिरिति गिरिस्तस्य पुरतो
विशाला शालाभिर्ललितललनाभिर्विजयते॥ २२४॥'

तदेतत्प्रतिपादं द्वयोर्द्वयोः पदानुप्रासयोर्विन्यासान्मिथुनम्॥

मिथुन का उदाहरण—

सामने अथाह पारा नदी है, उसके तटप्रदेश पर विहार है, सुन्दर नगर है, उसके आगे सिन्धु नाम की नदी है, इसके आगे पवित्र नागवन है, उसके भी आगे अत्युच्च पर्वत है और उस पर्वत के आगे विशाला-उज्जयिनी—नाम की नगरी है जिसकी अट्टालिकाओं में सुन्दर रूपवती सुन्दरियां सुशोभित होती हैं॥ २२४॥

इसमें प्रतिपाद में दो-दो पदानुप्रासों के विन्यास से मिथुन अनुप्रास है।

स्व० भा०—इस श्लोक में 'पारा पारा', 'सिन्धुः सिन्धुः' 'दग्रे', 'दग्रो' 'शाला शाला' आदि जोड़े में आवृत्त हैं। अतः यहां मिथुनानुप्रास है।

पाराभिधाना नदी। अपारा पाररहिता। सिन्धुर्नदी सिन्धुनामा। विशाला उज्जयिनी। शालाभिरितीत्थंभूतलक्षणे तृतीया। अत्र पारापारेति सिन्धुः सिन्धुरिति दग्रे दग्र इति शालाशालेति क्रमेण प्रथमादिपादेषु द्वयोरेवानुप्रासयोर्विन्यासः। यद्यपि तृतीयपादे गिरिगिरीति द्वितीयमपि मिथुनं संभवति तथापि वर्णद्वयव्यवधानादनुल्लेखीत्युपेक्षितवान्॥

(१०) मिथुनावली

मिथुनावली यथा—

'शिरसि शरभः क्रोडे क्रोडः करी करटे रट-
न्नुरसि च रुरुर्मर्मण्येणः शिखी मुखरो मुखे।
कपिरपि हृदि ह्लादी दूराद्धरिर्द्विपजिद्धतो
धनुषि लघुता लक्ष्येऽपूर्वो जयोऽस्य यशस्विनः॥ २२५॥'

सेयं द्वयोः पादयोर्निरन्तरमावृत्तिर्मिथुनावलीत्युच्यते

मिथुनावली का उदाहरण—

शिर पर ही शरभ, वक्षस्थल में वराह, गण्डस्थल पर हाथी, शब्दकरता हुआ रुरु मृग हृदय पर, मर्मस्थान पर मृग, वाचाल मयूर मुख पर, कपि हृदय पर, तथा हाथियों को जीतने वाला दहाड़ता हुआ सिंह दूर से ही मार दिया गया। इस यशस्वी राजा की धनुष पर फुर्ती तथा लक्ष्य में जय–अचूकता–अनोखी ही है॥ २२५॥

यहां दो पादों में लगातार होने वाली आवृत्ति मिथुनावली कही जाती है।

स्व० भा०—यहां प्रथम दो पादों में यदि स्वर का ध्यान रखें, तो शर शर, में तथा 'क्रोड, 'क्रोड' 'कर कर' 'रट रट' आदि अनेक मिथुनों की आवृत्ति होने से यहां मिथुनावली है।

शिरसीति। शरभोऽष्टापदः। क्रोडो वराहः रुरुर्बहुश्रृङ्गो मृगः। हरिः सिंहः। स्वरभागविवक्षायां व्यञ्जनयुगलावृत्तिर्मिथुनम्। तदेवावृत्तिभूम्ना मिथुनावली शरशरेति क्रोडक्रोडेति करकरेति दवदवेत्यादिना क्रमेण सुप्रत्यभिज्ञानैव॥

(११) गृहीतमुक्त

गृहीतमुक्तो यथा—

'पुंनागनागकेसरकेसरपरिवासवासनासुरभिः।
सुरभिर्मधुरमधुप्रियषट्चरणाचरणवान्प्राप्तः ॥ २२६॥'

सोऽयं चक्रवालवदनुप्रासो गृहीतमुक्त इत्युच्यते॥

गृहीतमुक्त का उदाहरण—

पुंनाग, नागकेसर, तथा बकुल की सुगन्ध से सना होने के कारण सुगन्धिपूर्ण, मीठे मधु के प्रेमी विचरण करते हुये भ्रमरों से भरा हुआ वसन्त आ गया॥ २२६॥

यही चक्रवाल की भांति अनुप्रास 'गृहीतमुक्त' कहा जाता है।

स्व० भा०—यहां प्रथम ग्रहण किये गये पद के कुछ अंश को लेकर कुछ को छोड़ दिया गया है, अतः गृहीतमुक्तता का भाव यहां भी है। 'पुंनाग' का 'पुम्' छोड़ दिया गया, केसर 'परिवास' का 'वास' तथा 'वासनासुरभि' का 'सुरभि', 'मधुर' का 'मधु', 'षट्चरण' का 'चरण' आदि गृहीत हुये हैं शेष-शेष छोड़ दिये गये हैं। अतः हंसवत् नीर के परित्याग और क्षीर के ग्रहण की भांति अभीष्ट का ग्रहण तथा अनपेक्षित का परित्याग कर दिया गया है।

गृहीतमुक्तो यथेति। पुंनागः पुंगज इति प्रसिद्धः। केसरो बकुलः। भावना वासना। सुरभिर्वसन्तः। नानामधुपानलालसानामितस्ततः षट्चरणानां चरणं भ्रमणम्। अत्र चक्रवालक्रमो व्यक्त एव। आवृत्त्याधिक्याभावाच्च गृहीतमात्रस्यैव मोचनम्॥

(१२) पुनरुक्तिमान्

पुनरुक्तिमान्यथा—

'धूमाइ धूमकलुसे जलइ जलन्ता वुहत्थजीआबन्धे।
पडिरअपडिउण्णदिसे रसइ रसन्तिसिहरे धणुम्मि णहअलम्॥२२७॥'

[धूमायते धूमकलुषे ज्वलति ज्वलदात्तहस्तजीवाबन्धे।
प्रतिरवप्रतिपूर्णदिशि रसति रसच्छिखरे धनुषि नभस्तलम्॥

अत्र धूमादीनां पुनर्वचनात्पदानुप्रासोऽयं पुनरुक्तिमानुच्यते॥

पुनरुक्तिमान् का उदाहरण—

राम के द्वारा धनुष को धूम कलुषित करने पर सारा आकाश धुआं हो जाता है, संतप्त हाथों से जीवाबन्ध-प्रत्यञ्चा की गांठ-को पकड़ने से अथवा बांधने से आकाश जल उठता है, तथा धनुष्कोटि के टङ्कार करने पर प्रत्येक दिशा आवाज से भर जाती है॥ २२७॥

स्व० भा०—यहां पदों की आवृत्ति होने से पुनरुक्तता स्पष्ट है।

पुनरुक्तिमानिति। वाच्याभेदात्पुनरुक्तिः सा यस्मिन्नावृत्तिलक्षणेनानुप्रासे स पुनरुक्ति-

मान् । तात्पर्यभेदाच्च न दोपः । धूमज्वलनरसनानामाकाशदेशव्यापितया धनुःप्रकर्षद्वारेण रामभद्रगतोत्साहशक्तिध्वननात्प्रकृतवीररसपोपः । अत्र धूमधूसेत्यादिना वाच्याभेदः ॥

ननु वर्णावृत्तिरनुप्राससामान्यलक्षणयुक्ता न चासौ पदाद्यावृत्तावस्तीत्यत आह—

वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च ।
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी (प)यद्यदूरता ॥ ९७ ॥
लाटानुप्रासवर्गस्य यावद्वा लक्ष्यते गतिः ।
पदानुप्रासवर्गेऽपि तावदेव प्रपञ्च्यते ॥ ९८ ॥

वर्णों की आवृत्ति अनुप्रास होता है, यदि पद्य में इन वर्णों की दूरी अथवा चरणों में इन वर्णों की निकटता (श्लोक के) चरणों तथा पदों में पूर्व अनुभूत वर्णों के संस्कार का बोध करावे तो लाटानुप्रास के समूहों के जितने प्रकार दिखाई पड़ते हैं, पदानुप्रासों में भी उतने ही कल्पित किये जा सकते हैं ॥ ९७–९८ ॥

स्व० भा०—वर्णों से पद, पदों से पाद और पादों से श्लोक बनते हैं । इनमें जहां कहीं भी वर्णों की आवृत्ति होती है, यदि दूर भी हैं तो भी पूर्व अनुभव के संस्कारों के आधार पर उनकी समता का बोध हो जाता है । (द्रष्टव्य काव्यादर्श १।५५)

लाटानुप्रास में भी पदों की आवृत्ति होती है और पदानुप्रास में भी पदों अथवा पदांशों की । अतः जितने भेदोपभेद उसके सम्भव हैं उतने ही पदानुप्रास के भी किये जा सकते हैं । किन्तु प्रसङ्ग-विस्तार के कारण और मुख्य-मुख्य का वर्णन कर चुकने के कारण अन्यों का निरूपण नहीं किया जा रहा है । अब नामद्विरुक्ति नामक अनुप्रास का विवेचन आगे प्रारम्भ किया जा रहा है ।

वर्णावृत्तिरिति । समुदायावृत्तिरपि वर्णावृत्तिरेव । नहि वर्णातिरिक्तः समुदायो नाम । इयांस्तु विशेषो यत्पूर्वजातीयवृत्तानुसंधानमलंकारतां प्रयोजयति । तत्र च कार्यानुमेयः समयसंनिकर्षविशेष एव प्रयोजक इति । तदिदं दिङ्मात्रमुक्तम् ॥

अन्येऽपि पदानुप्रासप्रकाराः स्वयमुत्प्रेक्षितव्या इत्याह—लाटेति । गतिः प्रकारः ॥

(५) नामद्विरुक्ति अनुप्रास

स्वभावतश्च गौण्या च वीप्साभीक्ष्ण्यादिभिश्च सा ।
नाम्नां द्विरुक्तिर्वाक्ये तदनुप्रास उच्यते ॥ ९९ ॥

वाक्य में (१) स्वभावतः (२) गौण रूप से (३) वीप्सा (४) आभीक्ष्ण्य आदि से नामों की—संज्ञा पदों की—द्विरुक्ति होने से वही अर्थात् नामद्विरुक्ति अनुप्रास कहा जाता है ॥ ९९ ॥

क्रमप्राप्तं नामद्विरुक्त्यनुप्रासं विभजते—स्वभावत इति । यद्यपि पदानुप्रासादौ नामद्विरुक्तिरतिव्यापिका तथाप्यर्थोपक्षेपोपनिपातिनी सह विवक्षिता । अर्थो द्विविधः—आभिधानिकः, उपाधिश्च । आद्यो गौणमुख्यभेदेन द्विप्रकारः, द्वितीयोऽपि वीप्साभीक्ष्ण्यादिरनेकविधः । द्विरुक्तिरपि नाम शरीरसंपादिका नाम्नः सतश्चेति द्वयी बोद्धव्या । अत एव द्विरुक्तस्यैवाभिधाशक्तियोगात्स्वभावत इत्युक्तम् ॥

(१) स्वभावतः नामद्विरुक्ति

सा स्वभावतो यथा—

'कुर्वन्तोऽमी कलकलं मारुतेन चलाचलाः।
प्रातर्गुलुगुलायन्ते गजा इव घनाघनाः॥ २२८॥'

अत्र कलकलमित्यादिषु स्वाभाविकी पुनरुक्तिरुपदिश्यते॥

नाम-द्विरुक्ति स्वभावतः भी होती है, जैसे—

कलकल करते हुये वायु के द्वारा चञ्चल किये गये, ये सघन मेघ प्रातःकाल हाथियों की भांति गुलगुल शब्द करते हैं॥ २२८॥

यहां पर कलकल आदि शब्दों में स्वाभाविक पुनरुक्ति निर्दिष्ट है।

स्व० भा०—प्रस्तुत छन्द में 'कलकल' 'चलाचला', 'गुलगुल', 'घनाघनाः' में स्वाभाविक पुनरुक्ति है। यहाँ स्वाभाविक का अर्थ है स्वतः उच्चरित होना। कलकल और गुलगुल शब्द अव्यक्त ध्वनियों के वाचक हैं। कोई भी व्यक्ति इनसे व्यंग्य ध्वनियों को–केवल एक ही शब्द को–कहकर सन्तोष नहीं पाता। यदि उसे यह भाव व्यक्त करना है तो स्वतः इनका उच्चारण कर उठेगा। 'चलाचला' तथा 'घनाघना' भी ऐसे संज्ञा पद हैं जो स्वाभाविक रूप से ही प्रयुक्त होते हैं। अतः यहां स्वाभाविकी पुनरुक्ति है। यहां अर्थ अभिधेय ही होता है।

कुर्वन्त इति। चलाचलाश्चञ्चलाः। चलतेरच्प्रत्ययेऽभ्यासस्याकि रूपम्। गुलु इत्यव्यक्तानुकरणस्य डाचि द्विर्वचने च गुलुगुलेति नामसिद्धिः। अत्र कलकलादिपदानामर्थवशायातद्विरुक्तिशरीराणां स्वभावत एव यथोक्तरूपव्यवस्थितिः॥

(२) गौणी रीति से द्विरुक्ति

गौण्या यथा—

'अमृतममृतं चन्द्रश्चन्द्रस्तथाम्बुजमम्बुजं
रतिरपि रतिः कामः कामो मधूनि मधून्यपि।
इति न भजते वस्तु प्रायः परस्परसंकरं
तदियमबला कान्तिं धत्ते कुतः सकलात्मिकाम्॥ २२९॥'

अत्रामृतममृतमित्यादिष्वभेदेऽपि भेदोपचारेण विशेषणविशेष्यभावः सामान्यविशेषभावाद्भवन्पुनरुक्तिवद्भासते॥

गौणी वृत्ति के द्वारा नामद्विरुक्ति होने का उदाहरण—

अमृत ही अमृत है, चन्द्रमा ही चन्द्रमा तथा कमल ही कमल है। इसी प्रकार रति ही रति है, काम ही काम है और मधु ही मधु है। ये पदार्थ प्रायः एक दूसरे से मिलावटी नहीं होते हैं, तो फिर भला यह सुन्दरी कहां से इन सब की छटा धारण कर रही है॥ २२९॥

यहां पर 'अमृतम् अमृतम्' इत्यादि में भेद न होने पर भी उपचारतः भेद करके सामान्य तथा विशेष भाव होने के कारण सम्भव विशेषण और विशेष्यभाव पुनरुक्त सदृश प्रतीत होता है।

स्व० भा०—यहां पर जितने भी पदों का दुबारा प्रयोग हुआ है, यद्यपि उनका मुख्य अर्थ एक ही है, तथापि उनमें से एक का अभिप्राय विशिष्ट हो गया है। "अमृत ही अमृत है" यह

कहने का मतलब यह हुआ कि प्रथम अमृत द्रव्य वाचक है और द्वितीय गुणवाचक जो द्रव्यवाचक है वह विशेष्य हुआ है और जो विशेष है वही विशेष्य है। यही भाव अन्य द्विरुक्त-पदों में भी समझना चाहिये।

वस्तुतः एक ही द्रव्यवाचक पद का इस प्रकार का दो अर्थ नहीं होना चाहिये, किन्तु भिन्न-भिन्न अर्थावबोधक शक्तियों के कारण अर्थों में भिन्नता आ जाती है। यहां पर विशेष्य रूप से प्रकट होने वाला अर्थ अभिधा, मुख्या अथवा प्रधान वृत्ति से प्रकट होता है और यही शब्द का साक्षात् संकेतित मुख्य अर्थ भी होता है। जो गुणवाचक सामान्य अथवा विशेषण-परक अर्थ है वह अमुख्य, अप्रधान, सान्तर, गौण अथवा लाक्षणिक होता है जो गौणी अथवा लक्षणा वृत्ति से प्रकट होता है। उपर्युक्त छन्द में इन दो रूप अर्थों के कारण ही पुनरुक्ति अलङ्कार हो गया है, क्योंकि ऐसी दशा में द्विप्रयुक्त पदों से शोभा विशेष की पुष्टि होती है।

अमृतमिति। अत्र द्वितीयान्तानामसृतादिपदानां द्विरुक्तिदोषेण तात्पर्यापर्यवसानादमृतादिगुणपरत्वे कल्पनीयेऽपि निकृष्टगुणपराणां सामानाधिकरण्यानुपपत्तेस्तत्तदसाधारणगुणोपबृंहितामृतादिनिष्ठानामाद्यपदोपात्तसामान्यापेक्षो विशेष्यभावश्च विशेषणत्वं च निर्वहति। न च पर्यायनिवेशेऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यता संभवतीति पूर्वाचार्याः। सेयं गौणार्थपरवशा नाम द्विरुक्तिः॥

(३) वीप्सा

वीप्सा यथा—

'शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
देशे देशे न विद्वांसश्चन्दनं न वने वने॥ २३०॥'

सेयं द्रव्यवीप्सा नाम द्विरुक्तिः। एवं गुणजातिक्रियावीप्सायामपि द्रष्टव्यम्॥

वीप्सा के अर्थ में द्विरुक्त का उदाहरण—

पर्वत पर्वत पर मणि नहीं होती, हाथी हाथी में मोती नहीं होती। देश देश में विद्वान् नहीं होते और वन वन में चन्दन नहीं होता॥ २३०॥

यह द्रव्यवीप्सा नाम की द्विरुक्ति है। इसी प्रकार गुण, जाति तथा क्रिया की वीप्सा में भी द्विरुक्ति देखी जा सकती है।

स्व० भा०—नैरन्तर्य अथवा प्रत्येक के अर्थभाव को वीप्सा कहते हैं। जब किसी गुण को सभी व्यक्तियों में उपस्थित अथवा अनुपस्थित कहना होता है तब उन पदार्थों की द्विरुक्ति द्वारा भी उनका ज्ञान कराया जा सकता है और अव्ययीभाव समास बनाकर एक के स्थान पर 'प्रति' आदि अव्ययों को लगाकर भी। जैसे 'क्षणे क्षणे इति प्रतिक्षणम्' 'दिने दिने इति प्रतिदिनम्' आदि। यहां प्रत्येक अर्थ का बोध कराने के लिये वीप्सा का प्रयोग है, द्विरुक्ति है। शैल, गज, देश, तथा वन पदों की द्विरुक्ति हुई है।

वृत्ति में यहां द्रव्यवीप्सा का नाम लिया गया है तथा गुण, जाति और क्रिया वीप्सा की ओर संकेत है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि एक शब्द के जो चार प्रकार के—द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति—रूप, अर्थ हुआ करते हैं उन सबकी द्विरुक्ति वीप्सा-अर्थ में संभव है। जैसे गो-शब्द का उच्चारण करने से एक अवयव पुञ्ज, उसकी श्वेतता, कृष्णता आदि गुण, उसकी चाल-ढाल आदि क्रियायें तथा गोत्व—गऊपना भी प्रकट होता है। चारो ही मुख्यार्थ हैं, जो एक पद से प्रकट होते हैं। वृत्ति में इसी बात की ओर संकेत किया गया है कि उदाहरण में शैल

का अर्थ एक मिट्टी की ढेर, गज माने एक विशेष प्रकार का लम्बकर्ण तथा शुण्डादण्डवाला पिण्ड, देश माने एक निश्चित भूखण्ड तथा वन माने वृक्षों का समुदाय है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह अर्थ उपर्युक्त चार प्रकारों में से द्रव्य के अन्तर्गत आता है। अतः ऐसा कहा गया।

वीप्सेति। नानार्थानां युगपदेकैकेन पदेन केनचिद्वक्तुर्व्याप्तिविवक्षा वीप्सा। स प्रयोक्तृधर्मो द्विरुक्त्या व्यज्यते। अत एव या काचिदर्थसामर्थ्याकृष्टा द्विरुक्तिः सा सप्तवर्णादिवन्नामद्विरुक्तिसमाख्यया प्रतिपाद्यते। शैले शैल इति। अत्र किंचिदेकमसाधारणगुणाश्रयं विवक्षन् तदितरस्य तज्जातीयस्य गुणसंस्पर्शमसहमानोऽप्रस्तुतमेव शैलादिकं प्रस्तुतवान्। रोहणादिव्यतिरिक्तासु व्यक्तिषु माणिक्याद्यभावगुणव्याप्तिर्युगपदेव विवक्षिता। शब्दादुपसर्जनतया प्रतीयमानः सिद्धस्वभावः पदार्थो गुण इत्युच्यते। एवं क्रिययापि व्याप्तिरवसेया। सेयं द्रव्यवीप्सेति। शैलादीनां द्रव्याणामेकेन गुणादिना व्याप्तुमिच्छेत्यर्थः॥

(वीप्सा का अन्य प्रकार)

'प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२' इत्यादिरपि वीप्साप्रकार एव। यथा—
मानिनीजनविलोचनपातानुष्मबाष्पकलुषान्प्रतिगृह्णन्।
मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं भीतभीत इव शीतमयूखः॥ २३१॥'

'प्रकारे गुणवचनस्य' (८।१।१२) अर्थात् 'यदि सादृश्य प्रकट करना हो तो गुणवाचक पद का प्रयोग दो बार करना चाहिये' इस नियम के अनुसार की गई द्विरुक्ति भी वीप्सा का—नैरन्तर्य का—एक प्रकार ही है। जैसे—

मानिनी सुन्दरियों के नेत्रों से प्रवाहित हुये गर्म-गर्म अश्रु के कालुष्य को ग्रहण करता हुआ उदित हुआ चन्द्रमा डरा-डरा सा धीरे धीरे आकाश में गया॥ २३१॥

स्व० भा०—भोज के कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्य वीप्सा अर्थ में तो "नित्यवीप्सयोः" (८।१।४) सूत्र के अनुसार द्विरुक्ति होती ही है। जो सादृश्य प्रकट करने के लिये द्विरुक्ति होती है, उसमें भी वीप्सा का ही भाव रहता है। इसमें भी अनेक स्थलों पर नैरन्तर्य का ही भाव परिलक्षित होता है।

इस उदाहरण में 'मन्दम् मन्दम्' तथा "भीतभीतः' में द्विरुक्तियाँ है। प्रथम तो क्रियाविशेषण है जो 'प्रययौ' की विशेषता बतलाता है तथा द्वितीय कर्ता की विशेषता बतलाने वाला विशेषण है।

प्रकारे गुणवचनस्येति। प्रकारः सादृश्यं तत्पूर्णगुणेन न्यूनगुणस्य साधारणगुणान्वये भवति। एवं चास्ति समानशब्दाभिधेयत्वं च व्याप्तिः। इयांस्तु विशेषो यदेकत्र सिद्धस्यान्यत्र प्रतिबिम्बनं सादृश्यं, शुद्धवीप्सायां तु युगपदेकस्य नानापदार्थसंबन्ध इति। सोऽयं वीप्साप्रकारशब्दार्थः। अत एव 'प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२' इति पृथक्सूत्रितम्। इह तु वीप्सापदेनैवायमर्थ उपग्राह्य इत्यभिप्रायः। मन्दं मन्दमिवोदित इति क्रियाविशेषणमुपमितम्। एवं भीतभीत इति कर्तृविशेषणमपि। सदृशलक्षणगुणोत्प्रेक्षायामिवशब्दः॥

(४) आभीक्ष्ण्य के द्वारा

आभीक्ष्ण्येन यथा—
'श्लेषं श्लेषं मृगदृशा दत्तमाननपङ्कजम्।
मया मुकुलिताक्षेण पायं पायमरम्यत॥ २३२॥
सोऽयमाभीक्ष्ण्ये णमुल्। स चानुप्रयुज्यत इति पुनरुक्तिः॥

आभीक्ष्ण्य के द्वारा भी द्विरुक्ति होती है, जैसे—

आलिङ्गन कर करके उस मृगनयनी ने अपना मुखकमल मुझे दिया और मैंने आँखें बन्द किये ही, अधरों का पान कर करके रमण किया ॥ २३२ ॥

यहां आभीक्ष्ण्य अर्थ में णमुल् का प्रयोग हुआ है। यह बाद में प्रयुक्त हो रहा है, अतः पुनरुक्ति है।

स्व० भा०—यहां आभीक्ष्ण्य अर्थात् पौनःपुन्य अर्थ में द्विरुक्ति हुई है। द्विरुक्ति 'नित्य-वीप्सयोः' (८।१।४) सूत्र के अनुसार आभीक्ष्ण्य अर्थ में होती है। यहां पौनःपुन्य तथा नित्यता दोनों का एक ही अर्थ लेना चाहिये, क्योंकि मनुष्य प्रधान रूप से जिस क्रिया को करना चाहे और रुकना न चाहे वही नित्यता है, वही पौनःपुन्य है, वही आभीक्ष्ण्य है। यहाँ 'श्लेषम् श्लेषम्' 'पायन् पायम्' में पुनरुक्ति है, क्योंकि यहाँ 'णमुल्' प्रत्यय लगा है और 'णमुल्' प्रत्यय "आभीक्ष्ण्ये णमुल च" (३।४।२२) सूत्र के अनुसार लगता है।

आभीक्ष्ण्येनेति। 'नित्यवीप्सयोः ८।१।४' इत्यनेन नित्यत्वमाभीक्ष्ण्यमुक्तम्। यां किल क्रियां कर्ता प्राधान्येनानुपरत्या च कर्तुमिच्छति तद्रूपमाभीक्ष्ण्यम्। अत एव तिङव्यय-कृतां च द्विरुक्तिरियमसाधारणी। उभयत्रैव क्रियाप्राधान्यप्रतीतेः। सिद्धे हि वस्तुनि पौनः पुन्यप्रतीतिः क्रियोपाधित एव न स्वरूपेण। ननु णमुलैवाभीक्ष्ण्याभिधानात्किं द्विरुक्तिः करिष्यति इत्यत आह—सोऽयमिति। न चाभीक्ष्ण्यं णमुलो वाच्यम्। क्त्वार्थे तस्याभि-धानात्। द्विरुक्तिसहितस्यैव तस्यानुपरतिव्यञ्जकत्वात्। स्वरूपार्थाभ्यामन्तरतमशब्द-द्वयरूप आदेशो वा द्विरुच्चारणं वा द्विरुक्तिशब्दार्थः॥

(५) क्रिया पद का आभीक्ष्ण्य

क्रियापदाभीक्ष्ण्याद् द्विरुक्तौ तु पुनरुक्तेरपि पुनरुक्तिः। यथा—

'जयति जयति देवः श्यामकण्ठः पिनाकी
जयति जयति देवी लोकमाता भवानी
जयति जयति धन्यः सोऽपि भक्तस्तयोर्यः
किमपरमिह धन्यं वर्ण्यते तावदेव ॥ २३३ ॥'

क्रिया-पद का अभीक्ष्ण्य होने पर जो द्विरुक्ति होती है उसके कारण पुनरुक्ति की भी पुनरुक्ति होती है जैसे—

नीलकण्ठ भगवान् शङ्कर की जय हो, जय हो। विश्वजननी पार्वती देवी की जय हो, जय हो। जय हो, जय हो उस भाग्यशाली की भी जो उन दोनों का भक्त है। इसके अतिरिक्त और धन्य है ही क्या जिसका वर्णन किया जाये ॥ २३३ ॥

स्व० भा०—यहां क्रियापद 'जयति' का आभीक्ष्ण्य होने से दो बार ग्रहण हुआ, किन्तु इस क्रिया के आभीक्ष्ण्य के कारण जो द्विरुक्ति हुई और उसका 'जयति जयति' रूप बना, उस पूरे पुनरुक्त रूप की ही अनन्तर में आवृत्तियाँ होने लगती हैं। उपर्युक्त श्लोक में ही जो एक क्रिया पद की द्विरुक्ति होकर 'जयति जयति' रूप बना तो द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ सभी शेष पादों में भी उसी की आवृत्ति हुई।

न चावश्यं द्वावेव शब्दौ प्रयोक्तव्यौ किंतु यावद्भिरभिमतोऽर्थः प्रतीयते तावन्तोऽभी-क्ष्ण्यशब्दाः प्रयोक्तव्यास्ते नाव्ययकृत्सु दृश्यन्ते तिङ्पदेष्वेवेत्याह—क्रियापदेति। यद्यप्ये-कवाक्यार्थसंगत्या क्रियापदस्य द्वयमेवोच्चारणं तथापि काव्यापेक्षया बाहुल्यमवसेयम्॥

(६) निमूल

आदिग्रहणेन निमूलसंभ्रमादयः परिगृह्यन्ते। तेषु निमूलादिर्यथा—

'निमूलकापं कषति स्वान्तमन्तःस्मरज्वरे।
लाजस्फोटं स्फुटन्त्याशु हृदये हारयष्टयः॥ २३४॥'

'आदि' पद के ग्रहण से निमूल, संभ्रम आदि भी गृहीत होते हैं। इनमें निमूल आदि का उदाहरण—भीतर ही भीतर कामज्वर होने पर वह अपने अन्तस्तल को जड़ सहित खुरच रहा है और उसकी हारलता हृदय पर लाई की भांति एक-एक फूट रही है॥ २३४॥

स्व० भा०—इस श्लोक में प्रयोग द्वारा भोज ने यह प्रदर्शित करना चाहा है कि जिस धातु के साथ णमुल् का प्रयोग होता है वहाँ णमुल्प्रत्ययान्त पद के बाद उसी धातु का प्रयोग भी किया जाता है। दुबारा धातु के प्रयुक्त होने पर वहाँ पुनरुक्ति ही समझना चाहिये, जैसे 'निमूलकापं कषति' तथा 'लाजस्फोटं स्फुटति' में। यह विधान 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' (पा० ।३।४।४६।।) के अनुसार होता है। यहाँ 'कापं' तथा 'स्फोटं' णमुलन्त हैं।

यहां निमूल आदि का ग्रहण उस 'आदि' पद से किया जा सका है जिसका प्रयोग २।९९॥ में "वीप्साभीक्ष्ण्यादिभिश्च" में था।

आदिग्रहणेनेति। तत्तदितरप्रकरणप्रापितानां द्विरुक्तिप्रकाराणामादिपदेनोपग्रहो विधेयः। तद्यथा—'अर्वागर्वाग्वलवदुपलग्रन्थयः क्षेत्रशैला दूरे दूरे मणिमयइपन्मेखलो रत्नसानुः। आरादाराज्जिधिरयमपां यद्वीयो दवीयान्दुग्धाम्भोधिस्तदयमसहक्खिल्प एवादिशिल्पी॥' अत्रानुपूर्व्ये द्वे भवत इति द्विरुक्तिः। एवं स्वार्थेऽवधार्यमाणे इत्यादयोऽपि द्विरुक्तिप्रकाराः स्वयमवसेया इत्याशयवानुपलक्षणतया किंचिदुदाहरति—निमूलकापमिति। 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' इति तस्मिन्नेव प्रयुक्ते द्विरुक्तिसिद्धिः॥

(७) संभ्रम

संभ्रमेण यथा—

'अस्थीन्यस्थीन्यजिनमजिनं भस्म भस्मेन्दुरिन्दु-
गङ्गा गङ्गोरग उरग इत्याकुलाः संभ्रमेण।
भूषावेषोपकरणगणप्रापणव्यापृतानां
नृत्यारम्भप्रणयिनि शिवे पान्तु वाचो गणानाम्॥ २३५॥'

संभ्रम अर्थात् जल्दबाजी के कारण होने वाली पुनरुक्ति का उदाहरण—

नृत्य को प्रारंभ करने की इच्छा शिव के करते ही, उनकी वेषभूषा आदि की सामग्रियों को जुटाने में व्यस्त शंकर के गणों के मुख से जल्दी और भय के कारण निकलने वाले "हड्डी हड्डी, मृगचर्म मृगचर्म, विभूति विभूति, चन्द्रमा चन्द्रमा, गङ्गा गङ्गा, सांप सांप" आदि, व्याकुलता से भी हुये शब्द हमारी रक्षा करें॥ २३५॥

स्व० भा०—यहां पर जल्दबाजी तथा उससे उत्पन्न व्याकुलता के कारण द्विरुक्तियाँ हैं। कात्यायन मुनि के अनुसार तो "संभ्रमेण प्रवृत्तौ यथेष्टमनेकधा प्रयोगो न्यायसिद्धः"। अर्थात् प्रस्तुत श्लोक में तो केवल द्विरुक्तियाँ ही हुई हैं, वस्तुतः संभ्रम की दशा में तो अनेक प्रकार की अनेक आवृत्तियाँ हो सकती हैं।

संभ्रमेणेति। भयसंवेगादरात्मकः संभ्रमः संवेगस्त्वरा। सैव प्रकृतोदाहरणे द्विरुक्तिं प्रयोजयति॥

॥ संभ्रम के भेद ॥

हर्षावेगविस्मयादयोऽपि संभ्रमस्योपाधयो भवन्ति। तेषु हर्षसंभ्रमेण यथा—

'रुरुधुः कौतुकोत्तालास्ततस्ताममरावतीम्।
क्वार्जुनः क्वार्जुन इति ब्रुवन्त्यो नाकयोषितः॥ २३६॥'

प्रसन्नता, भय, आश्चर्य आदि भी संभ्रम की ही उपाधियां होती हैं। इनमें से हर्षसंभ्रम के कारण द्विरुक्ति का उदाहरण—

इसके पश्चात् उस अलकापुरी को कौतूहल से फूली हुई अप्सराओं ने 'कहां है अर्जुन'! 'कहां है अर्जुन ?' यह कहते हुये अवरुद्ध कर दिया॥ २३६॥

स्व० भा०—अर्जुन के आने की खबर सुनकर मारे उत्कण्ठा के अप्सराओं के मुख से 'अर्जुन' आदि पद दो-दो बार निकल पड़े।

ननु हर्षादीनां महाकविप्रबन्धेषु द्विरुक्तिरुपलभ्यते। सा कथमुपप्राप्स्यत आह—हर्षेति। हर्षादयोऽपि संभ्रमप्रयोजकास्तैरसाधारणतामापन्नैरवच्छिद्यमानः संभ्रमोऽन्योन्यो भवति न च संभ्रमतां जहातीति संभ्रमद्विरुक्तिप्रकार एवायमित्यर्थः॥

आवेगसंभ्रमेण यथा—

'कञ्चुकं कञ्चुकं मुञ्च हारं हारं परित्यज।
हा हा दहति दावाग्निर्वस्त्रं वस्त्रमपाकुरु॥ २३७॥'

अत्र मुञ्च परित्यज दहति अपाकुरु इति क्रियापदेष्वावेगसंभ्रमान्न द्विरुक्तिः। तथाहि—अरण्यानीप्रवेशे विजिगीषुद्विषां योषिद्दावाग्निसंभ्रमावेगात्कयाप्येव मुच्यते, तत्र प्रथमं कञ्चुक एवावेगसंभ्रमः। स ह्यागते दावाग्नावुत्तारयितुमशक्यः। ततस्तद्व्यासङ्गहेतौ हारे, अनन्तरं परापाततदावाग्निदीप्ते वाससीति॥

आवेग के संभ्रम के कारण होने वाली द्विरुक्ति का उदाहरण—

कञ्चुक को, कञ्चुक को छोड़ो, हार को, हार को छोड़ दो, हाय, हाय, दावाग्नि जलाये डाल रही है, अरे, वस्त्रों को, वस्त्रों को दूर तो हटाओ॥ २३७॥

यहां पर 'मुञ्च', 'परित्यज', 'दहति', 'अपाकुरु' इन क्रियापदों में आवेग का संभ्रम होने से द्विरुक्ति नहीं है। जैसे कि—महावन में प्रवेश करते समय विजय की इच्छा रखने वाले शत्रुओं की स्त्रियां दावाग्नि के संभ्रम से उत्पन्न उद्विग्नता के कारण किसी स्त्री के द्वारा इन रूपों में कही जा रही है। इनमें सबसे पहले कञ्चुक में ही उद्विग्नता का संभ्रम है। दावाग्नि के आ जाने पर उसे उतारना कठिन है। उसके बाद उसके सटे रहने के कारण हार में, उसके बाद आ गई दावाग्नि से जलते समय वस्त्रों में संभ्रमजन्य आवेग का निरूपण किया गया है।

स्व० भा०—वृत्ति में भाव स्पष्ट है।

निगूढगम्भीर उद्वेग आवेगः। ननु कञ्चुकं कञ्चुकमितिवन्मुञ्चेत्यादिकमावेगसंभ्रमप्रभवमेव तत्कथं न द्विरुच्यत इत्यत आह—अत्रेति। कञ्चुकस्य हारेण हारस्योत्तरीयवाससा व्यासङ्गसंभावना संभ्रमहेतुः॥

विस्मयसंभ्रमेण यथा—

'अहो रूपमहो रूपमहो मुखमहो मुखम् ।
अहो मध्यमहो मध्यमस्याः सारङ्गचक्षुषः ॥ २३८ ॥'

एतेषु समस्तेष्वपि संभ्रमेषु यावद्बोधमिति द्विरुक्तिः ॥

एवं त्रिरुक्तिरपि द्रष्टव्या यथा—

जय जय जय श्रीमन्भोज प्रभाति विभावरी
वद वद वद श्रव्यं विद्वन्निदं ह्यवधीयते ।
शृणु शृणु शृणु त्वद्वत्सूर्योऽनुरज्यति मण्डलं
नहि नहि नहि क्ष्मामार्तण्डः क्षणेन विरज्यते ॥ २३९ ॥'

विस्मयजन्य संभ्रम के कारण द्विरुक्ति का उदाहरण—

अरे यह मृगनयनी का रूप तो धन्य है, धन्य है इसका रूप, इसका मुख भी धन्य है, धन्य है इसका मुख, इसकी कटि भी धन्य है, धन्य है इसकी कटि ॥ २३८ ॥

इन सभी प्रकार के संभ्रमों में 'जब तक पूर्ण अर्थबोध न हो जाये तब तक द्विरुक्ति होती रहे' इस सिद्धान्त के कारण द्विरुक्ति है ।

इसी प्रकार त्रिरुक्ति—तीन तीन बार की उक्ति—भी देखने योग्य है, जैसे—

"जय हो, जय हो, जय हो, श्रीमान् भोज जी, रात्रि अत्यन्त सुशोभित हो रही है अथवा रात्रि का सबेरा हो रहा है ।" "कहिये, कहिये, कहिये जो सुनने के योग्य हो, मैं सावधान हूँ ।" "तो सुनिये, सुनिये, सुनिये कि आपकी भांति सूर्य भूमण्डल को अनुरञ्जित किये दे रहा है ।" "नहीं, नहीं, नहीं, पृथ्वी का सूर्य एक ही क्षण में विरक्त नहीं किया जा सकता ॥" २३९ ॥

स्व० भा०—यहां पर क्रिया तथा 'नहि' की अनेक आवृत्तियां हुई हैं जो दर्शनीय हैं ।

संभ्रमेषु यावद्बोधमिति यावच्छब्दार्थमाविष्कुर्वाणः पूर्वोक्तमभिप्रेत्याह—एवं त्रिरुक्तिरपीति । उपलक्षणं चेदम् । चतुरादिद्विरुक्तिरदण्डवारितैव ॥

क्रियासमभिहारश्च क्रियाभ्यासश्च यः पुरा ।
युक्तावुदाहृतः सोऽपि नामानुप्रास इष्यते ॥ १०० ॥
जायते न च दोषाय काव्येऽलंकारसंकरः ।
विभूषयति हारोऽपि स्तनौ ग्रीवां मृगीदृशाम् ॥ १०१ ॥

पहले के श्लोकों में जो क्रियाओं की अनेक आवृत्तियां तथा द्विरुक्तियां हुई हैं, उद्धृत की गई हैं, वे भी नामानुप्रास के ही रूप में अभीष्ट हैं । काव्य में अलंकारों का मिश्रण दोषाधायक नहीं होता है क्योंकि मृगनयनी सुन्दरियों के उभय उरोज तथा गले दोनों को ही हार सुशोभित करता है ॥ १००–१०१ ॥

स्व० भा०—कहने का अभिप्राय यह है कि 'नाम' अवश्य नामद्विरुक्ति अनुप्रास है, किन्तु उपचारतः क्रियाओं की भी आवृत्तियों का इसमें समावेश हो सकता है । इसी प्रकार है अवश्य द्विरुक्ति, किन्तु दो से अधिक उक्तियों का भी ग्रहण किया जा सकता है ।

समभिहारो भृशत्वम् ॥

ननु वाक्यार्थप्रयुक्त्यैव काव्यस्य सनाथीकरणात्किमनुप्रासेनेत्यत आह—जायते न चेति । उदाहरणेनालंकार्यसंकरवदलंकारसंकरोऽपि लोकप्रसिद्ध एव शोभाहेतुरिव भिमतमिति ॥

(६) लाटानुप्रास

अर्थाभेदे पदावृत्तिः प्रवृत्त्या भिन्नयेह या ।
स सूरिभिरनुप्रासो लाटीय इति गीयते ॥ १०२ ॥

अर्थ में भेद न होने पर किन्तु प्रवृत्ति अर्थात् तात्पर्य के भिन्न होने से काव्य में जो पद की आवृत्ति होती है वह अनुप्रास विद्वानों के द्वारा लाटीय अर्थात् लाटानुप्रास कहा जाता है ॥१०२॥

स्व० भा०—लाटानुप्रास में पद की आवृत्ति होती है। इन पदों के अर्थ में तो भेद नहीं होता है, किन्तु तात्पर्य में भेद होता है। इस दशा में आवृत्त पदों में तात्पर्य-भेद होने से पुनरुक्ति दोष नहीं होता है और भिन्नार्थकता न होने से यमक में अतिव्याप्ति नहीं होती है।

क्रमप्राप्तं लाटानुप्रासं लक्षयति—अर्थाभेदे इति । लाटजनवल्लभोऽनुप्रासो लाटानुप्रासः । अर्थभेदे कथं न पुनरुक्तिदोष इत्यत उक्तम्—प्रवृत्त्या भिन्नयेति । तात्पर्यभेदेनेत्यर्थः । अत एव यमकाद्भेदः ॥

स चाव्यवहितो व्यस्तः समस्त उभयः पुनः ।
उभयं चक्रवालं च गर्भश्चैवाभिधीयते ॥ १०३ ॥

यह लाटानुप्रास (व्यवहित तथा) अव्यवहित होता है, जिनमें अव्यवहित व्यस्त, समस्त तथा उभय—अर्थात् व्यस्तसमस्त और समस्तव्यस्त, और—दो चक्रवाल और गर्भ भी कहा जाता है ॥ १०३ ॥

स्व० भा०—सर्वप्रथम अव्यवहित तथा व्यवहित भेद से दो प्रकार होते हैं। इनमें से अव्यवहित चार प्रकार का—व्यस्त, समस्त, व्यस्तसमस्त और समस्तव्यस्त। इसके अतिरिक्त चक्रवाल तथा गर्भ ये दो भेद भी होते हैं। अतः सब मिलाकर अव्यवहित के छः भेद हुये। व्यवहित के अगणित भेद हैं।

स चेत्यनुक्तव्यवहितसमुच्चये चकारः । लाटानुप्रासः सामान्यतो द्विधा—अव्यवहितः व्यवहितश्च । अनावृत्तशब्दानन्तरितोऽव्यवहितः, तदन्तरितश्च व्यवहितः । तयोरव्यवहितः षोढा भवति । व्यस्तः समस्तो द्वावुभयाविति तावच्चत्वारः । तत्रोभयद्वयं द्विप्रकारकमिति सामान्यविशेषभावाभ्यां षड्भेदा व्याख्येयाः । उभयः पुनरिति । पुनः शब्दो व्यावृत्तौ ॥ पूर्वस्मादन्य एवायमेकशब्दाभिलप्य इत्यर्थः । आद्योभयद्वयमग्रे वक्ष्यते ॥

यस्तु व्यवहितो नाम नेयत्ता तस्य शक्यते ।
कर्तुमेकादिगणना पदवृत्त्यादिभङ्गिभिः ॥ १०४ ॥

जो व्यवहित भेद है, उसकी तो सीमा ही नहीं निर्धारित की जा सकती है। पदवृत्ति आदि भङ्गियो के द्वारा उसकी कुछ एक गणना की जा सकती है ॥ १०४ ॥

स्व० भा०—इनमें भी व्यवहित वह है जहां दोनों आवृत्त पदों के बीच में कोई विजातीय

पद या वर्ण आकर व्यवधान पैदा कर देता है। इसी प्रकार अव्यवहित वह है जहां दोनों आवृत्त पदों के बीच में किसी भी विजातीय पद का व्यवधान नहीं होता।

द्वितीयं तु चक्रवालं गर्भश्लेषयुक्तं व्यवहितस्य तर्हि कियन्तो भेदा अत आह—यस्त्विति। तेन बहुभावावान्तरविशेषतया नायं समशीर्षिकया गणित इत्यर्थः॥

(१) अव्यवहितव्यस्त

तेष्वव्यवहितभेदेषु व्यस्तो यथा—

'उअहिस्स जसेण जसं धीरं धीरेण गरुइआइ वि गरुअम्।
रामो ठिइए वि ठिइं भणइ रवेण अ रवं समुप्फुन्दन्तो॥ २४०॥'
[उदधेर्यशसा यशो धैर्यं धैर्येण गुरुतयापि गुरुताम्।
रामः स्थित्यापि स्थितिं भणति रवेण च रवं समभिक्रामन्॥]

अत्राव्ययानां द्योतकादित्वादिवादिभिर्व्यवधानं नाश्रीयते। न हीवादेः प्रकृतेऽपि पृथक्पदत्वमस्ति। यद्येवमिदमिहोदाहरणं युज्यते—

'त्वन्मुखं त्वन्मुखमिव त्वद्दृशौ त्वद्दृशाविव।
त्वन्मूर्तिरिव मूर्तिस्ते त्वमिव त्वं कृशोदरि॥ २४१॥' इति।

अस्त्येवैतत्। किं तु यथा—'अमृतममृतं चन्द्रश्चन्द्रः—' इत्यादिकमभेदेऽपि भेदोपचारान्नामद्विरुक्तिस्तथेयमित्युत्प्रेक्षते॥

इनमें से अव्यवहित के भेदों में व्यस्त आ उदाहरण—

राम अपने यश से समुद्र के यश को, धैर्य से धैर्य को, गुरुता से गुरुत्व को, स्थिति से स्थिति को और ध्वनि से ध्वनि को भलीभांति अतिक्रान्त करते हुए बोलते हैं॥ २४०॥

यहां अव्ययों के द्योतक होने से 'इव' आदि के द्वारा व्यवधान का आश्रय नहीं हुआ जा रहा है। इस प्रसङ्ग में 'इव' आदि की पृथक्पदता भी नहीं है। यदि ऐसी बात है तो यहां यह उदाहरण उपयुक्त हैं—

तुम्हारा मुख तुम्हारे मुख के सदृश है, तुम्हारी दोनों आंखें तुम्हारी दोनों आंखों के जैसी ही है। तुम्हारी मूर्ति तुम्हारी मूर्ति के सदृश ही है और हे सुमध्यमे, तुम जैसी तो तुम्ही हो॥ २४१॥

यह बात तो है ही। किन्तु जिस प्रकार से 'अमृतममृतं चन्द्रश्चन्द्रः' (२।२२९) आदि अभेद-भिन्नार्थकता न होने पर भी-भेद का औपचारिक ग्रहण करने से नामद्विरुक्ति है उसी प्रकार से यहां भी उत्प्रेक्षा की जा रही है।

स्व० भा०—जब पदों की आवृत्ति होती है और आवृत्त पदों में से कोई भी समस्त नहीं होता है, तब व्यस्त नामक भेद होता है। इसी के अनुसार विपरीत दशा में जब कोई भी पद समस्त होता है, तब समस्त नामक भेद होता है। उपर्युक्त उदाहरण में किसी भी पद में समास नहीं है। अतः यहाँ व्यस्त भेद है।

आवृत्त हो रहे पदों के बीच में किसी विजातीय पद का व्यवधान भी नहीं है। यशसा के बाद यश, धैर्य के बाद धैर्य, गुरु के बाद गुरु आदि आ रहे हैं, अतः व्यवधानहीनता माननी चाहिये। अब प्रश्न यह उठता है कि 'यशसा यश' आदि सभी द्विरुक्त पदों के बीच में विभक्तियों का व्यवधान तो है ही, अतः इनको भी व्यवहित ही मानना चाहिये। उसी का उत्तर वृत्ति में

दिया जा रहा है कि वस्तुतः ये विभक्तियाँ अव्यय हैं जो केवल द्योतक हैं, इनका स्वतन्त्र अस्तित्व भी नहीं है, अतः ऐसे अव्ययों का व्यवधान व्यवधान नहीं है। ये पदों के सहायक के रूप में ही आकर अर्थावबोध करा सकते हैं। जो 'च' आदि अव्यय है, यद्यपि ये विभक्ति की भांति नहीं हैं, इनकी अपेक्षा उनका स्वतन्त्र अस्तित्व है, किन्तु "चादयोऽसत्त्वे" (पा० १।४।५७।) सूत्र के अनुसार इनकी भी स्वतन्त्र वाचकता नहीं सिद्ध होती है और अव्यय अव्यय बराबर हो जाते हैं।

यहां दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि द्विरुक्ति होने से यहां भी गौणी वृत्ति से दोनों पदों में विशेषण-विशेष्यभाव हो जायेगा। ऐसा होने पर तो गौणी वृत्ति से सम्भूत नामद्विरुक्ति ही होगी, लाटानुप्रास नहीं होगा। किन्तु इसका भी उत्तर है। जिस प्रकार 'अमृतममृतं' आदि में विशेषण-विशेष्यभाव अपेक्षित था, वह भाव यहां अपेक्षित नहीं है। यहां तो केवल अनन्वयता ही अभीष्ट है। अनन्वयता अनुपमता का द्योतक है, जब कि सामान्यविशेष, अथवा विशेषणविशेष्यभाव में औपम्य का तथ्य निहित होता है, अतः यहां लाटानुप्रासता ही होगी।

तेष्विति। द्विरुक्तशब्दरूपेषु पूर्वपरयोर्नैकमपि समासान्तर्गतमिति व्यस्तः। एतेन समस्तादयो व्याख्याताः। धैर्यगुरुतास्थितिगाम्भीर्यानुनिष्पादी वागनुभावो रसपूर्णकुम्भोच्छलनन्यायेन साक्षादिव तत्तत्प्रकर्षमर्पयन् शोभाविकासहेतुः। समुत्फुन्दन्तो समभिक्रामन्। ननु जसेण धीरेण गरुइआइ वि इ रवेण अ इति यदपञ्चके विभक्त्या तदुत्तरयोश्चकारद्वयेन च व्यवधानात्कथमव्यवहितभेद उदाह्रियत इत्यांह—अत्रेति। अव्ययानामित्युपलक्षणम्। द्योतकत्वादिति विभक्तिसाधारणो हेतुः। पञ्चकप्रातिपदिकार्थत्वपक्षे विभक्तिर्द्योतिकैव। शाकल्योऽपि अव्ययवाचकत्ववादी। सोऽप्यसत्त्वार्थानामिवादीनां स्वातन्त्र्येण वाचकत्वं न मन्यते। यतो न पृथक्पदत्वमनुशिष्टवान्। तथा च द्योतकानां परशक्तिसहकारित्वेन तदनुप्रवेशात्स्वाङ्गमव्यवधायकमिति न्यायात्। ननु किमत्र क्लिष्टकल्पनया। अस्त्यव्यवहितोदाहरणमप्यन्यदपीति शङ्कते—यथेवमिति। अत्र पूर्वार्धवर्तिद्वयमुदाहरणमुत्तरार्धवर्तिनो द्वयस्य पूर्वतुल्यत्वात्। परिहरति—अस्तीति। अनन्वयमात्रमत्रोदाहरणम्। तत्र चावश्यभेदकल्पनया विशेषणविशेष्यभावो वाच्यस्तथा च गौणी नाम द्विरुक्तिः स्यादिति संकरशङ्कनायोदाहृतमिति सिद्धान्ततात्पर्यसंक्षेपः॥

(२) अव्यवहित समस्तभेद

समस्तो यथा—

'अपहस्तितान्यकिसलय-किसलयशोभं विलोकयाशोकम्।
सखि विजिता पुरसुमनःसुमनः सुभगं च मधुतिलकम्॥ २४२॥'

अत्र 'किसलय किसलय' इति, 'सुमनः सुमनः' इति च समस्तानामेवाव्यवधानादयं लाटीयोऽनुप्रासोऽव्यवहितसमस्तः। पूर्वः पुनरव्यवहितव्यस्त इत्युच्यते॥

समस्त का उदाहरण—

दूसरे किसलयों को अपने किसलय की शोभा हस्तान्तरित कर देने वाले अशोक को देखो। अरी सखि, इसके द्वारा तो पुर के सुमनों की सुमनता तथा सुन्दर मधुमास का तिलक भी जीत लिया गया॥ २४२॥

यहां पर 'किसलय किसलय' तथा 'सुमनः सुमनः' इन समस्त पदों के ही बीच में व्यवधान

न होने से यह लाटानुप्रास अव्यवहितसमस्त है। इसके पहले वाला अर्थात् 'उव्वहिस्स जसेण०' (२।२४०) आदि अव्यवहितव्यस्त कहा जाता है।

स्व० भा०—यहां का तत्त्व प्रायः स्पष्ट ही है। 'किसलयकिसलय' तथा 'सुमनःसुमनः' में पदों की आवृत्ति हैं। ये सभी आवृत्तियाँ अव्यवहित हैं और पूरे समस्त-पद के ही अंश हैं। अतः यहां अव्यवहित समस्त लाटानुप्रास का उदाहरण है।

पूर्वः पुनरिति। समस्तानन्तरं व्यस्तविवरणं प्रतिपत्तिसौकर्यार्थम् ॥

(३-४) उभय के दो भेद—(अ) समस्तव्यस्त

उभयस्तु द्विधा—प्रथमः समस्तोऽपरो व्यस्तः। द्वितीयो व्यस्तोऽपरः समस्त इति च। तयोः प्रथमो यथा—

'जितलाटाङ्गनावक्त्रं वक्त्रं तस्या मृगीदृशः।
कस्य न क्षोभजनकं जनकं पुष्पधन्वनः॥ २४३॥'

तदिदं लक्षणेनैव व्याख्यातम् ॥

उभय दो प्रकार का होता हैं—प्रथम जिसमें पहला पद समस्त होता है और दूसरा व्यस्त। दूसरा—जिसमें पहला पद व्यस्त तथा दूसरा समस्त होता है। इन दोनों भेदों में से प्रथम का उदाहरण—

उस मृगनयनी का लाट देश की स्त्रियों की मुखच्छवि को जीतने वाला तथा कामोत्पादक वदन किसको क्षुब्ध नहीं कर देता॥ २४३॥

यह तो लक्षण से ही स्पष्ट है।

तथा (आ) व्यस्तसमस्त

द्वितीयो यथा—

'नलिनी नलिनीनाथकरसंनतिसंगमात्।
विकचा विकचास्यानां कान्तानां हरति श्रियम्॥ २४४॥'

अस्यापि लक्षणेनैवोक्तोऽर्थः॥

दूसरे का उदाहरण—

सूर्य की किरणों के स्पर्श का सम्मान प्राप्त करने से फूल उठी कमलिनी प्रसन्नवदना सुन्दरियों के खिले मुख की शोभा का अपहरण कर रही है॥ २४४॥

इसका भी अर्थ लक्षण से ही स्पष्ट है।

स्व० भा०—यहां पर उभयात्मक के दो भेद किये गये हैं। इसका प्रथमभेद वह है जहां प्रथम पद समस्त हो और दूसरा पद व्यस्त तथा दूसरा भेद वहां होता है जहाँ पहला पद व्यस्त हो और दूसरा समस्त। क्रमशः इनके उदाहरण दिये गये हैं। 'वक्त्रं' 'वक्त्रं' तथा 'जनकं जनकं' इन आवृत्तियों में प्रथम-प्रथम समस्तपद के अंग है, जब कि बाद वाले समास से रहित हैं। दूसरे उदाहरण में 'नलिनी नलिनी' तथा 'विकचा विकचा' की स्थिति में प्रथम पद स्वतन्त्र है, समासहीन हैं, जब कि बाद वालों का समस्तपदों से सम्बन्ध है। वृत्ति में सबको लक्षण के द्वारा ही स्पष्ट कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि लक्षण को पढ़ने के बाद उदाहरण पर दृष्टि डालते ही स्थिति स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण लक्षणानुसार और स्पष्ट हैं।

अब आगे दूसरे प्रकार के उभय का, अर्थात् शेष दो भेदों का भी, निरूपण होने जा रहा है।

(१) चक्रवाल

(१०३) कारिका में प्रयुक्त 'पुनः। उभयम्....' में "उभय" की व्याख्या तथा भेदोप-भेद का निरूपण)

स्वापेक्षया व्यस्तोऽन्यापेक्षया च समस्तः, द्वितीयो व्यस्तो समस्त इति स द्वितीयोभयशब्दवाच्यः। सोऽपि द्विधा—प्रतिपादमन्ताद्योर्गर्भे इवानुप्रासविन्यासात्। तयोः प्रथमश्चक्रवालं यथा—

'जयति क्षुण्णतिमिरस्तिमिरान्धैकवल्लभः।
वल्लभीकृतपूर्वाशः पूर्वाशातिलको रविः॥ २४५॥'

अत्र तिमिरवल्लभपूर्वाशेतिशब्दास्तिमिरादिशब्दापेक्षया व्यस्ताः यथा—स्वपूर्वोत्तरपदापेक्षया च समस्ताः पदान्ताद्योर्विनिवेशिता इति यथोक्तलक्षणानुगमाल्लाटीयानुप्रासोऽयमव्यवहितो व्यस्तसमस्तश्चक्रवालमित्युच्यते॥

अपनी दृष्टि में व्यस्त तथा दूसरे की दृष्टि में समस्त दूसरा व्यस्त-समस्त है। यही दूसरी बार प्रयुक्त 'उभय' शब्द का अर्थ है। यह भी दो प्रकार का होता है—(१) प्रतिपाद में अन्त तथा आदि में गर्भ बनाने से और (२) सदृश अनुप्रास का विन्यास करने से। इन दोनों में से प्रथम चक्रवाल है। जैसे—चक्रवाकों का एकमात्र प्रिय, अन्धकार-विनाशक, पूर्वदिशासुंदरी को प्रिय बनाने वाला, पूर्व दिशा का तिलक सूर्य सर्वोत्कृष्ट है॥ २४५॥

यहां पर तिमिर, वल्लभ, पूर्वाशा ये शब्द तिमिर आदि शब्दों की अपेक्षा व्यस्त हैं। जैसे—अपने पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती पद की अपेक्षा से समस्त पद पद के अन्त तथा आदि में विनिविष्ट कर दिये जाते हैं। इस तरह से कहे गये लक्षण का अनुसरण करने से यह लाटीय अनुप्रास, अव्यवहित व्यस्तसमस्त, चक्रवाल कहा जाता है।

स्व० भा०—यहां पर इसी परिच्छेद की १०३ री कारिका में दूसरी बार प्रयुक्त 'उभय' पद-वाच्य चकवाल तथा गर्भ नामक भेदों का निरूपण किया जा रहा है। इसमें पद तो दोनों समस्त होते हैं, किन्तु समस्त पद के कुछ ही अंश की आवृत्ति होने से और पूर्ववर्ती पद के अपने पूर्ववर्ती अंश से विच्छेद सा कर लेने के कारण पूर्ववर्ती पद अपनी दृष्टि में व्यस्त होता है, जब कि वस्तुतः वह समस्त ही होता है। इस तरह समस्त रहने पर भी व्यस्तसमस्त कहा जाने वाला लाटीय अनुप्रास यह हैं। यह भी निवेश की दृष्टि से दो प्रकार का होता है। प्रथम तब जब कि प्रत्येक पाद के अन्त तथा आदि में पदावृत्ति होती है, और दूसरा तब जब कि प्रतिपाद के अन्तिम तथा आद्य पदों के बीच में ही आवृत्ति का सन्निवेश होता है। इनमें से प्रथम को चक्रवाल कहते हैं। प्रस्तुत संदर्भ में ही एक पाद के अन्त तथा दूसरे पाद के आदि में पद आवृत्त हुये हैं जैसे 'तिमिर' वल्लभ, 'पूर्वाशः' पद। इनमें में पूर्ववर्ती 'तिमिर' पद केवल अपने ही रूप में आगे भी आवृत्त हो रहा है और समस्तपद का आदि अंश बन रहा है। इसी प्रकार 'वल्लभः' आदि भी देखे जा सकते हैं। दोनों पद निरन्तर पास में हैं अतः अव्यवहित हैं। व्यस्तता तथा समस्तता दोनों लक्षण होने से व्यस्त-समस्तता भी है।

द्वितीयमुभयं विवेचयति—स्वापेक्षयेति। तिमिरान्धाश्चक्रवाकाः। यथा श्रुतिद्विरुक्तः पूर्वः पूर्वेणोत्तरश्चोत्तरेण समस्त इति पूर्वस्माद्विशेषः॥

(६) गर्भ

एतेन पादमध्येऽनुप्रासविन्यासाद्गर्भोऽपि व्याख्यातः। यथा—

'समाधवा माधवदत्तदृष्टिः सकौतुका कौतुकमन्दिरे स्तात्।
सविभ्रमा विभ्रमदायिनी वः सपङ्कजा पङ्कजलोचना श्रीः॥ २४६॥'

इससे पाद के मध्य में अनुप्रास का सन्निवेश करने से 'गर्भ' की भी व्याख्या हो गई। जैसे—

माधव के साथ, माधव पर दृष्टि लगाए हुई, अथवा माधव के द्वारा एकटक देखी जा रही, मङ्गलसूत्रों के साथ, कौतुक गृह में हावभावपूर्ण तथा विभ्रमप्रदान करने वाली, कमल लिये हुई, कमलनयना लक्ष्मी आप लोगों के लिये विस्तार करे ॥ २४६ ॥

स्व० भा०—चक्रवाल में पदों की आवृत्ति पादों के अन्त तथा आदि में हुआ करती है, किन्तु 'गर्भ' में पाद के बीच में हीं। जब प्रथम का निरूपण पहले कर दिया गया फिर तो अवशिष्ट स्वयं भी स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण में 'माधव माधव' 'कौतुक कौतुक' 'विभ्रम विभ्रम' तथा 'पङ्कजा पङ्कज' ये आवृत्त पद पादों के मध्य में आये हैं, अतः अव्यवहित गर्भ नामक लाटानुप्रास हुआ।

सकौतुका कृतकङ्कणबन्धादिपरिणयमङ्गला ॥

व्यवहित में (१) व्यस्त का उदाहरण

व्यवहितभेदेषु व्यस्तो यथा—

'प्रकाशो यशसा देवः प्रकाशो महसा रविः।
दुःसहो विद्विषां स्वामी दुःसहस्तमसां च सः ॥ २४७ ॥'

तदेतन्नातिदुर्बोधमिति न व्याक्रियते ॥

सोऽयमेकगुणो व्यस्तश्च लाटीयानुप्रासो व्यवहित इत्युच्यते। व्यस्तश्चानेकगुणो यथा—

'किंचिद्वच्मि न वच्मि वच्मि यदि वा किं वच्मि वच्मीदृशं
दृश्यन्ते न भवादृशेषु पतिषु स्वेषामदोषे दमाः।
ते किं सन्ति न सन्ति सन्ति यदि वा के सन्ति सन्तीदृशाः
सर्वस्तेषु गुणैर्गृहीतहृदयो लोकः कुतो वर्तते ॥ २४८ ॥'

अत्र वच्मीति सन्तीत्येतयोरनेकगुणावृत्तिः ॥

व्यवहित-भेदों में व्यस्त का उदाहरण—

आप श्रीमान् जी अपने यश से प्रकाशित हैं और सूर्य अपनी किरणों से। आप महाराज अपने शत्रुओं के लिये दुःसह हैं तथा सूर्य अन्धकार के लिये दुःसह है ॥ २४७ ॥

यह अधिक कठिन नहीं है, अतः इसकी व्याख्या नहीं की जा रही है।

अभी जिसका विवेचन किया गया है वह एक ही बार आवृत्त पद वाला तथा व्यस्त लाटानुप्रास व्यवहित कहा जाता है। व्यस्त तथा अनेकगुण का उदाहरण—

कुछ कह रहा हूं, नहीं कह रहा हूं, अथवा यदि कहूं भी तो क्या कहूँ? अच्छा, इस प्रकार की बात कह रहा हूँ कि आप जैसे स्वामियों के रहते आत्मीयजनों के अपराध न करने पर दण्ड के विधान नहीं दिखाई पड़ते। क्या वे हैं, नहीं हैं तो कौन हैं? अथवा जो हैं वे इस प्रकार के हैं कि उनके रहते गुणों से हृदय जीत लिया गया है जिसका वह सारा लोक कहाँ रहता है?॥२४८॥

यहां पर 'वच्मि' तथा 'सन्ति' इन दोनों पदों की अनेक बार—अनेकगुनी—आवृत्ति है।

स्व० भा०—'प्रकाश' तथा 'दुःसह' पदों की आवृत्ति एक-एक बार हुई है। दोनों आवृत्त

पदों में विजातीय पदों का व्यवधान है। अतः व्यवहित हैं। समासहीनता तो स्पष्ट ही दृष्टिगोचर हो रही है।

अनेकगुणा इति। आवृत्तिद्वैगुण्यादिनानेकगुणत्वम्, न च गणनायामियत्तावधारणकारणमस्तीत्यभिसंधाय तस्येयत्ता न शक्यते कर्तुमिति पूर्वमुक्तम्। स्वेषामात्मीयानां मध्ये यः कश्चिद्दोपस्तत्र दमा दण्डप्रकारा न दृश्यन्त इति ॥

(२) व्यवहित समस्त

समस्त एकगुणो यथा—

'चन्द्रानन चन्द्रदिनं मृगलोचन मृगशिरश्च नक्षत्रम्।
तिथिरतिथिप्रिय दशमी परतस्त्वेकादशी प्रहरात् ॥ २४६ ॥'

नन्विह तिथिरित्यसमस्तम्। न केवलमसमस्तं भिन्नार्थतया लाटीयानुप्रासोऽपि न संगच्छते। संगच्छते च केनचित्पदानुप्रासेन। न च लाटीयानुप्रासो वा नामानुप्रासो वा पदानुप्रासाद्भिद्यत इति ॥

एक ही बार आवृत्त समस्त का उदाहरण—

हे चन्द्रमुख, आज सोमवार है। हे मृगनयन, मृगशिरा नक्षत्र है। हे अतिथिप्रिय, तिथि भी दशमी है और उसके पहर भर बाद एकादशी है ॥ २४९ ॥

यहां पर तिथि पद असमस्त है, केवल असमस्त ही नहीं है, अपितु अर्थ में भिन्नता होने के कारण लाटीय अनुप्रास भी उपयुक्त नहीं है। यह किसी पदानुप्रास के उपयुक्त है। यह बात नहीं हैं कि लाटीय अनुप्रास, अथवा नामानुप्रास पदानुप्रास से भिन्न है।

स्व० भा०—यहां पर दो आक्षेप हैं। प्रथम तो यह कि समस्त पद का उदाहरण देते समय 'तिथि' जैसे असमस्तपदों का प्रयोग है। दूसरा आक्षेप यह है कि इसका अर्थ भी आगे आवृत्त हो रहे 'अतिथि' के 'तिथि' से भिन्न है। ऐसी दशा में यहां पर नामानुप्रास अथवा पदानुप्रास तो हो सकता है, किन्तु लाटानुप्रास नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें अर्थ की अभिन्नता होती है।

इन आक्षेपों का समाधान भी है। जब अन्य पद समस्त होकर ही आवृत्त हुए हैं, ऐसी दशा में यदि एक जगह एक अंश में व्यस्तता ही रही तो भी अन्यों के आधार पर पूरा श्लोक समस्त का ही उदाहरण हुआ। दूसरी बात यह है कि पदानुप्रास ही तो विभिन्न रूपों में नामानुप्रास या लाटानुप्रास कहा जाता है। अतः यदि यहां पदानुप्रासता हो सकती हैं तो लाटानुप्रासता भी सम्भव है। वस्तुतः ये तीनों अनुप्रास पद या पदांश पर आश्रित है, श्रुति, वृत्ति तथा वर्णानुप्रास की भाँति वर्णों पर नहीं।

भोज ने यद्यपि दूसरे आक्षेप की सफाई दी है तथापि तर्क पूर्णयुक्त नहीं। यदि सभी में पदानुप्रासता है, तो फिर लाटानुप्रास आदि मानने की जरूरत ही क्या थी?'

यद्यप्येकपरिहाराकारोदाहरणद्वयमुचितमेव तथापि किंचिद्विशेषं विवक्षुराक्षिप्य समाधत्ते—नन्विति। मा भूदत्रासमासोऽन्यथापि नेदमुदाहरणमिह संगतमित्याह—न केवलमिति। तत्किमनुप्रास एवायं न भवतीति पृच्छति—केन तर्हीति। उत्तरम्—पदानुप्रासेनेति। पदानुप्रासेनार्थभेदाभेदौ विवक्षितौ। किंतु पदाश्रयेणावृत्तिमात्रं पदानुप्रासावृत्तिश्च लाटानुप्रासेऽप्यस्तीति संगत्यात्रेदमुदाहृतमित्यर्थः ॥

अनेक गुण समस्त

समस्तोऽनेकगुणो यथा—

'ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः शतधृतिभुवनाम्भोरुहो नालदण्डः
क्षोणीनौकूपदण्डः क्षरदमरसरित्पट्टिकाकेतुदण्डः।
ज्योतिश्चक्राक्षदण्डस्त्रिभुवनविजयस्तम्भदण्डोऽङ्घ्रिदण्डः
श्रेयस्त्रैविक्रमस्ते वितरतु विबुधद्वेषिणां कालदण्डः॥ २५०॥'

अत्रानेकशो दण्ड इत्यस्यावृत्तिः। आभ्यां व्यस्तसमस्तभेदोऽपि व्याख्यातः। यथा—

'दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम्।
दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधाः॥ २५१॥
अत्रानेकधा दशशब्द आवर्तते॥

समासयुक्त अनेक आवृत्तियों वाले व्यवहित का उदाहरण—

सम्पूर्ण ब्रह्माण्डरूपी छत्र के दण्डस्वरूप, ब्रह्मा के आवासभूत कमल के नालदण्ड अर्थात् आधार, पृथ्वीरूपी नौका के मस्तूल दण्ड, प्रवाहित हो रही स्वर्गङ्गारूपी ध्वजा के दण्ड, नक्षत्र-मण्डल रूपी पहिये की धुरी, त्रिलोकी के विजयस्तम्भ के आधार, दण्ड के सदृश सशक्त चरणों वाले, तथा देवद्रोहियों के लिये कालदण्ड सदृश भगवान् त्रिविक्रम आप लोगों में कल्याण का वितरण करें॥ २५०॥

यहाँ अनेक बार दण्ड पद की आवृत्ति हुई है। इन दोनों के द्वारा व्यस्तसमस्तभेद भी स्पष्ट हो जाता है। जैसे—

दशशत अर्थात् सहस्र रश्मि सूर्य की भांति प्रकाशशाली, अपनी कीर्ति के कारण दशों दिशाओं में विख्यात, रावण के शत्रु राम के पिता को विद्वान् अथवा देवगण दशरथ नाम से जानते थे॥ २५१॥

यहां अनेक बार दशशब्द की आवृत्ति हुई है।

स्व० भा०—इस श्लोक में व्यस्तसमस्तता है। अनेक बार आवृत्त दश पद केवल एक बार असमस्त तथा अन्य सभी स्थानों पर समस्त रूप में आया है।

शतधृतिर्ब्रह्मा तस्य भुवनभूतमम्भोरुहं पद्मं तस्य, क्षोणी पृथ्वी तद्रूपा या नौस्तरिस्तस्याः कूपदण्डः गुणवृक्षः। दशस्विति। एको दशशब्दो व्यस्तः, अन्ये त्रयः समस्ताः॥

अव्यवहितेऽपि द्वैगुण्यादेर्न विरोधः। यथा—

'वस्त्रायन्ते नदीनां सितकुसुमधराः शक्रसंकाशकाशाः
काशाभा भान्ति तासां नवपुलिनचराः श्रीनदीहंसहंसाः।
हंसाभाम्भोदमुक्तक्षरदमृतरुचिर्मेदिनीचन्द्रचन्द्र-
श्चन्द्राङ्कः शारदस्ते जयकृदुपनतो विद्विषां कालकालः॥ २५२॥'

अव्यवहित भेद में भी द्वैगुण्य—द्विगुण आवृत्ति—आदि का विरोध नहीं है। जैसे—श्वेत पुष्पों को धारण करने वाले, कुटज अथवा अर्जुन के सदृश श्वेत काश के समूह नदियों को वस्त्र

भी भांति आच्छादित किये दे रहे हैं। उन नदियों के नवीन तटों पर विचरण करने वाले, शोभा-सम्पन्न, नदियों के अलङ्कारभूत हंस काश के सदृश श्वेत-श्वेत सुशोभित हो रहे हैं। इस समय हंस के सदृश स्वच्छ बादलों से अलग, अमृतबिन्दु बरसाता हुआ, पृथ्वी को आह्लादित करने वाले आह्लाद से पूर्ण, शरत्कालीन चन्द्रबिम्ब, हे जयकर्ता महाराज, शत्रुओं के लिये भयङ्कर काल तथा आपके लिये जय प्रदान करने वाला हो गया है। अथवा आपके लिये विजयप्रद चन्द्रमा शत्रुओं के लिये भीषण काल हो गया है॥ २५२॥

स्व० भा०—इस श्लोक में 'काशकाशाः काशाः', 'हंसहंसाः हंसा', 'चन्द्रचन्द्रश्चन्द्रः' तथा 'कालकालः' में अव्यवहित आवृत्तियाँ द्विगुणित तथा उससे भी अधिक है। अतः यहां अव्यवहित त्रैगुण्य आदि भाव है। यदि पादान्त में आये हुये तथा आगे पादादि में आये हुये पदों में यति का व्यवधान माना ही जाये तो भी द्विगुणित आवृत्ति तो है ही, क्योंकि यति का व्यवधान विवक्षित नहीं है।

ननु व्यवहित एव किं गुणनादिभेदो नेत्याह—अव्यवहितेऽपीति। वस्त्रायन्त इत्यादौ काशपदपरिहारेणोदाहरणम्। तत्र हि प्रथमः काशशब्दो भिन्नार्थ एव॥

व्यवहिताव्यवहित

व्यवहिताव्यवहितभेदोऽपि दृश्यते। यथा—

'धनैर्दुष्कुलीनाः कुलीनाः क्रियन्ते धनैरेव पापान्नरा निस्तरन्ति।
धनेभ्यो हि कश्चित्सुहृन्नास्ति लोके धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम्॥२५३॥'

व्यवहिताव्यवहित भेद में भी अनेक गुणता दृष्टिगोचर होती है। जैसे—

खराबकुल वाले भी धन से कुलीन हो जाते हैं, धन से ही लोग पाप से तरते हैं। धन से बढ़कर संसार में कोई मित्र नहीं है। अतः धन इकट्ठा कीजिये, धन इकट्ठा कीजिये॥ २५३॥

स्व० भा०—यहाँ पर 'धन' पद व्यवहित रूप से अनेक वार आया है तथा 'कुलीनाः कुलीनाः' की भी अव्यवहित आवृत्ति हुई है। 'धनान्यर्जयध्वम्' की आवृत्ति, यदि इसे एक साथ ही स्वीकार किया जाये तो अव्यवहित, अन्यथा व्यवहित रूप से हुई है।

यत्र व्यवहिताव्यवहितयोरेकवाक्यानुप्रवेशोऽस्ति तत्रापि गुणेनाभेद उदाहरणीयः। दृश्यत इत्यनेन यद्वद्व्यवहिते भूयसी गुणना महाकविप्रबन्धेषु प्रतीयते न तद्वदव्यवहितेऽपीति पूर्वं व्यवहितमात्रे गुणनादिकमुपन्यस्तमिति तात्पर्यम्। धनैरिति। अत्र धनपदव्यवधानेन वह्वीं गुणनामवलम्बमानमेव चतुर्थपादे त्वव्यवहिता त्वनुप्रासेऽपि प्रविष्टमिति भवति व्यवहिताव्यवहितभेदता। सोऽयं पदाभ्यासो दर्शितः॥

व्यवहिताव्यवहितभेद

याऽपि चार्धाभ्यासः सोऽपि व्यवहिताव्यवहितभेद एव। यथा—

'यैस्त्वं साक्षात्कृतो नाथ तेषां कामेषु को ग्रहः।
यैस्त्वं साक्षात्कृतो नाथ तेषां कामेषु को ग्रहः॥ २५४॥'

अत्र पादापेक्षया व्यवहितत्वमर्धापेक्षया पुनरव्यवहितत्वं भवति॥

जो अर्धाभ्यास है—पूरे आधे श्लोक की ही पुनरुक्ति है—वह भी व्यवहिताव्यवहित का एक प्रकार ही है। जैसे—

हे महाराज, जिन्होंने आपका साक्षात्कार कर लिया है उनकी कामनाओं के प्रति क्या आसक्ति? और जिन्होंने आपका साक्षात्कार नहीं किया, उनका कामनाओं के प्रति आग्रह ही क्या?॥ २५४॥

यहां पाद की दृष्टि से व्यवहितता है तथा श्लोकार्धता की दृष्टि से अव्यवहितत्व हो जाता है।

एवं श्लोकार्धाभ्यासो व्यवहिताव्यवहितभेद एव भवतीत्याह—योऽपीति॥

द्विभागाभ्यास

द्विभागाभ्यासस्तु व्यवहित एव स्वदते। यथा—

'श्रद्धायत्नौ यदि स्यातां मेधया किं प्रयोजनम्।
तावुभौ यदि न स्यातां मेधया किं प्रयोजनम्॥ २५५॥'

द्वितीय भागों की आवृत्ति तो व्यवहित भेद में ही अधिक अच्छी लगती है। जैसे—

यदि श्रद्धा और उद्योग दोनों ही हैं तो बुद्धि से क्या लाभ? यदि वे दोनों न हों तो भी बुद्धि से क्या लाभ॥ २५५॥

स्व० भा०—यहां श्लोक का द्वितीय भाग-उत्तरार्ध-आवृत्त हुआ है, व्यवहित रूप से, क्योंकि इसे ही—व्यवधान को ही—व्यक्त करने के लिये 'श्रद्धायत्नौ' के स्थान पर 'तावुभौ' का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार द्वितीय चरण की चतुर्थ चरण के रूप में आवृत्ति व्यवहित हो ही गई है। इसमें बीच में तृतीय चरण ही आ रहा है। रत्नेश्वर जी के मतानुसार यहां केवल द्वितीय भाग की ही नहीं अपितु तीन अंशों की आवृत्ति जानी जा सकती है, यदि 'यदि स्यातां' को भी स्वीकार किया जाये।

श्रद्धायत्नाविति। अत्र यदि स्यातामिति पादभागेन सह पदावृत्तिस्त्रिभागावृत्तिर्भवति॥

पदाभ्यासभेद

पदाभ्यासः पुनरव्यवहितो व्यवहितश्च दृश्यते। तयोरव्यवहितो यथा—

'सन्तः शृणुध्वं हृदये निधद्ध्वमुत्क्षिप्य बाहुं परिरारटीमि।
न सुभ्रुवां तुल्यमिहास्ति रम्यं न सुभ्रुवां तुल्यमिहास्ति रम्यम्॥ २५६॥'

व्यवहितो यथा—

'मुखेन लक्ष्मीर्जयति फुल्लपङ्कजचारुणा।
दक्षिणेन करेणापि फुल्लपङ्कजचारुणा॥ २५७॥'

पदाभ्यास तो फिर भी अव्यवहित तथा व्यवहित देखा जाता है। इनमें से अव्यवहित का उदाहरण—

हे सज्जनो सुनो, और हृदय में धारण करो, मैं भुजा उठाकर बार-बार यही कहता हूँ कि इस पृथ्वी पर सुन्दरनेत्रवाली प्रमदाओं के समान कोई भी वस्तु रमणीय नहीं है, सुन्दरियों के समान-यहां और कुछ भी सुन्दर नहीं है॥ २५६॥

व्यवहित का उदाहरण—

विकसित कमल की भांति सुन्दर मुख तथा खिले हुये कमल से सुशोभित दाहिने हाथ के कारण लक्ष्मी सर्वोत्कृष्ट है॥ २५७॥

स्व० भा०—एक चरण का अभ्यास होने पर व्यवहित तथा अव्यवहित दोनों रूप देखने को मिलते हैं। प्रथम तृतीय चरण की चतुर्थ चरण के रूप में आवृत्ति है। पद की आवृत्ति होने से यहाँ व्यवधान नहीं मानना चाहिये, क्योंकि यति का व्यवधान अविवक्षित है।

दूसरे उदाहरण में द्वितीय पद व्यवहित रूप से समानार्थक शब्दों के रूप में चतुर्थ पाद में आवृत्त हुआ है।

मुखेनेति। फुल्लपङ्कजमिव चारु फुल्लेन पङ्कजेन चारुरिति यद्यपि वृत्त्यर्थौ भिद्येते, तथापि पदानामभिन्नार्थत्वादुदाहरणता॥

इवादि की आवृत्ति

इवाद्यावृत्तयोऽपि चात्रैव द्रष्टव्याः। यथा—

'लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रलेपघटितेवान्तर्निखातेव च।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि-
श्चिन्तासंततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया॥ २५८॥'

'इव' आदि की भी आवृत्तियां इसी (लाटानुप्रास के) प्रसङ्ग में ही दर्शनीय है।—जैसे—माधव कह रहा है कि मेरी प्रेयसी मालती मेरे चित्त में लीन सी, प्रतिबिम्बित-सी, चित्रित-सी, खुदी हुई-सी, बोई गई-सी, वज्रलेप से चिपका दी गई-सी, गाड़ी हुई-सी, कामदेव के पांचों बाणों से जड़ दी गई-सी तथा चिन्ताराशि के धागों से खूब सघन रूप से सिली हुई सी समाई है॥ २५८॥

स्व० भा०—'इव' यद्यपि अव्यय है, और उसकी एक गुण अथवा बहुगुण आवृत्तियों से कोई अन्तर नहीं पड़ता, तथापि वह भी एक शब्द की भांति आवृत्त हो सकता है, यह प्रदर्शित करने के लिये उसकी अनेक आवृत्तियां दिखाई गई हैं।

अर्थभेद इति नार्थशब्दोऽभिधेयवचनः किंतु शब्दप्रतिपाद्यमात्रवचन इत्याशयवानाह-इवादीति॥

यमकानां हि यावन्त्यो वर्ण्यन्ते भेदभक्तयः।
अनुप्रासस्य लाटानां भिदास्तावन्त्य एव हि॥ १०५॥
उपमादिवियुक्तापि राजते काव्यपद्धतिः।
यद्यनुप्रासलेशोऽपि हन्त तत्र निवेश्यते॥ १०६॥
कुण्डलादिवियुक्तापि कान्ता किमपि शोभते।
कुङ्कुमेनाङ्गरागश्चेत्सर्वाङ्गीणः प्रयुज्यते॥ १०७॥
श्रुतिवर्णानुप्रासावेकविधौ कुन्तलेषु गौडेषु।
पदयोर्निरनुप्रासो द्वेधा त्रेधा च लाटेषु॥ १०८॥

यमक के जितने भेदोपभेद कहे जाते हैं, उतने ही भेद लाटानुप्रास के भी हैं। यदि अनुप्रास का एक अंश भी विद्यमान हो, तो काव्यबन्ध उपमा आदि से रहित होकर भी सुशोभित हो सकता है। यदि केसर से सम्पूर्ण अङ्ग में लेप कर दिया जाये तो सुन्दरी कुण्डल आदि अलङ्कारों से रहित होने पर भी अलौकिकरूप से सुन्दर लगती है। कुन्तल तथा गौड़ देशों में श्रुति तथा वर्णानुप्रास दोनों एक ही प्रकार के माने जाते हैं और लाट देश में दो पादों का अनुप्रास नहीं होता। वहां दो या तीन प्रकार का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है॥ १०५-१०८॥

स्व० भा०—कुछ स्थान पर किसी प्रकार का, कहीं किसी प्रकार का अनुप्रास पसन्द किया जाता है। श्रुत्यनुप्रास के बारे में दण्डी ने कहा था—

इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः। अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भैरिदमिष्यते ॥
इत्यादिबन्धमारुध्यं शैथिल्यं च नियच्छति। अतो नैवमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते ॥
काव्या० १।५४,६० ॥

नन्वन्येऽपि पदावृत्तिप्रकाराः किमिति नोदाहृता इत्यत आह—यमकानां हीति। भेदभक्त्योऽवान्तरप्रकारविच्छित्तयः स्थानास्थानपादभेदलक्षणा श्लोकावृत्तिः परमत्र नास्तीति यमकादपकर्षः ॥

प्रकरणान्तेऽनुप्रासव्युत्पादनप्रयोजनमाह—उपमादीति। अनुप्रासलेशोऽपीति। वर्णाद्यनुप्रासः ॥

श्रुतिवृत्त्यनुप्रासौ तु संदर्भव्यापकावेव प्रशस्ताविस्युदाहरणव्याजेनाह—कुण्डलादीति ॥
एतदेव खण्डसरस्वतीषु कविषु न तथा काव्यसिद्धिरिति दर्शयन्नुद्धयति—श्रुतिवर्णानुप्रासाविति ॥

चित्रकाव्य

'वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धान्प्रतीह यः।
नियमस्तद्बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते ॥ १०९ ॥

वर्ण (व्यंजन), उच्चारण के स्थान, विभिन्न स्वर, आकार, गति तथा बन्ध के विषय में काव्य में जो छः प्रकार के नियम हैं, विद्वान् लोग उसे चित्रकाव्य कहते हैं ॥ १०९ ॥

स्व० भा०—संस्कृत भाषा की क्षमता अद्भुत है। इसी क्षमता के कारण विचित्र-विचित्र प्रकार की छन्दोरचना हुई है। इसमें सरल से सरल तथा कठिन से कठिन छन्द उपलब्ध होते हैं। युग की विशेषता के कारण इसका रूप परिवर्तित होता रहा। भामह ने वर्ण, स्वर तथा स्थान-चित्र के साथ बन्धचित्रों का भी निदर्शन उपस्थित किया है। प्रायः अलंकार सम्प्रदाय में जितने आचार्य हुये हैं सबने स्वल्प अथवा अधिक चित्रकाव्य पर भी प्रकाश डाला है। आनन्दवर्धन और मम्मट जैसे आचार्यों ने भी यद्यपि इसे विशेष महत्त्व नहीं दिया था, तथापि इसकी पूर्वप्रवाहित धारा के विषय में अपना विचार अवश्य व्यक्त किया है। भोज ने जिस किसी भी विषय को छुआ है, उसका इतना विशद विवेचन किया है कि लगता है वह उसी सम्प्रदाय के हों।

चित्रकाव्य की विभिन्न परिभाषायें विभिन्न आलंकारिकों ने दी है। ध्वनिवादी आचार्य व्यङ्ग्यहीनता को चित्रकाव्य कहते हैं—शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्" का० प्र० १.५॥ कुछ लोग आकृतिविशेष जिस श्लोक से बन जाये, उसे चित्रकाव्य कहते हैं। किन्तु भोज उपर्युक्त छः कारणों से श्लोक में आयी आश्चर्यजनकता को ही चित्रकाव्यता मानते हैं।

सामान्य रूप से छन्द में भावाभिव्यंजक सामान्य वर्ण, स्वर आदि क्रम से युक्त पदों का व्यवहार होता है, किन्तु जब असामान्य रूप से बुद्धिपूर्वक इनमें अन्तर लाकर लोगों में रूप का चमत्कार पैदा किया जाता है, तब चित्र काव्य होता है। यहां 'वर्ण' का अर्थ व्यञ्जन तथा स्थान का कण्ठ, तालु आदि उच्चारण स्थानीय वर्णों का प्रयोग है। 'स्वर' का अर्थ अ, इ, उ आदि है न कि उदात्तानुदात्त आदि। वर्णों का इस प्रकार का विन्यास कि एक आकृति सी बन जाये, आकारचित्र कहा जाता है। पढ़ने के एक विशेष ढंग को गति कहते हैं। बन्ध वहाँ होता है, जहां पर एक आकार विशेष में वर्ण बँध सकते हों।

क्रमप्राप्तं चित्रलक्षणमवतारयति—वर्णेति। चित्रमालेख्यं तदिव जीवितस्थानीयध्वनि-

रहितं चित्रमिति काश्मीरकाः। तदसत्। ध्वनेः प्राधान्यानङ्गीकाराद्प्रतीयमानमात्राभावस्य क्वचिदप्यसंभवात्। यद्वा आकृतिविशेषयुक्तं चित्रमिति तदपि न। अव्यापकत्वात्। अतो वर्णादिनियमेन प्रवृत्तमाश्चर्यकारितया चित्रमित्येव युक्तम्। वर्णा व्यञ्जनानि। स्थानं कण्ठादि। स्वरा अकारादयः। आकारः पद्माद्याकृत्युन्मुद्रणम्। गतिः पठितिभङ्गिविशेषः। बन्धो विविडितिप्रभृतिः॥

(१) वर्णचित्र में चतुर्व्यञ्जन

वर्णशब्देन चात्र स्वराणां पृथङ्निर्देशाद् व्यञ्जनान्येव प्रगृह्यन्ते। तत्र वर्णचित्रेषु चतुर्व्यञ्जनं यथा—

'जजौजोजाजिजिज्जाजी तं ततोऽतितताततितुत्।
भाभाऽभीभाभिभूभाभूराराररिररीररः॥ २५९॥'

वर्ण शब्द से इस प्रसङ्ग में, स्वरों का अलग से निर्देश होने के कारण, व्यञ्जनों का ही ग्रहण होता है। यहाँ वर्णचित्रों में चतुर्व्यञ्जन का उदाहरण—

"तदनन्तर योद्धाओं के तेज एवं पराक्रम से होने वाले युद्ध को जीतने वाले, सुन्दर युद्ध करने में निपुण उद्धत वीरों को व्यथित करने वाले, नक्षत्र के समान कान्तिमान्, निर्भीक गजराजों को भी पराजित करने वाले बलराम रथ पर सवार होकर उस वेणुदारी राजा के सम्मुख युद्धार्थ दौड़ पड़े" ॥ २५९ ॥

(श्री रामप्रतापत्रिपाठीकृत शिशुपालवध (१९।३॥) का अनुवाद)।

स्व० भा०—इस श्लोक में 'ज', 'त', 'भ' तथा 'र' इन चार ही व्यंजनों का प्रयोग हुआ है। अतः यह चतुर्व्यञ्जन वर्णचित्र है।

पद्मप्रभृतिनियमेन तथाशक्तिव्युत्पत्त्योरुत्कर्ष इति चतुरादि गृह्णाति—तत्रेति। अवश्यं योद्धा जाजी। जनेर्युद्धार्थादावश्यके णिनिः। जजा युद्धशौण्डास्तेषामोजसा जाता या आजिः सङ्ग्रामस्तं जयतीति क्विप्। तं वेणुदारिणं ततोऽनन्तरं अतिततान् चतुरङ्गबलेन प्राप्तविस्तारान् आतिनः सततगमनशीलान् तुदतीति क्विप्। भानां दीप्ततारानुरूपाणां शुक्रबृहस्पत्यादीनामाभेवाभा कान्तिर्यस्येत्युपमानपूर्वपदबहुव्रीहौ उत्तरपदलोपे च भाभः। अभियो भयशून्यानिभानभिभवतीति क्विप्। अभीभाभिभूस्तादृशी या भा तेजस्तस्या भूराश्रयः। आर जगाम। अरिः शत्रुः। बलभद्र इत्यर्थः। अरीणां रीः संचरणम्। 'रीङ् गतौ इति धात्वनुसारात्। तस्या ईरो धूननं राति ददाति अरीररः॥

त्रिव्यञ्जनं यथा—

'देवानां नन्दनो देवो नोदनो वेदनिन्दिनाम्।
दिवं दुदाव नादेन दाने दानवनन्दिनः॥ २६०॥'

त्रिव्यञ्जन का उदाहरण—

देवताओं को आनन्द देने वाले, वेदनिन्दकों के प्रतिक्षेपक भगवान् ने हिरण्यकशिपु के विदारण के समय उत्पन्न ध्वनि से स्वर्ग को सन्तप्त कर दिया ॥ २६० ॥

स्व० भा०—इस श्लोक में केवल तीन व्यञ्जन 'द', 'व' तथा 'न' ही प्रयुक्त हुये हैं। (द्रष्टव्य काव्यादर्श ३।९३॥)

देवः सृष्टिस्थितिसंहारक्रीडारतः, दानवनन्दी हिरण्यकशिपुस्तस्य दानेऽवखण्डने यो

नादो वक्षःकपाटपाटनकटकटाशब्दस्तेन दिवं स्वर्गं दुदाव किमेतदित्याकस्मिकसंभ्रमेणे-त्युपतापयामास। जगत्कण्टकनिराकरणाद् देवानां नन्दन आनन्दकृत्। वेदनिन्दिनां च नोदनः प्रतिक्षेपकः। सामान्याभिप्रायेणैकवचनम्॥

द्विव्यञ्जनं यथा—

'भूरिभिर्भारिभिर्भीराभूभारैरभिरेभिरे।
भेरीरेभिभिरभ्राभैरभीरुभिरिभैरिभाः॥ २६१॥'

द्विव्यञ्जन का उदाहरण—

खूब भार से लदे हुये, भयङ्कर, धरती के भारभूत, भेरी के सदृश शब्द करने वाले, बादलों के सदृश एवं निर्भीक हाथी अपने प्रतिद्वन्द्वी हाथियों से भिड़ गये॥ २६१॥

स्व० भा०—यहां केवल दो व्यञ्जन भकार तथा रेफ का ही प्रयोग हुआ है। अतः यह द्वयक्षर श्लोक है। (द्रष्टव्य 'शिशुपालवध' १९।६६॥

भूरिभिर्बहुभिर्भारिभिः प्रकृतिसारभारवाहिभिरतिप्रमाणकायतया भुवो भारभूतैरन्तः-कांस्यभाजनो निःस्वानो भेरी तद्वद्रेभिभिः। 'रेभृ शब्दे' इति धात्वनुसारात्। अभ्राभैः प्रथमोन्नतमेघकान्तिभिरिभैर्हस्तिभिर्भियं रान्ति प्रयच्छन्तीति भीरा इभाः प्रतिद्विपा अभिरेभिरे अभियुक्ताः॥

एकव्यञ्जनं यथा—

'न नोननुन्नो नुन्नेनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्॥ २६२॥'

एकव्यंजन का उदाहरण—

"ऐ विविध मुखवाले प्रमथगण, यह क्षुद्र विचार का पुरुष नहीं है। यह न्यूनता (बुराई) को समूल नष्ट करने वाले पुरुष से अतिरिक्त कोई देवता है। विदित होता है कि इसका स्वामी भी है। यह बाणों से आहत है तथापि अनाहत की तरह प्रतीत होता है। अत्यन्त व्यथा से आक्रान्त पुरुष को व्यथित करना दोषावह होता है। इस दोष से यह पुरुष मुक्त है। (अर्थ हेतु द्रष्टव्य किरात १५।१५ की श्रीआदित्यनारायण पाण्डेय की हिन्दी व्याख्या)॥ २६२॥

स्व० भा०—दण्डी ने भी काव्यादर्श (३।९५) में एकाक्षर चित्र के उदाहरण के लिये 'नकार' को ही चुना था। उनके द्वारा दिया गया उदाहरण यह है—

नूनं नुन्नानि नानेन नाननेनाननानि नः।
नानेना ननु नानूनेनेनेनानानिनो निनीः॥

माघ ने एकाक्षर चित्र के लिये 'दकार' को चुना था। उनका भी श्लोक यहाँ नीचे दिया जा रहा है—

दाददो दुद्ददुद्दादी दाददो दूददीददोः।
दुद्दादं दददे दुद्दे दादाददददोऽददः॥ शि० व० १९।११४॥

ननु नानानना विविधाकारवदना गणा ऊनेन हीनेन नुन्नो जितो ना न न पुरुषः। तथा नुन्न इनः प्रभुर्यस्य सोऽप्यात्मनि जीवति नाना पुरुषोऽपुरुष एव। यतो ननुन्नेनो-ऽजितप्रभुर्नुन्नोऽप्यनुन्न एव। तथा नुन्ननुन्नः जित इव क्लीबतया पराभूत इति। 'प्रकारे गुणवचनस्य' (पा० ८।१।१२) इति द्विरुक्तिः। तमपि यो नुदति स नानेना न निष्पापः

बन्धच्छायापंकान्यवर्णगुरुत्वोन्मेषमात्रप्रयोजकस्तकारो न वृत्तिशरीरान्तर्गत इति द्विव्यञ्जनता नाशङ्कनीया ॥

क्रमस्थसर्वव्यञ्जनं यथा—

'कः खगौघाङ्चिच्छौजा झाञ्ज्ञोऽटौठीडडण्ढणः ।
तथोदधीन्पफर्बाभीर्मयोऽरिल्वाशिषां सहः ॥ २६३ ॥'

क्रमशः स्थित सभी व्यञ्जनों वाले श्लोक का उदाहरण—

यह कौन है जो पक्षिसमुदाय को एकत्र करता है, जिसमें संवित् को नष्ट करने का ओज नहीं है; जो दूसरे के बल का भक्षण करने वाला पण्डित है, जो रणक्षेत्र में घूमने वाले योद्धाओं का बाध करने वालों का स्वामी है, जो स्थिर है, तथा जिसने निर्भय होकर इन समुद्रों को परिपूर्ण किया ? (उत्तर है) वह शत्रुओं को समाप्त करा देने वाले आशीर्वादों का पात्र दैत्यराज 'मय' है ॥ २६३ ॥

स्व० भा०—यहाँ पर कवर्ग के प्रथम वर्ण से लेकर मकारपर्यन्त स्पर्श ध्वनियां, अन्तःस्थ तथा ऊष्म भी वर्णमाला के अपेक्षित क्रम में ही आये हैं। संभवत यह विशेषता संस्कृत में ही है।

क्रमस्थेति। वर्णसमाम्नाये येन क्रमेण कादयो मावसानाः पठितास्तेन क्रमेण व्यञ्जननिवेशः। कः खगौघस्तत्तत्प्रसिद्धावदानपक्षिसमूहस्तमञ्चतीति क्विनि संयोगान्तलोपे कृते च खगौघाङिति रूपम्। चितं संविदं छ्यति छिनत्तीति चिच्छं यदोजस्तन्नास्ति यस्यासावचिच्छौजाः। 'झसु अदने' अस्मात् क्विप्। 'अनुनासिकस्य क्विझलोः ६।४।१६' इत्युपधादीर्घः। 'मो नो धातोः ८।२।६४' इति नकार इति झान् परबलभक्षको ज्ञः पण्डितः। 'स्तोश्चुना श्चुः ८।४।४०' इति नकारस्य ञकारः। अटाः सङ्ग्रामाङ्गणपर्यटनशीलाः सुभटास्तानोठते बाधत इति क्विप्। 'उठ गतौ' इति धातो रूपम्। तेषामीडीश्वरः। अडण्ढणोऽचपलः। डण्ढण इत्यव्युत्पन्नं चपलवाचि प्रातिपदिकम्। तथा अभीर्भयरहितः एवंविधः को नामायमुदधीन् पफर्ब पूरयामासेति प्रश्नः। उत्तरम्—अरीन् लुनन्ति या आशिषस्तासां सहः क्षमो मयो दैत्यराज इति ॥

छन्दोऽक्षरव्यञ्जनं यथा—

'सरत्सुरारातिभयाय जाग्रतो जगत्यलं स्तोतृजनस्य जायताम् ।
स्मितं स्मरारेर्गिरिजास्यनीरजे समेतनेत्रत्रितयस्य भूतये ॥ २६४ ॥'

श्लोकाक्षर व्यञ्जन का उदाहरण—

निकट आ रहे देवशत्रुओं को भयभीत करने के लिये प्रयत्नशील, तथा भगवती पार्वती के मुखकमल पर अपने तीनों नेत्रों को टिकाये हुये भगवान् शङ्कर की मुस्कान इस संसार में प्रार्थना करने वाले लोगों के वैभव का वर्धन करे ॥ २६४ ॥

स्व० भा०—इस श्लोक में केवल उन्हीं वर्णों का प्रयोग किया गया है, जो काव्यशास्त्रियों ने काव्य रचना में विहित माना है। ये वर्ण संख्या में दश है—म, य, र, स, त, ज, भ, न, ग, तथा ल (द्रष्टव्य संस्कृत टीका)। जब एकाक्षर, द्व्यक्षर अथवा चतुराक्षर श्लोकों की रचना हो सकती है, तो निश्चित वर्णों में किसी श्लोक को रचना विशेष कठिन नहीं। कठिनाई केवल इस बात की है कि केवल दस वर्णों का ही घुमा-फिरा कर प्रयोग होना अपेक्षित है। यह श्लोक शायद के लिये है जो जानता हो कि श्लोक-रचना के लिये कौन २ से वर्ण प्रशस्त है और किनका

उपयोग होना चाहिये । सामान्य पाठक को तो यह श्लोक सामान्य रूप से ही लिखा गया प्रतीत होगा ।

छन्दोक्षरेति । 'म्यरस्तजभ्रगा लान्ताश्छन्दोविचितिवेदिभिः । दशैव वर्णा निर्णीताश्छन्दोरूपप्रसिद्धये ॥' तन्मात्रव्यञ्जननिबद्धछन्दोऽक्षरव्यञ्जनम् । सुबोधमुदाहरणम् ॥

षड्जादिस्वरव्यञ्जनं यथा—

'सा ममारिधमनी निधानिनी सामधाम धनिधामसाधिनी ।
मानिनी सगरिमापपापपा सापगा समसमागमासमा ॥ २६५ ॥'

षड्ज आदि स्वरों के व्यञ्जनों से ही बने श्लोक का उदाहरण—

धनादि निधियों से सम्पन्न, शान्ति की निधान, धनवान् लोगों में तेज प्रदान करने वाली, पूजनीया, गौरवपूर्णा, निष्कलुषजनो की रक्षिका, प्रसिद्ध वैभवशालिनी, तथा नदी की भांति चञ्चल प्राप्ति वाली, अनुपमा, भगवती लक्ष्मी मेरे शत्रुओं का विनाश करें ॥ २६५ ॥

स्व० भा०—सङ्गीतशास्त्रियों ने सात स्वर माना है ।

निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः । पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः ॥
—अमरकोष १।१०।१।

इन सातों स्वरों के आदि वर्णों से ही पूरे श्लोक की रचना करना षड्जादिस्वरव्यंजन रचना है । ये सात संकेत व्यंजन है—स, र, ग, म, प, ध, नि । वर्ण यही रहेंगे, स्वर कोई भी किसी के भी साथ आ सकते हैं ।

षड्जादीति । 'सरिगामपधानिश्च वर्णाः सप्त स्वरादयः । षड्जादिकृतसंकेता दृष्टा गान्धर्ववेदिभिः ॥' तन्मात्रव्यञ्जनमयं षड्जादिव्यञ्जनम् । सह एन विष्णुना वर्तते इति सा लक्ष्मीः । अरीन् धमति तापयति इति धमतेर्ल्युटि बहुलवचनमन्यत्रापीति धमादेशः । एवंविधा मम भूयादिति शेषः । निधानिनी पद्मादिनिधानवती । साम्नः सान्त्वस्य धाम गृहम् । धनिनां धामसाधिनी तेजःप्रसाधिका । मानिनी पूजावती । सगरिमा गौरववती । अपपापान्निष्कलुषान् पातीत्यपपापपा । सेति प्रसिद्धविभवा आपगा नदी । समः तत्तुल्यः क्षणविसर्पी भङ्गुरः समागमो यस्याः सा तथा । असमा अनुपमा ॥

मुरजाक्षरव्यञ्जनं यथा—

'खरगरकालितकण्ठं मथितगदं मकरकेतुमरणकरम् ।
तडिदिति रुरुमुण्डहरं हरमन्तरहं दधे घोरम् ॥ २६६ ॥'

मुरजाक्षर व्यंजन का उदहारण—

उग्रविष के कारण काले कर दिये गये कण्ठ वाले, दुःखभञ्जक, कामदेव का विनाश करने वाले, विद्युत् समझ कर रुरु के मुण्ड का हरण करने वाले, भयङ्कर स्वरूप वाले भगवान् शिव को मैं अपने हृदय में धारण करता हूँ ॥ २६६ ॥

स्व० भा०—मुरज नाम का, 'ढोल' अथवा ढोल की तरह का रस्सी से कसा जाने वाला एक वाद्य है । मुरजाक्षरव्यंजन का यह अर्थ नहीं कि इनका उपयोग ढोल में होता है, अथवा इनको लिखने से ढोल की आकृति बनती है, अपितु विद्वानों ने ल (ड), ह, त, थ, द, ध, छ, म, र, न, ण, क, ख, ग, घ, ङ, इन सोलह वर्णों को मुरजाक्षर व्यंजन संभवतः इसलिये कहा कि इन से इसी

प्रकार स्पष्ट ध्वनियाँ निकाली ना सकती हैं। विशेप के लिये द्रष्टव्य संस्कृत टीका की प्रथम दो पंक्तियाँ। यमक की भांति यहाँ भी 'लडयोरभेदः' स्वीकार किया गया है।

मुरजेति। 'पाठाक्षराणि मुरजे लहकारौ तथदधाञ्छमौ रेफः। नणकखगघङाश्चेत्थं षोडश भरतादिकथितानि ॥' तन्मात्रविरचितं मुरजाक्षरव्यञ्जनम्। सुबोधमुदाहरणम्॥

(२) स्थानचित्र

अभी तक वर्णचित्र के विभिन्न उदाहरण दिये गये। आगे स्थानचित्र का उदाहरण दिया जा रहा है। स्थानचित्र के अन्तर्गत ऐसे वर्णों का उपयोग किया जायेगा जिनका उच्चारण स्थान एक है। कहीं-कहीं ऐसे भी श्लोक हैं जिनमें केवल एक दो अथवा अधिक स्थानो से निर्गत वर्णों का ग्रहण किया गया है अथवा परित्याग या दोनों। वर्णचित्र तथा स्थानचित्र में अन्तर मात्रा के साथ गुण का भी है। प्रथम में केवल एक, दो, तीन अथवा चार या कुछ विशेष रूप से निष्पन्न वर्णों का ही प्रयोग हो सकता है, जब कि इसमें एक अथवा अनेक स्थानों से निर्गत बहुत से वर्ण प्रयुक्त हो सकते हैं क्योंकि एक स्थान से एक ही वर्ण नहीं निकलता।

चतुःस्थानचित्रेषु निष्कण्ठ्यं यथा—

'भूरिभूतिं पृथुप्रीतिमुरुमूर्तिं पुरुस्थितिम्।
विरिञ्चिं सूचिरुचिधीः शुचिभिर्नुतिभिर्धिनु ॥ २६७ ॥

चार स्थानों से निर्गत वर्णों के प्रयोग से बने ऐसे श्लोक का उदाहरण जिसमें कण्ठ्यवर्ण न हों—हे अपनी रुचि तथा बुद्धि की सूचना देने वाले, अत्यधिक वैभवशाली, उदार प्रेम वाले, विशालकाय, विस्तृत स्थिति वाले (अर्थात् व्यापक) ब्रह्मा को पवित्र स्तुतियों से प्रसन्न करो ॥ २६७ ॥

स्व० भा०—कण्ठ, दन्त, नासिका, ओष्ट, तालु, मूर्धा तथा जिह्वामूल ये उच्चारण के स्थान हैं। वर्णों के उच्चारण स्थान क्रमशः यों है—

"अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः, इचुयशानां तालु, उपूपध्मानीयानामोष्ठौ, लृतुलसानां दन्ताः, ऋटुरषाणां मूर्धा, ओदौतोः कण्ठोष्ठम्, एदैतोः कण्ठतालु, जिह्वामूलं जिह्वामूलीयस्य, ञमङणनानाम् नासिका च"। उपर्युक्त श्लोक में अकार, कवर्ग (क, ख, ग, घ, ङ), हकार का उपयोग नहीं हुआ है। केवल धीः में एक विसर्ग है जो स्वतन्त्र न होकर सम्बुद्धि के सकार का एक रूप है। इसमें ओष्ठ्य, मूर्धन्य, दन्त्य तथा तालव्य इन चार ही स्थानों से निर्गत वर्णों का ग्रहण है। कण्ठ्य वर्णों में से तो कोई है ही नहीं।

वर्णवत्स्थानेष्वपि चतुरादिनियमेन चित्रम्। यद्यपि च 'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा। जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च' इति, तथापि जिह्वामूलीयस्य स्वरत्वादुरस्यनासिक्ययोः काव्यप्रवेशाभावादुरोनासिकाजिह्वामूलपर्युदासेन स्थानपञ्चके चतुरादिनिरूपणम्। हे सूचिरुचिधीः शुचिभिः शुद्धाभिर्नुतिभिः स्तुतिभिर्यथोक्तविशेषणविरिञ्चिं ब्रह्माणं धिनु प्रीणयेति। अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः॥

निस्तालव्यं यथा—

'स्फुरत्कुण्डलरत्नौघमघवद्धनुकर्बुरः।
मेघनादोऽथ सङ्ग्रामे प्रावृट्कालवदाबभौ ॥ २६८ ॥'

तालव्य वर्णों से रहित, अन्य वर्णों से निष्पन्न श्लोक का उदाहरण—

चमक रहे कुण्डल के रत्नसमूह रूपी इन्द्रधनुष के सदृश बहुवर्ण मेघनाद कुण्डल की

माणियों की भांति चमक रहे इन्द्रधनुष् से रंगविरंगे वर्षाकाल की भांति रणभूमि में सुशोभित हो रहा था ॥ २६८ ॥

स्व० भा०—यहाँ पर तालव्य वर्ण का प्रयोग नहीं किया गया है। इस श्लोक में प्रयुक्त होने वाले वर्ण दन्त्य, ओष्ठ्य, मूर्धन्य, कण्ठ्य, अनुनासिक आदि है।

कुण्डलरत्नौघ एव मघवतो धनुस्तेन कर्बुरो मेघनादनामा राक्षसः। छचुयशास्तालव्याः ॥

निदन्त्यं यथा—

'पाप्मापहारी रणकर्मशौण्डश्चण्डीशमिश्रो मम चक्रपाणिः।
भूयाच्छ्रियापश्रमयेक्ष्यमाणो मोक्षाय मुख्यामरपूगपूज्यः ॥ २६६ ॥'

दन्त्यवर्ण रहित श्लोक का उदाहरण—

पाप का अपहरण करने वाले, युद्धकर्म में प्रवीण, शिव से विमिश्र, अश्रान्त लक्ष्मी के द्वारा देखे जा रहे, ब्रह्मा आदि इन मुख्यमुख्य देवताओं से पूज्य, भगवान् विष्णु मेरे लिये मोक्षप्रद हों ॥ २६९ ॥

स्व० भा०—इस श्लोक में, ल, ळ, तवर्ग, तथा सकार इन दन्त्य वर्णों को छोड़ कर ही, अन्य स्थानों से निर्गत वर्णों के उपयोग द्वारा काम चलाया गया है। प्रयुक्त होने वाले वर्ण ओष्ठ्य, कण्ठ्य, मूर्धन्य, तालव्य आदि हैं।

चण्डीशमिश्रः परमेश्वरेणैकशरीरतामापन्नः। मुख्यामरा ब्रह्मादयः। ऌतुलसा दन्त्याः ॥

निरोष्ठ्यं यथा—

'नयनानन्दजनने नक्षत्रगणशालिनि।
अघने गगने दृष्टिरङ्गने दीयतां सकृत् ॥ २७० ॥'

ओष्ठ्यवर्णों से रहित श्लोक का उदाहरण—

हे सुन्दरि, नेत्रों को आनन्द देने वाले, नक्षत्रों से भरे हुये, मेघरहित आकाश पर एक बार तो दृष्टि डालो ॥ २७० ॥

स्व० भा०—उ, पवर्ग और उपध्मानीय में से कोई वर्ण यहाँ नहीं गृहीत हुआ है। इस श्लोक में प्रयुक्त होने वाले वर्ण दन्त्य, तालव्य, मूर्धन्य, कण्ठ्य आदि हैं। दण्डी ने अपने 'दशकुमारचरितम्' का एक पूरा उच्छ्वास ही इस प्रकार का लिखा है जिसमें ओष्ठ्यवर्ण का पूर्ण अभाव है।

अघन इति। शरत्कालशोभया दृश्यतमे। उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः ॥

निर्मूर्धन्यं यथा—

'शलभा इव धावन्तः सायकास्तस्य भूभुजः।
निपेतुः सायकच्छिन्नास्तेन संयुगसीमनि ॥ २७१ ॥'

मूर्धन्य वर्जित वर्णों के उपयोग से निष्पन्न श्लोक का उदाहरण—

उस राजा के पतिंगों की भांति तीव्रगामी बाण कपिल के बाणों से छिन्न-भिन्न होकर युद्धक्षेत्र की सीमा पर जाकर गिरते थे ॥ २७१ ॥

स्व० भा०—इस श्लोक में ऋ, टवर्ग, रेफ तथा षकार का प्रयोग न होकर तालव्य, दन्त्य, ओष्ठ्य, कण्ठ्य, आदि वर्णों का ग्रहण हुआ है।

तेन कपिलेन राज्ञा। तस्य कोसलाधिपस्य प्रसेनजितः। ऋटुरषा मूर्धन्याः॥

त्रिस्थानचित्रेषु निरोष्ठ्यदन्त्यं यथा—

'जीयाज्जगज्ज्येष्ठगरिष्ठचारश्चक्राचिषा कृष्णकडारकायः।
हरिर्हिरण्याक्षशरीरहारी खगेशगः श्रीश्रयणीयशय्यः॥ २७२॥'

तीन स्थानों से निर्गत वर्णों से रचित चित्र काव्य का उदाहरण जिसमें दन्त्य तथा ओष्ठ्य वर्णों का ग्रहण नहीं हुआ है।

संसार में सबसे बड़े तथा उत्तम चाल वाले, चक्र की कांति से नीली तथा भूरी (पीत) देह वाले, हिरण्याक्ष के शरीर के अपहर्ता, गरुडवाहन, श्री-लक्ष्मी-से आश्रित सेज वाले भगवान् विष्णु की जय हो॥ २७२॥

स्व० भा०—इस श्लोक में ओष्ठ्य वर्ण, उ, पु, आदि तथा दन्त्य ल, तु, ल, आदि का अभाव है तथा तालव्य, कण्ठ्य और मूर्धन्य केवल तीन स्थान के वर्णों का ग्रहण है।

निरोष्ठ्यदन्त्यमिति। अनेनैव द्विकान्तरपरिहारेण लोष्ठप्रस्तावो गवेषणीयः। तथोत्तरत्रापि॥

निरोष्ठ्यमूर्धन्यं यथा—

'अलिनीलालकलतं कं न हन्ति घनस्तनि।
आननं नलिनच्छायनयनं शशिकान्ति ते॥ २७३॥'

ओष्ठ्य तथा मूर्धन्य वर्णों से रहित (त्रिस्थानचित्र) का उदाहरण—

हे सटे हुये उरोजों वाली, भ्रमर के सदृश काली लटों वाला, कमलतुल्य नेत्रों से युक्त तथा चन्द्रसम उज्ज्वल तुम्हारा मुख किसको कसक नहीं पैदा करता॥ २७३॥

स्व० भा०—प्रस्तुत श्लोक में ओष्ठ्य वर्ण उ, पवर्ग आदि तथा मूर्धन्य ऋ, टवर्ग, र आदि का सर्वथा अभाव है। इसमें कण्ठ, दन्त तथा तालु से निर्गत तीन प्रकार के ही वर्णों का ग्रहण है। अ, कवर्ग, ह, तथा विसर्ग कण्ठ्य, लृ, तवर्ग, ल तथा स दन्त्य और इ, चवर्ग, य तथा श तालव्य वर्ण हैं। उपर्युक्त श्लोक में इन्हीं तीनों स्थानों से उत्पन्न वर्ण प्रयुक्त हुये हैं। अतः यह त्रिस्थान-चित्र का उदाहरण हुआ। यह श्लोक काव्यादर्श (३।८९) में भी है।

द्विस्थानचित्रेषु दन्त्यकण्ठ्ययोर्यथा—

'अनङ्गलङ्घनालग्ननानातङ्का सदङ्गना।
सदानघ सदानन्द नताङ्गीसङ्गसंगत॥ २७४॥'

दो स्थानों से उच्चरित वर्णों के प्रयोग से सम्भव चित्र काव्यों में केवल दन्त्य तथा कण्ठ्य वर्णों के ही प्रयोग का उदाहरण—

(कोई दूती नायक से व्यंग्यभरे शब्दों में कहती है)—हे निष्पाप, हे (किसी न किसी प्रेमिका के मिल जाने से) सर्वदा आनन्द मनाने वाले, किसी न किसी सुन्दरी के संग में रहने वाले ('नताङ्गासङ्गसङ्गत' पाठ होने पर—हे नतशरीर अथवा अन्यों द्वारा प्रणम्य, तथा निर्लिप्तता के साथ रहने वाले), वह (बेचारी) सती सुन्दरी अथवा अच्छी सी आपकी प्रेयसी कामदेव के

लङ्घन के स्पर्श के कारण बहुविध कष्टों को भुगत रही है, इसलिये आपको उसकी ओर ध्यान देना चाहिये ॥ २७४ ॥

स्व० भा—इस श्लोक में अ, क, घ, ङ, आदि कण्ठ्य तथा न, ल, त, स, द, आदि दन्त्य वर्णों का ही उपयोग हुआ है। श्लोक से लक्षण मिलता है। (द्रष्टव्य काव्यादर्श ३।९०)

सदानघ अनवद्य सदैव प्रियालाभेनानन्दयुक्त। नताङ्ग्याः कस्याश्चिदन्यस्याः सङ्गे संगत, तव शोभनाङ्गना कामाक्रमणप्राप्तनानारूपतया वर्तते। अतस्तामनुकम्पस्वेति सोपालम्भप्रार्थनावाक्यार्थः ॥

एकस्थानचित्रेषु कण्ठ्यैर्यथा—

'अगा गां गाङ्गकाकाङ्गगाहकाघककाकहा।
अहाहाङ्कखगाङ्कागगकङ्कागखगाङ्कग ॥ २७५ ॥'

एकस्थानचित्रों में केवल कण्ठ्य वर्णों से बने श्लोक का उदाहरण—

हानि को न प्राप्त होने वाले अङ्गों से संयुक्त आकाशगामी गरुड अथवा सूर्य जिसके चिह्न हैं, मेरु पर्वत पर रहने वाले कङ्क नाम के वृक्षवासी पक्षी भी जिसके गमन की अभिलाषा करते हैं, गंगा की वक्रधारा में अवगाहन करके पापरूपी काक को नष्ट करने वाले वह आप स्वर्ग जायें ॥ २७५ ॥

स्व० भा०—इस श्लोक में अ, कवर्ग तथा ह वर्णों का ही प्रयोग किया गया है। ये वर्ग कण्ठ्य हैं। अतः एक स्थान से ही निर्गत वर्णों का प्रयोग करने से अर्थ अवश्य बहुत सुन्दर नहीं बन सका, किन्तु चमत्कार तो उत्पन्न ही हो गया है।

यह श्लोक काव्यादर्श में भी (३।९१) मिलता है। चौखम्बा से प्रकाशित इसकी प्रति में आचार्य रामचन्द्र मिश्र ने श्लोक को किञ्चित परिवर्तित रूप में उपस्थित किया है, और उसका अर्थ भी कुछ दूसरा ही दिया है। उनके अनुसार श्लोक, पाठ तथा अर्थ यों हैं—

"अगा गाङ्गाङ्गकाकाकगाहकाघककाकहा।
अहाहाङ्क खगाङ्कागकङ्कागखगकाकक ॥

"गङ्गा के जल के सशब्द तिर्यक् प्रवाह में स्नान करने वाले, संसार-तापकृत हाहा शब्द से अपरिचित, सुमेरुपर्वतपर्यन्त गमनसमर्थ, कुटिल इन्द्रियों के वश में नहीं रहने वाले, आप पाप-रूप काकों के परिहर्त्ता बन कर इस धराधाम में आये।"काव्याद०, पृ० २६०-१।

मैंने अर्थ टीकाकार रत्नेश्वर के 'रत्नदर्पण' के आधार पर दिया है, जिससे पाठकों को असंगति न हो। संस्कृतभाषा में विद्यमान् अनेक अर्थप्रकटन की क्षमता ही अर्थान्तर का कारण है। समास, सन्धि, वर्ण परिवर्तन आदि के कारण वाक्यार्थ में भिन्नता विशेष रूप से आ जाती है।

गाङ्गकं गङ्गासंबन्धि जलं तस्याकः कुटिला गतिः। 'अक अग कुटिलायां गतौ' इति। तस्याङ्कस्य तन्मध्यस्य गाहको विलोलकः। कुत्सितमघं पापमघकं स एव काकस्तं हतवानघककाकहा। अन्ये तु विसर्गान्तं पठन्ति। तदा जहातेर्विधिरूपम्। एवंविधस्त्वं गां स्वर्गं अगाः याया इति आशंसायां भूतप्रत्ययः। कीदृशः सन्। हानं हाः न हा अहास्ताञ्जिहीते प्राप्नोतीति अहाहं तादृशमङ्गं यस्य स खगो गरुडः सूर्यो वा सोऽङ्कश्चिह्नभूतो यस्य तादृशोऽर्थान्मेरुस्तद्वर्तिनः कङ्काख्या अगखगा वृक्ष-

दिवासिनः पत्त्रिणस्तेऽपि आकाकक्का गमनस्पृहयालवो यस्य स तथा। आस्तां तावदन्ये, पतत्त्रिभिरप्यभिनन्दितगमन इत्यर्थः॥

(३) स्वरचित्र

जिस प्रकार वर्णविशेष तथा स्थानविशेष के कारण श्लोक में चमत्कार पैदा होता है उसी प्रकार स्वरों को एक विशेष नियम के अनुसार रखने से भी। केवल एक ही अथवा अनेक ह्रस्व या दीर्घ स्वर आकर श्लोक को विचित्र बना देते हैं। अधिक स्वरों के आने से विचित्रता कम प्रतीत होती है, अथवा ज्ञात ही नहीं होती है। अतः अधिक से अधिक चार स्वरों का होना सुन्दर लगता है। दण्डी के अनुसार चार स्वर, स्थान अथवा वर्णों तक की चित्रता अच्छी लगती है।

स्वरचित्रेषु ह्रस्वैकस्वरं यथा—

'उरुगुं द्युगुरुं युत्सु चुक्रुशुस्तुष्टुवुः पुरु।
लुलुभुः पुपुषुर्मुत्सु मुमुहुर्नु मुहुर्मुहुः॥ २७६॥'

यः स्वरस्थानवर्णानां नियमो दुष्करेष्वसौ।
इष्टश्चतुष्प्रभृत्येष दर्श्यते सुकरः परः॥ काव्याद० ३।८३॥

स्वर चित्रों में ह्रस्वैकस्वर का उदाहरण—

देवगण विशद वाणी वाले स्वर्गाचार्य बृहस्पति को जोर-जोर से युद्ध के लिये पुकारने लगे, उनकी अनेक प्रकार से स्तुति करने लगे, क्योंकि प्रमोद की घड़ियों में वे प्रसन्न रहते थे, पुष्ट रहते थे, और क्या बार-बार मूर्च्छित होते थे॥ २७६॥

स्व० भा०—इस श्लोक में एक भी व्यंजन नहीं है जिसमें ह्रस्व उकार की मात्रा न हो। सर्वत्र एक ही ह्रस्व स्वर होने से यह ह्रस्वैकस्वर चित्र का उत्कृष्ट निदर्शन है। दण्डी ने एकस्वर चित्र के उदाहरण के रूप में केवल दीर्घैकस्वर को उद्धृत किया है। उसमें केवल दीर्घ आकार है।

सामायामा माया मासा मारानायायाना रामा।
यानावारारावानाया मायारामा मारायामा॥ काव्याद० ३।८७॥

स्वरचित्रेष्वेकादिक्रमेणोपन्यासो ग्रन्थवैचित्र्यार्थः। उरुगुं विस्तीर्णवाचम्। द्युगुरुं स्वर्वासिनामाचार्यम्। युत्सु युद्धार्थम्। 'निमित्तात्कर्मयोगे'(वा०) इति सप्तमी। गीर्वाणभटाश्चुक्रुशुरार्ताः शरणं ययाचिरे। अत एव पुरु बहुधा तुष्टुवुः। युद्धप्रयोजनमाह—मुत्सु हर्षेषु लुलुभुः। पुपुषुः पुष्टा बभूवुः। नु वितर्के। मुहुर्मुहुर्वारंवारं किं मुमुहुर्मोहमासादितवन्तः। यतः क्रोशनादीनामव्यवस्थेति भावः॥

दीर्घैकस्वरं यथा—

'वैधैरैनैरैशैरैन्द्रैरैजैरैलैजैनैः सैद्धैः।
मैत्रैर्नैकैर्धैर्यैर्वैरैर्दैः स्वैः स्वैरैर्दैःस्तैस्तैः॥ २७७॥'

केवल एक ही दीर्घ स्वर वाले स्वरचित्र का उदाहरण—

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, कामदेव, पृथ्वी, बुद्ध अथवा महावीर, सिद्धगण, सूर्य, कुबेर तथा अन्य शेष देवों के धैर्य और अनेक प्रकार के विख्यात सम्पत्तियों से मैं भलीभांति पूर्णतः समृद्ध हो जाऊँ॥ २७७॥

स्व० भा०—देखने में यह श्लोक बहुत दुर्बोध तथा अजीब सा लगता है, किन्तु वस्तुतः अर्थ सरल है। यहाँ दीर्घ स्वर ऐकार की ही योजना प्रत्येक व्यंजन के साथ है। इसकी चित्रता हृदय में अवश्य ही रचनाकार की क्षमता का परिचय कराती है॥

विधिर्विरिञ्चिः, ई लक्ष्मीस्तस्या इनः प्रभुर्विष्णुः, ईशो महादेवः, इन्द्रो वासवः, ईजः कामो लक्ष्मीपुत्रत्वात्, इला पृथ्वी, जिनो बुद्धः, सिद्धा देवविशेषाः, मित्रः सूर्यः, रैदो धनदः कुबेरः, देवा उक्तव्यतिरिक्ता मरुदादयः, एषां संबन्धिभिर्धैर्यैर्धृतिभिः स्वैर्वित्तैश्च नैकैरनेकविधैस्तैस्तैः प्रसिद्धरूपैरहं स्वैरैः सुष्ठु आसमन्तात्समृद्धो भवानीत्याशंसा। वै वाक्यालंकारे॥

ह्रस्वद्विस्वरं यथा—

'क्षितिस्थितिमितिक्षिप्तिविधिविन्निधिसिद्धिलिट्।
मम त्र्यक्ष नमद्दक्ष हर स्मरहर स्मर॥ २७८॥'

दो ह्रस्व स्वरों के प्रयोग से उत्पन्न चित्रात्मकता का उदाहरण—

पृथ्वी के अस्तित्व, परिमाण तथा विक्षेप के नियमों को जानने वाले, अष्टसिद्धियों तथा नवनिधियों को चाट जाने वाले, दक्ष को झुका देने वाले, कामदहन, हे त्रिनयन शङ्कर मेरी भी खबर लो॥ २७८॥

स्व० भा०—इस श्लोक के पूर्वार्ध में प्रत्येक वर्ण के साथ ह्रस्व इकार है तथा उत्तरार्ध में ह्रस्व अकार। केवल इन्हीं दो ह्रस्व स्वरों का प्रयोग होने से उदाहरण लक्षण के अनुरूप ही है।

क्षितिः पृथ्वी तस्याः स्थितिः पालनं मितिर्मानं क्षिप्तिः संहारस्तद्विधिं वेत्ति। निधिसिद्धी लेढीति क्विप्। नमन् भग्नतेजा दक्षो यस्मात्। स्मरहर कामदहन, त्र्यक्ष त्रिनयन, हर महादेव, मम स्मर। अधीगर्थयोगे कर्मणि षष्ठी॥

दीर्घद्विस्वरं यथा—

'श्रीदीप्ती ह्रीकीर्ती धीनीती गीःप्रीती।
एधेते द्वे द्वे ते ये नेमे देवेशे॥ २७९॥'

दीर्घ दो स्वरों का प्रयोग करने पर संभव चित्र का उदाहरण—

श्री और तेज, लज्जा तथा यश, बुद्धि और विवेक, वाणी तथा सन्तोष ये दोनों एक साथ ही (हे महाराज) आप में बढ़ रहे हैं, जब कि ये विख्यात वस्तुयें देवराज इन्द्र में भी नहीं है॥ २७९॥

स्व० भा०—इस श्लोक के पूर्वार्ध में दीर्घ ईकार का तथा उत्तरार्ध में एकार का प्रयोग हुआ है, अतः दर्शनीय है। (द्रष्टव्य काव्यादर्श ३।८८)

श्रीदीप्ती लक्ष्मीतेजसी। ह्रीकीर्ती लज्जायशसी। धीनीती बुद्धिनयौ। गीःप्रीती वाक्प्रमोदौ। इमे ये देवेशेऽपि न स्तस्ते द्वे तव एधेते वर्धेते॥

त्रिस्वरेषु ह्रस्वत्रिस्वरं यथा—

'क्षितिविजितिस्थितिविहितिव्रतरतयः परगतयः।
उरु रुरुधुर्गुरु दुधुवुः स्वमरिकुलं युधि कुरवः॥ २८०॥'

त्रिस्वरचित्रों में ह्रस्वत्रिस्वर का उदाहरण—

पृथ्वी के जय, तथा स्थिति के हेतु अपेक्षित नियमों में रत, श्रेष्ठ बुद्धि वाले, कुरुवंशी पाण्डवों ने अपने शत्रुओं के विशाल कुल को घेर लिया और उसे कस कर झकझोर दिया ॥ २८० ॥

स्व० भा०—काव्यादर्श में स्वर-चित्र के विवेचन के प्रसङ्ग में यहीं श्लोक चतुर्थ चरण में वर्णक्रम में किञ्चित परिवर्तन के साथ उद्धृत है। वहाँ चतुर्थपाद 'युधि कुरवः स्वमरिकुलम्' है। (द्रष्टव्य काव्यादर्श ३।८५)। यहाँ तीन ह्रस्व स्वर इ, अ, उ, ही उपात्त हैं।

क्षितेर्विजितिः विजयः, स्थितेर्वर्णाश्रममर्यादालक्षणाया विहितिर्विधानं तदेव व्रतं तत्र रतिर्येषाम्। परा श्रेष्ठा गतिर्ज्ञानं येषां ते तथा। एवंविधाः कुरवः स्वद्विषां कुलमुरु विस्तीर्णं रुरुधुः। तदेव गुरु महत् दुधुवुः कम्पयामासुः ॥

चतुःस्वरेषु दीर्घस्वरं यथा—

'आम्नायानामाहान्त्या वाग्गीतीरीतोः प्रीतीभीतीः।
भोगो रोगो मोहो मोदो ध्येये वेच्छेत्क्षेमे देशे ॥ २८१ ॥'

चार स्वरों के चित्र में दीर्घ स्वर का उदाहरण—

वेदों के अन्तिम वाणी रूप उपनिषदों ने गायन को ईति तथा प्रेमादि सम्बन्धों को भीति, इसी प्रकार विषयोपभोग को रोग और खुशियों को मोह कहा है। (अतः) किसी शुभस्थान पर ईश्वर का ध्यान करना चाहिये ॥ २८१ ॥

स्व० भा०—इस श्लोक के प्रथम पाद में दीर्घ आकार, द्वितीय में दीर्घ ईकार, तृतीय में ओकार तथा चतुर्थ में एकार का ही सन्निवेश होने से यह दीर्घ चतुःस्वर का उदाहरण है। काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद में (८४) भी यही श्लोक आया है।

आम्नायानां वेदानामन्त्या वागुपनिषत् सा हिताहितप्रतिपादनपरा किमाह। या गीतयस्ता ईतय उपसर्गाः। याः प्रीतयस्ता भीतयो भयानि। यो भोगः स रोगः। यो मोदो हर्षः स मोहः। न परमेवमाह। किंतु यावद्ध्येये ध्यातव्ये क्षेमे क्लेशरहिते देशे विषये मोक्षलक्षणे इच्छेदिच्छां कुर्यादिति। वाशब्दः समुच्चये। अन्ये चकारमेव पठन्ति।

प्रतिव्यञ्जनविन्यस्तस्वरं यथा—

'तापेनोग्रोऽस्तु देहे नो हेये विल्लोभिनिन्दिना।
जायाग्रे हि गुणिप्रेष्ठे हितोऽक्षेपोऽमृतोक्षिणि ॥ २८२ ॥'

प्रति व्यंजन विन्यस्त स्वर का उदाहरण—

त्याज्य पदार्थों के लाभ के लोभी के निन्दक, तेज से संयुक्त, उग्ररश्मि हमारे शरीर में आये, अर्थात् हममें तेज का आविर्भाव हो। सुधास्यन्दी प्रियतमा के समक्ष गुणियों के प्रिय के लिये विलम्ब न करना ही श्रेयस्कर है ॥ २८२ ॥

स्व० भा०—यहाँ प्रत्येक व्यंजन के साथ कोई न कोई स्वर विन्यस्त है। कहीं-कहीं ऐसा नहीं होता। 'ग्र' 'ल्लो' 'प्रे' आदि इसकी कादाचित्कता को द्योतित करते हैं।

हेये हातव्ये वस्तुनि यो विल्लाभः। 'विद्लृ लाभे' इति धात्वनुसारात्। तत्र ये लोभिनो लोभवन्तस्तन्निन्दनशीलेन तापेन तेजसार्थादुग्रश्चण्डरश्मिः स नः मम देहेऽस्तु। तेजस्वी भवानीति यावत्। किमित्येवमाशास्यत इत्यत आह—अमृतस्यन्दिनि कान्ताग्रे गुणिनां प्रियतमेऽक्षेपोऽविलम्ब एव हितोऽर्थतः समरस्य। 'इति दत्त्वाशिषं कोऽपि स्वस्मै कार्मुककर्मणे। जगाम समरं कर्तुमरिलक्ष्मीस्वयंवरम् ॥'

तदेवापास्तसमस्तस्वरं यथा—

'तपन ग्रस्तदहन हयवल्लभनन्दन ।
जयग्रह गणप्रग्र हृतक्षप मतक्षण ॥ २८३ ॥'

स्वर चित्रों में ही अपास्तसमस्तस्वर का उदाहरण—

हे सूर्य, हे अग्नि को भी अभिभूत कर देने वाले, हे हयवल्लभ के पिता, हे जय का ग्रहण करने वाले, हे भटोत्तम, हे रात्रि को दूर करने वाले, हे उत्सवप्रिय (आपको नमस्कार है।)॥ २८३ ॥

स्व० भा०—ऊपर ऐसा कहा गया है कि यह श्लोक सभी स्वरों से रहित होगा। इससे सभी स्वर अपास्त कर दिये जायेंगे, किन्तु प्रायः सर्वत्र प्रत्येक व्यंजन के साथ ह्रस्व अकार है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या अकार स्वर नहीं है ? वस्तुत अकार स्वर है तो किन्तु यह है मूल स्वर। किसी भी स्वर के अभाव में व्यञ्जनों का उच्चारण ही असंभव है। अतः स्वर का पूर्ण अभाव होने पर पद तो बन ही नहीं सकता, वाक्य तथा श्लोक की तो बात ही दूर रही। अन्य स्वरभेदों के न रहने पर केवल मूल-स्वर का योग करके उच्चारण की सुविधा कर ली गई है। इस प्रकार यहाँ स्वर-हीनता का अर्थ अकार को छोड़कर शेष वर्णों की हीनता है। पूर्ववर्ती श्लोक में भी प्रत्येक व्यंजन के साथ स्वरविन्यास अपेक्षित होने पर भी कुछ व्यञ्जनों के साथ यह नियम लागू नहीं होता, उन्हे भी अपवाद समझ लेना चाहिये।

ग्रस्तदहन अभिभूतपावक। हयवल्लभो रेवन्तः स तनतो यस्य। हस्तक्षप अपहृत-रात्र। मतक्षण संमतोत्सव ॥

(४) आकारचित्र

आकारचित्रेष्वष्टदलं यथा—

'याश्रिता पावनतया यातनच्छिदनीचया ।
याचनीया धिया मायायामायासं स्तुता श्रिया ॥ २८४ ॥'

अत्र—

कर्णिकायां न्यसेदेकं द्वे द्वे दिक्षु विदिक्षु च ।
प्रवेशनिर्गमौ दिक्षु कुर्यादष्टदलाम्बुजे ॥ २८५ ॥

आकारचित्रों में अष्टदल-कमल बन्ध का उदाहरण—

(श्लोक का अर्थ प्रथम परिच्छेद के श्लोक १७० में दिया जा चुका है।)॥ २८४ ॥

यहाँ पर अष्टदल कमल में कर्णिका में एक वर्ण रखना चाहिये तथा दो-दो वर्ण प्रत्येक दिशा तथा दिगन्तर में। प्रवेश तथा निर्गम चारो दिशाओं में करना चाहिये ॥ २८५ ॥

स्व० भा०—सभी आकार चित्रों में कमल-बन्ध, उसमें भी अष्टदल सबसे प्रख्यात है। भोज ने सर्वप्रथम आकार का नाम दिया है, उसके पश्चात् उदाहरण, तथा अन्त में आकार में वर्णों के विन्यास की विधि भी स्पष्ट कर दी है। यहीं पर उन्होंने विन्यास-क्रम के विषय में बतलाया है कि अष्टदल युक्त कमल के मध्य में एक गोलक होता है जिसे कर्णिका कहते हैं। उसी कर्णिका से चार प्रमुख तथा चार उप दिशाओं में पंखुड़ियाँ फैली होती हैं। ऐसी दशा में कर्णिका में एक वर्ण रखना चाहिये। यह वर्ण श्लोक का प्रथम अक्षर ही प्रायः होता है। इसके बाद प्रत्येक दल में दो-दो वर्ण दिये जाने चाहिये। ये वर्ण भी एक क्रम से ही होते हैं। श्लोक का प्रारम्भ कर्णिका में विद्यमान वर्ण से ऊपर-ऊपर की ओर किया जाता है तथा आगे की प्रमुख दिशा—पूर्व-से होते

हुये पुनः प्रवेश किया जाता है। इस प्रवेश के साथ ही अग्रिम श्लोक-पूर्ति के लिये उसी मार्ग अर्थात् पूर्व से ही निकला भी जाता है। पुनः उपदिशा से होते हुये मुख्य दिशा दक्षिण से प्रवेश और निर्गम क्रमशः होता है। अन्त में जाकर फिर से जहाँ से प्रारम्भ किया था—निकले थे—वहीं पहुँच जाते हैं।

इस प्रकार प्रवेश तथा निर्गम दोनों ही कार्य प्रत्येक मुख्य दिशा से ही होता है। उपदिशाओं अथवा दिगन्तरों से नहीं—ईशान, अग्नि, वायव्य आदि से नहीं।

यह बात निम्नलिखित चित्र से स्पष्ट हो जाता है।
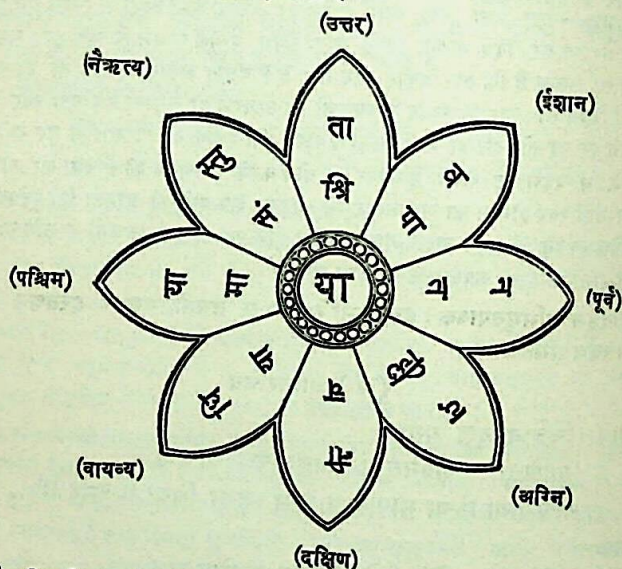
उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट देखा जा सकता है कि मुख्य दिशाओं से आगम तथा निर्गमन दोनों हुआ है तथा ये दोनों कार्य केवल इन्हीं दिशाओं के दलों से हुये है, विदिशाओं के दलों से नहीं।

या श्रितेत्यादिकमुदाहरणं प्रागेव (प० १ श्लो० १७०) व्याख्यातम्। अतः परं हारिहरिव्याख्या। साप्यत्रैव लिख्यते। तद्यथा—या देवी पवित्रत्वेनाश्रिता अनीचया तुङ्गया बुद्ध्या मायायामस्याविद्याविस्तारस्यायासं ग्लानिं विच्छेदं याचनीया प्रार्थनीया यतो यातनं नरकानुभवनीयं दुःखं छिनत्ति श्रियापि स्तुतेति॥ अस्य न्यासमाह—कर्णिकायामिति। आद्यो यावर्णः कर्णिकायां श्रितेति पावेति क्रमेण द्विकं द्विकमष्टपत्रेषु। याश्रिता श्रियेत्यादौ दिग्दलेषु प्रवेशनिर्गमौ॥

द्वितीयमष्टदलं यथा—

> 'चरस्फारवरक्षार वरकार गरव्वर।
> चलस्फाल वलक्षालवल कालगल व्वल॥ २८६॥'
> अष्टधा कर्णिकावर्णः पत्रेष्वष्टौ तथापरे।
> तेषां संधिषु चाप्यष्टावष्टपत्रसरोरुहे॥ २८७॥

दूसरे प्रकार के अष्टदल पद्म-चित्र का उदाहरण—

सञ्चरणशील, महान् वर देने वाले, श्रेष्ठ पदार्थों का वितरण करने वाले, कालकूट विष के भी ज्वर-स्वरूप, चञ्चल त्रिशूलधारी, श्वेत तथा व्याप्तबल वाले, नीलकण्ठ (हे शंकर) तुम धधक उठो ॥ २८६ ॥

कर्णिका में विद्यमान वर्ण आठ प्रकार का (आठ बार प्रयुक्त) होगा, तथा आठ वर्ण पत्तों पर होंगे। इस अष्टपत्र कमल में दूसरे (अर्थात् उत्तरार्ध के) आठों वर्ण उन दलों की सन्धियों में रखे जायेंगे ॥ २८७ ॥

स्व० भा०—इस श्लोक के पूर्वार्ध में केवल रेफ तथा लकार वर्ण क्रमशः भिन्न रूप में आये हैं, अन्यथा पूर्ववर्ती व्यंजन ही क्रमशः नीचे भी आये हैं। पहले के रेफ के स्थान पर बाद में लकार कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध समान हैं। इस कमलबन्ध में वर्ण विन्यास का क्रम कुछ भिन्न है। अन्यत्र श्लोक का प्रथम वर्ण कर्णिका में रखा जाता था, यहाँ द्वितीय वर्ण बीच में है। इस चित्र में एक सौन्दर्य और भी है। पूर्वार्ध में तो रेफ केवल कर्णिका में रह कर स्वयं आठ प्रकार का कार्य कर रहा है, जब कि उत्तरार्ध में लकार ही संधिस्थलों पर आठ बार आया है। पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध में रेफ तथा लकार के अतिरिक्त प्रयुक्त वर्ण समान हैं और वे दलों के भीतर ही हैं। इस चित्र में उत्तर से प्रारम्भ किया जाता है तथा दल में विद्यमान प्रत्येक वर्ण के बाद कर्णिका का वर्ण जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार पूर्वार्ध बन जाता है। उत्तरार्ध की निष्पत्ति के लिये कर्णिका के वर्ण की सहायता अपेक्षित नहीं है। इसके लिये उत्तर दिशा के दल का सम्बन्ध अगली संधि में विद्यमान वर्ण से कर दिया जाता है। यही क्रम आगे भी रहता है। प्रथम वर्ण दल का दूसरा संधिका, तीसरा दल का तथा चौथा संधिका होता है, आदि। अन्ततः दोनों को मिला कर श्लोक पूर्ण हो जाता है। आगे दिये जा रहे चित्र में यही दिशा अपेक्षित है।
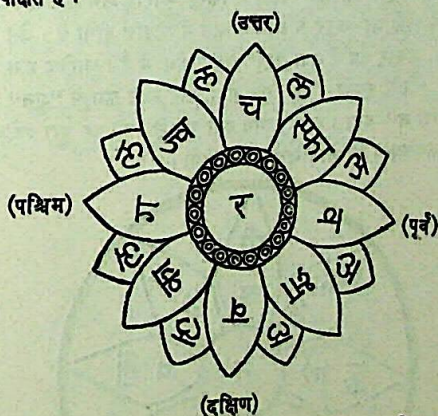
चरस्फारेत्यादि। संचरणशीलः स्फारी यो वरस्तं चरति ददाति इति। वराञ्छ्रेष्ठान् किरति क्षिपति कृणोति हिनस्ति वेति कर्मण्यण्। गरः कालकूटस्तस्य ज्वरो ज्वरणात्। ताण्डवारम्भे चलाः स्फाला यस्य। वलच धवलदेह, अलवल प्राप्तशक्ते, कालगल नीलकण्ठ, ज्वल दीप्यमानो भव॥ न्यासमाह—अष्टधेति। अथ प्रथमार्धे एक एव रेफोऽष्टधा कर्णिकायाम्। अपरार्धस्यान्येऽष्टौ लकारवर्जं दलेषु तेषां संधिष्वन्येऽष्टौ लकाराः॥

तृतीयमष्टपत्रं यथा—

'न शशीशनवे भावे नमत्काम नतव्रत ।
नमामि मानममत्तं ननु त्वानुनयन्नयम् ।। २८८ ।।'

अत्र —

प्राक्कर्णिकां पुनः पर्णं पर्णाग्रं पर्णकर्णिके ।
प्रतिपर्णं व्रजेद्धीमानिह त्वष्टदलाम्बुजे ।। २८९ ।।

एवं चतुष्पत्र-षोडशपत्रे अपि द्रष्टव्ये ।।

तीसरे प्रकार के अष्टदल कमल का उदाहरण—

चन्द्रमा के नवीन भाव से (भक्ति पूर्वक) स्थित होने पर (क्या) मैं तुमको नमन नहीं करता, अर्थात् करता ही हूँ। हे काम को ध्वस्त करने वाले, प्रणतो के व्रत के पूरक, शत्रुओं के मान को नष्ट करने वाले यह मैं आपकी विनती कर रहा हूँ ।। २८८ ।।

इसमें-बुद्धिमान पाठक को चाहिये कि वह इस प्रकार के अष्टदल कमलबन्ध में सबसे पहले कर्णिका में चले, उसके बाद पत्ते पर, और पत्ते से पत्ते के अग्रभाग पर बढ़े। उसके बाद पुनः पत्ते से (न कि पत्ते के अग्रभाग से) कर्णिका की ओर चले। प्रत्येक दल में यही क्रम अपेक्षित है ।। २८९ ।।

इसी प्रकार से चतुष्पत्र कमल तथा षोडशदल कमल को भी देखना चाहिये ।

स्व० भा०—यह बन्ध कुछ स्पष्ट है। इसमें पढ़ने का प्रारम्भ कर्णिका से ही होता है, और यह कर्णिका का वर्ण श्लोक का प्रथम वर्ण भी होता है। प्रत्येक दल में दो-दो वर्ण होते हैं, जिनमें कर्णिका के निकट वाला 'पत्र' का वर्ण तथा अन्तिम छोर पर रहने वाला वर्ण 'पर्णाग्र' का वर्ण कहा जाता है। यहाँ कर्णिका से प्रारम्भ करके उत्तर की ओर चलते हैं। पर्णाग्र के वर्ण पर पहुँच कर उसकी बिना पुनरावृत्ति किये हुये पत्र के वर्ण से होते हुये कर्णिका तक लौट आते हैं। अर्थात् आरोह क्रम में तो तीनो वर्णों का ग्रहण होता है किन्तु अवरोह क्रम में पर्णाग्र वर्ण को छोड़ कर पर्ण तथा कर्णिका के वर्णों की ऊपर से नीचे के क्रम में आवृत्ति होती है। जैसे कि अग्रिम चित्र में नकार कर्णिका में, शकार पत्र में तथा "शी" यह पर्णाग्र में है। आरोह क्रम में सब मिल कर "न शशी" बना। लौटते समय "शी" छूट गया और उलटे क्रम से "शन" का ग्रहण हुआ। इस प्रकार "न शशीश न" बना। इसके आगे इसी क्रम से पढ़ने पर पूरा श्लोक बन जाता है। यह तृतीय अष्टदल कमलबन्ध निम्नलिखित रूप में होगा।
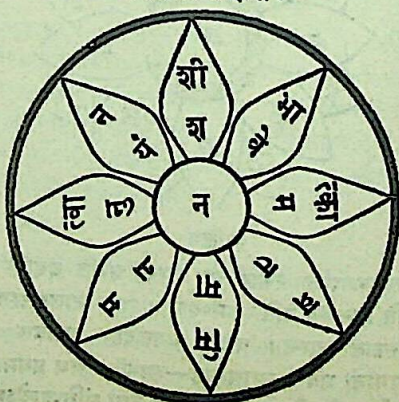
न शशीशेत्यादि । शशीशे चन्द्रे नवे भावे भक्तौ । स्थित इति शेषः । त्वामहं न नमामि । काक्वा नमाम्येव । नमन् भग्नः कामो यस्मात् । नतमुपनतं व्रतं यस्य संयमिधौरेयत्वात् । माननमनं शत्रूणामुन्नतिनाशनम् । नन्विति पूजासंबोधने । त्वा इति त्वाम् । अनुनयन् विनयं कुर्वाणोऽयम् ॥ न्यासमाह—प्राक्कर्णिकामिति । पूर्वं कर्णिकायामाद्यो नकारो ग्राह्यः, ततः शेति पर्णमध्ये, शीति पर्णाग्रे, परावृत्य पर्णकर्णिकयोः शकारनकारौ, पुनः कर्णिकातो दलाग्रगमागमेऽपि । अयमेव क्रमश्चतुर्दलपद्मे ॥

तयोश्चतुष्पत्रं यथा—

सासवा त्वा सुमनसा सा नता पीवरोरसा ।
सारधामैति सहसा साहसर्धं सुवाससा ॥ २९० ॥'

कर्णिकातो नयेदूर्ध्वं पत्राकाराक्षरावलीम् ।
प्रवेशयेत्कर्णिकायां पद्ममेतच्चतुर्दलम् ॥ २९१ ॥

उन पूर्वनिरूपित चतुष्पत्र तथा षोडशपत्र में प्रथम का—चतुष्पत्र का—उदाहरण—

हे साहसी रमण, वह-आपकी प्रेयसी-मदिरा पान करके, प्रसन्नचित्त हो कर, पृथुल उरोजों के कारण झुकी हुई, उत्कृष्ट कान्ति वाली, हसती हुई एकाएक पौषरात्रि के अनुकूल सुन्दर वस्त्र पहने हुई सुन्दरी आपके पास आ रही है ॥ २९० ॥

कर्णिका से ऊपर की ओर वर्णों को दल के आकार में ले जाना चाहिये और पुनः कर्णिका में प्रवेश करा देना चाहिये, यह चतुर्दल पद्मबन्ध है ॥ २९१ ॥

स्व० भा०—यह चतुर्दल पद्म का उदाहरण है । इसमें आदि वर्ण कर्णिका में विन्यस्त कर दिया जाता है, तथा प्रायः आरोह-क्रम से दल के आकार में बाहर चारों ओर श्लोक के एक-एक पाद एक-एक दल पर वर्ण-वर्ण करके अङ्कित किये जाते हैं । कर्णिका से ऊपर की ओर चल कर दल समाप्ति के साथ कर्णिका में प्रवेश किया जाता है । पुनः कर्णिका से ही दूसरे दल के प्रारम्भ से आरोह अर्थात् निर्गम होता है और समाप्ति पर पुनः कर्णिका में प्रवेश होता है । यही क्रम आगे के दो पत्रों में भी चलता है । इसमें प्रत्येक दल का आकार सुविधानुसार बढ़ाया जाता है, वैसे तो ढूंढने पर भी इस आकार का कमल शायद ही मिले । जैसे—
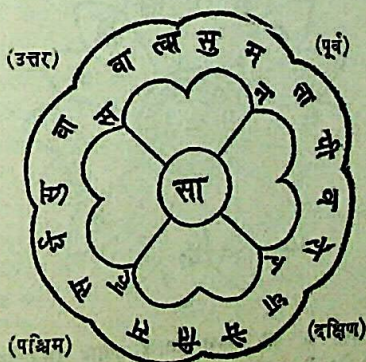
भीतर चार पंखुड़ियों को बाहर से घेरती हुई आठ पंखुड़ियों सी आकृति वर्णविन्यास क्रम को प्रकट करने के लिये है। वह अष्टदल का परिचायक नहीं है।

सासवेत्यादि। सासवा आस्वादितमदिरा। पीवरेण स्तनाढ्येनोरसा नता सारधामा उत्कृष्टकान्तिः सहसा सहास्या अकस्माद्वा शृङ्गारोद्दीपनस्वभावेन मार्गशीर्षेण हेतुना शोभनेन वाससा च लक्षिता हे साहसर्ध सर्वनिशीथाभिसरण-साहसरसिक, त्वामेति उपगच्छतीति ॥ न्यासमाह—कर्णिकेति। सुबोधमेतदिति ॥

षोडशपत्रं यथा—

'नमस्ते महिमप्रेम नमस्यामतिमद्दम।
क्षामसोम नमत्काम धामभीम समक्षम ॥ २९२ ॥'
गोमूत्रिकाक्रमेण स्युर्वर्णाः सर्वे समाः समाः।
मध्ये मवर्णविन्यासात्पद्मोऽयं षोडशच्छदः ॥ २९३ ॥

षोडशदलपद्म का उदाहरण—

महत्त्व से प्रेम रखने वाले, प्रणम्य, अविवेकियों का दमन करने वाले, क्षीणचन्द्रधर, कामनाशक, तेज से भयङ्कर तथा सब पर समान रूप से क्षमाभाव रखने वाले हे शिव, तुम्हे नमस्कार। जिस प्रकार गोमूत्रिका बन्ध में वर्णों का क्रम होता है, उसी प्रकार सभी वर्ण मकार के साथ संयुक्त किये जायें तथा बीच में-कर्णिका में-मकार को रखा जाये तो यह सोलह दलों वाला पद्मबन्ध बनता है ॥ २९२-२९३ ॥

स्व० भा०—यह षोडशदल कमल बन्ध का उदाहरण है। इसमें प्रथम वर्ण ऊर्ध्व दल में रखा जाता है। द्वितीय वर्ण कर्णिका में रहता है। वस्तुतः इसमें प्रत्येक दल के वर्ण के बाद कर्णिका का वर्ण जुड़ता है। प्रति दल के बाद में कर्णिका का वर्ण रखने से वह प्रत्येक वर्ण के पूर्व तथा पर में आवृत्त हुआ करता है। इसका स्पष्ट रूप निम्नलिखित चित्र में है।
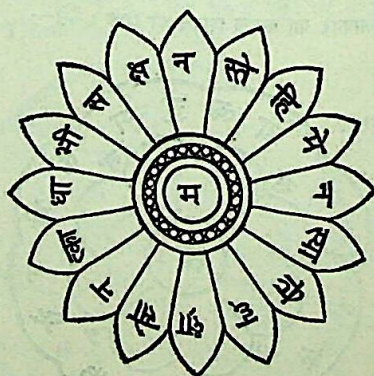
वस्तुतः गोमूत्रिका बन्ध का क्रम भिन्न होता है, तथापि उसके जैसा ही लगभग वर्णों का क्रम ऊपर नीचे यहाँ भी होता है, इसीलिए गोमूत्रिका-क्रम कहा गया है।

षोडशपत्रमाह—नमस्त इत्यादि। महिमनि प्रेमा यस्य तत्। नमस्य अमतिमतो दाम्यतीति अमतिमदम। चामः कलामात्रेण चूडासंगतः सोमो यस्य। नमन् भग्नः कामो यस्मात्। धाम्ना तेजसा भीम भयानक। समा सकलव्युत्थानहेतुसाधारणी चमा यस्य। यस्यैतानि संबोधनविशेषणानि ते तुभ्यं नमस्कुरुते कश्चिदिति॥ न्यासमाह—गोमूत्रिकेति। वर्णा मकारव्यतिरिक्ताः समाः मकारसहिताः। समाः समा इति वीप्सा प्रतिवर्णं मकार-साहित्यबोधनार्था॥

अष्टपत्त्रमेव कविनामाङ्कं यथा—

'राताव्द्याधिराव्या विसररसविदुव्याजवाक्न्मापकारा
राका पद्माभशेषा नयननिनयनस्वा [सा] स्वया स्तव्यमारा।
रामा व्यस्तस्थिरत्वा तुहिननहितुः श्रीः करक्षारधारा
राधा रक्षास्तु मह्यं शिवममवशिव्यालविद्यावतारा॥ २९४॥'

निविष्टाष्टदलन्यासमिदं पादार्धभक्तिभिः।
अस्पृष्टकर्णिकं कोणैः कविनामाङ्कमम्बुजम्॥ २९५॥

तत्राङ्कः—'राजशेखरकमल'। एतेन चक्रमपि व्याख्यातम्॥

कवि के नाम से अङ्कित अष्टदल ही कमल का उदाहरण—

दोष बहुल राज्य देने वाली, विक्षेप प्रकार की गति देने वाले वीररस की ज्ञात्री अथवा आप्त-कर्त्री, लौकिक सम्बन्ध जोड कर अपकार करने वाली, पूर्णिमा अथवा बारह वर्ष की कन्या सी, शरीर से शेषनाग को सटाये हुई, नीति प्रदान करने वाली, ज्ञान-दृष्टि ही हैं आत्मा जिसकी, आकाशगामिनी, काम जिसका स्तव्य है, कमनीयरमणी स्वरूपिणी, स्थिरता को भी विनष्ट करने में सक्षम, चन्द्रमा को जटाजूट में बाँध लेने वाले शिव की शक्तिरूपा, सुख देने वालों के विनाशक दस्युओं का खड्गधार सी छेदन करने वाली, शिव से ममत्व रखने वाले जितेन्द्रिय तपस्वियों के लिये व्यालविद्या का अवतार करने वाली वह राधा-मायारूपी वाणी-मेरी रक्षिका हो॥ २९४॥

श्लोक के प्रत्येक पाद के आधे का विभाजन करके इस अष्टदल की प्रत्येक पंखुड़ी में वर्ण-विन्यास किया जाता है। पादार्ध के वर्णों द्वारा कर्णिका का स्पर्श नहीं किया जाता है। पत्रकोण में विद्यमान वर्णों से कवि का नाम जिसमें अङ्कित होता है वह यह कविनामाङ्क कमल है। (अथवा प्रत्येक पाद के आधे भाग के कोणवर्ती वर्णों से कर्णिका का स्पर्श न होकर-आठों दलों में वर्णन्यास की अपेक्षा रखने वाला यह कविनामाङ्क कमल है)॥ २९५॥

वहाँ पर अङ्कित होगा-राजशेखर-कमल। इसी से चक्र की भी व्याख्या हो गई।

स्व० भा०—इस कमल में भी कर्णिका में प्रथम वर्ण रखा जाता है और वहीं से ऊर्ध्व प्रस्थान होता है। यह गमन प्रथम दल के अन्तिम किनारे तक होता है, किन्तु कर्णिका के वर्ण का स्पर्श नहीं होता। कर्णिका के वर्ण का स्पर्श किये बिना लौटते समय के प्रारम्भिक वर्ण को एक बार अधिक ले लेते हैं। द्वितीय दल के अन्त में लौट कर पुनः कर्णिका में प्रवेश होता है। पुनः कर्णिका में लौटने के रास्ते से ही निर्गम होता है और चौथे दल के बाद पुनः कर्णिका में प्रवेश होता है।

इस प्रकार यहाँ कर्णिका में दूसरे, चौथे, छठे तथा आठवें (अर्थात् प्रथम) से ही निर्गम और आगम होता है। पर्णाग्र अथवा कोण में विद्यमान वर्णों को क्रमशः एक साथ लिख देने से कवि का नाम निकल आता हैं। कवि का नाम अङ्कित हो जाने से इसे कविनामाङ्क कमल कहते हैं। इस श्लोक का रूप निम्नलिखित कमल में द्रष्टव्य हैं।
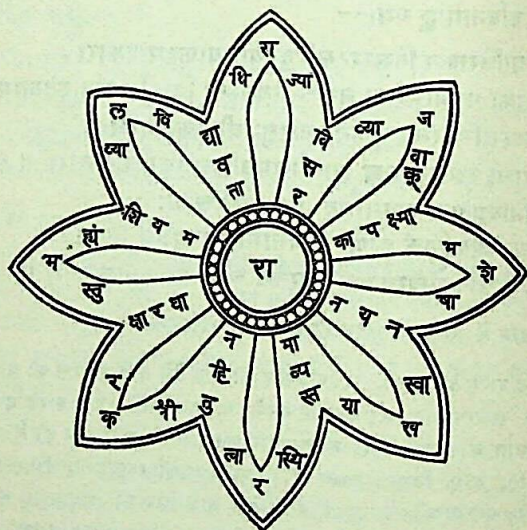
कमल-बन्ध संस्कृत आलंकारिकों का अत्यन्त प्रिय बन्ध है। आश्चर्य है कि दण्डी ने अन्य बन्धों का निदर्शन तो दिया हैं, किन्तु कमल-बन्ध को छोड़ दिया है। आचार्य रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में एक चतुर्दल कमल का उदाहरण दिया है। जितने प्रकार के कमल-बन्धों का उदाहरण भोजराज ने दिया है, उतना एक स्थान पर अन्यत्र दुर्लभ है।

अष्टपत्रमेव कविनामाङ्कमाह—रातावचेति। 'गीर्वाणसुभटः कश्चिद्युयुत्सुर्दैत्यसैन्यया। तत्कालकृतसांनिध्यां मायादेवीमपूजयत्॥' तथाहि—व्याजो माया सैव वाग्रूपा व्याजशब्दोपपदं वागभिधानं यस्याः सा मह्यं रक्षास्त्विति सम्बन्धः। रातं दत्तमवद्यं दोषबहुलमाधिराज्यम्, अवधा आधयो यत्र तादृशं वा राज्यं यया। विशिष्टं सरणं विसरस्तं राति प्रयच्छति यो रसोऽर्थाद्वीरस्तं वेत्ति विन्दति वा। या क्षमायां पृथिव्यामपकारः पुत्रकलत्रादिरूपो यस्याः सकाशादिति गमकत्वाद् बहुव्रीहिः। राका पूर्णिमा, द्वादशवर्षदेशीयकन्यारूपा वा। पन्नमाभः शरीरसंलग्नः शेषः सर्पः। यस्या नयनं नीतिस्तान्नयतीति यन्नयनं दृष्टिः। ज्ञानमिति यावत्। तदेव स्वमात्मा यस्याः। खे व्योम्नि यातीति खया। स्तन्यो

मारो मारणं कामो वा यस्याः। सा रामा रमणीया स्त्रीरूपा वा। व्यस्तं विनाशितं स्थिरत्वं यया। तुहिनं नयति प्रापयतीति नयतेर्डप्रत्यये तुहिननश्चन्द्रस्तस्य नहितुर्जटाजूटे बन्धयितुः परमेश्वरस्य श्रीः शक्तिरूपा। नह्यति बध्नातीति नहेर्विचि नहं स्तुतिमासादयतीति। 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वक्तव्यः' इति क्विपि तृजन्तस्य रूपम्। कं सुखं राति ददातीति करस्तस्य चारभूता दस्यवस्तेषां खड्गादिधारेव धारा छेत्त्री। राधेति देव्याः पौराणिकं नाम। ममेत्यव्ययं भावप्रधानम्। शिवे ममत्वं मान्ति परिच्छिन्दन्ति ये वशिनो योगिनस्तेषामपि व्यालवितां क्षुद्रविद्यामवतारयति या सा तथा॥ न्यासमाह—निविष्टेति। अष्टभिः पादार्धरष्टदलविरचना। यद्गर्भाष्टकं नाम्नोत्तिष्ठति तदाह—'राजशेखरकमल'। कविकाव्यनामलाभादविभक्तिकत्वमप्यदोषः। एतेनेति। नामाङ्कपद्मकथनेन चक्रमपि नामाङ्कमवसेयम्॥

चक्रं यथा—

'स त्वं मा न:वशिष्टमाजिरभसादालम्ब्य भव्यः पुरो
लब्धाघक्षयशुद्धिरुद्धरतरश्रीवत्सभूमिर्मुदा।
मुक्त्वा काममपास्तभीः परमृगव्याघः स नादं हरे-
रेकौघैः समकालमभ्रमुदयी रोपैस्तदा वस्तरे॥ २९६॥'

पुरः पुरो लिखेत्पादानत्र त्रीन्षडरीकृतान्।
तुर्यं तु भ्रमयेन्नेमौ नामाङ्कश्चक्रसंविधिः॥ २९७॥

अत्राङ्कः—'माघकाव्यमिदं शिशुपालवधः'॥

चक्रबन्ध का उदाहरण—

मङ्गलविग्रह, पापों को नष्ट करने से शुद्धता को प्राप्त, श्रीवत्स से अङ्कित उन्नत वक्षःस्थल वाले, अत्यन्त भयहीन, शत्रुमृग के लिये व्याघ्रस्वरूप, नित्य अभ्युदय करने वाले, भगवान् श्रीकृष्ण ने पहले युद्ध की इच्छा से मुक्त होकर अहंकार पूर्ण बल का सहारा लेकर उत्साहपूर्वक सिंहनाद करके एक ही बार में तत्क्षण अनेक बाण बरसा कर आकाश को आच्छादित कर दिया॥ २९६॥

छः आरा बना दिये गये तीन चरणों को आगे-आगे लिखना चाहिये तथा चतुर्थपाद को नेमि में घुमा दें। यही नामाङ्कित चक्रबन्ध का नियम है॥ २९७॥

इस श्लोक में अङ्कित नाम है—"माघकाव्यमिदं शिशुपालवधः"।

स्व० भा०—इस श्लोक से एक छः आरों वाला पहिया बनता है। विन्यास क्रम को स्पष्ट करने वाले श्लोक में यह व्यक्त किया गया है कि तीन पाद क्रमशः एक के बाद दूसरे आरे में लिख दिये जाते हैं। केन्द्र से आमने-सामने रहने वाले दोनों आरों में पूरा पाद बैठ जाता है, अन्यथा एक-एक ओर में एक पाद का आधा ही समाविष्ट हो पाता है। चतुर्थ पाद बाहरी घेरे में रहता है। केन्द्रवर्ती वर्ण सभी पादों के मध्य में आ जाता है और परिधि में आरों की अन्तिम छोरों पर विद्यमान वर्ण चतुर्थ पाद में भी समान रूप से योग देते हैं। जैसे—
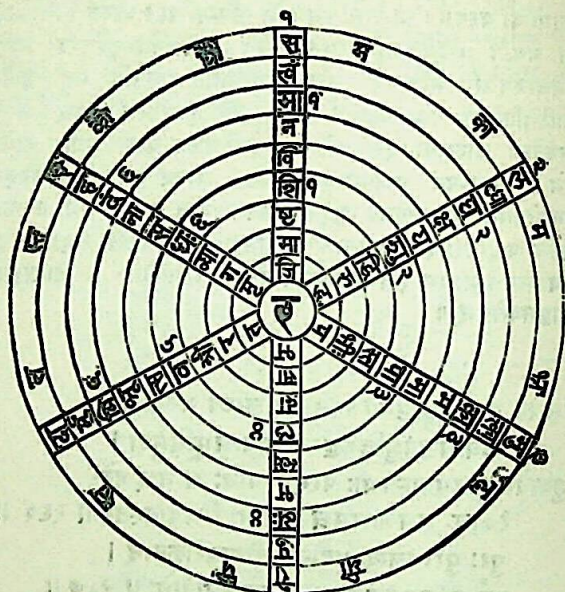
प्रस्तुत चित्र में बाहरी १, २, ३, इन तीनों संख्याओं से क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तथा तृतीय पादों का प्रारम्भ सूचित किया गया है। उनके आगे दूसरी ओर के आरों के वर्ण पाद की पूर्ति कर देते हैं। तृतीय पाद को प्रारम्भ करके उसके सामने अन्तिम छोर पर 'रे' प्राप्त होता है। यह वर्ण तृतीय पाद का अन्तिम तथा चतुर्थपाद के प्रथम वर्ण का काम करता है। अन्ततः चतुर्थ पाद का अन्तिम वर्ण भी यहीं होता है। बाहर से तीसरे वृत्त में जहां एक का अङ्क है आगे इसी वृत्त के २, ३, ४, ५, ६ अङ्कों वाले वर्णों को मिला देने से 'माघकाव्यः मिदं" बनता है। वस्तुतः इनके मध्य में विसर्ग नहीं होना चाहिये, किन्तु इसको दोष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चित्रकाव्य में विसर्ग, अनुस्वार, अनुनासिक आदि का व्यवधान नहीं माना जाता। बाहर से छठे वृत्त में एक से छः तक अङ्कित वर्णों के योग से 'शिशुपालवधः' बनता है। यह 'शिशुपालवध' के १९वें सर्ग का १२०वां श्लोक है।

सत्वमित्यादि। हरेर्नादं सिंहनादं रोपैर्बाणैराजिरभसात्सङ्ग्रामहर्षादुद्धुरतरश्रीवत्सभूमिरुन्नतहृदयः स स्वमालम्ब्य मानेन तद्विशिष्टमिति विशेषणम्। प्राप्तपापविनाशी मुन्नाहृष्ण अपगतभीः शत्रुर्हरिणव्याधोऽभ्रमाकाशं पिदधे तदा तस्मिन्काले सिंहनादमुक्त्वेति सम्बन्धः॥ न्यासमाह—पुर इति। पुरः पुरो लिखित्वान्यानग्रे लिखेद्यथा पदराः संपद्यन्ते॥

एवं चतुरङ्कमपि यथा—

> 'शुद्धं बद्धसुरास्थिसारविषम त्वं रुग्जयातिस्थिर
> भ्रष्टोद्धमरजःपदं गवि गवाक्षीणेन चक्षुद्भ्रुवा।
> तथ्यं चिन्तितगुप्तिरस्तविधिदिग्भेदं न चक्रं शुचा-
> चारोऽप्रांशुरदभ्रमुग्र तनु मे रम्यो भवानीरुचा॥ २६८॥'

अत्राङ्कः—'शुभ्रतरवाचा वद्धचितिचक्रं राजगुरुणेदं सादरमवादि' ॥

इसी प्रकार से चतुरङ्क अर्थात् चार अङ्कों वाला चक्रबन्ध भी होता है, जैसे—

मेरी वाणी में चक्र निष्कलुष है। उससे धर्म से बहिर्गत राजसमाव का स्थान नष्ट हो गया है। अतः दैवपारतन्त्र्य से रहित तथा शोकादि से अखण्डित और मात्रा में प्रचुर जो कल्याण है, उसे, हे देवताओं के कपालास्थि को धारण करने से भयङ्कर, रोग आदि को जय कर लेने से अत्यन्त निष्कम्प, मोटे तथा आनन्दोत्फुल्ल भौंहों वाले नन्दी से सुशोभित, प्राणियों की रक्षा का चिन्तन करने वाले, रमणीय तथा भगवती के शरीर की कान्ति से दीप्त भगवान् शिव, तुम हमें समृद्ध करो ॥ २९८ ॥

इस बन्ध से बनने वाले (चारो) अङ्क हैं—'शुभ्रतरवाचा वद्धचितिचक्रं राजगुरुणेदं सादरमवादि' (जिसका अर्थ होता है—अत्यन्त दिव्य वाणी में चक्रबन्ध के द्वारा राजगुरु ने सम्मानपूर्वक यह कहा)।

स्व० भा०—यह पडरचक्र भी पहले के जैसा ही है। अन्तर केवल यह है कि पूर्ववाले में केवल दो अङ्क थे किन्तु यहां चार हैं। चित्र नीचे बनाया जा रहा है।

इसमें भी अ, व, स ये तीन वर्ण श्लोक के तीनों पादों के प्रारम्भ का संकेत करते हैं। 'शु' से लेकर आगे जहां-जहां एक का अङ्क लिखा है, उन उन वर्णों के योग से प्रथम अङ्क "शुभ्रतरवाचा" बनता है। 'व' से प्रारम्भ करके सभी बाहर से तृतीय वृत्त के दो अङ्क से संकेतित वर्णों को मिलाने से दूसरा अङ्क 'वद्धचितिचक्रम्' बनता है। इसी प्रकार तीन तथा चार संख्याओं से चिह्नित वर्णों के योग से तृतीय तथा चतुर्थ अङ्क क्रमशः "राजगुरुणेदं" तथा "सादरमवादि" निष्पन्न होते हैं। इनमें जहां तहां दिख रहे अनुस्वार, विसर्ग आदि के व्यवधान अविवक्षित हैं।

यथा वा—शुद्धमित्यादि। चक्रं मे मम गवि वाचि शुद्धमकलुषम्, धर्मादुत्क्रान्तसुधर्मं-

मीदृशं यद्रजो राजसभावस्तस्य पदं स्थानं तद्भ्रष्टं विनष्टं यस्मात्। अस्ता विधिदिग्दैव-पारतन्त्र्यं यत्र तथाविधं, शुचा शोकेन च न वक्रीकृतमनपहतमदभ्रमुपचितं यद्भद्रं कल्याणं तत्तनु विस्तारयेति प्रार्थना। यद्वैरलंकारीकृतैः सुराणां ब्रह्मादीनां सारं शिरस्तदस्थिभिर्बद्धमुण्डमालाभिर्भयानक। रुजां रोगाणां जयेनातिस्थिर। अक्षीणेनोपचितेन चक्षद्भुवा साह्लादेन गवा वृषेण लक्षित। तथ्यमिति क्रियाविशेपणम्। चिन्तिता गुप्तिर्भूतानां रक्षा येन। चारो रमणीयः। उग्रो महादेवः। त्वमग्रांशुः सर्वस्मादुच्चैः पदे स्थितः। भवानीरुचा वामार्धस्थितपार्वतीकान्त्या रम्यस्तन्विति सम्बन्धः॥ अत्र पूर्ववदेव न्यासः। अङ्कास्तु चत्वार इति विशेपः॥

(५) गतिचित्र

(१) गतप्रत्यागत

गतिचित्रेषु गतप्रत्यागतं यथा—

'वारणागगभीरा सा साराभीगगणारवा।
कारितारिवधा सेना नासेधावरितारिका॥ २९९॥'

अत्रायुक्पादयोर्गतिः, युक्पादयोः प्रत्यागतिः॥

गतिचित्रों में गतप्रत्यागत का उदाहरण—

वह सेना हाथी रूपी पर्वतों से युक्त होने के कारण दुरवगाह है। वह बहुत ही अच्छी है, तथा उसमें डरावने जनसमूहों की आवाजें सुनाई पड़ती है। उसने अपने शत्रुओं का वध कर दिया है। उसका शत्रुओं द्वारा प्रतिपेध नहीं किया जा रहा है। वहाँ योद्धा लोगों ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों को चुन लिया है॥ २९९॥

इस श्लोक के विपमपादों—प्रथम तथा तृतीय—में तो गति है, आगे की ओर बढ़ाव है, तथा द्वितीय और चतुर्थ पादों में प्रत्यागति अर्थात् पीछे की ओर लौटाव है।

स्व० भा०—इस श्लोक में गति के कारण विचित्रता आ गई है। इसमें प्रथम पाद जहाँ समाप्त होता है, उस अन्तिम वर्ण से पुनः पीछे की ओर लौटने पर द्वितीय पाद बन जाता है। तृतीय पाद में भी यही दशा है। इसके अतिरिक्त एक विचित्रता और भी है कि अन्तिम वर्ण से लेकर प्रथम वर्ण की ओर चलने पर भी पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध की शब्दावली तथा रूप में कोई अन्तर नहीं आता।

इदानीं गतिचित्रप्रस्तावः—वारणेत्यादि। वारणा एव अगाः पर्वतास्तैर्गभीरा दुरवगाहा। सारा श्रेष्ठा। भियं येन यान्ति तादृशानां गणानामारवो यत्र। सारो वा भीगगणारवो यत्र। कारितः कृतोऽरीणां वधो यया। स्वार्थे णिच्। आसेधः परैः प्रतिपेधस्तेन हीना। वरिताः सुभटैर्युद्धार्थमाहूता अरयो यस्यां सा तथा। 'वर ईप्सायाम्' इति धातोः क्तप्रत्यये वरितेति रूपसिद्धिः। अत्रायुक्पादयोः प्रथमतृतीययोरानुलोम्येन वर्णान् गृहीत्वा तत्प्रतिलोमरूपौ युक्पादौ द्वितीयचतुर्थौ गृह्येते। पठितेर्वर्णाद्वर्णान्तरसंचारो गतिस्तन्नियमनेन चित्रं गतिचित्रं स चात्र यथोक्तरूप एव॥

(२) अक्षरगत

तदक्षरगतं यथा—

'निशितासिरतोऽभीको न्येजतेऽमरणा रुचा।
चारुणा रमते जन्ये को भीतो रसिताशिनि॥ ३००॥

अत्र गतप्रत्यागताभ्यां स एव श्लोकः॥

अक्षरगत गतिचित्र का उदाहरण—

हे अमरों, तेज तलवार से प्रेम रखने वाला, निर्भय व्यक्ति तेज से प्रकम्पित नहीं होता। कौन भयभीत व्यक्ति कोलाहलयुक्त, प्राणियों के भक्षक, राक्षस आदि से पूर्ण युद्ध में सुन्दर वाहन आदि से प्रेम करता है॥ ३००॥

यहाँ आगे पीछे दोनों ओर से चलने पर एक ही श्लोक बनता है।

स्व० भा०—इस श्लोक को आदि से अन्त तक सीधे क्रम से पढ़ने पर जो वर्ण जिस क्रम में आते हैं, वे ही अन्त्य से आदिपर्यन्त विलोमक्रम से पढ़ने पर भी पड़ते हैं। अतः अर्थ भी वही होता है। पूर्ववर्ती श्लोक से यह श्लोक भिन्न है क्योंकि उसमें एक पाद का ही विलोम क्रम से पाठ होता है, किन्तु इसमें तो पूरा का पूरा श्लोक ही अनुलोम तथा विलोम दोनों क्रमों से पढ़ने पर एक ही बनता है।

हे अमरणा मरणरहिताः, निशितखङ्गरतो भयशून्यश्च रुचा तेजसा न्येजते न कम्पते। यो हि भीतः स कथं शब्दायमानाशनशीलरक्षःपिशाचादिसंकुले जन्ये सङ्ग्रामे चारुणा करितुरगादिना रमते। न कथंचिदित्यर्थः। अत्र संदर्भसमाप्तिपर्यन्तं या वर्णमाला गृहीता सैव समाहेरारभ्य प्रत्यागत्या यावदारम्भं समाप्यत इति पूर्वं त्वर्धेनैवर्मित॥

(३) श्लोकान्तर

श्लोकान्तरं यथा—

'वाहनाजनि मानासे साराजावनमा ततः।
मत्तसारगराजेभे भारीहावज्जनध्वनि॥ ३०१॥

अत्र प्रातिलोम्येनापरः श्लोको भवति। यथा—

'निध्वनज्जवहारीभा भेजे रागरसात्तमः।
ततमानवजारासा सेना मानिजनाहवा॥ ३०२॥'

'श्लोकान्तर' अर्थात् एक श्लोक को विलोमक्रम से पढ़ने पर जब एक दूसरा ही श्लोक बन जाता है, उस गतिचित्र का उदाहरण—

इसके पश्चात् जहाँ सेना नत नहीं होती है, दूसरों के मान पर आक्षेप किया जाता है, जहाँ मत्त एवं उत्कृष्ट गतिशाली राजाओं के हाथी हैं, जहाँ पर युद्धभार से लदे हुये एवं समुचित प्रयत्न कर रहे लोग सिंहनाद करते हैं, वहाँ सेना झुकी नहीं॥ ३०१॥

यहाँ प्रतिलोम क्रम से पढ़ने पर एक दूसरा ही श्लोक बनता है। जैसे—चिग्घाड़ते हुये वेग से दौड़ कर अपहरण करने वाले हाथियों से संयुक्त, फैले हुये मानवीय कोलाहलों से परिपूर्ण, अहंकारी वीरों के द्वन्द्वयुद्ध से समन्वित सेना ने शत्रुधन प्राप्ति के आनन्द के कारण तमोगुण धारण किया, अर्थात् क्रुद्ध हो गई॥ ३०२॥

स्व० भा०—पूर्ववर्ती श्लोक को उलटे क्रम से पढ़ने पर दूसरा श्लोक बना, यह गतिचित्र का ही प्रभाव है। सामान्यतः किसी भी श्लोक को विलोम क्रम से पढ़ देने पर सार्थक बन पाना आवश्यक नहीं। गतिचित्र के इस भेद की यही विशेषता है, कि इसमें श्लोक को उलट कर पढ़ देने से भिन्न अर्थ वाला एक दूसरा सार्थक श्लोक बनता ही है। (द्रष्टव्य शिशुपालवध १९।३३–३४)।

वाहनेति। ततोऽनन्तरं वाहना सेनाऽनमा नतिशून्याजनि जाता। साराजावुत्कृष्टसङ्ग्रामे मानासे परमानक्षेपके मत्ताः सारगाः सोत्कर्षगतिशालिनो राजेभा राजदन्तिनो यत्र। भारिणः स्वामिनार्पितसमरभराः अत एव यथोचितचेष्टावन्तस्तेषां जनानां ध्वनिः सिंहनादो यत्रेति क्रियाविशेषणमित्यनुलोमश्लोकार्थः। निध्वनन्तः स्तनन्तो जवेन वेगेन

हारिण इभा यत्र। ततो विस्तीर्णो मानवजारासः सैनिककृत आरावः कोलायत्र हलो। मानिजनानां साहंकाराणां वीराणामाहवो द्वन्द्वयुद्धं यत्र। ईदृशी सेना रागरसात्परलक्ष्मीहरणरसेन तमो भेजे क्रोधमवापेति प्रतिलोमश्लोकार्थः॥

(५) भाषान्तरगत

भाषान्तरगत यथा—

'इह रे घःला लासे बाला राहुमलीमसा।
सालका रसलीला सा तुङ्गालालि कलारत॥ ३०३॥'

अत्र प्रातिलोम्येनापरः प्राकृतश्लोको भवति। यथा—

'तरला कलिला गातुं सालाली सरकालसा।
सामली महुरालावा सेलाला हव रेहइ॥ ३०४॥'

भाषान्तरगत गतिचित्र का उदाहरण (जिसमें एक भाषा के श्लोक को उलटे पढ़ने से दूसरी भाषा का भिन्नार्थक श्लोक बन जाता है।)

हे समस्त कलाओं के प्रेमी, यहाँ आपने ही मधुरनृत्य में संकोच न करने वाली, राहु के सदृश श्यामल वर्णवाली, कुन्तलवती, शृङ्गारमयी चेष्टायें करने वाली उस उच्च व्यवहारवाली का लालन किया है॥ ३०३॥

यहाँ पर प्रतिलोम क्रम से पढ़ने पर प्राकृत का श्लोक उत्पन्न होता है। जैसे—

गाने में शीघ्रता करने वाली, साल आदि अनेक वृक्षों के मधु से अलसाई हुई, श्यामल वर्ण की अथवा सोलहसाल की मधुरभाषिणी सुन्दरी जो दूसरों को भी शोभित करती है, हे धव, अत्यन्त सुशोभित हो रही॥ २०४॥

स्व० भा०—यह चित्रात्मकता केवल गति के कारण है। पूर्ववर्ती संस्कृत के श्लोक को विलोम क्रम से पढ़ने का ही यह परिणाम है कि दूसरा प्राकृत का श्लोक बन पाया। एक भाषा के श्लोक को प्रतिलोमक्रम से पढ़ने पर दूसरी भाषाका श्लोक बनने से यहाँ भाषान्तर गतिचित्र हुआ।

इह रे इत्यादि। लासे नृत्ये बहला असंकुचिता राहुमलीमसा श्यामा सालका भ्रूकर्णादिपरभागार्पकचूर्णकुन्तलवती रसाच्छृङ्गाराल्लीला यस्याः सा, तथा तुङ्गा उच्चव्यवहारा एवंविधा सा बाला। हे चतुःषष्टिकलारत, अलालि लालिता त्वयेति संस्कृतश्लोकार्थः। कला गीतवाद्यनृत्यानां संकरीकरणसहिता पटीयसी गातुं तरला त्वरिता सालाली नानावृक्षपङ्क्तिस्तदीयेन सरकेण मधुना अलसा। श्यामा मधुरालापा सेला उत्तमा नारी। 'सेला स्यादुत्तमा नारी' इति देशीकोशे। सह इरया मदिरया वर्तन्ते सेला वा। रलयोरेकत्वस्मरणादिति केचित्, तच्चिन्त्यम्। अला भूषयित्री। हव धवेति संबोधनम्। रेहइ राजते। प्राकृतश्लोकार्थः। एवं भाषान्तराणामपि गतप्रत्यागती बोद्धव्ये॥

(५) अर्थानुगत

तदर्थानुगत यथा—

'विदिते दिवि केऽनीके तं यान्तं निर्जिताजिनि।
विगदं गाव रोद्धारो योद्धा यो नतिमेति न॥ २०५॥'

अत्र प्रातिलोम्येन स एव पदार्थः॥

प्रथम श्लोक के अर्थ के समान ही अर्थ प्रकट करने वाले (प्रतिलोम क्रम से पढ़ने पर बने श्लोक का) उदाहरण—

स्वर्गतक में विख्यात तथा दूसरों के युद्धों को भी तिरस्कृत कर देने वाले युद्ध में ललकार की आवाज सुनने पर कौन योद्धा हृदयव्यथा से रहित रहे ? कौन योद्धा ऐसा था जो चलते हुये उसके प्रति नत नहीं हो जाता था ॥ ३०५ ॥

यहाँ प्रतिलोम क्रम से पढ़ने पर भी वही अर्थ निकलता है।

स्व० भा०—इस श्लोक को अनुलोम क्रम से पढ़ने पर जो शब्द और अर्थ होते हैं, वे ही शब्द तथा अर्थ विपरीत क्रम से पढ़ने से भी रहते हैं। अन्तर केवल पदों के क्रम में हो जाता है। इस विलोम पाठ के होने पर भी बना श्लोक सार्थक ही होता है। इस श्लोक को प्रतिलोम क्रम से पढ़ने पर निम्नलिखित श्लोक बनता है—

नतिमेति न योद्धा यो रोद्धारो विगदं गवि।
निजिताजिनितं यातं केऽनीके विदिते दिवि ॥

(द्रष्टव्य शिशुपालवध १९।९० ॥)

विदित इत्यादि। विदिते स्वर्वासिनामपि प्रसिद्धे निर्जिताः परेषामाजयो युद्धानि येन ताहश्यनीके समरे प्राप्तं गवि पराह्वानरूपायां वाचि विगदं हृदयज्वररहितं के नाम भद्रा योद्धारः। न केऽपि सन्तीत्यर्थः। तं कम्। यो योद्धा सन्कथमपि नतिं नम्रतां नैति न याति। अत्र तदर्थक एव प्रतिलोमश्लोकः। स यथा—'नतिमेति न योद्धा यो रोद्धारो विगदं गवि। निजिताजिनितं यातङ्केनीके विदिते दिवि' ॥

(६) तुरङ्गपद

तुरङ्गपदं यथा—

'बाला सुकालबाला का कान्तिलालकलालिता।
सस्वा सुतवती सारा दर्पिका व्रतगर्वित ॥ ३०६ ॥'

क्रमात्पादचतुष्केऽस्य पङ्क्तिशः परिलेखिते।
तुरङ्गपदयातेन श्लोकोऽन्य उपजायते ॥ ३०७ ॥

यथा—

'बाला ललिततीव्रस्वा सुकला रागतर्पिका।
सुदन्तिका वर्धितावासा काला तललासका ॥ ३०८ ॥'

तुरङ्गपद का उदाहरण—

(कोई दूती किसी नायक से निवेदन कर रही है कि) हे लोभी ! वह सुन्दरी षोडशी है, उसके केश सुन्दर तथा काले हैं, सुन्दरता को बढ़ाने वाले काकपक्षों से वह सुशोभित है, वह अपनी सम्पत्तियों के साथ हैं, उसके पुत्र हैं, उत्कृष्ट अभिमान के शृङ्गार से युक्त है, (अतः आप उसको हृदय से स्वीकार करें।) ॥ ३०६ ॥

इस श्लोक के चारों पादों को क्रमसे पंक्तिशः लिख देने पर, घोड़े के चरण निक्षेप क्रम से पढ़ने पर दूसरा ही श्लोक उत्पन्न हो जाता है ॥ ३०७ ॥ जैसे—

मनोज्ञ तथा निपुण आत्मा वाली, सुन्दर कलामयी, प्रेम से तृप्त कर देने वाली, सुन्दर दाँतों वाली तथा सभी स्थानों को अपनी उपस्थिति से भर देने वाली, सूपा आलाप वाली, तथा सभी नर्तकों को परास्त कर देने वाली सुन्दरी का आप उपभोग करें है ॥ ३०८ ॥

स्व० भा०—ऊपर तुरङ्ग पद का उदाहरण तथा न्यासप्रकार विन्यस्त है। अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र अथवा कमलबन्ध की भांति इसको केवल एक विशेष क्रम में पढ़ लेना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु इस श्लोक को कुछ कोषों में रख कर विशेष क्रम से पढ़कर नया ही श्लोक निकालना

है। जिस प्रकार एक घोड़े के चरण पड़ते हैं उसी क्रम में इसे पढ़ना भी है। इसमें मूल श्लोक के चारो पाद को क्रमशः ऊपर नीचे के चार तथा लम्बाई में आठ कोष्ठकों में लिख दिया जाता है। प्रत्येक कोष्ठक में एक ही एक वर्ण होता है। चित्र आगे दिया जा रहा है।

वा १	ला ३०	सु ९	का २०	ल ३	वा २४	ला ११	का २६
का १६	न्ति १९	ला २	ल २९	क १०	ला २७	लि ४	ता २३
स ३१	स्वा ८	सु १७	त १४	व २१	ती ६	सा २५	रा १२
द १८	पिं १५	का ३२	व्र ७	त २८	ग १३	ह्लि २२	त ५

इस चित्र में क्रमिक संख्या वाले वर्णों का योग करने पर "वाला ललित तीव्रस्वा०" आदि श्लोक बनता है। इन क्रमिक संख्या वाले वर्णों को एक सरल रेखा से मिला देने पर घोड़े के चारों चरण, उसकी खड़े होने की स्थिति तथा टाप रखने का क्रम स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

बालेत्यादि। बाला षोडशवर्षदेशीया शोभनकृष्णकेशी कान्तिप्रदचूर्णकुन्तलशोभिता सस्वा आत्मसंपद्युक्ता सुतवती पुत्रयुक्ता उत्कृष्टाभिमानात्मकश्रृङ्गारवती अभिलषितस्व-विवाहादिव्रताकाङ्क्षा अतस्तं भजस्वेति। हृदये इति शेषः॥ न्यासम ह—क्रमादिति। ललितो मनोज्ञस्तीव्रः प्रवीणः स्व आत्मा यस्याः। रागेण प्रेम्णा तर्पयति या। शोभन-दन्तयुक्ता। वर्धितावासा संपूर्णीकृतसकलस्थाना। कालो मृषान्याहारस्तेन सह वर्तते या। तले लासका नर्तका यस्याः सा तथाभूता। अधःकृतसकलनर्तकलोकेत्यर्थः। एवंभूता सा बाला त्वयोपभुक्तेति वाक्यार्थः॥

आहुरर्धभ्रमं नाम श्लोकार्धभ्रमणं यदि।
तदिदं सर्वतोभद्रं सर्वतो भ्रमणं यदि॥ ११०॥

अर्धभ्रम नामक चित्रकाव्य तब होता है जब कि श्लोक का अर्धभ्रमण होता है। वही सर्वतो-भद्र के रूप में अभीष्ट होता है यदि श्लोक का भ्रमण (आधा न होकर) सभी ओर से हो॥ ११०॥

(७) अर्धभ्रम

तयोरर्धभ्रमं यथा—

'ससत्वरतिदे नित्यं सदरामर्षनाशिनि।
त्वराधिककसन्नादे रमकत्वमकर्षति॥ ३०९॥'

इन दोनों में से अर्धभ्रम का उदाहरण—

बल शालियों को आनन्द देने वाली, भयभीतों के क्रोध को शान्त करने वाली तथा उत्साह के आधिक्य से निर्गत कोलाहल से सर्वत्र व्याप्त रणभूमि में वीरों का उत्साह बढ़ जाता है॥ ३०९॥

स्व० भा०—ऊपर अर्धभ्रमक के लक्षण में अर्धभ्रमण का अर्थ है केवल आधी अर्थात् एक ओर से ही गति। सामान्यतः चित्रप्रकरण में अनुलोम तथा विलोम दो क्रम पढ़ने के देखे जाते हैं। इनमें से केवल एक क्रम से श्लोक अथवा पाद का पढ़ा जाना अर्धभ्रम हुआ। वस्तुतः इसमें पादोत्थान अनुलोम क्रम से ही होता है। ऐसे चित्रबन्ध के लिये अष्टाक्षर वृत्त अधिक उपयुक्त होते हैं।

इसमें वस्तुतः बत्तीस कोष्ठक होते हैं—लम्बाई में आठ तथा चौड़ाई में चार। सबसे ऊपरी पंक्ति में प्रथम, दूसरी में दूसरा तीसरी में तीसरा तथा चौथी में चौथा पाद लिख दिया जाता है। प्रत्येक कोष्ठक में एक-एक अक्षर होता है। छन्द बनाने के लिये वामभाग के ऊपर के प्रथम कोष्ठक से प्रारम्भ करके नीचे चौथी पंक्ति तक आने से प्रथम पाद का आधा बनता है तथा अष्टम पंक्ति में नीचे से ऊपर की ओर चलने पर द्वितीयार्ध। इसी प्रकार बाईं ओर की द्वितीय पंक्ति को ऊपर तथा सप्तम पंक्ति को नीचे से पढ़ने पर दूसरा पाद बनता है। तीसरे तथा चतुर्थ पाद उपर्युक्त क्रम से ही ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः तृतीय तथा षष्ठ और चतुर्थ तथा पञ्चम पंक्तियों को पढ़ने से बनते हैं। इस बन्ध को अर्धभ्रम कहने का एक और कारण कहा जा सकता है कि इसमें केवल आधे पाद का ही भ्रमण होता है, किन्तु पूर्वनिर्दिष्ट परिभाषा अधिक संगत है, क्योंकि इसमें सर्वतोभद्र की तुलना की जाती है। चित्र इस प्रकार है—

स	स	त्व	र	नि	दे	नि	स्यं
स	द	रा	म	र्प	ना	शि	नि
त्व	रा	धि	क	क	सं	ना	दे
र	म	क	त्व	म	क	र्पं	ति

ससत्वेति। सदराः सभयाः। त्वराधिकानां कसञ्चितस्ततः संचरन्नादो यत्र। अत एव वीरान्प्रति रमकत्वमकर्पंति॥

(८) सर्वतोभद्र

सर्वतोभद्रं यथा—

'देवाकानिनि कावादे वाहिकास्वस्वकाहि वा।
काकारेभभरेऽकाका निस्वभव्यव्यभस्वनि॥ ३१०॥'

सर्वतोभद्र का उदाहरण—

जहाँ पर देवता भी प्रोत्साहित हो जाते हैं, जहाँ वाक्कलह थोड़ा थोड़ा होता है, दूसरे जन भी प्राणों की बाजी लगाकर जिसमें काम करते हैं, जो मदस्रावी हाथियों के समूह से भरा होता है, जहाँ उत्साहहीन तथा निरुत्साही दोनों लोग लड़ा करते हैं, हे सात्त्विक पुरुषो अथवा युद्ध लोलुपो, वह संग्राम भूमि है॥ ३१०॥

स्व० भा०—इसमें सर्वतोभद्रचित्र बनता है। सर्वतोभद्र अर्धभ्रम का विकसित तथा पूर्ण रूप है। इसमें श्लोक के प्रथम पाद को चारो ओर प्रथम पंक्ति में किसी भी कोने से पढ़ने पर उपलब्ध किया जा सकता है। किसी भी ओर से द्वितीय पंक्ति में दूसरा पाद देखा जा सकता है। इसी प्रकार तृतीय तथा चतुर्थ में भी। अर्थात् ऊपर-नीचे अथवा दायें बायें किसी भी ओर से देखने पर प्रथम तथा अष्टम में पहला, द्वितीय तथा सप्तम में दूसरा, तृतीय तथा षष्ठ में तीसरा और चतुर्थ तथा पंचम में चौथा पाद मिलेगा। उपर्युक्त श्लोक किरात (१५।२५) में मिलता है। इसका चित्र देखिये—

दे	वा	का	नि	नि	का	वा	दे
वा	हि	का	स्व	स्व	का	हि	वा
का	का	रे	भ	भ	रे	का	का
नि	स्व	भ	व्य	व्य	भ	स्व	नि
नि	स्व	भ	व्य	व्य	भ	स्व	नि
का	का	रे	भ	भ	रे	का	का
वा	हि	का	स्व	स्व	का	हि	वा
दे	वा	का	नि	नि	का	वा	दे

सर्वतोभद्र चित्रबन्ध पद्मबन्ध की ही भांति अत्यन्त विख्यात है। भारवि, माघ आदि चित्र-कवियों तथा दण्डी, रुद्रट आदि आलंकारिकों ने इसका विवेचन किया है।

'कनी दीप्तौ'। देवानाकनितुं शीलं यस्य। कावाद ईषद्वादो यत्र। कस्य मस्तकस्य सन्ना संगता आदा ग्रहणं यत्रेति वा। वाहिका पर्यायवहनम्। 'पर्यायार्हर्णोत्पत्तिषु' (पा० ३।३।१११) इति ण्वुच्। सैव स्वं वित्तभूत्ता येषामेवंविधा ये स्वका आत्मपक्षीयास्तानाजिहीते इति विच्। कं मदजलमाकिरति इति काकारस्तादृश इभभरो हास्तिकं यत्र। हेऽकाकाः सात्त्विका इति संबोधनम्। काकाः सङ्ग्रामलोलुपा वा। क्वचित्कर्तर्यपि घञ्। निःस्वा निरात्मानो भव्या आधेयगुणास्तानपि व्ययन्ति स्वबलेनोपबृंहयन्ति ये ते निस्वभव्यव्यास्तेषां भस्वनि भर्त्सनशीले। 'भस भर्त्सने' इत्यतः क्वनिप्॥

(६) बन्धचित्र

(१) द्विचतुष्कचक्रबन्ध

बन्धचित्रेषु द्विचतुष्कचक्रबन्धा यथा—

'जय देव नरेन्द्रादे लम्बोदर विनायक।
जगदेघन चन्द्राभालङ्घिदन्तविभायते॥ ३११॥'
इह शिखरसंधमालां बिभृयादर्धं समाश्रितैर्वर्णैः।
द्विचतुष्कचक्रबन्धे नेमिविधौ चापरं भ्रमयेत्॥ ३१२॥

बन्धचित्रों में द्विचतुष्क चक्रबन्ध का उदाहरण—

मनुष्यों तथा इन्द्र आदि के आदिभूत या प्रथम, लम्बे उदरवाले, श्रेष्ठ सेनापति,

संसार को प्रवृद्ध करने वाले, अपने दाँतों की कान्ति-वृद्धि से चन्द्रमा की छटा को भी जीतने वाले, हे देव गणेश जी, आपकी जय हो। इस द्विचतुष्क बन्ध में चोटी की माला को तथा संधिस्थलों को पूर्वार्ध के प्राप्त वर्णों से भर दे तथा नेमि में अपर अर्थात् उत्तरार्ध को भर दे ॥ ३११-३१२ ॥

स्व० भा०—प्रस्तुत बन्ध में चित्र देखने योग्य है। इसमें मध्यवर्ती वृत्त को ही शिखर तथा उनके पास वर्गाकार कोष्ठकों को ही संधि समझना चाहिये। इस प्रकार इसमें मध्यवृत्त के शिखर पर विद्यमान जकार से भीतर की ओर यकार तक आगमन हुआ, उसके पश्चात् पुनः जकार के अग्रवर्ती 'दे' की ओर गमन और पुनः अन्तःप्रवेश। इसी प्रकार लगभग गोमूत्रिका क्रम से भीतरी वर्णों की सहायता से पूर्वार्ध बन जाता है। दूसरे पाद का भी प्रारम्भ जकार से ही होता है और पुराना गोमूत्रिका क्रम ही लागू करके बहिर्वृत्त अर्थात् नेमि तथा जकार के अग्रवर्ती वर्णों के संयोग से होता है। इस प्रकार यह द्विचतुष्कबन्ध तैयार होता है। इस क्रम को नीचे के चित्र में देखा जा सकता है—

जयद इत्यादि। नता इन्द्रादयो यस्मै स तथा। जगतामेधन वर्धन। चन्द्राभालङ्घिनी चन्द्रकान्तिविजयिनी दन्तप्रभाणामायतिर्यस्य स तथा॥ न्यासमाह—इहेति। शिखरमालां संधिमालां च पूर्वार्धवर्णैः क्रमेण बिभृयात्पूरयेत्। नेमिविधौ चापरमुत्तरार्धं भ्रमयेत्॥

(२) द्विशृङ्गाटकबन्ध

द्विशृङ्गाटकबन्धो यथा—

> 'करासक्ष वशेशं खगौरव स्य कलारसम्।
> संधाय वलयां शङ्कामगौरीं मे वनात्मक ॥ ३१३ ॥'
> शृङ्गाद् ग्रन्थि पुनः शृङ्गं ग्रन्थि शृङ्गं व्रजेदिति।
> द्विशृङ्गाटकबन्धेऽस्मिन्नेमिः शेषाक्षरैर्भवेत् ॥ ३१४ ॥

अत्राङ्कः—'राजशेखरस्य' ॥

द्विशृङ्गाटक बन्ध का उदाहरण—

हे करासक्ष, हे आकाश के गौरवभूत, हे जलस्वरूप, शिव को वश में रखने वाले चन्द्रमा के कलारस को धारण करके मेरी चक्कर काट रही कलुषित आशंका को दूर करो ॥ ३१३ ॥

इस द्विश्रृङ्गाटक बन्ध में ऊपरी श्रृङ्ग—चोटी से प्रारम्भ करके जहाँ दोनों श्रृङ्गाटकों की रेखायें काटती हैं वहां वर्ण रखा जाता है। इसके बाद फिर श्रृङ्ग को और श्रृङ्ग से ग्रन्थि—रेखाओं की गांठ-मिलनस्थल—पर चलते हैं और फिर वहां से आगे श्रृङ्ग की ओर गमन होता है। श्रृङ्ग तथा ग्रन्थि से शेष बचे वर्णों को वृत्ताकार नेमि में विन्यस्त किया जाता है। इस बन्ध में अङ्कित होता है—'राजशेखरस्य'।

स्व० भा०—दो त्रिभुजों को एक दूसरे के साथ इस प्रकार रख देने से कि उनके कोण कोण पर न पड़ें, अपितु कोण भुजाओं को काट कर बाहर निकले रहें तो द्विश्रृङ्गाटक बन्ध बनता है। उसे दुहरी परिधि से घेर देने पर वर्ण विन्यास में सरलता होती है और देखने में अच्छा भी लगता है। यहां पारिभाषिक शब्दावली में कोणों को श्रृङ्ग तथा दोनों त्रिभुजों की भुजाओं के मिलनस्थल को ग्रन्थि कहा जाता है। बाहरी घेरा नेमि कहलाता है। क, सं, व, शं, गौ तथा व वर्ण श्रृङ्गस्थ भी हैं तथा नेमिस्थ भी। इसका चित्र नीचे स्पष्ट है। केवल ग्रन्थि के वर्णों को एक साथ लिखने से अङ्क 'राजशेखरस्य' बनता है।
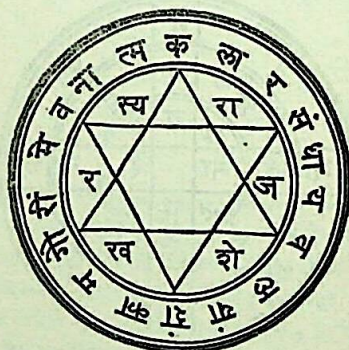
द्वे श्रृङ्गाटके मिथो वैपरीत्येन यत्र शिखरं द्विश्रृङ्गाटकम्। करैः किरणैरासञ्जयतीति करासञ्जः। खे व्योम्नि गौरवं यस्य स तथा। वनात्मक जलस्वरूप। चन्द्रकलासु रसमनुरागं संधाय कृत्वा अन्तःस्वच्छतया दृश्यनभोभागनेमिमङ्कलयाकारोल्लेखिनीं मे ममागौरीं श्यामां शङ्कामपनय। स्य इति क्रियापदम्। पूर्णो भवेति यावत्। वशेशमायत शंकरमिति क्रियाविशेषणम्॥ न्यासमाह—श्रृङ्गादिति। शेषाक्षरैरिति। आद्यात्ककारादारभ्य यावत्समाप्ति शेषाण्यक्षराणि तैर्नेमिरिति न्यासः। अत्र ग्रन्थिवर्णैरेव 'राजशेखरस्य' इति नामाङ्कवर्णावली लभ्यते॥

(३) विविडितबन्ध

विविडितबन्धो यथा—

> 'सा सती जयतादत्र सरन्ती शमितात्रसा।
> सारं परं स च जयी शमितास्यन्दनेनसा॥ ३१५॥'
> शिखरादन्यतरस्मात्प्रतिपर्व भ्रमति रेखयाद्यर्धम्।
> नेमौ तदितरमर्धं विविडितचक्राभिधे बन्धे॥ ३१६॥

विविडित बन्ध का उदाहरण—

त्रासों से रहित, अनवरुद्ध गतिशालिनी, तथा स्थायी रूप से पापरहित भगवती गौरी की जय हो तथा जिस परम सारभूत तत्त्व के साथ वह स्थित हैं उस महेश्वर की भी जय हो ॥ ३१५ ॥

श्लोक का आद्यर्ध-प्रथमार्ध-पूर्वार्द्ध एक शिखर से रेखा के साथ प्रत्येक पर्व तक चलता है। इस विविडितचक्र नामक बन्ध में अपरार्ध—शेष रह गया उत्तरार्ध भाग-नेमि में घूमता है—चक्राकार स्थित रहता है ॥ ३१६ ॥

स्व० भा०—पांच शृङ्गों वाला चक्र विविडित चक्र कहा जाता है। इसमें जिस ऊर्ध्व शृङ्ग से रेखा जिस क्रम से चलती है, और जहां-जहां घूमती अथवा स्वयं कटती जाती है वहां स्थित वर्णों का योग करने से श्लोक का पूर्वार्ध बन जाता है। उत्तरार्ध तो जहां से बन्ध की रेखा का प्रारम्भ हुआ था उसी शीर्ष विन्दु के अक्षर में प्रारम्भ होकर वृत्ताकार नेमि में घूमते-घूमते पुनः आदि वर्ण तक आने पर बन जाता है। निम्नांकित चक्र से यह चित्र तथा न्यास-क्रम स्पष्ट हो जाता है। यहां प्रारम्भ 'सा' से किया गया है।

विविडितबन्धस्तु पञ्चशृङ्गचक्रम्। तद्देवताम्नाये दर्शितम्। 'कर्पूरकुन्दगौरीं तनुमतनुं कार्मुकभ्रूकाम्। वरदानसुन्दरकरां विविडितचक्रस्थितां वन्दे ॥' सेति। प्रसिद्धानुभावा सती गौरी सरन्ती निरर्गलप्रसरा न त्रस्यतीत्यत्रसा। अस्यन्दनेन स्थिरेण एनसा कल्मषेण शमिता विक्लवीभूता। रहितेति यावत्। 'शम वैक्लव्ये'। अत्र जगति परं सारं यं भगवन्तमिता संगता। स च जयी महेश्वरो जयतादिति ॥ न्यासमाह—शिखरादिति। 'अन्यतमाद्वा' इति पाठः। 'अन्यतमस्मात्' इति पाठे तु सर्वनामत्वं चिन्त्यम्। केचित्तु 'कॅयत्तदेकान्येभ्यः' इति पठित्वा डतमद्धारिकां सर्वनामतामाहुः। गणे चान्यतरशब्दं न पठन्ति। अव्युत्पत्तिमात्रं चेदम्। अनिर्धारितैकाभिधायकस्त्वन्यतमशब्दः ॥

(४) शरयन्त्रबन्ध

शरयन्त्रबन्धो यथा—

'नमस्ते जगतां गात्र सदानवकुलक्षय।
समस्तेऽज सतां नात्र मुदामवन लक्षय ॥ ३१७ ॥'

चतुर्ष्वपि च पादेषु पङ्क्तशो लिखितेष्विह।
आदेरादेस्तुरङ्गस्य पादैः पादः समाप्यते ॥ ३१८ ॥

शरयन्त्र बन्ध का उदाहरण--

संसार भर के शरीर स्वरूप, दैत्य कुल के नाशक, प्रसन्नता के रक्षक, हे विष्णु, आपको प्रणाम है। इस जगत् में सज्जनों में आपके सदृश कोई नहीं है, अतः मुझ पर कृपादृष्टि डालिये॥ ३१७॥

चारों पादों को बन्ध में पंक्तिशः लिखने, आदि आदि वर्णों को तुरङ्गपाद के समान पाद रखने पर पाद प्राप्त होता है॥ ३१८॥

स्व० भा०—इसमें तुरङ्ग पाद की ही भांति वर्ण विन्यास किया जाता है।

न	म	स्ते	ज	ग	तां	गा	त्र
स	दा	न	व	कु	ल	च	य
स	म	स्ते	ज	स	तां	ना	त्र
मु	दा	म	व	न	ल	च	य

नमस्त इत्यादि। जगतां नामरूपप्रपञ्चस्य गात्रभूत दानवकुलक्षयेण सहित मुदां हर्षाणां रक्षक अज विष्णो, अत्र जगति सतां मध्ये न कोऽपि ते तव समः। ततो लक्ष्य दृक्पातेनानुगृहाण। "मामिति शेषः"। न्यासमाह—चतुर्ष्वपीति। शेषं सुबोधम्॥

(५) व्योमबन्ध

व्योमबन्धो यथा—

'कमलावलिहारिविकासविशेषवहं जनकाङ्क
न नगामिकरं दिवि सारमनारमणं जरतां न।
तमसां बलहानिविलासवशेन वरं जनकान्त
न नमामि चिरं सवितारमनादिमहं जगतां न॥ ३१९॥'

अष्टादशशिखरचरीं गोमूत्रिकया चतुष्पदीं पश्येत्।
यत्राद्यन्तैर्दृष्टां स ज्ञेयो व्योमबन्ध इति॥ १११॥

व्योमबन्ध का उदाहरण--

प्रशस्त कमल वनों में विद्यमान मनोहर विकास के धारक, लोक-मस्तक के चिह्नभूत, भ्रमण शील किरणों वाले, आकाश मार्ग के सर्वस्व, परिणत लोक के भी प्रीतिकर्त्ता, अन्धकार की शक्ति का नाश करने के लिये निरन्तर व्यापारवान् रहने के कारण उत्कृष्ट, लोकहृदयङ्गम, संसार के आदि कारण भगवान् सूर्य को मैं प्रणाम करता हूँ॥ ३१९॥

जहां अठारह शिखरों में विचरण करने वाली तथा आदि और अन्त के एक समान वर्णवाली चतुष्पदी—छन्द के चारों चरणों की अवली—को गोमूत्रिका क्रम से देख पाये, वहां व्योमबन्ध समझना चाहिये॥ १११॥

स्व० भा०—कहने का अभिप्राय यह है कि व्योमबन्ध में अठारह शिखर—पद्मबन्ध के दलों की भांति कोष्ठकावलि—होते हैं। इसमें गोमूत्रिका क्रम से पाठ होता है। प्रथम शिखर के प्रथम वर्ण

से प्रथम पाद तथा द्वितीय शिखर के प्रथम वर्ण से द्वितीय पाद का आरम्भ होता है। तृतीय और चतुर्थ चरण प्रथम तथा द्वितीय शिखरों के क्रमशः तृतीय तथा चतुर्थ—केन्द्र के निकटवर्ती वर्णों से प्रारम्भ होते हैं। पूरे वन्ध को देखने से ज्योतिषियों के आकाश-दर्शक चित्र सा मालूम होता है। पाद निर्देश संख्या डालकर किया गया है।
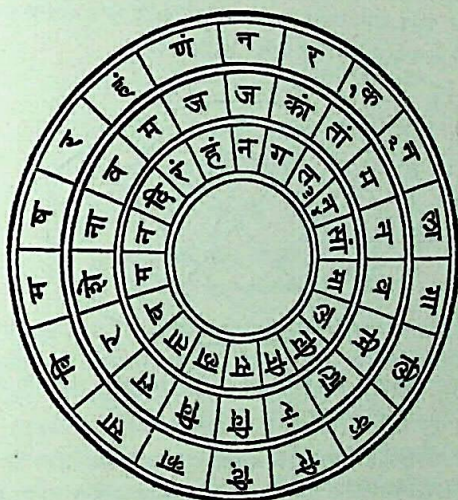
कमलावलिषु 'पद्मखण्डेषु प्रशस्तेषु हारी मनोज्ञो यो विकासविशेषस्तस्य बोढारं जनैर्लोकैः स्तुत्यं तदीयं कं शिरस्तत्राङ्क चिह्नभूत, न नगामिकरं, किंतु विसृत्वरकिरणमेव दिवि वैमानिकपथे सारभूतं जरतां परिणतानामनारमणं न, किंतु प्रीतिकरमेव। तमसां वल्हानौ यो विलासवशः संततो व्यापारस्तेन वरमुत्कृष्टं, जनकान्त लोकहृदयंगम, जनता-मनादिं न, किंत्वादिमेव। एवंविधं भगवन्तं सवितारमहं न नमामि किंतु नमाम्येव ॥ न्यासमाह—अष्टादशेति। आद्यन्तैर्दृष्टामिति। पादाद्यन्तवर्णयोरैक्यादिति बोध्यम् ॥

मुरजबन्धो यथा—

'सा सेना गमनारम्भे रसेनासीदनारता।
तारनादजना मत्तधीरनागमनामया ॥ ३२० ॥'

अत्र पादचतुष्केऽपि क्रमशः परिलेखिते।
श्लोकपादक्रमेण स्याद्रेखासु मुरजत्रयी ॥ ११२ ॥

मुरजबन्ध का उदाहरण—

वह सेना ऐसी थी जिसमें चलने के समय वीरगण अपना व्यापार कर रहे थे, लोग उच्च स्वर में बोल रहे थे। उनमें मत्त एवं गम्भीर हाथी थे। वहाँ कोई कष्ट में नहीं था ॥ ३२० ॥

यहाँ चारो पादों को क्रमशः ऊपर नीचे लिख देने पर श्लोक के पढ़े जा रहे पादों के क्रम से रेखाओं में तीन मुरज दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ११२ ॥

स्व० भा०—इसमें श्लोक के चारो चरण पहले क्रमशः एक के बाद दूसरे वर्णशः लिख दिये जाते हैं, किन्तु उनको पढ़कर पाद निकालने का क्रम दूसरा है। इस उद्धार क्रम के अनुसार रेखायें बनाते रहने पर सभी रेखायें एक दूसरे को काट कर ऐसा रूप बना देती हैं कि तीन मुरजों का दर्शन होने लगता है। प्रथम तथा द्वितीय मुरज स्वतन्त्र रूप से बनते हैं किन्तु तृतीय दोनों के मध्य में रेखाओं के परस्पर संयोग से।
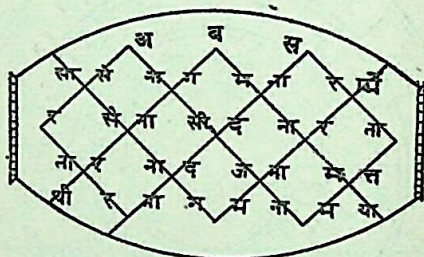
इस चित्र में स्पष्ट कर दिया गया है कि अ, ब, स, इन तीन वर्णों से तीन मुरजों के शीर्षकोण निर्दिष्ट हैं। यह श्लोक शिशुपालवध (१९।२९) का है।

अनारता अविच्छिन्नप्रहरणव्यापारा आसीत्। मत्तधीरनागमिति क्रियाविशेषणम्। रसेन वीरेण। महाप्राणशब्दजना ॥ अत्र न्यासमाह—अत्र पादेति । अत्र पुटचतुष्ककल्पनया मुरजत्रयोन्मेषः ॥

एकाक्षरमुरजबन्धो यथा—

'सुरानन त्वां न न हाननष्टये पुनः स्तुवेऽनर्घघनप्लवाननम्।
मनस्यनूनव्यसनप्रधूननं सकाननस्थाननदीननर्दनम् ॥ ३२१ ॥'

श्लोकस्यैतस्य पादेषु लिखितेषु चतुर्ष्वपि।
त्रिमृदङ्गकरीह स्याच्चतुरेकाक्षरावली ॥ ११३ ॥

एकाक्षर मुरजबन्ध का उदाहरण—

हे देवताओं के मुखभूत अग्निदेव, अपनी हानि के क्षय के लिये तुम्हारी स्तुति करता हूँ। पुनः धनराशि तथा प्राणन के प्रचुर प्रवाह को लाने वाले, मन में विद्यमान अत्यधिक व्यसनों का प्रतिक्षेप करने वाले, वनस्थली में जलराशि की भांति ध्वनि करने वाले देवता की स्तुति करता हूँ ॥ ३२१ ॥

इस श्लोक के चारों ही चरणों को लिख देने पर चित्र में चार बार प्रयुक्त एक ही अक्षर का समूह तीन मृदङ्गों का निर्माण करता है ॥ ११३ ॥

स्व० भा०—एकाक्षर मुरजबन्ध सामान्य मुरजबन्ध का एक विशेष प्रकार है। सामान्य प्रकार में तीन मुरज बनते हैं, यहाँ भी तीन मृदङ्ग बनते हैं। दोनों में अन्तर यह है कि प्रथम

में मुरज का चित्र विजातीय वर्णों के विन्यास से बनता है जब कि इसमें सजातीय वर्ण ही चित्र का निर्माण करते हैं।

इसमें भी चारों चरण क्रमशः लिख दिये जाते हैं। प्रथम पंक्ति से लेकर अन्तिम पंक्ति तक दायें तथा बायें दोनों ओर से चारों पंक्तियों में समान ही वर्ण आते हैं। प्रस्तुत चित्र में तीनों मुरजों में केवल नकार ही पूर्व तथा पश्चिम में है।
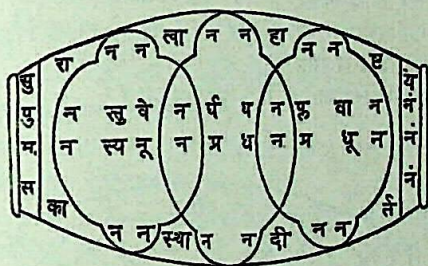
सुराणां देवानामाननं मुखं तद्भूत वह्ने। हाननष्ट्ये हानिनाशाय त्वां न न स्तुवे, किंतु स्तौम्येव। पुनरिति देवतान्तरव्यावृत्तौ स्तुत्यावृत्तौ वा। अनर्घ्यं घनौघप्राणने यस्मात्। 'अन प्राणने' इति धात्वनुसारात्। प्रणतानां मनसि यदनूनमनादिभवपरम्परानुपाति व्यसनं तस्य प्रधूननं प्रतिक्षेपकम्। सकाननेषु वनगहनेषु स्थानेषु नदीनस्य पयोराशेरिव नर्दनं कोलाहलो यस्येति॥ न्यासमाह—श्लोकस्यैतस्येति। प्रथमपादस्थादक्षरादारभ्य चतुर्थ-पादस्थमक्षरं यावदेकजातीयाक्षरचतुष्कावलीं गृहीत्वा परावृत्य तज्जातीयानामेव चतुष्टयी गृह्यते। तेनैकमुरजोन्मुद्रणमपरत्राप्यनेनैव प्रकारेणात्रोदाहरणे एकाक्षरमुरजत्रयी भवतीति न्यासार्थः॥

मुरजप्रस्तारो यथा—

'तालसारप्रभा राका तारकापतिदंशिता।
मारधाम रमाधीता वलयामास सागरम्॥ ३२२॥'

क्रमेणैवास्य पादेषु प्रसृतेषु चतुर्ष्वपि।
तुर्यान्मुरजमार्गेण श्लोकोऽयमुपजायते॥ ११४॥

'वरकारप्रदं धीरं तारधामाऽसमासिका।
सा लतामालयाऽमाऽप ताराभाऽतिरसागता॥ ३२३॥'

मुरज-प्रस्तार का उदाहरण—

ताल वृक्ष के सारभूत पदार्थ की भांति कान्ति वाली, चन्द्रमा से संयुक्त, कामोद्दीपिका, लक्ष्मी से समन्वित पूर्णिमा ने सागर को तरंगित कर दिया॥ ३२२॥

इस श्लोक के चारों पादों को क्रमशः फैला देने पर चतुर्थ पाद (के प्रथम लक्षण) से प्रारंभ करके जिस-जिस ओर चलने से मुरज की आकृति बनती हैं, चलने पर यह अधिक श्लोक बनता है॥ ११४॥

दीप्तकान्ति वाली, असामान्य स्थिति वाली, निर्मल मुक्ताओं से सुशोभित, अत्यन्त आनन्दित उस नायिका ने लतामण्डप के साथ अभीष्ट पदार्थ को देने वाले परपुरुष को पाया ॥ ३२३ ॥

स्व० भा०—मुरजबन्ध तथा मुरज प्रस्तार में अन्तर यह है कि प्रथम में चारों पंक्तियों को क्रमशः अङ्कित करने पर क्रमविशेष से पढ़ने पर भी पूर्वछन्द ही प्राप्त होता है, किन्तु इसमें पूर्वक्रम से बन्धानुसार श्लोक को लिख देने के बाद अपेक्षित क्रम से पढ़ने पर एक नया श्लोक उपलब्ध होता है। पूर्व प्रस्तावित वर्णों के बीच में नये क्रम के आ जाने से इसे प्रस्तार कहते हैं। आगे गोमूत्रिका आदि के प्रसङ्ग में भी नये छन्द के निकल आने पर प्रस्तार का उल्लेख किया गया है। इस मुरजबन्ध का चित्र नीचे दिया जा रहा है।

इस चित्र में बायें ऊपर प्रथम 'ता', बायें नीचे 'ब', 'अ' के नीचे रेखा में 'सा', दाहिनी ओर मध्य के ऊपरी 'ता' से चारों पादों का प्रारम्भस्थल लक्षित है। चतुर्थ पाद के प्रथम अक्षर से—बांयीं ओर के निम्नतम कोण से—रेखानुसार ऊपर तथा ऊपरी शीर्ष से दाहिनी ओर निम्नतम कोण तक आगमन हुआ है। द्वितीय पाद बांयीं ओर के ऊर्ध्व भाग अर्थात् प्रथम पंक्ति के प्रथम वर्ण से प्रारम्भ होता है और दाहिनी छोर पर ऊपर समाप्त होता है। तीसरे तथा चतुर्थ पाद क्रमशः 'अ' मुरज तथा 'स' मुरज के 'सा' तथा 'ता' वर्णों से चलकर चतुष्कोण सा पूरा करते हैं और स्वयं भी पूर्ण होते हैं। इस प्रकार के बने हुए चारों चरणों का प्रस्तार छन्द—नया छन्द—बन जाता है।

तालतरोर्यत्सारं खाद्यभागस्तत्प्रभेवावदाता प्रभा यस्याः। राका पूर्णिमा तत्का-पतिना चन्द्रेण दंशिता कवलिता। मारस्य कामस्य धाम स्थानं यत्र। रमया लक्ष्म्या अधीताभ्यस्ता। सलक्ष्मीकेत्यर्थः। वलयामास चालितवती, बलवन्तं वा चकार। 'विन्म-तोर्लुक्' इत्यनुशासनात् ॥—क्रमेणैवेति। तुर्याद्य पादप्रथमाक्षरादुपक्रमे येन येन मार्गेण मुरजाकृतिर्लभ्यते तेनायमपरः श्लोको भवति। वरस्य ईप्सितस्य वस्तुनः कारः कारणं तत्प्रदं तारं दीप्तं धाम कान्तिर्यस्याः। असमा अनन्यसाधारणी आसिका स्थितिर्यस्याः सा नायिका लतामालया संकेतलतामण्डपेन अमा सार्धं आप प्राप्तवती। तारा रोहिणीप्रभृ-तिस्तदात्मा, तारैर्निर्मलमौक्तिकैर्वा भाति या। अतिशयितेन रसेन पूर्णा उपगता संगता। प्रकृतोदाहरणेऽष्टाक्षरप्रस्तावान्तःपाती यः प्रकारस्तदन्तःपाती मुरजाक्षरैर्लभ्यते ॥

उदाहरणमात्रं चैतत्, तेन गतिचित्रादिगोमूत्रिकादयोऽन्येऽपि चित्रप्रकारा भवन्ति।

गतिरुच्चावचा यत्र मार्गे मूत्रस्य गोरिव।
गोमूत्रिकेति तत्प्राहुर्दुष्करं चित्रवेदिनः॥ ११५॥

तेषु पादगोमूत्रिका यथा—

'काङ्क्षन्पुलोमतनयास्तनपीडितानि
वक्षःस्थलोत्थितरयाञ्जनपीडितानि।
पायादपायभयतो नमुचिप्रहारी
मायामपास्य भवतोऽम्बुमुचां प्रसारी॥ ३२४॥'

सेयमयुग्मतः पादगोमूत्रिका॥

यह सब तो मात्र निदर्शन हैं, अतः गति-चित्र आदि के गोमूत्रिका आदि दूसरे भी चित्र काव्य के प्रकार होते हैं।

रास्ते में बैल के मूत्र की भांति जब चित्र में भी वर्णों की गति ऊँची-नीची हो, वहां गोमूत्रिका कही गयी है। चित्रकाव्य के मर्मज्ञ इसे अत्यन्त कठिन कहते हैं॥ ११५॥

इनमें से पादगोमूत्रिका का उदाहरण—

पुलोमजा के उरोजों को दबाने तथा वेग से उठ कर वक्षःस्थल से आलिंगन के इच्छुक, वज्र से प्रहार करने वाले तथा मेघों को फैलाने वाले इन्द्र माया को दूर कर आपकी हानियों से रक्षा करें॥ ३२४॥

यह आयुग्मपादों से प्रारम्भ करने से पाद गोमूत्रिका है।

स्व० भा०—आगे दिये जा रहे चित्र से स्पष्ट है कि बैल के मूत्ररेख की भांति वर्णों का योजना-क्रम ऊपर नीचे तथा नीचे ऊपर चलता रहता है। जहाँ अयुग्म अर्थात् विषमपाद—प्रथम या तृतीय—से चित्र में वर्ण विन्यास होता है और दूसरा अथवा चौथा पाद सन्दष्ट रहता है, उसी के साथ उभरता है, तब अयुग्मपादीय गोमूत्रिका होती है। द्वितीय तथा चतुर्थ—अर्थात् युग्म—सम—पादों से विन्यास प्रारम्भ करने पर प्रथम और तृतीय संदष्ट हो जाते हैं, तब युग्मपदीय गोमूत्रिका होती है। दण्डी ने गोमूत्रिका की परिभाषा यों दी है—

वर्णानामेकरूपत्वं यत्त्वेकान्तरमर्धयोः।
गोमूत्रिकेति तत् प्राहुर्दुष्करं तद्विदो यथा॥ काव्यादर्श ३।७८॥

गोमूत्रिका प्रायः तीन प्रकार की मानी जाती है—पादगोमूत्रिका, अर्धगोमूत्रिका तथा श्लोकगोमूत्रिका। जहां चित्र में एक छोर से दूसरी छोर तक जाने पर पादही पृथक्-पृथक् पूरे होते हैं, उसे पादगोमूत्रिका कहते हैं। जहां आदि से अन्त तक एक छोर से दूसरे छोर तब आधा श्लोक ही एक वार में समाविष्ट हो जाये उसे अर्ध अथवा अर्ध श्लोक गोमूत्रिका कहते हैं तथा श्लोक गोमूत्रिका में अर्ध श्लोक-क्रम से ही पढ़ कर दो श्लोक एक साथ निकाले जाते हैं।

जब श्लोक के समवर्ण एक रूप हों तब उसे पूर्वार्ध के प्रथम अक्षर से पढ़ना प्रारंभ करना चाहिये अन्यथा उत्तरार्ध के प्रथम वर्ण से उपर्युक्त उदाहरण के समवर्णों में समानता होने से पूर्वार्ध के प्रथम अक्षर से ही पढ़ना प्रारम्भ करने पर पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध से प्रारम्भ करने पर उत्तरार्ध भाग निकलेगा। इसमें आदि से अन्ततक पाद ही विन्यस्त है, उसी का उद्धार होता है, अतः यहां पादगोमूत्रिका हैं। इसका चित्र निम्नलिखित है—
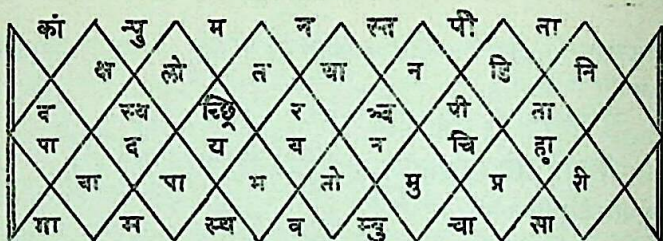
यह चित्र सामान्य रूप से भी बन सकता था किन्तु एक-एक पाद में १४-१४ वर्ण हो जाने से माला बड़ी लम्बी बनती, अतः उपर्युक्त रूप में पूरा छन्द ही प्रस्तुत किया गया है।

ननु यावदुदाहृतमेव किं गत्यादि चित्रं, तथा सति किं गोमूत्रिकादीनां पृथग्भागविभागव्याघातः स्यादित्यत आह—उदाहरणमात्रं चैतदिति। गतिः पठितिसंचारो वर्णानामुच्चावचं वोर्ध्वाधःपर्यायेण प्रवृत्ता। मायां संसारबन्धमपास्य दुःखभयात्पायादिति संबन्धः॥ न्यासो यथा—अयुग्मतः प्रथमात्तृतीयाच्चोपक्रम्य द्वितीयचतुर्थपादसंदंशेन गोमूत्रिकया प्रथमद्वितीययोस्तृतीयचतुर्थयोश्च परस्परमुन्मेषणमितीयमयुक्पादगोमूत्रिका॥

युग्मतो यथा—

'देवः शशाङ्कशकलाभरणः पिनाकी देयः शमैकविकलेभरणः सनागः।
चित्ते महासुरजनेन शुभं विधत्तां चित्तं महासुरजनानतभङ्गधन्वा ॥३२५॥'

युक्पादगोमूत्रिका का उदाहरण—

चन्द्रकला को भूषण की भांति धारण करने वाले, पिनाकधारी, ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवताओं द्वारा हृदय में धारणीय, गजासुर के संग्राम को एकमात्र शान्ति के द्वारा ही समाप्त कर देनेवाले, सर्पधारी तथा महत्त्व के देवता राम के द्वारा झुका कर तोड़ दिया गया था धनुष जिनका अथवा बड़े-बड़े देवताओं के कार्य को सिद्ध करने के लिये जो अपनी धनुष को झुका कर टेढ़ा करते हैं—प्रत्यञ्चा चढ़ाते हैं वही भगवान् शङ्कर लोक के चित्त को शुभ बनावें॥ ३२५॥

स्व० भा०—यहाँ श्लोक में युग्म—सम-पाद से प्रारम्भ करके विषमपाद की निष्पत्ति की जा रही है। इसमें द्वितीय पाद के प्रथमाक्षर से प्रारम्भ करके पढ़ने पर प्रथम तथा प्रथम पाद के प्रथमाक्षर से ऊपर नीचे पढ़ने पर द्वितीय पाद निकलता है। जैसे—

इसे संक्षेप में यों भी बनाया जा सकता है—

महासुरजनेन ब्रह्मादिना चित्ते देयो धारणीयः। शमेनैकेन विकलीकृत इभरणो गजानासुरयुद्धं येन। शुभं कल्मषरहितं चित्तं विधत्ताम्, अविशेषेण संसारिणामेव। अत्र पूर्ववत्समपदमुपक्रम्य विषमपादसंदंशेन समाप्तिरिति विशेषस्तेनेयं युक्पादगोमूत्रिका॥

अर्धश्लोकगोमूत्रिका यथा—

'चूडाप्रोतेन्दुभागद्युतिदलिततमस्कन्दलीचक्रवालो
देवो देयाद्‌दुदारं शममरजनतानन्दनोऽनन्यधामा।
क्रीडाधूतेशभामा द्युसदनतनिमच्छेदनी च भ्रुवा नो
देहे देवी दुरीन्दममरतनता नन्दिनोमान्यधामा॥ ३२६॥'

अर्धश्लोक गोमूत्रिका का उदाहरण—

मस्तक पर संसक्त चन्द्रकला के प्रकाश से तमःप्ररोह के समूह को ध्वस्त करने वाले, देव-समूह को सुख देने वाले, स्वात्माराम भगवान् शिव हमें प्रचुर कल्याण प्रदान करें। खेल ही खेल में शिव के क्रोध को शान्त करने वाली, देवों की दुर्बलता अथवा अभावों को भ्रूक्षेप से ही दूर करने वाली, निरन्तर नन्दी के द्वारा प्रणत, अपूर्व तेजस्विनी देवी उमा हमारे शरीर में दम प्रदान करें॥ ३२६॥

स्व० भा०—यह छन्द अर्धश्लोक गोमूत्रिका का उदाहरण है। इसमें प्रथम तथा तृतीय चरण अयुग्मतः तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण युग्मतः चलते हैं। इस प्रकार यहाँ आधा श्लोक ही एक साथ एक रीति से चलता है, इसीलिये इसका अर्धश्लोक नाम भी सार्थक है। नीचे के दो चित्रों में उभयार्थ स्पष्ट हैं।

यहाँ (अ) तथा (ब) खण्डों में दोनों अर्धभाग स्पष्ट कर दिये गये हैं। अयुग्म तथा युग्म होने के कारण दोनों के दो प्रकार के चित्र बने हैं।

इन्दोर्भागः खण्डं। शं कल्याणं। अमरजनता देवसमूहः। नास्त्यन्यद्धाम स्थानं यस्य सोऽनन्यधामा। स्वात्माराम इत्यर्थः। न परं देवो देवी च। भ्रुवा भ्रूक्षेपेण दुरीन्दूर-मपनयन् नोऽस्माकं देहे दमं देयादिति संबन्धः। धूतेशभामा प्रणयेनापहृतपरमेश्वर-

प्रणयरोषा। 'भाम क्रोधे' इति धात्वनुसारात्। द्युसदना देवाः। अरतमविश्रान्तं नन्दिना नता उमा गौरी। अपूर्वं धाम तेजो यस्याः॥

श्लोकगोमूत्रिकायां प्रथमश्लोको यथा—

'पायाद्वश्चन्द्रधारी सकलसुरशिरोलीढपादारविन्दो
देव्या रुद्धाङ्गभागः पुरदनुजदवस्त्यानसंविच्छिदानम्।
कंदर्पक्षोदपक्षः सरससुरवधूमण्डलीगीतगर्वो
दैत्याधीशान्धकेनानतचरणनखः शंकरो भव्यभाव्यः॥ ३२७॥'

द्वितीयो यथा—

देयान्नश्चण्डधामा सलिलहरकरो रूढकन्दारविन्दो
देहे रुग्भङ्गरागः सुरमनुजदमं त्यागसंपन्निधानम्।
भन्दं दिक्क्षोभनश्रीः सदसदरवधूखण्डनागीरगम्यो-
ऽदैत्यैधी बन्धहानावततरसनयः शंपरो दिव्यसेव्यः॥ ३२८॥'

श्लोक-गोमूत्रिका में प्रथम श्लोक का उदाहरण—

सभी देवताओं के मस्तक पर व्याप्त चरणकमल वाले, गौरी देवी के द्वारा अङ्गीकृत अर्धभाग वाले, पुर नामक दैत्य रूपी दावानल के विस्तार को समाप्त करने वाले, कामदेव को दबा डालने में समर्थ, प्रेमपूर्वक देवाङ्गनासमूह जिनके पराक्रम का गान करता है, दैत्यराज अन्धक के द्वारा गृहीत चरण-नख वाले, उत्तम पुरुषों के ध्येय तथा अपने हाथ में कल्याण को धारण करने वाले, चन्द्रशिरोमणि शिव आपकी रक्षा करें॥ ३२७॥

दूसरा छन्द जैसे—

जल को हरने में समर्थ किरणों वाले, कमलों को खिला देने वाले, प्रणतों के प्रति प्रेम रखने वाले, तथा अपनी कान्ति से अरुणिमा को भी जीतने वाले, देवताओं तथा मनुष्यों को दमित करने वाले, त्याग तथा सम्पत्ति के आश्रय, दिशाओं को भी क्षुब्ध करने वाली छटा से सम्पन्न, उपवन में भयभीत वधुओं की भर्त्सना के अविषय दैत्यों का वर्धन न करने वाले, संसारबन्ध के नाश हेतु तीव्र नीति वाले, सुखों के पूरक, दिव्य तथा सेव्य भगवान् सूर्य हमारी देह में कल्याण दें॥ ३२८॥

स्व० भा०—श्लोक-गोमूत्रिका में दो श्लोकों के पाद क्रमशः प्रारंभ होते हैं अर्थात् प्रथम पाद के साथ द्वितीय श्लोक का प्रथम पाद भी प्रारंभ होता है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आदि पादों का भी क्रम चलता है। अन्तर अर्धश्लोक गोमूत्रिका ही पड़ती है अर्थात् जैसे उसमें समवर्णों की समता होने पर प्रथम पाद के प्रथम वर्णसे ही प्रथम पाद का प्रारम्भ होता है और द्वितीय के प्रथम से द्वितीय का, तथा विषम वर्णों की समानता पर द्वितीय पाद के प्रथम वर्ण से प्रथम पाद का तथा प्रथम पाद के प्रथम वर्ण से द्वितीय पाद का प्रारम्भ होता है, यह क्रम यहाँ भी लागू होता है। उपर्युक्त दोनों श्लोकों के प्रथम पादों में समवर्ण समान हैं, तथा द्वितीय पादों के विषम। इसी प्रकार दोनों के तृतीयों के सम तथा चतुर्थों के विषम वर्ण समान हैं, अतः यहाँ युग्म तथा अयुग्म दोनों का निदर्शन है। उदाहरण के लिये दोनों के प्रथम-प्रथम

तथा द्वितीय-द्वितीय दो का ही चित्र नीचे दिया जा रहा है। इसी क्रम में दूसरे पादों को भी देखना चाहिये और चित्रित करना चाहिये।

पुराख्यदानवस्य दवो दावाग्निः स्त्यानायाः घनायाः संविदो निदानम्। दैत्याधीशेनान्धकेनानतचरणः। भव्यानामुत्तमानां भाव्यो ध्येयः। रूढकन्दान्यरविन्दानि यस्मात्। प्रणतानां रुगनुरागो यस्य। सुराणां मनुजानां च दमं दमतीति वा। त्यागसंपदो निधानमाश्रयः। दिशां क्षोभदायिका श्रीर्यस्य। सदे उपवने सदरा सभया या वधूस्तदीयानां खण्डनागिरां निर्भर्त्सनवचसामविषयः। अदैत्यैर्धी न दैत्यवर्धनः। संसारबन्धविच्छित्तये विस्तीर्णरयो नयो यस्य। शं सुखं पिपर्ति पूरयतीति शंपरो दिव्यः सेव्यश्चेति। एवंविधश्चण्डधामा रविर्नोऽस्माकं देहे मन्दं कल्याणं देयादित्यर्थः॥

विपरीतगोमूत्रिकायां प्रथमश्लोको यथा—

'विनायकं दानसुगन्धिवक्त्रं स्मिताननं मन्दचरं कथासु।
नमामि विघ्नावलिहारिसारं सतीसुतं शंकरवल्लभं च॥ ३२९॥'

विपरीतश्लोको यथा—

'चलल्लतारब्धशमं सुभासं संसारहारं बहुविप्रमान्यम्।
सुधाकरं चन्द्रमसं नतोऽस्मि सवर्णगर्भं नवकम्बुनाढ्यम्॥ ३३०॥'

विपरीत गोमूत्रिका में प्रथम श्लोक का उदाहरण—

मदजल से सुगन्धित मुख वाले, रोचक प्रसङ्गों में मन्द-मन्द मुस्कराने वाले, मन्द-मन्द चलने फिरने वाले, विघ्नसमूहों को हरने वालों में सर्वोत्कृष्ट, सती के पुत्र और शिव के प्रिय गणेश को नमस्कार है॥ ३२९॥

विपरीत श्लोक—

चञ्चल लताओं को सान्त्वना देने वाले, सुन्दर कान्तिशाली, विश्व के हारस्वरूप, अनेक द्विजों के सम्मानभाजन, अमृत के निधान, समानवर्ण के मध्य स्थित, नवीन कम्बु से सुशोभित चन्द्रमा को प्रणति है॥ ३३०॥

स्व० भा०—ये दोनों श्लोक विपरीतगोमूत्रिका के उदाहरण हैं। इनमें प्रथम श्लोक के पूर्वार्ध तथा द्वितीय के उत्तरार्ध और प्रथम के उत्तरार्ध तथा द्वितीय के पूर्वार्ध की संगति बैठती है। सीधे क्रम से ऊपर से पढ़ाई करने पर प्रथम श्लोक का पूर्वार्ध निकलता है तथा दाहिनी ओर से—विपरीत दिशा से—ऊपर से नीचे की ओर पढ़ते जाने पर अन्त में द्वितीय श्लोक का उत्तरार्ध प्राप्त हो जाता है। यही क्रम शेषार्ध के भी बारे में अन्वित होता है। आगे दिये जा रहे दोनों रेखाचित्रों में (१), (२) आदि संख्याओं से पाद सूचित कर दिये गयेहैं। (अ) तथा (ब) वर्ण क्रमशः प्रथम तथा द्वितीय श्लोक की ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार (अ) (१) का अर्थ हुआ प्रथम श्लोक का प्रथम पाद।
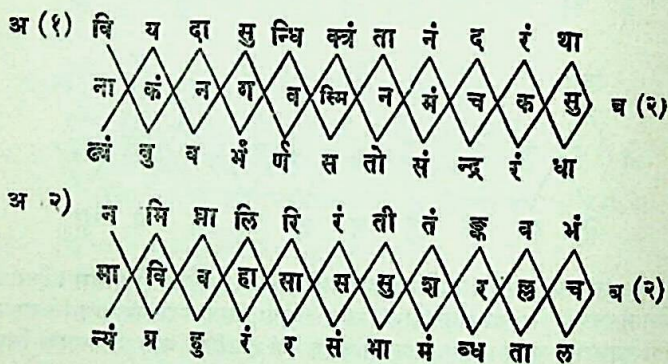
मन्दचरं मन्दालसगमनम्। कथासु भक्तदेवानां वार्तासु महाशयतया स्मेराननम्। विघ्नपरम्पराहारिणां च सारसुक्ष्टम्। चलन्तीनां लतानामारब्धं सान्त्वनं येन। बहुविभ्रमान्यं द्विजराजशेखरत्वात्। समानवर्णसध्यगम्। नवेन कम्बुनाढ्यमुपचितम्। आद्यश्लोकस्याधस्ताद्विपरीतो द्वितीयश्लोको लेख्यः। ततः क्रमगोमूत्रिकया परस्परोल्लेखः॥

भिन्नच्छन्दोगोमूत्रिकायां प्रथमश्लोको यथा—

'नमत चन्द्रकलामयमण्डनं नगसुताभुजसंगतकन्धरम्।
हरमभाग्यरदं स्तवसादरं समितिरावणशासनविक्रमम्॥ ३३१॥'

द्वितीयश्लोको यथा—

'कामदं चण्डकम्रं मदामर्दिनं नागदन्ताव्यजय्यं गदाकबुरम्।
धीरशोभाभरव्यस्तकंसासुरं नौमि नारायणस्यासमं विभ्रमम्॥ ३३२॥'

भिन्न छन्दों वाली गोमूत्रिका में प्रथम श्लोक यह है—

चन्द्रकला के संयुक्तभूषण वाले, पर्वती की भुजाओं से आश्लिष्ट कन्धे वाले, अभाग्यनाशक, सम्मानपूर्वक स्तुत तथा संग्राम में रावण के आदेश तथा पौरुष स्वरूप अथवा ('शमित' पाठ होने पर) रावण के आदेश तथा पौरुष को दबा देने वाले भगवान् शिव को प्रणाम करो॥ ३३१॥

दूसरा श्लोक यह है—

वाञ्छित फल देने वाले, भयानक तथा सुन्दर, गर्व के विध्वंसक, कालिय सर्प अथवा कुवलयापीड हाथी के दान्तो से किये गये प्रहारों से अजेय गदा की विभिन्न मणियों की कान्ति के कारण

कबरे, धैर्य तथा सहज छटा के साथ कंसासुर को ध्वस्त करने वाले भगवान् नारायण के अतुलनीय अनुभावों को नमस्कार करता हूँ॥ ३३२॥

स्व० भा०—अभी तक युग्मपाद, अयुग्मपाद, पाद-अर्ध तथा श्लोक के गोमूत्रिका क्रम से अनुलोम तथा विलोम क्रम से बनने वाले चित्रों का निरूपण किया गया। यहाँ तक तो गनीमत थी। प्रस्तुत उदाहरण में दो भिन्न यति, गण आदि वाले श्लोक का सन्निवेश एक ही गोमूत्रिका चित्र पर किया जा रहा है। भाषा निःसन्देह एक ही है और वह है संस्कृत। यहां प्रथम में द्रुतविलम्बित—"द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ"—तथा द्वितीय में स्रग्विणी—"कीर्तितैषा चतूरेफिका स्रग्विणी"—छन्द हैं। दोनों ही परस्पर भिन्न हैं। किन्तु दोनों के पादों में १४-१४ वर्ण होने से कार्य सिद्ध हो जाता है। चित्र आगे दिया जा रहा है। इसमें प्रथम छन्द का पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध द्वितीय छन्द के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध से क्रमशः संयुक्त होकर एक साथ चित्र की उद्भावना करते हैं। जैसे—

अभी तक इस उपर्युक्त चित्र में भिन्न छन्दों वाली गोमूत्रिका प्रदर्शित की गई है। आगे भिन्न भाषाओं के छन्दो की गोमूत्रिका का उदाहरण उपस्थित है।

अभाग्यस्य रदं विलेखकम्। नाशकमिति यावत्। समितौ संग्रामे रावणस्य कैलासोद्धरणभग्नशक्तिकताशासनविक्रमावाज्ञापौरुषे येन तम्। वाञ्छितप्रदम्। चण्डमुग्रं कम्रं कमनीयं च। परेषां दर्पमर्दनशीलस्य नागस्य कालियाख्यस्य दंष्ट्राभिः, कुवलयापीडाख्यस्य हस्तिनो वा विषाणाभ्यां या आजिः सङ्ग्रामः तत्राजय्यं जेतुमशक्यम्। गदया नानारत्नखचितया कर्बुरम्। चित्रमिति यावत्॥

संस्कृतप्राकृतगोमूत्रिकायां संस्कृतश्लोको यथा—

'स्कन्दो रुन्दर्द्धिमिष्टां वितरतु सरलो दारितारातिवर्गो
सस्पन्दो मन्दसज्जो भवभयकलने सङ्गरे केलिकारी।
संदोहोल्लाघलासी जन इह बलिहा चण्डताभूरखर्वो
देवौजोराजदेहे महिमनि निरतो विक्रमाडम्बरेण॥ ३३३॥

संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के श्लोकों की गोमूत्रिका में संस्कृत श्लोक, जैसे—

सरल स्वभाव वाले, दलित शत्रुसमूह में प्रयत्नशील, स्वस्थचित्त एवं सन्नद्ध, संसार के भय को निगल जाने वाले युद्ध में भी आनन्द मनाने वाले, समूह के सामर्थ्य से विलसित होनेवाले, बली शत्रुओं के हन्ता, तीक्ष्णता के आधार, सर्वोपरि विराजमान, राजाओं की खण्डयित्री इच्छा रूप महिमा में निरत स्वामी कार्तिकेय अपने पौरुष से इस संसार में इस जन को विपुल सम्पत्ति प्रदान करें ॥ ३३३ ॥

स्कन्दः कार्तिकेयः । रुन्दां विपुलाम् । दारिते शत्रुसमूहे सस्पन्दः स्फुरद्रूपो मन्दः स्वस्थचित्तः भवभयस्य संसारत्रासस्य कलने क्षेपणे इहजने मर्त्यलोके संदोहेन य उल्लाघः सामर्थ्यं नीरोगत्वात्तेन लसनशीलः । बलिनां हन्ता । चण्डतायास्तैक्ष्ण्यस्य भूराश्रयः। अखर्वः सर्वेषामुपरि वर्तमानः । देवौजसां राज्ञां खण्डयित्री ईहा चेष्टा यत्र तादृशे महिम्नि निरतः ॥

प्राकृतश्लोका यथा—

'चन्दो कन्दप्पमित्तं विहरणसहलो हारितारापबन्धो
सच्छन्दो वन्दणिज्जो कुवलयदलनो सङ्करे मेलिकारी।
कन्दोदोल्लासलासी जअइ सिवसिहामण्डनीभूदखण्डो
देन्ताजोण्हाजलोहो विहिअणिअरई विब्भमाणं बलेण ॥ ३३४ ॥'

[चन्द्रः कन्दर्पमित्रं विहरणसफलो हारितारापबन्धः
स्वच्छन्दो वन्दनीयः कुवलयदलनः शंकरे मेलिकारी।
कन्दोदोल्लासलासी जयति शिवशिखामण्डनीभूतखण्डो
दत्तज्योत्स्नाजलौघो विहितनिजरतिर्विभ्रमाणां बलेन ॥]

प्राकृत-श्लोक जैसे—

कामदेव का सखा, विचरण में सफल, नक्षत्रसमूहों के हार वाला अथवा तारा के प्रेम को प्राप्त करने वाला, स्वतन्त्र, पूज्य, कमल का अपकर्षक, शिव का सम्पर्क प्राप्त करने वाला, कमलिनी के खिलने से सुशोभित होनेवाला, शंकर के मस्तक पर आभूषण बनी हुई है कला जिसकी, चाँदनीरूपी जल की बाढ़ प्रदान करने वाला, अपने विभ्रमों के बल से अपने में ही आनन्दित रहने वाला चन्द्रमा सर्वोत्कृष्ट है ॥ ३३४ ॥

स्व० भा०—ऊपर दो छन्द दिये गये हैं इनमें प्रथम संस्कृत का है दूसरा प्राकृत का। इन दोनों श्लोकों के समपाद अर्थात् द्वितीय तथा चतुर्थ के विषम वर्ण—प्रथम, तृतीय, पंचम आदि—परस्पर समान हैं। अर्थात् दोनों के द्वितीय पादों में प्रथम, तृतीय, पंचम आदि स्थलों पर स, न्दो, न्द आदि ही वर्ण है। चतुर्थ पादों में भी प्रथम, तृतीय, पंचम आदि स्थलों पर क्रमशः दे, जो, ज आदि वर्ण हैं। दोनों के प्रथम पादों के द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ आदि वर्ण समान हैं और तृतीय चरणों के भी। इस प्रकार इस श्लोक-गोमूत्रिका के विषम पाद अयुक् हैं तथा समपाद युग्म है। इनका चित्र आगे दिया जा रहा हैं।

इसी प्रकार तृतीय तथा चतुर्थ चरणों का भी गोमूत्रिकाचित्र बनाया जा सकता है। यहाँ निदर्शन के लिये चित्र दे दिया गया है। (सं०) के द्वारा संस्कृत तथा (प्रा०) के द्वारा प्राकृत पादों का संकेत दिया गया है।

विहरणे संचरणे सफलः। उद्भूतः शुभाशुभसूचकत्वात्। मेलिकारी मंगलकारी चूडामणित्वात्। ऐक्यकारी वा, तन्मूर्तित्वात्। कन्दोदं कुमुदमिहाभिमतं तद्विकासेन लसनशीलः। ज्योत्स्नाजलौघान्ददत्। विभ्रमाणां बलेन विहिता निजे आत्मनि रतिर्येन स तथा॥

समसंस्कृतप्राकृतेन पादगोमूत्रिका यथा—

'बाला विलासावलिहारिहासा लोलामला भावसहा सहावा।
देहं हरन्ती सहसा सुरामा गेहं चरन्ती सहसाभिरामा॥ ३३५॥'

संस्कृत तथा प्राकृत दोनों में ही समान रहने वाली पादगोमूत्रिका का उदाहरण—
अन्यविलासमयी चेष्टाओं में जिसकी हँसी अत्यन्त मनोज्ञ है, वह चञ्चला, निर्मल, अनेक भावों को सहने वाली, हावों से संवलित देह धारण करती हुई एकाएक यह सुन्दरी, रूपवती षोडशी हँसती हुई गृह में प्रविष्ट हो रही है॥ ३३५॥

स्व० भा०—इस छन्द में ऐसे वर्णों का विन्यास किया गया है जिनसे बना श्लोक संस्कृत तथा प्राकृत दोनों का कहा जा सकता है। इसका न्यास निम्नलिखित विधि से होगा—

भोज ने श्लोक के पूर्व ही स्पष्ट कर दिया है कि यह पाद-गोमूत्रिका है, अतः यहाँ प्रथम तथा द्वितीय पादों को स्पष्ट रूप से चित्रित कर दिया गया है। इसके उदाहरण दुर्लभ होते हैं।

विलासावलिपु हारी हासो विकासो यस्याः। लोला चला। अमला निर्मला। भावान-नेकविधान्या सहते सा भावसहा। हावः क्रीडाविशेषः॥

अर्धगोमूत्रिकाप्रस्तारो यथा—

'नमो दिवसपूराय सुतामरसभासिने।
नतभव्यारिदाराय सुसारलयभाविने॥ ३३६॥'

अर्धगोमूत्रिका का प्रस्तार जैसे कि—

सुष्ठु रूप से कमलों में भासित होने वाले, प्रणत भक्त जनों के शत्रुओं को नष्ट करने वाले, सुन्दर सार रूप लय की भावना करने वाले दिवसपूरक सूर्य को नमस्कार है॥ ३३६॥

दिवसान्पूरयतीति दिवसपूरः तस्मै। सुपु तामरसेपु भासनशीलाय। नता भव्या यस्मै। अरीन्दारयतीत्यरिदार.। ततः कर्मधारयः। नतानां भव्यानामरिदार इति वा, नता भव्या अरिदारा यस्मिन्निति वा। सुष्ठु सारो लयस्तत्र लयनं तं भावयति यस्तस्मै॥

अत्र गोमूत्रिकाश्लोकोऽयमुत्तिष्ठति—

'नतदिव्यासदाराय सुसामलसभासिने।
नमो भवारिपूराय सुताररयभाविने॥ ३३७॥'

यहाँ यह गोमूत्रिका श्लोक निकलता है—

देवताओं द्वारा प्रणत, शत्रु-चक्ररहित, शोभन सामगीतियों के विलसित होने से और भी भासनशील, आकाश को आच्छादित करने वाले, सुन्दर तथा तीव्र वेगयुक्त गतिशाली देव को नमस्कार॥ ३३७॥

स्व० भा०—इस अर्धश्लोक गोमूत्रिका में प्रस्तार भी प्रदर्शित किया गया है। गोमूत्रिका के पाद, अर्ध, श्लोक आदि के विभिन्न रूप, विभिन्न छन्द तथा भाषा और समभाषा से लेकर विपरीत क्रम तक का निरूपण किया गया था। प्रस्तार ही सामान्य क्रमों में शेष रह गया था उसको भी यहां स्पष्ट किया जा रहा है। चित्र निम्नलिखित ढंग से होगा।
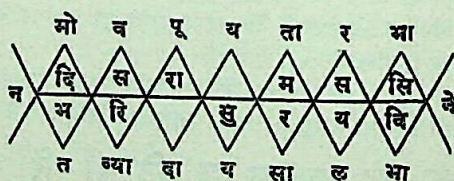
उपर्युक्त चित्र के अर्ध भाग में मूल छन्द का पूर्वार्ध तथा आधे में उत्तरार्ध है। चित्र में प्रयुक्त 'रा' तथा 'सु' उभयनिष्ठ हैं। यहाँ मध्य में स्थित वर्णों का ऊपरी भाग से तथा निचले भाग से यथायोग्य सम्बन्ध स्थापित करने पर मूल छन्द की सिद्धि हो चुकी थी। इन्हीं मध्य-स्थित वर्णों का योग विपरीत पाद के वर्णों से करने पर प्रस्तार हो जायेगा और नया श्लोक निकलेगा। अर्थात् 'नत' के बाद 'भ' का योग न करके 'दि' से, 'व्या' का 'स' से 'दा' का 'रा' से इस क्रम से तथा ऊपरी भाग में 'नमो' के बाद 'भ' 'व' के बाद 'रि' 'पू' के बाद 'रा' आदि का क्रमशः योग करने पर श्लोक निकलता है। यही गोमूत्रिका का श्लोक-प्रस्तार है।

नता दिव्या देवा यस्मै । असदविद्यमानमरि चक्रं यस्य । ततः कर्मधारयः । शोभनानां साम्नां लसनेन भासनशीलाय । भानि नक्षत्राण्यावरितुं शीलं यस्येति भवारि आकाशं पूरयति व्याप्नोति एवंभूताय । सुष्ठु तार उच्छ्रितो यो रयो वेगो गमनं तेन भाविने ॥

गोमूत्रकाधेनुर्यथा—

'मम स्फुरतु चिद्गतः सततचिन्त्यरक्षामतिः
समस्तरविचित्रितस्तुतरुचिः स्मरक्षेमकृत् ।
समर्द्धिरतचिन्तितः कृतविचित्ररत्यामयो
नमस्करणचिह्नितस्मितरुचिर्हरः सामरः ॥ ३३८ ॥'

चतुर्णामपि पादानां क्रमेण व्युत्क्रमेण च ।
इयं गोमूत्रिकाधेनुर्वैपरीत्यवशेन च ॥ ११६ ॥

गोमूत्रिका धेनु का उदाहरण—

निरन्तर जिसकी रक्षा तथा मति चिन्तनीय हैं, सभी सूर्यों के द्वारा आलिखित प्रशस्त कान्ति वाले कामदेव की कुशलता को नष्ट करने वाले, सभी ऋद्धियों में रत लोगों के द्वारा ध्येय, रति के लिये अद्भुत क्लेशोत्पादक, नमस्कार के चिह्नभूत स्मिति की छटा धारण किये हुये देवों सहित मेरे संविद् में विद्यमान भगवान् शिव स्फुरित होवें ॥ ३३८ ॥

स्व० भा०—गोमूत्रिका के अनेक भेदोपभेदों का निरूपण करने के अनन्तर उसके अन्तिम भेद का भी निरूपण किया जा रहा है । प्रस्तार तथा धेनु में तात्त्विक भेद यही है कि प्रथम केवल एक ही नवीन छन्द की उद्भावना करता है जब कि धेनु से अनेकता का सम्बन्ध है । इसमें अनेक श्लोकों की या तो उद्भावना होती है अथवा अनेक चित्र बनते हैं, जिनके साथ इसका जैसा सम्बन्ध हो वैसा ही इसका प्रभाव होता है । यहाँ गोमूत्रिका-धेनु कहने का तात्पर्य यही है कि उपर्युक्त श्लोक केवल निर्धारित दिशा में एक ही प्रकार का चित्र नहीं उपस्थित करता अथवा केवल अनुलोम क्रम से ही गोमूत्रिका की संगति नहीं बैठती, अपितु अनेक प्रकार से इस श्लोक के पादों को एक साथ संयुक्त करने पर गोमूत्रिका बनी रह जाती है । चित्रभङ्ग नहीं होने पाता । इसमें क्रम से, व्युत्क्रम से तथा विपरीत क्रम से तीनो रूपों में गोमूत्रिका बनती है । क्रम का अर्थ क्रमशः प्रथम-द्वितीय, द्वितीय-तृतीय तथा तृतीय-चतुर्थ का संयोग है, जब कि व्युत्क्रम का अर्थ पादान्तराद है अर्थात् पादों के अन्तर से योग से प्रथम तृतीय, प्रथम चतुर्थ तथा द्वितीय चतुर्थ के रूप में संयुक्त होना है । इस प्रकार क्रम तथा व्युत्क्रम रूप से संभूत गोमूत्रिका के छः भेद (३ + ३ = ६) हुये । विपरीत क्रम से भी चतुर्थ पाद से लेकर प्रथम पाद तक क्रम तथा व्युत्क्रम भेद से छः भेद होंगे । इस प्रकार दोनों के मिलाकर बारह भेद हो जाते हैं । ये भेद एक प्रकार से शुद्ध कहे जा सकते हैं । इन्हीं भेदों के परस्पर संयोग से जैसे प्रथम तृतीय तथा प्रथम द्वितीय, प्रथम चतुर्थ तथा द्वितीय तृतीय, प्रथम-चतुर्थ तथा तृतीय-चतुर्थ आदि से चौबीस भेद सङ्कर होते हैं । सब मिलाकर इस एक ही श्लोक के छत्तीस (१२ + २४ = ३६) गोमूत्रिका-रूप तैयार होते हैं । इसके छत्तीसों भेदों की एक सामान्य वर्गीकरण-तालिका नीचे दी गई है—

१	२	३	४	२	१	३	४	१	२	४	३
२	३	४	१	३	२	४	१	२	३	१	४
३	४	१	२	४	३	१	२	३	४	२	१
१	३	२	४	३	१	२	४	१	३	४	२
१	४	२	३	४	१	२	४	१	४	३	२
२	४	१	३	४	२	१	३	२	४	३	१
४	३	२	१	३	४	२	१	४	३	१	२
३	२	१	४	२	३	१	४	३	२	४	१
२	१	४	३	१	२	४	३	२	१	३	४
४	२	३	१	२	४	३	१	४	२	१	३
४	१	३	२	१	४	३	२	४	१	२	३
३	१	४	२	१	३	४	२	३	१	१	४

इसके तीन रूप नीचे दिये जा रहे हैं। ये तीनों चित्र जीवानन्द विद्यासागर की टीका में (पृ० ३१२-१३) देखे जा सकते हैं।

म	तिः	स	कृत्	स	यो	न	रः
			म				
स्फु	द्या	स्त	त्ते	द्धिं	त्पा	स्क	सा
			र				
तु	न्त्य	वि	स्म	त	त्र	ण	हैं
			चि				
द्रु	त	त्रि	रु	न्ति	वि	ह्वि	रु
			तः				
स	स्तु		कु			स्मि	

म कृत् स रः न यो स तिः	स
म	स्फ
स्फु द्वे र्द्धि स स्क त्या सा द्वा	क्र
र	स्म
तु स्म त र्हं ण त्र वि न्स्य	तः
चि	द्रु रु न्ति क ङ्गि वि त्रि त
द्रु रु कि न्त द्वि वि त्रि त	चि
तः	तु स्म त र्हं ण त्र वि न्स्य
स्म	र
क्र	स्फु द्वे र्धि सा स्क त्या स्त द्व
स्फ	म
स	म कृत् स रः न यो स तिः

चारों पादों के क्रम, व्युत्क्रम तथा विपरीतक्रम से यह गोमूत्रिका धेनु बनती है ॥ ११६ ॥

स्व० भा०—जब एक श्लोक से अनेक श्लोकों की सृष्टि संभव होती है, तब उसे धेनु की संज्ञा दी जाती है। यहाँ इसी श्लोक में क्रमशः पादों का योग करने पर अर्थात् प्रथम-द्वितीय, द्वितीय-तृतीय, तृतीय-चतुर्थ आदि क्रम से श्लोक बनते हैं। व्युत्क्रम कर देने पर अर्थात् पादों का अन्तर कर देने पर प्रथम-तृतीय, प्रथम-चतुर्थ, आदि रूपों में तथा विपरीत क्रम से अर्थात् चतुर्थ-तृतीय, तृतीय-द्वितीय आदि भेद से अनेक श्लोक बन जाते हैं। रत्नेश्वर ने अपने विवरण में इसे स्पष्ट कर दिया है।

मम स्फुरत्विति। मम चिद्गतो मदीयां संविदमारूढः सामरः सदेवो हरः स्फुरतु। सततं चिन्तनीये रत्नामती वा यस्य। समस्तैर्द्वादशभिरपि रविभिरादित्यैश्चित्रिता आलेख्यीकृता स्तुता प्रशस्ता रुचिः कान्तिर्यस्य। स्मरस्य क्षेमं कुशलं कृन्तति छिनत्तीति स्मरक्षेमकृत्। समशब्दः सर्वपर्यायो गणे पठ्यते। सर्वासु अणिमाद्यृद्धिषु रतैश्चिन्तितः प्रसभं ध्यातः। पतिवियोगाद्विचित्राया रतेरामयाः कृता येन। नमस्कारेण चिह्निता प्रणामपृच्छाभाविनी प्रसादजन्मा स्मितप्रभा यस्य स तथा॥ अस्या न्यासमाह—चतुर्णामिति। क्रमेण पादानां नैरन्तर्येण प्रथमद्वितीयाभ्यां द्वितीयतृतीयाभ्यां प्रथमचतुर्थाभ्यां द्वितीयचतुर्थाभ्यामिति व्युत्क्रमभेदास्त्रयो वैपरीत्यवशेन चतुर्थादितः प्रथमं यावद्योजनेनात्रापि क्रमव्युत्क्रमाभ्यां षट् प्रकाराः। तेऽमी द्वादश भेदाः शुद्धाः। एषां व्यतिकरजन्मानः पुनरन्ये चतुर्विंशतिर्भवन्ति। तद्यथा—प्रथमतृतीयाभ्यां च प्रथमद्वितीयाभ्यां च प्रथमचतुर्थाभ्यां च द्वितीयतृतीयाभ्यां च प्रथमचतुर्थाभ्यां च तृतीयचतुर्थाभ्यां च प्रथमतृतीयाभ्यां चेति द्रष्टव्यम्। तदेवमेक एव गोमूत्रिकाश्लोको यथोक्तरीत्या षट्त्रिंशद्गोमूत्रिकातर्णकान्प्रसूत इतीयं गोमूत्रिकाधेनुः॥

शतधेनुर्यथा—

'वन्द्या देवी पर्वतपुत्री नित्यं मधुमधुरकमलवदना पुरन्ध्र्यधिदेवता
देवैः स्तुत्या किन्नरगेया भक्त्या वरचरितमहिषमथनी जगत्त्रयनायिका।

सिंहैर्ध्येया केसरियाना काम्या रणचतुररसिकहृदया त्रिलोचनवल्लभा
धीरैः पूज्या दर्पणपाणिर्नूनं गुणनिलयलटभललिता सतीषु धुरंधरा' ॥३३९॥

यतिविच्छेदिनी ह्येषा श्लोकधेनुरनुत्तमा ।
छन्दोभेदाच्छतमियं प्रसूते श्लोकतर्णकान् ॥ ११७ ॥

शतधेनु का उदाहरण—

देवी पार्वती नित्यशः वन्दनीय हैं। उनका मुख मधु के सदृश मधुर तथा कमल के सदृश कोमल है। वह गृहिणियों की अधिष्ठात्री देवी हैं। देवताओं द्वारा स्तुत्य हैं, भक्ति के साथ किन्नरों द्वारा गाई जाने वाली हैं, देवताओं के वरदान से निरन्तर क्रियाशील रहने से महिषासुर का मर्दन करने वाली हैं, तीनों लोकों की अधिष्ठात्री देवी हैं, वह महात्माओं के द्वारा ध्येय हैं, केसरी सिंह उनका वाहन है, कमनीय हैं, युद्धकुशल तथा रासिकों की हृदयस्वरूपा हैं, शिव की प्रिया हैं, धीर लोगों के द्वारा पूज्य हैं, अपने हाथ में दर्पण लिये रहती हैं, गुणों के आश्रयभूत मनोज्ञ विलसों वाली तथा पतिव्रताओं में निश्चित ही अग्रगण्य हैं ॥ ३३९ ॥

यह अत्यन्त उत्कृष्ट श्लोकधेनु है जिसमें यति का विच्छेद अभीष्ट होता है। यह श्लोकभेद से सौ श्लोक-पल्लवों को उत्पन्न करती हैं ॥ ११७ ॥

स्व० भा०—यहां दण्डक छन्द है जिसके प्रत्येक पाद में २९ वर्ण हैं। नाट्यशास्त्र में १६ वें अध्याय में केवल भुजङ्गविजृम्भित नामक २६ वर्णों के पाद वाले श्लोक का निरूपण करने के बाद समवृत्तों का प्रसङ्ग ही समाप्त कर दिया गया है। मालतीमाधव (५।२३) में अवश्य एक ऐसा श्लोक है जिसके प्रत्येक पाद में ५४–५४ वर्ण हैं। उसको संग्रामदण्डक कहते हैं। यहाँ क्रिया तथा कारक के अभाव में अनेक पदों का योग करके अनेक श्लोक बनाये जा सकते हैं।

इसमें यतियों को पृथक् करके इन्हीं के विभिन्न संख्या में संयोग करने से भिन्न २ श्लोक बन जाते हैं। श्लोक भी एकाक्षर से लेकर ९९९ वर्णों तक के देखे जाते हैं। भरत की घोषणा—

छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न च्छन्दः शब्दवर्जितः ।
तस्मात्तूभये संयुक्ते नाट्यस्योद्योतके स्मृते ॥
छन्दसां तु भवेदेषां भेदोऽनेकविधः पृथक् ।
असंख्यपरिमाणानि वृत्तान्याहुरतो बुधाः ॥ ना. शा. १५।४२, ५०॥

के अनुसार विचार करने पर तो यहाँ सहस्रों श्लोक हो सकते हैं, किन्तु यति का ही योग अपेक्षित होने से सौ श्लोकों की उत्पत्ति मानी जाती है। रत्नेश्वर के शब्द टीका में द्रष्टव्य हैं।

वन्द्येति। वरेण देवताप्रसादेन चरितो निरर्गलप्रसरो गुणानामाश्रयो लटभं मनोज्ञं च ललितं विलासो यस्याः सा तथा। यतिविच्छेदिनीति। अत्र करणम्—'प्रतिलोमं विनिर्दिश्यमनुलोममधः क्षिपेत्। स्थितेनागन्तुकं हन्यादीप्सितेन विभाजयेत् ॥' स्थितं प्रतिलोममागन्तुकं क्रमविन्यस्तमीप्सितं हि प्रतिलोमस्य क्रमेण फलं गुणकारस्तथैवानुलोमं भागहारः। अनेन क्रमेणैकैकयतियोजने सप्त श्लोकाः। यतिद्विकयोजने चैकविंशतिः। यतित्रिकयोजने च पञ्चत्रिंशत्। यतिचतुष्कयोजनेऽपि तावन्त एव। यतिपञ्चकयोजने पुनरेकविंशतिः। षड्यतियोजने सप्त। सप्तयतियोजने त्वेकः। सर्वमेलनेन च सप्तविंशत्यधिकं शतम्। अत्र च क्रियाहीनत्वेन कारकविहीनत्वेन च पदावयववत्तया पदावयवमात्रत्वेन च निरर्थकान् षड्विंशतिमपास्य श्लोकधेनुरेकैव वृत्तभेदेन शतं श्लोकतर्णकान्प्रसूते।

तथाहि। प्रथमद्वितीयचतुर्थीभिर्यतिभिरत्युक्ता जातिः। तृतीयपञ्चमीभ्यां सुप्रतिष्ठा। षष्ठ्या गायत्री। सप्तम्या चोष्णिगिति। एकगणनायां वृत्तभेदः। एवं द्विकादिगणनेऽपि गवेषणीयम् ॥

सहस्रधेनुर्यथा—

'नखमुखपाणिकण्ठचिकुरैर्गतिभिः सहसा स्मितेन ललिते सुदृशा
मणिशशिपद्मकम्बुचमराः करिणः सुतनोः सुधा च हसिता हरिणाः।
फणिगणसिद्धसाध्यदयिता न समाः सकलास्त्वया च स्वभुवश्छलिताः
तव बलदर्परूपविजिता नितरां विबुधाश्चिराय चतुरैश्चरितैः ॥ ३४० ॥'

पदविच्छेदिनी ह्येषा श्लोकधेनुरनुत्तमा।
छन्दोभेदाद्दशशतं प्रसूते श्लोकतर्णकान् ॥ ११८ ॥

हे गौरि, तुम्हारे नख, मुख, पाणि, कण्ठ तथा केशों से, चाल से, मन्द मुसकान से तथा सुन्दर नयनों से मणि, चन्द्रमा, कमल, शङ्ख, चमरी गायें, हाथी, अमृत तथा मृग तत्काल उपहसित हो गये। नागों, सिद्धों तथा साध्यों की प्रेयसियाँ भी तुम्हारे सदृश नहीं हैं। आकाश में उत्पन्न होने वाले सभी जीव तुम्हारे द्वारा ठग लिये गये। तुम्हारे निपुण व्यवहारों से बल, दर्प तथा रूप से दबे हुये देवगण बहुत समय तक पूर्णतः पराजित कर दिये गये ॥ ३४० ॥

यह एक उत्कृष्ट श्लोकधेनु है जिसमें पद का विच्छेद अभीष्ट है। यह भी छन्दोभेद से दस सौ अर्थात् हजार श्लोकों को उत्पन्न करता है।

स्व० भा०—यह २९ वर्णों का सुधाकलश नामक छन्द है। यहाँ प्रतिपाद में छः छः पद हैं। द्वितीय तथा तृतीय पादों में क्रमशः 'च' तथा 'च' और 'न' और चतुर्थ पाद में 'तव' अधिक हैं, तथापि इनका भी पूर्वोक्त में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

रत्नेश्वर की टीका द्रष्टव्य है। पिष्टपेषण बचाने के लिये उसे नहीं उद्धृत किया जा रहा है।

नखेति। हे ललिते गौरि, तव शोभनया दृशा सुतनोः शोभनस्य शरीरस्य। साध्या देवविशेषाः खभुवो ग्रहताराद्याः। राप्यत इति राप्यम्। 'आप्लुवपिरपित्रपिचमश्च' इति रापतिभापितमित्यर्थः। दर्येति पाठेन वा योजनीयम्। पदविच्छेदिनीति। पदान्यत्र प्रतिपादं सुधाकलशाभिधाने छन्दसि षड् विभज्यन्ते। यद्यपि द्वितीयतृतीयपादयोश्चकाराभ्यां नकारेण चतुर्थपादे तवेति पदाधिक्यं तथाप्याद्यपदार्थानुरोधेन समुच्चीयमाननिषिध्यमानार्थानुरञ्जकत्वेन संबोध्यमानार्थानुयायितया चकारनकारयोस्तवेति च तत्पादावयवरूपा एवेति तदसत्कल्पमेव। तथा च षड्भ्यः पदत्रय उपादीयमाने सप्तदशाक्षरायां जातौ यथासंख्यानुरोधेनाद्येऽर्धे प्रस्ताररचनाक्रमेण दश विकल्पाः, तृतीयचतुर्थयोश्च पादयोस्तावन्तस्तावन्त एवेति दशभिराहतैर्दशभिः शतम्। शतेन चाहतैर्दशभिः सहस्रं तर्णकाः श्लोकाः समुत्पद्यन्त इतीयं सहस्रधेनुः ॥

अयुतधेनुर्यथा—

'क्रिये जयसि जृम्भसे सृजसि जायसे त्रायसे
स्तुषे मृषसि मृष्यसे हृषसि पीयसे प्रीयसे।

स्तुषे मृषसि होडसे कुटसि गल्भसे क्षीबसे
हुपे हरसि रज्यसे रजसि राजसे भ्राजसे ॥ ३४१ ॥'

एषा तु पदविच्छेदिन्येव धेनुः क्रियापदैः ।
संबोधनाग्रगैर्दृष्टास्माभिः श्लोकायुतप्रसूः ॥ ११९ ॥

अयुतधेनु का उदाहरण—

हे कर्मे, तुम जीतते हो, जमुहाई लेते हो, निर्माण करते हो, उत्पन्न होते हो, त्राण करते हो, स्तुत होते हो, सहन करते हो, क्षमा किये जाते हो, हर्षित होते हो, अथवा स्पर्धा किये जाते हो, पिये जाते हो, प्रसन्न किये जाते हो, स्तुत होते हो, सुख देते हो, अनादर करते हो, संहार करते हो, दक्षता प्रकट करते हो, शान्त हो जाते हो, छिपते हो, हरण करते हो, रक्त होते हो, मत्सर का भाव रखते हो, शोभित होते हो तथा चमकते हो ॥ ३४१ ॥

यह भी पदों के विच्छेद की अपेक्षा रखने वाली धेनु ही है जो कि पहले सम्बोधन प्रतीत होने वाले क्रिया पदों से युक्त है। यह हम लोगों के द्वारा दस हजार छन्दों को उत्पन्न करने वाली देखी गई है ॥ ११९ ॥

स्व० भा०—यह श्लोक केवल क्रियापदों से संयुक्त है। सभी पद देखने में क्रिया भी लगते हैं तथा सम्बोधन भी और दोनों भी। इसमें छन्द पृथ्वी है। इसके भी दस हजार छन्दों की उत्पत्ति क्रम को रत्नेश्वर ने स्पष्ट कहा है—

क्रिये इति। हे क्रिये कर्मन्। 'मिप स्पर्धायाम्', 'पीङ् पाने', 'मृड सुखने' तुदादौ, 'होड़ अनादरे', 'कुड संहारे', रज्यसे आसजसि। रजसि मत्सरयसि। राजसे शोभसे। भ्राजसे जाज्वल्यसे। एषेति। इह पृथ्वीनामनि छन्दसि पड्भ्यः संबोधनानुगे पदचतुष्टये उपादीयमाने एकादशाक्षरायां जातौ प्रस्ताराल्पत्वेन यदि वा छन्दोभेदस्य शब्देनाप्रतिपादितत्वाद् तद्भेदोऽप्युदाहरणीय इति तस्यामेव रथोद्धताभिधाने छन्दसि दशसु विकल्पेषु प्रतिपादं भवत्सु दशभिः शतं शतेन सहस्रं सहस्रेण च दशसहस्राणि तर्णकाः समुत्पद्यन्ते इतीयमयुतधेनुः॥

लक्षधेनुर्यथा—

'दुर्गे भद्रेऽसुभद्रेऽदिति सुरभिदिते सैंहिके गौरि पद्मे
नित्ये ह्वद्ये वरेण्ये कलिकमलिकले कालिके चण्डि चण्डे ।
धन्ये पुण्ये शरण्ये शचि शबरि शिवे भैरवे राज्ञि सन्ध्ये
छाये माये मनोज्ञेऽवनि जननि जये मङ्गले धेहि शं नः ॥ ३४२ ॥'

संबोधनैरियं धेनुः कलसा सैकक्रियापदैः ।
लक्षत्रयं सहस्राणि षष्टिश्लोकान्प्रसूयते ॥ १२० ॥
एषान्त्यपदभेदेन संभ्रमादिद्विरुक्तिभिः ।
यावद्बोधं पुनः सूते प्रयतश्लोकतर्णकान् ॥ १२१ ॥

लक्षधेनु का उदाहरण—

हे दुर्गे, शुभ चाहने वालों के लिये कल्याणप्रद, अदिति, दैत्यनाशिनि, सिंहों वाली, गौरि,

पद्मे, नित्य रहने वाली, रमणीय, वरण करने के योग्य, कलिस्वरूपिणि, कमलिकले, कालिके, प्रचण्ड रूप धारण करनेवाली, सौभाग्यशालिनि, पवित्रता से युक्त, शरण देने वाली, शुचि स्वरूपिणि, किरातिनि, शिवे, आवाज से भय पैदा करने वाली, रानी, सन्ध्यास्वरूपिणि, छाया, माया, मनोहारिणि, पृथ्वीस्वरूपिणि, जयरूपिणि, मङ्गलस्वरूपिणि, हे मातः, हमें सुख दीजिये ॥ ३४२ ॥

यह धेनु एक ही क्रियापद से युक्त संबोधनों से भरी है। यह तीन लाख साठ हजार श्लोकों को उत्पन्न करती है। इनके अन्त्य पदों के भेद के साथ संभ्रम में दुबारा कहे गये वचनों के द्वारा जहाँ तक अर्थ समझा जा सकता है—यह फिर से दस लाख श्लोकों को उत्पन्न करती हैं ॥ १२०–१२१ ॥

स्व० भा०—इसमें स्रग्धरा नाम का वृत्त है। इसमें केवल एक क्रिया 'देहि' है, शेष सभी पद सम्बोधन के हैं। इनको ही विभिन्न क्रमों से रखने पर लाखों छन्द बनते हैं। यह है तो अवश्य लक्षधेनु किन्तु रत्नेश्वर के शब्दों में भी "···दशलक्षाणि तर्णकाः श्लोकाः समुत्पद्यन्ते इतीयं प्रयुतधेनुः"। शेष विवरण के लिये द्रष्टव्य है रत्नेश्वर की ही इस श्लोक पर टीका।

दुर्गे इति। संबोधनैरिति। अत्र हि स्रग्धराभिधाने छन्दसि पादत्रयपदानुरोधेनान्त्यपादद्वयेनकैकमेव पदं तुर्यपादे परिकल्प्यमिति सर्वत्र नवसु पदेषु स्थितेषु पदचतुष्टये पदपञ्चके चोपादीयमाने प्रथमे आपातलिकायां पञ्चविंशतौ द्वितीये एकया प्राच्यवृत्त्या सह वैतालीयके यदि वा पञ्चभिः प्राच्यवृत्तिभिः सममौपच्छन्दसिके चतुर्विंशतौ तृतीयवैतालीय एव चतुर्विंशतौ चतुर्थे च पादे प्राच्यवृत्तिद्वयं सममापातलिकायां षोडशभिरेकया प्राच्यवृत्त्या वैतालीयप्राच्यवृत्त्या सह वतालीयैः षड्भिस्तथैवोपच्छन्दसिके द्वाभ्यामिति चतुर्विंशतौ विकल्पेषु प्रभवत्सु पञ्चविंशत्याहतेषु चतुर्विंशतौ शतानि षट्। षड्भिश्च शतैराहतेषु पञ्चविंशतौ सहस्राणि पञ्चदश। तैराहतेषु चतुर्विंशतौ लक्षाणि त्रीणि सहस्राणि च षष्टिः तर्णकाः श्लोकाः समुत्पद्यन्त इतीयं लक्षधेनुः। एषेति। तथा ह्यत्र पादत्रये नवसु तुर्यपादे च दशसु। त्रये पदचतुष्कं पदपञ्चके चोपादीयमाने प्रथम औपच्छन्दसिक एकस्य पदस्य द्विरुक्त्या विंशती यदि वा आपातलिकायां दश। वैतालीये पञ्चदशसु औपच्छन्दसिके उदीच्यवृत्तिद्वयेन यद् वैतालीये चतसृभिरुदीच्यवृत्तिभिः सममेकोनविंशतिरिति च पञ्चविंशतौ तृतीयस्मिन्नोपच्छन्दसिके पञ्चभिः प्राच्यवृत्तिभिः सममेकादश। वैतालीये तथैव चतुर्दश औपच्छन्दसिके तिसृभिः प्राच्यवृत्तिभिः सह षडिति विंशतौ तृतीयस्मिन्नौपच्छन्दसिके तिसृभिरुदीच्यवृत्तिभिः समं पञ्चविंशतौ चतुर्थे त्वापातलिकायामेक एव। द्विरुक्त्यादिना षोडशभिः प्राच्यवृत्तिभिः सममशीतौ विकल्पेषु प्रभवत्सु विंशत्याहतपञ्चविंशतौ पंचविंशत्या द्वाविंशतौ पञ्चशताधिकानि द्वादशसहस्राणि तैरप्याहतेषु अशीतौ दशलक्षाणि तर्णकाः श्लोकाः समुत्पद्यन्त इतीयं प्रयुतधेनुः ॥

कोटिधेनुर्यथा—

'स्थूलं दत्से सूक्ष्मं धत्से भुवि भवसि रभसि रमसे रसे दिवि मोदसे
छिन्त्से बाढं भिन्त्से गाढं रुषिमिषसि धनुषि मनुषे जये पुरि जृम्भसे।
स्वल्पं शेषे कल्पं प्रेषेर्चिंत चरसि यशसि यतसे चले युधि गल्भसे
भूषे वामं श्रूषे कामं हृदि विशसि वचसि सचसे रुचे दृशि दीप्यसे ॥३४३॥'

संबोधनैर्द्वितीयान्तैः सप्तम्यन्तैः क्रियापदैः।

श्लोककोटिरियं तिस्रः सार्धा धेनुः प्रसूयते ॥ १२२ ॥
यदा तु संभ्रमादिभ्यो भवन्त्यस्या द्विरुक्तयः ।
स्थूलादिना तदा चैषा दशकोटीः प्रसूयते ॥ १२३ ॥

कोटिधेनु का उदाहरण--

हे रमे, तुम स्थूलता देती हो, सूक्ष्मता धारण करती हो, पृथ्वी पर होती हो, एकाएक रमण करती हो, स्वर्ग में आनन्द करती हो, निःसन्देह छेदन करती हो, गाढ़ता को भिन्न करती हो, क्रोध में संहार करती हो, धनुष पर मनन करती हो, हे जय-स्वरूपिणि तुम नगर में जम्हाई लेती हो। तुम कम ही सोती हो जब कि कल्प समाप्त हो जाता है, हे चितिस्वरूपिणि, तुम विचरण करती हो, यश के लिये प्रयत्न करती हो और हे चञ्चले युद्ध में अपनी निपुणता दिखाती हो। तुम सुन्दर बोलती हो, हम तुम्हारी शुश्रूषा करते हैं, तुम वाणी तथा हृदय में प्रवेश करती हो और हे कान्ति-स्वरूपिणि, तुम्हीं दृष्टि में चमकती हो ॥ ३४२ ॥

सम्बोधन, द्वितीयान्तपद, सप्तम्यन्त तथा क्रियापदों के कारण यह धेनु साढ़े तीन करोड़ श्लोकों को उत्पन्न करती है। जब संभ्रम आदि के कारण इसकी द्विरुक्तियाँ हो जाती हैं उस समय स्थूल आदि पदों के साथ यह दस करोड़ श्लोकों को उत्पन्न कर सकती है ॥१२२-३॥

स्व० भा०—यह जिस रूप में है, उसमें स्पष्ट है। छन्दोविधान के लिये रत्नेश्वर की टीका देखना श्रेयस्कर होगा।

स्थूलमिति। प्रेष इति इष गताविस्यस्य, चिति चैतन्ये, गृधु गार्ध्ये। सचसे वचसे रमे जये चले रुचे इति देव्याः संबोधनपदानि। संबोधनैरिति। अत्र भुजङ्गविजृम्भिते छन्दसि एकादशभ्यः पदेभ्यः पञ्चसु षट्सु च पदेषु उपादीयमानेषु जगतीजातौ प्रसिद्धाचरोज्ज्वला जलधरमाला नवमालिनी छन्दःसु सप्तसु। द्वितीये पूर्वेषु चन्द्रवर्त्मद्रुतविलम्बितमणिमालाप्रभवत्सु च शते तृतीयेऽस्मिन् प्रथमपादच्छन्दस्येव पञ्चाशति चतुर्थपादे द्वितीयपादच्छन्दस्येव शतेषु विकल्पेषु प्रभवत्सु सप्तत्याहतेषु शतेषु सप्ततिसहस्राणि शतैराहतायां सप्ततिलक्षाणि, सप्ततिसहस्रैराहतेषु पञ्चाशल्लक्षाणि त्रीणि सहस्राणि च पञ्चशतैराहते शते कोव्यस्तिस्रः सार्धास्तर्णकाः श्लोकाः संपद्यन्त इतीयं कोटिधेनुः। यदा त्विति। तथाहि पदत्रये पदचतुष्के पदपञ्चके चोपादीयमाने पूर्वस्यामेव जातौ प्रथमद्वितीयचतुर्थेषु पादेषु प्रत्येकं जलधरमालाप्रभाच्छन्दसोरेकस्य द्वयोर्द्विरुक्त्या शते तृतीयस्मिंश्च पूर्वस्यां मणिमालोज्ज्वलानवमालिनीतामरसेषु छन्दःसु तथैव शते विकल्पेषु प्रभवत्सु शतेनाहते शते दश सहस्राणि तैश्चाहते शते दश लक्षाणि तैरप्याहते शते कोव्यस्तर्णकाः श्लोकाः संपद्यन्त इतीयमेव दशकोटिधेनुः ॥

कामधेनुर्यथा—

'या गीः शीः श्रीर्धीः स्त्री ह्रीर्भीर्जूसूस्तूः सूः स्त्रूर्धूः पूर्भूः ।
स्रक् स्रग्युग्भुक् शुक् तृट् द्विट् युत् कृत् चिद्भिन्मुग्दिग्दृः ॥
स्रक् दृक् वामा सृत्क्षामा मुत्क्षुत्कामा द्यार्द्यौर्गौः
सामायामा मेधावेधानेनामावातेत्वं मेनौः

यानं यातीति या, काचिच्च या। गिरणं गिरतीति वाक् च गीः। शरणं शीः

शृणातीति शीः। श्रयतीति शोभा लक्ष्मीश्च श्रीः। ध्यानं ध्यायतीति बुद्धिर्धीः। रुद्र्येव मन्त्राक्षरं स्त्री। ह्रीच्छतीति माया लज्जा च ह्रीः। बिभेतीति भयकामो भयं च भीः। ज्वरो गतिर्जरा च जूः। मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोर्बन्धनं च मूः। त्वरा हिंसा त्वरते च तूः। सूयते सवनं सुष्ठु उश्च सूः। अग्रे भागे भारं धुरं वहतीति धूः। पूरी पालनं पूरणं च पूः। भूमिर्भवनं लोकश्च भूः। यज्ञपात्रं स्रवतीति स्रवणं स्रुक्। पुष्पमाला पङ्क्तिश्च सृज्यत इति स्रक्। योगः समाधिः समश्च युक्। भोजनं पालनं कौटिल्यं च भुक्। रोगो दीप्तिर्भङ्गश्च रुक्। शोकः शुचित्वं दीप्तिश्च शुक्। अभिलाषः पिपासा हिंसा च तृट्। द्वेषः शत्रुबलमभिलाषश्च द्विट्। शुद्धं मिश्रणममिश्रणं च युत्। क्रोधः क्रुध्यतीति रुद्रशक्तिश्च क्रुत्। चेतना चिनोति चयनं च चित्। ज्ञानं सत्ता विभवलाभश्च वित्। मोक्षो मोहो मुञ्चतीति मुक्। आशा अतिसर्ग उपदेशश्च दिक्। क्रीडा विजिगीषा व्यवहारश्च द्यूः। श्रुतिवाक्यं विवेचनं च हिंसा च ऋक्। दृष्टिर्ज्ञानं पश्यतीति दृक्। गतिर्गन्धनं विकल्पश्च वा। लक्ष्मीर्मानं शब्दावयवश्च मा। मृत्तिका मरणं मृद्नातीति मृत्। कृन्तति करोति करणं च कृत्। दीप्तिर्भानं भातीति भा। शब्दः शब्दावयवश्च प्रतिषेधश्च म। हर्षो मोद आमोदश्च मुत्। बुभुक्षा क्षुत्क्षोदश्च क्षुत्। प्रश्नः मुखं काननं च का। अमतीत्यमा पीडार्थेऽलक्ष्मीशब्दावयवश्च अमा। द्वारं द्वाःस्थ उपायश्च द्वाः। स्वर्ग आकाशो देवनं च द्यौः। वाग्भूमिर्धेनुश्च गौः। सह एन अकारेण विष्णुना वर्तत इति सा लक्ष्मीः सा। मा मानं सानं तदो रूपं च सा। प्रतिदानं शब्दावयवश्च सर्वनाम च सा। इष्टा अयत इति शब्दावयवश्च या। चन्द्रकला महदर्थश्च मा। लक्ष्मीसंबोधनं चतुर्थ्यन्तं षष्ठ्यन्तं च मे। धारणं पोषणं शब्दावयवश्च वे। धात्री पोषयित्री शब्दावयवश्च धा। शब्दावयवोऽस्मदर्थो लक्ष्मीसंबोधनं न मे। प्रतिषेधः पुरुषवाची शब्दावयवश्च ना। मिमीते मातेति शब्दावयवश्च मा। तदर्थो युष्मदर्थश्च लक्ष्मीसंबोधनं च ते। युष्मदर्थो भावप्रत्ययः शब्दावयवश्च त्वम्। शब्दावयवास्मदर्थौ च मे। जलयानं न विद्यते और्द्विवचनं यस्यां सा अद्वितीयेत्यर्थः शब्दावयवश्च नौः।

पदग्राहाद्यथाकामं कामधेनुरियं तु नः।
परार्धानां परार्धानि प्रसूते श्लोकतर्णकान् ॥ १२४ ॥
एकाक्षरादिच्छन्दोभिर्गतिबन्धादिभेदतः।
उक्तानुक्तानि चित्राणि सर्वाण्येषा प्रसूयते ॥ १२५ ॥
सकृदुच्चारणे चास्या गच्छत्येका विनाडिका।

तत्षष्टया नाडिका ताभिः षष्टयाहोरात्रमृच्छति ॥ १२६ ॥
प्रणवादिनमोन्तानि पदान्यस्या जपन्ति ये ।
सर्वभाषासु वाक्पेषामविच्छिन्ना प्रवर्तते ॥ १२७ ॥
सिद्धैर्मन्त्रपदैः सेयं शास्त्राण्यालोच्य निर्मिता ।
जपतां जुह्वतां देवी सर्वान्कामान्प्रयच्छति ॥ १२८ ॥
स्थितेनागन्तुकं इत्यादीप्सितेन विभाजयेत् ।
तद्भेदास्ते भवन्त्येवमन्येष्वपि हि योजयेत् ॥ १२९ ॥
दुष्करत्वात्कठोरत्वाद् दुर्बोधत्वाद्विनावधेः ।
दिङ्मात्रं दर्शितं चित्रे शेषमूह्यं महात्मभिः ॥ १३० ॥

कामधेनु का उदाहरण--

हे मा जो तुम, गीः, शीः, श्रीः, धीः, स्त्री, ह्री, भी, जू, मू, तू, मू, धू, पू, भू, स्रुक्, स्रग्, युक्, भुक्, रुक्, शुक्, तृट्, द्विट्, युत्, क्रुत्, चित्, वित्, मुक्, दिक्, द्यु, ऋक्, दृक, वा, मा, मृत्, क्रुद्, भा, मा, सुत्, क्षुत्, का, अमा, द्वा, धौ, गौ, सा, सा, या, मा, मे, धा, वे, धा, मे, ना, मा, ते, हो, वह तुम मेरे लिये (संसार सागर को पार करने के लिये) नौका हो ॥ ३४४ ॥

यान तथा जाने वाली 'या' है, कोई भी 'या' है। निगलना, निगलने वाली तथा वाणी 'गीः' है। शरण 'शीः' है तथा फाड़ने वाली भी 'शीः' है। आश्रय लेने वाली, शोभा तथा लक्ष्मी 'श्रीः' है। ध्यान, ध्यान करने वाली और बुद्धि 'धीः' है। स्त्री ह्री आच्छादन करने वाली तथा मन्त्र का अक्षर 'स्त्री' है। इच्छा करने वाली, माया तथा लज्जा 'ह्रीः' है। डरने वाली, भय की कामना करने वाला तथा भय 'भीः' है। ज्वर, गति तथा जरा 'जूः' हैं। मूर्च्छा, मोह तथा समुच्छ्राय का बन्धन 'मूः' है। त्वरा, हिंसा तथा शीघ्रता करने वाली 'तूः' है। उत्पन्न होने वाला, यज्ञ, तथा सुष्ठु 'उ' 'सूः' है। अगले हिस्से पर भार तथा धुरा को धारण करती है वह 'धूः' है। पुर, पालन तथा पूरा करना 'पूः' है। भूमि, भवन तथा लोक 'भूः' है। यज्ञपात्र, टपकने वाला, तथा स्रवण स्रुक् है। फूलों की माला, पंक्ति तथा जिसका सृजन होता है वह 'स्रक्' है। योग, समाधि तथा सम 'युक्' है। भोजन, पालन तथा कुटिलता 'भुक्' है। रोग, दीप्ति तथा भङ्ग 'रुक्' है। शोक, पवित्रता तथा दीप्ति 'शुक्' है। अभिलाषा, प्यास तथा हिंसा 'तृट्' है। द्वेष, शत्रु का बल और अभिलाषा 'द्विट्' है। शुद्ध, मिश्रण तथा अमिश्रण 'युत्' है। क्रोध, क्रोध करने वाली तथा रुद्र की शक्ति 'क्रुत्' है। चेतना, चयन करने वाला, तथा चयन 'चित्' है। ज्ञान, सत्ता तथा वैभव का लाभ 'वित्' हैं। मोक्ष, मोह तथा छुड़ाने वाला 'मुक्' है। आशा, अतिसर्ग तथा उपदेश 'दिक्' है। क्रीड़ा, जीतने की इच्छा तथा जुआ या व्यवहार (जुआ खेलना) 'द्यूः' है। वेदवाक्य, विवेचन तथा हिंसा 'ऋक्' है। दृष्टि, ज्ञान तथा देखने वाला 'दृक्' है। गति, गन्धन, तथा विकल्प 'वा' है। लक्ष्मी, मान, तथा शब्द का अंश 'मा' है। मिट्टी, मरना, तथा मर्दन

करने वाला 'मृत्' है। काटने वाला, करने वाला तथा करने का साधन 'कृत्' है। 'दीप्ति, मान तथा सुशोभित होने वाला 'भा' है। शब्द, शब्द का अवयव तथा मना करना 'मा' है। हर्ष, मोद तथा सुगन्धि 'मुत्' है। खाने की इच्छा, भूख तथा खुदा हुआ 'क्षुत्' है। प्रश्न, सुख तथा वन 'का' है। जो चलती है वह अमा है, पीड़ा के अर्थ में तथा लक्ष्मी शब्द का अंग 'अमा' है। द्वार, द्वार पर स्थित तथा उपाय 'द्वाः' है। स्वर्ग, आकाश तथा द्यूत-क्रीडा 'द्यौः' है। वाणी, भूमि तथा धेनु 'गौः' है। जो अकार के साथ--विष्णु के साथ रहती है, वह 'सा' लक्ष्मी है। 'मा' मान का वाचक है। 'ज्ञान' तथा 'तद्' का रूप 'सा' है। प्रतिदान, शब्दावयव तथा सर्वनाम 'सा' है। अभीष्ट, आने वाली तथा शब्द का अवयव 'या' है। चन्द्रकला तथा महत् का अर्थ अथवा महत् तथा अर्थ 'मा' है। लक्ष्मी का सम्बोधन, तथा (अस्मत् का) चतुर्थ्यन्त और 'षष्ठयन्त' रूप है 'मे'। धारण, पोषण तथा शब्द का अवयव 'वे' है। धाई, पोषण करनेवाली तथा शब्द का अवयव 'धा' है। शब्द का अवयव, अस्मद् के अर्थ में तथा लक्ष्मी का सम्बोधन 'मे' है। निषेध, मनुष्य तथा शब्द का अवयव, अस्मद् के अर्थ में तथा लक्ष्मी का सम्बोधन 'ने' है। निषेध, मनुष्य तथा शब्द का अवयव 'ना' है। मापना, समाना तथा शब्द का अवयव 'मा' है। 'तद्' के अर्थ में, युष्मद् के अर्थ में, तथा लक्ष्मी के सम्बोधन में 'ते' है। युष्मद् के अर्थ में, भावबोधक प्रत्यक्ष तथा शब्द के अवयव के रूप में 'त्वम्' है। शब्द का अवयव तथा 'अस्मद्' के अर्थ में 'मे' है। जल का वाहन, तथा नहीं विद्यमान है 'औ' अर्थात् द्विवचन जिसमें वह अर्थात् अद्वितीय और शब्द का अवयव 'नौः' है।

पद का ग्रहण करने से यह कामधेनु हमारे लिये हमारी इच्छा के अनुसार परार्ध के भी परार्ध श्लोकों को उत्पन्न करती है। एकाक्षर आदि श्लोकों से, तथा गति, बन्ध आदि के भेदों से, पूर्वनिरूपित तथा पूर्व से अनिरूपित सभी चित्रभेदों को यह उत्पन्न करती है। इसका एक बार उच्चारण करने से एक विनाड़िका-एक पल-व्यतीत होता है। इसके भी साठगुने से नाडिका-एक घड़ी-होती है तथा उनके भी साठ गुने से अहोरात्र-दिनरात सम्पन्न होता है। प्रणव को आदि में तथा 'नमो' को अन्त में लगाकर इसके पदों को जो लोग जपते हैं, उनकी वाणी सभी भाषाओं में अप्रतिहत रूप से प्रवृत्त होती है। शास्त्रों की विवेचना करके यह सिद्धमन्त्रों से बनायी गई है। इसका जप तथा हवन करने वालों की सभी कामनायें देवी देती है। 'स्थितेनागन्तुकं' इत्यादि नियम के अनुसार ईप्सित के द्वारा विभाजन करना चाहिये। इस प्रकार से इनके ये भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार से अन्यों में भी इनकी योजना करनी चाहिये। अत्यन्त कठिनाई से किये जा सकने के कारण, कठोर होने से, दुर्ज्ञेय तथा अनन्त होने से चित्र काव्य में इनने केवल सङ्केत भर किया है। विद्वानों को बचे हुओं का स्वयं ऊहन करना चाहिये ॥ १२४-१३० ॥

स्व० भा०—इस श्लोक में बहुर्थक शब्द दिये गये हैं। इनमें से प्रत्येक के कम से कम तीन-तीन अर्थ हैं। इन सब का प्रयोग करने से असंख्य श्लोकों का निर्माण हो सकता है। वह निर्माण का नियम जिसकी ओर भोज ने 'स्थितेनागन्तुकम्' आदि कह कर संकेत किया है—यह है—

प्रतिलोमं विनिक्षेप्यमनुलोममधः क्षिपेत्।
स्थितेनागन्तुकं हन्यादीप्सितेन विभाजयेत् ॥"

भोज ने चित्रकाव्य का जितना विशद विश्लेषण किया है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। इनका

विभिन्न क्रमों में विभाजन अत्यन्त वैज्ञानिक तथा सूक्ष्म है, इन्होंने प्रायः सभी प्रचलित बन्धों का भी उल्लेख कर दिया हैं, तथापि रुद्रट के काव्यालंकार, वाग्भट के वाग्भटालंकार तथा जयदेव के चन्द्रालोक में कुछ विशिष्ट बन्धों का उल्लेख है। पूर्णता के लिये उनका भी निदर्शन दिया जा रहा है।

इनके यहाँ खड्ग बन्ध का उदाहरण नहीं है। चन्द्रालोक में वह इस प्रकार है—
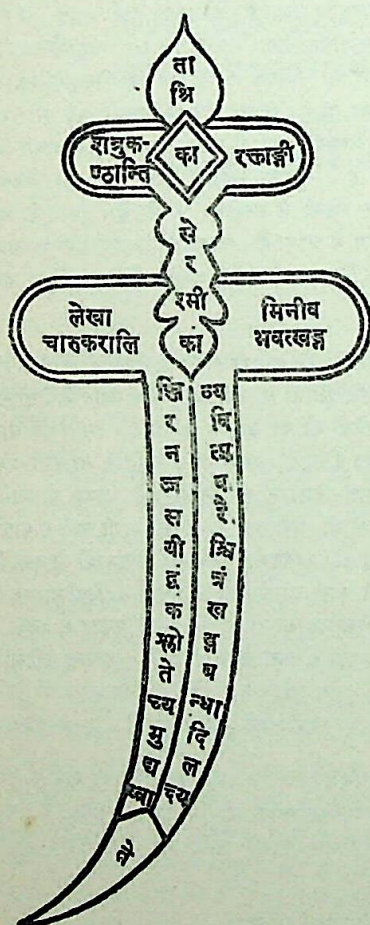
श्लोक

काव्यवित्प्रवरैश्चित्रं
खड्गबन्धादिरिष्यते ।
तेष्वाद्यमुच्यते श्लोकद्वयी
सज्जनरञ्जिका ॥
कामिनीव भवत्खड्ग-
लेखा चारुकरालिका ।
काश्मीरसेका रक्ताङ्गी
शत्रुकण्ठान्तिकाश्रिता ॥
चन्द्रालोक ॥ ५१९–२० ॥

इसी प्रकार वाग्भटालंकार में भी दिये गये हारबन्धचित्र तथा श्लोकबन्ध चित्र यहां नहीं है।
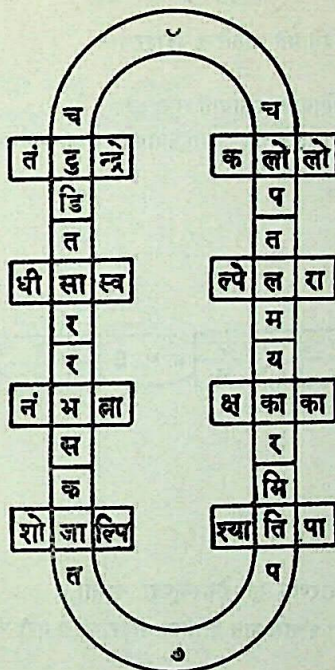
चन्द्रेडितं चटुलितस्वरधीतसाररत्नासनं रभसकल्पितशोकजातम् ।
पश्यामि पापतिमिरक्षयकारकायमल्पेतरामलतपः कचलोपलोचम् ॥ वाग्भटा० १।२४ ॥
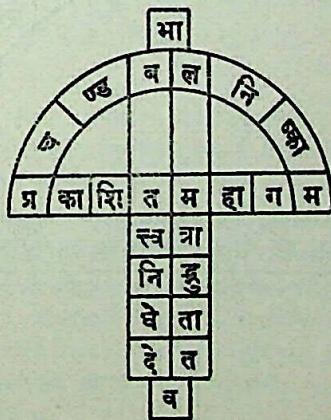
प्रचण्डबलनिष्काम प्रकाशित महागम ।
भावतत्त्वनिधे देव भालमत्राद्भुता तव ॥ वाग्भटा० १।२५ ॥

रुद्रट के काव्यालंकार में दिये गये अतिरिक्त उदाहरण—

मुसलबन्ध—

मायाविनं महाह्वावा रसायातं लसद्भुजा ।
जातलीलायथासारवाचं महिषमावधीः ॥ काव्यालंकार ५।८ ॥

धनुर्बन्धः—
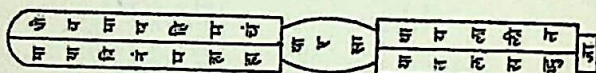
मामभीदा शरण्या मुत्सदैवारुक्प्रदा च धीः ।
धीरा पवित्रा संत्रासात्रात त्रासीष्ठा मातरारम ॥ वही ५।९ ॥
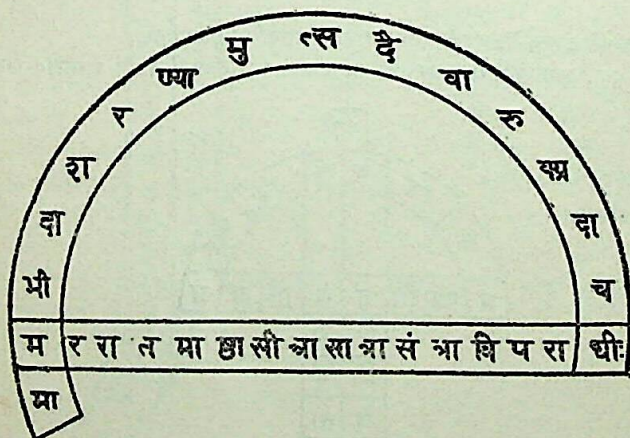
बाणबन्ध—

माननापरुपं लोकदेवी सद्रस सन्नम।
मनसा सादरं गत्वा सर्वदा दास्यमङ्ग तान्॥ वही ५।१०॥
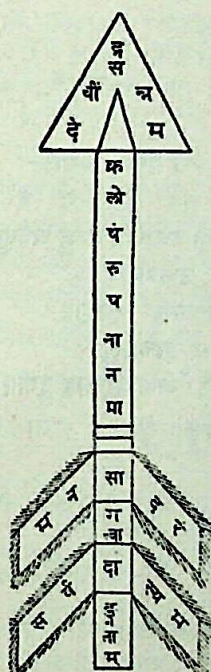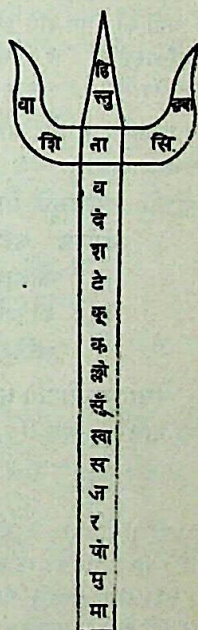
मा मुपो राजस स्वासूंल्लोककूटेशदेवताम्।
तां शिवावाशितां सिद्धयाध्यासितां हि स्तुतां स्तुहि॥ काव्यालंकार ५।११॥

इनके अतिरिक्त शक्तिबन्ध तथा हलबन्ध भी है, किन्तु वे विशेष महत्त्व के नहीं।

या गीरिति। पदग्रहादिति। तथाहि पञ्चदशभ्यः पदेभ्यः क्रमव्युत्क्रमाभ्यां नवादिपदयोगेऽङ्गीक्रियमाणे बृहतीजातेरारभ्य प्रतिजातिपादे ये विकल्पास्तैरुत्तरोत्तरमाहन्यमानैः, यदि वा समस्तेऽपि श्लोके षष्टिपदेभ्यश्चतुर्विंशत्यष्टाविंशत्यादिपदयोजनायां गायत्रीजातेरारभ्य प्रतिजातिपादे ये विकल्पास्तैः परार्धेभ्यः परार्धानि तर्णकाः श्लोकाः समुत्पद्यन्ते इतीयं परार्धपरार्धधेनुः। एकाक्षरेति। अर्थत्रयप्रतिपादकत्वेन प्रतिपादं पदत्रये परिकल्प्यमानेऽनेकविधच्छन्दोभिरुक्तानि चतुर्व्यञ्जनादीन्यनुक्तानि खड्गप्रभृतीनि सर्वचित्राण्येषैव यथाकामं प्रसूयत इत्यर्थः॥

(१७) वाकोवाक्य शब्दालंकार

उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यं वाकोवाक्यं विदुर्बुधाः।

द्वयोर्वक्त्रोस्तदिच्छन्ति बहूनामपि संगमे ॥ १३१ ॥
ऋजूक्तिरथ वक्रोक्तिर्वैयात्योक्तिस्तथैव च।
गूढप्रश्नोत्तरोक्ती च चित्रोक्तिश्चेति तद्भिदा ॥ १३२ ॥

उक्ति तथा प्रत्युक्ति से युक्त वाक्य को बुद्धिमान् लोग वाकोवाक्य के रूप में जानते हैं। बहुत लोगों का संगम होने पर भी दो ही वक्ताओं में यह अभीष्ट है। (१) ऋजूक्ति (२) वक्रोक्ति (३) वैयात्योक्ति (४) उसी प्रकार गूढोक्ति (५) प्रश्नोत्तरोक्ति (६) चित्रोक्ति ये (छः) उसी के भेद हैं ॥ १३१-१३२ ॥

तासु ऋजूक्तिर्द्विधा। ग्राम्योपनागरिका च। ग्राम्या यथा—

'जन्तीमणुरुन्धुं रुचु कुहुतुण्डउण्ण उको विहंसण होसि।
महोमि भारुञ्चुले मेल्लासतो विकिणकु उवाणउ उज्जु अक्खु कहहि ॥ ३४५ ॥
वाणउ उज्जु माइगहिल्ल उअण्णवि
कोमह्लण उ वारिज्जन्तु ण्णट्ठाइ।
करइ वलिवं उउ च वक्कस मच्छलु
अहिमुहं हि तरुणिहिं अअच्छासइ दुक्कम् ॥ ३४६ ॥

सेयमुभयतोऽपि ऋजुनैव मार्गेणोक्तिप्रत्युक्त्योः समा प्रवृत्तिरितीयमृजूक्तिर्नाम वाकोवाक्यम् ॥

इनमें से ऋजूक्ति दो प्रकार की है—ग्राम्या तथा उपनागरिका। ग्राम्या का उदाहरण—
(इसका अर्थ सम्भव नहीं है।)

यहाँ दोनों ओर से भी ऋजुमार्ग द्वारा उक्ति तथा प्रत्युक्ति की समानरूप से प्रवृत्ति हुई है। इस प्रकार यह ऋजूक्ति नामक वाक्योवाक्य हैं।

स्व० भा०—कहने का अभिप्राय यह है कि प्राकृतभाषी की उक्ति होने से और प्रायः ग्राम्यजनों के द्वारा प्रयुक्त होने से यहां ग्राम्यता है। अपनी बातों को सीधे तथा स्पष्टरूप से कहना ग्राम्यों का स्वभाव होता है।

सैवोपनागरिका यथा—

'बाले, नाथ, विमुञ्च मानिनि रुषं. रोषान्मया किं कृतं,
खेदोऽस्मासु, न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा, कस्याग्रतो रुद्यते,
नन्वेतन्मम, का तवास्मि, दयिता, नास्मीत्यतो रुद्यते ॥ ३४७ ॥'

सेयमेकतः काका कुटिलेऽतिविषमेयमृजूक्तिर्नाम वाकोवाक्यम् ॥

ऋजूक्ति में ही उपनागरिका रूप का उदाहरण—

(कोई प्रेमी अपनी मान की हुई नायिका से पूँछता है, उसी प्रसङ्ग के वार्तालाप का यह अमरुक द्वारा लिखित श्लोक दर्शनीय है)—"बाले" 'स्वामिन्' "ओ मानवाली, तुम अपना रोष छोड़ दो" "रोष करके मैने करही क्या दिया" ? "मुझमें दुःख पैदा किया" "(ठीक है) आपका मुझ पर कोई अपराध नहीं है, वस्तुतः सारी बुराईयां मुझमें ही हैं" "तब फिर तुम गद्गद वाणी

में क्यों रो रही है ?" "किसके सामने रो रही हूँ ?" "अरे मेरे सामने और किसके ?" "भला मैं आपकी होती ही कौन हूँ ?" "प्रेयसी हो, प्रियतमा हो" "वही तो नहीं हूँ, इसीलिये रोना है ॥ ३४७ ॥

यहां एक ओर काकु द्वारा कुटिल होने पर भी–अतिविषमरूप होने पर भी–ऋजूक्ति नामक वाकोवाक्य है ।

स्व० भा०—यहां पर काकु पाठ करने पर अर्थ शृङ्गार को छोड़ कर रौद्र का भी रूप ले सकता है । अतः स्थिति विषम हो सकती है । किन्तु स्पष्टरूप से अभिधेय अर्थ लेने से यह असंगति दूर हो जाती है, और ऋजूक्ति संभव हुई ।

वक्रोक्तिर्द्विधा । निर्व्यूढा अनिर्व्यूढा च । तयोर्निर्व्यूढा यथा—

किं गौरि मां प्रति रुषा ननु गौरहं किं
कुप्यामि कां प्रति मयीत्यनुमानतोऽहम् ।
जानामि सत्यमनुमानत एव स त्व-
मित्थं गिरो गिरिभुवः कुटिला जयन्ति ॥ ३४८ ॥'

सेयमावाक्यपरिसमाप्तेर्निर्वाहान्निर्व्यूढेति वक्रोक्तिर्वाकोवाक्यम् ॥

वक्रोक्ति, (वाकोवाक्य) दो प्रकार की है—निर्व्यूढा तथा अनिर्व्यूढा । इन दोनों में से निर्व्यूढा का उदाहरण—

"हे गौरी, मेरे प्रति रोष क्यों है ?" "क्या मैं गौ हूँ और भला किस स्त्री के प्रति मेरा कोप ही है ?" "मुझ पर तुम कुपित हो, यह बात अनुमान से मैं भली-भांति जानता हूँ" "मैं भी सत्य ही जानती हूँ कि तुम उमा (मुझ पर्वत पुत्री) से भिन्न किसी अन्य सुन्दरी को ही प्रणत होते हो ।" इस प्रकार की पर्वत पुत्री की कुटिल वाणी सर्वोत्कृष्ट है ॥ ३४८ ॥

इस श्लोक में प्रारम्भ से लेकर अन्त में वाक्य समाप्त होने तक गृहीत क्रम का निर्वाह हुआ है । अतः यहाँ वक्रोक्ति (निर्व्यूढा) नामक वाकोवाक्य है ॥

अनिर्व्यूढा यथा—

'केयं मूर्ध्न्यन्धकारे तिमिरमिह कुतः सुभ्रु कान्तेन्दुयुक्ते
कान्ताप्यत्रैव कामिन्ननु भवति मया पृष्टमेतावदेव ।
नाहं द्वन्द्वं करोमि व्यपनय शिरसस्तूर्णमेनामिदानी-
मेवं प्रोक्तो भवान्या प्रतिवचनजडः पातु वो मन्मथारिः ॥३४९॥'

सेयमनिर्वाहादनिर्व्यूढेति वक्रोक्तिर्नाम वाकोवाक्यम् । ते इमे उभे अपि श्लेषवक्रोक्तिर्नाम वाकोवाक्यम् ॥

अनिर्व्यूढा का उदाहरण—

(पार्वती जी शिव को सम्बोधित करती हैं) हे अन्धकारि शिव, तुम्हारे सिर पर यह कौन बैठी है ? "अरी सुभ्रु, इस शुभ्र चन्द्रमा से संयुक्त होने के कारण यहाँ अन्धकार कहाँ ?" "कामी कहीं के, तुम्हारी कान्ता भी यहीं है, इसीलिये मैंने इस प्रकार यह पूँछ दिया । मैं झगड़ा नहीं करना चाहती, अपने मस्तक से इसे अभी इसी क्षण हटा दीजिये ।" इस प्रकार भवानी के द्वारा कहे जाने पर प्रत्युत्तर में असमर्थ शिव आप लोगों की रक्षा करें ॥ ३४९ ॥

यहाँ पर एक क्रम का पूर्ण निर्वाह न होने से अनिर्व्यूढ़ा नाम का वक्रोक्ति-वाकोवाक्य है। इन दोनों ही स्थलों पर (निर्व्यूढ़ तथा अनिर्व्यूढ़) भी श्लेषवक्रोक्ति नाम का वाकोवाक्य है।

स्व० भा०—रीति, विषय, अलंकार आदि किसी का भी किसी छन्द में आद्यन्त निर्वाह करना निर्व्यूढ़ता है। इसके विपरीत है अनिर्व्यूढ़ता। पूर्ववर्ती श्लोक में उक्ति-प्रत्युक्ति का क्रम प्रत्येक वाक्य तथा पाद में है, किन्तु दूसरे के तीसरे चरण में केवल पार्वती की ही उक्ति है शिव की नहीं, अतः यहाँ अनिर्व्यूढ़ता है।

दोनों ही वक्रोक्ति के उदाहरण श्लोकों में श्लेष का आश्रय लिया गया है। प्रथम में "गौरिमां" तथा 'अनुमानत' पदों में तथा द्वितीय में 'अन्धकारे' और 'कान्ता' पद श्लिष्ट हैं। 'गौरिमां' के दो रूप "गौः इमां" तथा "गौरि मां" हैं, अतः अर्थ भी भिन्न हैं। इसी प्रकार "अन्धकारे"—शिव के सम्बोधन के रूप में तथा "अंधेरे में" और "अनुमानत" का (अन्+उमा+नत) तथा "अनुमान+तः" अर्थात् 'उमा से भिन्न को प्रणत' और "अनुमान से" अर्थ होते हैं। अतः यह श्लेष पर आधारित है।

वैयात्योक्तिर्द्विधा। स्वाभाविकी नैमित्तिकी चेति। तयोः स्वाभाविकी यथा—

> 'नादेयं किमिदं जलं घटगतं नादेयमेवोच्यते
> सत्यं नाम पिबामि कत्यपतृषः पीतेन नाम्ना भवन्।
> किं वर्णा अपि सन्ति नाम्नि रहितं किं तैरलं त्वं कुतो
> यस्मादेव भवान्भगिन्यसि ततस्तेनैव मां बाधसे॥ ३५०॥'

अत्र स्वैरिण्याः सहजाद्वैयात्यात्स्वाभाविकीयं वैयात्योक्तिर्नाम वाकोवाक्यम्॥

वैयात्योक्ति दो प्रकार की होती है—स्वाभाविकी तथा नैमित्तिकी। इन दोनों में से स्वाभाविकी का उदाहरण—(किसी पथिक एवं एक स्वैरिणी जलवाला का वार्तालाप है)—'क्या यह घड़े का जल ग्रहणीय है' "कह तो रही हूँ कि ग्रहणीय है अथवा अदेय नहीं है।" "मैं तो निश्चित ही जल पी रहा हूँ, भला कितने पीने वाले लोगों की पिपासा शान्त हुई है। अथवा 'पीत' नाम से ही कितनों की प्यास बुझी?" "क्या नाम में वर्ण—रंग भी होते हैं?" "उनके बिना क्या नाम बनना सम्भव पर्याप्त है?" "अच्छा यह बताओ कि तुम आई कहाँ से हो?" "जहां से आप आये हैं।" "तब तो आप मेरी बहन हुई" "तो क्या इसीलिये मुझे रोक रहे हो॥ ३५०॥

स्वैरिणी में जन्मतः साहस अथवा निर्लज्जता होने से यह स्वाभाविकी वैयात्योक्ति नामक वाकोवाक्य है।

स्व० भा०—वैयात्य का अर्थ साहस, निर्लज्जता- फक्कड़पन आदि होता है। कुछ में ये भाव स्वभावतः होते हैं और कुछ में किसी कारण विशेष के उपस्थित होने पर प्रकट होते हैं। उपर्युक्त श्लोक में एक स्त्री का एक पथिक से वार्तालाप दिखाया गया है। कोई भी कुलीन स्त्री किसी अनजाने पुरुष से इस प्रकार खुलकर हावभावपूर्वक बात नहीं कर सकती, जब कि ये सभी चीजें किसी भी स्वेच्छाचारिणी के पास जन्मजात होती हैं। अतः यहां स्वाभाविकी वैयात्योक्ति हुई।

नैमित्तिकी यथा—

'कुशलं राधे, सुखितोऽसि कंस कंसः क्व नु क्व सा राधा ।
इति पारीप्रतिवचनैर्विलक्षहासो हरिर्जयति ॥ ३५१ ॥'

अत्र गोत्रस्खलिते विपक्षनाम्नैव वैयात्येनोत्तरं दत्तमिति नैमित्तिकीयं वैयात्योक्तिर्वाकोवाक्यम् ।

नैमित्तिकी वैयात्योक्ति का उदाहरण—

'कहो राधा, कुशल तो है ?" "हां, कंस, सुख से तो हो ?" "कंस कहां है ?" "तो फिर राधा ही कहां है ?" इस प्रकार मजाकभरी प्रत्युक्तियों के कारण लज्जित होकर हंसने वाले कृष्ण सर्वोत्कृष्ट हैं" ॥ ३५१ ॥

यहां गोत्रस्खलन हो जाने से, प्रतिद्वन्द्वी के नाम के कारण ही साहसपूर्वक उत्तर दिया गया है, अतः यह नैमित्तिक वैयात्योक्ति वाकोवाक्य है ।

स्व० भा०—कृष्ण ने किसी समय अनजान में किसी सुन्दरी को, उसका वास्तविक नाम न लेकर, राधा शब्द से सम्बोधित किया । अपने प्रतिद्वन्द्वी का नाम सुनकर उसे बहुत बुरा लगा । इसीलिये उसने भी झिड़क कर उत्तर दिया । नायिका का प्रत्युत्तर गोत्रस्खलन के कारण ही इतना साहसपूर्ण हुआ ।

गूढोक्तिर्द्विधा । मुख्या गौणी च । तयोर्मुख्या यथा—

'केशव यमुनातीरे व्याहृतवानुषसि हंसिकां कोऽद्य ।
कान्ताविरहभयातुरहृदयः प्रायः प्रियेऽहं सः ॥ ३५२ ॥'

अत्र प्रिये हंस इत्यत्रावर्णलोपे प्रिये अहं स इत्यर्थस्य मुख्ययैव वृत्त्या गूढत्वादियं मुख्या गूढोक्तिर्नाम वाकोवाक्यम् ॥

गूढोक्ति दो प्रकार की होती है—मुख्या तथा गौणी । इनमें से मुख्या का उदाहरण—

'हे कृष्ण, कालिन्दी के तट पर तड़के प्रातःकाल आज हंसिका को किसने पुकारा था ? प्रिये, अपनी प्रेयसी के विरह के भय से सम्भवतः चञ्चल चित्त हंस ही अथवा मैं ही था ।" ॥ ३५२ ॥

इस श्लोक में 'प्रिये हंसः' इसमें अवर्ण का लोप होने से 'प्रिये अहं सः' इस अर्थ का मुख्यावृत्ति—अर्थात् अभिधावृत्ति द्वारा गोपन हो जाता है, अतः गूढ़ होने के कारण यहां मुख्या गूढोक्ति नामक वाकोवाक्य है ।

गौणी यथा—

'निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम् ।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव कृता विनिद्रा नलिनी न येन ॥ ३५३ ॥'

ताविमौ पूर्वोत्तरार्धयोरन्योन्योक्त्या गूढकामलेखावितीयं गौणी गूढोक्तिर्नाम वाकोवाक्यम् ॥

गौणी का उदाहरण—

कमलिनी का जन्म व्यर्थ है जिसने कि चन्द्रमण्डल को नहीं देखा और चन्द्रमा की भी उत्पत्ति व्यर्थ ही है क्योंकि उसने भी कुमुदिनी को खिलाया नहीं ॥ ३५३ ॥

श्लोक के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध में एक दूसरे के लिये कहे जाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों प्रच्छन्न रूप से कामलेख हैं, अतः यहां गौणी गूढोक्ति नामक वाकोवाक्य है।

स्व० भा०—उपर्युक्त दोनों श्लोकों में गूढोक्ति है, बातें तो स्पष्ट कही गई हैं, किन्तु उनका प्रकटन सीधे नहीं होता। इसीलिये इसका यह नाम रखा गया। प्रथम श्लोक में 'हंसिका' पक्षिणी को हंस ढूँढ़ रहा था, पुकार रहा था, यह बात निकलती है, किन्तु उसी के साथ "अहं सः" का भी अर्थ अभिधावृत्ति द्वारा ही प्रकट हो जाता है। जब किसी पद का अर्थ साक्षात् रूप से अव्यवहित होकर निकलता है, तब उसको प्रकट करने वाली शब्द शक्ति को मुख्या अथवा अभिधा कहते हैं। जब मुख्यार्थ का बाध करके उससे मिलता-जुलता कोई अर्थ प्रकट होता है, तब उसे गौणी, लक्षणा, व्यंजना, अनुमान आदि नामों से अभिहित किया जाता है। द्वितीय श्लोक में कुमुदिनी तथा चन्द्र के बहाने किसी नायिका तथा नायक की ओर संकेत किया गया है। यह अर्थ गौणीवृत्ति से निकलता है।

प्रश्नोत्तरोक्तिर्द्विधा। अभिधीयमानहृद्या प्रतीयमानहृद्या च। तयोराद्या यथा—

'क्व प्रस्थितासि करभोरु घने निशीथे
प्राणेश्वरो वसति यत्र मनःप्रियो मे।
एकाकिनी वद कथं न बिभेषि बाले
नन्वस्ति पुङ्खितशरो मदनः सहायः॥ ३५४॥'

सेयं हृद्गतप्रष्टव्यस्यैव स्पष्टमभिधयैवाभिधानादभिधीयमानहृद्या नाम प्रश्नोत्तरोक्तिर्वाकोवाक्यम्॥

प्रश्नोत्तरोक्ति दो प्रकार की होती है—अभिधीयमानहृद्या तथा प्रतीयमानहृद्या। इन दोनों में से प्रथम अर्थात् अभिधीयमान-हृद्या का उदाहरण—

"अरी सुन्दरी, इस घोर निशा में कहाँ चल पड़ी हो?" "जहां पर मेरे मनचाहे प्राणवल्लभ निवास करते हैं।" "ओ मूर्ख, कह तो, भला अकेले ही तुझे डर नहीं लगता?" "(मैं अकेली कहां?) शरसंधान किये हुये कामदेव जो मेरा सहायक है"॥ ३५४॥

यहां हृदय में विद्यमान और पूछी जाने वाली बात को स्पष्ट रूप से अभिधा के द्वारा ही कह देने से अभिधीयमानहृद्या नामक प्रश्नोक्ति वाकोवाक्य हुआ।

द्वितीया यथा—

'कियन्मात्रं जलं विप्र जानुदघ्नं नराधिप।
तथापीयमवस्था ते नहि सर्वे भवादृशाः॥ ३५५॥'

सेयं शब्दविद्यावैशारद्यस्य हृद्यस्य प्रतीयमानत्वात्प्रतीयमानहृद्यप्रश्नोत्तरोक्तिर्वाकोवाक्यम्॥

दूसरी अर्थात् प्रतीयमानहृद्या का उदाहरण—

"ब्राह्मण देव, कितना पानी है?" "महाराज, घुटने तक।" "फिर भी आपकी यह दशा है" "सभी आपके समान तो नहीं हैं"॥ ३५५॥

यह शब्दविद्या अर्थात् व्याकरण शास्त्र की निपुणता से हृद्य प्रतीत होने के कारण प्रतीयमानहृद्या नामक प्रश्नोक्ति वाकोवाक्य है।

स्व० भा०—उपर्युक्त दोनों श्लोकों में प्रश्नोत्तरोक्ति है। दोनों ही हृद्य हैं—मनोरम हैं। प्रथम में हृद्यता स्पष्ट रूप से अभिधा द्वारा कह दी गई है। वहां कुछ छिपा नहीं है। अभिसारिका का दीप्तकामा होने के कारण मदन से समर्थित एवं सुरक्षित होने की बात हृदय में चमत्कार पैदा करती है।

द्वितीय श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति तथा भोजप्रबन्ध दोनों में मिलता है और भोज से सम्बद्ध कहा जाता है। इसके प्रथम तथा तृतीय पाद नदी को पार करने के इच्छुक भोज द्वारा कहे गये हैं और द्वितीय तथा चतुर्थ छद्मवेष में काष्ठभार सिर पर लिये हुये नदी पार कर रहे एक पण्डित के हैं। यहां पर भोज तथा काष्ठवाह दोनों का पाण्डित्य प्रकट होता है। राजा ने 'मात्रच्' प्रत्यय लगाकर प्रश्न पूछा तथा ब्राह्मण ने 'दघ्नच्' का प्रयोग करके उत्तर दिया।

चित्रोक्तिर्द्विधा। चित्रा विचित्रा च। तयोश्चित्रा यथा—

'लभ्यन्ते यदि वाञ्छितानि यमुनाभागीरथीसंगमे
देव प्रेष्यजनस्तदेष भवतो भर्तव्यतां वाञ्छति।
नन्वेतन्मरणेन किं नु मरणं कायान्मनोविच्युति-
र्दीर्घं जीव मनस्तवाङ्घ्रिकमले कायोऽत्र नस्तिष्ठति॥ ३५६॥'

तदिदं स्वकल्पितोक्तिप्रत्युक्तिभ्यां जीवतोऽपि जन्मान्तरावाप्तिसाधनेनाश्चर्यहेतुरिति चित्रा नाम चित्रोक्तिप्रत्युक्तिर्वाकोवाक्यम्॥

चित्रोक्ति दो प्रकार की होती है—चित्रा तथा विचित्रा। इन दोनों में से चित्रा का उदाहरण—

यदि यमुना तथा गङ्गा के संगम में सभी अभीष्ट प्राप्त हो जाते हैं, तो हे महाराज, आपका यह सेवक आपका ही स्वामित्व चाहता है। यदि यह कहा जाये कि वे फल मरने पर मिलते हैं, तो मृत्यु है ही क्या? मरण तो वस्तुतः शरीर से मन का अलग होना है। अतः हे स्वामिन्, हमारा मन चिरकाल तक आपके चरणकमलों में लगा रहे, हमारा शरीर तो यहां है ही॥ ३५६॥

यहां स्वयं ही कल्पित किये गये प्रश्न तथा उत्तरों के द्वारा जीवित रहने वाले की भी जन्मान्तर प्राप्ति सिद्ध की गई है, यही आश्चर्य का कारण है। अतः यहां चित्रा नाम की चित्रोक्ति प्रत्युक्ति वाकोवाक्य है।

द्वितीया यथा—

'कोऽयं भामिनि भूषणं कितव ते शोणः कथं कुङ्कुमा-
त्कूर्पासान्तरितः प्रिये विनिमयः पश्यापरं कास्ति मे।
पश्यामीत्यभिधाय सान्द्रपुलको मृद्नन्मृडान्याः स्तनौ
हस्तेन प्रतिनिर्जितेन्दुरवताद्द्यूते हसन्वो हरः॥ ३५७॥'

अत्रोक्तिप्रत्युक्त्योरनन्तरं स्तनमर्दनवैचित्र्यादिना परिसमाप्तेर्विचित्रसंज्ञमिदं वाकोवाक्यम्॥

दूसरी अर्थात् विचित्रोक्ति का उदाहरण—

"सुन्दरी, यह कौन है?" "धूर्त, तुम्हारा आभूषण है" "वह लाल कैसे?" "कुङ्कुम के

कारण" 'हे प्रिये, यह बदल कर कूर्पास से ढँक क्या लिया" "देखो मेरे पास दूसरी क्या वस्तु है ही" "अच्छा, देखता हूँ", ऐसा कहकर अत्यधिक रोमाञ्चित हो पार्वती के दोनों स्तनों का अपने हाथ से मर्दन करते हुये, द्यूत-क्रीड़ा में चन्द्रमा को हार बैठे शङ्कर आप लोगों की रक्षा करें॥ ३५७ ॥

यहां उक्ति तथा प्रत्युक्ति के पश्चात् स्तनमर्दन आदि विचित्र कर्मों द्वारा कार्य समाप्त होने से, विचित्रसंज्ञक वाकोवाक्य है।

स्व० भा०—यहां विशेष रूप से व्याख्यापेक्ष्य कोई अंश नहीं है। भोज द्वारा दी गई वृत्तियां ही श्लोकों की विशेषतायें बताने में समर्थ हैं।

(१८) प्रहेलिका

प्रहेलिका सकृत्प्रश्नः सापि षोढा च्युताक्षरा।
दत्ताक्षरोभयं मुष्टिर्विन्दुमत्यर्थवत्यपि ॥ १३३ ॥
क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका ॥ १३४ ॥

प्रहेलिका वह है जहां एक ही बार प्रश्न किया गया हो। वह भी छः प्रकार की होती है—(१) च्युताक्षरा, (२) दत्ताक्षरा, (३) च्युतदत्ताक्षरा, (४) मुष्टि, (५) विन्दुमती, (६) अर्थवती ॥ १३३ ॥

क्रीडागोष्ठी में, मनोविनोद में अथवा क्रीडागोष्ठी में मनोविनोद के लिये, उसे जानने वाले लोगों की सभा में मन्त्रणा करने के लिये, दूसरे को स्पष्ट ज्ञान न होने देने के लिये प्रहेलिका उपयोगी होती है ॥ १३४ ॥

स्व० भा०—भोज ने दूसरी कारिका दण्डी के काव्यादर्श (३।९७) से ली है। वस्तुतः प्रहेलिका को काव्य नहीं मानना चाहिये क्योंकि यह अनेक आवश्यक गुणों से हीन तथा अनेक दोषों से संवलित होती है। फिर भी विदग्धमण्डली में जहाँ वासनाविशेष से संस्कारित लोग होते हैं, इसका दोष समाप्तप्राय हो जाता है। दण्डी ने स्वयं सोलह प्रकार की प्रहेलिकाओं को काव्य में उचित माना है और शेष चौदह को परिहार्य कहा है, क्योंकि वे दुष्ट होती हैं।

एताः षोडशनिर्दिष्टाः पूर्वाचार्यैः प्रहेलिकाः।
दुष्टप्रहेलिकाश्चान्यास्तैरधीताश्चतुर्दश ॥
दोषानपरिसंख्येयान् मन्यमाना वयं पुनः।
साध्वीरेवाभिधास्यामस्ता दुष्टा यास्त्वलक्षणा ॥ काव्या० ३।१०६-७ ॥

संयोग से भोज द्वारा निर्दिष्ट अधिकांश पहेलियां शेष चतुर्दश में ही आती हैं। संभवतः भोज ने केवल कठिनों को ही उल्लेख के योग्य और महत्त्वपूर्ण समझा क्योंकि सरल तो सरल हैं ही। रुद्रट के अनुसार—'मात्राविन्दुच्युतके प्रहेलिका कारकक्रियागूढे।
प्रश्नोत्तरादि चान्यत्क्रीडामात्रोपयोगमिदम् ॥ काव्यालंकार (५।२४)

(अ) च्युताक्षरा

तासु च्युताक्षरा यथा—

'पयोधरभराक्रान्ता संनमन्ती पदे पदे।
पदमेकं न का याति यदि हारेण वर्जिता ॥ ३५८ ॥'

अत्र विहङ्गिका काहारेण वर्जिता न यातीति वक्तव्ये हारेण वर्जितेत्युक्तम्। अतः का इत्यक्षरस्य च्युतत्वाच्च्युताक्षरेयम् ॥

इनमें से च्युताक्षरा का उदाहरण—

जलधारक घड़ों के भार से दबी हुई, कदम-कदम पर झुकती हुई वह कौन है जो यदि कँहारों से रहित हो तो उसी प्रकार एक भी डग आगे नहीं बढ़ पाती जैसे उन्नत उरोजों के भार से दबी और कदम-कदम पर झुकती हुई सुन्दरी हार से रहित होकर एक भी कदम आगे नहीं बढ़ती ॥ ३५८ ॥

यहां पर 'वहंगी-विहङ्गिका' कहारों के विना नहीं जाती है, यह कहना था किन्तु 'हार के विना' यह कहा गया। अतः यहां "का" इस अक्षर को छोड़ देने से च्युताक्षरा है।

स्व० भा०—वहँगी नाम की एक चीज होती है जिसके दोनों शीर्षों पर सामान लटका कर उसे कंधे पर लाद कर कहाँर लोग चलते हैं। इस श्लोक में दिये गये विशेषण युवती तथा विहंगिका दोनो के लिये उचित बैठते हैं, इसीलिये उसका स्त्रीवाचक भी अर्थ दिया गया है। यदि यहां 'का' अक्षर 'हारेण' के साथ होता तो च्युताक्षरा प्रहेलिका न होती।

(आ) दत्ताक्षरा

दत्ताक्षरा यथा—

'कान्तयानुगतः कोऽयं पीनस्कन्धो मदोद्धतः।
मृगाणां पृष्ठतो याति शम्बरो रूढयौवनः ॥ ३५९ ॥'

अत्र शबर इति शम्बर इत्यनुस्वाराक्षरस्य दत्तत्वाद्दत्ताक्षरेयम् ॥

दत्ताक्षरा का उदाहरण जैसे—

कामिनी से अनुगत, चौड़े कंधेवाला, मदमत्त, जवानी से भरपूर यह कौन शम्बर है जो मृगों के पीछे-पीछे जा रहा है ॥ ३५९ ॥

यहां 'शबर' पद के "शम्बर" इस रूप में अनुस्वार अक्षर दे देने से दत्ताक्षरा प्रहेलिका है।

स्व० भा०—इस श्लोक में शबर के स्थान पर शंबर दे दिया गया है। शंकर में शबर की अपेक्षा अनुस्वार अधिक है, अतः यहां दत्ताक्षरा प्रहेलिका है। शेष स्पष्ट है।

(इ) च्युतदत्ताक्षरा

च्युतदत्ताक्षरा यथा—

'विदग्धः सरसो रागी नितम्बोपरि संस्थितः।
तन्वङ्गयालिङ्गितः कण्ठे कलं कूजति को विटः ॥ ३६० ॥'

अत्र विट इत्यत्यस्मिन्पदे विकारे च्युते घकारे दत्ते घटः कूजतीति द्वितीयोऽर्थो भवतीति सेयं च्युतदत्ताक्षरा ॥

च्युतदत्ताक्षरा का उदाहरण—

अत्यन्त निपुण, रसयुक्त, प्रेमभावसम्पन्न, नितम्बों के ऊपर स्थित तथा सुन्दरी के द्वारा कण्ठ से पकड़ा हुआ कौन धूर्त अथवा विशेषतः 'ट' से युक्त-कर्णप्रिय ध्वनियां करता है ॥ ३६० ॥

यहां पर 'विट' इस पद में 'वि' को छोड़ देने से तथा 'घकार' को स्थित कर देने से 'घट-घड़ा-अस्पष्ट ध्वनियां कर रहा है' यह दूसरा ही अर्थ हो जाता है, अतः यही च्युतदत्ताक्षरा है।

स्व० भा०—उपर्युक्त अर्थ किसी विट के सन्दर्भ में लागू होता था। 'विटः' के स्थान पर 'घटः' को स्थित कर देने पर सभी विशेषण इसमें भी उपर्युक्त रीति से सम्बद्ध हो जाते हैं। घट के अनुसार अर्थ होगा—'भलीभांति पकाया हुआ, जलपूर्ण, रंगा हुआ, कूल्हे पर स्थित तथा कण्ठ में सुन्दरी के द्वारा पकड़ा गया वह कौन है जो कूज रहा है ? (उत्तर है) "घटः"। अतः यहां 'वि' को च्युत करने से और 'घ' को जोड़ देने से 'च्युति' और 'दत्तता' दोनों ही समवेत रूप से सिद्ध हो जाते हैं।

(ई) अक्षरमुष्टिका

अक्षरमुष्टिका यथा—

'अतिः अतिः अन्म अलं प्रीद्य रद्य जद्य फद्य।
मेला मेला मेलं मेलं फस फस फस फस ॥ ३६१ ॥'

सेयमक्षराणां मुष्टिरित्यक्षरमुष्टिका। अत्र पादशश्चतुःपङ्क्तिलिखितायां चतुर्भिर्मुरजबन्धैः श्लोक उत्तिष्ठति। तद्यथा—

'अद्य मे सफला प्रीतिरद्य मे सफला रतिः।
अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलं फलम् ॥ ३६२ ॥'

अक्षरमुष्टिका का उदाहरण—

अतिः, अतिः, अन् , म, अलं, प्रीं, द्य, रद्य, जद्य, फद्य, मेला, मेला, मेलं, मेलं, फस, फस, फस, फस ॥ ३६१ ॥

यह अक्षरों की मुठ्ठी है, अतः अक्षरमुष्टिका कही जाती है। यहां एक-एक पाद को चार पंक्तियों में लिखने पर चार मुरजबन्धों से श्लोक उपस्थित होता हैं। वह श्लोक यह है—

आज मेरा प्रेम सफल हो गया, आज मेरी रति सफल हो गई, आज मेरा जन्म सफल हो गया और आज मेरा फल सफल हो गया। ॥ ३६२ ॥

स्व० भा०—अक्षरमुष्टिका में कुछ ऐसे वर्ण बिखरे पड़े रहते हैं, जिनको समुचित रूप से संयुक्त कर देने पर कोई श्लोक निकल आता है। यहीं पर ऊपर दिये गये श्लोक के वर्णों को निश्चित क्रम में लिखने से द्वितीय श्लोक निकल आया। अक्षरमुष्टिका का अर्थ ही होता हैं मुट्ठीभर अक्षर अथवा अक्षरों की एक मुट्ठी। जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी अन्न की राशि से एक मुट्ठी लेकर छिटक देता है और पुनः उसे एकत्र कर लेता हैं, वही दशा यहां भी है। इस श्लोक से चार मुरजों वाला चित्रबन्ध बनता है।

बिन्दुमती यथा—

'तवाववादः प्रत्यब्धि पताका प्रतिसङ्गरम्।
फलं प्रत्यद्भुतोपायं यशांसि नतु न क्वचित् ॥ ३६३ ॥'

इत्यनेन श्लोकेनोक्तार्थस्य यथास्थितस्वरानुस्वारविसर्जनीयसंयोगस्य श्लोकोत्तरस्य बिन्दुभिरेव सूचनाक्रम इति बिन्दुमती। तद्यथा—

'◌ु◌◌ा◌ु◌◌ा◌ा◌ा ◌ं◌ु◌े ◌ं◌ु◌े ◌◌ः।
◌ा◌◌े,◌ा◌◌े ि◌ि◌ः ◌◌ि◌ ◌◌ ◌ृ◌ी◌ि◌ः॥'

विन्दुमती का उदाहरण—

आपका शासन प्रत्येक समुद्र तक है, प्रत्येक युद्ध में आपकी ही ध्वजा ऊपर रहती है, हर एक अद्भुत उपाय के साथ फल की प्राप्ति होती है और यह भी बात नहीं है कि कहीं आपका यश न हो ॥ ३६३ ॥

इस श्लोक से से कथित विषय वाले यथाक्रम स्थित स्वर, अनुस्वार, विसर्ग से संयुक्त दूसरे श्लोक की विन्दुओं के द्वारा ही क्रमशः सूचना को विन्दुमती कहते हैं। जैसे—

निर्भेदः।

उद्धावुद्धावाज्ञा संयुगे संयुगे जयः।
साहसे साहसे सिद्धिः सर्वत्र तव कीर्तयः ॥ ३६४ ॥

इसका स्पष्टरूप यों है—

समुद्र समुद्र में आपकी आज्ञा है, युद्ध युद्ध में आपकी जय है, प्रत्येक साहस कर्म में आपकी सिद्धि है तथा सर्वत्र ही आपकी कीर्ति है ॥ ३६४ ॥

स्व० भा०—जो अर्थ पूर्व श्लोक का था उसी अर्थ वाला दूसरा श्लोक है। वर्णों तथा पदों में अन्तर अवश्य है। द्वितीय श्लोक में आये अनुस्वार, विसर्ग तथा 'आ' इ, ई, उ की मात्रायें ज्यों की त्यों चिह्नित की गई हैं। इससे वर्णविन्यास में सुविधा होती है।

(ऊ) अर्थ प्रहेलिका

अर्थप्रहेलिका यथा—

'उत्तप्तकाञ्चनाभासं संदष्टदशनच्छदम्।
सरसं चुम्ब्यते हृष्टैर्वृद्धैरपि किमुज्ज्वलम् ॥ ३६५ ॥'

सेयमपि सूचितस्यैव पक्वाम्रफलमित्यस्य द्व्यर्थपदप्रयोगेणावगतेरर्थ-प्रहेलिका ॥

अर्थ प्रहेलिका का उदाहरण—

तपाये हुये सोने की भांति चमक वाली, ओठों से दबी हुई, रसपूर्ण एवं शुभ्र वह कौन-सी वस्तु है जिसे वृद्ध लोग भी प्रसन्न होकर चूमते हैं—चूसते हैं ॥ ३६५ ॥

यहां भी सूचित हो रहे पके आम के फल का ज्ञान दो अर्थ वाले पदों के प्रयोग से होता है, अतः अर्थ-प्रहेलिका है।

स्व० भा०—अर्थ प्रहेलिका में कुछ विशेषण ऐसे रख दिये जाते हैं जो वास्तविक वस्तु के साथ ही किसी अन्य विशेष्य के साथ भी अन्वित हो जाते हैं। अन्य के भी साथ अन्वित होने से ही भ्रम पैदा होता है। अर्थप्रहेलिका में न तो अपेक्षित वस्तु ही होती है और न वहां च्युति अथवा आधार का ही कोई रूप होता है। यहां पर अपेक्षित वस्तु ही सोच कर बाहर से लाई जाती है।

(१२) गूढ

क्रियाकारकसंबन्धैः पदाभिप्रायवस्तुभिः।
गोपितैः षड्विधं प्राहुर्गूढं गूढार्थवेदिनः ॥ १३५ ॥

गोपित पद, अभिप्राय तथा वस्तु के साथ क्रिया, कारक और सम्बन्ध को भी गूढ कर देने पर गूढार्थवेत्ताओं ने गूढ़ को छः प्रकार का कहा है ॥ १३५ ॥

स्व० भा०—गूढालंकार में क्रिया, कारक, सम्बन्ध, पद, अभिप्राय तथा वस्तु में से किसी एक का गोपन होता है। इन्हीं छः प्रकार की गुप्तियों के कारण गूढ को छः प्रकार का कहा गया है।

(क) क्रियागुप्ता

तेषु क्रियागुप्तं यथा—

'स्तनजघनभराभिराममन्दं गमनमिदं मदिरारुणेक्षणायाः।
कथमिव सहसा विलोकयन्तो मदनशरज्वरजर्जरा युवानः ॥ ३६६ ॥'

अत्र जघनभराभिराममन्दं मदिरेक्षणाया गमनमवलोकयन्तो हे युवानः, कथमिव यूयं मदनशरज्वरजर्जरा न स्तेति क्रियापदस्य स्तनशब्देन जघनसांनिध्य दुःगोपितेन क्रियागूढमिदम् ॥

इन छः प्रकारों में से क्रियागुप्त का उदाहरण—

हे युवको, स्तन तथा जघनों के भार से मनोरम एवं मन्द-मन्द, मदिर तथा अरुण नेत्रों वाली सुन्दरी के इस गमन को देखते हुए भी तुम लोग एकाएक कैसे कामबाण के दाह से जीर्ण नहीं हो जाते ? ॥ ३६६ ॥

यहां पर 'जघनों के भार से सुन्दर तथा मन्द मोहक नयनोंवाली की चाल को देखकर भी हे युवको, कैसे भला तुम लोग कामशर के ज्वर से जर्जर नहीं हो जाते' इसमें क्रियापद का स्तन शब्द द्वारा जघन की समीपता के कारण गोपन कर दिया गया है। अतः यह क्रियागूढ का उदाहरण है।

स्व० भा०—ऊपर से केवल एक सरसरी दृष्टि डालने से पूरे छन्द में क्रिया प्रतीत ही नहीं होती। "स्त" "न" पदों को 'जघन' पद के साथ इस प्रकार रखा गया है कि इन दोनों में से 'स्त' को क्रिया और 'न' को अव्यय के रूप में पृथक्-पृथक् स्वीकार करना ही असंगत सा लगता है। किन्तु वस्तुतः यह क्रिया ही है जो बुद्धिपूर्वक छिपा कर रखी गई है। इसी का गोपन होने से यहां क्रियागूढता है।

(ख) कारकगुप्ता

कारकगुप्तं यथा—

'पिबतस्ते शरावेण वारि कह्लारशीतलम्।
केनेमौ दुर्विदग्धेन हृदये विनिवेशितौ ॥ ३६७ ॥'

अत्र शराविति कर्मकारकस्य गूढत्वात्कारकगूढमिदम् ॥

कमल से शीतल जल का कसोरे से पान करते समय किस मूर्ख के द्वारा ये दोनों तुम्हारे हृदय में निविष्ट कर दिये गये ॥ ३६७ ॥

इस श्लोक में "शरौ" इसमें कर्मकारक के गूढ होने से यह कारकगूढ का उदाहरण हुआ।

स्व० भा०—इस श्लोक का अर्थ कारक को स्पष्ट कर देने से दूसरा हो जायेगा। वस्तुतः यहां "शरौ एण" को 'शरावेण' कर दिया गया है जिससे 'शरौ' की द्वितीया विभक्ति गुप्त होती है और तृतीयान्त पद का निर्माण होता है। अतः अब अर्थ होगा—"हे मृग, कमल से शीतल जल का पान करते समय किस मूर्ख ने तुम्हारे हृदय में ये दो बाण चुभो दिये हैं ?"

(ग) सम्बन्धगूढ

संबन्धगूढं यथा—

'न मयागोरसाभिज्ञं चेतः कस्मात् कुप्यसि ।
अस्थानरुदितैरेभिरलमालोहितेक्षणे ॥ ३६८ ॥'

अत्र न मे आगोरसाभिज्ञं चेत इति संबन्धपदस्य मयेति तृतीयाभ्रान्त्या गोपितत्वादिदं संबन्धगूढम् ॥

सम्बन्ध गूढ का उदाहरण—

मेरा चित्त किसी भी अपराध से परिचित नहीं, तुम मुझ पर क्यों क्रुद्ध होती हो ? अरी लाल-लाल नयनों वाली तुम अपना व्यर्थ का रोना बन्द करो ॥ ३६८ ॥

यहां 'न मे आगोरसाभिज्ञं चेतः''—मेरा मन किसी भी अपराध से परिचित नहीं है, इसमें सम्बन्ध का पद 'मया' इस तृतीया की भ्रान्ति से गुप्त कर दिया जाने से यह सम्बन्धगूढ का उदाहरण है ।

स्व० भा०—सामान्यतः सम्बन्ध की भी गणना कारकों में ही होती है, अतः इसका पृथक् निर्देश नहीं अपेक्षित था, किन्तु संस्कृत में सम्बन्ध तथा सम्बोधन प्रधान कारक नहीं माने जाते । उदाहरण के छन्द में 'न मे आगोरसाभिज्ञ'' के स्थान पर सन्धि करके 'न मयागोरसाभिज्ञं'' रूप आ जाने से 'षष्ठयन्त' 'मे' के स्थान पर तृतीयान्त 'मया' का भ्रम हो जाता है ।

(घ) पादगूढ

पादगूढं यथा—

'द्युवियद्गामिनी तारसंरावविहतश्रुतिः ।
हैमीषु माला शुशुभे (विद्युतामिव संहतिः) ॥ ३६९ ॥'

अत्र पूर्वार्धस्थितैर्द्वितीयप्रथमसप्तमपञ्चमैकादशनवमत्रयोदशषोडसाक्षरैश्चतुर्थपादो गूढ उत्थाप्यः । यथा—'विद्युतामिव संहतिः' इति । इदं पादगूढम् ॥

पादगूढ का उदाहरण—

शिव के द्वारा प्रक्षिप्त सुवर्णमयी बाणसंहति अन्तरालमय आकाश में संचरण कर रही थी, अपनी तेज आवाज से कर्णविवर को फोड़े डाल रही थी और विद्युन्माला की भांति चमक रही थी ॥ ३६९ ॥

यहां पर पूर्वार्ध में स्थित द्वितीय, प्रथम, सप्तम, पञ्चम, एकादश, नवम, त्रयोदश तथा षोडश अक्षरों से गुप्त चतुर्थ पाद निकालना चाहिये । जैसे—'विद्युतामिव संहतिः ।'' यह पादगूढ़ है ।

स्व० भा०—यहां चतुर्थपाद जो कि गूढ है ऊपर वृत्ति में निर्दिष्ट वर्णों की क्रमिक योजना से निकल आता है । पूरा पाद ही गुप्त होने से यह पादगूढ का उदाहरण है ।

(द्रष्टव्य किरात० १५।४३)

(ङ) अभिप्रायगूढ

अभिप्रायगूढं यथा—

'जइ देअरेण भणिआ खग्गं घेत्तूण राउलं वच्च ।
ता किं सेवअवहुए हसिऊण वलोइअं सअणम् ॥ ३७० ॥

[यदि देवरेण भणिता खड्गं गृहीत्वा राजकुलं व्रज।
तत्किं सेवकवध्वा हसित्वावलोकितं शयनम् ॥]

अत्र निरीक्षितमनेनात्र पुरुषायितलक्ष्म पादलाक्षादिकं, तेन नियुङ्क्ते मां नृकर्मणीत्यभिप्रायेण वध्वाः शयनावलोकनमित्यभिप्रायगूढम् ॥

अभिप्राय गूढ का उदाहरण—

यदि देवर ने कहा कि तू तलवार को लेकर राजकुल को जा, तो दासी ने हँस कर शय्या की ओर क्यों देखा ? ॥ ३७० ॥

इसमें यह प्रकट हो रहा है कि 'इसने विपरीतरति के चिह्नस्वरूप चरण में लगे लाक्षारस आदि को देख लिया है, इसीलिये यह मुझे पुरुषों द्वारा करणीय कर्म में नियुक्त कर रहा है,' इसी अभिप्राय से वधू का शयन की ओर देखना था, अतः यहां अभिप्रायगूढ है।

(च) वस्तुगूढ

वस्तुगूढं यथा—

'पानीयं पातुमिच्छामि त्वत्तः कमललोचने।
यदि दास्यसि नेच्छामि नो दास्यसि पिबाम्यहम् ॥ ३७१ ॥'

अत्र दास्यसीति दासीलक्षणस्य वस्तुनो गूढत्वादिदं वस्तुगूढम् ॥

वस्तुगूढ का उदाहरण—

हे कमलाक्षी, मैं तुमसे पानी पीना चाहता हूँ। यदि दोगी तो न चाहूँगा, और यदि नहीं दोगी तो पिऊँगा। (अथवा यदि दासी हो तो नहीं चाहिये, यदि दासी नहीं हो तो मैं पीऊँगा) ॥ ३७१ ॥

यहां 'दास्यसि' इस (दासी + असि) दासी रूप वस्तु को गूढ रखने से यह वस्तुगूढता का उदाहरण है।

स्व० भा०—यहां पर दो क्रियायें एक ही समान आई प्रतीत होती हैं। यदि इनको क्रिया मानकर अर्थ लिया जाये तो विरोध उत्पन्न होता है, किन्तु ये हैं वस्तुतः संज्ञा तथा क्रिया के संहत रूप। 'दास्यसि' यहां "दासी + असि" के रूप में अभीष्ट है, न कि भविष्यत्कालीन क्रिया के रूप में। 'दासी' पद गुप्त होकर क्रिया के रूप में आ रहा है, इसीलिये यहां वस्तुगूढता है।

(२०) प्रश्नोत्तर

यस्तु पर्यनुयोगस्य निर्भेदः क्रियते पदैः।
विदग्धगोष्ठ्यां वाक्यैर्वा तं हि प्रश्नोत्तरं विदुः ॥ १३६ ॥
अन्तःप्रश्नबहिःप्रश्नबहिरन्तःसमाह्वयैः।
जातिपृष्टोत्तराभिख्यैः प्रश्नैस्तदपि षड्विधम् ॥ १३७ ॥

जब खण्डन करने के लिये की गई पूँछताछ को पदों अथवा वाक्यों द्वारा विद्वानों की गोष्ठी में स्पष्ट किया जाता है, उसको प्रश्नोत्तर समझते हैं। यह प्रश्नोत्तर अलंकार भी (१) अन्तःप्रश्न, (२) बहिःप्रश्न, (३) बहिरन्तःप्रश्न, (४) जातिप्रश्न, (५) पृष्टप्रश्न तथा (६) उत्तरप्रश्न नामक भेदों से छः प्रकार का होता है ॥ १३६-१३७ ॥

स्व० भा०—कहीं-कहीं आचार्यों ने इसको भी प्रहेलिका के अन्तर्गत ही रखा है, किन्तु भोज ने दोनों की विवेचना करके इसको पृथक् ही एक शब्दालङ्कार के रूप में स्वीकार किया है।

यद्यपि प्रश्नोत्तर को अलंकार मानना भी विवाद का ही विषय है, तथापि शब्दापेक्षी होने के कारण इसको यदि किसी कोटि में रखा भी जा सकता हैं, तो वह शब्दालङ्कार ही होगा।

१—अन्तःप्रश्न

तेष्वन्तःप्रश्नं यथा—

'काहमस्मि गुहा वक्ति प्रश्नेऽमुष्मिन्किमुत्तरम्।
कथमुक्तं न जानासि कदर्थयसि यत्सखे ॥ ३७२ ॥'

अत्र 'कदथयसि' इति पदं कथमुक्तं रेफयकारयुक्तं दर्शयसीति, अतो वाक्यान्तरे प्रश्नोत्तरस्योक्तत्वादन्तःप्रश्नमिदम ॥

इनमें से अन्तःप्रश्न का उदाहरण—

"मैं कौन हूँ" यह गुफा कहती है। इस प्रश्न के होने पर क्या उत्तर है? कही हुई बात को भी कैसे नहीं जानते हो जो, हे मित्र, मेरी निन्दा कर रहे हो। अथवा हे मित्र, जो 'कदर्थयसि' यह पद है, उसके 'क' तथा 'थ' से मुक्त रूप (दर्यसि = दरी + असि = गुफा हो) इसे नहीं जानते हो ॥ ३७२ ॥

यहां पर 'कदर्थयसि' यह पद 'क' तथा 'थ' से मुक्त होकर 'र' तथा 'य' से युक्त हो 'दर्यसि' (दरी + असि) रूप में रहता है, अतः वाक्य के भीतर ही प्रश्न तथा उत्तर दोनों ही उक्त होने से यह अन्तःप्रश्न का उदाहरण है।

स्व० भा०—प्रश्न तो प्रायः वाक्य में ही होते हैं, किन्तु उत्तरों का उन्हीं में समाहित होना आवश्यक नहीं। इस प्रश्नोत्तर में प्रश्न के साथ उत्तर भी है। उत्तर वाक्य के भीतर से ही निकल रहा है, अतः यह अन्तःप्रश्न का उदाहरण हुआ।

२—बहिःप्रश्न

बहिःप्रश्नं यथा—

'भद्र माणवकाख्याहि कीदृशः खलु ते पिता।
वेलान्दोलितकल्लोलः कीदृशश्च महोदधिः ॥ ३७३ ॥'

अत्र 'मज्जन्मकरः' इत्यस्योत्तरस्य प्रश्नाद्बहिरुक्तत्वाद्बहिःप्रश्नमिदम् ॥

बहिःप्रश्न का उदाहरण—

'अच्छे बच्चे, बताओ तो, तुम्हारे पिता कैसे हैं, तथा तट को भी अपनी तरङ्गों से चञ्चल कर देने वाला सागर किस प्रकार का है ॥ ३७३ ॥

यहां पर 'मज्जन्मकरः' इस उत्तर के प्रश्न के बाहर कहे जाने से, यह श्लोक बहिःप्रश्न का उदाहरण है।

स्व० भा०—प्रस्तुत श्लोक के भीतर 'मज्जन्मकरः' उत्तर नहीं निकलता, यह उत्तर बाहर से ही लाना पड़ता है। यह पूरा एक ऐसा समस्तपद हैं जिससे दोनों प्रश्नों का उत्तर मिलता है। बच्चे के पक्ष में इसका अर्थ है—"मुझे जन्म देने वाले" तथा सागर के पक्ष में इसका अर्थ होगा—"जिसमें मकर मज्जन कर रहे हैं।"

बहिरन्तःप्रश्नं यथा—

'सुभद्रां क उपायंस्त प्रश्नेऽमुष्मिन् य उत्तरः।
स कीदृक्कपिमाचष्टे व्योम्नि पर्णस्थितिः कुतः ॥ ३७४ ॥'

अत्र 'वायुतः' इत्युत्तरेण प्रश्नाद्बहिरुक्तेन वायुतो नरो वानरो भवति, सुभद्रोपयन्ताप्युच्यते। तेनैतद्बहिरन्तःप्रश्नं भवति ॥

३—बहिरन्तःप्रश्न

"सुभद्रा को किसने ब्याहा ?" इस प्रश्न में जो उत्तर है, वह किस प्रकार से कपि को बतलाता है ? तथा "आकाश में पत्ते की स्थिति किससे होती है ?" ॥ ३७४ ॥

यहां 'वायुतः' इस प्रश्न से बाहर कहे गये उत्तर के कारण 'वा' से युक्त 'नर' 'वानर' हो जाता है, इससे सुभद्रा का उपयन्ता भी कह दिया गया। इसलिये यह बहिरन्तःप्रश्न का उदाहरण है।

स्व० भा०—उपर्युक्त श्लोक में पहले पूर्वार्ध में 'बहिः' तथा उत्तरार्ध में अन्तःप्रश्न का उदाहरण है। वस्तुतः अर्जुन 'नर' ने सुभद्रा को ब्याहा था। यही 'वा' से युक्त होकर 'वानर' बनता है और 'कपि' का अर्थ स्पष्ट करता है। 'वायु' से ही आकाश में पत्ते आदि पदार्थ रुके भी रहते हैं।

४—जातिप्रश्न

जातिप्रश्नं यथा—

'कीदृशा भूमिभागेन राजा स्नातोऽनुमीयते।
प्राङ्गणं कुरुतेत्युक्ताः किमाहुस्तदनिच्छवः ॥ ३७५ ॥

'हैमवारकरञ्जिना' 'नाजिरं करवामहे' इत्युत्तराभ्यां गतप्रत्यागताभ्यां प्रश्नोत्तरजातिरभिधीयते। तेन जातिप्रश्नमिदम् ॥

जातिप्रश्न का उदाहरण—

किस प्रकार की भूमि से राजा के स्नात होने का अनुमान होता है। 'आंगन को बनाओ' ऐसा कहे गये उसके अनिच्छुक लोगों ने क्या कहा ? ॥ ३७५ ॥

'हैमवारकरञ्जिना' 'नाजिरं करवामहे' इन दोनों उत्तरों से गतप्रत्यागत रीति—अनुलोम तथा विलोम रीति—से पढ़ने पर प्रश्नोत्तर जाति उक्त हो जाती है। अतः यह जातिप्रश्न का उदाहरण है।

स्व० भा०—राजा ने स्नान किया है यह बात उस भूभाग से मालूम होती है जो स्वर्णघटों से सुशोभित होती है अथवा स्वर्ण के आच्छादनो से ढकी होती है तथा आंगन बनाने के अनिच्छुक लोगों ने कहा कि 'हम अजिर नहीं बनायेंगे। 'हैमवारकरञ्जिना' तथा 'नाजिरं करवामहे' इन दोनों को विलोम क्रम से पढ़ने पर क्रमशः 'नाजिरं करवामहे' तथा 'हैमवारकरञ्जिना' ही उत्तर आता है। यही गतप्रत्यागत—अनुलोमविलोम—रीति है। इसी कारण प्रश्न तथा उत्तर की जाति भी स्पष्ट हो जाती है। यहाँ रीति तथा जाति परस्पर्य पर्याय हैं।

५—पृष्टप्रश्न

पृष्टप्रश्नं यथा—

'को सो जोअणवाओ का दण्डाणं दुवे सहस्साइं।
का काली का मधुरा किं शुभ्रपृथुकाननच्छायम् ॥ ३७६ ॥'

अत्र य एव प्रश्नाः कः स योजनपादः कः स यो दण्डानां द्वे सहस्रे इत्यादयः त एव 'क्रोशो योजनपादः' 'कोदण्डानां द्वे सहस्रे' इत्यादीन्युत्तराणि

भवन्ति। एवं 'का काली का मधुरा किं शुकपृथुकाननच्छायम्' इत्युत्तरं किमभिहितशेषस्य प्रष्टव्यमिति पृष्टप्रश्नम्॥

पृष्टप्रश्न का उदाहरण—

वह कौन है जो योजन का एक पाद है ? वह कौन है जो दण्डों का दो सहस्र है ? काली कौन है ? मधुर क्या है ? तथा तोते के चौड़े मुख की छटावाला क्या पदार्थ है ?॥ ३७६॥

यहां जो प्रश्न हैं—जैसे 'कः स योजनपादः' 'कः स यो दण्डानां द्वे सहस्रे' इत्यादि, वे ही "क्रोशो योजनपादः"—एक कोस एक योजन का एक पाद—चौथाई—है, 'धनुष का दो सहस्र'—कोदण्डानां द्वे सहस्रे"—इत्यादि उत्तर हो जाते हैं। इसी प्रकार का काली, का मधुरा, किं शुकपृथुकाननच्छायम्" वह उत्तर 'किम्' को कहने के बाद बचे हुये शब्दों से पूँछना चाहिये। अतः यहां पृष्टप्रश्न है।

स्व॰ भा॰—इस श्लोक में प्रश्न तथा उत्तर दोनों ही एक साथ दिये गये हैं, जो पूँछा गया है वही उत्तर है। जैसे 'काली क्या है ?' का उत्तर ही 'काली' है, अथवा 'काक' तथा 'अलि' है। 'मधुर क्या है ?' का भी उत्तर है "मधु" अथवा 'मधुरा'—'राब', 'शीरा'। ऐसे ही 'तोतों के विशाल मुख के सदृश शोभावाला क्या है ?" का उत्तर वहीं है—किंशुक—पलाश के विस्तृत वन की शोभा है।" अतः पूछा हुआ प्रश्न ही उत्तर है, अर्थात् प्रश्न तथा उत्तर दोनों साथ ही हैं।

६—उत्तरप्रश्न

उत्तरप्रश्नं यथा—

किं वसन्तसमये वनभक्षः पृष्टवान्स पृथुलोमविलेखः।
उत्तरं च किमवापतुरेतौ काननादतिमिरादपि काली॥ ३७७॥'

अत्र प्रश्नस्य हे काननाद हे तिमिराद पिकालीत्येतदेवोत्तरं भवतीत्युत्तरप्रश्नमिदम्॥

उत्तरप्रश्न का उदाहरण—

वसन्त की ऋतु में अत्यधिक लोमों से विलिखित वनभक्षी ने क्या पूँछा था ? और क्या यही उत्तर पाया था—हे काननाद, हे तिमिराद, 'पिकाली' है॥ ३७७॥

यहां पर प्रश्न का—हे काननाद, हे तिमिराद, 'पिकाली' यही उत्तर होता है। अतः यह उत्तरप्रश्न का उदाहरण है।

स्व॰ भा॰—यहां पर दो प्रश्न हैं। पूर्वार्ध में है वनभक्ष की पुकार तथा दूसरे के पूर्वार्ध में है उत्तर के विषय में प्रश्न। दोनों का उत्तर है क्रमशः हे काननाद, हे तिमिराद तथा 'पिकाली' अर्थात् उसने पुकारा था 'हे काननाद, हे तिमिराद' कहकर तथा उत्तर के रूप में शब्द आया—"पिकाली"। अर्थात् उसके पूछने पर 'का ननाद' कौन आवाज की ? कौन अंधकार से भी काली है ?—(का) तिमिरादपि काली ? और उत्तर मिला 'पिकाली' (पिक+अलि)। अर्थात् वन में 'कोयल बोली थीं' और 'भौंरा अंधकार से अधिक काला है।'

(२१) अध्येय

यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम्।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते॥ १३८॥

काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च ।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम् ॥ १३९ ॥

जो विधि तथा निषेध दोनों दशाओं में व्युत्पत्ति—विशद ज्ञान—का ही कारण है, उसको अध्येय समझा जाता है। इससे लोकव्यवहार सम्पन्न होता है। यह अध्येय भी (१) काव्य, (२) शास्त्र, (३) इतिहास, (४) काव्यशास्त्र, (५) और उसी प्रकार काव्येतिहास तथा (६) शास्त्रेतिहास इन छः प्रकारों का होता है ॥ १३८–१३९ ॥

स्व० भा०—भोजराज द्वारा किया गया यह विभाजन तथा अध्येय का उद्देश्य दोनों ही आश्चर्यजनक तथा आनन्दप्रद हैं। लोग काव्य के कारणों में व्युत्पत्ति का योग आवश्यक समझते हैं, किन्तु यहाँ अध्येय-साहित्य-को ही व्युत्पत्ति का कारण कहा गया है। वस्तुतः इसके भीतर मम्मट द्वारा निर्दिष्ट 'व्यवहारविदे' तथा "कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" दोनों का समावेश हो जाता है। यद्यपि मम्मटाचार्य ने भी व्युत्पत्ति की व्याख्या अपनी ही वृत्ति में सुन्दर शब्दों में की है, तथापि रुद्रट की ये पंक्तियां उससे भी मनोहर हैं—

छन्दोव्याकरणकलालोकस्थिति-पदपदार्थविज्ञानात् ।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ॥
विस्तरतस्तु किमन्यत् तद् इह वाच्यं न वाचकं लोके ।
न भवति यत्काव्याङ्गं सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा ॥ काव्यालंकारः १।१८-१९ ॥

काव्यमीमांसा में भी इस प्रकार के विवेचन दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु वहां काव्य के ही विभिन्न भेद किये गये हैं, न कि अध्येय आदि के।

(१) काव्य

तेषु काव्यं यथा—

'यदि स्मरामि तां तन्वीं जीविताशा कुतो मम ।
अथ विस्मृत्य जीवामि जीवितव्यसनेन किम् ॥ ३७८ ॥'

तदिदमुक्तिप्राधान्यात्काव्यमित्युच्यते ॥

इनमें से काव्य का उदाहरण—

यदि उस कृशाङ्गी सुन्दरी का मैं स्मरण करता हूँ तो मेरे जीवित रहने की आशा कहां? और यदि उसे भुलाकर जीवित रहता हूँ तो इस जीवनधारण से क्या करना? ॥ ३७८ ॥

यह श्लोक उक्ति की प्रधानता के कारण काव्य कहा जाता है।

स्व० भा०—काव्य की परिभाषा प्रथम परिच्छेद के दोषगुण विवेचन के प्रारम्भ में ही दी जा चुकी है। यहां समस्त वाङ्मय राशि में किसको काव्य कहा जाये, किसको शास्त्र आदि, यह विभेदक तत्त्व भोज की दृष्टि में उक्तिप्राधान्य है। मम्मटाचार्य ने इनका अन्तर प्रभु, मित्र तथा कान्ता, सम्मितत्व को माना है। राजशेखर ने भी अपनी कर्पूरमंजरी की प्रस्तावना में "उत्तिविसेसो कव्वो भासा जा होइ सा होइ" कहा है। यहां उक्तिप्राधान्य ही है, किसी वस्तु अथवा जीवितकारक तत्त्व का निरूपण नहीं।

(२) शास्त्र

शास्त्रं यथा—

'स्निग्धोन्नताग्रतनुताम्रनखौ कुमार्याः पादौ समोपचितचारुनिगूढगुल्फौ ।

श्लिष्टाङ्गुली कमलकान्तितलौ च यस्या-
स्तामुद्वहेद्यदि भुवोऽधिपतित्वमिच्छेत् ॥ ३७९ ॥'

अत्र स्निग्धत्वादेः शब्दस्य प्राधान्यमिति शासनाच्छास्त्रमिदम् ॥

शास्त्र का उदाहरण—

यदि कोई व्यक्ति पृथ्वी का स्वामित्व चाहता हो तो उसे चाहिये कि वह चिकने, उभरे, उठे, आगे की ओर कुछ पतले तथा लाल नाखूनों वाले, पूर्णतः मांसल, सुन्दर तथा ढके हुये गुल्फो वाले, मिली हुई अंगुलियों वाले तथा कमल के सदृश कान्तियुक्त तल वाले चरण जिस कुमारी के हो, उससे विवाह करे ॥ ३७९ ॥

यहां पर स्निग्धता आदि शब्द की प्रधानता है, अतः शासन करने के कारण यह शास्त्र है।

स्व० भा०—शास्त्र शब्दप्रधान होते हैं। उसमें जैसा कहा गया है, उस वाक्य के शब्दों का वही अर्थ लेना चाहिये। उक्त श्लोक में उस सुन्दरी के शास्त्रीय लक्षण दिये गये हैं जो महारानियों में ही होते हैं। यहां सामुद्रिक शास्त्र के लक्षणों का समावेश है।

(३) इतिहास

इतिहासो यथा—

'हिरण्यकशिपुर्दैत्यो गां यां स्मित्वाप्युदैक्षत।
भयाद्भ्रान्तैः सुरैश्चक्रे तस्यै तस्यै दिशे नमः ॥ ३८० ॥'

सोऽयमतीतार्थप्राधान्यादितिहासः ॥

इतिहास का उदाहरण—

हिरण्यकशिपु नामक दैत्य स्मिति के साथ भी जिस-जिस दिशा की ओर देख देता था, भय के कारण भ्रान्त देवगण उस-उस दिशा को नमस्कार किया करते थे ॥ ३८० ॥

बीती हुई बातों की प्रधानता होने के कारण यह इतिहास का निदर्शन है।

स्व० भा०—वस्तुतः इस श्लोक में बीती हुई बात का वर्णन है, अतः ऐतिहासिकता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहां केवल अतीत की बातों का ही सरलभाषा में निरूपण हो, उसे इतिहास ही कहना अधिक संगत होता है। सामान्यतः इस श्लोक में मात्र अतीतवर्णन ही नहीं है, काव्यात्मक चमत्कार भी है। इसीलिये सम्भवतः भोज ने प्राधान्य शब्द का प्रयोग किया है, जिससे गौण रहने वाली वस्तुओं को महत्व न मिले। जहां पर एक साथ कई गुण विद्यमान हों, वहां जो प्रधान है, उसी को महत्व दिया जायेगा।

(४) काव्यशास्त्र

काव्यशास्त्रं यथा—

'नान्दीपदानि रतनाटकविघ्नशान्ता-
वाज्ञाक्षराणि परमाण्यथवा स्मरस्य।
दष्टेऽधरे प्रणयिना विधुताग्रपाणि-
सीत्कारशुष्करुदितानि जयन्ति नार्याः ॥ ३८१ ॥'

अत्र काव्येन शास्त्रमभिहितमितीदं काव्यशास्त्रम् ॥

काव्यशास्त्र का उदाहरण—

प्रिय के अधर-क्षति करने पर नायिकायें जो हाथ फटकारती हुई, सीत्कारपूर्वक सूखा रोना

रोती हैं वह तो वस्तुतः रतिरूपी नाटक का नान्दीपद (प्रारम्भ) है अथवा कामदेव का सर्वोत्कृष्ट आज्ञाक्षर है ॥ ३८१ ॥

यहां काव्य के द्वारा शास्त्र का निर्वचन किया गया है, अतः यह काव्यशास्त्र है।

स्व० भा०—यह श्लोक दशरूपक (२।३७) में भी उपलब्ध होता है। वहां इसे कुट्टमित का उदाहरण कहा गया है। भोजने उक्तिप्राधान्य को काव्य तथा शब्दप्राधान्य को शास्त्र कहा है। जहां काव्य के द्वारा शास्त्र का अभिधान होता है, उसे काव्यशास्त्र कहते हैं, न कि काव्य के विभिन्न तत्त्वों के विवेचन से युक्त ग्रन्थों को। प्रस्तुत उदाहरण में विभिन्न क्रियाओं के उपमानों की योजना से उक्ति की प्रधानता है तथा कामसूत्रानुसार रतिक्रीडा के प्रारम्भ में अधरदंशन आदि कृत्यों के निर्देश से शब्द-प्राधान्य। अतः काव्य तथा शास्त्र दोनों ही यहां है।

(५) काव्येतिहास

काव्येतिहासो यथा—

'स सञ्चरिष्णुर्भुवनान्तरेषु यां यदृच्छयाशिश्रयदाश्रयः श्रियाम्।
अकारि तस्मै मुकुटोपलस्खलत्करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः ॥ ३८२ ॥

अत्र प्रागुक्तस्यैवेतिहासार्थस्य काव्येनाभिधानात्काव्येतिहासोऽयम् ॥

काव्येतिहास का उदाहरण—

लक्ष्मी का आश्रयभूत वह हिरण्यकशिपु स्वेच्छा से विभिन्न भुवनों में विचरण करता हुआ जिस किसी भी दिशा में चला जाता था, देवता लोग अपने मुकुट की मणियों में प्रतिबिम्बित हो रहे हाथों से—अर्थात् अपने मस्तक पर हाथ जोड़कर—प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल इन तीनों सन्ध्याओं में उन दिशाओं को प्रणाम किया करते थे ॥ ३८२ ॥

स्व० भा०—यह शिशुपालवध (१।४६) का श्लोक है जिसमें नारद जी कृष्ण से हिरण्यकशिपु के शासन की उग्रता प्रदर्शित करते हैं। दिशाओं को प्रणाम करना, मुकुटमणियों में हाथों की झलक का पड़ना आदि अत्यन्त काव्यात्मक है। इसमें उक्ति की प्रधानता है, साथ ही एक अतीत घटना के नायक का निरूपण भी। अतः इसे काव्येतिहास कहना उचित ही है।

(६) शास्त्रेतिहास

शास्त्रेतिहासो यथा—

'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥ ३८३ ॥'

अत्र धर्मार्थकाममोक्षाणामितिहासनिवेशितत्वादयं शास्त्रेतिहासः ॥

शास्त्रेतिहास का उदाहरण—

हे भरतकुल श्रेष्ठ धृतराष्ट्र, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के विषय में जो यहां (महाभारत) में है, वह दूसरी जगह भी है, तथा जो यहां नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है ॥ ३८३ ॥

यहां धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को इतिहास में सन्निविष्ट कर देने से, यह श्लोक शास्त्रेतिहास का निदर्शन है।

(२२) श्रव्य

श्रव्यं तत्काव्यमाहुर्यन्नेक्ष्यते नाभिधीयते।
श्रोत्रयोरेव सुखदं भवेत्तदपि षड्विधम् ॥ १४० ॥

आशीर्नान्दी नमस्कारो वस्तुनिर्देश इत्यपि ।
आक्षिप्तिका ध्रुवा चेति शेषोऽध्येयं भविष्यति ॥' १४१ ॥

श्रव्य उस काव्य को कहते हैं जो न तो देखा जाता है और न कहा जाता है। यह केवल श्रवणों को ही आनन्ददायक होता है। यह भी छः प्रकार का है॥ (१) आशीः, (२) नान्दी, (३) नमस्कार, (४) वस्तुनिर्देश, (५) आक्षिप्तिका तथा (६) ध्रुवा। इनके अतिरिक्त शेष प्रकार अध्येय ही होते हैं॥ १४०-१४१॥

स्व० भा०—परवर्ती साहित्यकारों में विश्वनाथ ने दृश्य तथा श्रव्य काव्य के रूप में साहित्य का द्विविध विभाजन इन्द्रियों के आधार पर किया है। भोज ने इनको विस्तृत रूप से अध्येय, श्रव्य, अभिनेय आदि प्रकारों में समाविष्ट किया है। कारिका में 'नाभिधीयते' का अर्थ यह नहीं है, कि कोई इसको कहता ही नहीं। यदि कोई कहेगा नहीं तो सुना ही कैसे जायगा? अतः इसका अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के काव्यों को देखने और पढ़ने से उतना आनन्द नहीं मिलता जितना दूसरों के मुख से सुनने से।

(अ) आशीः

तत्राशीर्यथा—

'भूयाद्वः श्रेयसे देवः पार्वतीदयितो हरः।
पातु वः परमं ज्योतिरवाङ्मनसगोचरः॥ ३८४॥'

अत्राशंसायां लिङ् लोट् च। तदिदं वाक्यद्वयमाशीः॥

इनमें आशीः का उदाहरण—

भगवान् पार्वती पति शिव आपलोगों के कल्याण के लिये (तत्पर) हों। वाणी तथा मन से अगम्य दिव्यज्योति आप लोगों की रक्षा करे॥ ३८४॥

यहां पर आशीर्वाद के अर्थ में (आशो) लिङ् तथा लोट् लकार का प्रयोग हुआ है। ये दोनों वाक्य आशीर्वादात्मक हैं।

स्व० भा०—उपर्युक्त निदर्शन में दो वाक्य हैं। पूर्वार्ध की क्रिया आशीर्लिङ् की है तथा उत्तरार्ध की लोट् लकार की। दोनों लकारों की धातुओं द्वारा शुभाशंसा व्यक्त की जाती है, अतः दोनों का उदाहरण दिया गया है।

(आ) नान्दी

नान्दी यथा—

'भद्दं भोदु सरस्सईअ कइणो णन्दन्तु वासाइणो
अण्णाणं पि परं पअट्टदु वरा वाणी छइल्लप्पिआ।
वच्छोभी तह माअही फुरदु णो सा किं अ पञ्चालिआ
रीदीओ विलिहन्तु कव्वकुसला जोण्हं चओरा विअ॥ ३८५॥

[भद्रं भवतु सरस्वत्याः कवयो नन्दन्तु व्यासादयः,
अन्येषामपि परं प्रवर्ततां वरा वाणीविदग्धप्रिया।
वैदर्भी तथा मागधी स्फुरतु नः सा किं च पाञ्चालिका
रीतिका विलिहन्तु काव्यकुशला ज्योत्स्नां चकोरा इव॥]

सेयं रङ्गमङ्गलान्तं स्वस्त्ययनं नान्दी ॥

नान्दी का उदाहरण—

सरस्वती देवी का कल्याण हो, व्यास आदि कवि आनन्दित हों। अत्युत्कृष्ट, विद्वज्जनों को अभीष्ट दूसरे कवियों की भी वाणी अप्रतिहतगति से प्रवृत्त हो। हमारी वैदर्भी, मागधी तथा वह जिसे पाञ्चाली कहते हैं आदि रीतियां प्रस्फुटित हों और सहृदयजन काव्य का आस्वादन उसी प्रकार करें जैसे चकोर चन्द्रिका का करते हैं ॥ ३८५ ॥

रङ्ग की मङ्गलमय समाप्ति के लिये किया गया यह स्वस्त्ययन नान्दी है।

स्व० भा०—राजशेखर कवि की 'कर्पूरमञ्जरी' का यह नान्दीपाठ है। पापक्षय-दुष्कृत-प्रणाश—तथा ग्रन्थ की निर्विघ्नसमाप्ति के लिये ग्रन्थारम्भ में देवस्तुति का विधान है। इसे ही नाटकों में नान्दी कहा जाता है। नान्दी की परिभाषा नाट्यशास्त्रकारों ने इस प्रकार दी है—

आशीर्वचनसंयुक्ता नित्यं यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥
माङ्गल्यशङ्ख-चन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी ।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥

नान्दी स्वयं ही आशीर्वादात्मक, वस्तुनिर्देशात्मक, अथवा नमस्कारात्मक हुआ करती है, किन्तु यहां सबको पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट किया गया है।

(इ) नमस्कृति

नमस्कृतिर्यथा—

'जयति ब्रह्मभूः शम्भुर्वन्देमहि महेश्वरम्।
इदं गुरुभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे ॥ ३८६ ॥'

सेयं स्तुतिर्नमस्क्रिया च नमस्कृतिरेव भवति ॥

नमस्कृति का उदाहरण—

ब्रह्मा से उत्पन्न अथवा ब्रह्मा के जनक शंभु सर्वोत्कृष्ट हैं! महेश्वर की हम वन्दना करते हैं। इस समय से पूर्व के गुरुओं को हम नमस्कार की वाणी का प्रशासन कर रहे हैं ॥ ३८६ ॥

यह स्तुति तथा नमस्कार दोनों ही नमस्कार ही है।

स्व० भा०—यहाँ उदाहरण में 'जयति', 'वन्देमहि' तथा 'नमोवाकं प्रशास्महे' तीन प्रकार के प्रणतिपरक शब्द प्रयुक्त हुये हैं। यद्यपि स्पष्ट शब्दों में केवल 'नमोवाकं प्रशास्महे' ही नमस्कारात्मक है, शेष तो स्तुतिपरक हैं अथवा सर्वोत्कृष्टता बोधक तथापि सर्वत्र प्रणाम का ही भाव निहित समझना चाहिये। किसी को भी सर्वोत्कृष्ट घोषित करना, किसी की वन्दना करना उसकी महत्ता का ख्यापन करना भी अपने को किसी से अवर घोषित करना अथवा उसके प्रति प्रणत होना ही है।

(ई) वस्तुनिर्देश

वस्तुनिर्देशो यथा—

'असत्युद्दामजटाभारभ्रान्तगङ्गाम्बुशेखरः।
आदिदेवो हरो नाम सृष्टिसंहारकारणम् ॥ ३८७ ॥'

सोऽयं कथाशरीरव्यापिनो वस्तुनो नायकस्य निर्देशो वस्तुनिर्देशः ॥

वस्तुनिर्देश का उदाहरण—

प्रचण्ड रूप से गंगा का जल जिसके जटाजूट में घूम रहा है उन आदि देव, सृष्टि के संहार-कर्ता का नाम शिव है ३७७॥

यह सम्पूर्ण कथानक में व्याप्त रहने वाले वर्ण्यविषय के नायक का निर्देश होने से वस्तु-निर्देश है।

स्व० भा०—यह किसी नाटक की प्रस्तावना का श्लोक प्रतीत होता है। उस नाटक की कथा किसी पौरुषवान् नायक के वीरतापूर्ण कार्यों से संयुक्त है। भास के स्वप्नवासवदत्तम्, कालिदास के शाकुन्तलम्, भवभूति के मालतीमाधवम्, विशाखदत्त के मुद्राराक्षसम् आदि की नान्दी अन्य कार्यों के साथ वस्तु का निर्देश भी करती है।

(उ) आक्षिप्तिका

आक्षिप्तिका यथा—

'पअपीडिअमहिसासुरदेहेहिं भुअणभअलुआवससिलेहिं।
सुरसुहदेत्तवलिअधवलच्छिहिं जअइ सहासं वअणु महलच्छिहिं ॥ ३८८॥'
[पदपीडितमहिषासुरदेहैर्भुवनभयलावकशशिलेखैः।
सुरसुखदातृवलितधवलाक्षैर्जयति सहासं वदनं महालक्ष्म्याः॥]

सेयमभिप्रेतरागविशेषप्रयोगमात्रफलं वचनमाक्षिप्तिका॥

आक्षिप्तिका का उदाहरण—

चरणों से महिषासुर को दबाने वाली, देह से युक्त लोकों के भय को छिन्न-भिन्न कर देने वाली चन्द्रकला से संयुक्त, देवताओं को सुख देनेवाला वलित तथा निर्मल नेत्रों से युक्त महालक्ष्मी का हँसता हुआ मुख सर्वोत्कृष्ट है ॥ ३८८॥

यहां अभीष्ट राग विशेष का प्रयोग मात्र फल होने से यह वचन आक्षिप्तिका है।

स्व० भा०—आक्षिप्तिका रंगमंच पर प्रवेश करते हुये पात्र द्वारा गाया जाने वाला राग विशेष है। विक्रमोर्वशीयम् का चतुर्थ श्लोक आक्षिप्तिका ही है।

(ऊ) ध्रुवा

ध्रुवा यथा—

'मअवहणिमित्तणिग्गअमइन्दसुण्णं गुहं णिएऊण।
लद्धावसरो गहिउण मोत्तिआइं गओ वाहो॥ ३८९॥'
[मृगवधनिमित्तनिर्गतमृगेन्द्रशून्यां गुहां निरूप्य।
लब्धावसरो गृहीत्वा मौक्तिकानि गतो व्याधः॥]

सेयं पात्रप्रवेशरसानुसन्धानादिप्रयोजना ध्रुवा॥

ध्रुवा का उदाहरण—

मृग के वध के लिये बाहर निकले हुये शेर से शून्य गुफा को देखकर, अवसर समझ कर गज-मुक्ताओं को लेकर शिकारी चला गया॥ ३८९॥

पात्र के प्रवेश से रस के अनुसन्धान आदि प्रयोजनों से यहां ध्रुवा है।

स्व० भा०—नाट्यशास्त्र में ध्रुवा का विशद विवेचन एक पूरे अध्याय में (ना० शा० ३२ वाँ अध्याय) किया गया है। ध्रुवा आदि गीत के प्रकार हैं जिनका नाटक में प्रयोग होता है। भरत के अनुसार—

या ऋचः पाणिका गाथा सप्तरूपाङ्गमेव च। सप्तरूपप्रमाणं हि सा ध्रुवेत्यभिसंज्ञिता॥
वाक्यवर्णा ह्यलंकारा लया यत्यथ पाणयः। ध्रुवमन्योन्यसम्बद्धा यस्मात्तस्माद् ध्रुवा स्मृता॥
ध्रुवाश्च पंच विज्ञेया नानावस्थासमाश्रयाः। ना. शा. ३२।२,८,९॥

(२३) प्रेक्ष्य

यदाङ्गिकैकनिर्वर्त्यमुज्झितं वाचिकादिभिः।
नर्तकैरभिधीयेत प्रेक्षणाक्ष्वेडिकादि तत्॥ १४२॥
तल्लास्यं ताण्डवं चैव छलिकं शंपया सह।
हल्लीसकं च रासं च षट्प्रकारं प्रचक्षते॥ १४३॥

जिसे केवल आङ्गिक चेष्टाओं से ही नर्तकों द्वारा सम्पन्न किया जाता है, जो वाचिक आदि क्रियाओं से रहित होता है उस क्ष्वेडा—गर्जना, गुर्राहट आदि को प्रेक्ष्य कहना चाहिये। यह प्रेक्ष्य (१) लास्य, (२) ताण्डव, (३) छलिक, (४) शंपा, (५) हल्लीसक तथा इनके साथ ही (६) रास इन छः प्रकारों का कहा जाता है॥ १४२-१४३॥

(१) लास्य

तेषु लास्यं यथा—

'उच्चिउ वालीयिअ पन्थहिँ जन्तउ।
पेक्खमि हत्थं होइ जइ लोअणवन्तउ॥ ३९०॥'
[उच्चा पालिः प्रियः पथा याति।
प्रेक्षे हस्तं भवति यदि लोचनवान्॥]

तदिदं शृङ्गाररसप्रधानत्वाल्लास्यम्॥

इनमें से लास्य का उदाहरण—

बांध ऊँचा है और प्रिय मार्ग से जा रहा है। मैं हाथ देख रही हूँ। काश, वह भी नेत्रवान् होता अर्थात् कितना अच्छा होता यदि वह भो इस ओर देख लेता॥ ३९०॥

यह श्लोक शृङ्गाररस प्रधान होने से लास्य का उदाहरण है।

स्व० भा०—लास्य उस नृत्य को कहते हैं जिसमें प्रेम की भावनायें स्त्रियां अपने विभिन्न हाव-भाव तथा अंगविन्यासों द्वारा प्रकट करती हैं। प्रस्तुत श्लोक में एक रमणी की अपने प्रिय के कटाक्षपात की उत्कट अभिलाषा व्यक्त होती है। लास्य शृङ्गार-प्रधान ही होता है। हाथ उठाने से नृत्य की मुद्रा प्रकट होती है।

(२) ताण्डव

ताण्डवं यथा—

'सुअवहवइअरणिसुणिअ दारुणुरोसविसट्ठपहाररुहिरारुणु।
जलिउ जाणइ णरु रिउसन्तावणु अणलसरिच्छु जइ होइ महारणु॥३९१॥'
[सुतवधव्यतिकरं निशम्य दारुणरोषविसृष्टप्रहाररुधिरारुणः।
ज्वलितो जायते नरो रिपुसंतापनोऽनलसदृशो यदि भवति महारणः॥]

इदं वीररसप्रधानत्वात्ताण्डवम्॥

ताण्डव का उदाहरण—

यदि महायुद्ध हो तो पुत्र के वध का वृत्तान्त सुनकर घोर क्रोध से छोड़े हुये प्रहार के कारण निर्गत रक्त से लाल-लाल होकर व्यक्ति शत्रुओं को सन्ताप देने वाले अनल की भांति प्रज्ज्वलित हो उठता है ॥ ३९१ ॥

यह वीररस की प्रधानता के कारण ताण्डव है।

स्व० भा०—ताण्डव नृत्य किसी पुरुष पात्र द्वारा सम्पन्न होता है। भरत के नाट्यशास्त्र में इस नृत्य का प्रारम्भ शिव द्वारा किये जाने का उल्लेख है। प्रलयङ्कर शङ्कर का नृत्य होने से इसमें परुषता का भाव होना स्वाभाविक ही है।

(३) छलिक

छलिकं यथा—

'णिसुणिउ पच्छा त्तुरअरउ भुण्डि हिंसि हसन्ति ।
णिअकन्तं डाढजुअलेहिं पुणु पुणु ण अ बलन्ति ॥ ३९२ ॥'
[निशम्य पश्चात्तुरगरवं शूकरी हिंसार्थं हसति ।
निजकान्तं दंष्ट्रायुगलेन पुनः पुनन च दशति ॥]

इदं तु शृङ्गारवीररसप्रधानत्वाच्छलिकम् ॥

छलिक का उदाहरण—

पीछे की ओर हिंसा के लिये घोड़े की आवाज सुनकर शूकरी हँसती है और अपने प्रिय को अपनी दोनों दाढ़ों से बार-बार कुरेदती नहीं ॥ ३७२ ॥

यह श्लोक शृङ्गार तथा वीररस की प्रधानता के कारण छलिक का निदर्शन है।

स्व० भा०—छलिक भी एक प्रकार का आङ्गिक प्रदर्शन है जो एक प्रकार का नाटक अथवा उसका अङ्ग होता है। इसमें शृङ्गार तथा वीर दोनों रस समान कोटिक होते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में हिंसा की प्रवृत्ति वीररस की ओर संकेत करता है, जब कि शूकरी का शूकर को न कोचना तथा स्वयं उसकी उपस्थिति में हंसना सरस वातावरण की सृष्टि करते हैं।

(४) शम्पा

शम्पा यथा—

'वीहेसि हरिमुहि अवि होहि मं गले लेहि सइ ।
कन्दइ रिट्ठासुरमारिउ कण्ठवलिउ ण पइ ॥ ३९३ ॥'
[बिभेषि हरिमुखि अपि भव मां च गले गृहाण सदा ।
क्रन्दति रिष्टासुरमारितः कण्ठवलितो न पतिः ॥]

तदिदं छलिकमेव किन्नरविषयं शम्पा ॥

शम्पा का उदाहरण—

अरी किन्नरी, क्या तुम डरती हो ? अच्छा आश्वस्त हो जाओ और तुम सदा मेरे गले में लगी रहो। रिष्टासुर के द्वारा मारा गया तथा गर्दन घुमाये हुये वह पति किन्नर रोता नहीं है ॥ ३९३ ॥

यह भी है तो वस्तुतः छलिक ही किन्तु किन्नर विषयक होने से शम्पा है।

स्व० भा०—छलिक तथा शम्पा का विषय एक ही जैसा होता है। भेद केवल पात्रों का है।

छलिक का पात्र मानव तथा पशु-पक्षी भी हो सकते हैं जबकि शम्पा के किन्नर, यक्ष आदि देव योनि विशेष होते हैं।

(५) हल्लीसक

हल्लीसकं यथा—

'चन्दणधूसरअ आहुलिअलोअणअं हासपरम्मुहअं णीसासकिलालिअम्।
दुम्मणदुम्मणअं सङ्कामिअमण्डणअं माणिणिआणणअं किंतुह्मकरट्ठिअअम्॥३९४॥'

[चन्दनधूसरमाकुलितलोचन हासपराङ्मुखं निश्वासिक्लेशितम्।
दुर्मनसां दुर्मनस्कं संक्रामितमण्डनं मानिन्यानन किं तव करस्थितम्॥]

मण्डलेन तु यत्स्त्रीणां नृत्यं हल्लीसकं तु तत्।
तत्र नेता भवेदेको गोपस्त्रीणां हरिर्यथा॥ १४४॥

हल्लीसकमिदम्॥

हल्लीसक का उदाहरण—

चन्दन से चर्चित, चञ्चलनयन, हँसी से रहित, लम्बे-लम्बे श्वास ले रहा, कष्टापन्न, दुष्टमन वालों के मन को भी दुष्ट कर देने वाला, अपने आभूषणों का त्याग कर देने वाला तुम्हारा वदन हे मानिनी, हाथ पर क्यों रखा है॥ ३९४॥

मण्डल बनाकर जो स्त्रियों का नृत्य है, वह हल्लीसक है। इसमें नायक केवल एक पुरुष होता है जैसे कि गोपियों के बीच में कृष्ण थे॥ १४४॥

अतः यह हल्लीसक है।

(६) रास

रासो यथा—

'अइ दुम्मणआ अज्ज किणो पुच्छामि तुमम्।
जेण जिविज्जइ जेण विलासो पत्तिहिज्जइ कीस जणो॥ ३९५॥'

[अयि दुर्मनस्क अद्य किं नो पृच्छामि त्वाम्।
येन जीव्यते येन विलासः परिह्रियते किमिति जनः॥]

तदिदं हल्लीसकमेव तालबन्धविशेषयुक्त रास एवेत्युच्यते॥

रास का उदाहरण—

अरे दुर्मनस्क, आज मैं तुमसे क्या नहीं पूछूँगी। भला जिसके कारण प्राणधारण किया जा रहा है, जिसके कारण ही ये सभी भाव-विलास हैं, उस व्यक्ति को क्यों छोड़ा जा रहा है॥ ३९५॥

यह वस्तुतः हल्लीसक ही है, किन्तु तालबन्ध विशेष से युक्त होने के कारण रास ही कहा जाता है।

स्व० भा०—छलित तथा शम्पा की भांति हल्लीसक तथा रास में विषय अथवा प्रकार का कोई भेद नहीं है। हल्लीसक की भांति रास में भी स्त्रियाँ झुंड बनाकर एक नायक के साथ नृत्य करती हैं। रास में हल्लीसक की अपेक्षा राग, ताल, लय, बन्ध आदि का अन्तर होता है।

(२४) अभिनेयालंकार

अङ्गवाक्सत्वजाहार्यः सामान्यश्चित्र इत्यमी ।
षट् चित्राभिनयास्तद्वदभिनेयं वचो विदुः ॥ १४५ ॥

आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक, आहार्य, सामान्य तथा चित्र ये छः चित्राभिनय हैं। इनसे युक्त वाणी को अभिनेय समझा जाता है ॥ १४५ ॥

(अ) आङ्गिक अभिनय

तेष्वाङ्गिकाभिनयवद्यथा—

'दोदण्डाः क धृताङ्गदाः क नु शिरानद्धौ भुजौ द्वाविमौ
वक्त्राणि क नु कान्तिभन्ति बालमत्केदं ममैकं मुखम् ।
वाचस्ताः क जितार्णवध्वनिघनाः काय वचःसंयमो
हेलाकम्पितभूधरः क चरणन्यासः क मन्दा गतिः ॥ ३९६ ॥'

अत्राङ्गिकाभिनयानां प्रतिपादितत्वादिदमाङ्गिकाभिनयम् ॥

इनमें से आङ्गिक अभिनय से युक्त वाणी का उदाहरण—

कहाँ तो बाजूबन्द आदि धारण किये हुये वे वलिष्ठ बाहु और कहां उभरी हुई नसों से युक्त ये दोनों भुजायें, कहां वे चमचमाते हुए मुखमण्डल और कहां झुर्रियों से भरा हुआ मेरा यह एक मुख, कहां तो अपनी गर्जना से समुद्र की मन्द्र ध्वनियों को परास्त करने वाली शब्दावलियां और कहां यह वाग्निरोध। कहां उनके कौतूहलवश रखने से पृथ्वी को कम्पित कर देने वाले पदनिक्षेप और कहां यह धीरे-धीरे चलना ॥ ३९६ ॥

यहां पर आंगिक अभिनयों का प्रतिपादन किया गया है, अतः यह आङ्गिक अभिनय का उदाहरण है।

स्व० भा०—इस श्लोक को पढ़ते समय शारीरिक अभिनय विशेष अपेक्षित है, क्योंकि इसका अभिनय कर रहा पात्र उन-उन अंगों की ओर सामाजिक की दृष्टि को अवश्य आकर्षित करना चाहेगा। इसलिये उन-उन अंगों का संचालन अथवा प्रदर्शन विशेषतः अपेक्षित होगा।

(आ) वाचिक अभिनयवत्

वाचिकाभिनयवद्यथा—

'दुर्वारां मदनशरव्यथां वहन्त्या तन्वङ्ग्या यदभिहितं पुरः सखीनाम् ।
तद्भूयः शिशुशुकशारिकाभिरुक्तं धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति ॥२९७॥'

अत्र वाचिकाभिनयप्रतिपादनादिदं वाचिकाभिनयम् ॥

वाचिक अभिनयवत् का उदाहरण—

बड़ी कठिनाई से दूर की जा सकने वाली काम वेदना को धारण कर रही उस सुन्दरी ने अपनी सखियों के समक्ष जिन शब्दों को कहा था, फिर से शिशुओं, शुकों और सारिकाओं के मुख से उच्चरित किये हुये वे शब्द उनके ही कानों में पड़ते हैं जो बहुत भाग्यशाली होते हैं ॥ २९७ ॥

यहाँ वाचिक अभिनय का प्रतिपादन होने से यह श्लोक वाचिक अभिनय का उदाहरण है।

स्व० भा०—यह श्लोक रत्नावली का है। इसमें वाचिक अभिनय की प्रधानता है। भरत ने वाचिक अभिनय की बड़ी प्रशंसा की है। उनके अनुसार—

यो वागभिनयः प्रोक्तो मया पूर्वं द्विजोत्तमाः।
लक्षणं तस्य वक्ष्यामि स्वरव्यञ्जनसंमतम्॥
वाचि यत्नस्तु कर्त्तव्यो नाट्यस्येषा तनुः स्मृता।
अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि॥
वाङ्मयानीह शास्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च।
तस्माद्वाचः परं नास्ति वाग्घि सर्वस्य कारणम्॥
नामाख्यातनिपातैरुपसर्गसमासतद्धितैर्युक्तः।
सन्धिविभक्तिषु युक्तो विज्ञेयो वाचिकाभिनयः॥ ना. शा. १५।१-४॥

(इ) सात्त्विक अभिनय

सात्त्विकाभिनयवद्यथा—

'वारं वारं तिरयति दृशोरुद्गमं बाष्पपूर-
स्तत्संकल्पोपहितजडिम स्तम्भमभ्येति गात्रम्।
सद्यः स्विद्यन्नयमविरतोत्कम्पलोलाङ्गुलीकः
पाणिर्लेखाविधिषु नितरां वर्तते किं करोमि॥ ३९८॥'

अत्र बाष्पजाड्यस्तम्भस्वेदकम्पानां प्रतिपादितत्वादिदं सात्त्विकाभिनयम्॥

सात्त्विक अभिनयवत् का उदाहरण—

छलकते हुये अश्रुप्रवाह नयनों को बार-बार ढक देते हैं, उसी का चिन्तन करते रहने से जड़ शरीर स्तब्ध होता जा रहा है। एकाएक पसीने से तर होते हुए हाथ के निरन्तर कांपने से अंगुलियां चञ्चल हो उठी हैं। चित्र बनाते समय यह तो दशा है, भला मैं क्या करूँ?॥ ३९८॥

वाष्प, जडता, स्तम्भ, स्वेद तथा कम्प का प्रतिपादन होने से यह श्लोक सात्त्विक अभिनय का उदाहरण है।

स्व० भा०—यहाँ पर सात्त्विक भावों का चित्रण है। सत्त्व मन का पर्याय है। मानसिक भावनाओं के कारण इनका उद्गम होने से इन्हें सात्त्विक भाव कहा जाता है। संख्या में ये आठ हैं। भरत के अनुसार—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरसादोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलयः इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः॥ ना. शा. ६।२२॥

मालती-माधव (१।३६।) का श्लोक है।

(ई) आहार्य अभिनय

आहार्याभिनयवद्यथा—

'चूडाचुम्बितकङ्कपत्त्रमाभतस्तूणीद्वयं पृष्ठतो
भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम्।

मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधो वासश्च माञ्जिष्ठकं
पाणौ कार्मुकमक्षसूत्रवलयं दण्डोऽपरः पैप्पलः ॥ ३९९ ॥'
अत्राहार्याभिनयानां प्रतिपादितत्वादिदमाहार्याभिनयम् ॥

आहार्य अभिनयवद् का उदाहरण—

इसकी पीठ पर दोनों ओर दो तरकस हैं जिनमें रखे बाणों के ऊपर लगा कङ्कपत्र केशों को छू रहा है है। इसका वक्षस्थल थोड़े से भस्म के चिह्न से पवित्र है। यह कृष्णमृगचर्म को धारण कर रहा है। प्रत्यञ्चा की करधनी से इसका मजीठिये रङ्ग का अधोवस्त्र बँधा हुआ है। इसके एक हाथ में धनुष है तथा दूसरे में जपमाला और पीपल का दण्ड हैं ॥ ३९९ ॥

यहाँ पर आहार्य अभिनयों का प्रतिपादन होने से यह आहार्य अभिनय का उदाहरण है।

स्व० भा०—वेषभूषा से सम्बद्ध सभी अभिनय आहार्य कहे जाते हैं। भरत के शब्दों में--

आहार्याभिनयं विप्राः प्रवक्ष्याम्यानुपूर्वशः।
सर्व एव प्रयोगोऽयं यतस्तस्मिन् प्रतिष्ठितः ॥
आहार्याभिनयो नाम ज्ञेयो नेपथ्यजो विधिः।
तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु नाट्यस्य शुभमिच्छता ॥ ना. शा. २३।१-२ ॥

(उ) सामान्याभिनयवत्

सामान्याभिनयवद्यथा—

राहोश्चन्द्रकलामिवाननचरीं दैवात्समासाद्य मे
दस्योरस्य कृपाणपातविषयादाच्छन्दतः प्रेयसीम्।
आतङ्काद्विकलं द्रुतं करुणया विक्षोभितं विस्मया-
त्क्रोधेन ज्वलितं मुदा विकसितं चेतः कथं वर्तताम् ॥४००॥'
अत्र चतुर्णामभिनयानां प्रयोगादिदं सामान्याभिनयम् ॥

सामान्य अभिनयवत् का उदाहरण—

राहु के मुख में पड़ी हुई चन्द्र-कला की भांति इस पापी कापालिक के कृपाण का विषय बनी हुई प्रेयसी मालती को भाग्यवशात् प्राप्त करके मेरा चित्त भय से व्याकुल हो गया है, करुणा से द्रुत हो गया हैं, आश्चर्य से विक्षुब्ध हो गया हैं, क्रोध से जल उठा है और प्रसन्नता से खिल उठा हैं। इस समय इसे कैसे रखूं ? ॥ ४०० ॥

यहां पर चारों अभिनयों का प्रयोग होने से यह सामान्याभिनय का उदाहरण हैं।

स्व० भा०—जहां पर केवल एक प्रकार का अभिनय होता है, वहां वाचिक, आङ्गिक आदि विशेष नाम दे दिया जाता है, किन्तु जहाँ पर सभी का समावेश होता है वहां सामान्य नाम दिया जाता है। भरत ने सामान्य अभिनय की परिभाषा इस प्रकार दी है—

सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः।
सत्त्वे कार्यः प्रयत्नस्तु नाट्यं सत्त्वे प्रतिष्ठितम् ॥ ना० शा० २४।१॥
शिरोवदन-पादोरुजङ्घोदरकटीकृतः ॥
समः कर्मविभागो यः सामान्याभिनयस्तु सः ॥ ना० शा० २४।७२ ॥

जिन अन्य चार प्रकार के अभिनयों का उल्लेख किया गया है, भरत के ही शब्दों में वे ये हैं—

आङ्गिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्त्विकस्तथा।
चत्वारोऽभिनया ह्येते विज्ञेया नाट्यसंश्रयाः॥ ना० शा० ६।२३॥

(ऊ) चित्राभिनयवद्

चित्राभिनयवद्यथा—

'व्यतिकर इव भीमस्तामसो वैद्युतश्च
क्षणमुपहतचक्षुर्वृत्तिरुद्भूय शान्तः।
कथमिह न वयस्यस्तत्किमेतत्किमन्य-
त्प्रभवति हि महिम्ना स्वेन योगेश्वरीयम्॥ ४०१॥'

अत्र हस्ताध्यायपदाध्याययोः कथितत्वाच्चित्राभिनयमिदम्॥

चित्र अभिनयवद् का उदाहरण--

अन्धकार तथा विद्युत् के मिलने की भांति कोई भयङ्कर तेज एक क्षण के लिये नेत्र व्यापारों को प्रतिहत कर प्रकट हुआ और शान्त हो गया। यहां मेरा मित्र कैसे आ गया? फिर यह सब क्या है? अरे अन्य क्या है? यह तो योगीश्वरी ही अपनी सामर्थ्य से प्रकट हो रही हैं॥ ४०१॥

यहां हस्ताध्याय तथा पदाध्याय दोनों के उक्त होने से यह चित्राभिनय का उदाहरण है।

स्व० भा०—यह श्लोक मालतीमाधव (१०।८) का है। इसमें नेपथ्य, कामन्दकी तथा मकरन्द सब के शब्द एक साथ निहित हैं। इस श्लोक का रूप यों है--

(नेपथ्ये)

आश्चर्यम्--

व्यतिकर इव भीमस्तामसो वैद्युतश्च।
क्षणमुपहतचक्षुर्वृत्तिरुद्भूय शान्तः॥

कामन्दकी--(विलोक्य साद्भुतहर्षम्)
कथमिह मम वत्सस्तत्किमेतत्--

मकरन्द:--(प्रविश्य) किमन्यत्।

प्रभवति हि महिम्ना स्वेन योगीश्वरीयम्॥' मा० मा० पृ० ४५१-२ (चौखम्बा प्रकाशन)

यहां जो चित्राभिनय कहा गया है, उसका स्पष्टीकरण भरत के नाट्यशास्त्र में इस प्रकार मिलता है--

अङ्गाभिनयनस्येह यो विशेषः क्वचित् क्वचित्।
अनुक्त उच्यते चित्रः स चित्राभिनयः स्मृतः॥ ना० शा० २६।१॥

अर्थात् चित्राभिनय में कुछ विशेष आङ्गिक अभिनयों का परस्पर सम्मिलित रूप से अथवा पृथक् पृथक् रूप से ग्रहण और विशिष्ट प्रदर्शन होता है।

नाट्यशास्त्र के नवम तथा दशम अध्यायों में क्रमशः हस्त तथा चरण के अभिनय की रीतियों को स्पष्ट किया गया है।

उपसंहार

चतस्रो विंशतिश्चैताः शब्दालङ्कारजातयः ।
शब्दसन्दर्भमात्रेण हृदयं हर्तुमीशते ॥ १४६ ॥

इति श्रीराजाधिराजभोजदेवविरचिते सरस्वतीकण्ठाभरणनाम्नि
अलङ्कारशास्त्रे शब्दालङ्कारनिरूपणं नाम द्वितीयः परिच्छेदः ।

ये चौवीस शब्दालंकारों के प्रकार हैं जो केवल शब्दों के सन्दर्भ से ही हृदय को आकृष्ट करने में समर्थ हैं ॥ १४६ ॥

स्व० भा०—शब्दालंकारों का भेदोपभेद सहित निरूपण किया जा चुका है । इनकी संख्या आदि के विषय में पूर्व ही कहा जा चुका हैं । यह बात निर्विवाद है कि भोजदेव ने जिन अलंकारों को शब्दाश्रित कहा है, उनके समावेश से साहित्यशास्त्र के सम्बन्ध में उठने वाली अनेक समस्याओं का समाधान हो सका है । इन समस्याओं का नाम तथा समाधान यथास्थान है ।

इस प्रकार महाराजाधिराज भोजदेव द्वारा लिखित सरस्वतीकण्ठाभरण नामक साहित्यशास्त्र
के ग्रन्थ में शब्दालङ्कारनिरूपण नाम का द्वितीय परिच्छेद समाप्त हुआ ।

परिशिष्ट १

परिशिष्ट २

(श्लोक सूची)

कुछ वैदिक तथा पौराणिक संग्रहणीय प्रकाशन

१ अथर्ववेद-परिशिष्ट—संपादक जार्ज मेल्विल बोलिंग तथा जुलियस वॉन नेगलिएन, हिंदी टिप्पणी तथा पाठ सहित संपादक-डॉ० रामकुमार राय ७५-००

२ अथर्ववेद-संहिता—मूलपाठ-संपादक—वेदाचार्य पं० वेणीराम शर्मा, भूमिका लेखक—डा० भगवतीप्रसाद राय (काण्ड १-१०) प्रथम भाग २०-००

३ अथर्ववेद-संहिता—वेदार्थबोधिनी हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार-डॉ० रामकृष्ण शास्त्री, प्राक्कथन लेखक-डॉ० विद्यानिवास मिश्र, भूमिका-डा० भगवतीप्रसाद राय, संपादक-प्रो० विश्वनाथ शास्त्री (काण्ड १-१०) प्रथम भाग ४०-००

४ अथर्ववेद एवं गोपथ-ब्राह्मण—लेखक एम० ब्लूमफील्ड, हिन्दी अनुवादक डॉ० सूर्यकान्त ३५-००

५ ऋग्वेद-संहिता—संपादक मैक्स मूलर (२ खण्ड) १५०-

६ पुरुषसूक्तम्—सायण, महीधर, मङ्गल तथा निम्बार्क की विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों के साथ, संपादक-पं० ढुण्ढिराज शास्त्री ८-००

७ काण्व-संहिता (शुक्लयजुर्वेदीय)—सायण की टीकासहित, संपादक-महामहोपाध्याय पं० माधव शास्त्री, अध्याय ११ से २० ३०-००

८ त्रिपुररहस्य माहात्म्य खण्ड (पुराणेतिहास)—संपादक-पं० मुकुन्दलाल शास्त्री, नारायणशास्त्री खिस्ते की विद्वत्तापूर्ण भूमिका ७५-००

९ संस्कार-दीपक (कर्मकाण्ड)—ले०—महामहोपाध्याय पं० श्री नित्यानन्द पंत पर्वतीय, (तृतीय प्रेस में) भाग १-२ २५-००

१० लाट्यायन श्रौतसूत्र, अग्निष्टोम अध्यायपर्यन्त, टीका तथा टिप्पणी सहित, संपादक-महामहोपाध्याय श्री मुकुन्द झा बख्शी ८-००

११ वेदभाष्य-भूमिका-संग्रह—सायण की वैदिक टीकाओं की सुलभ भूमिकाओं का संकलन-टिप्पणी तथा भूमिका लेखक-पं० बलदेव उपाध्याय ३०-००

१२ ताण्ड्य महाब्राह्मण—सायणाचार्य की टीका सहित, संपादक-पं० ए० चिन्नस्वामी शास्त्री, १-२ भाग २००-०० द्वितीय १००-००

१३ शतपथब्राह्मण (शुक्लयजुर्वेदीय)—संपादक पं० ए० चिन्नस्वामी शास्त्री (दो भागों में) ३०-००

१४ बृहद्देवता—हिन्दी अनुवाद और टिप्पणियों सहित, संपादक-डॉ० रामकुमार राय ४०-००

१५ गरुडपुराण—महर्षि वेदव्यास, भूमिका लेखक तथा सम्पादक-डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य १५-००

१६ शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य—कात्यायन [illegible] लेखिका एवं संपादिका-श्रीमती इन्दु रस्तोगी, प्राक्कथन-डॉ० मंगल देव शास्त्री १५-००

प्राप्तिस्थान—चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी—२२१००१

शाखा—बंगलो रोड, ९ यू० बी० जवाहर नगर, दिल्ली—११०००७